बच्चन

'दशद्वार' से 'सोपान' तक

प्रख्यात लोकप्रिय कवि हरिवंशराय बच्चन की बहुप्रशंसित आत्मकथा हिन्दी साहित्य की एक कालजयी कृति है। यह चार खण्डों में है : 'क्या भूलूं क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर' और 'दशद्वार' से 'सोपान' तक। यह एक सशक्त महाकाव्य है, जो उनके जीवन और कविता की अन्तर्धारा का वृतान्त ही नहीं बल्कि छायावादी युग के बाद के साहित्यिक परिदृश्य का विवेचन भी है। निस्सन्देह, यह आत्मकथा हिन्दी साहित्य के सफ़र का मील-पत्थर है। बच्चनजी को इसके चौथे और अन्तिम भाग—'दशद्वार' से 'सोपान' तक— के लिए भारतीय साहित्य के सर्वोच्च पुरस्कार—'सरस्वती सम्मान' से सम्मानित भी किया गया।

डॉ० धर्मवीर भारती ने इसे हिन्दी के हज़ार वर्षों के इतिहास में ऐसी पहली घटना बताया जब अपने बारे में सबकुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह दिया गया है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसमें केवल बच्चनजी का परिवार और उनका व्यक्तित्व ही नहीं उभरा है, बल्कि उनके साथ समूचा काल और क्षेत्र भी अत्यन्त जीवन्त रूप में उभरकर सामने आ गये हैं।

सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में इस आत्मकथा में बच्चनजी का पारदर्शी सशक्त व्यक्तित्व अधिक गहरे रंगों में उभरा है।

रामधारी सिंह दिनकर : हिन्दी प्रकाशनों में इस आत्मकथा का अत्यंत ऊंचा स्थान है।

डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन की राय में ऐसी अभिव्यक्तियाँ नयी पीढ़ी के लिए पाथेय बन सकेंगी, इसी में उनकी सार्थकता भी है।

नरेन्द्र शर्मा : यह हिन्दी के आत्मकथा साहित्य की चरम परिणति है।

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

'दशद्वार' से 'सोपान' तक

(सन् 1983-'85 में लिखित)

'दशद्वार' से 'सोपान' तक
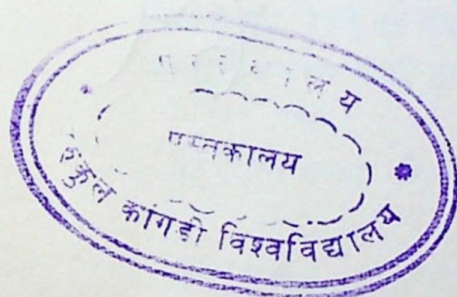
बेटों, बहुओं, पोते-पोतियों के भरे-पुरे
परिवार
को—
जिससे दूर रहने का दंश
पल-पल अनुभव करते हुए
मैंने
यह स्मृति-यात्रा की।
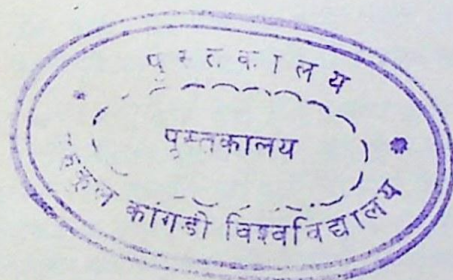
अपने पाठकों से

"यह 'दशद्वार' क्या ?"

"यह 'सोपान' क्या ?"

तो शीर्षक ने आपकी जिज्ञासा जगाई।

शाब्दिक अर्थ तो सभी जानते होंगे—'दशद्वार'—जिसमें दस दरवाज़े हों; 'सोपान'—सीढ़ी।

पर इनके ऊपर दोनों ओर लगे उलटे-सीधे कामाओं ने आभास दिया होगा कि इनसे मैं किसी विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत कर रहा हूँ।

निश्चय।

'दशद्वार' और 'सोपान' मेरे द्वारा दिए गए दो घरों के नाम हैं।

इलाहाबाद में क्लाइव रोड पर मैं जिस किराए के मकान में रहता था उसे मैंने 'दशद्वार' नाम दिया था। शायद आप यह भी ज़ानना चाहें, क्यों? मकान बहुत रोशन और हवादार था। उसमें रहते हुए एक दिन अचानक मेरा ध्यान इस ओर गया कि उसके हर कमरे में दरवाज़ों, खिड़कियों, रोशनदानों को मिलाकर दस-दस खुली जगह हैं जिनसे रोशनी और हवा आती है। क्या मकान बनवाने वाले ने जानबूझकर ऐसी व्यवस्था कराई है? बहुत संभव है। ब्रजमोहन व्यास साहित्यिक सुरुचि के संस्कारवान नागरिक हैं। क्या कमरे बनवाते हुए कबीर के इस दोहे को वे घर में भी मूर्तिमान देखना चाहते थे?

> दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन,
> रहवे को आचरज है, जाय तो अचरज कौन।

मौत हमें प्राय: अचरज में डाल देती है। कबीर कहते हैं, अचरज करने की चीज़ ज़िन्दगी है। शरीर-पिंजर दस दरवाज़ों का है—गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद के 'नवद्वारपुरे' को उन्होंने 'दस द्वारे' का बना दिया है, संभवत: अनुप्रास मोह से अथवा नाभिकुंड या ब्रह्मरंध्र को दसवाँ खुला स्थान मान कर; वैसे दोनों को खुला स्थान मानकर कठोपनिषद की कल्पना 'पुरमेकादशद्वारम्' की भी है। उसमें प्राण-रूप पवन-पंछी रहता है। रहता है, यह आश्चर्य है, निकल जाना स्वाभाविक है।

एक दिन व्यास जी से कहीं मिलने पर मैंने अपनी सूझ उन्हें बताई।

बोले, 'खूब पकड़ा!'

मैंने कहा, "क्या आपने कभी कल्पना की थी कि इस दशद्वार-पिंजर में एक दिन कोई 'गीत-विहंग' सचमुच आकर बसेरा लेगा?" घर को, आप मानेंगे, मैंने 'दशद्वार' नाम सटीक दिया था। प्रसंगवश बता दूं कि व्यास जी ने, अपनी पत्नी ललिता के नाम पर, इसको पहले 'ललिताश्रम' नाम दिया था।

और 'सोपान'?

सातवें दशक में जब नई दिल्ली का विस्तार हो रहा था उस समय एक

सहकारी समिति लेखकों और पत्रकारों की बनी और उसने एक कोलोनी अपने नाम कराई, जिसे बाद को 'गुलमोहर पार्क' कहा गया। इस समिति का सदस्य होने के नाते एक प्लाट हमें भी मिला।

बरसों यह प्लाट खाली पड़ा रहा।

जब बेटों ने उस पर मकान बनवाया तो मुझसे कहा, इसका नामकरण करिए। मेरे दिए हुए नाम उन्हें पसंद आते हैं और वे उन्हें मान देते हैं। उनके बेटों-बेटियों के नाम मेरे दिए हुए हैं। बंबई के घर का नाम 'प्रतीक्षा' मेरा ही दिया हुआ है। बंबई में ही जो दूसरा मकान रूप ले रहा है उसको मैं 'मनसा' कहना चाहूंगा—अपने वंश के एक महनीय पुरखा के नाम पर।

गुलमोहर पार्क के मकान को मैंने 'सोपान' नाम दिया है। यह तिमंज़िला है। और तीनों मंज़िलों को एक लम्बी सीढ़ी जोड़ती है जो नीचे से ऊपर तक एक साथ देखी जा सकती है। घर में प्रवेश करने पर यह सबसे पहले आपका ध्यान आकर्षित करती है।

'सोपान' शब्द मेरी साहित्यिक कृतियों से भी जुड़ा है। अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताओं का जो पहला संकलन मैंने प्रकाशित कराया था उसे मैंने 'सोपान' कहा था। दस बरस बाद जब उसमें इस अवधि की और उसी कोटि की कविताएँ जोड़ी गईं तो मैंने उसका नाम 'अभिनव सोपान' रखा।

कल्पना यह थी कि जैसे इन कविताओं में मेरे कवि की उठान का क्रम सीढ़ी-दर-सीढ़ी—संग्रह-दर-संग्रह—प्रस्तुत किया जा रहा है, मकान को 'सोपान' नाम देकर मानों मैं यह कामना करता हूँ कि उसमें बसनेवाला बच्चन-परिवार क्रम-क्रम से अभ्युदय-अभ्युत्थान की ओर अग्रसर हो। पीढ़ी-दर-पीढ़ी की साधना आवश्यक होगी।

नामकरण की सटीकता तो भविष्य ही सिद्ध कर सकेगा।

इस नाम से एक और सूक्ष्म संकेत मैं कर रहा हूं, विशेषकर अपने लिए, जिसे कल्पनाप्रवण लोग समझेंगे—'जनु सुरपुर सोपान सुहाई'।

दिल्ली के बुलावे पर 'दशद्वार' से मैं फरवरी 1956 में निकला।

दस बरस विदेश मंत्रालय में हिंदी विशेषाधिकारी के पद पर रहा, छः वर्ष राज्यसभा के मनोनीत सदस्य के रूप में, दो वर्ष बंबई में बड़े बेटे अमिताभ और छोटे बेटे अजिताभ के साथ, चार वर्ष फिर दिल्ली में, चार वर्ष फिर बंबई में अमिताभ के साथ रहा।

और एक बार फिर दिल्ली के बुलावे पर ही फरवरी 1983 में मैंने 'सोपान' के अभिनव भवन में प्रवेश किया।

इन सत्ताईस वर्षों में कितना पानी मेरी सुधियों की सरिता में बह चुका है।

निश्चय ही, उसके चेतन और अवचेतन तटों पर अपने बहुविधि प्रवाह की कितनी-कितनी निशानियाँ छोड़ते हुए—कहीं चटक, कहीं फीकी, कहीं चमकीली, कहीं धुंधली, कहीं साफ-सुथरी, कहीं धूमिल।

बेटों, बहुओं, पोते-पोतियों के अपने भरे-पुरे परिवार से दूर-बहुत दूर—अकेले, एकांत में 'सोपान' के एक कक्ष में बैठे हुए अक्सर बीते दिनों की ये निशानियाँ बहती-तिरती मेरे दिमाग में आ-उभरी हैं और मैं उनके सहारे कल्पना की उस यात्रा पर निकल पड़ा हूँ जो अभी कुछ ही समय पहले कितनी स्थूल, कितनी

वास्तविक, कितनी सत्य थी।

प्रस्तुत पुस्तक इसी काल्पनिक यात्रा को शब्द-सचित्र और अर्थ-जीवंत करने का मेरा प्रयास है।

इस यात्रा में आप मेरे सहयात्री होकर चलना चाहेंगे ?

आपको आमंत्रण है।

कभी बताएँगे कि मेरे साथ सफ़र करना आपको कैसा लगा ?

'सोपान'
बी-8, गुलमोहर पार्क
नई दिल्ली-49

पहला पड़ाव

1956—1971

"Of all that is written, I love what a person hath written with his blood. Write with blood and thou wilt find that blood is spirit.

It is no easy task to understand unfamiliar blood; I hate the reading idlers."

—Nietzsche
(Thus Spoke Zarathustra)

"जितना कुछ भी लिखा जाता है उसमें से मैं उसी की कद्र करता हूं जो किसी ने अपने रक्त से लिखा है। रक्त से लिखो, और तुम देखोगे कि तुम्हारे रक्त में तुम्हारी आत्मा बोलती है।

किसी नव-प्रस्तुत आत्मा को समझना आसान काम तो नहीं है। सिर्फ वक्त काटने के लिए किताबें पढ़नेवालों से मुझे घृणा है।"

—नीत्शे
(दस स्पोक ज़राथुस्ट्रा)

•

दिल्ली से बुलावे की मैं उसी अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था जिससे द्यार्थी परीक्षा देकर परिणाम की प्रतीक्षा करता है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने जिन रूपों में मेरी उपेक्षा की थी उनमें सबसे ोछा शायद यह था कि केम्ब्रिज से लौटने के बाद मेरी वेतन-वृद्धि प्राय: न कुछ े बराबर की गई थी, मुझे यह मर्मांतक अनुभूति कराने को कि, बेटा, तुमने बहुत ड़ा खर्च उठाया, बड़ी मेहनत की, तुम्हारे परिवार ने शारीरिक कष्टों और मानसिक तनावों के दिन बिताए, पर आर्थिक दृष्टि से तुम्हारा मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं बढ़ा।

और यह नपुंसक संतोष होता अगर मैं आदर्शवाद की दुहाई देकर अपनी पीठ ठोंकता कि मेरी योग्यता तो बढ़ी।

मेरे विद्वेषी निम्न स्तर पर उतर पड़े थे। और मैं उन्हीं के स्तर पर उतर-कर उनको चुनौती देना चाहता था।

इसलिए जब आकाशवाणी ने विश्वविद्यालय से ड्योढ़ा वेतन देकर मुझे इलाहाबाद केन्द्र पर प्रोड्यूसर का पद सँभालने को बुलाया तो मैंने उसे फौरन स्वीकार कर लिया।

तुम जानो कि आर्थिक दृष्टि से भी मेरा मूल्य बढ़ा है। मैं क्यों मान बैठूं कि शिक्षक का पेशा ही आदर्श पेशा है; पिताजी जीवन भर पछताते रहे कि वे शिक्षक न बन सके और इसका परिष्कार उन्होंने इसी रूप में देखा कि वे अपने एक बेटे

को तो कम से कम शिक्षक बना छोड़ें।

अगर कोई आदर्श पेशा अपनाने की बात थी तो मेरा मन कोई दूसरा अपना चुका था, जिसे पेशा कहना भी उसकी अवमानना होती, और जिससे वह इतना आबद्ध, एकस्थ, एकात्म हो चुका था कि उसे किसी प्रकार के कार्य अथवा क्रिया-कलाप से विकृत-विदूषित नहीं किया जा सकता था।

आप उसे जानते हैं।

जिन्होंने जीवन-मूल्यों को अर्थाधारित कर रखा है—और वे ज़माने की हवा के साथ हैं—उन्हें इससे भी ईर्ष्या तो हुई होगी, जलन का अनुभव तो हुआ होगा; पर छाती में कुछ ठंड से उसका शमन भी हो गया होगा कि मैं उनके रास्ते से हट गया, क्योंकि मैं भविष्य में भी तो उनके लिए अवरोध सिद्ध हो सकता था।

इलाहाबाद युनिवर्सिटी छोड़कर मेरा संतोष केवल आधा था।

मैं तो इलाहाबाद नगर छोड़ना चाहता था जहाँ मेरी अनुपस्थिति में मेरे परिवार को निंदित-लांछित किया गया था, उसपर मनगढ़ंत कलंक लगाए गए थे, उसे व्यंग्य, उपहास और अपमान का पात्र समझा गया था और उसने एक अशांत और भयाक्रांत स्थिति में रहकर अपने दिन और रातें काटी थीं।

अपनी किशोरावस्था में भी मैं उसकी अंगुश्तनुमाई का शिकार बना था, पर तब लोगों की ज़बानें इतनी नहीं खुली थीं और मैं था क्या कि मुझे कुत्सित चर्चा का भी विषय बनाया जाता। जो जाने-पहचाने हैं, जिन्होंने किसी क्षेत्र में प्रमुखता पा ली है, जिन्होंने कहीं कोई ऊँचाई छुई है, उन्हीं को गिराने में समाज की विकृत प्रवृत्तियाँ अपने श्रम की सार्थकता देखती हैं।

चढ़ती जवानी में, संभवत: सामयिक सुधारवादी आंदोलनों से प्रभावित होकर खानपान, छुआ-छूत संबंधी अपने उदार विचारों को जो व्यावहारिक रूप मैंने दिया था उससे चिढ़कर, नाराज़ होकर मेरे खानदानी चाचा लोगों ने भी मुझे और मेरे परिवार को जाति-बहिष्कृत कर दिया था; साथ खान-पान, शादी-ब्याह में शिरकत बंद कर ही दी गई थी। मेरी पहली पत्नी श्यामा की लाश को काँधा देने को भी न आकर उन्होंने अपने बाईकाट को ऐसा कटु रूप दिया था जो मुझे और मेरे परिवार के सदस्यों को सालों सालता रहा।

फिर भी जब जाति-धर्म-प्रांत-भाषा—सब से बाहर जाकर मैंने दूसरी शादी की तो मैंने उन्हें, यानी अपने नज़दीकी रिश्तेदारों को याद किया। सम्मिलित उन्हें कहाँ होना था। 'ऐट होम' में उन्होंने अपने घर के बच्चे भेज दिए थे जिससे वे मुझसे संबद्ध होने के दायित्व से बचे रहें, और छोटे बच्चे लौटकर उन्हें समाचार दें कि जो नई बहुरिया मैं लाया हूं वह कैसी है और 'ऐट-होम' में कौन-कौन शामिल हुए।

शुक्रिया, कि मेरे बारे में कुछ कौतूहल उनमें अब भी शेष था।

मेरी एक खानदानी चाची को मुझसे बड़ा स्नेह था। परिवार के किसी मौके पर उन्होंने मुझे निमंत्रित कर लिया। मैं तेजी को लेकर गया। शायद पुराना विरोध धीरे-धीरे कम हो रहा है।

पर चाची भी संस्कारों से जकड़ी थीं; बिरादरी से भयभीत भी होंगी।

सबको सुनाकर उन्होंने कह दिया, 'ई लोग पंगत में न खइहैं'। मैं उसका

मतलब समझ गया। हम दोनों को अलग बैठालकर खिलाया गया।

तेजी को मैंने बताया तो उन्होंने बहुत अपमानित अनुभव किया। तुम मुझे लेकर गए ही **क्यों?**

पंजाब की एक सुन्दरी कन्या से मेरे अप्रत्याशित, अचानक ब्याह पर ही क्या-क्या नहीं कहा गया, क्या-क्या फबतियां नहीं कसी गईं। लोगों में शर्तें लगी थीं कि साल भर में यह संबंध टूट न जाय तो... (हमारी 43वीं विवाह-जयंती पर उनकी छातियों पर—अगर वे भगवान की कृपा से जीवन भोग रहे होंगे तो कैसे-कैसे सांप लोटे होंगे)। याद है, ऐसा बहुत कुछ कहा ही नहीं गया, लिखा भी गया, छापे में भी आया। एक समय मैंने तैश में आकर ऐसे लिखनेवालों पर मुकदमा दायर करने की बात सोची थी, लेकिन एक अनुभवी वकील ने मुझे सलाह दी, ऐसी बातें केवल उपेक्षा से मर जाती हैं, क्यों उनसे टक्कर लेकर उनको महत्व दिया जाए—वे ठीक ही थे।

उनकी ज़बानें और कलमें तेजी और मुझपर ही नहीं चलीं, नवजात शिशु अमिताभ पर भी चलीं। एक दोहा प्रचलित किया गया, शायद कहीं छपा भी :

'बच्चन के बच्चा हुआ नाम हो बच्चू सूर,
मां और बाप के नाम की छाप रहे भरपूर।'

लिखनेवाले ने तेजी के खानदान की ओर भी संकेत किया था—वे 'सूरी' सिक्खों के परिवार की थीं। सूरी से सूर—पूर्वी उत्तर प्रदेश में बच्चू सूर नामक एक अंधे कवि हो गए हैं। सुनकर तेजी के क्रुद्ध तेवर की याद मुझे अब भी है।

मुझे लिखते हुए बड़ा अफसोस हो रहा है कि इस दोहे को प्रचलित करने वाले एक स्वनामधन्य साहित्य-पुरोधा थे—अभी मौजूद हैं। पता नहीं अपने तीक्ष्ण-व्यंग्य के अबोध शिकार को आज अमिताभ बच्चन के रूप में 'सूर' नहीं 'सूर्य'-सा चमकते देखकर—अगर उनमें हया होगी तो—किस घुप्प अँधेरी गुहा में उलूक-शरण लेने की सोच रहे होंगे।

मेरा विदेश जाना भी मेरे संबंधियों को पारिवारिक चलन की अवहेलना लगी थी।

और इलाहाबादी साहित्यकारों ने, जब मैं 'मधुशाला' लेकर काव्य-क्षेत्र में उतरा था मेरा किस तरह स्वागत किया था।

'घूरन के लत्ता कनातन से ब्योंत बांधै' शीर्षक लेख 'अभ्युदय' में छपा था। बच्चन चला है खैयाम बनने !

और भी कितने लेख छपे थे।

और जो ज़बानें चलीं उनका साक्ष्य कैसे दूं। कान पक गए थे।

जो दमदार आवाज़ें मेरे पक्ष में उठ सकती थीं इसपर आंतरिक प्रसन्नता अनुभव करती मौन रहीं।

'अच्छी पड़ रही है !'

मेरे पक्ष में इलाहाबाद से स्वर नहीं उठा था—कलकत्ता से उठा था—'विशाल भारत' का – पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी का।

खैर, जैसे-जैसे समय बीत रहा था, मैं इन कटु आलोचनाओं-अपमानों को

भूल रहा था, परन्तु जब मैं अपने घर-परिवार से दूर सात-समुंदर पार पड़ा था, उस समय उसके प्रति जो दुर्व्यवहार इन नगर में किया गया, उसके बारे में जो मिथ्यापवाद फैलाए गए, उससे सारी पुरानी बातें मुझे फिर याद आ गईं, पुराने घाव ताजे हो गए—मुझे इस नगर में नहीं रहना है। मुझसे बहुत बड़े लोग अपने जन्म-नगरों को छोड़कर चले जाने को विवश हुए हैं।

और इसीलिए मैं मना रहा था कि कब मौका लगे और कब मैं इस नगर को छोड़कर चला जाऊं। अपने प्रति किए गए अपमान को मनुष्य भले ही सह ले, पर अपने प्रिय जनों के प्रति किए गए तिरस्कार को भूलना उसके लिए बहुत कठिन होता है।

ऐसा मौक़ा तीन महीने तक न आया, और मैं इलाहाबाद रेडियो स्टेशन पर हिंदी प्रोड्यूसर की हैसियत से काम करता रहा। स्टेशन डायरेक्टर बाबू गोपाल दास थे, स्वभाव से गंभीर पर यदा-कदा अपनी व्यंग्य-विनोदी वृत्ति का भी संयत संकेत देते हुए; साहित्यकारों के प्रति उनके मन में बड़ा सम्मान था; जब कभी पंत जी या मैं उनके कमरे में जाते वे अपनी कुर्सी से उठकर खड़े हो जाते। साथ ही औरों की योग्यता-क्षमता आंकने में उनकी आँखें अचूक थीं। अच्छा गद्य लिखते थे, उनके कई लेख 'धर्मयुग' में छपे थे, रोचक और सुपाठ्य थे। संस्मरणात्मक गद्य की उनकी एकाधिक पुस्तकें प्रकाशित भी हुई थीं।

प्रोड्यूसरी की अवधि के केवल दो अवसरों की मुझे याद है—एक था दिल्ली में आयोजित प्रोड्यूसरों का एक सेमिनार जिसकी चर्चा मैं पहले कभी कर चुका हूं। दूसरा था महोबे का एक वार्षिक मेला, जिसकी रेडियो-रिपोर्टें तैयार करने को मेरे साथ तीन-चार सहयोगियों की एक टीम भेजी गई थी। महोबा सामंती युग में अपने अकड़बाज़, धाकड़ लड़ैतों के लिए मशहूर था जिनके सिरमौर थे आल्हा-ऊदल – अश्विनीकुमारों से—जो आज भी समस्त उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में वीरता और शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं और जिनकी कीर्ति-गाथा आल्ह-खंड के लोक महाकाव्य के रूप में गाँव-गाँव में गाई-सुनी जाती है, शायद तुलसी के रामचरितमानस से अधिक। पुरा-प्रख्यात 'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो...सप्तैते चिरजीविनः' में लोक-विश्वास ने आल्हा-ऊदल को भीजोड़ दिया है। बुन्देलखंड में किंवदंती है कि आल्हा-ऊदल अब भी ज़िन्दा हैं और हर आधी रात को अपनी उपास्या मैहर की देवी का दर्शन-पूजन करने आते हैं—प्रसंगवश बता दूं कि मैहर की देवी भारत-विख्यात संगीतज्ञ और विशिष्ट सरोद-वादक अलाउद्दीन खां की भी उपास्या थीं। और भी न जाने कितने बल-वैभव के किस्से लोक-कल्पना ने गढ़-गढ़कर आल्हा-ऊदल के साथ जोड़ दिए हैं कि वे लोहे के मुग्दर भांजा करते थे, सोने की गुल्ली और चाँदी के डंडे से गुल्ली-डंडा खेला करते थे, जिन्हें एक दिन किसी बात पर ताव में आकर उन्होंने एक तालाब में फेंक दिया था - क्या आप मानेंगे कि उनकी खोज में लोग अब भी यदा-कदा तालाब में डुबकियां लेते हैं?

उस मेले में भी कई जगह आल्हा गाया जा रहा था जिसकी रेकार्डिंग हमने की थी—जैसे अल्हैतों में प्रतियोगिता हो रही हो कि कौन अपने पास अधिक से अधिक भीड़ आकर्षित कर सकता है।

महोबा बाँदा होकर जाते हैं। लौटते समय मैं एक रात के लिए बाँदा रुक

गया था जहाँ जगदीश राजन ने अपने पिता बाबू गया प्रसाद की देख-रेख में अपनी नई-नई वकालत शुरू की थी। चिर-विधुर वृद्ध गया प्रसाद की अब एक-मात्र लालसा अपने पुत्र को विवाहित देखने की थी। उनका दर्शन मेरे लिए देवता के दर्शन के समान होता था। मेरे स्व० पिता के इने-गिने अभिन्न मित्रों में वे थे। मेरे छोटे भाई शालिग्राम की असामयिक मृत्यु पर जब राजन ने अपने स्नेह, समादर, समर्पण से मुझे अपना बड़ा भाई माना तब बाबू गया प्रसाद ने भी मुझे बड़े बेटे का स्थान दिया। केम्ब्रिज से सफलता प्राप्त कर लौटने पर सबसे पहले मैं उनके पाँव छूने बाँदा गया था। मेरे पिता जीवित होते तो उस अवसर पर क्या उनसे अधिक प्रसन्न होते ? राजन जी शादी के लिए कई जगहों से प्रस्ताव आ रहे थे। मैं पूछ बैठा, 'कहाँ शादी करना चाहेंगे ?' बोले 'जहाँ तुम कह दोगे।' यह उनका क्षणिक आवेश अथवा औपचारिकता मात्र न थी। इस संबंध में जब अंतिम निर्णय का समय आया तब उन्होंने पूरा अधिकार मुझे सौंप दिया।

इलाहाबाद रेडियो-स्टेशन पर काम करते तीन महीने पूरे होने को थे, पर दिल्ली से कोई खबर न थी जिसकी मैं प्रति दिन प्रतीक्षा कर रहा था। साल समाप्त होने को था, मुझे कुछ छुट्टी प्राप्य थी जो पुराने साल के भीतर ही ली जा सकती थी। बनारस और इंदौर में कवि सम्मेलन थे, जहाँ के लिए बड़े आग्रह-पूर्ण निमंत्रण थे। मैं छुट्टी लेकर उनमें भाग लेने के लिए निकल पड़ा।

बनारस होकर सुबह इंदौर पहुंचा था; दिन को तेजी का फोन आ गया— विदेश मंत्रालय से नियुक्ति का पत्र आ गया है। तेजी का आदेश था कि मैं जल्दी से जल्दी दिल्ली पहुंचकर मंत्रालय में अपने को प्रस्तुत कर दूं। बहुत दिनों के और बहुत बार के अनुभव से मैंने यह देखा है कि जीवन में जब कभी विकल्प की स्थिति आती है—यह करूँ कि वह करूं ?—तब तेजी की प्रत्युत्पन्न मति एक निश्चित संकेत करती है। जब-जब मैंने उसका अनुसरण किया है तब-तब परि-णाम अच्छा हुआ है, और जब नहीं किया तब मुझे अपने किये पर पश्चात्ताप ही करना पड़ा है। मेरे बेटों-बहुओं के सामने जब ऐसी स्थितियाँ आती हैं और वे परिवार में बैठकर सलाह-मशविरा करना चाहते हैं तो मैं हमेशा कहता हूं कि माँ से पूछ लो, जो वे कहें करते जाओ, तुम्हें पछताना नहीं पड़ेगा।

इसका श्रेय वे अपने को नहीं देतीं। नानके की ओर से वे सोडी सिक्खों के परिवार की हैं जो गुरुओं का परिवार माना जाता है। उनका ऐसा विश्वास है कि जिसपर गुरु-कृपा हो जाए उसकी प्रत्युत्पन्न मति सही दिशा-निर्देश करने लगती है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन के बहुत महत्वपूर्ण निर्णय इसी आधार पर लिए हैं और उन्हें धोखा नहीं खाना पड़ा। उनका ऐसा ख्याल है कि अमिताभ में भी यह शक्ति उद्‌बुद्ध हो रही है। उनके निर्णय तर्कसम्मत न हों पर अपने दूर-गामी परिणामों से वे ग़लत नहीं साबित होते।

'प्रतीक्षा' में खाना खाने के लिए एक गोल टेबिल है — सहज ही अमित, जया, तेजी और मैंने एक-एक जगह अपने लिए चुन ली और उस पर रोज़ बैठने लगे।

एक दिन मैंने महाभारत में पढ़ा, जो पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करता है उसे आयुष्य मिलता है; जो पच्छिम की ओर, उसे लक्ष्मी मिलती है; जो दक्षिण की ओर, उसे कीर्ति; और जो उत्तर की ओर, उसे सत्य मिलता है।

कौतूहलवश मेरे मन में आया, ज़रा देखें हम लोग टेबिल पर किस-किस

दिशा की ओर मुंह करके बैठते हैं—मेरा मुंह पूर्व की ओर होता है, आयुष्य तो मिला है, 77 पार कर गया हूं; जया का पश्चिम की ओर, धन की उसके पास कमी नहीं; तेजी का दक्षिण की ओर—कीर्ति उन्हें कम मिली है?—तेजी बोलीं, मुझे क्या कीर्ति मिली है। मैंने कहा, तुम एक बड़े कवि की पत्नी, एक बड़े अभिनेता की मां के रूप में जानी जाती हो, अब और क्या प्रसिद्धि चाहती हो? —और अमिताभ का मुंह उत्तर की ओर होता है, क्या इसी से वह सत्य देखता है?

'काला पत्थर' चित्रपट में कोयले की खान में कई दिन तक गंदे पानी में आकंठ डूबकर शूटिंग करने के कारण जब अमित को पीलिया हो गया, जिससे उसे बड़े उपचार-परहेज़ के बाद राहत मिली तो मैंने उससे कहा, अब तुम मेरी जगह पर बैठा करो और मैं तुम्हारी जगह बैठूं, क्योंकि तुम्हें आयुष्य की आवश्यकता है और मुझे अब चौथेपन में सत्य-प्राप्ति की। अमित ने कहा, 'मैं सत्य की कीमत पर आयुष्य न चाहूंगा।'

तेजी की बात मैं मानना चाहता था, पर दूसरे ही दिन दिल्ली पहुंचने के रास्ते में बहुत-सी कठिनाइयां थीं।

इंदौर कवि-सम्मेलन के संयोजक डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने कठिनाइयों के बीच राह निकाली।

रात को कवि सम्मेलन था, उन्होंने शुरू-शुरू में ही उद्घाटन रूप में मेरी कविता का पाठ करा दिया, खड़े-खड़े चार पूरियां भी खिला दीं, और एक मोटर का प्रबंध कर दिया जो मुझे दो घंटे में रतलाम पहुँचा दे जहाँ से एक गाड़ी मिलती थी जिससे मैं दूसरे दिन दफ्तर के पहले दिल्ली पहुंच सकता था।

किस्मत कभी-कभी बड़ा इंतज़ार कराती है—लंबा—आप इंतज़ार करते-करते थक जाते हैं, ऊब जाते हैं, घड़ियां काटे नहीं कटतीं; और जब किस्मत बदलती है तब कितनी तेज़ी से बदलती है, कितनी तेज़ी से आप अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। पांवों में पर लग जाते हैं, मुहावरा है; पर परों से भी कितना तेज़ उड़ा जा सकता है। मैं मोटर की रफ्तार से और फिर मेल ट्रेन की चाल से अपने मंज़िले-मकज़ूद की ओर खिंचा चला जा रहा था।

'खींचती तुम कौन ऐसे बंधनों से
जो कि रुक सकता नहीं मैं'

तेजी ने विदेश मंत्रालय का पत्र फोन पर पढ़कर सुना दिया था; मुझे Officer on Special Duty (Hindi) के पद पर बुलाया गया था। मेरा काम होगा विदेश मंत्रालय में उत्तरोत्तर हिंदी के प्रयोग में सहायता देना।

रतलाम से मेल में एक खाली कूपे फर्स्ट क्लास में मिल गया था—

नीचे की बर्थ पर बिस्तर लगाकर लेट गया हूं।

नींद नहीं आ रही है।

रेल भकाभक-भकाभक चली जा रही है।

और दिमाग में एक विचारों की रेल भी चल रही है।

यथार्थ का घेरा खड़ा कर दिया गया हो तो कल्पना के घोड़े को छोड़ दो; भाग-दौड़कर अंदर का अंदर।

नौकरी हाथ में—जैसे नौकरी न हो मिलकियत हो।
वेतन, रेडियो-वेतन से ढाई सौ अधिक।
विश्वविद्यालय के ईर्ष्या-द्वेष से परे।
शहर के चबाव-चर्चा से दूर।
चहारदीवारी पक्की, पुश्ता-पुश्ता पुख्ता।
कल्पना का घोड़ा बे-खौफोखतर दौड़े··
अपने आपसे एक वार्तालाप शुरू हो जाता है।

बच्चन बाबू! (दफ्तर में तो बाबू यानी क्लार्क ही हूँगा; युनिवर्सिटी में बच्चन साहब था—जैसे झा साहब, देव साहब, दस्तूर साहब; कवि सम्मेलन में बच्चन जी, जैसे पंत जी, निराला जी) हाँ तो बच्चन बाबू, आपकी किस्मत ने भी आपके साथ क्या खूब खेल किया है!

आपने केम्ब्रिज में दो बरस, तीन महीने, चार दिन रहकर—क्या नंबरों का सिलसिला जमा है—अंग्रेज़ी में डाक्टरेट ली—केम्ब्रिज से ऐसे डिग्री लेनेवाले आप दूसरे हिन्दुस्तानी हैं - शुद्ध हिन्दुस्तानी तो पहले; पहले डाक्टर, बी॰ राजन की माँ आइरिश थीं—कोई छोटी उपलब्धि नहीं। आपको तो किसी युनिवर्सिटी के अंग्रेजी विभाग का अध्यक्ष होना था—प्रोफेसर बच्चन। लगभग पचास की उम्र है आपकी—ऐसे पद के लिए शिक्षा-अनुभव परिपक्व।

और आप जा रहे हैं हिन्दी अफसर बनकर। क्या काम आएगी वहाँ आपकी अंग्रेज़ी युनिवर्सिटी की अंग्रेज़ी डाक्टरेट?

अगर अंग्रेज़ी अध्यापन से आपका लगाव नहीं था तो आपने धन, श्रम, समय लगाकर क्यों यह डिग्री प्राप्त की?

क्या सिर्फ अंग्रेज़ी की अपनी समझ-बूझ और योग्यता सिद्ध करने के लिए?

हो सकता है।

जब युनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग में आपको लिया गया तो आपके सह-योगियों ने कहा था, आप हिंदी के चोर दरवाज़े से अंग्रेज़ी विभाग में घुस आए।

और आपने प्रतिज्ञा की थी।

एक दिन मैं तुमसे यह मनवाऊँगा कि अंग्रेज़ी साहित्य में भी तुममें से किसी से मेरी गति कम नहीं है।

'जौ मैं राम त कुल सहित···।'

और राम ने कुल सहित रावण का वध करके सीता से कह दिया था, रावण ने रघुकुल की नारी का अपहरण कर उसकी जो अवहेलना की थी उसका बदला मैंने ले लिया, रघुवंश की मान-मर्यादा पुनरस्थापित कर दी, अब तुममें मेरी रुचि नहीं; तुम जहाँ चाहो जा सकती हो—नास्ति मे त्वय्यभिष्वंगो यथेष्टं गम्यता-मिति - वाल्मीकि साक्षी हैं।

क्या आपने अंग्रेज़ी विभाग से ऐसा ही कुछ नहीं कह दिया?

मैं दस-बारह बरस अंग्रेज़ी पढ़ाकर ही कौन बड़ी लाट खड़ी कर लेता।

पर दस-बारह बरस जो मैं हिंदी का काम करूँगा वह महत्व का होगा। एक बड़ा स्वप्न है संदर्शन है—Vision, जो इस देश की महामनीषा ने देखा है कि एक दिन हिंद-राष्ट्र की अखंडता और एकता के हित में शिक्षा, प्रशासन, न्याय, उद्योग, शोध सभी क्षेत्रों में हिंदी के माध्यम से काम हो सकेगा। अभी तो

सारा काम, प्रायः सभी महत्व के क्षेत्रों में, अंग्रेज़ी के माध्यम से होता है। ऐसे दर्जे पर जब अंग्रेज़ी को धीरे-धीरे अपदस्थ कर हिंदी को उसकी जगह प्रस्थापित करना है, ऐसे लोग जो हिंदी के साथ अंग्रेज़ी का भी समुचित ज्ञान रखते हैं काम के साबित हो सकते हैं।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है, 'Well begun is half done.'

मैं इस विश्वास के साथ जा रहा हूँ कि मैं ठीक शुरुआत कर सकूंगा।

निश्चय ही पंडित जी ने इस काम के योग्य मुझे समझा होगा, तभी तो मुझे बुलाया है।

नियति ने मेरे साथ खिलवाड़ नहीं किया। क्या वास्तव में उसने सही वक्त पर, सही काम के लिए, सही आदमी को नहीं चुना है ?

डिग्री का पुछल्ला बेमानी है।

पर मुझमें जो शोध-वृत्ति जागी है क्या वह उस क्षेत्र के लिए भी उपयोगी न होगी जिसमें काम करने मैं जा रहा हूँ? मेरे कवि-कर्म के लिए भी क्या यह सहायक नहीं सिद्ध हुई थी ?

पंडित जी की पूर्व-सूचना के अनुसार अगर मुझे अंग्रेज़ी के राजनयिक दस्तावेज़ों-पत्रों का अनुवाद ही करना हुआ तो क्या अंग्रेज़ी की जगह पर सही हिंदी शब्दों-मुहावरों का शोध अत्यधिक महत्वपूर्ण न होगा ?

सही शब्दों का शोध न तो सरल काम है और न छोटी उपलब्धि—सच पूछो तो बहुत बड़ी उपलब्धि है। अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए सही शब्दों के शोध से ही कविता का आरम्भ होता है। और अंत होता है शब्दों के माध्यम से—सुन्दरम्, शिवम्, सत्यम् के शोध से।

नहीं, मैं इस विवशता और पराभव की मनःस्थिति में अपने नए काम पर नहीं जा रहा हूं कि योग्यता कुछ और काम करने की मैंने प्राप्त की थी और करने जा रहा हूं कुछ और काम।

मैं अपनी योग्यता-क्षमता से वह सिद्ध हो सकूं जिसकी मुझसे प्रत्याशा की जा रही है—संभव हो तो उससे कुछ अधिक।

पता नहीं पंडित जी की प्रत्याशा मुझसे क्या होगी ?

कब कल्पना से स्वप्न में, स्वप्न से नींद में खो गया, कुछ पता नहीं—जागता हूँ, दिल्ली नज़दीक आ रही है—कभी लगा था, 'हनोज़ दिल्ली दूरस्त !'

स्वप्न देखना कितना सहज-सुखद होता है पर उसे साकार करने में कितना पित्ता-पानी एक करना पड़ता है। और साकार होते ही वास्तविकता से उसकी टक्कर शुरू हो जाती है।

जिस काम की सुखद अनुभूति की कल्पना करता हूँ वह जब सामने आएगा तब आएगा, अभी तो यह सोचता हूँ कि दिल्ली पहुँचकर ठहरूँगा कहाँ। यथार्थ की पहली हल्की-सी टक्कर दिमाग में ! ···

अविनाश और उनके घर की तस्वीर आँखों के सामने खड़ी हो गई। मेजर अविनाश चन्द्र से हमारा परिचय तेजी के धर्म-बंधु मेजर रमेशचन्द्र पंडित ने कराया था। वे उनके फौजी विभाग—आर्टिलरी (तोपखाना)—के सहयोगी थे। दो भाई थे। छोटे भाई का नाम कुलदीप था जिन्होंने कनाट सर्कस में न्यू बुक

डिपो के नाम से किताबों की एक अच्छी-बड़ी दूकान खोली थी। पिता—सात फुटे—अपनी प्रौढ़ावस्था से विधुर—दिल्ली में मजिस्ट्रेट थे; अविनाश ने बताया था, गांधी जी के हत्यारे नाथूराम गोडसे का पहला हलफी बयान उन्हीं के सामने हुआ था। दोनों भाई इलाहाबाद आकर अक्सर हमारे यहां ठहरे थे—हमारे बक रोड वाले मकान में। हमारी आत्मीयता इतनी बढ़ गई थी कि जब अविनाश की शादी के लिए लड़की देखने का अवसर आया तो वे अपने साथ किसी संबंधी को न ले जाकर हम दोनों को ले गए थे। उनकी शादी में तो किसी वजह से हम शामिल न हो सके थे, पर उनके छोटे भाई की शादी में हम दोनों कई दिनों तक जाकर उनके घर पर ठहरे थे। उनका बंगला हार्डिंज रोड पर था—खासा बड़ा, खूबसूरत, सामने मझोला लान; बगल में शरणार्थी बच्चों का एक तम्बूवाला स्कूल जहाँ से सुबह-सुबह उनकी प्रार्थना का सामूहिक स्वर सुनाई देता था—'शरणागत पाल कृपाल प्रभो हमको इक आस तुम्हारी है'! ...

स्टेशन से ताँगा लेकर उनके बंगले पर पहुंचा। मन में बड़ा संकोच था, बिना किसी प्रकार की सूचना दिये आ गया हूं—हिंदुस्तानी अतिथि के समान—'अतिथि'—जिसके आने की तिथि न हो। पर मन में कहीं विश्वास भी था कि 'अतिथिदेव' का स्वागत होगा ही। दोनों भाई घर पर ही थे, मुझे देखकर खुश हुए, मिठासभरी शिकायत के साथ, 'अरे यार तार दे देते, कार लेकर स्टेशन आ जाता।'

'पूछोगे भी कि कहाँ से आया हूँ, कैसे आया हूँ ?'

छोटे मेरा सामान तांगे से उतार रहा था—उनका नौकर नहीं, उनके घर का सदस्य-सा ही। दस बरस पहले जब उनके यहां पहले-पहल आया था तब भी छोटे उनके यहां काम कर रहा था और अठारह बरस बाद जब अविनाश के लड़के की शादी में गया तब भी छोटे को वहीं काम करते पाया। आज के जमाने में ऐसे नौकर अकल्पनीय हैं। परिवार का होकर रहना और परिवार का बनाकर रखना—दोनों ही नौकर-मालिक से एक विशिष्ट गुण-स्वभाव की माँग करते हैं। निश्चय ही छोटे अगर अच्छा नौकर था तो अविनाश अच्छे मालिक भी थे।

नाश्ता-पानी होने के बाद वे मुझे विदेश मंत्रालय के मुख्य द्वार तक अपनी कार से छोड़ गए, उन्हें कहीं आगे जाना था। मंत्रालय में प्रवेश करने के पूर्व मैं कुछ पल उसकी सीढ़ियों पर ठिठका रहा और उतनी देर में न जाने कितने विचार मेरे दिमाग में आकर चले गए।

मेरे आने के पूर्व ही हिंदी-अनुभाग का गठन हो चुका था और उसे प्रशासन प्रभाग के अंतर्गत रखा गया था। पहले दिन मुझे प्रभाग के उपसचिव मि० कक्कड़ के पास भेजा गया जहाँ उन्होंने मुझसे कुछ कागज़ों पर हस्ताक्षर कराए। मैंने तो पढ़ा भी नहीं कि उन कागज़ों पर क्या लिखा था—ये कुछ दफ्तरी औपचारिकताएँ थीं जो हर नव-नियुक्त अफसर को निभानी पड़ती थीं। फिर वे मुझे प्रभाग के सह-सचिव श्री टी० एन० कौल के कमरे में ले गए। उनसे औपचारिक परिचय कराने की आवश्यकता न पड़ी। कौल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के पूर्व-स्नातक थे—प्रायः मेरे समकालीन। एक बार जब वे उन्नाव में कलक्टर थे तब उन्होंने कोई समारोह आयोजित किया था जिसमें पंडित

अमरनाथ झा को मुख्य अतिथि के रूप में बुलाया गया था और मुझे उस अवसर पर होनेवाले कवि सम्मेलन में भाग लेने के लिए। मुझे याद है, किसी ने श्री कौल का परिचय देते हुए उन्नाव जिले में उनके द्वारा कई शालाएँ खुलवाने की चर्चा की थी। मैं जब कविता पढ़ने के लिए खड़ा हुआ तो मैंने कहा कि अभी सुना कि कौल साहब ने यहाँ यह शाला खोली, वहाँ वह शाला खाली, तो मैंने सोचा मैं भी यहाँ एक शाला खोल दूं यानी मधुशाला—और मैंने 'मधुशाला' की रुबाइयों का पाठ शुरू कर दिया था। कौल साहब को उस अवसर का स्मरण था और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मेरा स्वागत किया। बोले, 'कल 11 बजे काफ़ी ब्रेक के समय कामन रूम में आइएगा, वहीं मंत्रालय के अन्य अफसरों से आपका परिचय करा दिया जायगा।' कौल साहब से विदा हुआ तो कक्कड़ साहब ने कहा, लगे हाथों हिंदी सेक्शन को भी देखते चलिए। पास ही था। देखकर गहरी निराशा हुई। नामपट अँग्रेज़ी में था, कम-से-कम हिंदी अनुभाग का नामपट तो हिंदी में होना चाहिए था! ज़ीने के नज़दीक एक बहुत छोटा-सा कमरा था, कमरा नहीं 'किचनेट'—चाय आदि बनाने के लिए छोटी-सी कोठरी—पत्थर के कोयले का एक खड़ा चूल्हा कोने में अब भी मौजूद, ऊपर धुवांदान। उसी में किसी तरह तीन-चार लोगों के बैठने के लिए टेबिल-कुर्सियां लगा दी गई थीं—एक सेक्शन आफ़िसर श्री राधेश्याम शर्मा के लिए, एक हिंदी स्टेनोग्राफर मि० चतुर्वेदी के लिए, एक लोअर डिवीज़न क्लार्क मि० जैन के लिए; शायद एक सीट और थी अपर डिवीज़न क्लार्क के लिए। इसके बाद वहां चलने-फिरने की कोई जगह नहीं बचती थी; किसी को निकलना हो तो दूसरों को उठकर रास्ता देना पड़े। कक्कड़ साहब ने मेरे चेहरे की निराशा भांपी होगी; बोले, आपके बैठने का कमरा अलग होगा। मैंने कहा, लगे हाथों उसे भी देखते चलें।

मंत्रालयों में सबसे बड़ा अफसर सचिव (सेक्रेटरी) होता है, उसके नीचे सह-सचिव (ज्वाइंट सेक्रेटरी), उसके नीचे उपसचिव (डेपुटी सेक्रेटरी), उसके नीचे अवर सचिव (अंडर सेक्रेटरी)। सुना, जब सेक्रेटरियों का हिंदी नामकरण किया जा रहा था, तब अंडर सेक्रेटरी के लिए 'नीच सचिव' भी सुझाया गया था, शायद हिंदी की शब्दावली का मज़ाक उड़ाने के लिए। सेक्रेटरियों के पद की ऊँचाई-नीचाई के अनुसार उनके कमरे, कमरे के फर्नीचर-मेज़, कुर्सी, दरी, परदे आदि में अंतर रखा जाता है—सेक्रेटरी के लिए बड़ा स्वतंत्र कमरा, बड़ी मेज़; उसके कमरे में छोटी-मोटी मीटिंग के लिए मेज़-कुर्सियां या सोफा सेट वग़ैरह; सह-सचिव के लिए कुछ छोटा पर स्वतंत्र कमरा, कुछ छोटी मेज़, एकाध-सोफा सेट—स्वयं कभी आराम करने के लिए या किसी संभ्रांत आगंतुक को बैठाने के लिए; उपसचिव के लिए और छोटा पर स्वतंत्र कमरा, और छोटी मेज़, पर सोफा-सेट वग़ैरह नहीं। अवर सचिव को स्वतंत्र कमरा नहीं दिया जाता; एक बड़े कमरे में क्यूबिकल बनाकर—पखवाइयों (स्क्रीन) से कमरे का विभाजन करके— दो या तीन अवर सचिवों को अलग-अलग बैठने, काम करने को मेज़-कुर्सियाँ लगा दी जाती हैं। कक्कड़ साहब ने बताया, मेरा दर्जा अवर सचिव का होगा, अभी मेरे बैठने की जगह निर्धारित नहीं हुई।

फिर भी मेरे मन में आया, अवर-सचिवों के किसी कमरे में झाँककर मालूम कर लें कि अपने-अपने 'दड़बों' में—क्यूबिकल के लिए शायद यही हिंदी

शब्द ठीक जंचे—बैठे हुए वे लोग कैसे अपना काम कर रहे हैं। एक अवर सचिव फोन पर किसी से बात कर रहे थे, दूसरे अपने स्टेनो को कुछ डिक्टेट कर रहे थे, तीसरे किसी क्लार्क या सेक्शन आफिसर को डाँट रहे थे—एक दूसरे से बिना किसी प्रकार के व्याघात का अनुभव करते हुए। मैंने भीतर-ही-भीतर अपने को संबोधित किया, बच्चन बाबू, कल से आपको ऐसे ही बैठकर काम करना पड़ेगा। बुरे फंसे ! जिस प्रकार का काम करने के लिए आप आए हैं उसके लिए यह परिस्थिति कितनी अनुकूल पड़ेगी; शायद बिलकुल नहीं। आपको तो कम-से-कम उपसचिव का दर्जा मिलना चाहिए था कि आपको बैठने के लिए एक स्वतंत्र कमरा मिलता। पर आते ही ऐसी माँग करना कहाँ तक उचित होगा। पूरी भी कौन करेगा ? फिर मैंने यहां आने के लिए किसी प्रकार की शर्त न रखने का पंडित जी से वादा किया था। काम के लिए सुविधा मांगना कहीं छद्म रूप में मेरी महत्वाकांक्षा ही न समझी जाय। प्रतिकूल परिस्थितियों में क्या काम नहीं किया जा सकता ? मैंने अपने आदर्शवादी को जगाया, बच्चन जी, जब आपने कोई काम करना चाहा है, कठिन-से-कठिन, तब आपने अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा कब की है ? आप ही ने तो लिखा था—

हैं लिखे मधुगीत मैंने
हो खड़े जीवन-समर में।

तो क्या यहां सृजन से कहीं सरल, अनुवादों का काम आपसे सचिवालयी शोर-गुल के बीच न हो सकेगा ? कल से आइए और काम शुरू कीजिए। टेढ़े आँगन की शिकायत नाच न जाननेवाले करते हैं।

कौल साहब के आदेशानुसार दूसरे दिन मैं 11 बजे कामन रूप में उपस्थित हो गया।

बहुत बड़े अफसरों को छोड़कर प्रायः सभी सूट-बूट से लैस वहां आ रहे हैं—बड़े साहब अपने कमरों में ही काफी पीते होंगे।

और उनकी बातचीत शुद्ध अंग्रेज़ी में हो रही है।

आँख मूंद लें तो ऐसा लगे जैसे केम्ब्रिज या आक्सफर्ड की किसी काकटेल पार्टी में चल रही बातचीत की आवाज़ कानों में पड़ रही हो।

उत्तर और मध्य भारत के प्रायः सभी लोग मुझे कवि रूप में जानते थे, या मेरा नाम सुन चुके थे। विदेश मंत्रालय में मेरी नियुक्ति पर उनकी आँखों में संदेहात्मक प्रश्न था कि इस दफ्तर में मेरे कवि का क्या उपयोग हो सकेगा ? उन्हें शायद विश्वास नहीं था कि मुझमें और भी गुण हो सकते हैं और साधारण स्तर के नहीं।

'सब जगह असमर्थ हूँ मैं
इसलिए तो नहीं तेरा हुआ हूं।'

—कविता इस मजबूरी में तो नहीं लिखी कि और कुछ करने लायक नहीं हूं।

दक्षिण भारत वालों से, और जो मुझे नहीं जानते थे उनसे मेरा परिचय कराया गया।

मैं किस उद्देश्य से बुलाया गया हूं यह भी बताया गया, पर किसी अफसर की आंखों में मुझे इस विश्वास की छाया भी न दिखी कि उस मंत्रालय में कभी

निकट या सुदूर भविष्य में भी उत्तरोत्तर हिंदी का प्रयोग होगा। मैं कई दिनों लगातार कामन रूम में जाता रहा।

मैंने कहीं पढ़ा या किसी से सुना था कि हर नए सार्थक आंदोलन को क्रमानुसार तीन तरह की प्रतिक्रियाओं से गुज़रना पड़ता है।

पहले लोग उसका मज़ाक उड़ाते हैं,
फिर लोग उसका विरोध करते हैं,
और अंत में उसे स्वीकार कर लेते हैं।

हिंदी अंग्रेज़ीदां अफसरों के बीच अभी मज़ाक की ही चीज़ थी। अंडर सेक्रेटरी को 'नीच सचिव' कहकर हंसने की बात पहले लिख चुका हूं। कोई पूछता रेडियो को क्या कहेंगे ?—विद्युत प्रसारण यंत्र ? तोले भर अंग्रेज़ी शब्द के लिए सेर भर का हिंदी शब्द !—वस्तुतः पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने कुछ दिन पहले रेडियो से अपने काव्य-पाठ में इस शब्दावली का प्रयोग किया था !—रेल को क्या कहेंगे ? —'लौहपथगामिनी' ? डा० रघुवीर—उस समय राज्यसभा के सदस्य—तकनीकी शब्दों के लिए विशुद्ध संस्कृत की ओर जाने के पक्ष में थे। क्लिष्ट हिंदी उन दिनों रघुवीरी हिंदी के नाम से अभिहित की जाने लगी थी। ईमानदारी की बात तो यह है कि तकनीकी शब्दावली पर डा० रघुवीर ने गम्भीर चिंतन किया था, और वे जिन परिणामों पर पहुँचे थे वे बहुत तर्कसम्मत भी थे, पर बड़ी विचित्र बात है कि भाषा का विकास सदा तर्क के आधार पर नहीं होता। उनके संपादित शब्दकोश से लाभान्वित हुआ जा सकता था, पर उसपर सर्वथा निर्भर नहीं हुआ जा सकता था। फिर लोग उनके सिद्धान्तों को अति तक ले जाकर ऐसे-ऐसे शब्द गढ़ते थे जो शायद डा० रघुवीर को भी न सूझते—निश्चय ही उनकी अव्यावहारिकता सिद्ध करने के लिए, या उनका मज़ाक बनाने के लिए—जैसे 'टाई' के लिए 'कंठ-लंगोट' !

हिंदी अपने विकास-क्रम में कैसा रूप ग्रहण करेगी यह बाद की बात थी। पहली बात और सबसे ज़रूरी बात थी हिंदी को पूरे मन से स्वीकार करने की—और उसका सर्वथा अभाव मैंने विदेश मंत्रालय के अफसरों में पाया।

बीजारोपण की दृष्टि से मैंने एक छोटा-सा सुझाव उनके सामने रखा—आप लोग कामन रूम में आकर केवल हिंदी में बात करें, जैसी भी टूटी-फूटी—सही-गलत आप बोल सकें—अंग्रेज़ी अथवा अन्य भाषाओं के शब्दों-मुहावरों से मिली-जुली-दोगली—कोई मुज़ायका नहीं। मुझे याद आया श्रीमती सरोजिनी नायडू के निमंत्रण पर जब तेजी को साथ लेकर पहले-पहल मैं नेहरुओं के प्रयाग निवास 'आनंद भवन' में गया था, तब श्रीमती विजयलक्ष्मी के पतिदेव श्री रणजीत पंडित ने—जो उस समय अपनी ससुराल में ठहरे थे—हमसे कहा था कि हमने ऐसा नियम बनाया है कि हमारे गोल कमरे में केवल हिंदी में बातचीत की जाय और जो इस नियम का उल्लंघन करे, चाहे भूल से ही, उस पर जुर्माना लगे। श्रीमती सरोजिनी नायडू से ऐसा जुर्माना कई बार वसूल किया गया था। प्रसंगवश बता दूं कि रणजीत पंडित की मातृभाषा मराठी थी और वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे; उन्होंने कल्हण की 'राजतरंगिणी' का अंग्रेज़ी में बहुत सुन्दर अनुवाद किया था। पर वे हिंदी के कट्टर हिमायती थे और संभ्रांत समाज में हिंदी को प्रतिष्ठित करने के महत्व को बखूबी समझते थे। किसी समय बंगाल में हिंदी

की अवमानना 'बाजारेर भाषा' कहकर की जाती थी। और आज भी अंग्रेज़ी-दां साहब लोग हिंदी को इसी योग्य समझते हैं कि उसमें नौकर-चाकर-चपरासियों से बात की जा सके। क्या अंग्रेज़ी से इसीलिए नहीं चिपका जा रहा है कि वह वर्गाभिमान और वर्ग-विशेषाधिकार की प्रतीक बन गई है—अपने भूतपूर्व गौर स्वामियों एवं शासकों से दाय के रूप में प्राप्त। हिंदी को स्वीकार करने में हिंदी की अविकसित अवस्था उतनी बाधक नहीं जितनी अंग्रेजी के प्रति आसक्ति, जिससे एक अल्पसंख्यक विशिष्ट वर्ग का स्वार्थ भी सिद्ध होता है, और जिससे एक बहुसंख्यक सामान्य वर्ग वंचित ही रह सकता है। सामान्य वर्ग के कितने लोग अपने बच्चों को कान्वेन्ट स्कूल में भेज सकते हैं ? पंडित जवाहरलाल नेहरू को लिखे अपने एक पत्र में महात्मा गांधी ने लिखा था कि हिंदी अपनाने से गरीबों का भला होगा। और मैं पूछता हूं कि अगर हिंदी अविकसित है तो उसको विकसित करने की ज़िम्मेदारी किसकी है ?— ऐसा हरएक व्यक्ति जो हिन्दी बोलता, पढ़ता या लिखता है हिन्दी के विकास में अपना योगदान देता है, और सबसे अधिक वह जो हिंदी में सोचता है—और सचिवालय की कुर्सियों पर बैठे ये बुद्धि-विचक्षण इतना दावा तो करते ही थे कि वे देश-विदेश की उलझी समस्याओं पर गम्भीर और सूक्ष्म चिंतन कर सुलझे विचार प्रस्तुत करते हैं।

मेरा सुझाव कहां माना जाने को था ! जो सुझाव 'नीच सचिव' के पद से आया था उसमें विनम्र प्रार्थना से अधिक का बल नहीं हो सकता था। हां, किसी ऊँचे पद से आता तो उसमें आधिकारिक आज्ञा की शक्ति होती। गुलामी के संस्कारों में पले लोगों में प्रार्थना मान्य नहीं होती, आज्ञा का पालन किया जाता है। और गुलामी के संस्कार सात पीढ़ियों तक पिंड नहीं छोड़ते। अभी तो हम मुसलमानों की गुलामी के संस्कार से भी अपने को मुक्त नहीं कर सके। कभी आपने सोचा है कि किसी बड़े मुसलमान से विदा लेते हुए हम 'नमस्ते' कहने में क्यों हिचकते हैं ! क्यों आदाब-अर्ज़ पर उतर आते हैं। गुलामी बहुत बड़ा अभिशाप है, मानसिक गुलामी उससे बड़ा।

दस बरस बाद जब मैंने विदेश मंत्रालय से अवकाश प्राप्त किया, कामन रूम की बातचीत अँग्रेज़ी में ही हो रही थी, और तब से सोलह साल बाद आज अगर मैं वहां पहुँच जाऊँ तो अफसरों में बातचीत शायद ही हिंदी में होती पाऊं।

तीन-चार रोज़ बाद 1956 का नया वर्ष आरंभ होने को था और मंत्रालय में जगह-ब-जगह 'हैपी न्यू इयर' ध्वनित-प्रतिध्वनित हो रहा था। सोचता हूं जो लोग नए साल की बधाई, शुभकामना भी अपनी भाषा में नहीं दे सकते वे राजनयिक कामकाज क्या अपनी भाषा में करेंगे। पारसी लोग कहते हैं 'साल मुबारक'। मैं कहता हूँ 'वर्ष नव, हर्ष नव'। जवाब मिलता है 'हैपी न्यू इयर टु यु आलसो'। मैं समझ रहा हूं कि मुझे कहां से शुरू करना है। हिंदी की मानसिक स्वीकृति सबसे पहले करानी होगी। और यह काम सबसे मुश्किल होगा। देखूं कहाँ तक कामयाब होता हूँ। बच्चन बाबू, आपने जीवन को सदा चुनौती के रूप में लिया है। तो एक चुनौती और स्वीकार कीजिए। मंजूर है ?

मुझे कमरे में बैठने की जगह मिल गई है। एक तरफ दूसरे अवर सचिव हैं। सुनता हूं कि एक तीसरे की भी मेज़-कुर्सी आगे चलकर लगेगी।

नियति जब कोई काम कराना चाहती है तब उसके लिए सारी गोटें ठीक जगह पर बिठा देती है।

मुझे दिल्ली आए एक सप्ताह भी नहीं हुआ था कि बाबू गया प्रसाद का पत्र आया—इलाहाबाद होकर—कि प्रताप बहादुर चौधरी जगदीश से अपनी लड़की के रिश्ते के लिए बहुत ज़ोर दे रहे हैं, शायद तुम उनके परिवार से परिचित हो, तुम्हारी क्या राय है। मैं उत्तर दे भी नहीं पाया था कि उनका दूसरा पत्र सीधे दिल्ली आया—अब तक तेजी के द्वारा मेरे दिल्ली पहुँचने का समाचार उन्हें मिल चुका था—संयोग से तुम दिल्ली पहुँच गए हो, प्रताप बहादुर सपरिवार इस समय दिल्ली में हैं, उनसे मिलकर, उनकी लड़की को देखकर अपनी राय लिखो, वे तुमसे स्वयं मिलकर सारी बातें बताएंगे।

प्रताप बहादुर उन दिनों कान्स्टीट्यूशन हाउस में रह रहे थे। उनसे मेरा उन दिनों का परिचय था जब वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी के छात्र थे – मेरी 'मधुशाला' पर फ़िदा थे। मुझे याद है, हिंदू बोर्डिंग हाउस में जाड़े की एक रात को फर्श पर रजाई ओढ़कर बैठे हुए उन्हें और उनके मित्रों को मैंने 'मधुशाला' सुनाई थी—मित्रों में सिर्फ दो के नाम मुझे याद हैं, देशदीपक और चंद्रिका प्रसाद के। एक बार उनका पोस्टिंग बरेली के निकट तिलहर में हुई थी—बरेली उन दिनों मेरा आना-जाना अक्सर होता था—तब प्रताप बहादुर ने मुझे तिलहर बुलाया था। इंदिरा, उनकी बड़ी बेटी, उस समय दो-तीन साल की होगी—गोल-मटोल; पान खाकर मुँह लाल किए हंसती इधर-उधर दौड़ती उसकी तस्वीर अब भी मेरी आँखों में है। कांस्टीट्यूशन हाउस में जब मैंने इंदिरा को देखा वह बी० ए० कर चुकी थी। यौवन की ड्योढ़ी पर पांव रखती शर्मीली कुमारी अब मुझे कुछ गंभीर लगी। मेरे मन ने तुरत कहा, यह लड़की जगदीश राजन के लिए अति उपयुक्त होगी। मैंने बाबू गया प्रसाद को लिखा कि फौरन शादी कर दें।

मेरी पसंद गलत साबित नहीं हुई। राजन-इंदिरा दो साल हुए अपने विवाह की रजत जयंती मना चुके हैं। तीन लड़के हैं—अभिजित, शोभित, हर्षित—सुंदर, स्वस्थ, होनहार। अभिजित सब से बड़े इलाहाबाद से हायर सेकेंडरी कर के बी० काम० करने के लिए बंबई मेरे लड़कों के पास आए, जैसे जगदीश राजन इंटर करने के बाद बी० ए०-ला करने के लिए मेरे पास आए थे। अब वह बी० काम० करने के बाद अजिताभ—मेरे छोटे लड़के के साथ उद्योग-धंधे के प्रबंध में हाथ बटा रहे हैं। अपनी ग्रहणशील अवस्था में हमारे परिवार के संपर्क से श्रम-सक्षमता, कार्यकुशलता, चारित्रिक दृढ़ता और वैचारिक स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता के संस्कार उन्होंने संजोए हैं। मुझे विश्वास है, इससे राजन-इंदिरा को संतोष ही नहीं प्रसन्नता भी है।

विवाह के बाद इंदिरा ने एम० ए० किया, बी० टी० भी, और बाद को बाबू गया प्रसाद जी द्वारा स्थापित आर्य कन्या पाठशाला हाई स्कूल, बाँदा, की मुख्याध्यापिका बनीं। उनके सुप्रबंध में हाई स्कूल इंटर कालेज हुआ और उन्होंने उसके प्रिंसिपल का पद सँभाला जिसपर वे आज तक बनी हुई हैं। तीन वर्ष हुए कालेज ने अपनी हीरक जयंती मनाई जिस समारोह में तेजी और अमिताभ के साथ मैं भी सम्मिलित हुआ था।

जगदीश राजन ने बाँदा कचहरी में अपने पिता के निर्देशन में वकालत शुरू

की थी। उनकी कारगुजारी और ईमानदारी की इतनी शोहरत फैली कि कुछ ही वर्षों में वे गवर्नमेंट ऐडवोकेट बना दिये गए, जिस पद पर रहते हुए, बाँदा के लोगों ने मुझसे बताया, वे निर्भीकतापूर्वक न्याय पक्ष का समर्थन करते रहे। दो साल हुए, वे उत्तर प्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्य बनाकर इलाहाबाद भेज दिये गए हैं*। बाबू गया प्रसाद स्वर्गवासी हो चुके हैं। अपने पुत्र और पुत्र-वधू को उन्नति-प्रगति के पथ पर आरूढ़ देखते हुए पूर्णायु भोग जीवन से विदा हुए। पिता के लिए इससे बड़ा सौभाग्य क्या हो सकता है।

तेजी ने अपने पहले पत्र से ही मुझसे आग्रह करना शुरू कर दिया था कि जल्दी से जल्दी अपने लिए मकान एलाट कराने की कोशिश करूँ जिससे वे इलाहाबाद के घर के सब सरो-सामान के साथ बच्चों को लेकर दिल्ली चली आएँ। मेरे इंग्लैंड प्रवास के समय उनके साथ जो अघटित घटा था उसके बाद वे अकेले रहने में बहुत घबराती थीं और मैं भी उन्हें ज़्यादा दिनों के लिए अकेली छोड़ना नहीं चाहता था। आखिर, जिन लोगों ने उन्हें परेशान किया था वे शहर छोड़कर कहीं चले तो नहीं गए थे; वे किसी समय कुछ भी कर सकते थे। फिर भी उस दिशा में यदि मैं कुछ निश्चिंत था तो अपने मित्र सुशील कुमार बोस के कारण।

सुशील से मेरा परिचय आदित्य प्रकाश जौहरी ने कराया था, मेरे बनारस ट्रेनिंग कालेज के दिनों में। सुशील बनारस के रहनेवाले थे, अभी युनिवर्सिटी के विद्यार्थी ही थे; भेलूपुरा में अपनी दो छोटी अविवाहित बहनों और मां के साथ रहते थे। पिता उनके सुभाष बोस के मित्रों में थे और उन्हीं की सलाह से अपने कुछ मित्रों के साथ बरमा में रहने लगे थे जहां से कुछ दिनों तो उनकी चिट्ठी-पत्री आती रही और फिर उन्होंने लिख दिया कि वे अज्ञातवास में रहेंगे, उनसे पत्र-व्यवहार न किया जाय; वे उचित समय पर भारत लौटेंगे। माताजी के चेहरे पर पति-वियोग की उदासी की झाईं तो थी, पर उनकी आंखों में 'उचित समय' की प्रतीक्षा की एक चमक भी थी जो उनके माथे पर सदा लगी सुहाग-बिंदी में भी देखी जा सकती थी। सुशील किसी-किसी इतवार को मुझे अपने घर बुलाते। माता जी स्वादिष्ट भोजन बनाती थीं और बड़े प्रेम से खिलाती थीं।

बनारस से इलाहाबाद आ जाने पर भी सुशील से मेरे संबंध बने रहे। सुशील ने अपनी शिक्षा पूरी की और कई तरह की प्रतियोगिताओं, प्रशिक्षणों से गुज़रते हुए वे उत्तर प्रदेश की अग्नि-शामक पुलिस सेवा में वरिष्ठ पद पर पहुंचे। कभी-कभी वे अपनी अग्नि-शामक ट्रक में सवार होकर हमारे घर भी आते और बाल अमित को वह भारी भरकम लाल गाड़ी देखकर बड़ा कौतूहल होता। एक बार वे अपनी ऐसी ही ट्रक से अमित, तेजी को और मुझे बनारस ले गए थे। उस समय वे अविवाहित थे और उनका एक मुसलमान अर्दली हमें सादा पर बहुत स्वादिष्ट भोजन बनाकर खिलाता था। तभी सुशील ने हमें बनारस भर के सभी दर्शनीय स्थानों को दिखाया था; अमित को तो उन जगहों की क्या याद होगी, पर तेजी को उस यात्रा की बड़ी मनोज्ञ और सुखद यादें बनी हैं।

* अब वे केन्द्रीय सेवा आयोग के सदस्य के रूप में दिल्ली आ गए हैं।

पंजाब के सिक्ख वातावरण में पली-बढ़ी, शिक्षित-दीक्षित तेजी के लिए हिंदुओं के उस गढ़ का सफर बड़ा ही आश्चर्यजनक और आह्लादकारी था। आगे चल कर तो वह बड़ा संस्कारी भी सिद्ध हुआ।

सुशील ने अपने जीवन के दायित्व को बड़े धीरज और संयम से निबाहा।

दूसरे विश्व युद्ध के पूर्वी मोर्चे पर जो हो रहा था उससे माता जी की पति-प्रतीक्षा जुड़ी हुई थी, या उन्होंने किसी कल्पना से जोड़ रखी थी। उसकी घटनाओं से माता जी की आशाओं में कितने ज्वार-भाटे आए उन्हें कौन बताए। अंततोगत्वा जब पूर्वी मोर्चे पर धुरी शक्तियों की पराजय हो गई, पश्चिमी मोर्चे पर भी युद्ध समाप्त हो गया, कई महीने बीत गए और उन्हें पति की खोज-खबर न मिली तो 'उचित समय' की जिस डोर से उनके प्राण बंधे थे वह क्षीण होकर टूट गई और उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया।

सुशील ने अपनी दोनों बहनों का ब्याह योग्य वरों के साथ भले घरों में किया। वे स्वस्थ, सुंदर, कद्दावर युवक थे, मुझसे दस बरस छोटे होंगे। कसरत-कुश्ती का उन्हें शौक था। लंगोट कसकर अखाड़े में उतर पड़ें तो एक बार अच्छे से अच्छे पहलवान को उनसे हाथ मिलाने की हिम्मत न पड़े। उनकी माता के जीवनकाल में ही उनके लिए समृद्ध-संभ्रांत बंगाली परिवारों के रिश्ते आने शुरू हो गए थे, पर उन्होंने अगर उन्हें मानने से साफ इन्कार कर दिया था तो कारण समझा जा सकता था; वे अपनी बहनों की शादी किये बग़ैर अपनी शादी की बात नहीं सोच सकते थे।

नियति ने अपना चक्र चला दिया था।

इसी समय सुशील की पोस्टिंग लखनऊ में हो गई। किराए के मकान में रहना था। उन्हें एक मुस्लिम-बहुल मुहल्ले में एक पक्का मकान मिल गया। मकान की मालकिन एक मुस्लिम विधवा थीं जो अपनी पढ़ी-लिखी जवान बेटी के साथ मकान के आधे हिस्से में रहती थीं और आधा किराए पर उठा दिया था। बेटी का नाम शायद मुमताज़ था जिसे उसने प्यार में मूमू कर दिया था और उसी नाम से उसे पुकारती थीं। मूमू बहुत सुन्दर तो न थी, पर नवयौवना आकर्षण के लिए सौन्दर्य की मुहताज कब रही है! संभव न था कि इस मकान में रहते हुए मूमू सुशील को और सुशील मूमू को न देखें और एक दूसरे के प्रति आकर्षित न हों।

परंपरागत मर्यादाओं में बँधी भारतीय नारी की बड़ी मुसीबत है। किसी पुरुष के प्रति यदि उसमें प्रेम जागे तो वह सीधे-साफ शब्दों में यह नहीं कह पाती कि मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। प्रायः वह उसे अपना भाई बनाती है। उसकी कलाई पर राखी बांधती है और इस प्रकार उससे किसी संबंध से जुड़ उसे अपना सखा, साथी, मित्र, प्रेमी बना पति के रूप में भी पाने की कामना करती है। साहित्य की दुनिया से दो उदाहरण मुझे याद आते हैं। सुनता हूं कि पुष्पा ने भी भारती के हाथ में पहले राखी ही बांधी थी; आज वे उनसे एक पुत्र, एक पुत्री की मां हैं। नंदिता जी को आज प्रायः सभी लोग भगवतीचरण वर्मा की पत्नी के रूप में जानते हैं। उन्होंने भी पहले वर्मा जी के हाथ में राखी ही बांधकर उनसे बहन का रिश्ता कायम किया था। भगवती बाबू ने अपना काव्य संग्रह 'मानव' (1940) नंदिता जी को समर्पित करते हुए लिखा था—"असीम ममता और

भावना की प्रतिमूर्ति जीवन की कोमलता व चेतना जिसमें प्रतिबिंबित है—ऐसी परम करुणामयी बहन नंदिता को यह कविताओं का संग्रह सादर समर्पित।"

कभी सोचता हूं, आर्य संस्कृति से अनभिज्ञ, राक्षस-संस्कृति में पली शूर्पणखा नारी कूटनीति में कितनी अनाड़ी थी। यदि वह बहन बनकर राम के हाथ में राखी बाँधने के लिए आई होती, तो राम शायद ही उसे निराश कर सकते। ध्यान देने की बात है कि राम के कोई बहन न थी, वे बड़े पुलकित तन और प्रफुल्लित मन से राखी बँधवाने के लिए उसके सामने हाथ बढ़ा देते, और फिर यदि शूर्पणखा में हमारी आधुनिक बहनावरणी प्रेमिकाओं की आधी भी अक्ल होती तो अरण्य कांड के बाद रामायण की कथा कुछ और ही तरह लिखी जाती।

मूमू ने एक रक्षा-बंधन के दिन सुशील की कलाई पर राखी बाँध दी।

कब यह भाई-बहन का स्नेह विकसित होकर प्रेयसी-प्रियतम के प्रेम में परिवर्तित हो गया मैं नहीं जानता।

कल्पना कर सकता हूँ कि यह प्रसंग मूमू की माँ से छिपा न होगा--शायद मूमू ने ही किसी दिन दबी ज़बान से अपनी माँ से कह दिया होगा, वह सुशील से इस हद तक प्यार करती है कि उनसे विवाह करना चाहेगी।

उसका जो विरोध उसकी माँ के द्वारा, नाते-रिश्तेदारों, पास-पड़ोस, मुहल्ले टोलेवालों द्वारा किया गया होगा उसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे मामलों में अजनबी मुसलमान भी, केवल धरम के नाते, रिश्तेदार का चचा बनकर विरोध क्या, लड़ने-मरने पर आमादा हो जाता है।

सुशील विरोध-विद्रोह के बीच नहीं, स्नेह-सद्भावना के वातावरण में विवाह करना चाहते थे और उसकी कोई सूरत नज़र नहीं आ रही थी। उनपर तरह-तरह के आरोप लगाए जा रहे थे; मूमू की मां ने उन्हें घर छोड़ने की नोटिस भी दे दी थी।

सुशील ने अपनी नौकरी से साल भर की छुट्टी ले ली। बनारस का अपना पैतृक मकान बेच दिया और आग बुझाने का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड चले गए। यह वही समय था जब मैं अपनी डाक्टरेट करने के लिए केम्ब्रिज में शोध-कार्य कर रहाथा।

सुशील ने लौटने पर पाया कि मूमू न उनको भूली थी और न उसने विवाह किया था। प्रण करके बैठी थी —'बरौं संभु न त रहौं कुआंरी।'

मूमू की माँ ने हार मान ली थी। इजाज़त दे दी थी, लखनऊ में तो नहीं, कहीं और जाकर शादी कर ले और अपने पति से आग्रह करे कि वे अपनी पोस्टिंग कहीं लखनऊ से बाहर करा लें।

सुशील की एक बहन लीला उन दिनों इलाहाबाद में थी। सुशील ने सोचा था बहन अपने घर से शादी करा देने को राज़ी हो जाएगी। कन्या-वर के धर्म की विभिन्नता के कारण वैध विवाह-पूर्व कन्या का धर्म-परिवर्तन भी होना था जिसके लिए मूमू सहर्ष तैयार थी। पर ऐन वक्त पर, धर्म-परिवर्तन से विवाह में कुछ झगड़े-झंझट की आशंका से डरकर लीला मुकर गई। मूमू को सुशील ने बुलवा लिया था। वह अकेली इलाहाबाद आ पहुँची थी।

सुशील मेरे पास आए। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। मैंने सारी स्थिति समझी, तेजी से सलाह की। हमने कहा, 'सुशील भाई, तुम्हारा विवाह मेरे घर से होगा और आज ही।' सुशील को जैसे डूबते थाह मिली। तेजी के

और मेरे पांव पकड़ लिये।

मैं आर्य समाज मंदिर, चौक, जाकर शुद्धि और विवाह संस्कार संपन्न कराने के लिए आर्य-पुरोहित को आमंत्रित कर आया।

तेजी सुशील को कार में बिठलाकर विवाह-संबंधी सामान आदि लाने के लिए निकल पड़ीं।

शुद्धि संस्कार हो जाने के बाद मूमू का नाम बदलने की बात आई; मैंने 'वरौं संभु न त रहौं कुआंरी' का स्मरण कर उन्हें उमा नाम दिया, मूमू से मिलता-जुलता।

कन्यादान की समस्या उठी। पुरोहित ने कहा—पिता के न रहने पर बड़ा भाई भी कर सकता है। उमा ने अपनी साड़ी का एक किनारा फाड़कर मेरी कलाई पर बाँध दिया। मैंने और तेजी ने गाँठ जोड़कर कन्यादान किया। हमारे कोई पुत्री न थी। हमने अद्भुत पुलक से यह कार्य संपन्न किया। कन्यादान देते समय हमारी अवधी में एक गीत गाया जाता है –

कांपइ गेडुआ, कांपइ पानी,
कांपइ कुसा कर पांती, जी रम जी,
मड़ये के नीचे कांपइं (यहां) बच्चन रामा
देत कुआँरी का दान, जी रम जी।

कंपन का क्या मार्मिक अवसर और चित्र है! न जाने किन भावनाओं में बहते हुए यह कन्यादान करते हुए मैं भी कांप उठा!

विवाह-यज्ञ संपन्न हुआ।

तेजी ने सुशील और उमा की सुहागरात के लिए एक कमरा सजा दिया!

सुबह वे दोनों मेल से लखनऊ चले गए।

उमा जाते समय तेजी से लिपटकर इतना रोई जैसे अपनी माँ से ही विदा हो रही हो। तेजी भी अपने आँसू न रोक सकीं और न मैं ही, न सुशील ही। भाषा सर्वथैव पराजित होकर आंसुओं की ही शरण लेती है।

विदा के समय तेजी ने उमा की गोद भरी चावल, गुड़ और रुपये से।

सुशील और उमा कुछ कहना चाहते थे, पर उनके मुंह से एक शब्द नहीं निकला।

उस दिन मैंने कृतज्ञता को मूर्तिमान देखा था।

उमा विदा हो गई तो तेजी ने गाने का एक रेकार्ड लगा दिया।

हिंदू संस्कार, तुझमें कितनी जिजीविषा है, कितना जीवट, कि तेरी सूखी डाल पर भी कोई दो बूंद गंगाजल छिड़क दे तो उसमें कोंपले फूट पड़ेंगी।

सुशील को अपना तबादला कराने में कई मास लग गए। इलाहाबाद का किराया, मकान क्लाइव रोड पर ही लिया; हमारे मकान से चार कदम पर।

उनके घर के निकट रहने पर मैंने बहुत आश्वस्त अनुभव किया। दो-दो, चार-चार दिनों के लिए मेरा बाहर जाना तो लगा ही रहता था, मैंने अपनी आशंका सुशील को बता दी थी और उन्होंने विश्वास दिलाया था कि 'दादा, जब तक सुशील ज़िंदा है कोई भाभी और बच्चों का बाल बांका नहीं कर सकेगा।' और मुझे सुशील के शब्दों और सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था।

इधर मकान एलाट कराने में बड़ी कठिनाइयां थीं। उन दिनों यह काम एस्टेट आफिस करता था। अर्ज़ी देकर मैं एस्टेट आफिस के चक्कर लगाता। जल्दी मकान मिलने की कोई उम्मीद नहीं थी। मुझसे बड़े और मुझसे बहुत पहले काम पर आए अफसरों को भी मकान नहीं मिल सके थे। इंतज़ार करनेवालों की बड़ी लम्बी सूची में आखीर में मेरा नाम भी दर्ज कर लिया गया था।

एस्टेट आफिस में एक पहाड़ी सज्जन थे। काफी ऊँचे पद पर होंगे। कवि रूप में मुझे जानते थे। मेरी परेशानी देखकर एक दिन उन्होंने मेरे कान में कहा, आप एक अर्जी दे दें जिसमें लिखें कि आपकी पत्नी बहुत बीमार हैं, उन्हें अकेले नहीं छोड़ा जा सकता, इलाज के लिए दिल्ली लाना ज़रूरी है, वगैरह-वगैरह। मैंने कहा, पत्नी बीमार तो नहीं हैं। आँख मार और सिर झुकाकर बोले, किसी डाक्टर से सर्टिफिकेट ले लीजिए, पत्नी बीमार हो जाएँगीं। किसी मिनिस्टर से सिफारिश करा दीजिए। फिर मैं आपको मकान दिलाने का कोई रास्ता निकाल लूँगा। रहीम के वक्त से हमारी दुनिया कितनी कम बदली है—

'अब रहीम मुस्किल परी, टेढ़े दोऊ काम,
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम।'

उस समय राम से ज्यादा ज़रूरत थी जग की—जगह की—सिर छिपाने के लिए सिर पर छत की। सोच-विचार में पड़ गया—अब पहले छुट्टी मंजूर कराऊँ—चार दिन काम करते नहीं हुए और छुट्टी माँग रहा हूँ, कितना अजीब लगेगा—फिर इलाहाबाद जाऊँ, वहाँ किसी डाक्टर को पटाऊँ, पत्नी की बीमारी का सर्टिफिकेट बनवाऊं, लौटकर यहाँ अर्जी दूँ—इसमें तो दस-बारह दिन लग जाएंगे। पहाड़ी बाबू ने मुझे असमंजस में देखा, बोले, अरे भाई, जब मर्ज़ झूठ, सर्टिफिकेट झूठ, तब इलाहाबाद तक दौड़ने की क्या ज़रूरत है; झूठे मरीज़ के लिए झूठा डाक्टर दिल्ली में ही मिल जाएगा। मैंने उनका इशारा समझा। अर्ज़ी दे दी, मेरी पत्नी दमे से बीमार हैं—मुझे क्या मालूम था कि मैं उनके लिए भविष्यवाणी कर रहा हूं—उनके इलाज के लिए मुझे उन्हें दिल्ली लाना है, इसलिए मुझे 'बारी के बिना' (out of turn) मकान दिया जाए। मेरे मेज़बान मेजर अविनाश चन्द्र ने अपने एक डाक्टर मित्र से सर्टिफिकेट बनवा दिया—मेरे मकान के लिए वे मुझसे कम चिंतित नहीं थे।

उसी समय एक दिन पंडित नरेन्द्र शर्मा से मेरी भेंट हो गई। वे उन दिनों आल इंडिया रेडियो के नई दिल्ली केन्द्र पर सुगम संगीत के प्रोड्यूसर थे। शर्मा जी साउथ एवेन्यू के एक एम० पी० फ्लैट में रहते थे। अपने दफ्तर जाते हुए, विदेश मंत्रालय के सामने से गुज़रते वे दूर से ही पहचाने जा सकते थे। वजह यह थी कि दिल्ली के हड़कंप जाड़े से बचने के लिए शर्मा जी ने कश्मीरे का एक ऐसा भारी-भरकम कोट सिलवाया था कि उसके अंदर एक रुईदार फतुही के अलावा दो-तीन ऊनी पुलोवर बड़ी आसानी से पहने जा सकते थे। अपने कोट की प्रशस्ति में उन्होंने दो पंक्तियां भी लिखी थीं जो उन्हीं के मुखारविंद से सुनी हुई मुझे अब तक याद हैं—

शर्मा जी का कोट सत्य ही कोट है,
या कि कोट पर कोट, कोट पर कोट है।

मेरी एक आदत है, पता नहीं अच्छी या बुरी। कभी मैंने पढ़ा होगा, या किसी ने मुझे सिखाया होगा—'one thing at a time' एक वक्त पर एक ही काम—और यह कहावत जैसे मेरे दिमाग पर खोद दी गई है। सोच-विचारकर या गलती से या किसी आवेश में ही अगर कुछ करने की बात मेरे दिमाग में आ गई है तो उसी में मैं अपने पूरेपन से पिल पड़ा हूँ और बाकी सब कुछ भूल गया हूँ—'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि' (Do or die) से कभी उसे बल मिला होगा। उन दिनों मुझे मकान की धुन सवार थी। जिससे भी मिलता, मकान की चर्चा चला बैठता; आपको मकान कहां, कैसे मिला; किसके अधिकार में है मकान देना; किस आधार पर मकान देता है; जल्दी मकान मिलने के लिए क्या करना चाहिए, क्या तरकीब लड़ानी चाहिए, वगैरह-वगैरह।

नरेन्द्र ने बताया कि उन्हें तो मकान बड़ी आसानी से मिल गया। राजेश्वर बाबू ने दिला दिया। संसद-सदस्य मुज़फ्फरपुर के बाबू राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह पार्लियामेंट की हाउसिंग कमेटी के चेयरमैन हैं, जो संसद सदस्यों को मकान एलाट करती है। चेयरमैन को यह विशेषाधिकार मिला है कि वह चाहे तो दो-एक मकान गैर-संसद-सदस्यों को भी एलाट कर दे। आशा की किरन दिखाई दी। मैं कई बार मुज़फ्फरपुर के कवि-सम्मेलनों में भाग ले चुका था। राजेश्वर बाबू मुझसे परिचित ही नहीं थे, मेरी कविता के प्रेमी भी थे। मैं उनके घर पर हाज़िर हुआ। प्रेम से मिले, मेरी समस्या सुनी, बोले अर्जी दे दो, उम्मीद बँधी। मैंने उनके घर पर ही प्रार्थना-पत्र लिखकर उनके हाथ में रख दिया। एक अर्जी एस्टेट आफिस में लगी ही थी। आशंका—कि दोनों ही नामंजूर कर दी जाएं; आशा—कि दोनों ही मंजूर हो सकती हैं—ऐसे किस्मत के साँड़ कहाँ!

राजन के प्रस्तावित रिश्ते के संबंध में मेरी स्वीकृति मिलते ही दोनों पक्षों ने विवाह की तैयारियां शुरू कर दीं। तय हुआ कि विवाह फरवरी के प्रथम सप्ताह में होगा, इलाहाबाद में, प्रताप बहादुर के बड़े भाई श्री राधाकृष्ण चौधरी के घर से, जो उन दिनों इलाहाबाद हाईकोर्ट में जज थे।

बाबू गया प्रसाद राजन को लेकर इलाहाबाद आए और तेजी की सुरुचि-सलाह से शादी के लिए गहने-कपड़े खरीदकर जब बाँदा जाने लगे तो अमित-बंटी को साथ ले गए बारात के साथ वापस आने को।

24 जनवरी को हमारी विवाह जयंती पड़ती है। यह दिन हम लोग बड़े उत्साह से मनाते हैं। घर पर कुछ मित्रों को भोज के लिए बुलाते हैं, मैं अपनी कुछ कविताएं सुनाता हूं, तेजी एकाध गाने सुनाती हैं, कभी मैं और तेजी साथ भी गाते हैं—'डूएट'—जो प्राय: मेरे गीतों का होता है। अतिथियों में कोई मधुर-कंठ हुए या हुई तो हम उनसे कुछ सुनाने का आग्रह करते हैं। यह कार्यक्रम काफी रात तक चलता है और मित्रगण हमें दीर्घकालिक रस-मंगलमय वैवाहिक जीवन की शुभकामनाएं देकर विदा होते हैं।

उस साल हमारे विवाहित जीवन की चौदहवीं जयंती होनेवाली थी। बच्चे बाँदा चले गए थे। वे वहाँ अकेली, मैं यहाँ अकेला। क्या यह दिन इस वर्ष हमारा उदासी में बीतेगा? मैंने एक दिन के लिए तेजी को दिल्ली बुला लेना चाहा, वे भी एक दिन के लिए आने की योजना बनाए हुए थीं। मन के तार मिल गए।

तेजी आ गईं। उस रात हमने 'गेलार्ड' में एक भोज दिया। अविनाश और उनके भाई सपत्नीक शामिल हुए, उनके निकटस्थ दो-चार मित्र भी।

रात को हम पति-पत्नी ने सलाह की। मुझे अविनाश के घर रहते लगभग एक महीना हो गया था। इतने दिन किसी के यहाँ मेहमान बनकर रहना ठीक नहीं। संकोचवश अविनाश कुछ न कहते हों, पर भीतर-भीतर इतने लम्बे समय तक मेरा वहाँ रहना उन्हें अखरने तो लगा होगा। हमारे ही यहां कोई इतने दिनों तक आकर टिक जाए तो हमें कैसा लगेगा। खर्च का भार तो सिर पर पड़ता ही है; फिर आदमी अपने रहन-सहन में आज़ादी चाहता है जो मेहमान के घर में रहने से किसी हद तक गहदूद हो जाती है। मेज़बानी के अनुभव से क्या हम नहीं जानते कि मेहमान के लिहाज़ से हमें कितनी ही बातें करनी और कितनी ही बातें नहीं करनी होतीं जो हम अन्यथा न करते या करते। अपनी तरफ एक कहावत प्रचलित है—

एक दिन मेहमान,
दूसरे दिन बेईमान,
तीसरे दिन शैतान···
और तीसवें दिन !!

दिन को मैं तो दफ्तर चला गया। तेजी फोन पर संपर्क कर इंदिरा जी से मिल आईं।

शाम को मैं लौटा तो उन्होंने कहा, 'तुम्हारे लिए एक खुशखबरी है।'

'मतलब ?'

'तुम्हारे लिए Constitution House में एक कमरा रिज़र्व्ड है, अभी चलो और कुंजी हाथ में लो। देर करने से मुमकिन है किसी दूसरे को दे दिया जाए। इंदु जी ने किसी को फोन कराके दिलाया है।'

अविनाश को हमने बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, इतने दिनों उन्हें कष्ट देने के लिए क्षमा मांगी और उनसे विदा चाही।

हम जा ही रहे हैं तो उनका मुझे घर पर ही रखने का आग्रह कुछ अधिक प्रदर्शनपूर्ण हो उठा। मैं तांगे में बैठने लगा तो औपचारिकता के स्वर में उन्होंने कहा, 'यहां कोई तकलीफ हुई हो तो माफ करना, घर तुम्हारा है, कांस्टीट्यूशन हाउस में किसी प्रकार की असुविधा हो तो निःसंकोच यहां चले आना।'

तेजी उसी रात को इलाहाबाद लौट गईं।

कांस्टीट्यूशन हाउस को यह नाम किस आधार पर दिया गया था, मुझे नहीं मालूम। दूसरे विश्व युद्ध के समय शायद आवास की फौरी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए बैरेकनुमा कमरों की लाइन की लाइन बनाई गई थी—हर कमरे के साथ या दो कमरों के बीच एक बाथरूम। कमरे में एक या दो खाटें (बिस्तर अपना लाना होता था, एक मेज-कुर्सी, एक आराम कुर्सी (डेक-चेयर) जिसे बाहर निकालकर आगे के बरामदे में बैठा जा सकता था, एक कपड़े रखने-टाँगने की अलमारी। कोई दो सौ आदमी तो रहते होंगे काँस्टीट्यूशन हाउस में—कुछ अच्छी हैसियत और तनख्वाहों वाले भी जिनकी अपनी कारें भी थीं। बीचोंबीच में एक बड़ा डाइनिंग हाल था जिसमें 60-70 आदमी एक साथ बैठकर खाना खा

सकते थे। प्रायः लोग सवेरे का नाश्ता और रात का खाना लेते, दिन का खाना लोग दफ्तरों में बने कैफिटेरिया में लेते होंगे। प्रबन्ध अर्ध सरकारी-सा लगता था। कमरों का रखरखाव सी० पी० डब्लू० डी० की ओर से होता था। खाने वगैरह का इंतज़ाम करने का ठेका किसी और का निजी था। रहने और खाने का खर्च प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 10 और 15 रुपये के बीच आता था। दिल्ली में इससे सस्ती जगह शायद ही कहीं होती।

कांस्टीट्यूशन हाउस कर्जन रोड पर भारतीय विद्या भवन की इमारत के पीछे था। अब तो उसे पूरी तरह गिरा-ढहाकर उसकी जगह नए माडल के बहु-मंजिले फ्लैट्स खड़े कर दिए गए हैं जिन्हें शायद कर्जन रोड एपार्टमेन्ट्स कहा जाता है।

कांस्टीट्यूशन हाउस के दिनों की याद करता हूँ तो सिर्फ दो चेहरे मेरी आंखों के सामने आते हैं—एक, श्रीमती उमा नेहरू का, दूसरा सत्येन्द्र शरत् का। उमा जी संसद-सदस्या थीं—राज्यसभा की कि लोकसभा की मुझे नहीं मालूम—कांस्टीट्यूशन हाउस के एक कमरे में रहती थीं।

उमा नेहरू पंडित मोती लाल नेहरू के चचेरे भाई पंडित श्याम लाल नेहरू की पत्नी थीं। एक बेटे, एक बेटी की मां थीं। बेटा आई० सी० एस० में आकर संयुक्त प्रांत (आज का उत्तर प्रदेश) के कई जिलों में कलक्टर के पद पर रहा। जिन दिनों मैं 'पायनियर' के गश्ती एजेन्ट के रूप में काम कर रहा था वे शाहजहाँपुर के कलक्टर थे। बाद को सुना था, उनपर लकवे का आक्रमण हुआ था और कमर के नीचे का उनका सब अंग बेकार हो गया था। श्री अरुण नेहरू उन्हीं के पुत्र हैं, राजीव गांधी के सहयोगी के रूप में जिनकी चर्चा अक्सर अखबारों में आती है। बेटी श्याम कुमारी नेहरू इलाहाबाद युनिवर्सिटी की स्नातिका थीं, मेरे युनिवर्सिटी में दाखिल होने के पूर्व वे युनिवर्सिटी छोड़ चुकी थीं, पर उनकी चर्चा तब भी यदा-कदा सुनी जाती थी।

श्याम कुमारी नेहरू की शादी नवाब रामपुर के खान्दानी जमील अहमद खाँ से हुई, जो संयुक्त प्रांत पुलिस सेवा में किसी ऊँचे पद पर थे। वे श्याम कुमारी नेहरू से श्याम कुमारी खान बन गईं। कई साल तक उन्होंने सर तेजबहादुर सप्रू के निर्देशन में इलाहाबाद हाई कोर्ट में वकालत की, फिर स्वतंत्र रूप से। आज़ादी की लड़ाई की हर मुहिम से वे जुड़ी रहीं और जिन दिनों मैं मनोनीत होकर राज्यसभा में आया उन दिनों वे भी उत्तर प्रदेश की ओर से राज्यसभा की सदस्या थीं। अब उनका देहावसान हो चुका है।

वास्तव में मेरा परिचय उमा नेहरू से श्याम कुमारी नेहरू के द्वारा हुआ था। यह उन दिनों की बात है जब क्रांतिकारी यशपाल इलाहाबाद में गिरफ्तार किये जाकर नैनी जेल में रखे गए थे और उन पर सरकार की ओर से मुकदमा चलाया जा रहा था। श्री कृष्ण सूरी ने, जिनका क्रांतिकारी दल से संपर्क था, गुप्त रूप से एक सरदार हरबंस सिंह को मेरे पास भेजा था कि हम दोनों जाकर श्याम कुमारी जी से प्रार्थना करें कि वे यशपाल की डिफेंस कौंसेल के रूप में काम करें। श्याम कुमारी जी ने सहर्ष यह दायित्व लिया था और फीस के रूप में एक पाई न ली थी—सरदार कचहरी संबंधी दीगर खर्चों के लिए कुछ रुपये भी लेकर आए थे, पर श्याम कुमारी जी ने उसे भी लेने से इनकार कर दिया और

सारे मुकदमे का खर्च अपने ऊपर ले लिया। सरदार दो-चार दिन के बाद इलाहाबाद से गायब हो गए। लगभग पचीस वर्षों बाद एक दिन सरदार से मेरी भेंट दिल्ली के खादी भंडार में हो गई थी जहां वे सेल्समैन के रूप में काम करते थे, और उन्होंने देखते ही मुझे पहचान लिया था।

जेल में यशपाल के लिए कुछ किताब भिजवानी होतीं या उनके पास से कुछ कागद-पत्तर लाने होते—यह काम यशपाल के वकील के द्वारा ही संभव था। औपचारिकता निभाने के लिए श्याम कुमारी जी ने मुझे अपने क्लार्क का दर्जा दे दिया था गो मैं था नहीं। एक सुविधा और थी—श्याम कुमारी जी प्रयाग स्ट्रीट पर रहती थीं, धुर उत्तर में, जेल नैनी में था, धुर दक्षिण में, बीच में मुट्ठी गंज में मेरा मकान पड़ता था। तभा उनके घर अक्सर मेरा आना जाना होता था। श्याम कुमारी जी अपने माता-पिता के साथ ही रहती थीं।

परिवार को लहीम-शहीम शरीर का पुश्तैनी वरदान मिला था। उमा जी और शम्मी जी में बस 19-20 का फर्क होगा। तेजी की धर्मबहन सुखवर्षा पंडित (अब सूरी) शम्मी जी को 'सेहते इलाहाबाद' कहकर उनपर व्यंग्य करती थीं।

उमा जी 1920 के असहयोग आंदोलन के समय से ही स्वाधीनता संग्राम में उतरी थीं; इलाहाबाद के कांग्रेसी नेताओं में उनका स्थान तीसरा समझा जाता था; जब मोतीलाल या जवाहरलाल जेल में होते या नगर से बाहर, तब सब प्रकार की राजनीतिक सभाओं का नेतृत्व वे ही करतीं। मेरे प्रति वे बहुत ममतालु-कृपालु थीं। जब उनसे मेरा प्रथम परिचय हुआ तब उन्होंने मुझे जीवन-संघर्ष की निम्नतम सीढ़ियों पर देखा था : क्रम-क्रम से मुझे ऊपर उठते देखकर वे मेरी प्रशंसिका हो गई थीं। कवि रूप में उनसे मेरा परिचय पंडित कृष्णकांत मालवीय ने कराया था जो उनके मित्रों में थे और उनके घर अक्सर आया करते थे। मेरी काव्य-भाषा की सरलता से वे बहुत प्रभावित थीं। उन्हें इस बात की बड़ी प्रसन्नता थी कि हिंदी का काम करने के लिए जवाहरलाल जी ने मुझे दिल्ली बुला लिया।

कांस्टीट्यूशन हाउस के डाइनिंग हाल में बीचोंबीच की टेबिल पर वे बैठतीं—उनके साथ बैठतीं शिवराजवती नेहरू, वे भी संसद-सदस्या थीं और कांस्टीट्यूशन हाउस में ही रहती थीं; उनके बारे में मुझे और कुछ नहीं मालूम था। उमा जी भारी-भरकम, शिवराजवती दुबली-पतली—दोनों मादा लारेल-हार्डी के जोड़े जैसी लगतीं। मैं समय से पहुंच जाता तो उमा जी मुझे अपनी ही टेबिल पर बुला लेतीं। एक तो स्त्री, फिर कश्मीरिन, तिस पर वृद्धा और सबके ऊपर सांसद—उमा जी को बोलने का बड़ा शौक था। दशकों की राजनीतिक हलचलों और देश भर के दर्जनों नेताओं के न जाने कितने अजीबो-गरीब और दिलचस्प किस्से उनकी ज़बान पर होते। उनके साथ गुज़री कोई शाम ऐसी न होती जिसे नीरस या डल कह सकते।

सत्येन्द्र शरत् जब रेडियो से जल्दी फुरसत पा जाते मेरे पास होते हुए अपने घर जाते। मैं भी विदेश मंत्रालय से सीधे कांस्टीट्यूशन हाउस, अपने कमरे आता। चिट्ठियाँ जो आई होतीं उनके जवाब लिखता या कुछ पढ़ता।

सत्येन्द्र शरत् मेरे संपर्क में अपने विद्यार्थी जीवन में आए जब वे इलाहाबाद

युनिवर्सिटी में बी० ए० में पढ़ते थे—मेरे ही अंग्रेज़ी लेक्चर-क्लास में थे। मेरी आत्मकथा में पहले भी एकाधिक बार उनकी चर्चा आ चुकी है। तब वे सत्येन्द्र पाल शर्मा के नाम से जाने जाते थे, शायद सर्टिफिकेट पर उनका पूरा यही नाम हो। हिंदी लेकर एम० ए० किया। प्रयाग के साहित्यिक वातावरण से प्रेरणा पाकर उनमें सृजनशील लेखन की प्रवृत्ति जगी, कहानियां लिखने लगे। शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय में अपना आदर्श कथाकार पाकर उन्होंने अपना नाम सत्येन्द्र शरत् ही रख लिया; 'पाल शर्मा' सदा के लिए छोड़ दिया। अपने विद्यार्थियों को नाम के साथ जाति न जोड़ने को मैं प्रायः प्रेरित करता था। शायद उसका भी प्रभाव हो। अब 'शरत्' उनका पारिवारिक नाम हो गया। उनका लड़का अपने को अनुराग शरत् लिखता है, जैसे मेरा कलमी नाम (pen name) 'बच्चन' मेरा पारिवारिक नाम हो गया है—मेरे दोनों बेटे अपने को अमिताभ बच्चन, अजिताभ बच्चन लिखते हैं—उनके बेटों के नाम स्कूल में अभिषेक बच्चन, भीमकर्मा बच्चन लिखाए गए हैं।

सत्येन्द्र देहरादून के रहनेवाले हैं। उन्हें और उनसे छोटे तीन भाइयों को छोड़कर उनके पिता-माता उनकी अल्पावस्था में ही स्वर्ग सिधारे। उनका पालन-पोषण-शिक्षण उनके मौसी-मौसिया ने किया। दोनों को देखने का मुझे अवसर मिला था। मौसिया कम बोलनेवाले, गम्भीर स्वभाव के हैं; मौसी उनके बिलकुल विपरीत, बहुत भोली, बहुत खुली, अपने निश्छल मनोभावों को अपनी सरल बोली में सबपर व्यक्त करने को आतुर। सत्येन्द्र ने मुझसे बताया था कि मौसी ने कभी किसी से सुन लिया कि रेडियो स्टेशन का सबसे बड़ा अफसर डाइरेक्टर होता है। बस वे अपनी पड़ोसिनों से सत्येन्द्र की चर्चा आने पर उन्हें रेडियो में डाइरेक्टर ही बतातीं; और तनख्वाह अगर पहली मुलाकात में कोई काल्पनिक अमुक राशि बतातीं तो दूसरी-तीसरी मुलाकात में वह दुगनी-तिगुनी हो जाती और वे बिलकुल भूल जातीं कि अभी कुछ दिन पहले उन्होंने क्या कहा था। सत्येन्द्र अपने मौसा-मौसी के प्रति बड़े आदर की भावना रखते हैं और उनके प्रति बहुत ऋणी अनुभव करते हैं।

इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अपनी पढ़ाई समाप्त करने के बाद कुछ दिनों तक सत्येन्द्र ने वहीं अपने को लेखक रूप में व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया, पर वांछित सफलता न मिलने पर फिल्म निर्देशन का काम सीखने-करने के लिए बम्बई चले गए। फिल्म क्षेत्र में उस समय भी स्थान बनाने में कम संघर्ष नहीं करना पड़ता था। वहीं से, मेरा ऐसा अनुमान है, उन्होंने रेडियो के नाट्य विभाग में काम पाने का प्रयत्न किया और कुछ समय बाद बम्बई से स्थानांतरित हो दिल्ली आ गए। अपने विद्यार्थी जीवन से ही सत्येन्द्र, शायद मेरी कविता के प्रेमी होने के कारण, मेरी ओर अधिक आकर्षित हुए, और मैं भी उनके सौम्य स्वभाव और शालीन व्यवहार से उनसे कम प्रभावित नहीं हुआ; साथ ही मैंने उनमें भविष्य के एक अच्छे कथाकार के शुभ लक्षण भी देखे। लड़कपन में जिसे अपने माता-पिता का वात्सल्य नहीं मिलता वह उसका प्रतिरूप जीवन भर खोजता रहता है। यदा-कदा वे तेजी से भी मिले थे और उनसे उन्हें जो यत्किंचित ममत्व मिला उससे वे उन्हें किसी समय मां कहने लगे और शायद उसी नाते मुझे डैड। मुझसे उनके प्रति पिता का दायित्व क्या निभता, पर

उन्होंने पुत्र का कर्तव्य, अपनी सीमाओं में, हर मौके पर निभाया, और बिना किसी प्रकार का प्रतिदान चाहे।

जब मैं दिल्ली आया, सत्येन्द्र, अभी अविवाहित, एक पंजाबी कपूर-खत्री परिवार के साथ रहते थे, या परिवार उनके साथ रहता था, नई दिल्ली स्टेशन के समीप एक छोटे से मकान में। परिवार में दो लड़कियां थीं, एक लड़का और उनकी विधवा माता। संभवतः परिवार देश-विभाजन के समय सरहदी सूबे से शरणार्थी के रूप में दिल्ली आया था। परिवार और सत्येन्द्र एक-दूसरे के संपर्क में कैसे आए और कैसे एक ने दूसरे को अपना लिया इसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता। उषा गौर-वर्णी, सुनहरे बालों वाली, सुन्दर, पर सुकुमार नहीं, स्वस्थ पठानी लड़की, यौवन की देहरी छूती हुई, उम्र सोलह के आसपास होगी; किसी ऊँचे दर्जे में पढ़ती थी; छोटी बेटी आशा, सात-आठ साल की होगी, रंग में थोड़ी दबी, वैसे स्वभाव में भी, पर बुद्धि से चेतंत, कभी भी कुछ ऐसा करने में समर्थ जो उससे अप्रत्याशित हो और जो सबको चौंका दे। स्कूल जाती थी। भाई त्रिलोक बीच का था, थोड़ा साँवला, स्वस्थ, ग्यारह-बारह का होगा, बहुत कुशाग्र और बहुत आत्मविश्वास के स्वर में बोलनेवाला; अक्सर रेडियो से प्रसारित बच्चों के प्रोग्राम में बेझिझक भाग लेता था। वह भी छठी या सातवीं में पढ़ता था। पर उस परिवार में सबसे आकर्षक व्यक्तित्व था माता जी का— गोरी, काले घने बालों की, मझोले कद की, शरीर से भरी, पर मोटी किसी माने में नहीं। बोली में सुस्पष्टता के साथ मिठास और आँखों में मुलायमियत जो किसी गहरे दुख को संयत होकर झेलने से ही आती है, होंठों पर दबी-दबी-सी मुस्कान जो मानों कह रही हो कि उल्लास के आधार तो खिसक गए 'पर अथिरता पर समय की मुस्कराना कब मना है', और जो शायद इसलिए भी आरोपित की गई हो कि उनके बच्चे आश्वस्त रहें कि बहुत कुछ बिगड़ा हो, पर सब कुछ नहीं बिगड़ा है, और वे अच्छे आनेवाले दिनों की उम्मीद लगाए हुए जीवन में आगे बढ़ें। उस परिवार में अभाव का आभास चाहे होता हो, पर उदासी की छाया उस पर कभी नहीं दिखाई देती थी। और इसका श्रेय मैं माता जी के व्यक्तित्व को देना चाहूँगा जिसमें जीवन का अवसाद एक पावन गरिमा में रूपांतरित हो गया था। उन्हें देखकर मुझे 'निराला' जी की 'भारत की विधवा' शीर्षक कविता की याद आ जाती थी—

> 'वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा-सी,
> वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
> वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी,
> वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
> दलित भारत की ही विधवा है।'

पर वह विधवा जो अपनी संतान के उज्ज्वल भविष्य का दृढ़ विश्वास अपने रोम-रोम में बसाए हो।

ऐसा लगता था कि माता जी ने सत्येन्द्र को अपने बच्चों की गार्जियनशिप का पद और दायित्व दे रखा है। बच्चे भी उनका सम्मान करते थे, उनके अनुशासन में रहते थे और उन्हें 'भाई जी' कहते थे। सत्येन्द्र अपने रेडियो के काम की व्यस्तता के बावजूद उनके शिक्षण, विकास, व्यवहार पर पूरी नज़र रखते थे।

कपूर परिवार में सत्येन्द्र को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वे उसी परिवार के सदस्य नहीं हैं। बड़ी पैनी और अंतर्भेदी दृष्टि रखनेवाला ही यह भाँप सकता था कि उनके और उषा के बीच प्रेम का एक मसृण-सूक्ष्म सूत्र फैल चुका है, पर दोनों ही उससे अनभिज्ञ रहने का, कहना चाहिए, सफल अभिनय करते हैं।

जनवरी और फरवरी की बहुत-बहुत ठंडी शामों में जब सत्येन्द्र जल्दी आ जाते तो हम साथ चाय पीते, देर से आते तो कभी मैं उनको साथ खाना-खाने को रोक लेता और कभी वे बस सलाम-दुआ कर चले जाते—विलंब हो जाने पर कहीं घर के लोग चिंतित न हों। कभी-कभी सत्येन्द्र खाना खाने को मुझे अपने साथ घर ले जाते। माताजी कितना सादा, पर कितना स्वादिष्ट खाना बनातीं पर कितने संकोच से खिलातीं…जैसे वह मेरे योग्य न हो।

सत्येन्द्र को बंबई के फिल्मी क्षेत्र के अपने संघर्ष एवं रूमानी और यथार्थी अनुभवों के बारे में बहुत कुछ कहना था—बहुत कुछ जो उनकी कहानियों और उपन्यासों में प्रतिबिंबित हुआ, और बहुत कुछ ऐसा भी जो वे केवल मुझसे कह सकते थे। मेरे पास भी इंग्लैंड प्रवास के अपने खट्टे-मीठे, कड़ुए-तीखे अनुभवों के बारे में कहने को कम नहीं था—बहुत कुछ जो मैंने बाद को 'बसेरे से दूर' में लिखा, पर बहुत कुछ ऐसा भी जो लिख देने का साहस मैं नहीं जुटा सका या जिसे मैंने कला की माँग अथवा लोक-मर्यादा की दृष्टि से अंकित कर देना उचित नहीं समझा।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जीवन का कितना यथार्थ साहित्य में समाहित हो सकता है या किया जाना चाहिए? साहित्यकारों और साहित्य समालोचकों में धुर अतीत से इस विषय पर विचार-विवाद हुआ है। फिलासफ़रों ने भी इस पर रायज़नी की है। प्राचीन यूनानी फिलासफर प्लेटो का नाम तो आपने सुना होगा। उसे हिंदुस्तान में अफलातून कहा गया। अफलातून का नाम तो हमारे गाँवों तक पहुँच चुका है। लोग किसी घमंडी या जबरा की भर्त्सना करते हुए कहेंगे, 'बड़ा कहीं का अफलातून आया है।' पर प्लेटो न तो घमंडी था, न जबरा; वह बड़ा संयत और तर्क-विचक्षण दार्शनिक था, लेकिन नाम के ध्वनि-धमाके ने संभवतः उसे यह कल्पित-विकृत विशेषण दे दिया। मैं लोकमत से नहीं झगड़ता, प्लेटो से मेरा काम चल जाएगा। प्लेटो ने आदर्श राज्य की रूपरेखा बनाकर एक पुस्तक लिखी जो 'रिपब्लिक' के नाम से संसार में विख्यात है; और उसने उसमें कवि-प्रवेश वर्जित कर दिया या कवि को उससे निर्वासित कर दिया। क्यों? प्लेटो के अनुसार सत्य या तथ्य का कहीं एक आदर्श-सूक्ष्म रूप है; हमारा यह संसार जिसे हम देखते, जिसमें हम विचरते हैं उसी का एक स्थूल अनुरूप है, और कवि उस संसार की अनुकृति में एक शब्द-संसार बनाता है। इस प्रकार वह मूल सत्य तथा यथार्थ से दुगना दूर हो जाता है—Twice removed from reality यानी करीब-करीब एक झूठा संसार बनाता है। आदर्श राज्य में झूठ का क्या काम? मैं स्वीकार करना चाहूँगा कि कभी-कभी मुझे स्वयं अपने झूठे संसार से वितृष्णा हुई है और मैं अपने सृजनशील लेखन से पराङ्मुख हो गया हूं। 'बसेरे से दूर' समाप्त करते हुए मैं कुछ ऐसी ही मनःस्थिति में था।

आदर्श राज्य से कवि को देश-निकाला देने के पीछे कुछ भौगोलिक और ऐतिहासिक कारण भी रहे होंगे, मेरा ऐसा अनुमान है। यूनान भर में फैली पर्वत

शृंखलाओं ने उसे कई छोटे-छोटे भूभागों में विभाजित कर दिया था जिनमें कालांतर में स्वतंत्र नगर-राज्यों (सिटी-स्टेट्स) का विकास हुआ जो परस्पर ईर्ष्या-द्वेष रखते थे और यदा-कदा एक-दूसरे के विरुद्ध युद्धोन्मुख भी होते थे। ऐसे नगर-राज्यों में राज्य के प्रति असंदिग्ध निष्ठा की मांग प्रजा से सर्वप्रथम की जाती थी; और कवि, जो वास्तव में कवि कहलाने का अधिकारी है, और संपूर्ण मानवता से प्रतिबद्ध है, शायद ही ऐसी एकदेशीय निष्ठा दे सकता।

'विभाजित करती मानव जाति
धरा पर देशों की दीवार,
ज़रा ऊपर तो उठकर देख
वही जीवन है उस-इस पार।'

ऐसी उदार दृष्टि रखनेवाले की राज्य-निष्ठा संदेहास्पद ही हो सकती थी। नगर राज्य के नमूने पर कल्पित आदर्श राज्य में अगर प्लेटो ने कवि को पाँव नहीं रखने दिया तो उसे सहज ही समझा जा सकता है। पर यह तो कवि को आदर्श राज्य-बदर करने का उप-कारण होगा। वास्तविक बात तो मूल कारण में थी कि शब्द-संसार यथार्थ-संसार की अनुकृति या नकल है। और उसपर सबसे पहले उंगली रखी अरस्तू ने।

शब्द-संसार यथार्थ-संसार की अनुकृति नहीं है। पहली बात, अनुकृति प्रस्तुत करना असंभव है, दूसरी बात, अनुकृति कर भी ली जाय तो अनावश्यक है; जब यथार्थ संसार मौजूद है तो उसकी नकल की ही क्यों जाए। कला (शब्द-कला भी) जीवन की अनुकृति (इमीटेशन) नहीं, जीवन की विवृत्ति (रिप्रेजें-टेशन) या व्याख्या (इंटरप्रिटेशन) है। और यहाँ जीवन से चुनाव (सेलेक्शन) आवश्यक हो जाता है। कवि या लेखक जीवन की जो व्याख्या देना चाहता है उसके अनुसार जीवन से चुनाव करता है। यानी वह जीवन के बहुत से सत्य को छोड़ता है, उसकी उपेक्षा करता है या उसे दबाता है कि उसकी धारणा को मूर्तिमान करनेवाले जीवन का रूप प्रमुख हो, उभरे, उजागर हो। इस प्रकार कलाकार कला की माँग पर सत्य के किसी अंश को गोपन रखने का विशेषाधिकार रखता है।

वस्तुतः उच्च कोटि का कलाकार कला के माध्यम से जीवन की जो व्याख्या देता है वह एक प्रकार से उसका जीवन-दर्शन ही होता है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में कवि को इसलिए भी तो नहीं टिकने दिया कि कहीं वह उसका प्रतिद्वंद्वी बनकर न खड़ा हो जाय। फिर वह यह भी सोचता होगा कि कवि जो दर्शन प्रस्तुत करेगा वह खंड सत्य पर आधारित होगा। परि-पूर्ण दर्शन तो परिपूर्ण सत्य पर ही आधारित होना चाहिए; और उसे देने का अधिकारी उसकी दृष्टि में केवल विशुद्ध दार्शनिक होगा, कवि नहीं। पर अब यह सर्वमान्य है कि कवि के दर्शन की भी अपनी विशिष्टता है, उपयोगिता है, औचित्य है। शेली ने तो उसे विश्व विधायक (लेजिस्लेटर) का दर्जा दिया था।[1]

---

1. Poets are the unacknowledged legislators of the world.—Shelley

मैंने पहले कहा है कि कलाकार लोक-मर्यादा की दृष्टि से भी कुछ सत्य को दबा जा सकता है। यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—लिखना किस लिए? तुलसीदास ने यह लिख कर कि—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

लिखने का आदर्श अंतिम रूप से स्थापित कर दिया है। जीवन या संसार में जो कुछ घटित होता है उसे ज्यों-का-त्यों कह या लिख देने से अगर लोकहित संभव होता तो साहित्य समाचार-पत्र का स्फीतीकृत यानी फूला-फैला रूप होता। साहित्य, लोकमंगल को दृष्टि में रखकर यथार्थ से यथेष्ट को चुनता है। इस प्रकार फिर कलाकार या साहित्यकार को अपने ध्येय में सफल होने के लिए यह अधिकार देना होगा कि वह अवांछित सत्य को छिपा रखे।

एक और बात, और बहुत विशिष्ट बात। स्वाभाविक है कि सर्वांग सत्य से अंश सत्य को निकालने, अलग करने में सर्वांग सत्य क्षत-विक्षत होगा, वैसे ही अंश सत्य भी; जैसे शरीर से किसी अंग को काटकर अलग कर देने में—कटा शरीर भी, कटा अंग भी। और यहाँ कलाकार या साहित्यकार को एक और अधिकार देना होगा—कि वह उन क्षत-विक्षत अंगों पर कल्पना का मरहम लगा सके, कल्पना की प्लास्टिक सर्जरी कर सके। यानी उसे कुछ ऐसा सत्य भी जोड़ने का हक होगा जो वास्तव में घटित नहीं हुआ, जो उसकी ईजाद है, शर्त केवल यह है कि वह खंड सत्य और काल्पनिक सत्य का इस प्रकार समीकरण करेगा कि वह सर्वांगीण सत्य से भी अधिक स्वाभाविक, संपूर्ण और सजीव प्रतीत हो। साथ ही वह समाज की परिष्कृत कलाभिरुचि को परितुष्ट करता हुआ उसके मंगल को भी साधेगा। सच्चाई तो यह है कि सत्य से स्वतंत्रता लेने का मूल्य कवि-कलाकार या साहित्यकार को अपने रक्त से चुकाना पड़ता है—सृजन के रक्त से, जो बड़ी साधना, बड़े तप से बनता है।

तप बल रचइ प्रपंच विधाता—
तप अधार सब सृष्टि भवानी—

में 'रचइ' और 'सृष्टि' को मैं रेखांकित करना चाहूंगा। इसी से सफलताभिलाषी साहित्यकार का आवाहन करते हुए नीत्शे ने कहा कि अपने रक्त से लिखो। कलाकार जब अपने रक्त से नहीं लिखता तब वह स्रष्टा या रचयिता नहीं, महज़ संयोजक या संपादक बनकर रह जाता है।

सत्येन्द्र के साथ कान्स्टीट्यूशन हाउस में जो शामें बीतीं शायद वे ही 'बसेरे से दूर' की पूर्वाभास थीं।

विदेश मंत्रालय से जो पत्र मेरी नियुक्ति के संबंध में आया था उसमें लिखा था कि मेरा काम होगा—to help and assist in the progressive use of Hindi in the Ministry of External Affairs, अर्थात् विदेश मंत्रालय में उत्तरोत्तर हिंदी के प्रयोग में सहायता-सहयोग प्रदान करना। इसके लिए मुझे अपने में और साथ ही अपने सहयोगियों में, विशेषकर हिंदी अनुभाग

के कर्मचारियों में, एक विश्वास, एक आस्था सुनिश्चित, सुदृढ़ करनी थी। मैंने एक मोटो बनाया—

"इस मंत्रालय में जो काम अंग्रेज़ी के माध्यम से किया जाता है वह सब हिंदी के माध्यम से भी किया जा सकता है, ठीक उसी तरह, और कहीं-कहीं उससे ज़्यादा अच्छी तरह।"

इसे एक बड़े ब्लैक बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखाकर मैंने हिंदी अनुभाग में टँगा दिया। संभव है यह वहाँ आज भी टंगा हो। यह इसलिए कि जब भी ललित साहित्य से इतर विषयों के लिए हिंदी प्रयुक्त करने की बात उठाई जाती है तो विरोधियों की ओर से एक वक्तव्य उछाला जाता है कि हिंदी अभी विकसित भाषा नहीं है। सवाल उठता है कि जब आपने प्रशासन, न्याय, उच्च शिक्षा के लिए हिंदी को अयोग्य ठहरा दिया है तब वह कहाँ प्रयुक्त होकर अपना विकास करे? ललित साहित्य के क्षेत्र में? और वहाँ के लिए मैं दावा करना चाहूँगा कि हिंदी अविकसित भाषा नहीं है। और वहाँ आगे जो विकास होना है स्वाभाविक गति से होता रहेगा। प्रयत्नतः हिंदी जहाँ विकसित की जाने को है वे वही क्षत्र हैं जहाँ से आपने हिंदी को वर्जित कर रखा है। वहाँ हिंदी प्रयोग से—केवल प्रयोग से—विकसित होगी। प्रारंभिक परिणाम असंतोषजनक हो सकते हैं, परंतु जिस कोटि के मस्तिष्क उन प्रयोगों में लगगे उनसे मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंदी उनके सुस्पष्ट, सुसंबद्ध, तर्कसंगत विचारों की मौलिक वाहिका बनकर बहुत जल्दी अपनी सक्षमता का सबूत दे सकेगी। गलत हिंदी से चलकर हम सही हिंदी पर पहुँच सकते हैं, पर अहिंदी से हिंदी की ओर कोई रास्ता नहीं बनाया जा सकता। भाषा वह बैल है, जिसपर जितना अधिक बोझा लादा जाए वह उतना ही मज़बूत होता जाता है। भाषा की शक्ति उसकी संभावना से आंकी जानी चाहिए, न कि उसकी अविकसित स्थिति से। और हिंदी की प्रकृति-प्रवृत्ति को जैसा मैंने समझा है, उससे मैं निःसंकोच कहना चाहूँगा कि हिंदी के विकास की संभावनाएँ असीमित हैं। आवश्यकता है केवल प्रयोग आरंभ करने की और जल्दी से जल्दी।

इस संबंध में मैंने एक किस्सा सुना था। जब कमाल अतातुर्क ने तुर्की को अपने देश की राजभाषा बनाने का निश्चय किया तो उसने विद्वानों से पूछा, तुर्की कितने दिनों में इस योग्य हो सकेगी? विद्वानों ने कहा, पंद्रह वर्षों में। कमाल पाशा ने कहा, समझो कि पंद्रह वर्ष आज समाप्त हो गए, कल से तुर्की में काम शुरू कर दो। काश, हमारे संविधान निर्माताओं ने भी ऐसा ही कोई हिम्मती कदम उठाया होता!

विदेश मंत्रालय में जो काम मुझे सबसे पहले दिया गया वह था···वह क्या था? इस पर मैं बाद को आऊँगा।

तब तक Ministry of External Affairs को हिंदी में क्या कहा जाय इसपर ही अंतिम निर्णय नहीं हुआ था। शुरू-शुरू में तकनीकी शब्दों के हिंदीकरण का काम शिक्षा-मंत्रालय को सौंपा गया था। एक यूनिट बनाई गई थी जिसके अध्यक्ष डा० सिद्धेश्वर वर्मा थे; उपाध्यक्ष थे डा० यदुवंशी और डा० आर० डी० शर्मा; आगे चलकर उनके साथ श्री गोपाल शर्मा भी संबद्ध हुए। उनके नीचे पंद्रह-बीस भाषा विशेषज्ञ प्रायः हिंदी अथवा अन्य भारतीय

भाषाओं में एम० ए०—उनके सहायक के रूप में काम करते थे। सिद्धेश्वर वर्मा अपने समय के प्रख्यात भाषाविदों में थे, उस समय भी वयोवृद्ध—हाल में ही मैंने उनका चित्र कहीं देखा, 95 वर्ष की अवस्था में अभी जीवित हैं। डा० यदुवंशी भाषा संबंधी क्या विशिष्ट ज्ञान रखते थे, मैं नहीं जानता। उन्होंने शैव मत पर अपना शोध प्रबंध लिखा था, जो प्रकाशित हो चुका था; दिवंगत हो चुके हैं। शर्मा जी संस्कृत के विद्वान के रूप में जाने-माने थे। इस कार्यकारी संगठन के अतिरिक्त, 5-5, 7-7 सदस्यों की लगभग दो दर्जन विषय-विशेषज्ञ समितियाँ बनाई गई थीं जिनमें एक राजनय (डिप्लोमेसी) समिति थी जिसक संचालक पंडित उदयशंकर भट्ट थे—संस्कृत अध्यापक, कवि, उपन्यासकार, नाटककार रूप में प्रसिद्ध। बाद को उस समिति का एक सदस्य मैं भी बनाया गया।

विशेषज्ञ समितियों का काम था अपने विषय के पारिभाषिक शब्दों की सूची कार्यकारी समिति को भेजना और उसके द्वारा उनके हिंदी-पर्याय सुझाए जाने पर उनकी परीक्षा करना और उन्हें अंतिम रूप देना।

समितियों में सदस्य चाहे जितने हों, काम करनेवाले एक-दो व्यक्ति ही होते हैं। राजनय समिति से केवल मैं ऐसे शब्दों की सूची भेजता था। मुझे पता नहीं और समितियाँ किस प्रकार काम करती थीं। पर्याय-परीक्षण के समय भी पं० उदयशंकर भट्ट आते थे, विदेश मंत्रालय के उप-सचिव श्री भसीन के साथ मैं जाता था; 5-6 वर्ष की ऐसी बैठकों में किसी और के सम्मिलित होने की मुझे याद नहीं, यद्यपि राजनय समिति में तीन और सदस्य थे।

श्रीगणेश के लिए Ministry of External Affairs को हिंदी में क्या कहा जाय, इसकी चर्चा रोचक होगी। कार्यकारी यूनिट का सुझाव था 'परराष्ट्र मंत्रालय' या 'परराष्ट्र कार्य मंत्रालय'। 'परराष्ट्र' शब्द के उच्चारण में रकार की रकार से जो भिड़ंत होती थी वह मुझे कर्णप्रिय न थी। 'कार्य' तो affairs का अर्थ देने को उपयुक्त समझा गया था। पर्यायों को खोजने में, प्रवृत्ति प्रायः शब्दानुयायी होने की थी और मैं स्वतंत्रता और मौलिकता के पक्ष में था। मैंने 'विदेश मंत्रालय' का सुझाव दिया। मेरी चलती तो Ministry of Home Affairs को 'देश मंत्रालय' का नाम देता—मेरे दिमाग में नज़ीर की एक पंक्ति गूंजती थी—'टुक हिर्स-हवा को छोड़ मियां, मत देस-विदेस फिरे मारा'। 'विदेश मंत्रालय' जो विदेश के मामलों को देखे, 'देश मंत्रालय' जो देश के मामलों को देखे। इसपर कहा गया—देश मंत्रालय तो देश के सब मंत्रालय होंगे। मैंने बारहा कहा कि देश मंत्रालय को जिस अर्थ से आप अभिहित करेंगे वही बाद में रूढ़ होगा, मगर मेरी बात नहीं मानी गई; Ministry of Home Affairs को 'गृह मंत्रालय' कहा गया। अगर किसी तर्क पर चला जाता तो 'परराष्ट्र मंत्रालय' के जोड़ पर उसे 'स्वराष्ट्र मंत्रालय' कहना चाहिए था। 'Home' ने जो अर्थ-संदर्भ ग्रहण किया है वह 'गृह' से व्यक्त नहीं होता।

खैर, 'विदेश मंत्रालय' के बारे में मैं आग्रहशील था, यद्यपि समिति का समर्थन 'परराष्ट्र' के लिए था।

मैंने उसपर एक दिन पंडित जी से चर्चा की और उन्होंने मेरा समर्थन किया और मैं मंत्रालय के सब दस्तावेज़ों में विदेश मंत्रालय का उपयोग करने लगा, और तरह के पत्र-व्यवहार में भी; और मेरा शब्द अब प्रचलित हो गया है।

फिर भी 1967 में जो Consolidated Glossary of Technical Terms प्रकाशित की गई उसमें Ministry of External Affairs के लिए 'परराष्ट्र मंत्रालय' ही दिया गया है और विकल्प के रूप में भी 'विदेश मंत्रालय' नहीं दिया गया।

पारिभाषिक शब्दों की चर्चा चल पड़ी है तो उनके विषय में दो-एक बातें इसी स्थान पर बता देना चाहता हूँ। Technical terms के हिंदीकरण के पीछे एक और लक्ष्य भी था कि हिंदी के राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकृति होने के साथ ही ये शब्द प्रांतीय भाषाओं में भी स्वीकार कर लिए जाएँगे। परंतु उनके लिए प्रांतीय भाषाओं की सहमति भी आवश्यक थी। दो समितियाँ बनाई गई—एक डा० डी० एस० कोठारी की अध्यक्षता में वैज्ञानिक शब्दों के लिए और दूसरी श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की अध्यक्षता में विज्ञानेतर शब्दों के लिए। दूसरी समिति का एक सदस्य मैं भी था। वैज्ञानिक समिति ने क्या काम किया या कैसे, मैं नहीं जानता। विज्ञानेतर शब्द समिति की बैठकों में भाग लेने पर एक बात तो यह बहुत स्पष्ट हुई कि संस्कृत आधारित शब्दावली ही समस्त प्रांतों में आसानी से स्वीकृत होती है; अस्वीकृत आती थी तो प्रायः तमिल से। अब लगता है कि उसके पीछे एक सुनिश्चित हिंदी-विरोधी प्रवृत्ति थी जो आगे-आगे अधिकाधिक उग्र होती गई और हाल में राष्ट्रीय प्रसारण में 'आकाशवाणी' के प्रयोग पर इतना बावेला मचाया गया कि प्रधान मंत्री को हस्तक्षेप करके उसे पूर्व-प्रयुक्त 'आल इंडिया रेडियो' रखने का आश्वासन देना पड़ा। वस्तुतः तमिल नीति हिंदी-विरोधी ही नहीं, संस्कृत-विरोधी भी थी और अब भी है—'आकाशवाणी' में तो दोनों शब्द संस्कृत के हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि इस हेय प्रवृत्ति के परिणाम शेष भारत से कहीं अधिक तमिलनाडु के लिए अहितकर सिद्ध होंगे, पर इस समय हिंदी-संस्कृत-विरोध तमिल राजनीति का अनिवार्य अंग बना हुआ है। और राजनीति तमिल जनजीवन पर बुरी तरह हावी है। दूसरी यह, कि उर्दू का हिंदी से कोई तालमेल नहीं बैठ सकता। उर्दू तकनीकी शब्दों के लिए फारसी-अरबी की ओर ताकती है, व्यावहारिक रूप में पाकिस्तान में बनी शब्दावली का अनुसरण करना चाहती है।

इस प्रसंग में एक मनोरंजक बात भी याद आ गई है। 'Custom' के लिए 'सीमा शुल्क' बना, 'Custom House' के लिए 'सीमा शुल्क सदन', 'Custom House Officer' के लिए 'सीमा शुल्क सदन अधिकारी' बना। दिनकर बोल पड़े, यह तो तुलसीदास की एक 'चौपाई' ही हो गई!

इस प्रक्रिया से पारिभाषिक शब्दों का जो हिंदी पर्याय अंतिम रूप मे निश्चित किया गया वह प्रांतीय भाषाओं में कितना स्वीकृत हुआ, मैं नहीं कह सकता। कोई बाध्यता तो थी नहीं। हिंदी भाषी प्रांतों में भी बहुत-से शब्द स्वीकृत नहीं हुए। उदाहरण के लिए 'Secretariat' के लिए 'सचिवालय' निश्चित हुआ था। मध्य प्रदेश में ही 'संचालनालय'—कितना उच्चारण-दुरूह शब्द—चलाया गया। 'प्रधान मंत्री' के लिए मराठी में 'पंत प्रधान' प्रयुक्त होता है। मैंने सुना है कि प्रांतीय भाषाओं में अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप पर्याय बनाने के लिए अलग-अलग समितियां बनीं। इसके अर्थ क्या हैं? स्पष्ट है, प्रांतीय भाषाओं की यह सांकेतिक घोषणा है कि हिंदी शब्दावली के माध्यम से तकनीकी शब्दों की

जो सार्वदेशिक एकरूपता नियोजित की गई है वह हमें मान्य नहीं है। अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग के जो दूरगामी परिणाम होंगे वे देश की एकता और अखण्डता पर कितना बड़ा आघात करेंगे इसे शायद अभी हम नहीं समझ रहे हैं। कुछ बातें हमें सूत्र रूप में जान लेनी चाहिए—विविधताओं से भरे इस देश में केवल भाषा ही ऐसा माध्यम है जो हमें एकसूत्रता में बांध सकता है; और अगर भाषा में भी हम एकमत हो सुसंगठित न हो सके तो हमारे बिखराव को कोई रोक नहीं सकता।

विदेश मंत्रालय में जो सबसे पहला काम मुझे दिया गया वह था 10-12 ऐसे दस्तावेज़ों के अनुवाद का जो औपचारिक रीति से भारत सरकार की ओर से विदेशी सरकारों को भेजे जाते हैं।

उस समय तक राजनयिक शब्दावली नहीं बनी थी।

मैंने दस्तावेज़ों का शब्दानुवाद न करके स्वतंत्र, पर मूल-अर्थ-बोधक अनुवाद किया जो नेहरू जी को पसंद आया।

इन दस्तावेज़ों में देश, व्यक्ति के नाम और तारीखें भर प्रसंगानुसार बदल दी जाती थीं। शायद उन दस्तावेज़ों का वही रूप तब से आज तक इस्तेमाल हो रहा है।

अभी मैं दस्तावेज़ों के अनुवाद पर लगा ही था कि राजन की शादी का निमंत्रण आ गया। मैं दो दिन की छुट्टी लेकर इलाहाबाद गया। बारात बाँदा से बस से आई थी। अमित-अजित बारात के साथ ही आए थे। जाड़े के दिन, बस में लगती तेज़ ठंडी हवा, अजित काँपने लगा; अमित ने अपना कोट उतारकर उसकी पीठ पर डाल दिया और उसको अपने सामने बिठाल लिया, कि इस प्रकार उसकी छाती को ठंड न लगे, पर ठंड अमित को लग ही गई और वह इलाहाबाद आकर बीमार पड़ गया। अपने छोटे भाई से अमित को बहुत प्यार है। छुटपन में दोनों भाई ब्वायज़ हाई स्कूल में पढ़ते थे, हमारे क्लाइव रोड वाले घर से स्कूल दूर न था। दोनों भाई पैदल जाते। स्कूल से जब छुट्टी होती अजित अमित से कहता, 'दा, मैं थक गया हूँ, पैदल घर नहीं जा सकूँगा' और अमित अक्सर अपने छोटे भाई को अपनी पीठ पर बैठालकर घर लाता। बहुत बार अजित जब कोई कसूर करता और माँ उसको सज़ा देना चाहती तो अमित कह देता, 'कसूर मैंने किया है।' और अजित की जगह वह सज़ा भुगत लेता। जिस विवाह को देखने के लिए वह इतना उत्सुक था उसमें वह शामिल न हो सका।

विवाह बहुत मेल-मिलाप के वातावरण में संपन्न हुआ। एक खास बात याद है। राजन जब विदा कराने के लिए गए तो वहां अपनी सास और सालियों को रोते देखकर खुद भी रोने लगे। राजन बहुत कोमल-हृदय हैं। विदा कराके बाँदा के लिए प्रस्थान करने के पूर्व राजन इंदिरा को मेरे घर लाए, और उन्हें अमित से मिलाया जो अब भी बुखार में पड़ा था।

तेजी दिल्ली आने के लिए इतनी उतावली हो रही थीं कि अभी मकान मिलने के कोई आसार न थे और उन्होंने सामान बाँधना शुरू कर दिया था। मेरी किताबें पेटियों में बंद हो चुकी थीं। गिरिस्ती भी उन्होंने बहुत संक्षिप्त कर ली थी, बोलीं, 'बस मुझे 24 घंटे की नोटिस देना और बाकी चीजें मैं समेट

लूंगी। घर खाली-सा लगा, जैसे कुछ उदास भी, मानो कह रहा हो, 'मुझे इतनी निर्ममता से छोड़े जा रहे हो, मैं तुम सब लोगों को बहुत-बहुत याद करूँगा। आठ बरस का साथ कम नहीं होता। तुम्हारी पत्नी ने मुझे सुरुचि से सँवारा, तुम्हारे बच्चों ने मुझे अपने हासोल्लास से गुँजाया, तुमने अपने स्वाध्याय-सृजन-श्रम से मुझे संस्कारा—हर हालत में शालीनता, सौम्यता, गरिमा का वातावरण भीतर-बाहर बनाए हुए। पता नहीं यहां अब कौन आएगा...'

हमने यह तय किया था कि फर्नीचर हम कोई साथ न ले जायेंगे—मेज़, कुर्सियां, सोफे, आलमारियां, पलंग वगैरह—मकान मिलेगा तो दिल्ली में ज़रूरी फर्नीचर किराए पर ले लिया जायगा। अपना फर्नीचर बेचने का प्रबंध भी तेजी ने कर लिया था, शायद ग्राहक से दाम भी वसूल कर लिया था, शर्त यह थी कि जिस दिन हम जायं उस दिन वह अपना सामान घर से उठवा ले।

यों तो हर चीज़ जो हम इस्तेमाल करते हैं उससे हमारा एक मानसिक संबंध बन जाता है और उससे अलग होना हमें अखरता है, पर मेरे विशेष लगाव की चीज़ थी मेरी स्टडी की मेज़ और स्टूल—हां, कुर्सी नहीं, स्टूल। मैंने एक बहुत बड़ी मेज़ बनवाई थी जिस पर मेरी किताबें, कापियाँ, लिखने-पढ़ने के दीगर सामान आसानी से फैले रह सकें। और इतनी बड़ी मेज़ के पीछे मैं कुर्सी रखकर नहीं बैठता था; लकड़ी का स्टूल रखकर बैठता था, जिसपर न हाथ टेकने की सुविधा, न पीठ टेकने की—मेज़ पर बैठो तो मुस्तैदी से, चुस्ती से, काम करने के लिए, न कि आराम करने के लिए। उस मेज़ के सामने बैठकर मैंने कितनी किताबें पढ़ीं; कितने लेख, कविताएं लिखीं; कितना अमित-राजन को पढ़ाया।

अपनी मेज़ देखता तो ऐसी और न जाने कितनी बातें मुझे याद आतीं—न जाने कितनी रातों को, मुझे याद है, सारा घर सो जाता और मैं उस मेज़ के सामने बैठा कुछ करता रहता। वह मेरे श्रम, मेरी लगन, मेरे अधिकार की प्रतीक हो गई थी, जैसे उसके सामने बैठकर जो मैं कह दूँगा वह किया ही जाना चाहिए और अगर किसी बात पर ज़ोर देने के लिए मैंने उस मेज़ पर मुक्का मार दिया तो जैसे उसपर मेरी पक्की मुहर लग गई। उन दो दिनों में जब भी मैं बरामदे में बैठता घूमफिर कर मेरी नज़र किनारे पर मेरी स्टडी में खाली पड़ी उस मेज़ पर जा टिकती...

दिल्ली मैं बहुत भारी मन से लौटा। राजन की शादी हम बड़ी हंसी-खुशी से करना चाहते थे। अमित की बीमारी से हमारा उत्साह ठंडा पड़ गया। जिस समय मैं चला उस समय भी उसें तेज़ बुखार था और उसके सारे बदन में दर्द था—उसे फ्लू हो गया था। तसल्ली सिर्फ इतनी थी कि डा० मेहता का इलाज शुरू हो गया था और उन पर मुझे बहुत भरोसा था।

डा० मेहता पेशे से डाक्टर न थे। युनिवर्सिटी में इकोनोमिक्स डिपार्टमेंट के अध्यक्ष थे। होमियोपैथी में उन्हें रुचि थी, जिसका उन्होंने निजी रीति से विस्तृत अध्ययन किया था; हर शाम एक घंटे अपने बंगले के बरामदे में बैठकर तरह-तरह के मरीज़ों को देखते और मुफ्त दवा दिया करते थे। लोगों का कहना था कि उनके हाथ में बड़ा जस है। सबूत मुझे भी मिला था।

ऐसा हुआ कि अमित जब आठ वर्ष का था, उसके बदन पर एक बड़ा फोड़ा निकल आया। पहले कुछ सूजन हुई, फिर जगह लाल हो गई। उन दिनों डा०

जानकी प्रसाद गुप्त इलाहाबाद में सिविल सर्जन थे, मेरे मित्रों में थे। मैंने उन्हें अमित को दिखाया। उन्होंने राय दी, आपरेशन कराना होगा; अमित को सिविल हास्पिटल में दाखिल करा दिया जाय; वे खुद आपरेशन करेंगे।

हम हिंदुस्तानी आपरेशन के नाम से डरते हैं; तेजी ज़्यादा ही डरीं, घबराईं। उन्हें क्या पता था कि बड़े होकर इस बच्चे को एक-से-एक खतरनाक आपरेशनों को झेलना पड़ेगा। एकाएक उन्होंने डा० मेहता को याद किया। डा० मेहता आए। उन्होंने कहा वे तो खाने की दवाएँ देंगे, उनसे फोड़ा दब भी सकता है और फूट भी सकता है, समय ज़्यादा लगेगा, धीरज रखना होगा। साथ उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि अगर आप लोगों का होमियोपैथी या मुझमें विश्वास न हो तो सिविल सर्जन की ही राय पर चलें। तेजी ने डा० मेहता से एक सवाल कर दिया, 'अगर आपके बेटे का मामला होता तो आप क्या करते?'

मेहता जा बोले, 'मैं तो अपना ही होमियोपैथी का इलाज करता।'

'तो आप अपना ही बेटा समझकर मुन्ना का इलाज करें,' तेजी बोलीं।

मेहता साहब ने इलाज शुरू किया और आठ रोज़ के अंदर फोड़ा फूटकर बह गया और चार-पांच रोज़ में घाव सूख गया।

इलाहाबाद से रवाना होने के पहले मैं मि० मेहता से मिलकर आया था। उन्होंने मुझे आश्वस्त किया था कि अमित आठ-दस रोज़ में ठीक हो जायगा। विशेष चिन्ता मुझे इस बात की थी कि अमित-अजित दोनों को फरवरी के अंत अथवा मार्च के प्रारंभ में शेरवुड कालेज, नैनीताल के लिए रवाना होना था जहाँ वे बोर्डिंग हाउस में रहेंगे और घर की-सी देख-रेख वहां नहीं हो सकेगी। हम चाहते थे कि जाने के पहले दोनों खूब चुस्त-तंदुरुस्त रहें। पहाड़ की आबोहवा में रहने का उनके लिए पहला मौका होगा।

दिल्ली में मेरे दिन मानसिक तनाव में बीत रहे थे। अमित-अजित के शेरवुड जाने के दिन नज़दीक आ रहे थे। हमने उन्हें दिल्ली पार्टी के साथ भेजने के लिए प्रिंसिपल को लिखा था। मकान मिलने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही थी। अगर मार्च तक मकान नहीं मिला तो उन्हें इलाहाबाद पार्टी के साथ भेजना होगा, अंतिम समय पर प्रबंध में परिवर्तन न हुआ तो शायद उन्हें निजी तौर से नैनीताल भेजना पड़े। सुशील बोस से कह तो आया था कि अगर ऐसी स्थिति आ जाय तो वे अपने किसी भरोसे के अर्दली के साथ अमित-अजित को शेरवुड पहुँचवा दें। शायद तेजी स्वयं बच्चों को वहाँ तक छोड़ आएँ। फिर भी कोई मर्द साथ रहे तो अच्छा। पर समस्या का अंत यहीं नहीं था। बच्चों के चले जाने पर तेजी इलाहाबाद में बिलकुल अकेली हो जायेंगी। पहली बार दोनों बच्चों से एक साथ अलग होने की ममतासिक्त पीड़ा जो वे झेलेंगी सो तो झेलेंगी ही, वे अपने को असुरक्षित भी अनुभव करेंगी। उमा और सुशील ने मुझे आश्वस्त किया था, 'हम भाभी का मन बहला लेंगे, आप बेफिक्र रहें।' सुशील ने मुझसे कहा था, 'मुझे दो अर्दली मिलते हैं, मैं एक की ड्यूटी 'दशद्वार' पर लगा दूंगा, इसमें मुझे कोई दिक्कत नहीं होगी, आप निश्चिंत रहें।'

और मैं एक तरह से निश्चिंत होकर भी चिंताग्रस्त था।

जीवन में हम जिन चीज़ों को पाने की कामना करते हैं, जिनका सुख-सपना देखते हैं, जिन्हें साकार करने को सौ मुसीबतें उठाते हैं, जब वे संयोगवशात् मिल

जाती हैं तो उनके मिलने का सुख कितना क्षणस्थायी होता है ! मिलने के साथ ही मिलने का सुख समाप्त हो जाता है।

'मिलने का आनंद न देती मिलकर के भी मधुशाला।'

दिल्ली में काम मिलने की कल्पना कितनी मनमोहक थी, और काम मिलते ही मन को कुरेदने वाली चिंता साथ लग गई है। कारण शायद यह है कि हम सपनों को अलग करके देखते हैं और भूल जाते हैं कि हर सपने के साथ कुछ कटु सत्य भी अनिवार्य रूप से लगे रहते हैं। मानव जीवन ही ऐसा है कि यहाँ एक चिंता से छुटकारा नहीं मिला कि दूसरी पीछे लग जाती है।

उन दिनों अपनी माँ से सुनी एक कहावत मैंने बार-बार याद की —

'तब मैं झंखेउं राम जनम, अब झंखउं राम बियाह।' और
'तब मैं झंखेउं राम बियाह, अब झंखउं सिय कै कोख।'

अवधी में 'झंखना' का अर्थ होता है—चिंतित या परेशान होना; उसके साथ कभी-कभी उसका निकटवर्ती बंधु 'झुराना' भी जोड़ा जाता है—सूखना। कोई स्त्री कहती है कि पहले मैं इसके लिए झंखती-झुराती थी कि मेरे कोई लड़का नहीं है, लड़का हुआ, बढ़ा तो उसके विवाह की फिक्र लगी, विवाह हो गया तो चिंता शुरू हुई कि पतोह की गोद नहीं भरी—यानी मानव जीवन में चिंता का क्रम अटूट है।

बच्चन-बाबू, पहले आपको दिल्ली में नौकरी पाने की चिंता थी, नौकरी मिल गई तो मकान पाने की चिंता आपको घेरे है, और मकान मिल गया तो आप समझते हैं कि आप चिंतामुक्त हो जायेंगे। जी नहीं, तब आपको कोई दूसरी चिंता घेरेगी, देखते जाइए।

आप अपने जीवन में मुड़कर देखिए—था कोई वक्त ऐसा जब आपको कोई चिंता नहीं थी ? आपने लिखा ज़रूर है :

'क्या घड़ी थी एक भी चिंता नहीं थी पास आई !'

पहले तो यह आपकी कविता है, कल्पना है, उड़ान है—बीता सब कुछ सुखद ही मालूम होता है। और, मान भी लें कि ऐसी घड़ी थी तो ज़रा सोचिए वह कितनी छोटी थी !

मैं इन्हीं विचारों में उलझा एक दिन मंत्रालय के कारीडोर से जा रहा था कि देखता हूँ सामने से पंडित जी आ रहे हैं।

मैं प्रणाम करके उन्हें रास्ता देने के लिए एक तरफ खड़ा हो गया, मुँह लटकाए...

पंडित जी रुके, एक नज़र मुझपर डाली, पूछा, 'फेमिली को लाए ?'

मैंने दबी ज़बान से कहा, 'मकान अभी कहां मिला।'

सुनकर पंडित जी चले गए।

मुझसे कई लोगों ने कहा था कि पंडित जी आपको इतना मानते हैं, एक बार उनसे कह दीजिए, आपको मकान दिला देंगे। और मैं सोचता इतने व्यस्त बड़े आदमी से इतने छोटे काम के लिए क्या कहना। पर 'मकान अभी कहाँ

मिला' कहते हुए यह विचार अवश्य मेरे मन में रहा होगा कि 'अगर आप इशारा कर दें तो मिल जाए', और यह मेरे चेहरे पर बिंबित भी हो गया होगा, और पंडित जी ने उसे पढ़ भी लिया होगा। चेहरे का भाव पढ़ने में वे माहिर थे।

एक दिन बीच में गुज़रा।

दूसरे दिन मेरे पास एस्टेट आफिस से पत्र आ गया—मोती बाग में फलां नम्बर का मकान आपको एलाट हुआ है।

क्या पंडित जी ने इशारा कर दिया था ?

मैंने दो दिन की छुट्टी ली। 20 फरवरी की रात की गाड़ी से चलकर 21 को सवेरे अप्रत्याशित 'दशद्वार' पर दस्तक दी। आश्चर्यचकित तेजी बोलीं, 'कैसे !'

मैंने कहा, 'तुमने कहा था न, 24 घंटे की नोटिस देना, और मैं सब सामान समेट चलने को तैयार रहूंगी। मुझे सरकारी फ्लैट एलाट हो गया है। आज शाम ट्रक से सब सामान रवाना करा दो और कल तड़के हम लोग अपनी मोटर से दिल्ली के लिए निकल पड़ें—शाम तक पहुँच जाएंगे। आगे-पीछे ट्रक भी पहुंच जायगा। मैं सिर्फ दो दिन की छुट्टी लेकर आया हूँ।'

मैंने सुशील को बुला लिया और उनके साथ बैठकर प्रस्थान के सारे ब्यौरे तै कर लिये।

किचन अब अपने यहाँ का बंद। खाना-पीना सब का सुशील के घर होगा। खाने के साथ कितना सामान—कितना काम जुड़ा है। अब सिर्फ पैंकिंग होने लगी। सुशील ने ट्रक का इंतज़ाम करा दिया। पुलिस का काम आनन-फानन होता दो बजे ट्रक आ गया। दो घंटे लदवाने में लगे। महराजिन—खाना बनानेवाली है।—और मेवा, घर का नौकर—ट्रक के साथ रवाना कर दिए गए। थोड़ा-बहुत सामान जो डिकी में जाने को था बच रहा।

बैंक से पैसे निकलवाने और एकाउंट बंद कराने का काम मैं दिन को ही कर आया था। अपराह्न में किराया-अदायगी के लिए मकान-मालिक, पंचायती अखाड़ा के महंत के पास मुझे जाना था। लौटकर आया तो ट्रक जा चुका था। अमित-अजित अपने पड़ोस के मित्रों से विदा लेने को चले गए थे। घर एकदम शांत था, संध्या ढल चली थी और तेजी बरामदे में कुर्सी पर चुपचाप बैठी सामने खिली गुलाबों की कतारों को अपलक देख रही थीं। नज़दीक गया तो देखा उनकी आँखों से मोटे-मोटे आँसू ढुलक रहे हैं। तेजी को गुलाबों से बहुत प्रेम था। उन्होंने कहाँ-कहाँ से मंगा, चुन-चुनकर अच्छे गुलाबों की लगभग सौ किस्में सामने की क्यारियों में लगवाई थीं। सुबह कुछ फूलों को काटकर गुलदानों में लगाना—कलापूर्ण ढंग से सजाना—उनका नित्य नैमित्तिक काम था। कुछ दिनों से उन्होंने फूलों को तोड़ना बंद कर दिया था। फूलों को जैसे पता लग गया था कि उनका शैदा अब यहाँ मे विदा होनेवाला है और उन्होंने दिल खोलकर अपना सारा आंतरिक सौंदर्य बाहर उंडेल दिया था। उस संध्या को गुलाब की क्यारियाँ अपने पूरे यौवन पर थीं—जाड़े के अस्तंगमित सूर्य की सुनहरी-सिंदूरी किरणों से झीनी-झीनी आलोकित।···

कुछ बातें न पूछने की होती हैं, न बताने की होती हैं; सिर्फ समझने की

होती हैं, और समझकर चुप रहने की होती हैं।

जीवन में आँसुओं के इतने रूपों से मेरा परिचय, मेरी निकटता, घनिष्टता रही है कि उनका साक्षात्कार होते ही मैं उनकी अभिव्यंजना का रहस्य आत्मसात कर लेता हूँ।

इन आँसुओं में दिल्ली जाने की खुशी भी थी।

इलाहाबाद छोड़ने का रंज भी था।

फूल तो माध्यम थे—प्रतीक थे।

फूलों में उनका पिछला चौदह वर्षीय इलाहाबादी जीवन झलक रहा था।

फूलों में कितनी कोमल पंखुरियां थीं—

कितने रूपों की, कितने रंगों की,
कितने रसों की, कितनी गंधों की।

कितने तीखे कांटे थे,

कितने आकार के,
कितनी धार के
कितनी मार के,
कितने चीत्कार के,

फूलों में उनका आगामी अनजाना जीवन था,

उसकी संभावनाएँ थीं,
उसकी आशंकाएँ थीं।

फूलों में परिचित से विदा भी थी,
(अपरिचित का स्वागत भी था;)

विगत की स्मृतियाँ भी थीं,
अनागत के सपने भी थे;

और कुछ परस्पर विरोधी स्थितियों-मन:स्थितियों के बीच एक पतली रेखा पर प्रकंपित, अज्ञेय, अपरिभाषेय भी।

कुछ देर मैं उनके पास चुपचाप खड़ा रहा।

फिर मैंने कहा, उठो, अभी हमारे पास कुछ समय है, बच्चों को बुला लें और प्रयाग की एक परिक्रमा कर आएं। वे तैयार हो गईं, जैसे वे भी यही चाहती हों।

'दशद्वार' से कार से निकलकर—

सेंट मैरीज़ कान्वेंट, (यहाँ अमिताभ-अजिताभ ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा शुरू की थी),

बरार नर्सिंग होम, (यहाँ अमिताभ पैदा हुए थे),

पुरानी कायस्थ पाठशाला, (यहाँ छठे दर्जे से आरंभ करके मैंने हाई स्कूल तक की परीक्षा पास की थी),

मुहल्ला चक, (जन्म से लेकर प्रथम विवाह तक की मेरी क्रिया-कलाप भूमि),
चकेश्वरी देवी मंदिर, (इलाहाबाद में हमारे पुरखा मनसा का प्रथम शरणस्थल),
मुट्ठीगंज, (यहां मेरे पिताजी का बनवाया नया मकान जिसमें मैंने 'प्रारंभिक रचनाएं' से लेकर 'एकांत संगीत' तक की रचना की थी। बीच में उल्लास-अवसाद के कितने-कितने प्रसंग।)'
जमुना पुल, (जिस पर सैकड़ों बार घूमा-फिरा था—तरह-तरह के मूड में),
बाई का बाग, (मेरी प्रथम पत्नी श्यामा का मायका),
राम बाग, (जहां मेरे परबाबा मिट्ठूलाल का बनवाया शिव मंदिर),
गवर्नमेंट कालेज, (जहाँ से मैंने इंटर की परीक्षा दी थी),
जगत-तारन-स्कूल, (जहाँ तेजी ने कुछ समय अध्यापन का काम किया था),
कमला नेहरू अस्पताल, (जहाँ अजिताभ पैदा हुए थे),
आनंद भवन, (जहाँ सरोजिनी नायडू ने नेहरू-परिवार से हमारी मैत्री कराई थी),
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, (जहाँ मैंने सालों पढ़ा-पढ़ाया था),
कुंडू बाग, (जहाँ के एक मकान में तेजी लाहौर से पहली बार आकर ठहरी थीं और जहां से हमारा विवाह हुआ था और जहां पास के एक दूसरे मकान में हमने अपने वैवाहिक जीवन का प्रथम वर्ष बिताया था),
एडेल्फी, (जहाँ रहते हुए हमने प्रथम स्वाधीनता दिवस मनाया था; जहां विभाजन के फलस्वरूप तेजी के कितने ही संबंधियों ने पंजाब से भागकर शरण ली थी; जहाँ महात्मा गांधी की हत्या का हृदय विदारक समाचार हमने सुना था; और जहाँ मैंने उनके बलिदान से संबद्ध 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' की रचना की थी),
पायोनियर प्रेस बिल्डिंग, (जहाँ मेरे पिताजी ने 16 वर्ष की उम्र से लेकर 60 वर्ष की अवस्था तक क्लर्की में बिताई थी—सबसे नीचे पद-वेतन से शुरू कर सबसे ऊँचे पद-वेतन तक),
8-ए, बैंक रोड, (जहां पंत जी पहले-पहल तेजी के और मेरे साथ रहने को आए थे—और जहाँ अमित ने अपने जीवन के प्रथम दो वर्ष देखे थे—यहाँ उनकी एक गंभीर बीमारी में मैंने आजीवन मदिरा न छूने का व्रत लिया था),
दिलकुशा, (जहाँ कुछ समय मैं कविवर नरेन्द्र शर्मा के साथ रहा था—हम दोनों के लिए वे कितने अवसाद के दिन थे!)
बेली रोड, (जहाँ 'वसुधा' में मैं महाकवि सुमित्रानंदन पंत के साथ कुछ समय ठहरा था, और जहां रहते हुए इलाहाबाद युनिवर्सिटी में मेरा अध्यापकीय जीवन आरंभ हुआ था; जिसके पास के ही

एक दूसरे मकान में मेरे पिताजी की मृत्यु हुई थी),
फाफामऊ पुल, (जिस पर से न जाने कितनी बार मैंने गंगा के ऊपर सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य देखा था, यदा-कदा आधी रातों को चाँद-तारों की छाया में गंगा की लहरों का झलमल विलास भी। विवाह के प्रथम वर्ष में तेजी के साथ उस पुल पर बिताईं कई वासंती शामें— तेजी भावी मातृत्व के स्वप्न में आगुंठित।),
ब्वायज़ हाई स्कूल, (जहाँ अभी कुछ दिन पहले अमित-अजित पढ़ रहे थे),
स्ट्रेची रोड, (जहाँ अमित ने अपनी तीसरी-चौथी वर्षगाँठ मनाई थी— तीसरी पर बच्चों के फैंसी ड्रेस में इंदिरा जी राजीव को धोबी की पोशाक में लाई थीं। जहाँ मैंने 'सतरंगिनी' के कई गीत लिखे— 'नागिन' की खास याद, जिसके लिए तेजी ने एक विचित्र नृत्य किया था। यहीं रहते मेरी माता जी की मृत्यु; तेजी के पिता जी की मृत्यु का समाचार डिगरी (सिंध) से।)
और आल इंडिया रेडियो, (जहाँ दो महीने पहले मैं पंत जी के साथ बैठकर केन्द्र के हिंदी प्रोड्यूसर के रूप में काम करता था)
होते हुए, अतीत की स्मृतियाँ सजोते, हम 'दशद्वार' लौट आए, बिना किसी जगह कार से उतरे; और हाथ-मुंह धो सुशील के बंगले पर चले गए।

उमा और सुशील हमारा इंतज़ार कर रहे थे। खाना उन्हीं के यहां था। लौकिक मुहावरे में जिसे कहते हैं 56 प्रकार का भोजन, उमा ने हमारे लिए अपने हाथों से बनाया था—अपने पाक-शास्त्र ज्ञान का खुलकर प्रदर्शन करते हुए। सूर सागर के दशम स्कंध का श्रीकृष्ण ज्योनार याद आ गया और 'पद्मावत' का रत्नसेन-पद्मावती-विवाह खंड भी—

जेवन अधिक सुवासिक मुंह मंह परत बिलाइ,
सहस सवाद सो पावै एक कवर जो खाइ।

आज तो मथुरा के चौबे का पेट पाना था—'ऊधो उदर न भए दस-बीस!'

हम तो खाना खाकर 'दशद्वार' चले आए जहाँ सुशील ने अपने अर्दलियों के द्वारा हमारें लिए दो बिस्तर—अपने यहां से गद्दे, कम्बल, तकिये आदि भेजवाकर—तैयार करा दिए थे। और उधर उमा यात्रा में हमारे लिए साथ ले जाने को कीमे और गोभी के भरवाँ पराठे, तरकारियाँ आदि बनाने में देर रात तक लगी रही होगी।

हम लोग चार बजे उठे। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। उमा ने हमारे लिए गरम पानी की दो बाल्टियां और गरम चाय भेजवा दी थी। हम जल्दी-जल्दी तैयार हुए। कार में सामान रखवाया। सुशील ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था कि उनका एक बंदूकधारी अर्दली हमारे साथ कार में दिल्ली तक जाए—वह अच्छा ड्राइवर भी था। रवाना होने के पहले उमा—सुशील आ गए—बड़ी-सी टोकरी लिए रास्ते में खाने के लिए, ठसाठस व्यंजनों से भरी—दो बड़े थरमस चाय और काफी के। दोनों की आंखें बता रही थीं कि उस रात शायद ही वे घड़ी-आधी घड़ी के लिए सोए हों।

दोनों से हमने कृतज्ञता भीनी विदा ली।
विदा 'दशद्वार' !
विदा 17, क्लाइव रोड !
विदा इलाहाबाद !

तेजी ने ड्राइवर की सीट सँभाली। मैं साथ बगल में बैठा; अर्दली, अमित-अजित पीछे की सीट पर बैठे और हमारी नील-नवेली छोटी-सी फोर्ड प्रिफेक्ट कार पहली बार दिल्ली तक की चार सौ मीली लंबी यात्रा पर हुंकार देकर चली···पीछे उड़ते धूलि-कणों में जैसे मेरे जीवन के पिछले अड़तालीस वर्षों की स्मृतियां ही मुझे पिछुआने का असफल प्रयत्न करती हुई। हमने ग्रेंड ट्रंक रोड पकड़ ली थी—उस समय प्रायः सूनी। कहते हैं, शेरशाह सूरी ने पहले-पहल इसे बनवाया था। कई सदी पहले हमारे पूर्वज मनसा और उनकी पत्नी संभवतः इसी राह से तिलहर से इलाहाबाद चक तक भूखे-प्यासे, पांव-पियादे आए होंगे। आज उन्हीं का एक वंशज उससे विपरीत दिशा में मोटरकार में बैठा चला जा रहा था···

खुल्दाबाद में लबे सड़क एक छोटा-सा गुरुद्वारा है। उस समय वहाँ शायद लाउडस्पीकर लगाकर 'आसा दी वार' का कर्णमधुर मंगल-पाठ हो रहा था जिसे हमने कार में बैठे-बैठे भी सुना। तेजी के मन में कहीं बीज-रूप से बैठा संस्कार जागा और वे बोलीं, हम गुरुद्वारे में मत्था टेकते चलें। मैंने कहा, ज़रूर। हम सबने कार से उतरकर गुरु ग्रंथ साहब के सामने मत्था टेका, नामे चढ़ाए और ग्रंथी जी का आशीष ले आगे बढ़े—'वाह गुरु आप लोगों को खरियत से दिल्ली पहुंचाए।'

शायद यह पहली बार था जब मैंने तेजी को गुरुद्वारे जाते देखा; वैसे जहाँ तक मुझे मालूम है, इलाहाबाद में कोई प्रसिद्ध या बड़े गुरुद्वारे थे भी नहीं; एक छोटा-सा गली के भीतर जाकर मुट्ठीगंज में था, जहाँ के गुरु महाराज से, ऐसा मैंने सुना था, विधवा होने पर, मेरी दादी ने कान फूंकवाया था। मेरे पिता जी अपनी मां की स्मृति में हर असाढ़ी यानी गुरु पूजा के दिन उस गुरुद्वारे जाते और गुरु ग्रंथसाहब के सामने मत्था टेकते और कुछ भट चढ़ाते। लड़कपन में अपने पिता और छोटे भाई के साथ वहां जाने की मुझे याद है, कड़ाह-प्रसाद पाने की भी। थोड़ा कड़ाह-प्रसाद हम घर भी लाते। वहाँ मत्था टेकने और प्रसाद लेने और भी लोग जाते। मेरी माँ बतातीं, जब तक सफेद अचला कड़ाह पर पड़ा रहे तब तक चाहे जितने लोग आएं, सबको प्रसाद बराबर दिया जा सकता है और वह चुकता नहीं ! ऐसे न जाने कितने झूठे-सच्चे विश्वासों से हिंदू मस्तिष्क लड़कपन से भरा जाने लगता है। बहुत से लोग उनसे धोखा खाते हुए भी उनसे आजीवन चिपके रहते हैं। पर जो अपने आपको अधिकाधिक वैज्ञानिक होते युग में तर्कसंगत बनाना चाहते हैं उन्हें अपने से कठिन संघर्ष करना पड़ता है। कम से कम मुझे करना पड़ा था।

साथ ही यह हिन्दुत्व की ही देन है कि उसके संस्कारों में पला किसी भी आस्था, विश्वास, मान्यता के प्रति असहिष्णु नहीं होता, भले ही उनको वह अपना समर्थन देने में असमर्थ हो। यह तो नकारात्मक बात हुई; इसका एक

सकारात्मक और संभवतः अधिक उदात्त पक्ष भी है कि वह उनके प्रति आदर भाव रखता है; उनके साथ लगी भावना को अपनी श्रद्धा देता है। मुझे याद आता है, मुहल्ला चक के पूर्व में मस्जिद थी, उत्तर में इमामबाड़ा था, बीच में दो देवियों के थान थे, शहीद मर्द की कब्र थी, शिवाला था ही, दक्षिण में राधा-कृष्ण-मंदिर थे, पच्छिम में, महाजनी टोले में, जैनियों के मंदिर थे। राधा-बुआ-परदादी की उंगली पकड़े जा रहा हूँ, जहाँ कोई मस्जिद, शिवाला या मन्दिर दिखा वे मुझसे कहतीं 'सिरदा परल्या'—'हस्तिना ताड्य मानेपि न गच्छेत जैन मंदिरे', यह तो मैंने बाद को सुना, पर वह कौतूहल की तरह ही मस्तिष्क की ऊपरी सतह पर रह गया है। (और यह 'सिरदा' भी शायद अरबी 'सिजदा' से आया है, पर मैंने तो उसे 'सिर' से संबद्ध कर लिया था—'सिरदा'— यानी सिर दो—सिर झुकाओ) और बड़े होने पर माँ के साथ कभी गंगा या यमुना नहाने जाता हूँ, माँ के हाथ में एक डोलची लटकी है, उसमें गंगाजली है, फूल हैं, अक्षत हैं। रास्ते में जिस किसी भी पेड़-पाथर पर फूल चढ़े हैं, मां वहाँ क्षण भर रुकती हैं और एक आचमनी गंगाजल, दो फूल, चार दाने अक्षत चढ़ा देती हैं। बाद को सोचा, यह क्या है; यह उन अज्ञात देवी-देवताओं की पूजा नहीं है; यह वास्तव में उनपर चढ़ी श्रद्धा की पूजा है। अपनी एक कविता लिखते हुए यह दृश्य मेरी स्मृति में कौंध गया था। 'मिलनयामिनी' की है। एक पद सुना दूं ?—

> जो भेंट चला था मैं लेकर
> हाथों में कब की कुम्हलाई,
> नयनों ने सींचा उसे बहुत
> लेकिन वह फिर भी मुरझाई,
> तब मे पथ-पुष्पों से निर्मित
> कितनी मालाएं सूख चुकीं,
> जिस मग से मैं आया उसपर
> पाओगे बिखरी-बिखराई;
> कुम्हला न सकी, मुरझा न सकी
> लेकिन अर्चन की अभिलाषा;
> मैं चुनता हूँ हर फूल अटल विश्वास लिये
> ये पूज न पाएँ प्रेय चरण लेकिन दुनिया
> इनकी श्रद्धा को एक समय पूजेगी ही।

मेरी समझ में किसी की श्रद्धा को पूजना शायद किसी देवी-देवता को पूजने से बड़ी पूजा है। ऐसी पूजा अंधविश्वास नहीं—दिव्य-दृष्टि विश्वास है।

तेजी से जब मेरा विवाह हुआ वे सिक्ख धर्म के संस्कारों में पलीं—पगी थीं। उनके पास एक गुटका रहता था, गुरुमुखी लिपि में, जिसमें संभवतः जपुजी, सुखमनी साहब आदि संग्रहीत थे जिन्हें वे सस्वर पढ़ती थीं। मुझे याद है जब अमित अजित हुए तो उनको टब में नहलाते समय वे अपने मधुर स्वर से गुटका पाठ करतीं जो उन्हें कंठस्थ था। संयोगवश दोनों समय पंत जी हमारे साथ रहते थे; वे तेजी से कहते, जब आप पाठ करती हैं, मुझे बहुत अच्छा लगता है और मैं सब कार्य छोड़ आपको सुनता रहता हूँ। साथ ही तेजी पर हिंदू सहेलियों के

संग-साथ से हिंदू संस्कार भी पड़ने लगे थे। दशहरा, दीवाली, होली तो हम परंपरागत रीति से मनाते ही थे। अपनी सहेलियों के साथ तेजी शिवरात्रि, जन्माष्टमी, रामनवमी के व्रत भी रख लेतीं, मंदिर भी चली जातीं। बड़ा विचित्र है, इलाहाबाद में किसी प्रसिद्ध राममंदिर की मुझे स्मृति नहीं। और एक जो राममंदिर था भी, जहाँ से दशहरे पर रामलीला के लिए राम-लक्ष्मण-सीता की सवारी निकलती थी, वहाँ रामजी की कोई मूर्ति नहीं थी। मुझे याद है, एक बार मैंने अपने पिता जी से इसकी शिकायत भी की थी—उन्होंने कहा था कि रामजी तो शिवजी और हनुमानजी के हृदय में रहते हैं और मैंने सहज भाव से उनकी बात मान ली थी। 13 विलिंगडन क्रिसेंट में अपने बाग की राकेरी (क्रीड़ा शैल) पर जब मैंने एक क्रीड़ा मंदिर भी बनाया था तब उसमें सिर्फ शिवलिंग और हनुमान की मूर्ति रखी थी; पिताजी की बात कहीं मेरी स्मृति में रही होगी। हिंदू संस्कार इसी तरह पड़ते और अपना सूक्ष्म प्रभाव दिखाते रहते हैं। आज तो तेजी को हनुमान जी का इष्ट है। और यह बात कुछ प्रसिद्धि भी पा गई है। यह कैसे संभव हुआ, इसकी कथा बड़ी रोचक है, मैं फिर कभी सुनाऊंगा। अभी तो 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना, एही भांति···' हमारी फोर्ड प्रिफेक्ट 'वाह गुरु की फतह' को सार्थक करती हुई फतेहपुर पहुँच रही है।

फतेहपुर में एक जगह रुककर हमने नाश्ता किया, उमा को खूब-खूब याद करके—क्या-क्या उसने नाश्ते के लिए नहीं रखा था—उबले अंडे, सलामी, चिकेन और टमाटो की सैंडविचेज़ वगैरह-वगैरह। गाड़ी का तेल, पानी, हवा चेक कराई और फिर चले। तेजी फिर ड्राइवर की सीट पर बैठीं, अभी वे थकी न थीं।

उत्तर भारत में 'फतेह' से संबद्ध कई नगर-कस्बे हैं, जैसे फतेहपुर, फतेहगढ़, फतेहाबाद आदि। निश्चय ही ये नाम मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा इन स्थानों की विजय के बाद दिए गए होंगे। उनके पूर्व नाम क्या थे, शायद ही कोई जानता हो। हिन्दू अपनी रीति-रस्म, प्रथा-कथा की लीक पीटते हुए भी अपने इतिहास को बड़े सहज भाव से भूलते चलते हैं। हिंदुओं की इस प्रवृत्ति ने उनके जातिगत चरित्र को एक विचित्र विशिष्टता दी है। एक ओर तो हिन्दू के मन में अतीत की सफलताओं का दंभ नहीं होता, और दूसरी ओर वह विगत की असफलताओं के दैन्य से भी अछूता रहता है। अतीत के गौरव को याद रखना यदि किसी अंश में लाभकर है तो किसी अंश में हानिकर भी हो सकता है, और हमें उस उपहासास्पद स्थिति पर भी पहुँचा सकता है जहाँ हम कहते फिरें, 'हमारे पुरखों ने घी खाया था, हमारी हथेली सूंघो'। शायद यह कहावत हमें उस हास्यास्पद स्थिति से आगाह करने के लिए ही रची गई है। इसी प्रकार विगत के अपमान को भूलना यदि किसी अंश में हमें हीन भावना से मुक्त रख सकता है तो उसे याद रखना हमें उसका निराकरण करने को प्रेरित भी कर सकता है। शायद निम्न उक्ति उसी ओर संकेत करती है—

'पुत्ते जाएं कवन गुण अवगुण कवन मुयेण,
जा बप्पी की भुंइहड़ी चंप्पज्जिय अवरेण।'

मतलब, ऐसे पुत्र के जन्मने का क्या लाभ और मरने से क्या हानि जिसके

पिता की भूमि पर दूसरे कब्जा किए रहें। यानी सुपुत्र वह है जो पिता की पराजय का निराकरण कर सके। आल्हा इसी को और खुलकर कहता है :—

'बाप के बैरी जे नहिं मार्यो तेकर जनम अकारथ जाय'

यानी जिसने बाप के बैरी को नहीं मारा उसका जन्म व्यर्थ गया।

प्रवृत्ति के पक्ष-विपक्ष में एक लंबी बहस हो सकती है। इसपर फिर कभी फुरसत से सोचिएगा। अभी तो फतेहपुर के बारे में मुझे कुछ और कहना है।

फतेहपुर पहले-पहल मैं श्याम गोपाल शिवली की शादी में आया था। उस समय मैं इण्टर में पढता था। शिवली मेरे समवयस्क मित्रों में थे—उनसे मैंने कर्कल के अभाव की कुछ पूर्ति की थी। उनके विवाह के अवसर पर मैंने अपने एक उर्दू शायर-सहपाठी 'सरोश' मछलीशहरी से एक सेहरा लिखवाया था। शिवली के पिता का भी विवाह फतेहपुर में हुआ था। मेरे परिवार में भी पहली लड़की की शादी फतेहपुर में ही की गई थी। उन दिनों फतेहपुर के कायस्थों का बड़ा ऊँचा दर्जा माना जाता था और उनमें शादी-ब्याह करना गौरव की बात समझी जाती थी—उनमें से कई सरकारी नौकरियों में उच्च पदों पर पहुँचे थे, कुछ सामाजिक संस्थाओं के प्रमुख अधिकारियों में थे—मेजर रंजीत सिंह कई वर्षों तक कायस्थ पाठशाला के प्रेसिडेंट थे। विशेषता इन कायस्थ परिवारों की यह थी कि उन्होंने मुसलमानों की अमलदारी में इस्लाम और हिंदुत्व का बड़ा कूटनीतिक समन्वय कर रखा था—निश्चय ही अपने मुसलमान मालिकों को प्रसन्न रखकर, उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए। उनके लड़कों के नाम होते थे उलफत राय, खुशवक्त राय, हशमत राय; फारसी के विद्वान होते थे, उर्दू के छोटे-मोटे शायर भी, कपड़े मुसलमानी पहनते—अचकन-पाजामे; बड़े-बूढ़े पट्टे-दाढ़ी रखाते। उनके घरों की स्त्रियां भी उर्दू पढ़ती थीं और ऐसे फर्राटे से बोलती थीं कि उनके सामने हमारे घरों की स्त्रियां दबी-दबी-सी रहें। शायरों में इकबाल वर्मा 'सेहर' का नाम मुझे याद है। करीमा का अनुवाद उन्होंने हिंदी में किया था, रुबाइयात उमर खैयाम का भी—सीधे फारसी से—ऐसा शायद हिंदी में अकेला अनुवाद—अब तो अप्राप्य—इंडियन प्रेस प्रकाशन था। कहा जाता था, फतेहपुर श्रीवास्तव कायस्थों का काबा है, जैसे दिल्ली माथुरों का। शादी के मौके पर इकट्ठे कायस्थ-समाज में उर्दू का जो बोलबाला मैंने देखा था उसकी छाप मेरे दिमाग पर आज भी साफ है। बाद को अनुभव हुआ कि ऐसे ही समाज को देखकर भारतेन्दु ने कुछ पश्चात्ताप भरे स्वर में कहा होगा, 'भाषा भई उर्दू जग की···'

सात बरस बाद पायोनियर प्रेस के एजेन्ट के रूप में कोर्ट नोटिसें प्राप्त करने के लिए मैं फतेहपुर की कचहरियों में भटका था और अभ्युदय प्रेस के एजेन्ट के रूप में, स्कूलों में उसके प्रकाशनों को कोर्स में लगवाने के लिए।

बारह बरस बाद अपने मित्र रामगोपाल संड के निमंत्रण पर वहाँ एक कवि सम्मेलन में मैंने भाग लिया था। तब साफ देखा था कि उर्दू के उस गढ़ में हिंदी साधिकार प्रविष्ट हो चुकी है। कुछ मील पर बिंदकी में पं० सोहनलाल द्विवेदी हिंदी के राष्ट्रकवि के नाम से विख्यात हो रहे थे। श्यामा के देहावसान के तुरंत बाद डूबे-डूबे मन से वह फतेहपुर की मेरी अंतिम यात्रा थी—और आज उसके

बीस बरस बाद मैं तेजी और अपने दो पुत्रों के साथ कार में बैठा खुशी-खुशी उसकी सड़कों से गुज़र रहा हूँ। समय तेरी बलिहारी !

उत्तर प्रदेश का यह इलाका बहुत उपजाऊ है। दूर-दूर तक सड़कों के दोनों ओर हरे-भरे खेत दिखाई देते हैं—आजकल चने और मटर की फसल पक रही है, गन्ना उठ रहा है, फूली सरसों के पीले-पीले खेत मीलों लंबे दिखाई देते हैं। शीत ऋतु का यह अंतिम भाग है। वृक्षों से पत्तियाँ झड़ने लगी हैं और पेड़ों की अधनंगी डालें वसंत के अँखुओं की प्रतीक्षा में हैं। फलों में सबसे गरीब फल बेर की ऋतु है—कहीं-कहीं कत्थई, कहीं हरी बेर से लदे पेड़ दिखाई देते हैं। अवधी में एक कहावत प्रसिद्ध है—

'भूखे बेर—अघाने गांड़ा'

यानी भूखे का फल बेर है, तृप्त का गन्ना। शायद बेर की यह लघुता, यह अकिंचनता ही है जिससे उसे ऐसी पौराणिक महिमा मिली जैसी किसी और फल को नहीं मिली—भीलनी के बेर के रूप में नैवेद्य समर्पित होकर जब भगवान राम के सामने आया तो वे उसे अस्वीकार न कर सके। 'भीलनी का बेर' मुहावरा ही हो गया है। और कितनी जगहों पर श्रद्धा से जुड़ी यह हल्की-छोटी बेर कितनी गुरुगरिमामयी हो जाती है !

और लो, कहीं होरहा—हरा चना, हरी मटर की फलियाँ, और कहीं बेर का स्वाद लेते हम कानपुर आ पहुँचे हैं। दोपहर हो गई है।

कानपुर की पहली स्मृति पिता जी के साथ वहां की यात्रा से जुड़ी है। पिता जी की बुआ के लड़के बाबू हरनारायण लाल तब वहाँ 'बर्ड एण्ड कम्पनी' में काम करते थे—दफ्तर और रहने का मकान साथ। हम उन्हीं के यहाँ ठहरे थे। इतनी अंग्रेजी तब सीख ली थी कि 'बर्ड' माने चिड़िया होता है। और कुछ कौतूहल हुआ था कि यह चिड़िया कम्पनी क्या काम करती है। शब्दों से कुछ खिलवाड़ शुरू हो गया था। दो पंक्तियाँ उस समय की जोड़ी, अब तक स्मृति में अटकी हैं :

'चिड़िया और कम्पनी' में चाचा जी करते काम,
बाबू हरनारायण लाल है चाचा जी का नाम।'

चाचा जी का अपने ममिऔरे यानी मेरे पितामह, पिता और मेरे परिवार से बड़ा लगाव था। मेरे पिता जी के जीवनकाल तक वे अक्सर हमारे घर आते रहते थे, उनके बाद भी अपने गाँव अकोढ़िया (रायबरेली) में बैठे वे हमारी गतिविधियों पर नज़र रखते थे—यदा-कदा पत्रों से हमारी खोज-खबर लेते। विशेष उत्सुकता उनकी हमारे प्रति जागी जब सिने कलाकार के रूप में मेरे बेटे अमिताभ बच्चन की ख्याति उनके कानों तक पहुँची। लंबी उमर पाई थी उन्होंने। 93 वर्ष की अवस्था में उन्होंने अमिताभ की एक फिल्म देखी, और 96 वर्ष की अवस्था में एक नौकर को साथ ले वे ट्रेन से रायबरेली से बम्बई पहुँचे, सिर्फ अमिताभ को अपनी आंखों से देखने के लिए। अभी दो वर्ष हुए 102 वर्ष की अवस्था में दिवंगत हुए।

और बड़े हो, और बड़े दर्जों में पहुँचने और स्वतंत्रता आन्दोलन में रुचि

होने से मेरा परिचय 'प्रताप' (साप्ताहिक) से हुआ जो गणेश शंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में कानपुर से निकलता था। किसी समय कानपुर का नाम आने पर सबसे पहले 'प्रताप' और उसके निर्भीक, देशभक्त संपादक का नाम याद आता। नाम की ध्वनि से मैं कल्पना करता था कि गणेश शंकर विद्यार्थी शरीर से भारी-भरकम होंगे; देखा तो उन्हें कितना लघु-रूप, क्षीणकाय पाया, परंतु अंगार की तरह तेजोद्दीप्त ! और एक दिन यह बौना-सा इंसान साम्प्रदायिकता की दावाग्नि को बुझाने में खुद बुझकर इतना महान हो गया कि उसकी शहादत पर महात्मा गांधी को कहना पड़ा कि मुझे गणेश शंकर से ईर्ष्या होती है। ईर्ष्या फली भी तो।

इस हुतात्मा की कर्मभूमि और बलि-भूमि को नमन किये बगैर यहां से गुज़र जाना अशिष्टता होगी। उनसे कहीं कुछ सम्बन्ध जोड़कर गर्व करने का मोह ही होगा कि याद करता हूँ कि वे कायस्थ थे, और इलाहाबाद में जन्मे थे।

काश, गणेश शंकर विद्यार्थी का शरीर जिस जगह गिरा था वहाँ उनसे दुगने-तिगुने कद की एक कांस्य प्रतिमा खड़ी की जाती और हर वर्ष उनके बलिदान दिवस पर हज़ार-हा हिंदू और मुसलमान एकत्र होकर देश में साम्प्रदायिक एकता बनाए रखने की सौगन्ध उठाते।

'मुसलमान और हिंदू हैं दो एक मगर उनका प्याला'

हम बाल-दिवस, नारी-दिवस, अध्यापक-दिवस और न जाने क्या-क्या दिवस मनाते हैं। हम साम्प्रदायिक एकता के लिए गणेश शंकर विद्यार्थी-दिवस क्यों नहीं मनाते ? हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए हमने उनसे पवित्र बलि नहीं चढ़ाई। अपने शहीदों को भूलने की कीमत देश को मंहगी पड़ेगी। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी 'शहीदों का श्राद्ध' करने के लिए जो बारंबार हमारा आवाहन करते हैं उसके पीछे बड़ी गहरी सूझ है, बड़ी दूरनज़री है। देश और जाति के लिए बलिदान होने की बेला जब-जब आएगी, प्रेरणा इन्हीं शहीदों से मिलेगी, चंद्रशेखर आज़ाद से, भगतसिंह से, अशफ़ाकुल्ला से, न कि अनतुले, धनतुले से।

आज तो कानपुर के ऊपर औद्योगिकता हावी हो गई है, पर सदी के चौथे और पाँचवें दशक में कानपुर उद्योग का ही नहीं, राजनीति, और उससे बढ़कर साहित्य का महत्वपूर्ण केन्द्र था।

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' और प्रताप नारायण मिश्र द्वारा संस्थापित नागरिक-साहित्यिक परंपरा को आगे बढ़ाने वाले गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'—'त्रिशूल,' जगदंबा प्रसाद 'हितैषी', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक', प्रताप नारायण श्रीवास्तव, रमाशंकर अवस्थी (वर्तमान संपादक) के नाम सहसा स्मृति में चमक उठते हैं; साथ ही समय के समर्पित हिंदी अध्यापक अयोध्यानाथ शर्मा और सद्गुरुशरण अवस्थी भी नहीं भुलाए जा सकते। कहीं पढ़ा था प्रेमचंद भी कुछ समय के लिए किसी शिक्षा संस्था से संबद्ध होकर कानपुर में थे। समय की अवधि कितनी थी, इसका संकेत मुझे नहीं मिला, लेकिन जितने भी समय वे वहाँ रहे हों, उन्होंने कानपुर औद्योगिक नगर के जन-जीवन और उसकी समस्याओं का सम्यक जायज़ा लिया था। प्रेमचंद के

कतिपय उपन्यासों में कानपुर की पृष्ठभूमि साफ मुझे नज़र आई है। कोई प्रयत्न करे तो 'प्रेमचंद के उपन्यासों में कानपुर' विषय पर एक छोटा-मोटा रोचक निबंध लिख सकता है।

खड़ी बोली को हिंदी कविता का सक्षम माध्यम बनकर उभरने के लिए जो संघर्ष करना पड़ा उसमें कानपुर ने बड़ी अहम भूमिका निभाई थी। कवियों के सामने बड़ी जटिल समस्या थी कि खड़ी बोली को किन छन्दों में बाँधा जाए—खड़ी बोली उस समय बिलकुल जंगली घोड़ी के समान थी जो किसी भी प्रचलित छंद-बंध के समीप आते ही बिदकती थी। हरिऔध—शायद अपने प्रयत्न में एकाकी—आज़मगढ़ में बैठे उसे शार्दूलविक्रीड़ित, मंदाक्रांता और उपेन्द्रवज्रा आदि जैसे गणबद्ध मात्रिक छंदों में जकड़ने की कोशिश कर रहे थे—'प्रियप्रवास' याद करें; और 'सनेही' उसे रीतिकालीन वर्णवृत्तिक कवित्त, सवैया, घनाक्षरी में। 'सनेही' जी ने अधिक संगठित रीति से काम किया। उन्होंने 'सुकवि' नाम की पत्रिका निकाली और ऐसे सैकड़ों कवि तैयार किए जो हर मास इन छन्दों में खड़ी बोली में समस्यापूर्तियाँ करते। 'हरिऔध' का प्रयोग केवल बौद्धिक व्यायाम था। पर 'सनेही' स्कूल के प्रयोगों ने नई-नई कड़ी खड़ी बोली को रीतिकाल के बहु प्रयुक्त छंदों में बाँध-बाँधकर बहुत लचीली बनाया। एक तीसरा प्रयोग द्विवेदी स्कूल के कवि कर रहे थे जिनमें प्रमुख थे मैथिलीशरण गुप्त, जो गणमुक्त मात्रिक छन्दों में खड़ी बोली को छाँदने का प्रयास कर रहे थे। इन्हीं दो भाषा-छंद प्रयोगों से लाभान्वित हो छायावादी कवियों ने—पंत और निराला ने गुप्त और 'सनेही' के प्रति अपने को ऋणी माना है—अपने भावों को तदनुरूप नवीन मात्रिक छंदों में ढाला, छंदों में मिलावट की, और कहीं-कहीं इतनी स्वतंत्रता ली कि उनके प्रयोगों को व्यंग्य से 'रबड़ छंद' कहा गया, जिसे आज के मुक्त छंद का पूर्वज या अग्रज माना जा सकता है। शास्त्रीय संगीत के रागों में भी खड़ी बोली के कुछ गीतों को बाँधने का प्रयोग किया गया।

कानपुर ने बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवतीचरण वर्मा के रूप में हमें दो फक्कड़ी अंदाज़ के कवि भी दिए।

आप एक वाक्य में 'फक्कड़' की परिभाषा जानना चाहेंगे? फक्कड़ वह है जो अपने को, यानी अपने स्वभाव को, दुनिया के आम आदमियों के स्वभाव से अलग पाता है, और उस अलगाव को जीने की हिम्मत रखता है, जुर्रत करता है। और फक्कड़ी अंदाज का कवि वह है जो अपने फक्कड़ीपन को अभिव्यक्त करना भी जानता है। ज़ाहिर है कि ऐसा आदमी इस पुरानी दुनिया में अपने को नया और अजनबी पाता है—'नहीं जगह कहीं जहाँ न अजनबी गिना गया'—कुछ इस नएपन की चेतना ने ही बालकृष्ण शर्मा को 'नवीन' उपनाम रखने को प्रेरित किया होगा। ताज्जुब है कि भगवतीचरण वर्मा ने अपना कोई उपनाम नहीं चुना। दुनिया से अपने को अलग-थलग पाने की अनुभूति उन्हें कम नहीं थी—'चहल-पहल की इस नगरी में हम तो निपट विराने हैं'। शायद यह भी एक फक्कड़ी अदा है कि हम किसी नाम से अपने को अभिहित नहीं करते, 'हम तो रमते राम सदा से, दोस्त, हमारा नाम न पूछो'। हमारा नाम क्या, हमारी हस्ती क्या—'हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले।' 'नवीन' जी कहते हैं :

'हम अनिकेतन, हम अनिकेतन !
'हम तो रमते राम हमारा क्या घर ? क्या दर ? कैसा वेतन ?'

व्यावहारिक संसार ऐसे लोगों को विक्षिप्त या सिरफिरा समझता है, कहता भी है, पर ये उसके पहले ही अपने को 'पागल', 'मतवाला', 'मदमाता', 'दीवाना', 'मस्ताना', 'अलमस्त', 'मस्तमौला', 'मस्त फकीर' ('सखी री हम हैं मस्त फकीर'—'नवीन'। 'हम फकीर युग-युग के हमको बंधन से क्या यहाँ काम'—वर्मा) आदि घोषित कर देते हैं। और 'नवीन' तो अपनी मतवाली नज़रों से दुनिया को ही नहीं देखते, दुनिया की तथाकथित समझदार आँखों से अपने को भी देखते हैं और अपने को 'सिड़ी', 'बेढब', 'बीहड़', 'बौड़म', 'अजब्र खोपड़ी का', 'घोंघा,', 'पोंगा', 'चोंगा', 'चूतिया'—'रहे न काहू काम के तुम चूतिया नवीन'—कहने में नहीं झिझकते। और यह हम पर छोड़ देते हैं कि जो दुनिया उनकी-जैसी शाही तबीयतवालों को ऐसा समझती है उसको हम क्या समझें। वास्तव में वे फक्कड़ विप्लवी हैं, विद्रोही हैं, क्रांतिकारी हैं, और उन सारे संयम, नियम. उप-नियमों, रीति-रिवाजों, रस्मों, विश्वासों, परंपराओं, मान्यताओं को तोड़-फोड़ डालना चाहते हैं जो अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुकी हैं, जड़-जर्जर हो चुकी हैं, सड़-गल चुकी हैं मगर फिर भी हमसे चिपकी हमारे स्वस्थ विकास को अवरुद्ध कर रही हैं। वे जानते हैं कि इन बंधनों को काटने पर दुनिया उनको क्या कहेगी, उनके साथ कैसा बरताव करेगी, उनको क्या-क्या मुसीबतें उठानी पड़ेंगी, पर वे दुनिया की परवाह नहीं करते, वे अपने ध्येय से विचलित नहीं होते और अपनी धुन में, अपनी लगन से आगे बढ़ते चले जाते हैं। वे अपने अस्तित्व को, अपने अलबेले, अनूठे और अनोखे स्वभाव को चरितार्थ करते हैं और उसकी कीमत चुकाते हैं।

और यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि इन फक्कड़ों की मस्ती का अर्थ क्या है ? एक बात तो सबसे पहले स्पष्ट हो जानी चाहिए कि उनकी 'मस्ती' का अर्थ नशेबाज़ी नहीं है —मयनोशी की मदहोशी, बदहोशी, बदहवासी नहीं है—वे आगाह करते हैं :

'ऐसी मस्ती नहीं कि जिससे मदहोशी-सी आ जाए,
वह मस्ती भी नहीं कि हिय में अलस शिथिलता छा जाए,

ऐसी नहीं कि जिससे हो यह जीवन 'मद्यप-रूप निरा' वगैरह-वगैरह। वे पूछते हैं—

'विस्मरण दे जागरण के साथ मधुबाला कहाँ है ?
जो डुबा तो ले मगर दे पार कर हाला कहाँ है ?'

उनकी मस्ती का अर्थ हैं जागृति, जागरूकता, जीवंतता, निर्भीकता, साहसिकता, खतरा उठाने का जिगरा, कुछ कर गुज़रने की ललक, और परिणाम के प्रति नितांत बेफिक्री; 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन' की ही जैसी मनोवृत्ति वे 'पाग बैंजनी जामा नीला' पहनकर मधुशाला में बैठते हैं और सिर पर कफन बांधकर बलिवेदी पर भी चढ़ जाते हैं। 'नवीन' जैसे प्रेमोन्माद में अपनी

प्रेयसी के कोमल अंगों को सहलाते हैं, वैसी ही मुस्तैदी से कैदी के रूप में जेल में बान-कूटते हैं, कोल्हू चलते हैं। वर्मा जी साकी से मनुहार करते हैं, 'बस मत कह देना अरे पिलानेवाले' और अपने स्वाभिमान की टेक पर राजाओं, पूंजीपतियों और राजनेताओं को ठेंग दिखा आते हैं—'अमृत भी मुझको अस्वीकार अगर कुंठित हो मेरा मान।'

ये फक्कड़ अक्सर अपने को तृषार्त-प्यासे के रूप में देखते हैं, पर अपनी प्यास बुझाने को हाला की ही ओर नहीं लपकते। 'नवीन' पुकार-पुकार कर कहते हैं :

'पीनेवालों की भाषा में
अमिय-गरल का भेद नहीं;'

'सुधा-हलाहल एक रूप है
कौल यही मस्तानों का!'

भगवती बाबू की स्वीकारोक्ति है—

लगातार मैं पीता जाता···
मैं क्या जानूं क्या है अमृत ?
क्या मधु है ? क्या यहाँ हलाहल ?
खारा पानी है सागर का
मीठा-मीठा या गंगाजल।

वास्तव में यह तृषा जिजीविषा है—भरपूर जीने की इच्छा, हर रूप, हर रंग में जीने की इच्छा—'शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक'—जो न अमृत से अघाती है, न विष से घबराती है। और इसे मैं रेखांकित करना चाहूंगा कि यह खड़ी बोली हिंदी कविता की अपनी विशिष्ट मुद्रा है, अपने काल, देश, परिवेश से संपृक्त, संवद्ध, प्रतिबद्ध।

जब सागरो-मीना और साकी के प्रतीक हाला, प्याला, मधुबाला के रूप में हिंदी में आए तो आलोचको ने एक स्वर से अललाना शुरू कर दिया कि यह उर्दू या फारसी की काव्य-परंपरा की नकल है—उसकी जूठन है, अभारतीय है, अपावन है आदि-आदि। इसे तो हम मानेंगे कि ये प्रतीक फारसी-उर्दू से आए हैं, पर हिंदी ने उन्हें और किन संदर्भों से जोड़ा है, जोड़कर किस तरह खास अपना बनाया है इसे शायद ही किसी ने देखा हो। प्रसंगतः एक छोटी-सी बात की ओर यहाँ संकेत करना चाहूँगा—उर्दू-फारसी शायरी में शराब के प्याले पर प्याले नहीं, घड़ों के घड़े मिलेंगे, शायद चश्मे जिनमें आप डुबकियाँ लगा सकें, पर अमृत और विष की प्याली के लिए आपको चिराग लेकर ढूँढ़ना पड़ेगा। शराब के एक प्याले के पास विष की एक प्याली रख दीजिए, उसका रंग बदल जाएगा। आप इस बदलाव से बेखबर हैं तो आपने अभी हिंदी मधु-काव्य को नहीं समझा।

अपनी तरुणाई के प्रथम उभार पर जब मुझे अपने फक्कड़ी स्वभाव का आभास हुआ और कुछ मीठे-तीखे अनुभवों से गुज़र जब मन में कुछ 'धुआं-सा' छाया, और भीतर कुछ 'खुट-खुट' हुई—मुहावरा 'नवीन' का है—कि कुछ लिखूँ तो मैंने अपने इन फक्कड़ अग्रजों से काफी साहस बटोरा, पर्याप्त बल संचित किया। बाद को एक बड़े समालोचक ने इन दो फक्कड़ों के साथ मुझे भी जोड़ दिया। हमारे मिज़ाज, हमारे तेवर, हमारे प्रतीक-प्रयोग में एक सतही

समानता होते हुए भी हम एक-दूसरे से किन्हीं अर्थों में भिन्न भी हैं, पर उसका विश्लेषण तो कोई दूसरा करे।

आगे चलकर अपने यत्किंचित स्वाध्याय-चिंतन से मैंने जाना कि इस देश में तो कवियों की फक्कड़ी प्रवृत्ति की एक लंबी परंपरा है।

किसी राजा के राज में कोई बड़ा कवि रहता होगा। राजा को बड़ा गुमान होगा कि उसके राज में उसकी जैसी पूजा-प्रतिष्ठा होती है वैसी किसी दूसरे की नहीं। बड़े कवि ने एक दिन मन में कहा होगा, 'ओ राजे, तेरे गुमान की सीमा कितनी है, अभी बताए देता हूँ'। और वह उठकर किसी दूसरे राज्य में चला गया होगा, जहाँ आदर-सत्कार पाकर उसने राजा को लिखा होगा—'स्वदेशे पूज्यते राजा कवि सर्वत्र पूज्यते'। पढ़कर राजा का मान-मद उतर गया होगा।

मेरा अनुमान है कि इस देश में राजाओं और कवियों में सदा से होड़ा-होड़ी रही है। राजा अपने को बड़ा समझता होगा कि उसके पास भूमि है, माल-खजाना है, फौज-फाटा है और वह सारी प्रजा का अधिपति है। कवि कहता होगा यह सब तो सीमित धन-ऐश्वर्य है—'अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः' या 'सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्' यानी सुकविता पर यदि मेरा अधिकार है तो राज्य मेरे लिए क्या है, कुछ नहीं, कौड़ी बराबर नहीं। तभी तो ऐसी अकड़ के कवियों की आज भी प्रतिध्वनियाँ आती हैं—

मुझको न सके ले धन-कुबेर
दिखलाकर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल-खजाना राज-पाट !

यह ज़रूर है कि ऐसे फक्कड़ बिरले ही होंगे। 'सिंहों के नहिं लेंहड़े'।

संस्कृत का ज्ञान मेरा सीमित है। मुझे नहीं मालूम कि संस्कृत के किन कवियों में यह फक्कड़ी प्रवृति पाई जाती है। हाँ, एक नाम मुझे मालूम है, पंडितराज जगन्नाथ का, जिनपर मैंने एक कविता लिखी थी, 'आरती और अंगारे' में है। कहिए तो अंतिम पद सुना दूँ ?

'ठीक, उन्होंने एक सुनयनी यवनी को अपनाया था,
धर्म, समाज, प्रथा का सारा बंधन काट हटाया था,
प्यार किया करते हैं पौरुष वाले, कीमत देते हैं।
जिस कारण काशी के पंडों ने उनको ठुकराया था,
ठीक उसी कारण मैं उनको बीच सभा अपनाता हूँ।
पंडितराजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

फक्कड़, फक्कड़ का गुन नहीं बखानेगा तो कौन बखानेगा ?

भाषा के कवियों की ओर आएँ तो सबसे पहले कबीर की तरफ नज़र जाती है—फक्कड़ों के दादा-गुरु या फक्कड़ों के बादशाह। कबीर फक्कड़ भी हैं और अक्खड़ भी। दोनों का अंतर समझ लेना चाहिए। फक्कड़ वह है जो अपनी-सी करने में किसी की परवाह न करे और अक्खड़ वह, जो अपनी-सी कहने

में किसी का लिहाज़ न रखे। मध्य युग में जिसमें कबीर का आविर्भाव हुआ, मनुष्य जाति, सम्प्रदाय, धर्म, समाज, शासन—सबके द्वारा लगाए बंधनों से पोर-पोर जकड़ा था और कबीर ने एक-एक को कसकर झिझोड़ा—तोड़ा गो नहीं—वर्ना आज भी हम कैसे उनसे कसे-बँधे होते, पर उनके झिझोड़ने का परिणाम यह हुआ कि तब से जो उन्हें तोड़ना चाहते हैं, वे अपना काम आसान पाते हैं। उनकी करनी और कथनी इतनी उजागर और जग-जाहिर है कि उदाहरण-उद्धरण देना हिमाकत ही कही जाएगी। चार-पांच सौ बरस पहले कबीर ने हमारी कितनी-कितनी अर्थहीन प्रथाओं, तर्कहीन मान्यताओं, मिथ्यांध विश्वासों, विसंगतियों, विडम्बनाओं पर कितनी निर्ममता, निर्भीकता से, कितने घरेलू, खुले और बेपर्द मुहावरों से प्रहार किया कि उनको लिखना या कहना तथा-कथित सभ्य समाज में अश्लीलता और अशालीनता समझी जायगी।

जो तैं तुरुक-तुरकिनी जाया।
पेटहि काहे न सुनत कराया ?
जो तैं बाम्हन बाम्हनी जाया
आन बाट काहे नहिं आया ?

मन ना रँगाए रँगाए जोगी कपड़ा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढौले,
काम ज़राय जोगी होय गैलें हिजड़ा।

और

कहैं कबीर जमाना खोटा
धौवें ··· मटिआवैं लोटा।

मूत के तुम भी मूत के हम भी।

कबीर की ऐसी कुछ उक्तियाँ अब केवल ज़बानों पर रह गई हैं, शायद उन्हें लिखित रूप में रखने की हिम्मत लोग नहीं कर सके; क्या यह संभव नहीं कि उनकी बहुत कुछ 'भनिति भदेस' को संभ्रांत (भ्रांत ही) ममेसिया और यथास्थितिवादी समाज ने जानबूझकर भुला दिया हो।

और तुलसीदास जी महाराज का जो रूप मेरी कल्पना में है, उनके यत्किंचित जीवनवृत्त को जानकर या उनके साहित्य को पढ़कर, उससे लगता है कि वे अव्वल नंबर के फक्कड़ी रहे होंगे, कम से कम अपनी जवानी में।

विवाह हो गया था, पर पत्नी उनकी अनुपस्थिति में, बिना उनकी अनुमति के मायके भाग गई थी।

बरसात के दिन हैं। आधी रात को तुलसीदास को पत्नी की याद सताती है—पत्नी अनिंद्य सुंदरी, अनन्य यौवना, 'रत्नावली' नाम के अनुरूप ही आकर्षक।

'मेघालोक भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।'

'भगवान किसी को वर्षा में मत बिलगाए।'

चारपाई से उठकर चल पड़ते हैं ससुराल की तरफ़। ससुराल नदी पार है, नदी बाढ़ पर है, घाट पर न नाव, न बेड़ा, कैसे पार करें। एक मुर्दा बहता चला आ रहा है, उसी के सहारे तैरते पहुँच जाते हैं उस पार। भीगते-भागते आ जाते हैं ससुर के घर के सामने। अँधेरा है, पर, कई बार आए-गए हैं, घर का जुग़राफ़िया जानते हैं। शायद पत्नी अक्सर मायके भाग जाती होगी और वे उसे लिवा ले जाने के लिए आते होंगे। जानते हैं कोठे पर पत्नी किस कमरे में सोती होगी। बारजे से एक लंबा साँप लटक रहा है, उसी को पकड़कर ऊपर चढ़ जाते हैं और पहुँच जाते हैं रत्नावली के कमरे में। अगर आप समझते हैं कि ऐसी दुःसाहसी यात्रा बिना फकड़मस्ती के की जा सकती है तो आप बहुत भोले हैं।

कहा तो यह जाता है कि ऐसे मोहासक्त तुलसीदास को देखकर रत्नावली ने कहा कि जैसी प्रीति आपको मेरे हाड़-मांस के शरीर से है वैसी प्रीति यदि आप रघुनाथ जी से करते तो आपका जन्म-जन्मांतर सुधर जाता, और उसके इन शब्दों से तुलसीदास की मोहनिद्रा टूट गई और उन्हें वैराग्य हो गया।

क्षमा करेंगे, इस विषय में मेरी अलग ही कल्पना है। अधिक संभावना इसकी है कि उस रात तुलसीदास ने रत्नावली को किसी और के साथ देखा। उस रात उनकी मोहनिद्रा नहीं टूटी। नारी के प्रति उनका मोह भंग हुआ— 'Frailty thy name is woman' (नारी तेरा नाम छिनरपन)। फलस्वरूप एक ओर तो उन्होंने सीता के रूप में आदर्श नारी की कल्पना की और दूसरी ओर, जहाँ भी मौका मिला नारी की निंदा करते रहे, प्रायः उसकी कामुकता की ओर संकेत करते हुए। निम्न पंक्तियां लिखते हुए तो शायद उपर्युक्त अघट घटना ही उनकी स्मृति में होगी—

> भ्राता पिता पुत्र उरगारी।
> पुरुष मनोहर निरखत नारी।।
> होइ विकल सक मनहिं न रोकी।
> जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी।।

तुलसीदास की पत्नी का नाम तो आपको याद है न ? 'मनि' से कवि शिरोमणि कोई विशिष्ठ अर्थ संकेत तो नहीं कर रहे हैं ? कृपया 'हिंदी शब्द सागर' में 'मणि' के और अर्थ भी देख लें। और महाकवि की शब्द-शक्ति के यदि आप क़ायल हैं तो एक बार फिर उन्हें नमन करें।

मेरी ऐसी धारणा है कि तुलसीदास की फक्कड़ी प्रवृत्ति को मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र की निर्भरा भक्ति ने काफ़ी साधा होगा; और कहीं-कहीं तो इस निर्भरता के बल पर ही वे फक्कड़ी अंदाज़ में बोलते हैं—

> हम चाकर रघुनाथ के, पटौ लिखौ दरबार,
> अब तुलसी का होंहिंगे नर के मनसबदार।
> **या**
> बनै तो रघुपति से बनै, कै बिगड़ै भरपूर,
> तुलसी बनै तो आन ते ता बनिबे पे धूर।

और उनकी करनी, कथनी पर दुनिया क्या कहती है, उसकी ओर उनकी

लापरवाही की घोषणा करनेवाली इससे सुस्पष्ट और सशक्त पंक्तियाँ कहाँ मिलेंगी ?—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ,
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ,
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सौ कहौ कुछ कोऊ,
मांगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लेवे को एक न देबे को दोऊ।

पंडे-पुजारी मंदिर में तुलसीदास को नहीं सोने देते होंगे तो जाकर मस्जिद में सो रहे—यह है फक्कड़ीपन।

सूरदास नेत्रविहीन होने के कारण पग-पग पर-निर्भर व्यक्तिगत जीवन में फक्कड़ी अंदाज तो नहीं अपना सकते थे, पर अपने कृष्ण और गोपियों की फक्कड़ी लीलाओं और अक्खड़ी उलाहनों का वर्णन उन्होंने मज़ा ले-लेकर किया है। कृष्ण की लीलाओं से आप अपरिचित न होंगे। आइए गोपियों से मिलें—

आए जोग सिखावन पांड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यों बनजारे टांड़े।
हमरे गति-मति कमल नयन की, जोग सिखें ते रांड़े।

ऊधो बेहया ही होंगे जो ऐसी मुंहफट व्यंग्योक्ति सुनकर भी जोग सिखाने की आशा संजोए होंगे; और उनको और उनके कृष्ण को गोपियां क्या समझती हैं, यह सुनकर तो उनके देवता ही कूच कर गए होंगे।

घर-घर माखन चोरत डोलत, तिनके सखा तुम ऊधौ।
सूर परेखो काकौ कीजे बाप कियो जिन दूजौ।।

और शाक्तों के राजघराने में वैष्णवी भक्ति अपना कर मीरा उद्घोष करती हैं—

अब तो बात फैल गई जानै सब कोई,
मीरा प्रभु लगन लगी होनी हो सो होई।

'होनी हो सो होई' यानी परिणाम की कोई परवाह उनको नहीं है, और उनको डर भी नहीं है राजा का—

'सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हाराँ काईं कर लेसी।'

रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी, राजा रूठेंगे अपना राज लेंगे, मेरा क्या कर लेंगे। यह मीरा की फक्कड़ी मुद्रा नहीं है तो क्या है, जिसमें एक तरह से गोपियों की ही मुद्रा प्रतिबिंबित है—

'होनो होउ होउ सो अबहीं यहि ब्रज अन्न न खाऊं,
सूरदास नंदनंदन सों रति लोगन कहा डराऊं।'

और याद आती हैं भारतेन्दु की ये पंक्तियाँ—

सूधेन सों सूधे महा बांके हम बांकेन सों
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के।

'नगद' का निहितार्थ तो समझते होंगे ? भारतेन्दु हरिश्चंद में फक्कड़ी प्रवृत्ति कम थी ?

भक्ति काव्य के बाद आधुनिक युग में जो यह फक्कड़ी प्रवृत्ति कवियों में सहसा उभरी है उसके कारणों पर हिंदी के समालोचक विचार करें, मैं तो कानपुर से गुज़रते उसके दो फक्कड़ी कवियों की चर्चा में कहाँ से कहाँ बहक गया था।

शहर मे बाहर एक घने पेड़ के नीचे गाड़ी खड़ी कर हमने लंच किया। तेजी कुछ थक गई थीं। अर्दली साहब ने आराम ही नहीं किया था, एक लंबी नींद भी खींच ली थी। बच्चे ज़रूर जागते रहे, रास्ते भर उनको देखने-दिखलाने को बहुत सी अजीबोग़रीब चीजें मिलती गईं। बताया गया था कि अर्दली साहब अच्छे ड्राइवर हैं। तय हुआ अब तेजी पीछे बैठकर आराम करें और अर्दली साहब ड्राइवर की जगह लें। गाड़ी चलाना मैं भी जानता था, मेरे पास लाइसस भी था, लेकिन जब से मैंने एक बार कार-एक्सीडेंट कर लिया था, शायद अपनी ही ग़लती से, तब से तेजी जहां तक हो सके मुझे गाड़ी नहीं चलाने देती थीं; फिर भी मैं रिज़र्व में था, कि अगर दोनों किसी वजह से गाड़ी न चला सकें तो मैं चलाऊं। रास्ते भर ऐसी नौबत न आई।

रास्ता यह खूब चलता है। हथठेलों से लेकर बड़े-बड़े ट्रकों तक सभी तरह की गाड़ियों से आपका सामना होता है, सामान ढोनेवाले ट्रकों से सबसे अधिक। ट्रकों में एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ भी खूब होती है और अगर कोई ट्रक आपके आगे हो गया तो आपको धूल से नहलाता चलता है। बचने के लिए इसके अलावा कोई चारा नहीं कि आप अपनी कार आगे निकाल ले जाएं, गो ट्रकवाले जल्दी रास्ता देते नहीं। हमारी कार में चूंकि एक वर्दीधारी पुलिसमैन था, इससे हमारा कुछ रोब पड़ता था और हमें जल्दी आगे निकल जाने को राह मिल जाती थी।

एक विचित्र अनुभव हुआ। फ़ायर ब्रिगेड का अग्निशामक बड़ा ट्रक चलाने का अभ्यासी छोटी गाड़ी को वांछित दक्षता से नहीं चला सकता। रहीम ने ठीक ही कहा था :

रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजिये डार,
जहां काम आवै सुई कहा करै तरवार।

एक-दो बार उसने कुछ ऐसी जल्दबाज़ी, ऐसी गलती की कि दुर्घटना होते-होते बची। एटा से तेजी ने फिर ड्राइवर की सीट संभाली—मुझसे धीमे से बोलीं, मेरा पूरा परिवार इसमें बैठा है, मैं किसी प्रकार का खतरा नहीं उठा संकती। और एटा से जो गाड़ी उन्होंने अपने चार्ज में ली तो बिना कहीं रुके दिल्ली तक चलाती ही चली गईं। अर्दली साहब भी आश्चर्यचकित रह गए, बोले, बड़ी हिम्मत है मेम साहब में !

हम उम्मीद कर रहे थे कि हमारा ट्रक हमसे पहले घर पहुँच चुका होगा, हमसे 12 घंटे पहले चला था। महराजिन को आदेश था कि किचन का सामान, जो सबसे बाद में लादा गया था, सबसे पहले उतरवाकर खाना बनाना शुरू कर दे। हम सोच रहे थे कि हम घर पहुँचेंगे और महराजिन के हाथ का बना गरमा-गरम खाना खायेंगे—नए घर में पहली बार !

हम करीब नौ बजे रात को मोती बाग पहुँचे। क्या देखते हैं कि घर अँधेरा पड़ा है। ट्रक वहाँ पहुँचा ही नहीं था ! ट्रक कहां रह गया ? तरह-तरह की आशकाएँ मन में उठने लगीं। रास्ता आने का एक ही—रास्ते में तो हमें मिला नहीं—हमसे पहले निश्चय दिल्ली पहुँचा होगा, यहाँ क्यों नहीं पहुँचा ? अब क्या किया जाय ? दिल्ली में ट्रक ट्रेवेल एजेंसी का पता-फ़ोन हमारे पास था, पर अपरिचित बस्ती में इतनी रात फ़ोन करने के लिए किसका दरवाज़ा खटकाएँ। और न अब ताब कि भर दिन कार से चलकर थके-मांदे दो बच्चों को साथ लिये, शहर की अनजानी सड़कों पर ट्रेवेल एजेंसी के दफ़्तर का पता लगाते फिरें। तेजी ने अपनी दूरदर्शिता से नेताजी सुभाष मार्ग पर हलवाई की एक दूकान से कुछ पूड़ी-सब्ज़ी ख़रीदकर कार में रख ली थी। तय हुआ जो कुछ अपने पास है उसी को खा-पीकर एक कमरे में ज़मीन पर सोया जाय। गाड़ी में पांवों पर डालने के लिए हमने दो कम्बल साथ रख लिए थे। उस वक्त बड़े काम आए। एक कम्बल बिछा लिया गया और एक ओढ़कर हम चारों जो कपड़े पहने थे उन्हीं में लेट रहे। अर्दली गाड़ी में पिछली सीट पर लेट रहा। जाड़े की वह हड़कंपी रात हमें कभी न भूलेगी।

सवेरे सब लोग मेरे साथ ही विदेश मंत्रालय के दफ़्तर आए। वहीं से मैंने ट्रेवेल एजेंसी से फ़ोन संपर्क किया। मालूम हुआ कल रात हमारे पहुँचने के कुछ ही देर पहले ट्रक मोती बाग पहुँचा था, पर नए-नए बने फ़्लैट का ठीक पता न लगने पर स्टैंड चला गया। मैंने एजेंसी वालों से कहा, अब आप ट्रक वहीं रोके रहें, हमारी गाड़ी पहुंच रही है, वह ट्रक को साथ लाएगी। मैं तो मंत्रालय में ही रुक गया। तेजी बच्चों और अर्दली को लेकर ट्रक स्टैंड चली गईं।

मैंने मकान के लिए दो जगहों पर अर्ज़ी लगा दी थी—एस्टेट आफ़िस और पार्लियामेंटरी हाउसिंग कमेटी में, पर इस आशंका के साथ कि शायद दोनों जगहों से निराशा ही न मेरे हाथ लगे। और कभी-कभार अगर इस संभावना पर ध्यान जाता था कि कहीं दोनों संस्थान ही न मुझे मकान एलाट कर दें तो कोई भीतर से कहता था, 'बच्चू, तुम ऐसे किस्मत के सांड़ कहां !'

पर इस बार तो मैं किस्मत का सांड ही साबित हुआ। अपने कमरे में जाकर कुर्सी पर बैठा तो देखता हूं कि मेरी टेबिल पर पार्लियामेंटरी हाउसिंग कमेटी से आया एक लिफ़ाफ़ा मेरे लिए रखा है। मुझे साउथ एवेन्यू में 77 नम्बर का फ़्लैट एलाट कर दिया गया था। कहते हैं कि जब भगवान देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। दिन भर मैं सोचता रहा कि मोती बाग वाला फ़्लैट लूं कि साउथ एवेन्यू वाला, और किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका था। कहाँ तो एक मकान के लिए तरस रहा था और कहाँ अब दो-दो सामने हैं कि जो चाहूं लूं।

शाम को, जैसा कि हमने आपस में तै कर रखा था, साढ़े 5 बजे तेजी मुझे लेने के लिए विदेश मंत्रालय आईं। मैं ठीक वक़्त पर नीचे उतरकर उनका

इंतज़ार कर रहा था। वे पहुँची तो मैंने कहा, 'तुम्हारे लिए एक खुशखबरी है।'

'मतलब ?'

'मेरे लिए एक और मकान एलाट हो गया है, कि एक में तुम रहो, एक में मैं रहूं !'

'मज़ाक मत करो; कहाँ ?'

'चलें। पास के एनक्वायरी आफ़िस से चाभी लें और देखते चलें; फिर दोनों में जो पसंद हो वह लें।'

जगहियत के हिसाब से दोनों मकानों में विशेष अंतर न था। साउथ एवेन्यू वाले फ़्लैट में लगे हुए बाथरूम के साथ दो बेडरूम थे, एक बड़ा डाइनिंग-कम-ड्राइंग रूम, कुशादा किचन-पैंट्री, आगे-पीछे बरामदे और एक छोटा-सा आंगन भी जिसका दरवाज़ा पीछे की बाईलेन में खुलता था; पार गेराजों की लाइन, जिनमें से एक कोशिश करने पर हमें मिल सकता था। सामने अच्छा-खासा लान, पर लबे सड़क; प्राइवेसी उसमें नहीं हो सकती थी। फिर मकान पूरी तरह फ़र-निश्ड था। बेडरूम में खाटें, आलमारियाँ, ड्राइंग रूम में सोफे, कुर्सियाँ, डाइनिंग टेबिल आदि—अपनी रस-रुचि के तो नहीं पर आरामदेह-कामचलाऊ; मोती बाग के फ्लैट को फ़रनिश करने में काफी झंझट उठानी पड़ती। स्थिति के लिहाज़ से भी इस फ़्लैट को मोती बाग के फ्लैट पर तरजीह दी जा सकती थी। मेरा दफ़्तर 77, साउथ एवेन्यू से सिर्फ दो फ़र्लांग पर था जबकि मोती बाग चार मील पर, और दो ही फ़र्लांग पर दूसरी ओर था तीन मूर्ति हाउस—प्रधान मंत्री निवास—जिसके निकट रहने का आकर्षण तेजी के लिए और मेरे लिए भी कम न था। हमने वहीं खड़े-खड़े निश्चय किया कि हम 77, साउथ एवेन्यू के फ़्लैट में आकर रहेंगे। अमित-अजित ने भी साउथ एवेन्यू का फ़्लैट पसंद किया, गो उनको रहना भी कितने दिन था। आठ-दस दिन में दोनों शेरवुड नैनीताल चले जाने-वाले थे।

बस एक रात और हम मोती बाग के फ़्लैट में रहे। सामान जैसा ट्रक से उतारकर रखा गया था, वैसा ही रखा रहा। महराजिन ने मामूली खाना बनाने भर का सामान खोला। खाना खाकर फिर हम ज़मीन पर ही सो रहे—सिर्फ महराजिन अपनी चारपाई पर सोई जो वह इलाहाबाद से ट्रक में चढ़ाकर लाई थी।

तेजी ने दूसरे दिन मुझे तो दफ़्तर में छोड़ा, और खुद ट्रक का इंतज़ाम कर मोती बाग़ से सारा सामान साउथ एवेन्यू लिवा लाईं। महराजिन, मेवा, अर्दली और दोनों बेटों की सहायता से उन्होंने दिन भर में सारा सामान खुलवाया और घर में सब कुछ यथास्थान लगा दिया। किताबों की कुछ पेटियाँ ज़रूर बरामदे में पड़ी रहीं क्योंकि उनके लिए काफ़ी आलमारियाँ नहीं थीं। शाम को लौटा तो घर घर जैसा लगा।

अब शुरू हुआ हमारे यहाँ 'बाल-सप्ताह'। सात-आठ दिन बाद दोनों बच्चे 9 महीने के लिए शेरवुड—नैनीताल जानेवाले थे। तो बच्चों का खास ख्याल रखा जाने लगा, उनकी ख़ास ख़ातिरदारी की जाने लगी। हर माँग उनकी पूरी की जाती, हर ज़िद उनकी रखी जाती और उनका जो भी नटखटपन, उनकी जो भी ग़लती हो सब नज़रअंदाज़ कर दी जाती। घुमाने-फिराने के लिए उन्हें

बाहर ले जाया जाता, सिनेमा या और कोई शो—जैसे मैजिक शो या कठपुतली शो—दिखाये जाते जो आए दिन दिल्ली में होते रहते हैं। खास ख्वाहिश होती बच्चों की बंगाली मार्केट की चाट खाने की जो बड़ी खुशी से पूरी की जाती क्योंकि तेजी की ज़बान भी चाट के लिए काफ़ी चटोरी है। घर पर भी खाने-पीने की उनकी पसंद की चीज़ें बनवाई जातीं। मुझे याद आता, जब मैं ट्रेनिंग करने के लिए बनारस जानेवाला था तब मेरी माँ भी हर दिन मुझे तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजन बनाकर खिलाती थीं। माएँ हर देश, हर युग में एक ही तरह की होती हैं। जब राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम जानेवाले होंगे तो दशरथ जी के यहाँ भी 'बाल-सप्ताह' मनाया गया होगा और कौसल्या और सुमित्रा ने दिनों तक भांति-भांति के पकवान बनवाकर अपने बेटों को खिलाये होंगे, और उसी तरह द्वापर में जब कृष्ण-बलराम अक्रूर के साथ मथुरा जानेवाले होंगे तो यशोदा और रोहिणी ने उन्हें कितने प्रकार के व्यंजन बना-बनाकर न खिलाये होंगे।

व्यास और वाल्मीकि ने, जहाँ तक मेरा ध्यान गया है, भोजन की अधिक विधियों की चर्चा नहीं की है। तुलसी ने भी व्यंजनों के प्रकार का वर्णन नहीं किया। प्रसंग आने पर इतना कहकर संतोष कर लेते हैं, 'विंजन विविध नाम को जाना।' या 'विविध भांति भोजन करवावा'। मंगन कुल जाये तुलसी की जिह्वा को, जिसने अपने बारे में लिखा—

'बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को'

स्वादिष्ट व्यंजनों का आनंद लेने का अवसर शायद ही कभी मिला हो। क्या करते उनकी चर्चा बेचारे। पर जायसी और सूर तो चटखारे ले-लेकर व्यंजनों का वर्णन करते हैं।

पहले जायसी की व्यंजन-सूची देखिए—

पहिले भात परोसे आना
जनहुं सुबास कपूर-बसाना ॥
झालर मांडे आए पोई ।
देखत उजर पाग जस धोई ॥
लुचुई और सोहारी धरी ।
एक तौ ताती औ' सुठि कोंवरी ॥
खंडरा बचका औ' डुमकौरी ।
बरी एकोतर सौ कोहंड़ौरी ॥
पुनि संधाने आए बसांधे ।
दूध दही के मुरंडा बांधे ।
पुनि जाउरि पछिआउरि आई ।
घिरित खांड़ कै बनी मिठाई ॥

जायसी जिन व्यंजनों का ज़िक्र करते हैं उनमें बहुत-से के नाम-रूप अब हम भूल चुके हैं, अवध के ठेठ गांवों में शायद लोग अब भी उन्हें बनाते, उनका स्वाद लेते हों।

सूर भी 'इतने व्यंजन जसोदा कीन्हें' कहकर उन्हें रस ले-लेकर गिना चलते हैं—

पूरी पूरि कचौरी कौरी ।
सदल सउज्जल सुंदर सौरी ।।
लुचुई ललित लापसी सोहै ।
स्वाद सुवास सहज मन मोहै ।।
मालपुआ माखन मथि कीन्हें ।
ग्राह ग्रसित रवि सम रंग लीन्हे ।।
लावन लाडू लागत नीके ।
सेव सुहारी घेवर घी के ।।
गोझा गूधे गाल मसूरी ।
मेवा मिलै कपूरनि पूरी ।।
ससि सम सुंदर सरस अंदरसे ।
ऊपर कनी अभी जनु बरसे ।। आदि

सूर ने जिन व्यंजनों की चर्चा की है उनका प्रचलन संभवत: अब भी ब्रज में है । रसराज की लीला भूमि ब्रज में और रसों के साथ जिह्वा-रस का सेवन भी बड़ी रुचि से किया जाता है । कुछ दिन पहले ब्रज-संस्कृति पर गोपाल प्रसाद व्यास की लिखी एक पुस्तक मैंने पढ़ी थी—'मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' । उसमें ब्रज की देन के रूप में रसना-तृप्ति के लिए विशिष्ट व्यंजनों और उनके आस्वादन का बड़ा रोचक वर्णन है ।

मैं अपने को जिह्वा-लोलुप तो नहीं कहूंगा, पर उन दिनों बच्चों के लिए जो स्वादिष्ट भोजन बनता उसका मैं पूरा आनन्द लेता; जिन चीज़ों को बच्चे खाकर खुश हों उनका स्वाद लेने में कुछ उनकी खुशी का ज़ायका भी जैसे मेरे मुंह को मिलता । बच्चे जब न होते तो वे ही व्यंजन उतने स्वादिष्ट न लगते । कभी-कभी तो यह सोचकर कि हम खा रहे हैं और वे उनसे वंचित हैं वे अस्वादिष्ट भी लगते ।

पंडित जी ने एक दिन मुझसे पूछा था, 'फेमिली को लाए ?'

अब जब फेमिली आ गई है तब मैंने सोचा, पंडित जी को उसकी सूचना दे दूं । मैंने उनके लिए एक पत्र लिखकर उनके निजी सचिव मि० मथाई को दे दिया । पत्र का आशय यही था कि आपकी कृपा से मुझे मकान मिल गया है । तेजी और मेरे दोनों बेटे दिल्ली आ गए हैं । हम लोग किसी दिन आपका दर्शन करना चाहेंगे, सुविधा से समय दें ।

दफ़्तर में ही मि० मथाई ने अपने कमरे से मुझे फ़ोन किया कि पंडित जी चाहते हैं कि कल सुबह आप सपरिवार नाश्ते पर आएं ।

पंडित जी ठीक आठ बजे नाश्ते पर बैठ जाते थे । आधे घंटे में नाश्ता खतम करके नीचे उतरते और खड़े-खड़े ही मिलने के लिए आए लोगों से एक-एक दो-दो मिनट बात करके नौ बजे के लगभग विदेश मंत्रालय के लिए चल पड़ते । दफ़्तर का समय दस से पांच तक था, पर पंडित जी दस के बहुत पहले दफ़्तर पहुं-

चते और पांच के बहुत बाद दफ्तर छोड़ते। मुझे ऐसे कम ही अवसर याद हैं जब मैं दफ्तर पहुँचा हूँ और नहीं देखता कि पंडित जी की गाड़ी खड़ी है। जिन दिनों संसद के सत्र चालू रहते उन दिनों मुझे भी प्राय: देर तक दफ़्तर में बैठना पड़ता, पर जब-जब लौटते समय मैं देखता कि पंडित जी की गाड़ी खड़ी है तब-तब भीतर कहीं मैं लज्जित अनुभव करता कि देखो मैं तो जा रहा हूं और पंडित जी अभी बैठ काम कर रहे हैं। 'आराम हराम है' का नारा शायद उन्होंने दूसरों से अधिक अपने लिए दिया था।

हम लोग ठीक समय से तीन मूरती भवन पहुंच गए। वहां भी 'बाल सप्ताह' मनाया जा रहा था, यानी इंदिरा जी के दोनों बेटे—राजीव और संजय हफ़्ता-दस दिन में दून स्कूल के लिए रवाना होनेवाले थे; और उनका भी मातृत्व-सिक्त रुचि-रस-रखाव किया जा रहा था। राजीव अमिताभ से कुछ मास छोटे और संजय अजिताभ से कुछ मास बड़े थे। उस दिन नाश्ते पर पंडितजी, इंदिरा जी, राजीव-संजय और हम लोगों के अतिरिक्त वहां और कोई न था।

जब माता-पिताओं को अपने छोटे बेटे-बेटियों को किसी बड़े आदमी से मिलाना होता है तो बच्चों से ज़्यादा माता-पिता नरवस होते हैं। हमारे बच्चे वैसे तो शालीन और सुशील थे और थोड़ा-बहुत 'टेबिल मैनर्स' भी जानते थे, पर हम उनको बहुत सिखा-पढ़ाकर लिवा ले गए थे। पंडित जी को हाथ जोड़कर नमस्ते करना और इंदु आंटी को भी, और खाने की मेज़ पर ऐसे बैठना, ऐसे चीज़ों को उठाना, पंडित जी जब तक टेबिल पर से न उठें, तब तक तुम लोग चाहे खाना ख़तम कर चुके हो, बैठे रहना और यह न करना और वह न करना वगैरह।

पंडित जी अंग्रेज़ी किस्म का नाश्ता लेते थे—पहले दूध के साथ पारिज या कार्न फ्लेक, फिर अंडा टोस्ट और उसके बाद चाय या काफी, पर चूंकि राजीव-संजय और मेरे बच्चे भी साथ नाश्ता लेनेवाले थे इससे कुछ उनकी रुचि के स्वादिष्ट देसी व्यंजन भी टेबिल पर लगे थे—हलवा, जलेबी और कुछ अन्य मिठाइयां—पंडित जी को भी मिठाइयां, विशेषकर इलाहाबाद के लोकनाथ की, बहुत पसन्द थीं।

दिन बच्चों का था। पंडित जी ने बंटी और संजय को अपने दाहिने तरफ बिठलाया और अमित-राजीव को बाईं तरफ—जैसे उन्होंने भांप लिया कि बंटी के साथ संजय की जोड़ी ठीक रहेगी और अमित के साथ राजीव की। टेबिल की दूसरी ओर इंदु जी बीच में बैठीं और तेजी-मैं उनके इधर-उधर। उस दिन पंडित जी की मुद्रा, उनका व्यवहार देखकर मुझे तो यही लग रहा था कि जैसे चार बच्चों के बीच एक बड़ा बच्चा बैठ गया है—बच्चे-सा ही सरल, निश्छल, विनोदप्रिय, हंसमुख। यह मानव स्वभाव का चमत्कार ही था कि एक ऐसा व्यक्ति जो देश-दुनिया की गंभीर और जटिलतम समस्याओं को सुलझाने में उलझा रहता था, कैसे जब चाहता था बच्चे-सा बन जाता था। पंडित जी का यह विशेष गुण था और उनकी महानता का एक लक्षण भी कि वह अपनी बाल्य, युवा और वृद्धावस्था को बडे सहज भाव से एक साथ लेकर चल सकते थे—बाल्यावस्था का भोला नटखटपन, यौवन का ऊर्जस्वल उत्साह और वार्धक्य का गरिमामंडित

विवेक। स्वतंत्रता आंदोलन के नेता के रूप में वे देश की जवानी के प्रतीक थे। जब उनके चेहरे पर आयु-क्रम में वृद्धता के चिह्न दृष्टिगोचर हुए तो कविवर 'सुमन' ने लिखा —

> तुम बूढ़े हो चले ? जवानी जिस पर होती रही निछावर।
> तुम बूढ़े हो चले ? राष्ट्र की धड़कन जिन सांसों पर निर्भर !
> तुम बूढ़े, जिसके कंधों पर चालिस कोटि जनों की आशा !
> तुम बूढ़े तो हमें बदलनी होगी, यौवन की परिभाषा।

परन्तु उनके बालवत् स्वभाव की अभिव्यक्ति जो हल्के-फुल्के विनोद से लेकर क्षणिक आवेश या क्रोधोक्ति तक जा सकती थी, लोगों को मोह लेती थी। जन मानस ने शायद इस बाल-प्रवृत्ति का स्मरण और सन्मान करने के लिए ही उनके जन्मदिवस को बाल-दिवस के रूप में मनाना आरम्भ किया है।

लोग कहते हैं कि इस बालवत् स्वभाव की झांकी गांधी जी में भी मिलती थी। मैं उनके निकट संपर्क में नहीं आ सका। लोक मानस में गांधी जी वृद्ध ही बनकर आए—बड़ों के भी 'बापू' बनकर—ग्रामीण जनता ने तो उन्हें शुरू से आखीर तक 'गांधी बाबा' के रूप में जाना—'बाबा'—बापू के भी बापू।

यों तो कहा जाता है कि old age is second childhood अर्थात् वार्धक्य बालपन का पुनरागमन है, पर मैंने किसी वृद्ध में बालपन को शोभन होकर झांकते नहीं देखा—असमर्थता, पर-निर्भरता, सुध-बुध-हीनता बालपन के बहुत आकर्षक पहलू तो नहीं।

अलबत्ता, जवानी को बुढ़ापे तक खींच ले जाने वाले मैंने कम नहीं देखे; बुढ़ाई में जवानी को जीने का अरमान रखनेवाले तो बहुत देखे, प्राय: यौन स्तर पर, कभी-कभी मनोविकृति की सीमा तक भी। कितने बूढ़ों को यह दावा करते आपने न सुना होगा।

> अभी तो मैं जवान हूं।
> वो काली-काली बदलियां
> उफक पे हो गईं अयां,
> वो इक हुजूमे—मैकशां
> है सूए—मैकदा रवां,
> ये क्या गुमां है बदगुमां, समझ न मुझको नातवां,
> ख़याले—जुह्द अभी कहां ?
> अभी तो मैं जवान हूं।

और मुझे पूरा विश्वास है कि हफ़ीज़ जालंधरी ने यह गीत अपनी नातवानी में ही लिखा होगा। जवान जवानी जीता है, वह उसकी घोषणा नहीं करता।

अपनी ओर तटस्थ होकर देखूं तो मुझे स्वीकार करना चाहिए कि जवानी को उम्र के सफर में ज़्यादा से ज़्यादा दूर खींच ले जाने का अरमान मुझमें कम नहीं था। चालीस से ऊपर की आयु में, जब शेक्सपियर के अनुसार बुढ़ापा जवानी के ऊपर आक्रमण कर देता है—

When forty winters shall besiege thy brow
And dig deep trenches in thy beauty's field,
Thy youth's proud livery, so gazed on now,
Will be a tatter'd weed···

(जब चालीस शरद तेरी भौहों के चारों
ओर डालकर घेरा तेरी सुंदरता के
प्रांगण में खोदेंगे खाई गहरी-गहरी,
तब तेरे यौवन का. यह गर्वीला जामा,
जिसे देखते, अभी नहीं थकती हैं आंखें,
चिथड़े-चिथड़े रह जाएगा·········)

तब मैं लिख रहा था——

'प्यार, जवानी, जीवन——इनका जादू मैंने सब दिन जाना।
मन के राजा हो तो मुझसे
लो वरदान अमर यौवन का;
नहीं जवानी उसने जानी
जिसने पर का बंधन जाना।
प्यार, जवानी, जीवन — इनका जादू मैंने सब दिन जाना।'

और

'मैं गाता हूं, इसलिए जवानी मेरी है।
यौवन जिसका है तान वही भर सकता है
लेकिन मैं तो कुछ उलटी कर दिखलाता हूं——
मैं गाता हूं, इसलिए जवानी मेरी है।'

ख़ैरियत है कि मेरी जवानी 'परवाज़ी' और 'गलेबाज़ी' तक ही सीमित रही।

सच्चाई यह है कि वार्धक्य में जवानी का जोशोजमाल तभी ख़ूबसूरत लगता है जब वह बालपन की निर्दोष नादानियत को भी साथ संजोए चले——मानव जीवनावधि की तीनों अवस्थाओं को उसकी परिपूर्णता में भोगते हुए। परिपूर्णता सदा ही सुन्दर है, कुरूपता तो खंडता में है। साथ ही यह सहज साध्य हो, प्रयत्न-साध्य नहीं; वरदान की तरह मिली हो, जैसे पंडित जी को मिली थी।

एक बार मैं फिर स्वीकार करना चाहूंगा कि जीवन को परिपूर्णता में जीने का प्रयास मैंने भी किया था, पर मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि मैं कैशोर्य या कच्ची जवानी (Adulthood) के पीछे नहीं जा सका; और अंत में इसी परिणाम पर पहुँचा कि यह भी कम संतोष की बात नहीं है कि हम जिस अवस्था में हैं उसी को प्रसन्नता से, सुन्दरता से, शालीनता से जिएं।

नाश्ता खत्म हुआ तो पंडित जी बच्चों को लेकर नीचे पीछे के लान में चले गए——उनको फूलों की क्यारियां दिखाईं, फूलों के नाम पूछे——बताए।

फिर राजीव-संजय अपने कुत्तों को लेकर आ जाते हैं। पंडित जी उनसे दो-चार मिनट खेलते हैं, कहते हैं, 'देखो, इन कुत्तों ने भी मेरी शेरवानी के रंग की ऊनी शेरवानी पहन रखी है !' कुत्ते झबरे-सुनहरे-बादामी रंग के बालों वाले हैं।

फिर बच्चों को पंडे के जोड़े दिखाने के लिए ले जाते हैं।

पीछे के लान में एक तरफ बहुत बड़ा-सा पिंजरा बनाया गया है—इतना बड़ा कि उसके अंदर एक पेड़ भी है। उसमें दो पंडे रहते हैं। पंडा काले-घने बालों वाला छोटा-सा जानवर होता है—छोटे भालू जैसा पर मुंह लंबा थूथन वाला नहीं—गोल—बिल्ली या बंदर के बीच का-सा, आंखें गोल छोटी-छोटी खरगोश की-सी—नाक जैसे चेहरे पर उभर ही नहीं पाई—कान छोटे-छोटे गोलाई लिए। बड़ा ही मासूम जानवर मालूम होता है। पता नहीं बोलता कैसे है, बोलता भी है या नहीं। पेड़ की डाल पर धीरे-धीरे संभलकर चलता है। एक तश्तरी में कुछ फलों के टुकड़े लाए जाते हैं। पिंजरा खोला जाता है और पंडित जी भीतर जाकर पंडों को अपने हाथ से खिलाते हैं। जो असमर्थ हैं, बेज़बान हैं, निरीह हैं उनके लिए इस आदमी के हृदय में कितनी करुणा है।...

तेजी और मुझसे भी उस दिन पंडित जी ने कम ही बातें कीं। मुझे अब नहीं याद कि और क्या बातें हुईं, पर इतनी बात ज़रूर याद है कि दफ़्तर के काम के बारे में उन्होंने एक शब्द न कहा, न पूछा। यानी जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं Shop talk नहीं की। निश्चय ही उनके ऐसा पूछते ही मैं इसके प्रति सचेत हो ही जाता कि वे मेरे 'बास' हैं और मैं उनका नौकर। पर इसका आभास वे मुझे नहीं कराना चाहते थे। उन्होंने मुझे मेहमान की तरह बुलाया था और मेहमान-सा ही व्यवहार उन्होंने रखा—इसी को कहते हैं संस्कृति या शिष्टता या शराफत जिससे पंडित जी का रोम-रोम ओत-प्रोत था।

अमित-बंटी को राजीव-संजय साथ खेलने के लिए रोक लेते हैं।

तेजी इंदु जी के पास रुक जाती हैं।

पंडित जी दफ़्तर चले जाते हैं।

पीछे-पीछे मैं भी जाता हूँ।

संसद का बजट सत्र चल रहा है। थोड़े दिनों में संसद में विदेश मंत्रालय का भी बजट पेश किया जाने को है। मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट तैयार की जा रही है। इस साल निर्णय लिया गया है कि संसद में जब वार्षिक रिपोर्ट अंग्रेज़ी में पेश की जाए तो साथ ही हिंदी में भी प्रस्तुत की जाए। कुछ मंत्रालयों की वार्षिक रिपोर्टें अंग्रेज़ी के साथ हिंदी में भी प्रस्तुत की जाती हैं, पर ऐसी कृत्रिम, क्लिष्ट, अजनबी भाषा में कि अगर सिर्फ उनको पढ़ें तो उनका सिर-पैर कुछ भी समझ में न आए। पंडित जी ने दो-एक रिपोर्टें देखी हैं, और वे उनसे बहुत असंतुष्ट हैं। वे चाहते हैं कि विदेश मंत्रालय की रिपोर्ट ऐसी छपे कि वह आसानी से पढ़ी और समझी जा सके। उनका आदेश आया है कि हमारी रिपोर्ट ऐसी हो कि वह और मंत्रालयों के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सके। अनुवादक के रूप में बच्चन बाबू की योग्यता की यह पहली परख होगी।

अब देखिए, हिंदी को किन कठिनाइयों के बीच काम करना पड़ता है।

विदेश मंत्रालय के अलग-अलग प्रभागों ने अपने साल भर के क्रिया-कलाप

का ब्यौरा तैयार किया, फिर किसी विशिष्ट सचिव ने सबका संपादन कर एक सम्यक रिपोर्ट तैयार की, उसे मुख्य सचिव ने पास किया, विदेश मंत्री ने पास किया और वह छपने के लिए फर्स्ट क्लास अंग्रेज़ी प्रेस में भेज दी गई—पंद्रह दिन बाद मंत्रालय का बजट पेश किया जाने वाला है और दो-एक दिन पहले वह रिपोर्ट छपकर आ जाएगी।

जब वह रिपोर्ट प्रेस भेज दी गई तब उसकी एक टाइप-प्रतिलिपि हिंदी सेक्शन को भेजी गई कि वह इसका अनुवाद करे—रिपोर्ट फूल्स्केप के सौ पेजों से अधिक की है—छपाए और अंग्रेज़ी रिपोर्ट के **साथ ही** संसद में प्रस्तुत करने के लिए तैयार करे !

दिन-रात एक करके मैंने रिपोर्ट का अनुवाद किया, कुछ सहायता सेक्शन-आफिसर श्री राधेश्याम शर्मा ने दी; उनका हिंदी और अंग्रेज़ी का भी ज्ञान सीमित था, उन्होंने अर्थशास्त्र लेकर एम० ए० किया था, हिंदी उनका विषय किस कक्षा तक था, मुझे नहीं मालूम पर शाब्दिक अनुवाद करने में वे हिचकते न थे, गो उनके अनुवाद को मुझे आमूल सुधारना पड़ता था। अंतिम जवाबदेही तो मेरी ही थी।

समय से रिपोर्ट प्रकाशित करने का ध्यान रखते हुए इधर अनुवाद करता जाता, उधर प्रेस को भेजता जाता। प्रेस फ़रीदाबाद में था। देर शाम को प्रूफ आए, रात भर दफ़्तर में पड़ा रहे, दिन को देखा जाए और प्रेस को भेजते-भेजते शाम हो जाए। एक दिन बरबाद हो गया। ऐसा करने से रिपोर्ट समय पर प्रकाशित न होती—विलंब के लिए समुचित कारण दिए जा सकते थे। पर पंडित जी का एक आदेश लकड़ी के बोर्ड पर लिखा हर कमरे में टंगा रहता—

'I am not interested in the excuses for the delay,
I am only interested in the work done in time.'

—Jawaharlal Nehru

'मेरी दिलचस्पी इस में नहीं है कि देरी के लिए क्या सफाई दी जाती है। मेरी दिलचस्पी सिर्फ इस बात में है कि काम वक्त पर पूरा हो।'

—जवाहरलाल नेहरू

शर्मा जी और मैं दिन भर अनुवाद का काम करते और उसकी टाइप कापी बनवाकर शाम को प्रेस चले जाते—गाड़ी मंत्रालय की ओर से मिल जाती—प्रेस-कापी देते, और वहीं प्रेस में बैठकर हम दिन का तैयार किया हुआ प्रूफ देखते, प्रिंट आर्डर देते और धुर रात को 11-12 बजे घर लौटते ! प्रेस भी ओवरटाइम काम करता।

रिपोर्ट समय से छपकर आई और अंग्रेज़ी रिपोर्ट के साथ ही संसद में प्रस्तुत की गई।

पंडित जी ने रिपोर्ट उलट-पलट कर देखी : असंतुष्ट नहीं हुए, और किन कठिनाइयों के बीच हमने उसे तैयार किया इसे जानकर—उन्हें दफ़्तर में जो कुछ हो रहा है उसकी पूरी-पूरी जानकारी रहती थी—हमारी पीठ भी ठोंकी। पंडित जी का संतोष, उनकी प्रसन्नता हमको अपनी उपलब्धि लगती।

मार्च के प्रथम सप्ताह में—ठीक तारीख मुझे याद नहीं—अमित-बंटी के शेरवुड जाने का दिन आ गया। तेजी-मैं बच्चों को स्टेशन छोड़ने गए। और भी बच्चे उसी ट्रेन से जा रहे थे, बहुत-से माता-पिता अपने-अपने बच्चों को छोड़ने आए थे। बच्चे 9 महीने के लिए जा रहे थे। प्राय: मांओं की आंखें नम, कुछ छोटे बच्चों की भी। तेजी तो अपना दिल मज़बूत किए रहीं। बंटी की आंखों में आंसू आ गए, पर बंटी चालाक है, यह नहीं दिखाना चाहता कि मां-बाप से अलग होने की वजह से उसकी आंख गीली है—कहता है मेरी आंखों में इंजन का धुआं लग रहा है। हम समझ जाते हैं, अमित बंटी को पास बिठा लेता है। हम आश्वस्त होते हैं, अमित बड़ा है, समझदार है, छोटे भाई को संभाल लेगा। गाड़ी चल पड़ती है, बच्चे खिड़की से सिर निकाल कर देखते रहते हैं, हाथ हिलाते हैं। हम भी हिलाते हैं, और फिर गाड़ी आंखों से ओझल हो जाती है। तेजी जो बच्चों के सामने अपने दिल की कमज़ोरी नहीं दिखाना चाहती थीं, अब फूट पड़ती हैं, मैं भी उदास हो जाता हूँ। मनुष्य इस बात से कितना धैर्य धरता है, साहस संजोता है कि उसकी-सी हालत में और लोग भी हैं। स्टेशन पर आए माता-पिता प्राय: सभी गाड़ी चले जाने के बाद अन्यमनस्क।

पर हम स्टेशन पर क्या उदास थे जो घर पर आ कर होते हैं। घर भी जैसे बच्चों के चले जाने से उदास हो गया है। बिल्कुल सूना-सूना-सा लगता है। हम दोनों चुप-चाप कुर्सियों पर बैठ जाते हैं—बड़ी देर तक बैठे रहते हैं—कल्पना करते—गाड़ी चली जा रही होगी—शायद बंटी फूट-फूटकर रो रहा होगा, और अमित उसको बहलाने की कोशिश कर रहा होगा। हम क्यों न सोचें कि बच्चों ने डिब्बे में कोई खेल शुरू कर दिया होगा और सब हंस-खेल रहे होंगे। इस घर से तो उनके क्रिया-कलाप बहुत संबद्ध नहीं हो सके थे। हमें याद आता है क्लाइव रोड, इलाहाबाद का अपना 'दशद्वार'---पीछे बच्चों का कमरा, जहां वे पढ़ते-लिखते थे, सामने का लान, जहां वे अपने साथियों के साथ खेलते थे, पार मुकर्जी का कंपाउंड जहां वे अमरूद के पेड़ों पर चढ़ते थे और हम उन्हें मना करते थे, क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसाइटी, जहां उनके दोस्त नरेश पाल रहते थे, जिसके पीछे के कंपाउंड की चहारदीवारी फांद वे रानी बेतिया के बंगले के फाटक तक पहुंच जाते थे, ताक-झांक करते रानी बेतिया की एक झलक पाने को, जो एक रहस्य की तरह उस बड़ी-सी कोठी में अकेली रहती थीं। उनके हास-उल्लास, शोर-गुल की ध्वनियां-प्रतिध्वनियां घर-बाहर सब जगह गूंजती थीं। अमित-बंटी का हास कितना उन्मुक्त होता था। उसे तो केम्ब्रिज में भी बैठे मैंने याद किया था 'डैफ़ोडिल' पर कविता लिखते हुए :

> इंग्लैंड में है वसंत—है एप्रिल।
> इनका देख के उल्लास
> तुलना को आता है याद
> मुझे अजित और अमित का हास,
> जो गूंजता है आध-आध मील—
> मेरा भर आता है दिल—

डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल—
जो गूंजता है हजारों मील,
मैं उसे सुनता हूं यहां,
हंस रहे हैं वे कहां—अरे, दूर वहां !

और जब कल्पना टूटती है तो घर—सुनसान, शांत, भंभाता-सा लगता है।

तेजी के लिए मैं विशेष चिंतित होता हूं। इलाहाबाद का सुंदर-सजा घर छूट गया, गुलाबों का रंग-रंगीला सुहाना बाग छूट गया—'वह गुलाब-गर्वीली नगरी इरम कहां है।' बच्चे आंख से दूर चले गए, नया-नया घर, नया-नया पड़ोस—चारों ओर सब कुछ अपरिचित, अजनबी, अनचीन्हा। मैं तो दिन भर के लिए दफ़्तर चला जाता हूं। वे अकेली घर बैठी क्या करेंगी—छूटे हुए की सौ-सौ बातें सोचेंगी, बिसूरेंगी,, खोई-खोई रहेंगी।

ये वही दिन थे जब मैं मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट तैयार कराने में हद-से-ज्यादा व्यस्त था। सुबह जल्दी दफ़्तर जाता, दिन को थोड़ी देर को लंच लेने के लिए आता, तेजी टेबिल पर बैठतीं पर खातीं क्या—अक्सर कह पड़तीं, पता नहीं बच्चों को खाने-पीने को ठीक से मिलता होगा कि नहीं, किससे मांगेंगे, किससे शिकायत करेंगे। मैं रात को देर से लौटता, थका-मांदा; उनकी ओर समुचित ध्यान न दे सकता। बहुत अपराधी-सा अनुभव करता। उन्हें एक नई तकलीफ शुरू हो गई—अचानक उनके बदन पर जगह-ब-जगह लाल चकत्ते उभरते। कुछ खुजली होती और घंटे दो घंटे बाद चकत्ते बैठ जाते। डाक्टर को दिखाया गया तो उसने कहा यह एक तरह की एलर्जी है, कारण इसका किसी तरह की दिमागी बेचैनी या परेशानी है। दिमागी परेशानी उन्हें कम थी ! डाक्टर शायद उन्हें सोने की कोई दवा देते रहे। मैं सोचता, दफ़्तर का काम हल्का हो तो इनका माक़ूल इलाज कराऊं। रिपोर्ट तैयार कराने का काम इतना ज़रूरी और ज़िम्मेदारी का था कि मैं उसमें किसी तरह की ढील नहीं दे सकता था।

काम नया था, पर कठिन नहीं। अंग्रेज़ी से अनुवाद मैंने बहुत किए थे, पर वे सब कविताओं के थे; मुझे नहीं याद आता कि कभी मैंने अंग्रेज़ी गद्य का अनुवाद किया हो—कुछ दस्तावेज़ों को छोड़कर, पर उसे भी मैंने दिल्ली आने के बाद किया था।

मुझे अनुवाद के संबंध में कुछ नीति बनानी थी। भाषा सरल-सुबोध रखनी थी, जिसके लिए ऊपर से भी आदेश था, पर जब सरल-सुबोध से बोलचाल की भाषा मांगी जाती थी, तब मेरे कान खड़े हो जाते थे। हमारी बोलचाल की भाषा का स्तर क्या है ? हम उस भाषा में हाट-बाज़ार कर आते हैं, नौकर-चाकरों को हुक्म दे लेते हैं, उनको डाँट-डपट देते हैं, और हद-से-हद सिनेमे के अभिनेताओं के कथोपकथन समझ लेते हैं। ऐसे कितने अवसर होते हैं जब कुछ पढ़े-लिखे लोग गंभीर विषयों पर, देश-विदेश की राजनीति पर, आर्थिक समस्याओं पर, कला-साहित्य पर वार्तालाप करते हों। करें—बहुत लोग करें -- तो बोलचाल की भाषा का भी एक स्तर बने। अंग्रेज़ी का अनुवाद आप हाट-बाज़ार वाले स्तर की हिंदी में मांगते हैं तो आप हिंदी के साथ अन्याय करते हैं; और जब

वह अंग्रेज़ी के स्तर तक उठने का प्रयत्न करती है तब आप उसपर कठिनता, क्लिष्टता और संस्कृतनिष्ठता का दोष लगाते हैं, उसे अक्षम, अपरिपक्व भाषा बताते हैं। इसीलिए मैंने आपसे कहा था, प्रार्थना की थी कि आप हिंदी में बात-चीत करें कम से कम कामन रूम में। विद्वान, बुद्धिमान, बुद्धिजीवी लोग हिंदी बोलेंगे तो हिंदी बोलचाल का स्तर भी ऊंचा होगा। और तब वह अंग्रेज़ी बोल-चाल का मुक़ाबला आसानी से कर सकेगी। पर यहां की दुनिया में कोई अपने गरेबां में हाथ डालकर देखने को तैयार नहीं।

तो मेरी अनुवाद संबंधी भाषा नीति यह रही—

भाषा सरल-सुबोध होगी
पर बोलचाल के स्तर पर गिरकर नहीं
लिखित भाषा के स्तर पर उठकर, अगर अनुवाद को
सही भी होना है।

और मेरा दावा है कि लिखित हिंदी अंग्रेज़ी के ऊंचे से ऊंचे स्तर को छूने की क्षमता आज भी रखती है।

अंग्रेज़ी रिपोर्ट में बहुत से विशिष्ट और तकनीकी शब्द थे। हिंदी पर्याय अभी उनके बने नहीं थे। कुछ कोशों की सहायता से, कुछ अपनी सूझ-बूझ से मैंने कुछ पर्याय गढ़े, पर उनके प्रचलित न होने से मैंने यह किया कि जहाँ वे प्रयुक्त हुए साथ ही ब्रेकेट में मूल अंग्रेज़ी शब्द भी नागरी लिपि में दे दिये। इस प्रकार मंत्रालय का जो वार्षिक विवरण तैयार हुआ, उसपर किसी को यह शिकायत नहीं हुई कि वह समझ में नहीं आया।

भाषा की शब्दराशि (वाकेबुलेरी) के संबंध में मैंने यह उदार नीति रखी कि वह संस्कृत, फारसी, अरबी, प्रांतीय भाषाओं, लोक-बोलियों --यहां तक कि अंग्रेज़ी से भी – शब्द लेने में संकोच न करेगी, बशर्ते कि वे शब्द वांछित अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हों, उच्चारण-सुलभ हों और हिंदी की समय-स्वीकृत ध्वनि-धारा के साथ सहज गति से प्रवहमान हो सकें। मैं इसके प्रति सचेत करना चाहूँगा कि हिंदी की ध्वनि-धारा के साथ अन्य भाषाओं के शब्दों को खपाना साधारण कला नहीं है। यह कंठ और कानों की बड़ी बारीक परख-शक्ति माँगती है। मेरा अनुभव है, जिससे शायद दूसरे भी लाभ उठा सकें, कि कानों में बसने और ज़बान पर चढ़नेवाली जितनी ही पंक्तियों, उक्तियों और अभिव्यक्तियों से परिचय प्राप्त किया जाय उतनी ही यह परख-शक्ति परवान चढ़ती है। बिना इस परख पर खरे उतरे जो भी शब्द आयातित किए जाएंगे वे हिंदी को विकृत ही नहीं, उसके प्रवाह को अवरुद्ध भी करेंगे।

यह लिखते हुए मुझे बड़ा अफ़सोस है, और शायद मेरा ऐसा कहना मेरी धृष्टता ही समझी जाय, कि पंडित जी को भी यह भ्रम था कि विशुद्ध हिंदी और खालिस उर्दू के बीच एक 'आमफ़हम' या 'रोज़मर्रा' की ज़बान—'ज़बाने-मुश्तरका' है या बनाई जा सकती है जिसमें हमारा हर तरह का काम किया जा सके, और शायद उनके मन में दबी-छिपी गांधी जी की यह कल्पना भी थी कि जिसे नागरी और अरबी दोनों लिपियों में लिखा भी जा सके। हिंदी साहित्य सम्मेलन के किसी सत्र में गांधी जी ने हिंदी को ऐसा परिभाषित करा भी लिया

था, जिसका बाद को पुरुषोत्तम दास टंडन द्वारा निराकरण किया गया। हिंदी-उर्दू के विरोध को मिटाने और दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने, एक करने का यह बड़ा सुंदर सपना है, पर सपना ही है; और उसे यथार्थ की भूमि पर नहीं उतारा जा सकता।

इसे मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि हिंदी और उर्दू दोनों का एक सरल-सहल स्तर है जो दोनों में प्रायः एक है और जिसे आसानी से किसी एक लिपि में निबद्ध किया जा सकता है, परंतु—और यह बहुत बड़ा 'परंतु' है—उससे **हर तरह का काम** नहीं लिया जा सकता। चिंतन-मनन, विश्लेषण-विवेचन के जिस स्तर पर हमें आज भी जाना पड़ता है उस तक हिंदी या उर्दू का सरल-सहल रूप हमें नहीं पहुंचा सकता। आगे चलकर जब हमारे चिंतन-मनन का क्षेत्र और व्यापक होगा, और ऊंचाइयां छुएगा, तब या तो यह भाषा हमारे लिए बेकार हो जाएगी या यह भाषा—अगर हम उससे चिपके रहे—तो न हमें आगे बढ़ने देगी, न ऊपर उठने देगी। आज भी जहाँ हम सामान्य स्तर से ऊपर उठे, हिंदी संस्कृत की ओर झुक जाती है और उर्दू फारसी-अरबी की ओर। मैंने पंडित जी के साथ आठ बरस काम किया। इस बीच बहुत बार भाषा के प्रश्न को लेकर मेरी उनसे बातचीत हुई। मैं, शायद यह मेरी ही कमज़ोरी थी, पंडित जी की आस्था को उनके 'स्वप्न' से न डिगा सका। अपनी मृत्यु के दो वर्ष पूर्व उन्होंने तत्कालीन शिक्षा मंत्री डा० के० एल० श्रीमाली को एक पत्र के द्वारा यह आदेश दिया कि वे लगभग 5000 शब्दों का एक कोश तैयार कराएँ—ऐसे शब्दों का जो हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। उनका ख्याल था कि उस आधारभूत (Basic) शब्दावली को स्वीकार कर लेने के बाद विशिष्ट और तकनीकी शब्दों के प्रायः एक ही रूप दोनों भाषाओं में सहज स्वीकृत हो जाएंगे। कोश पंडित जी के जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हो सका; उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद हुआ—केन्द्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा। यह न तो कोई नया कदम था, न मौलिक, और जैसी कि मुझे आशंका थी, इसका कोई परिणाम उस दिशा में नहीं हुआ जिसकी उससे प्रत्याशा की गई थी। अठारह वर्षों में, जहाँ तक मुझे मालूम है, उसका दूसरा संस्करण भी ज़रूरी नहीं हुआ। सुना, प्रथम संस्करण की 10,000 प्रतियाँ छपी थीं। मुझे आश्चर्य नहीं होगा अगर बहुत बड़ी संख्या में उसकी अनबिकी प्रतियां किसी गो-डाउन में पड़ी दीमकों का भोजन बन रही हों।

इस बात को उर्दू के विद्वान भी मानते हैं, भाषाविदों ने माना ही है, और पंडित जी ने तो एक जगह साफ लिखा है कि उर्दू हिंदी की एक शैली है (Urdu is a variation of Hindi.), पर यह बात उर्दू के आरंभिक रूप के बारे में जितनी सच है उतनी आज नहीं है। अपने विकास-क्रम में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कारणों से उर्दू हिंदी से इतनी दूर चली गई है कि उसकी अपनी अलग सत्ता है, इयत्ता है, विशिष्टता है। 'धार्मिक' मैंने बहुत हिचकते-हिचकते लिखा है क्योंकि प्रायः यह कहा जाता है कि 'भाषा' का 'धर्म' से कोई संबंध नहीं है। पर मैं ऐसा नहीं मानता, कम से कम उर्दू के संबंध में। उर्दू को हिंदी से दूर ले जाने में मुसलमानी मनोवृत्ति ने एक सूक्ष्म किन्तु विशिष्ट भूमिका अदा की है। आरंभ से ही—और यह प्रवृत्ति दिनों-दिन बढ़ती गई है—मुसलमानों ने

उर्दू को अपनी ख़ास भाषा माना। अरब, जहाँ से मुसलमान अपना धर्म लाए, फ़ारस, जहाँ से मुसलमान अपनी संस्कृति लाए, उर्दू के वातावरण में छाये-रसे-बसे हुए हैं। और अगर भारतीय सांस्कृतिक संपदा से कुछ लिया गया है तो दाल में नमक बराबर। सर अब्दुल हक़ ने, जिन्हें 'बाबा-ए-उर्दू' के नाम से याद किया जाता है, कहा था कि पाकिस्तान को न जिना ने बनाया, न इक़बाल ने, पाकिस्तान को बनाया है उर्दू ने। हिंदी और उर्दू का प्रश्न जो प्रायः हिंदू और मुसलमान से जुड़ जाता है उसके पीछे कोई प्रबल कारण न देखना सच्चाई से आंख मूदना है। बहरहाल, यहां मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि हिंदी और उर्दू अलग भाषाओं के रूप में विकसित हो चुकी हैं और अलग ही वे भविष्य में अपने विकास की दिशाएँ देखती हैं। ऐसी हालत में उन्हें एक समझना या उनके एक होने की संभावना देखना fool's paradise में रहना या शेखचिल्ली का ख़्वाब देखना है।

मैं पहले भी कह चुका हूं, और फिर दोहराना चाहता हूँ कि उर्दू में आए फ़ारसी-अरबी या तुर्की शब्दों को हिंदी में लेने में मुझे कोई संकोच नहीं था, पर यह मनोवृत्ति मेरी समझ में नहीं आती थी कि ऐसे शब्दों की बहुलता को सरल हिंदी समझा जाय। खैर, वार्षिक रिपोर्ट तो साल भर में एक बार बनती थी, पर संसदीय प्रश्नोत्तरों के रूप में मेरे अनुवाद अक्सर पंडित जी के सामने आते थे। मुझे नहीं याद कि कभी उन्होंने मेरी भाषा को कठिन बताया हो या उसे अधिक सरल बनाने का कोई सुझाव दिया हो सिर्फ़ एक बार के। आप उस अवसर के बारे में जानना चाहेंगे?

संसदीय कार्यक्रमों में साल में एक बार बजट-सत्र आरंभ होने से पहले राष्ट्रपति दोनों सदनों --राज्यसभा और लोकसभा—की सम्मिलित बैठक को संबोधित करते थे। यदि राष्ट्रपति अपना भाषण हिंदी में देते थे तो उपराष्ट्रपति उसका अनुवाद अंग्रेज़ी में सुनाते थे; जब राष्ट्रपति अंग्रेज़ी में, तो उपराष्ट्रपति हिंदी में। यह उस साल की बात है जब राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन अपना भाषण अंग्रेज़ी में देनेवाले थे। यों तो राष्ट्रपति के भाषण की रूपरेखा प्रायः विदेश मंत्रालय में प्रधान मंत्री की देखरेख में तैयार की जाती थी, पर डा० राधाकृष्णन के अपने मौलिक विचार थे, देश-दुनिया और युगीन स्थितियों के संबंध में उनकी अपनी धारणाएँ-मान्यताएँ थीं; वे विश्वविख्यात दार्शनिक थे, अंग्रेज़ी पर उनका विशिष्ट अधिकार था—मैंने 1953 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के सेनेट हाल में, कामनवेल्थ एजुकेशनल कान्फ़ैंस के समय उनका भाषण सुना था, और वह केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड के वाइस चैंसेलरों के भाषण से किसी हालत में उन्नीस नहीं था, शायद इक्कीस ही था—वे मंत्रालय और प्रधान मंत्री के सुझावों को ध्यान में रखते हुए भी संसद के अपने भाषण का प्रारूप स्वयं तैयार करते थे। जैसा कि हमेशा होता था, जब अंग्रेज़ी भाषण को अंतिम रूप दिया जा चुका तब उसकी एक टाइप प्रति हिंदी सेक्शन के पास भेजी गई—उसका हिंदी अनुवाद तैयार करने को—24 घंटे के अंदर। दुर्भाग्य से उन दिनों मैं बीमार था, प्लूरिसी के आक्रमण से उबरा ही उबरा था, पर बुखार ने मुझे नहीं छोड़ा था, और मंत्रालय का ज़रूरी काम मैं घर पर मंगाकर लेटे-लेटे भी किया करता था।

डा० राधाकृष्णन का भाषण आया तो मेरा मन हुआ उसका अनुवाद मैं

खुद करूं। भाषण का क्या कहना, बढ़िया, शानदार; शब्द-शब्द अपनी जगह, वाक्य से वाक्य गुंफित, पारा-पारा में सामंजस्य, विचारों में शृंखलता, सुस्पष्टता और संतुलन, यथार्थपरक बातों को भी आभामंडित कर प्रस्तुत करने का उदाहरण स्वरूप, और अंत में सांसदों को आवाहन, प्रस्तावित और संकेतित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मनसावाचा-कर्मणा नियोजित होने का।

मैंने पूरा प्रयत्न किया—अपनी योग्यता-क्षमता की सीमा में—कि अनुवाद यथासंभव मूल के स्तर का हो। अपने काम के विषय में मुझे और कुछ न कहना चाहिए।

ठीक समय पर अनुवाद टाइप करके पंडित जी के पास भेज दिया गया—ऐसे सब वक्तव्यों, भाषणों को पहले वे स्वयं देख लिया करते थे।

उन्होंने 9 बजे रात को मुझे तीन मूर्ति भवन में बुलाया। शायद खाना खाकर अपनी स्टडी में आ बैठे थे। मेज़ पर मेरा अनुवाद रखा था। बोले, 'अनुवाद तो तुमने अच्छा किया है लेकिन शुद्ध हिंदी के फेर में तुमने भाषा बहुत कठिन कर दी है।'

'पंडित जी, आखिर डा० राधाकृष्णन का भाषण है, अंग्रेज़ी तो आपने देखी है, हिंदी को कुछ तो उसके अनुरूप रखना था।'

'मगर, तुमको मालूम है यह भाषण पढ़ेगा कौन ? डा० ज़ाकिर हुसैन : उनको इसके कई शब्दों का उच्चारण करना भी मुश्किल होगा।'

मेरे मुंह से कुछ ऐसी बात निकल गई थी जो मुझे नहीं कहनी थी और जिसके निहितार्थ (implication) को मैंने पूरी तरह नहीं समझा था। उस ज़बाँदराज़ी के लिए मुझे आज भी अफ़सोस है। मैंने कहा,

'पंडित जी, एक आदमी की उच्चारण-सुविधा के लिए भाषा तो नहीं बदली जाती; आप इसका अनुवाद उर्दू में क्यों न करा लें…'

पंडित जी का चेहरा गुस्से से लाल हो गया। वे खड़े हो गए। ऊंची आवाज़ में बोले, 'There is enough trouble in this country.' (इस मुल्क में काफी मुसीबतें हैं!) अगर उर्दू में भी अनुवाद कराया जाएगा तो उसे हिंदी ही कहना होगा, क्या फर्क है उर्दू-हिंदी में ?…'

मैं सकते में आ गया।

मुझे अपनी भूल मालूम हो गई। संविधान के अंतर्गत अनुवाद हिंदी में ही प्रस्तुत किया जा सकता था, उर्दू में नहीं, चाहे उसमें कितने ही उर्दू शब्द प्रयुक्त किये गए हों। साथ ही उर्दू-हिंदी में फ़र्क नहीं है, इसे मेरा मन स्वीकार नहीं कर रहा था, मेरी आंखों के सामने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का 'ग़ुबारे ख़ातिर' और पं० रामचंद्र शुक्ल का निबंध-संग्रह—'चिंतामणि'—नाच रहे थे। फिर इस ओर भी मेरा ध्यान गया कि डा० ज़ाकिर हुसैन 'कोई' आदमी तो नहीं, भारत के उपराष्ट्रपति हैं, उनकी सुविधा के लिए हमने भाषा कुछ बदल ही दी तो क्या। मेरा अनुवाद कोई साहित्यिक कृति नहीं होने जा रहा है।

मैं बिना एक शब्द बोले, मूर्तिवत् खड़ा रहा, पर पंडित जी ने ये सारे भाव मेरे चेहरे पर उभरते-दबते देखे होंगे।

फिर उनका वही बालवत् स्वभाव।

एक क्षण में उनकी मुख-मुद्रा बदल गई। बादल में बिजली चमक कर गायब

हो गई थी। लगा जैसे अपने क्षणिक क्रोध पर ही मंद-मुस्करा रहे हों।

'मुझे मालूम है तुम्हें उर्दू बहुत अच्छी नहीं आती···रेडियो के उर्दू न्यूज़ रीडर हैं मि० पुरी, उनको तुम्हारे पास भेजवाता हूँ, उनकी मदद से जहां भी हिंदी के कठिन शब्द आए हैं वहाँ उर्दू के आसान शब्द रख दो। पर यह काम रात ही रात हो जाना चाहिए—कल सुबह 11 बजे यह भाषण पढ़ा जाने को है।'

मैं चलने लगा तो वे अपनी कुर्सी से उठकर दरवाज़े तक मुझे छोड़ने आए—जैसे उनकी डांट से मेरे मन पर जो आघात लगा था, उस पर खेद प्रकट कर रहे हों। अपनी ऐसी ही अदाओं से तो यह शख्स दूसरों का मन जीत लेता था।

रात-भर मेरे घर के बरामदे में दफ्तर-सा लगा रहा। मिस्टर पुरी आए; गाड़ी भेजकर स्टेनो-टाइपिस्ट को बुलाया गया, सेक्शन आफिसर श्री राधेश्याम शर्मा को बुलाया गया, हिंदी सेक्शन रात को खुलवाकर टाइपिंग मशीन मँगाई गई। अनुवाद वाक्य-दर-वाक्य पढ़ा गया, और मि० पुरी के सुझाव पर उसमें परिवर्तन कर दिया गया। सुबह भाषण का प्रायः उर्दूकृत रूप पंडित जी को भेज दिया गया, जो उन्होंने पसंद ही किया होगा।

अनुवाद के संबंध में पंडित जी से एक मीठे टकराव की भी मुझे याद है। संसद में हिंदी में पूछे गए किसी प्रश्न के उत्तर में उन्हें संविधान की कोई धारा उद्धृत करनी थी; जिसे अनुवाद के लिए उन्होंने मेरे पास भेज दिया था। मेरे अनुवाद पर उन्होंने फोन से अपनी प्रतिक्रिया दी...तुम्हारा अनुवाद पढ़ने में तो अच्छा लगता है, पर मूल से कुछ दूर चला गया है। मैंने अनुवाद के संबंध में एक अंग्रेज़ी लेखक का कथन उन्हें लिखकर भेज दिया...Translation, most often, is like a woman who when beautiful is not faithful and when faithful is not beautiful...पंडित जी ने मेरा अनुवाद स्वीकार कर लिया था और उनके निजी सचिव मि० मथाई ने मुझे बताया था कि पंडित जी ने मेरी चिट संभालकर रखवा दी थी। संविधान का जो अनुवाद पहले किया गया था उससे वे संतुष्ट न थे और उसे संशोधित कराना चाहते थे। उसके लिए वे एक नई समिति गठित करने की बात सोच रहे थे जिसमें मुझे भी रखना चाहते थे, पर किसी कारण वह काम आगे न बढ़ा।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व मैं उर्दू, और हिंदी से उसके संबंध पर अपने विचार संक्षेप में रख देना चाहता हूं। उर्दू जिस प्रकार विकसित हुई है वह एक स्वतंत्र, समृद्ध भाषा हो गई है और आगे-आगे विकास में वह फारसी और अरबी का दामन ज्यादा जोरों से पकड़ेगी। पाकिस्तान में उर्दू जिस रूप में विकसित होगी—और निश्चित है कि वह हिंदी से बिलकुल अछूती रहने का प्रयत्न करेगी—उससे वह अप्रभावित न रह सकेगी—हम दोनों देशों के रेडियो से प्रसारित होने वाली उर्दू खबरों की तुलना करके आज भी देख सकते हैं। उर्दू किसी हालत में अरबी लिपि नहीं छोड़ेगी और यह हिंदी से उसके अलगाव को बराबर रेखांकित करती रहेगी।

हिंदी—खड़ी बोली हिंदी—जिस प्रकार विकसित हुई है, वह अपने संस्कृत मूल से अपने संबंधों के प्रति सचेत होकर आगे अपने विकास में उस स्रोत से और

अधिक संबद्ध, सिंचित, समन्वित होने का प्रयत्न करेगी। पर उसका यह रूप उसके गम्भीर, विशिष्ट और शास्त्रीय साहित्य तक सीमित रहेगा। अपने सूचनापरक और ललित साहित्य के लिए वह अधिक उदार नीति बरतेगी। अपनी संस्कृत-संपदा को भरपूर भोगने का अधिकार रखते हुए वह देश की अन्य भाषाओं — विशेषकर उर्दू से, यानी उसमें आयातित फ़ारसी-अरबी शब्दों-मुहावरों-तेवरों-अंदाज़ों से, जो भी अपनी ध्वनि-धारा के अनुकूल पाएगी उसे लेने के लिए तत्पर रहेगी। वह यह भी कह सकेगी :

'**किंकर्तव्यविमूढ़** मुझे कर दूर खड़ी है मधुशाला'

और यह भी :

'अब तो कर देती है केवल **फर्ज़अदाई** मधुशाला'

(उर्दू 'कर्तव्य' नहीं ले सकेगी; लेगी तो 'करतब' करके और 'करतब' और 'कर्त्तव्य' में ज़मीन आसमान का अंतर आ गया है)
वह यह भी कह सकेगी :

'मैं **अर्थ** ध्येय में रख चलता, मुझसे हो जाता है अनर्थ'

और यह भी—

—'बा **मतलब** था उनका हर काम ज़माने में'

सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

आदर्श हिंदी के लिए मेरी एक धारणा है कि वह संस्कृत-फारसी **प्रभाव** से युक्त और संस्कृत-फारसी **दबाव** से मुक्त होगी। फ़ारसी में अरबी-तुर्की को भी मैं शामिल समझूंगा। सफल हिंदी लेखक से मैं आशा करूँगा कि हिंदी के साथ उसे उर्दू का वाजबी और संस्कृत का समुचित ज्ञान हो। और ऐसी प्रत्याशा मैं किसी अंश में हिंदी पाठक से भी करूंगा।

जिन दिनों मैं मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट हिंदी में तैयार करने में व्यस्त था, तेजी किसी दिन इंदु जी से मिल आईं—वहाँ बातचीत के दरमियान कुछ ऐसी योजना बन गई जिसने तेजी को दो-तीन सप्ताह के लिए ऐसे काम में व्यस्त रखा जो उनके मन के अनुकूल था, और जिससे मैंने बड़ी राहत की साँस ली। खालीपन उनकी दिमागी बीमारी बन गई थी।

इलाहाबाद में नाटकों की एक लंबी परंपरा है—मेरा मतलब नाटक देखने की रुचि से नहीं, नाटक खेलने की प्रवृत्ति से है। महामना मालवीय जी के जीवनचरित में मैंने कहीं पढ़ा था कि अपने स्कूली दिनों में उन्होंने किसी नाटक में लड़की का पार्ट किया था। मेरे लड़कपन में, मुझे याद है, पारसी थियेट्रिकल कंपनियाँ इलाहाबाद आती थीं और लंबे अर्से तक उनके खेल होते रहते थे। उनसे प्रेरणा ले कई मुहल्लों में शौकिया नाटक मंडलियां बनी थीं—एक तो मेरे मुहल्ला चक के निकट बादशाही मंडी में ही थी और जब-तब उसके खेल होते थे। धनी-मानी व्यक्तियों के यहां शादी-ब्याह के अवसर पर स्थानीय नाटक मंडलियां अपना कोई खेल प्रस्तुत करने को आमंत्रित की जाती थीं। इलाहा-

बाद में बंगालियों की काफ़ी बड़ी बस्ती है; दुर्गा पूजा के दिनों में शहर में कई जगह बंगला नाटक खेले जाते; स्कूल-कालेजों के वार्षिकोत्सवों में नाटकों की खास भूमिका होती; कायस्थ पाठशाला में, जहाँ का मैं विद्यार्थी था—छठी से हाईस्कूल तक—हर साल नाटक खेले जाते थे।

तेजी में नाट्य प्रतिभा ज़रूर थी। अपने कालेजी दिनों में लाहौर में खेले नाटकों में उन्होंने प्रमुख भूमिकाएं निभाई थीं—एक नाटक में वे आम्रपाली बनी थीं जिसका फोटो मेरे पास सुरक्षित है। जिस समय तेजी इलाहाबाद आईं उस समय भी सिविल लाइन, जार्ज टाउन, यूनिवर्सिटी-कैम्पस में बसे कुछ युवक-युवतियों की एक टोली थी जो अभिनय कला में रुचि रखती थी और समय-समय पर अपने नाटक प्रस्तुत करती थी—रेलवे कालोनी में तो एक स्थाई नाटकघर ही था जिसमें 'इपटा' वाले अपने नाटक खेलते थे।

कहते हैं, चिड़ियों का झुंड अपने-से पर वाली को खोज लेता है या चिड़िया अपने-से पर वालियों के झुंड में जा मिलती है। अभिनय-प्रेमियों के साथ भी कुछ ऐसी ही बात है। कुछ ही समय में तेजी का संपर्क इलाहाबादी नाटक-टोली से हो गया और उनके द्वारा प्रस्तुत खेलों में वे कोई न कोई भूमिका अदा करने लगीं—एक नाटक में उन्हें अनारकली का पार्ट दिया गया था जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया था।

इस नाटक टोली को अधिक प्रोत्साहन तब मिला जब श्रीमती विमला रैना इलाहाबाद आईं। एक मिस्टर रैना—उनका पूरा नाम मुझे नहीं मालूम—इलाहाबाद में डी० एम० यानी जिलाधीश के पद पर आए, कहीं से स्थानांतरित होकर। विमला रैना उनकी पत्नी थीं। वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी की पूर्व स्नातिका थीं, विद्यार्थी जीवन से ही उनमें सृजन-प्रतिभा थी। जब वे इलाहाबाद आईं वे प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुकी थीं; 10-12 वर्ष का एक लड़का था; 17-18 वर्ष की एक लड़की थी। सृजन-प्रतिभा और नाट्य-अभिरुचि उनमें अब भी सजग थी। इलाहाबाद जैसे विद्या और संस्कृति के केंद्र में आकर वह अधिक सक्रिय हुईं। देश की स्वतंत्रता के आरंभिक वर्ष थे, जिनमें लोगों में एक प्रकार का उत्साह-उल्लास तो था ही; रचनाधर्मियों, कवि, कलाकारों, साहित्यकारों के मन में भी देश के भविष्य के निर्माण में अपना योगदान देने, अपनी भूमिका प्रक्षिप्त करने की लालसा थी। ऐसी ही किसी प्रेरणा से श्रीमती विमला रैना ने एक नाटक लिखा, 'सवेरा'। विषय था—पुरानी रूढ़ि-रीतियों के घनांधकार में फंसे हुए लोगों, विशेषकर अपढ़ ग्रामीणों को युग के नए प्रभात के नव प्रकाश का बोध कैसे कराया जाय। अभिनीत करने के लिए नाट्य-रुचि-संपन्न युवक-युवतियों को अपने चारों ओर एकत्र करने में विमला जी को देर न लगी—'रंगशाला' संस्था के अंतर्गत। शौकिया नाट्य समितियों के लिए सबसे बड़ी बाधा खड़ी होती है अभिनय-संबंधी खर्चों के लिए धन की, यहां उसकी कोई कमी न थी। रिहर्सल के लिए जिलाधीश का बंगला, अन्य आवश्यकताएं पूरी करने को लोग दाएं-बाएं प्रस्तुत। नाटक पहले-पहले फूलपुर में, पंडित जवाहरलाल नेहरू के चुनाव क्षेत्र में खेला गया। इसमें तेजी ने लखिया ठकुराइन—ठाकुर शेरसिंह की पत्नी—की भूमिका अदा की—बंटी ने उनके मूक पुत्र बचुआ की। किसी कारण मैं यह नाटक न देख सका था। बाद को मैंने सुना

कि नाटक सफल था, विशेषकर तेजी ने अपने कथोपकथन की अवधी ऐसे स्वाभाविक लहजे में बोली कि दर्शकों ने समझा कि गांव की किसी ठकुराइन ही से यह पार्ट कराया गया है। नाटक समाप्त हुआ तो गांव की स्त्रियों ने स्टेज घेर लिया—'हमैं ठकुराइन से मिलाय द्या।'

तेजी जब उस दिन इंदु जी से मिलने गईं तो बात-बात में उन्होंने विमला रैना के उस नाटक और उसके मंचन के विषय में विस्तार से उन्हें बताया। इंदु जी उस नाटक की कथावस्तु और उसके मंचन की सफलता से इतनी प्रभावित हुईं कि जब तेजी चलने लगीं तो उन्होंने पूछा, अगर हम विमला रैना के ट्रुप को दिल्ली बुलाएं तो क्या वे यहाँ आकर अपने नाटक का मंचन कर सकेंगी ?

तेजी ने कह दिया, 'क्यों नहीं ?'

पंडित जी उन दिनों बहुत व्यस्त थे—संसद का बजट-सत्र चल रहा था। इंदु जी ने सोचा होगा अगर इस नाटक के मंचन का प्रबंध तीन मूर्ति हाउस में कराया जाय तो पापू भी देखने में रुचि लेंगे, और उनका थोड़ा मनोरंजन होगा, जिसकी उन्हें बड़ी आवश्यकता थी। इंदु जी ने जब पंडित जी से सलाह की होगी तो उन्होंने प्रसन्नता से इस प्रस्ताव का स्वागत किया होगा। दूसरे ही दिन इंदु जी का फोन तेजी के लिए आ गया कि वे श्रीमती विमला रैना को आमंत्रित कर दें कि वे 15 दिन के अन्दर अपना ट्रुप लेकर दिल्ली आएं। ट्रुप के आने-जाने, यहां ठहरने का सारा खर्च सरकार की तरफ़ से उठाया जाएगा।

प्रधान मंत्री के निवास स्थान पर नाटक खेलने का बोलौआ ! विमला जी तो ख़ुशी से उछल पड़ी होंगी। खेल की तिथि निश्चित हो गई। विमला जी लगभग पन्द्रह युवक-युवतियों का ट्रुप लेकर आ गईं। तेजी को उनकी देख-रेख का काम सौंपा गया। साउथ एवेन्यू में कुछ एम० पी० फ़्लैट्स खाली थे, वहीं उनको ठहराया गया, हमारे फ़्लैट के बिलकुल सामने सड़क पार। उनके खाने-पीने का इंतज़ाम साउथ एवेन्यू कैंटीन में कर दिया गया जो पास ही थी। दो दिन फ़्लैट में रिहर्सल हुए। तीसरे दिन स्टेज रिहर्सल हुआ। चौथे दिन शाम को आमंत्रित दर्शकों के सामने 'सवेरा' नाटक खेला गया।

उन दिनों एक कर्नल गुप्ते हुआ करते थे। सूचना और प्रसारण मंत्रालय के सांग एण्ड ड्रामा डिवीज़न में किसी ऊंचे पद पर थे। फ़ौज के कर्नल पद से संगीत-नाटक की क्या विशिष्ट अर्हता उन्होंने प्राप्त की थी कि उन्हें इस प्रभाग में लाकर बिठला दिया गया था, मैं नहीं जानता। रंगमंच उन्हीं के निदेशन में तीन मूर्ति भवन के लॉन में दाहिनी तरफ बनाया गया था। कहना चाहिए अच्छा बना था। सामने खुले में दर्शकों के लिए 400 कुर्सियां लगाई गई थीं। उस अवसर पर एक स्मारिका भी छपाई गई थी जिसमें नाटक की संक्षिप्त कथा दी गई थी, पात्रों और अभिनेताओं की सूची और नाम दिए गए थे। यहाँ फिर तेजी अपनी पुरानी ठकुराइन की भूमिका में उतरी थीं। नाटक का निदेशन श्रीमती विमला रैना ने किया था। स्मारिका की एक प्रति मेरे कागज-पत्रों में कहीं रखी होगी।

दर्शकों में पंडित जी, इंदु-फ़ीरोज जी तो थे ही, महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद भी पधारे थे। कई मंत्री, बहुत से संसद-सदस्य, सचिवालय, मंत्रालयों के अनेक उच्च अधिकारी भी दर्शकों में थे। नाटक रुचि से देखा गया था और सफल कहा गया था। अभिनेता-अभिनेत्रियों में 'ठकुराइन' उभरकर आगे आई थीं। उनके बारे में मैं कुछ और कहूंगा तो लोग कहेंगे कि ठाकुर अपनी घरवाली का गुनगान कर रहा है। नाटक समाप्त होने पर राजेन्द्र बाबू और पंडित जी स्टेज पर आए थे और उन्होंने अभिनेता-अभिनेत्रियों को बधाई दी थी और उनके साथ चित्र खिंचवाया था। चित्र मेरे अलबम में सुरक्षित है।

कुछ समय बाद मि० रैना इलाहाबाद से स्थानांतरित होकर दिल्ली आ गये, किस पद पर इसकी मुझे याद नहीं। तेजी के साथ एक बार उनके दिल्ली निवास पर जाने की मुझे स्मृति है। उनके घर पर हनुमानजी का उनका निजी मंदिर था। दिल्ली आने पर विमला जी के नाट्य संबंधी क्रियाकलाप के बारे में मैंने कोई चर्चा नहीं सुनी।

'सवेरा' मंचन की सबसे बड़ी उपलब्धि मेरे लिए यह थी कि उससे कुछ दिनों के लिए तेजी का मन बहल गया था, उनके सामने कुछ काम आ गया था जिसको दक्षता से संपादित करने में वे तन-मन से लग गई थीं और वह जिस सफलता के साथ संपन्न हुआ था उस पर कुछ प्रसन्नता और कुछ संतोष का अनुभव कर सकती थीं। अन्यथा वे ख़ाली-ख़ाली बैठी प्रायः उदास रहा करती थीं। और यह देखकर तो मैं आश्चर्यचकित ही रह गया कि उन दिनों उन पर एक बार भी एलर्जी का आक्रमण नहीं हुआ।

बच्चे भी शुरू-शुरू में शेरवुड जाकर पहले तो बहुत घबराए। पहाड़ी प्रदेश के रहन-सहन, जीवन से पहले-पहल उनका साबका पड़ा था—नया स्कूल, नए अध्यापक, नए-नए सहपाठी, नए तरह की पढ़ाई, नए प्रकार का अनुशासन-नियमन, भोजन-छादन आदि सभी में। बंटी तो वहां पहुंचकर बहुत रोया, बीमार पड़ गया, अमित ने अपने को ज़ब्त में रखा, अपने पर अपने से अधिक बड़े होने की कम से कम दिखावटी मनोवृत्ति आरोपित करके, कि वह छोटे भाई को धैर्य बंधाने, उसकी देख-संभाल करने के लिए सक्षम है। पर अमित अपने पत्रों में अपनी और बंटी की भी मनोदशा का जो सुस्पष्ट और सजीव वर्णन भेजता वह हमें रुला देता। धीरे-धीरे बच्चे नई परिस्थितियों के अभ्यस्त हो गए, अपने को व्यवस्थित पाने लगे और एक प्रकार से खुश भी रहने लगे। बच्चों में, हम सहसा मानने को तैयार नहीं होते, नए, अपरिचित, अजनबी से अपना अनुकूलन करने की बड़ी अद्भुत शक्ति होती है।

मंत्रालय की पहली हिंदी वार्षिक रिपोर्ट तैयार करने के बारे में मैंने विस्तार से बताया है। मैं मंत्रालय में दस बरस रहा। हर साल मार्च-अप्रैल के महीनों में रिपोर्ट को अंग्रेज़ी से हिंदी में अनूदित करने और सीमित समय के अंदर छपाकर तैयार कराने का काम उसी हफड़ा-दफड़ी में होता। दूसरे वर्ष से मेरे लिए काम कुछ हल्का हो गया था। मंत्रालय में हिंदी के बढ़ते हुए काम को देखकर मैंने हिंदी अनुभाग में एक सहायक-अनुवादक की नियुक्ति करा ली थी।

श्री अजित शंकर चौधरी—जो अब हिंदी संसार में अजित कुमार के नाम

से विख्यात हैं—उस समय दिल्ली के किरोड़ीमल कालेज में नए-नए हिंदी लेक्चरर के पद पर नियुक्त हुए थे। दिल्ली में मुझसे मिलते रहते थे। एक दिन बात-बात में जब मैंने उनसे ज़िक्र किया कि हिंदी अनुभाग में एक सहायक अनुवादक की नियुक्ति की जाने वाली है और मैं योग्य व्यक्ति की तलाश में हूं तो उन्होंने उस पद पर आने की अभिलाषा प्रकट की। मैं स्वयं उनको या श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव को लेना चाहता था, जो उन दिनों आल इंडिया रेडियो के दिल्ली केन्द्र पर हिंदी समाचार विभाग में काम कर रहे थे।

जिन दिनों मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी का लेक्चरर था, अजित और ओंकार इंटर पास कर बी० ए० करने के लिए इलाहाबाद आए थे। वे दोनों ही मेरे लेक्चर क्लास में थे और सेमिनार में भी—बुद्धि से कुशाग्र और चरित्र से शालीन-शिष्ट; कल्पनाशील पर संयत; हिंदी साहित्य में उनकी विशेष रुचि थी और भविष्य में कुछ सृजनात्मक लिखने के सपने भी उनकी आंखों में थे। अजित उत्तर-छायावादी काल की सर्वप्रमुख कवयित्री श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा के सुपुत्र थे, और लड़कपन में उनपर महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की छाया भी पड़ी थी जब वे कुछ समय के लिए उनके माता-पिता के साथ रहने को उन्नाव आए थे। प्रसंगवश बता दूं कि उन्हीं के साथ रहते हुए 'निराला' ने अपनी प्रसिद्ध व्यंग्य कृति 'कुकुरमुत्ता' लिखी थी और अजित के पिता राजेन्द्र शंकर चौधरी ने ही उसे युगमंदिर उन्नाव से सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। ओंकार के साथ कोई ऐसी साहित्यिक पारिवारिक पृष्ठभूमि न थी, फिर भी साहित्यिक सुरुचि और सूझ-बूझ उनमें अजित से कम न थी। दोनों घनिष्ठ मित्र थे, होस्टल में दोनों एक ही कमरे में रहते थे, प्राय: एक ही कद-काठी के, गो अजित कुछ भरे, ओंकार कुछ दुबले, एक से ही कपड़े पहनते, एक साथ ही जहाँ-तहाँ देखे जाते। महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने उन्हें 'अश्विनी कुमारों' की संज्ञा दे रखी थी। अजित ने हिंदी में एम० ए० किया, ओंकार ने अर्थशास्त्र में और फिर एकाधिक जगहों पर काम करते-छोड़ते अंत में दोनों दिल्ली आ पहुंचे।

सहायक अनुवादक के रूप में अजित कुमार को लेकर मुझे खुशी हुई, और वे भी संभवत: मेरे साथ काम करने का अवसर पाकर प्रसन्न हुए। विदेश मंत्रालय में किरोड़ीमल कालेज से वेतन भी अधिक था—मगर काम भी अधिक। अब बाहर के दौड़-धूप वाले काम पर मैं उन्हें लगा देता और वे दिए काम को जवाबदेही के साथ पूरा करते। हिंदी गद्य-लेखन पर उनका यथेष्ट अधिकार था। मेरी हमेशा से यह धारणा रही है कि अच्छा अनुवादक वही हो सकता है जो अच्छा मौलिक लेखक भी हो। अनुवाद के कार्य में मुझे उनसे पर्याप्त सहायता मिलती। उनके अनुवाद में संशोधन करने की शायद ही मुझे कभी आवश्यकता पड़ती। फिर भी अनुभाग में किए हर काम को अंतिम रूप देने का दायित्व मैं अपना ही समझता।

हिंदी अनुभाग का काम कई तरह का था। कुछ ऐसा नियम बन गया था कि संसद में हिंदी में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर हिंदी में दिया जाए। जब संसद का सत्र चालू रहता तब ऐसे प्रश्नों के उत्तर निश्चय ही अंग्रेज़ी में तैयार किए जाते। कभी-कभी प्रश्नोत्तरों के साथ लंबी-लंबी पूरक वार्ताएँ (supplementaries) होतीं। उनका भी अनुवाद करना होता। हिंदी अनुभाग की सबसे बड़ी मुसीबत

यह होती कि जब किसी काम को अंग्रेज़ी में अंतिम रूप दे दिया जा चुकता तब हमारे पास भेजा जाता उसका अनुवाद करने को, पर प्रस्तुत करना होता उसको अंग्रेज़ी के साथ ही। कभी-कभी तो शर्मा जी, अजित और मैं तीनों ही कुछ-कुछ हिस्सों का अनुवाद करते, तब काम समय से ख़त्म हो पाता। और फिर सबको एकरूपता देने का काम मेरा होता।

मंत्रालय में अन्य देशों के साथ विभिन्न विषयों पर जो क़रारनामे-समझौते किए जाते वे होते संबद्ध देश की अपनी भाषा में, अंग्रेज़ी में और हिंदी में—हिंदी में केवल यह औपचारिकता निभाने के लिए कि भारत की अपनी 'राष्ट्रभाषा' भी है और उसमें क़रारनामे का प्रारूप प्रस्तुत है, पर वस्तुत: वह अंग्रेज़ी का अनुवाद ही होता। और इस औपचारिकता का मुखौटा भी तब उतर जाता जब अंग्रेज़ी प्रारूप के अन्त में यह टिप्पणी जोड़ दी जाती कि दोनों देशों में किसी प्रकार का विवाद उठने पर न्यायालय में केवल अंग्रेज़ी का प्रारूप प्रामाणिक माना जाएगा। हमें जो चीज़ सबसे ज़्यादा अखरती वह यह कि अनुवाद का यह काम हमारे सिर पर तलवार लटकाकर कराया जाता—-इतनी देर के अन्दर अनुवाद साफ़ टाइप होकर हाज़िर कर दिया जाना चाहिए क्योंकि मसौदों पर परस्पर हस्ताक्षर कर आदान-प्रदान करने का फ़लां समय निश्चित है।

जब विदेशों से विशिष्ट राजनयिक हस्तियां या विशिष्ट व्यक्ति आते तो लाल किले में उनका सार्वजनिक स्वागत किया जाता। उत्तर में जो भाषण वे देने वाले होते वह लिखित रूप में विदेश मंत्रालय को भेज दिया जाता, प्राय: अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ। हिंदी अनुभाग को उसका हिंदी रूप तैयार करना पड़ता। विशिष्ट राजपुरुष अपने भाषण का आदि और अन्त अपनी भाषा में पढ़ता, पर पूरा भाषण उसकी ओर से अनुवाद के रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया जाता; यह काम सदा मैं ही करता। यहां भी प्राय: अंग्रेज़ी प्रारूप इतनी देर से मिलता कि अनुवाद करने के लिए पर्याप्त समय न होता और स्वागत भाषण का समय तो टल न सकता। एक बार की मुझे याद है, शायद रूसी नेता ब्रेज़नेव पहली बार भारत पधारे थे, उनके स्वागत-भाषण का समय लाल किले में निश्चित था। उनके भाषण का अंग्रेज़ी रूप इतनी देर से मिला कि अनुवाद करने को समय ही नहीं था। अब क्या किया जाए ? उनको राष्ट्रपति भवन से लाल किले तक जलूस में जाना था। मैंने अधिकारियों से आज्ञा लेकर विदेश मंत्रालय की एक मोटर भी जलूस के कार-क़ाफ़ले में लगवा ली। मेरे स्टेनो ने मोटर में बैठकर टाइपिंग मशीन अपने घुटनों पर रखी। मैं बगल में बैठा। रास्ते में तमाम शोरगुल के बीच मैं अनुवाद करता रहा जिसे मेरा स्टेनो टाइप करता गया और जब तक जलूस लाल किले पहुँचा मेरा अनुवाद तैयार हो गया था जिसे मैंने ही पढ़कर सुनाया। प्रथम अंतरिक्ष यात्री गगारिन के स्वागत के समय भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में अनुवाद किया गया था, पर तब मैं अंग्रेज़ी प्रारूप के नीचे अपना अनुवाद लिखता गया था—मुझे ही पढ़ना था, इससे कोई दिक्कत नहीं हुई।

एक और तरह का अनुवाद कार्य होता, पत्रों को अनूदित करने का। पंडित जी ने मंत्रालय में यह आदेश दे रखा था कि जहां तक हो सके हिंदी में आए पत्रों का उत्तर हिंदी में ही दिया जाए। अब देखिए उस आदेश का पालन किस तरह किया जाता था। जब मंत्रालय में कोई पत्र हिंदी में आता तो संबद्ध अधिकारी

उस पर एक चिट लगाकर हिंदी अनुभाग को भेज देता—Kindly translate it into English. हिंदी अनुभाग उसका अनुवाद कर संबद्ध अधिकारी को वापस कर देता। तब वह उसका उत्तर अंग्रेज़ी में लिखता। उस पर फिर एक चिट लगकर आती—Kindly translate it into Hindi. जब उसका हिंदी अनुवाद उसके पास पहुंचता तो वह उसके नीचे शायद अपना हस्ताक्षर अंग्रेज़ी में ही करके पत्रोत्तर पोस्ट कराता। इस दीर्घ-विलंबित कार्य को द्रुत-विलंबित में तभी परिवर्तित किया जा सकता था, जब मंत्रालय का प्रत्येक अधिकारी हिंदी जानता हो, साथ ही उसके अनुभाग में एक हिंदी स्टेनो-टाइपिस्ट हो। जब तक मैं मंत्रालय में था, तब तक हिंदी अनुभाग के अतिरिक्त न किसी और अनुभाग में हिंदी स्टेनो-टाइपिस्ट नियुक्त किया गया था, न किसी में हिंदी टाइपिंग मशीन थी, और न कोई अधिकारी, हिंदी जानने वाला भी हिंदी में काम करने की जहमत उठाने को तैयार न था। मुझे पता नहीं मेरे मंत्रालय छोड़ने के लगभग बीस वर्ष बाद क्या स्थिति है—शायद वही जो मेरे समय में थी। हम हिंदुस्तानी जल्दी कोई परिवर्तन लाने में विश्वास नहीं करते। हिंदी पत्र पहले भी काफ़ी आते थे; अब ज़्यादा ही आते होंगे। और हिंदी में काम न करने की कसम खाए बैठ हमारे अंग्रेज़ीपरस्त अधिकारियों ने काम निबटाने का यह आसान तरीका निकाला होगा—चलो, हिंदी अनुभाग में एक-दो या तीन अनुवादक और नियुक्त किए देते हैं। सरकार का काम नहीं रुकना चाहिए।

तकनीकी और विशिष्ट शब्दों के हिंदी पर्याय बनाने के संबंध में जो काम हो रहा था, उस पर मैं पहले भी लिख चुका हूँ; मेरे दिनानुदिन के काम में जो राजनयिक विशिष्ट शब्द आते उनकी सूची मैं बनाता जाता और समय-समय पर उसे हिंदी यूनिट को भेजता रहता। पर्यायों को अंतिम रूप देने को जब बैठक बुलाई जाती तब उनमें उपस्थित होता। तकनीकी शब्दों के जो हिंदी पर्याय बने थे उन्हें सब प्रांतीय भाषाओं में स्वीकृत कराने के संबंध में जो समिति बनी थी, उसकी चर्चा भी मैं पहले कर चुका हूं। कुछ ही बैठकों के बाद समिति के अध्यक्ष 'दिनकर' जी को और मुझे भी यह अनुभूति हो गई थी कि इस दर्जे पर सारे देश के लिए एक ही तकनीकी शब्दावली मनवाने में हम सफल नहीं हो सकगे। अंत में यही निर्णय करके समिति विसर्जित कर दी गई थी कि हम पारिभाषिक शब्द संग्रह (A Consolidated Glossary of Technical Terms) प्रकाशित करके प्रांतीय भाषाओं को यह सुझाव भर दे दें कि वे अपनी भाषिक-शब्दावली यथासंभव हिन्दी शब्दावली के निकट रखें। मेरी दृष्टि में यह दुर्भाग्यपूर्ण था। प्रांतीय भाषा विशेषज्ञों की उक्त समिति में बैठे हुए मुझे निरन्तर यह दुखद अनुभूति होती थी कि प्रांतीय भाषाओं ने हिंदी को पूरे मन से स्वीकार नहीं किया था। स्वीकार किया होता तो अपनी-अपनी भाषा की कुछ विभाजक विशिष्टताओं को छोड़कर भी वे हिंदी की संयोजक विशिष्टताओं को सहज स्वीकार कर लेते—आखिर जब हिंदी को राष्ट्रभाषा माना गया था तो उसे कुछ विशेषाधिकार भी देना था, कम से कम देश भर को एक ही प्रकार की तकनीकी शब्दावली से जोड़ने के उसके प्रयत्न को तो मान्यता देनी ही थी, अगर देश की एकता कोई ऐसी चीज है जो किसी भी मूल्य पर हमें बनाए रखनी है। कुछ शब्दों का मूल्य कुछ अधिक तो नहीं।

इन रुटीन कामों के अतिरिक्त कुछ और राजनयिक पुस्तिकाओं के अनुवाद करने का काम भी मुझे सौंपा गया था, जिनमें कुछ संयुक्त राष्ट्र के प्रकाशन थे—उनमें 'युद्धबंदी संहिता' के अनुवाद करने की मुझे याद है—कुछ विदेश मंत्रालय 'मैनुएल्स' (नियमावलियां कहें उन्हें) ; इनके लिए समय का कोई प्रतिबंध न था। इन्हें खुद अनूदित करने का मैंने निश्चय किया। काम स्थायी महत्व का था, और सुचारु रूप से करने के लिए शांत-एकांत वातावरण की माँग करता था। एक ही कमरे में तीन और अवर सचिवों के साथ बैठ, उनकी 'गिट-पिट' के बीच यह काम मुश्किल से ही हो सकता। पांच-साढ़े पांच के बाद जब वे सब चले जाते तब अकेले कमरे में बैठकर मैं यह काम शुरू करता। आठ-साढ़े आठ रात के पहले शायद ही किसी दिन घर लौटता।

इधर तेजी ने भी अपनी शामों के लिए कुछ शुग़ल निकाल लिया था। 'सवेरा' की ट्रुप के विदा होने के बाद कुछ अरसे तो ज़रूर उनके दिन फिर खाली खाली, उदास-उदास बीतने लगे थे। पर मुझे यह देखकर खुशी हुई कि उससे राहत देनेवाली एक सूरत निकल आई। 'सवेरा' का मंचन एक तरह से निजी था, प्रेस भी नहीं बुलाया गया था, इससे उसकी कोई आलोचना-टिप्पणी आदि पत्रों में तो नहीं हुई थी, फिर भी नाटक प्रधान मंत्री के निवास पर खेला गया था, चार-पांच सौ आदमियों ने उसे देखा था, उसकी कुछ चर्चा तो शहर में होनी ही थी, जिसके बीच सफल अभिनेत्री के रूप में तेजी का ज़िक्र आना भी स्वाभाविक था।

उन दिनों नई दिल्ली में एक मि० आनन्द रहते थे, बंगाली मार्केट के करीब कहीं; मुझे नहीं मालूम कि क्या काम करते थे, पर रहन-सहन से संपन्न, शिक्षित, सुसंस्कृत व्यक्ति मालूम होते थे। नाटक लिखने और खेलने में भी उनकी दिलचस्पी थी। उन्होंने कोई नया नाटक लिख रखा था और उसे खेलने के लिए अभिनेताओं की खोज में थे। तेजी की चर्चा उनके कानों तक पहुंची तो एक दिन वे सपत्नीक मेरे घर पधारे। उन्होंने तेजी के सामने प्रस्ताव रखा कि उन्होंने फलां नाटक लिखा है, मंच पर प्रस्तुत करना चाहते हैं, क्या तेजी जी फलां पात्री की भूमिका में उतरना चाहेंगी ? तेजी के चेहरे से स्वीकृति की मुद्रा का कुछ आभास पाकर उन्होंने वहीं बैठे-बैठे नाटक का पूरा कथानक सुना दिया। कहानी तेजी को पसंद आई और उन्होंने मि० आनन्द का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। नाटक सामाजिक था, शायद उसका शीर्षक 'तलाक' था। कुछ दिनों के रिहर्सल के बाद नाटक सप्रू हाउस में खेला गया था—दो-तीन शो हुए थे। उनके नाटकों के लिए टिकट बिकते थे, पर दर्शकों में 75 प्रतिशत आमंत्रित संभ्रांत-सुप्रसिद्ध लोग हुआ करते थे। नाटक के मंचन का सारा खर्च मि० आनंद उठाते। टिकटों की बिक्री से क्या आमदनी होती है, इसकी उन्हें कुछ परवाह नहीं थी। टिकट सिर्फ़ प्रवेश को नियंत्रित करने की ग़रज़ से रखे जाते थे। खर्च का सौवाँ हिस्सा भी शायद ही टिकटों से न आता होगा। पर नाटक खेलना मि० आनंद के लिए कोई व्यवसाय नहीं था, व्यक्तिगत शुग़ल था। नाटक सफलता से खेलकर वे खुश होते थे और अपने घर पर अभिनेताओं को बुलाकर एक शानदार दावत देते थे। तेजी ने शायद उनके एक और नाटक में काम किया।

'तलाक' नाटक की एक मनोरंजक घटना मुझे याद आ गई। उसके रिहर्सल

कुछ दिन हमारे घर पर यानी 77, साउथ एवेन्यू में भी हुए थे।

नाटक में एक स्थान पर तेजी अपनी भूमिका में चिल्ला-चिल्लाकर कहती हैं—

'मैं तलाक लेकर रहूंगी,
मैं तलाक लेकर दिखा दूंगी !'

मेजर अविनाश चन्द्र महीनों से मुझसे न मिले थे। एक दिन अचानक कहीं हमारी मुलाकात हो गई तो मैंने कहा, 'यार, क्या बात है, मैं तो अपने नए-नए काम में व्यस्त हूं, पर तुम तो हमसे कभी मिलने आते।'

'गया था, तुम्हारे घर तक।'

'फिर अन्दर क्यों नहीं आए ?'

'कुछ वजह थी, कि दबे पांव लौट आया।'

'क्यों, भाई, क्यों ?'

'अरे भाई, पति-पत्नी में हर घर में झगड़े होते हैं, मैंने सोचा, उस वक़्त तुम्हारे घर आना तुम्हारे लिए बड़ा embarrassing होगा।'

'पर हमारा तो कोई ऐसा झगड़ा नहीं।'

'हमसे न छिपाओ। उस दिन तेजी बहन की आवाज़ हमने सुनी थी—गुस्से में आदमी क्या-क्या बक जाता है—वह कह रही थीं मैं तलाक लेकर रहूंगी।'

मैंने कहा, 'अरे बुद्धू, हमारे घर में एक ड्रामे का रिहर्सल हो रहा था; यह तेजी नहीं बोल रही थीं, नाटक की एक पात्री बोल रही थी।'

हिंदी के लिए मुझमें और अजित कुमार में भी उत्साह था। हमने सोचा कि दिए हुए काम के अतिरिक्त हमें कुछ हिंदी संबंधी काम अपने आप भी करना चाहिए। उस समय तक हिंदी न जाननेवाले अफ़सरों के लिए हिंदी प्रशिक्षण की योजना न बनी थी, या अगर बनी भी थी तो कार्य रूप में परिणत न हुई थी। हमने सोचा विदेश मंत्रालय के ऐसे अफ़सरों के लिए हिंदी क्लास चलाया जाए। अंग्रेज़ी में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को हिंदी उसी तरह नहीं पढ़ाई जा सकती जिस प्रकार छोटे बच्चों को। हम लोगों ने बहुत सोच-विचार कर ऐसे लोगों के लिए एक विशिष्ट पाठ्यक्रम तैयार किया। यह स्मरण करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि सबसे पहले जो अफ़सर हिंदी सीखने को आगे बढ़े वे तमिलभाषी थे—उनमें श्री कन्नम पिल्ले का नाम मुझे अब तक स्मरण है। थोड़े ही दिनों बाद अफसरों को प्रशिक्षित करने की सरकारी योजना आ गई – उनके लिए अध्यापक नियुक्त हो गए, पर प्रशिक्षण विधि वही पुरानी परम्परागत रखी गई और हमें अपना प्रयोग बंद कर देना पड़ा। एक तरह से हमसे कह दिया गया कि यह हमारा क्षेत्र नहीं, हम लोग अपने को अनुवाद कार्य तक ही सीमित रखें।

एक और नई बात मैंने सोची। क्यों न उन फाइलों पर हिंदी में नोटिंग शुरू की जाय जिनका संबंध हिंदी काम से और हिंदी-अनुभाग से हो। एक फ़ाइल पर मैंने हिंदी में नोट लिख भी दिया। पर उसे ऐसा ही समझा गया जैसा ब्राह्मण-समाज में कोई अछूत घुस आया हो। दूसरे ही दिन उस पर एक बड़े आफ़िसर की चिट लगकर आ गई जिस पर लिखा था—Please translate it into English.—प्रथम चुंबने ओष्टभंगः —अब मैं ही हिंदी में नोट लिखूं, मैं ही

उसका अंग्रेज़ी अनुवाद करूं, इससे अधिक बेतुकी बात क्या हो सकती थी। जहां तक मुझे मालूम है, अफ़सर महोदय हिंदी से इतने अनभिज्ञ न रहे होंगे कि उस साधारण सी नोटिंग की बात न समझ सकें, पर उनके व्यवहार से यह स्पष्ट हो गया कि अफसरों की मनोवृत्ति हिंदी की ओर विरोधात्मक है, और इस बात की पूरी सतर्कता है कि उसे क़दम रखने को कोई जगह न दी जाए; संविधान के कुछ प्रावधानों के प्रति फ़र्ज़-अदाई करने के लिए उसे एक कोने में बैठने से तो नहीं रोका जा सकता, पर हिंदी अनुभाग से आगे उसे किसी तरफ हाथ बढ़ाने न दिया जाए। कुछ दिनों के बाद तो मैंने साफ़ देख लिया था कि यह हिंदी सेक्शन नौकरशाही की—'ब्यूरोक्रेसी' के लिए यह शब्द तिलक महाराज ने दिया था, जिसे अब वे दफ़्तरशाही या अफ़सरशाही कहना चाहते हैं—गहरी कूटनीतिक चाल है। हिंदी सेक्शन जब तक है तब तक किसी को हिंदी सीखने की ज़रूरत नहीं। आप जो कुछ लिखना-कहना चाहते हैं हिंदी में कहिए-लिखिए, हम उसका जवाब हिंदी में देंगे, बगैर हिंदी का एक अक्षर ज़ाने। हिंदी अनुभाग ज़िन्दाबाद! अंत में तो मेरी दृढ़ धारणा हो गई थी कि अगर हिंदी को दफ्तरों में लाना है तो हिंदी सेक्शनों को तोड़ देना चाहिए और अफ़सरों को अपने जैसे-तैसे हिंदी ज्ञान के बल पर जो काम हिंदी का आए उसे निपटाना चाहिए—तभी हिंदी कुछ प्रगति कर सकेगी। हिंदी सेक्शन जब तक रहेगा हिंदी की प्रगति-प्रचार में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़ा रहेगा।

ओष्ठभंग हुआ था, पर मनभंग नहीं हुआ था। मंत्रालय में हिंदी प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए मैंने कुछ छोटे-मोटे सुझाव दिए, जैसे जो अधिकारी हिंदी जानते हैं—और निश्चय कुछ लोग ऐसे हैं—उनके संबद्ध अनुभागों में एक हिंदी स्टेनो-टाइपिस्ट की नियुक्ति की जाए और एक पोर्टेबिल हिंदी टाइपिंग मशीन रख दी जाए कि उनसे संबद्ध जो पत्रादि आएं उनका निपटान वे अपने यहां ही कर दें, मंत्रालय में जितने भी साइनबोर्ड हैं वे हिंदी में करा दिये जाएं, चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों से संबद्ध जितने भी कागद-पत्तर चलते हैं सब हिंदी में करा दिये जाएं—उनमें अंग्रेज़ी जाननेवाले शायद 1 प्रतिशत से भी कम हों। मंत्रालय के स्वागत-कक्ष का जितना काम है वह सब हिंदी में हो—हिंदी कहीं न कहीं से तो शुरुआत करे, और अच्छा है नीची से नीची जगह से। जड़ नीचे से मज़बूत होकर ही वृक्ष को सीधा तना रखती है, पल्लवित-पुष्पित करती है।

उन दिनों मंत्रालय में मुख्य सचिव श्री सुबिमल दत्त थे—दुबले-पतले, मझोले कद के, सिर शरीर के अन्य अंगों के अनुपात से कुछ बड़ा; आंखें बड़ी-बड़ी, चश्मा लगाते थे; स्वभाव से गम्भीर, कम बोलते थे, पर जब बोलते थे, मीठा। मुझे याद है जब मैं नया-नया मंत्रालय में आया था एक दिन पंडित जी ने मुझे अपने कमरे में बुलाकर उनसे मेरा परिचय कराया था, साथ ही सेक्रेटरी-जनरल मि० पिल्ले से—वे अपने पद को शोभित करनेवाले अंतिम व्यक्ति थे—नाटे, सांवले, गठे-भरे शरीर के, कालर-टाई से टिप-टाप सूट में—उनके बाद वह पद निरस्त कर दिया गया, और श्री बेग से जो उस समय चीफ़-आफ़-प्रोटोकोल थे—औसत से ऊंचे कद के, शरीर से कुछ भारी, सदा हंसमुख। बातचीत के दौरान पंडित जी ने जोड़ दिया था, तुम्हारा काम मि० बेग

से अक्सर पड़ेगा, मि० दत्त से कभी-कभी और मि० पिल्ले से शायद ही कभी। राजदूतों की नियुक्ति, स्थानांतरण, वापसी आदि से संबद्ध पत्र चीफ़-आफ़-प्रोटोकोल के विभाग से जाते थे। उन्हीं का विभाग विदेश से आनेवाले राज-पुरुषों के स्वागत, निवास, भोज, भ्रमण आदि का प्रबंध करता था।

एक दिन श्री सुबिमल दत्त ने मुझे अपने कमरे में बुलाया, प्रेम से मिले, अनौपचारिक वातावरण रखने के लिए चाय भी मंगा ली, बोले, 'डा० साहब, मैं अफ़सरों में initiative (पहल-प्रवृत्ति) की कद्र करता हूं, जो आप में, मुझे देखकर खुशी होती है, खूब है, पर हम जो bureaucracy (नौकरशाही) के लोग हैं, हमें संयत होकर काम करना पड़ता है, हम over-enthusiastic (उत्साहातिरेक-ग्रस्त) नहीं हो सकते। हमारे कार्यों को दिशा-निर्देशित करने वाले राष्ट्रपति हैं, प्रधान मंत्री हैं, संसद है। हमारा कर्त्तव्य है कि हमें जो आदेश दिए जाएं उनका हम भलीभांति पालन करें, जो काम बताया जाए उसे खूबी के साथ अन्जाम दें और समय से। पंडित जी आपके काम से बहुत संतुष्ट हैं। जो भी काम आपको दिया गया है वह आपने दिल से, लगन से किया है। सरकारी दफ्तरों में हिंदी प्रयोग की नई दिशाएं क्या हों, उसके लिए आदेश निकट भविष्य में आनेवाले हैं। आपको तो मालूम ही होगा, संविधान की धारा 344 के तहत श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में सरकारी भाषा आयोग की नियुक्ति हो चुकी है। अब तो वे अपनी रिपोर्ट भी प्रस्तुत करनेवाले होंगे। फिर एक संसदीय समिति उस पर विचार करेगी जिसपर राष्ट्रपति आदेश देंगे कि हिंदी का काम आगे किस-किस दिशा में होने को है। आपके सुझाव बहुत अच्छे हैं, राष्ट्रपति के आदेश आने दीजिए, फिर हम देखेंगे कि उनके अंतर्गत आपके सुझावों को कहाँ-कैसे स्थान दिया जा सकता है। मैं आशा करता हूं आप मुझे गलत नहीं समझते। इस मंत्रालय में हिंदी के काम में आप जैसे विद्वान से सहयोग-सहायता पाना हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। अभी जैसा चल रहा है, चलने दीजिए।'···

सुबिमल दत्त अनुभवी और मंझे अधिकारी थे—पुराने आई० सी० एस०, कूटनीतिदक्ष। कोई मुंहफट, जो मूल बात उन्होंने कही, उसको एक वाक्य में यों रख देता, 'आपको जो काम दिया जाता है उसे करिए और अपने सुझावों को अपने पास रखिए।'

मैं अपनी सीमाएं समझ गया।

इसके बाद कई दिन मैं गहन विचारों में पड़ा रहा। मैं जिस आशा, विश्वास, उल्लास से विदेश मंत्रालय में आया था, वह मेरा भ्रम था। पंडित जी ने तो पहले ही कह दिया था कि मेरा काम अनुवादक का होगा। अपने मौलिक चिंतक-विचारक को मुझे यहां सुला देना पड़ेगा। पर क्या यह आसान होगा? उससे बड़ा प्रश्न, क्या यह वांछित होगा? मैंने इलाहाबाद छोड़ने के उतावलेपन में इस अनुवादक की नौकरी के निहितार्थ को पूरी तरह नहीं समझा था। और अनुवाद भी यहां किस कोटि का करना पड़ता है। इस काम में मेरे बुद्धि-बल के शायद पांच प्रतिशत का उपयोग होता हो। समय की जिन सीमाओं में, जिस जल्दबाज़ी से यहां काम पूरा करना होता है उसमें बौद्धिक तनाव और बौद्धिक श्रम तो मैं जानता हूं; बौद्धिक सुख या शांति मैं नहीं जानता—बौद्धिक संतोष,

जो किसी समय मौलिक कविता या मौलिक लेख लिखकर मैं पाता था, या कभी-कभी युनिवर्सिटी में अपने विद्यार्थियों के सामने किसी विषय पर अच्छा लेक्चर देकर या किसी कविता का सौंदर्य सुस्पष्ट करके। मैंने दिल्ली आने के लिए बहुत बड़ी कीमत अदा कर दी, अनुवादक बनने के लिए अपने कवि, अपने अध्यापक की उपेक्षा करके। मैं विदेश मंत्रालय में गिरवी नहीं रखा। क्या मैं अपने पुराने कवि-अध्यापकीय जीवन में नहीं लौट सकता। साल भर की छुट्टी पर ही तो हूं अभी। फिर याद करता हूँ—

'जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।'

इलाहाबाद के अतिरिक्त भी तो विश्वविद्यालय हैं। कहीं और भी जगह होने पर मैं प्रार्थना-पत्र दे सकता हूँ, लिया भी जा सकता हूँ। जीवन प्रयोग है। यहाँ आना एक प्रयोग ही था। सफल नहीं हुआ। क्या दूसरा प्रयोग करने को मैं स्वतंत्र नहीं हूं ?

मैंने अपना ऊहापोह, अपनी उद्विग्नता तेजी को भी नहीं बताई; वे समझती रहीं दफ्तर में काम बहुत है, मैं बहुत थक जाता हूं। क्या बताता उनसे। वे कम उखड़ी-उखड़ी नहीं थीं। नाटक की चहल-पहल एक बार खत्म हुई तो फिर वही ख़ालीपन, वही उदासी, वही बच्चों की याद, वही उनके लिए हुड़क, वही बीमारी, वही एलर्जी का उभार। मैंने उनसे कहा, मैं तो न जा सकूंगा, तुम नैनीताल जाकर बच्चों को देख आओ; चाहो तो बंटी का जन्म दिन मनाकर लौटो। दिल्ली में गर्मी बहुत पड़ रही है, नैनीताल का परिवर्तन तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा रहेगा, मैं तो इलाहाबाद की गर्मी का सिझा हूँ। सच तो यह है कि गर्मी में मैं खुश रहता हूं। इस मामले में मैं वैशाखनंदन हूँ, तुम्हारी पंजाबी में 'खोता'—जब जी चाहा नहाया, ठंडे शर्बतों से जी जुड़ाया, खुले आसमान के नीचे सोये, किसी नदी-तालाब में नहाने या तैरने को मिल जाए तो स्वर्ग सुख। सुना है राष्ट्रपति भवन में एक swimming pool (तरण-ताल) है। किसी से कह-कहलाकर मुझे भी उसमें नहाने-तैरने की आज्ञा मिल सकती है। उधर तुम्हारे जाने से बच्चे भी खुश हो जायेंगे। चिट्ठी में पढ़ती ही हो, कितना तुम्हें याद करते हैं। अक्टूबर में हम दोनों चलेंगे। अमित का जन्मदिन हम वहीं मनाएंगे। उसी समय बच्चों के स्कूल का वार्षिकोत्सव होता है। दिसंबर में तो वे छुट्टियों में घर आ ही जाएंगे।

तेजी का मन भी बच्चों को देखने के लिए व्याकुल हो रहा था। मेरी बात मान गईं। मैं कुछ समय के लिए अकेलापन चाहता था। मुझे अपने विषय में कुछ गम्भीर चिंतन करना था। वार्षिक रिपोर्ट छप चुकी थी। दैनिक काम भी हल्के-फुल्के थे। अनुवाद के जो लंबे काम मुझ पर थे, उनकी कोई जल्दी न थी। दफ्तर बन्द होने के बाद अपने कमरे में बैठकर जो काम मैं किया करता था, उसे फ़िलहाल मैंने रोक दिया। पांच बजे घर वापस आ जाता। तेजी नैनीताल चली गई थीं। घर ख़ाली। न मुझे किसी से मिलने जाना, न किसी को मुझसे मिलने आना। मुझे अपने बारे में सोचने का निर्बाध अवसर मिला।

अपनी पढ़ाई समाप्त करने के बाद यों तो मैंने रोटी-रोजी की तलाश में

कई तरह के काम किए थे, पर मुख्य रूप से मैंने अध्यापन और सृजन किया था। अपने कई समकालीनों के अनुभव से मैंने यह तो समझ लिया था कि सृजन—विशेषकर हिंदी में—सुविधाजनक जीवन का साधन नहीं बन सकता, पर किसी ऐसे काम को सृजन का सहयोगी बनाने से भी हिचकता था जो उसके बिलकुल प्रतिकूल पड़े। कच्ची जवानी थी, जिसमें आदर्शवादिता मन पर इतनी हावी थी कि कभी-कभी लगता था विशुद्ध कवि बनकर जीना भी संभव है। पर ऐसा नशा ज़्यादा दिन नहीं ठहरा, क्योंकि जब यथार्थ ने आदर्श के चारों ओर अपना घेरा डालना शुरू किया तब यह मानना पड़ा कि मन की भूख तो मन-मोदक से मिट जाएगी, पर तन की भूख—'मेरा मन भूखा, तन भूखा'—जिन टुकड़ों से शांत होगी उन्हें अर्जित करने को कुछ और करना होगा, और तब काव्य-सृजन के साथ का सबसे अहानिकार पेशा अध्यापन ही लगा था। और इन दोनों को साथ जीते हुए, जिलाने की साधना करते हुए—उनके पारस्परिक विरोध कभी-कभी उभरते ही थे—चौथाई सदी बिता दी थी, कहना चाहिए आधा जीवन।

इससे एक व्यक्तित्व बना था—द्वंद्वात्मक पर सहयोगात्मक भी—एक पक्ष सौंदर्य का निर्माता तो दूसरा सौंदर्य का पारखी; एक पक्ष भावना में प्रवहमान तो दूसरा विचार से नियंत्रक या दिशा-निर्देशक, एक पक्ष सर्वतंत्र-स्वतंत्र तो दूसरा उसपर मर्यादा का अंकुश—पर दोनों सम्मिलित—एक प्रभुसत्तात्मक अस्तित्व।

आधुनिक युग की माँगों ने विशुद्ध कवि का जीवन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य कर दिया है। जिन्होंने विशुद्ध कवि का जीवन जीना चाहा उन्होंने बहुत बड़े ख़तरे उठाए—मेरी आँखों के सामने ख़तरों से पलायन करनेवाले और ख़तरों से टूटनेवाले दोनों तरह के लोग हैं। पर उनकी इस प्रवृत्ति ने उन्हें एक विशिष्टता तो दी ही। कवि और पत्रकार, कवि और राजनीतिज्ञ, कवि और व्यापारी, कवि और वकील आदि—ऐसे युग्मों की कल्पना करने पर साहित्य-संसार की जानी-पहचानी कई शक्लें आपके सामने आएँगी। मैंने कवि को अध्यापक से जोड़ा, मेरे कतिपय और समकालीनों ने भी। हर जोड़ ने कवि को एक विशिष्टता दी है। मैं कैसे कहूं कि कवि को अध्यापक के साथ जोड़ना ही आदर्श जोड़ है। मेरे सामने जो प्रश्न था, वह दूसरा था। एक जोड़ को एक युग तक जीने के बाद क्या उसे तोड़ना संभव, हितकर या प्रियकर था? जीवन की कुछ कटु परिस्थितियों में मैंने किसी आवेश में इस जोड़ को तोड़ने का दुःसाहस किया था। जल्दी ही मुझे यह अनुभूति होने लगी थी कि मैं कोई बड़ी ग़लती कर बैठा। पर मैंने अपने कवि को जिस नए से जोड़ा था, या जोड़ना चाहा था, उससे उसकी अनुकूलता नहीं, प्रतिकूलता थी। नौकरशाही में पनपे किसी कवि की शक्ल मेरे दिमाग़ में नहीं उभर रही थी। मैं नौकरशाही के गढ़ में आया था, पर अपने को जैसे उसके ऊपर उठा हुआ समझता। पर अब मुझे यह अनुभूति कराई जा रही थी कि मैं नौकरशाही का अंग हूं, कोई महत्वपूर्ण अंग भी नहीं, एक सबसे छोटी श्रेणी का, प्रायः नगण्य। मेरे कवि को, और शायद मेरे अध्यापक को भी यह स्थिति सह्य नहीं लगी। कवि के रूप में मैं शाही परंपरा का हूँ—'काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना' ('आरती और अंगारे')—जिसे गर्व से स्मरण करता हुआ मैं इलाहाबाद से दिल्ली तक आया था। और अध्यापक के रूप में

भी बादशाही परंपरा का ही कहा जाऊँगा। बदलने की एक उम्र होती है। मैंने 50 की उम्र में क्या बदलने की बात सोची! ठीक है, इलाहाबाद छोड़ना था, कहीं और अध्यापकी की जा सकती थी। दिल्ली आने पर मुझे जो अपना मानसिक परिवर्तन करना पड़ेगा उसकी तस्वीर मेरे सामने साफ़ नहीं थी। खैर, अभी इतनी दूर नहीं आया कि वापस न जा सकूं। तेजी से भी राय लेनी है। पर मुझे अपने मन में स्पष्ट होना चाहिए कि मैं क्या होकर संतुष्ट रह सकूंगा। बच्चन बाबू, अब यह खामखयाली आप छोड़ें कि आप जब जो चाहें हो सकते हैं।

महात्मा गांधी ने कहीं लिखा है, 'जब मेरे सामने कोई समस्या खड़ी होती है तब मैं गीता उठाता हूँ, और उसमें कहीं न कहीं मुझे कुछ ऐसी ज्योति मिलती है जो मुझे घनांधकार में भी रास्ता दिखा देती है।'

मैंने भी गीता उठाई—बड़ी आशा से कि मुझे भी कुछ संकेत मिलेगा। दूसरों के संकेतों पर मैं कम ही चला हूँ। इसलिए भला-बुरा जो भी मेरे सामने आया है उसके लिए मैंने अपने को ही उत्तरदायी समझा है। सच्चाई तो शायद यह है कि हम दूसरों के संकेत की ओर भी तभी ध्यान देते हैं जब उससे कहीं हमारे मन के तार जुड़े हों। इस प्रकार दूसरों के संकेत चाहे वे किसी पवित्र पुस्तक से आएँ, चाहे किसी महापुरुष से, अंतिम रूप में अपने ही होते हैं, अपने ही मन की किसी परत में दबे; दूसरों के संकेत केवल उन्हें उभार देते हैं।

इस बार गीता पढ़ते हुए मैं दो स्थलों पर रुका। एक तो जब भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

'आत्मवान भवार्जुन'

और दूसरी जगह जब वे कहते हैं—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मे भयावह'

मेरे सोचने की दिशा कुछ इस प्रकार थी। 'आत्म' से भगवान कृष्ण का संकेत 'आत्मा' से नहीं हो सकता, जो सबमें समान मानी जाती है। सब 'आत्मवान' हैं; अर्जुन भी हैं। तब 'आत्मवान हो' कहने का क्या तात्पर्य? 'आत्म' से भगवान कुछ और संकेत कर रहे हैं, शायद उस व्यक्तित्व का, उस स्वभाव का जो मनुष्य अपने संस्कार से, शिक्षण से, अनुभव से, साधना से विनिर्मित-विकसित करता है। अर्जुन ने तो क्षात्र व्यक्तित्व, क्षात्र-गुण-स्वभाव विकसित किया था न? और अब उसी को वह नकार रहा था, उसी से भाग रहा था। भगवान कह रहे हैं, अर्जुन क्षात्र-गुण-स्वभाव पर आ, वही तेरी आत्मा है, उसको छोड़कर तू निरातम हो जाएगा। यहाँ मेरे अपने लिए कुछ सोचने को था, 'बच्चन जी, क्या तुमने कोई गुण-स्वभाव-व्यक्तित्व विकसित नहीं किया है? किया है तो क्या उसे छोड़ सकते हो? फिर पचास वर्ष की अवस्था में? अर्जुन की अवस्था क्या थी जब महाभारत का युद्ध हुआ था? अर्जुन मोहाविष्ट हुआ था। तुम द्रोहाविष्ट हुए हो। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अर्जुन नहीं जानता था, पर भगवान जानते थे, अर्जुन अपना गुण-स्वभाव, अपनी प्रकृति नहीं बदल सकेगा। इसीलिए अंत में कह दिया था कि तू जो कहता है कि तू समर नहीं कर सकेगा, वह तेरा

भ्रम है, तेरा गुण-स्वभाव, तेरी प्रकृति तुझसे युद्ध कराके छोड़ेगी।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे,
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।
अहंकार धरि तैं मन माहीं, कहसि जो 'समर करब मैं नाहीं,'
तैं निस्चय नहिं तोर फुराई, प्रकृति कराइहि, तोहि वरियाई।
—(जनगीता)

'बच्चन जी, तुम भी आतमवान बनो, अपने गुण-स्वभाव व्यक्तित्व की ओर लौट जाओ, अपने कवि अध्यापक व्यक्तित्व को फिर अपना लो। नहीं लौटोगे, नहीं अपनाओगे तो तुम कहीं भी रहो मूल रूप में कवि-अध्यापक ही रहोगे। यह जो विदेश मंत्रालय में तुमने हिंदी टीचिंग-क्लास चलाया था, क्या उसमें तुम्हारा अध्यापक ही उभरने को नहीं कसमसा रहा था? कवि भी किसी दिन उभरेगा। तुम विदेश मंत्रालय की नौकरशाही में समेकित नहीं हो सकोगे। तुम यहां कवि की—निरंकुशाः कवय:—निरंकुशता से रहना चाहोगे। तुम यहाँ के—कवय: किं न जल्पंति—जल्पने के अधिकार को लेकर रहना चाहोगे। यहाँ कदम-कदम पर अंकुश होगा। यहाँ बोलने का अधिकार—His Master's Voice में होगा—मालिक यानी व्यवस्था के स्वर में स्वर मिलाकर। यहाँ तुम्हारे लिए कठिन मानसिक संघर्ष होगा। मौका पाते ही भागो।'

'पर मौका खिड़की-दरवाज़े पर तो नहीं बैठा है।'

'मौके की ताक में रहो।'

'रहूँगा। मौका बनाना तो अपने वश में न होगा। नियति कुछ सहायता करे तभी...'

भगवान कृष्ण के दूसरे कथन की ओर ध्यान जाता है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मे भयावह'

धर्म से भगवान का तात्पर्य क्या है? हिंदू या आर्य या ब्राह्मण धर्म नहीं; 'धर्म' के पहले 'स्व' लगा है। 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं...' भी नहीं; ये धर्म-लक्षण तो सबके लिए हैं। फिर 'स्व' क्यों? 'स्व धर्म' से भगवान का तात्पर्य शायद वही है जो वे गुण-स्वभाव, प्रवृत्ति, प्रकृति से व्यक्त करते हैं। भगवान महावीर का भी कथन है—'वस्तु: स्वभावो धम्मो'। धर्म को अपनी तरह परिभाषित करने में शायद मैं गलत नहीं हूँ। पर यदि ठीक हूँ तो भगवान बड़ी कड़ी माँग करते हैं। पहला तो—'आत्मवान भव' आदेश था। और अब कहते हैं आत्मवान किस हद तक हो। प्रण कराते हैं, कठिन-साध्य व्रत लेने को कहते हैं—मर जा, लेकिन अपना 'धर्म', अपना गुण-स्वभाव मत छोड़।

अपने गुण-स्वभाव से परिचित तो पहले से भी था।

इतना दृढ़ होता तो उनको छोड़कर यदि नहीं, तो उनकी उपेक्षा करके यहाँ आता ही क्यों। कहीं कमज़ोरी तो थी ही। और वह कमज़ोरी क्या आज भी नहीं है? क्या आज भी 'स्वधर्म' पालन करने के लिए तुम 'निधन' की सीमा तक जाने को तैयार हो? कहो, नहीं हो। मुझसे क्या संकोच? जानता हूँ, जीवन —जीना प्यारा होता है। आदर्शों के लिए बिरले मरते हैं। यह कमज़ोरी भी तो

तुम्हारा स्वभाव है। उसको जीने के लिए मैं तुम्हारी भर्त्सना न करूँगा। तुम अकेले होते तो शायद 'निधन' की हद तक जाने को उद्यत होते—अपने लिए जीना कौन बड़ा सुख है ? मान लो नियति तुम्हारी सहायता नहीं करती। तुम्हें अपना स्वभाव जीने का अवसर नहीं देती तो क्या तुम मरना चाहोगे; अपने चारों ओर देखो, नहीं चाहोगे। कुछ ऐसे हैं जिनके लिए तुम जीना चाहोगे, जीना किसी कीमत पर चाहोगे, स्वधर्म त्यागकर भी, परधर्म अपनाकर भी, भयावह स्थिति में रहकर भी। मैं खुश हूँ कि तुमने अपने दिल की सच्चाई बोल दी, अपनी कमज़ोरी स्वीकार कर ली, अपनी कमज़ोरी स्वीकार करना कमज़ोरी नहीं, बड़ी भारी ताक़त है। किसी के लिए—किन्हीं के लिए—भयावह स्थिति को झेलना कोई छोटी बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। मरना तो शायद एक क्षण का आवेश है, पर भयावह स्थिति को झेलना हर क्षण को युग बनाना है। कहीं 'स्वधर्म' स्वार्थ भी हो सकता है, कहीं परधर्म त्याग भी।

मैं संतुष्ट हूँ, शांत हूँ। तुम्हें स्वेच्छा से स्वधर्म साधकर जीना पड़ा तो, या तुम्हें विवशता से परधर्म भोगकर जीना पड़ा तो भी, तुम दोनों में एक गरिमामय स्थिति में रहोगे। पर तुमसे मैं एक और बड़ी प्रत्याशा करूँगा कि अगर तुमको स्वधर्म और परधर्म साथ जीना पड़े तो भी तुम एक संतुलन बनाकर सुस्थिर रह सकोगे।

पर ओ मेरी नियति ! अभी से मुझे ऐसी कठिन परिस्थितियों में मत डाल। अभी से मेरी ऐसी कठिन परीक्षा मत ले। मुझे अवसर दे, मैं अपने धर्म, अपने गुण-स्वभाव की ओर लौटने को तैयार हूँ।

और मुझे लगा मेरी नियति कोने में खड़ी मेरी पुकार सुन रही है—काश तभी उसके ओठों के कोने पर उसकी वक्र मुस्कान का व्यंग्य भी मैं देख पाता।

रात बड़ी निर्विघ्न निद्रा में सोता हूँ—मन का ऊहापोह समाप्त हो गया है। एक बिजली-सी चमकी है। उसमें यही नहीं देख सका हूँ कि ग़लत रास्ते पर आ गया हूँ बल्कि यह भी कि सही रास्ता किधर को जाता है।

सुबह अखबार खोलता हूँ। अनायास wanted column पर नज़र चली जाती है। चमत्कृत हो उठता हूँ। जो देखता हूँ उस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

Technological Institute, Kharagpur में Professor of Humanities की आवश्यकता है। पे-स्केल 1200-50-1500 का है। योग्यता जो मांगी गई है उस पर मैं शत-प्रति-शत पूरा उतरता हूँ। किसी युनिवर्सिटी में कम-से-कम दस वर्ष अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने का अनुभव चाहिए, प्रार्थी की अवस्था चालीस से कम न हो। विदेशी डिग्री अतिरिक्त योग्यता मानी जाएगी।

सामान्य परिस्थिति में मैं तेजी से सलाह लेता। पर तेजी नैनीताल में बैठी थीं, आठ-दस दिन उनको लौटने में लग सकते थे। पत्र से भी उनकी राय जानना चाहता तो उससे कम दिन न लगते। प्रार्थना-पत्र भेजने में मैं उतनी देर करना नहीं चाहता था। फिर सोचा, वे मुझे इस स्थान के लिए प्रार्थनापत्र भेजने से क्यों रोकेंगी। काम मेरे मन का होगा, वेतन यहाँ से ज्यादा मिलेगा, धन-मोह मुझे नहीं, तेजी को भी नहीं, पर अच्छी आर्थिक स्थिति में मैं अपने बेटों, अपने भतीजे को अच्छी शिक्षा दिला सकूँगा। इलाहाबाद छूटा तो फिर

जैसे दिल्ली वैसे कलकत्ता, दिल्ली में ही कौन मेरी नाड़ गड़ी है। सबसे बड़ी बात, शिक्षक रूप में मुझे अपने सृजन के लिए पर्याप्त अवकाश मिलेगा, स्वतंत्रता मिलेगी अपने मन का कुछ करने को। युनिवर्सिटी में तीन-चार घंटे के लिए जाता था, शेष समय सब अपना; यहाँ आठ-दस घंटे रोज़ पिसना पड़ता है, जब से आया हूँ कविता की एक पंक्ति नहीं लिखी, तेजी को भी कितना कम समय दे सका हूँ जबकि ज़रूरत थी कि मैं उनको अधिक-से-अधिक समय देता। युनिवर्सिटी में छुट्टियां कितनी मिलती थीं जिनका स्वाध्याय-चिंतन-मनन के लिए उपयोग हो सकता था। यहाँ तो थककर आओ और थकन मिटाने को जो कर सकते हो करो—और थकन मिटाने को ये दफ्तरिया लोग कितने घटिया मनोविनोदों पर उतर आते हैं। मैं ऐसे जीवन की कल्पना से काँपता हूँ और अगर उससे मैं बच सकता हूँ तो एक बार प्रयत्न करके क्यों न देख ूँ। तेजी निश्चय मुझसे सहमत होंगी कि दफ़्तरी जीवन से शिक्षण-संस्था का जीवन मुझे अधिक अनुकूल पड़ेगा।

मैंने प्रार्थना-पत्र भेज दिया। प्रार्थना-पत्र उचित माध्यम से (through proper channel) भेजना था, यहाँ से विदेश मंत्रालय के सचिव के मार्फ़त। पर मैं इस बात को विदेश मंत्रालय से या पंडित जी से गोपनीय रखना चाहता था कि मैं यहाँ से कहीं और जाने के लिए कोशिश कर रहा हूँ—मेरा ऐसा करना शायद ही पसंद किया जाता। एक बात सूझी—यहाँ तो मैं अस्थायी तौर पर हूँ, मेरा lien (हिंदी में धारणाधिकार कहें) तो अब भी इलाहाबाद युनिवर्सिटी से है, क्यों न वहाँ के अंग्रेजी विभागाध्यक्ष के मार्फ़त प्रार्थनापत्र भेज दूं। मैंने वैसा ही किया, पर एक बेईमानी की। प्रार्थनापत्र में वर्तमान वेतन भी दिखाना था, वह मैंने विदेश मंत्रालय का दिखाया 1000 रु० जबकि युनिवर्सिटी का वेतन लिखता तो मुझे 520 रु० लिखना पड़ता। मन में आशंका थी, कहीं मेरा कम वेतन मेरी कम योग्यता-क्षमता का आभास न दे, जैसा कि प्रायः होता है। और फिर यह भी डर था कि पद के लिए अर्हता पूरी होने पर भी 520 रु० से लंबी कूद लेकर 1200 रु० मुझे देना किसी संस्था के लिए पक्षपातपूर्ण नहीं तो उदारता-पूर्ण दुःसाहस ही समझा जाएगा। ऐसा प्रार्थना-पत्र भेजने में उस समय मैंने कुछ भी अनैतिक नहीं देखा था, देखी थी तो बस अपनी जातिगत चालाकी। और अर्ज़ी रजिस्ट्री से पोस्ट कर देने पर निश्चय किया था कि अब 'मुझे चुप रहकर इन्तज़ार करना चाहिए। मुझे इन्तज़ार करते हुए चुप रहना चाहिए।'

इंतज़ार के दिन बड़ी मुश्किल के होते हैं, पर बड़े मज़ेदार भी होते हैं—इंतज़ार चाहे महबूबा का हो, चाहे इम्तहान के नतीजे का, चाहे नौकरी पर नियुक्ति का; कल्पना को पर लग जाते हैं और वह आदमी को कैसे-कैसे सब्ज़-बाग़ों की सैर कराती है।

आठ-दस दिन बाद तेजी नैनीताल से लौटीं—खुश-खुश। बच्चों से मिलकर आई थीं—देखकर आई थीं, बच्चे वहाँ खुश थे, नए स्कूल, नई पढ़ाई, नए रहन-सहन के अभ्यस्त हो गए थे। उनकी देख-रेख क़ायदे से हो रही थी। उन्हें कोई खास तकलीफ़ नहीं थी। मैं यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। चिंता की बात सिर्फ़ यह थीं कि पहाड़ पर तेजी को साँस की कुछ तकलीफ़ हो गई थी। उन्होंने तो यही समझा कि पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई इसका कारण थी, पर वास्तव में

उन्हें दमे की शुरूआत हो गई थी। मैंने पश्चात्ताप के साथ इसे याद किया कि आउट-आफ़-टर्न मकान लेने के लिए मैंने उनकी इसी कथित बीमारी को कारण बनाया था। क्या मेरी बात सच ही हो जाएगी !

तेजी ने मुझे भी तनावमुक्त देखा होगा। सोचा होगा दफ्तर का ज़रूरी-भारी काम पूरा हो गया है, इसी से मैं हल्का-हल्का अनुभव कर रहा हूँ। समय से दफ़्तर जाता, समय से आ जाता। एक शाम को हम नरेन्द्र के यहाँ गए, दूसरी शाम को 'दिनकर' के यहाँ; साउथ एवेन्यू में पास ही दोनों रहते थे; एक शाम चंद्रगुप्त जी के यहाँ; वे उन दिनों हिंदी 'आजकल' का संपादन करते थे और पटौदी हाउस में रहते थे। याद है, उस दिन उनके यहाँ प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी और अलकाज़ी भी आए हुए थे; अलकाज़ी निकट भविष्य में खुलनेवाले नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा में निदेशक-पद के प्रत्याशी थे। मुझे पता नहीं नाटक-मंचन-निर्देशन की विशिष्ट शिक्षा उन्होंने कहाँ ली थी। बलराज मेरी कविता के प्रेमी थे, अपने किसी लेख में अपने प्रिय कवियों में उन्होंने गालिब के साथ 'बच्चन' का नाम भी लिया था। सुनते ही मेरा कविता का जो समाघात (impact) मन पर पड़ता है उसके वे बड़े प्रशंसक थे और उसे मेरी कविता की विशिष्टता समझते थे। बातों-बातों में उन्होंने मुझसे कहा, अगर आप नाटक लिखें तो बहुत सफल होंगे क्योंकि नाटक के लिए ऐसी भाषा चाहिए जो कान में पड़ते ही दिमाग़ पर चढ़ जाए, दिल में उतर जाए। आपके पास ऐसी भाषा है। फिर उन्होंने कहा, आप शेक्सपियर के किसी नाटक का अनुवाद क्यों नहीं करते। अंग्रेज़ी के आप विद्वान हैं, हिंदी के आप लोकप्रिय कवि हैं। अगर आप अनुवाद करें, उन्होंने जोड़ दिया, तो मैं उसमें अभिनय करूँगा। अलकाज़ी बोले, मैं उसका निर्देशन करूँगा। मुझे कुछ मनुहाता देख बलराज बोले, आइए बच्चन जी, हम तीनों हाथ मिलाकर आज वादा करें कि हम शेक्सपियर को हिंदी रंगमंच पर लाएँगे। और हम तीनों ने खड़े होकर एक दूसरे से हाथ मिलाकर एक त्रिकोण बनाया और ज़ोरों से एक-दूसरे का हाथ दबाया, जैसे प्रण लिया कि हम एक दूसरे के सहयोग से ज़रूर ही इस काम को पूरा करेंगे। चंद्रगुप्त जी की पत्नी स्वर्ण जी के साथ एक ओर खड़ी तेजी अपनी अर्थपूर्ण मुस्कान से हमारी योजना से अपनी सहज सहमति व्यक्त कर रही थीं।

बात आई-गई हो गई।

दो-चार दिनों के बाद मैं दफ्तर से लौटा तो तेजी ने यों ही मुझसे पूछा, 'क्या तुमने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष को कोई रजिस्ट्री पत्र भेजा था ? एकनालेजमेंट ड्यू की रसीद डाक में आई है। अचानक मेरी नज़र पड़ गई।'

तेजी सामान्यतया मेरी डाक नहीं देखतीं। खोलती-पढ़ती तो कभी नहीं। पर आज कम से कम ए० डी० की रसीद तो उन्होंने देख ही ली थी।

मुझे कहना ही था कि 'भेजा था।'

तेजी न भी पूछतीं 'क्यों ?' तो भी मुझे बताना ही था कि मैंने पत्र क्यों भेजा था। 'भेजा था' कहकर चुप रह जाने का स्पष्ट अर्थ होता कि जिस संबंध में मैंने अंग्रेज़ी विभागाध्यक्ष को पत्र लिखा था उसे उन्हें नहीं बताना चाहता। पर आज तेजी के मुँह से निकल गया, 'कोई ख़ास बात ?'

वह 'ख़ास बात' मैंने तेजी से अभी तक छिपा रखी थी। कहीं मन में आशा थी कि यह पद तो मुझे मिला ही हुआ है। जिस दिन नियुक्ति का पत्र आएगा उस दिन तेजी को बताकर उन्हें साह्लाद-चकित कर दूँगा।

पर इस छोटी-सी रसीद ने सब गड़बड़ कर दिया था।

हम पति-पत्नी एक दूसरे के अपने निजी (private) जीवन रखने का अधिकार मानते हैं। हम एक-दूसरे का पत्र-व्यवहार न देखते हैं, न उसके बारे में पूछते हैं। हम एक दूसरे से मिलनेवाले या एक दूसरे के सुहृद-सहेलियों के विषय में जितना एक दूसरे को बता दें उससे अधिक न जानने की इच्छा प्रकट करते हैं, न जानने की कोशिश करते हैं। आने-जाने के विषय में भी हम किसी हद तक अपनी-अपनी स्वतंत्रता रखते हैं—'किसी हद तक' इस मानी में कि कोई बहुत देर से लौटे तो दूसरे को चिंता होती है और पूछना पड़ता है कि इतनी देर कहाँ हो गई?—कहाँ गए थे? किस काम से गए थे? किससे मिलने? क्यों?—ऐसे सवाल हम एक दूसरे से नहीं पूछते। लेकिन हमारे बीच एक बहुत ज़बरदस्त क़रार है, जब कभी हममें से एक कोई सीधा और सुनिश्चित प्रश्न पूछेगा तब दूसरा उसका सीधा और सच्चा जवाब देगा। हमारे इस क़रार ने हमारे व्यवहार और हमारे संबंध को क्या शक्ल दी है, इस पर आप स्वयं सोचें। और बड़े होने पर हमने ऐसा ही क़रार अपने बेटों से किया है। हमारे बीच ग़लतफ़हमी की कोई गुंजाइश नहीं।

मैंने तेजी को 'ख़ास बात' विस्तार से बता दी।

मुझे लगा जो कुछ मैंने किया उससे वे ख़ुश नहीं हुई। उन्होंने इस बात को तो माना कि अगर मंत्रालय के वातावरण में मुझे घुटन मालूम हो रही है तो मुझे उससे निकलने का अधिकार है, पर यह काम बिना पंडित जी को बताए, उनसे छिपाकर करना चाहा, यह मैंने ठीक नहीं किया। उन्होंने कहा, 'पंडित जी ने तुम में व्यक्तिगत रुचि ली है, तुम्हारा due (प्राप्य) तुम्हें दिलवाने की उन्होंने हर तरह कोशिश की है। तुम अगर उनसे सलाह लेते तो यह देखकर कि तुम्हारी उन्नति-प्रगति का द्वार कहीं और खुलने की संभावना है, वे तुम्हें यहाँ न रोकते। फिर भी मैं सोचती हूं कि अगर तुम्हारे काम से पंडित जी को कुछ संतोष, कुछ प्रसन्नता, उनको किसी तरह की राहत मिलती थी तो तुम्हें यहाँ से जाने की बात नहीं सोचनी थी। तुम्हें खरगपुर की जगह मिल भी गई, तो जिस दिन तुम उनसे छुट्टी माँगने जाओगे वे यही समझेंगे कि तुमने उनके साथ धोखा किया। तुमने विदेश मंत्रालय की सेवा नहीं की, तुमने उसे सिर्फ़ अपने लिए jumping board बनाया—एक सीढ़ी, कि उस पर चढ़कर तुम और ऊपर निकल जाओ। यहाँ आने के पहले ही सोच लेना था कि जिस तरह का काम यहाँ होगा वह तुम कर सकोगे कि नहीं। पंडित जी ने तो स्पष्ट कह दिया था कि काम यहाँ सिर्फ़ अनुवाद का होगा। और उस समय केवल पंडित जी के लिए तुम कुछ भी करने को तैयार थे। और अब जब तुमने यहाँ से जाने को सोचा तो पंडित जी को खबर तक नहीं की!' मुझे अब तो याद नहीं कि उन्होंने और क्या-क्या कहा। उन्होंने अंत में एक कहावत कही थी-

सुना, 'तेरी माँ ने खसम किया।'

कहा, 'बुरा किया।'

सुना, 'करके छोड़ दिया।'

कहा, 'और बुरा किया।'

मैंने वातावरण को हल्का करने के लिए कहा कि अभी तेरी माँ ने खसम किया ही है। छोड़ा तो नहीं। कौन जाने शायद छोड़ने की नौबत न भी आए। ऐसा मुक़द्दर का सिकन्दर मैं कभी नहीं रहा कि एक के बाद दूसरी मुहिम फ़तह करता मैं उन्नति के शिखर पर पहुँच जाऊँ। 'सरलता से कुछ नहीं मुझको मिला है।' अपने भविष्य के बारे में सोचते हुए मैंने अपने आपको इसलिए भी तैयार किया था कि शायद मुझे अपनी अस्मिता या 'अस्मियत' के साथ यह 'खसमियत' भी जीनी पड़े। तेजी इस 'खसमियत' पर हँस दीं।

अंत में मैंने यह जोड़ दिया, 'प्रार्थनापत्र भेजते समय तो मैंने तुमसे नहीं पूछा था, पर अगर यह 'जाब' मुझे मिल गया तो मैं तुमसे पूछूंगा कि स्वीकार करूँ कि न करूं, और अगर तुमने कह दिया कि अस्वीकार कर दो तो मैं बड़ी खुशी से तुम्हारी बात मान लूँगा।'

विदेश मंत्रालय में केवल उसी से संबद्ध काम मैं नहीं करता था। प्रायः राष्ट्रपति भवन, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, शिक्षा मंत्रालय, साहित्य अकादमी, पासपोर्ट आफ़िस, प्रतिरक्षा मंत्रालय से भी काम मेरे पास भेज दिए जाते थे। कुछ काम रोचक होते थे, पर प्रायः शुष्क; अनुवाद का काम कितना रोचक हो सकता था। मेरे जो भी अनुवाद किसी भी रूप में लोगों के सामने आए थे उनसे यह सामान्य धारणा बन गई थी कि मेरे अनुवाद प्रामाणिक और सरल-सुबोध होते हैं; इस कारण जो भी काम कुछ महत्व के या कठिन होते वे मेरे पास भेज दिए जाते। ऐसे सारे काम जिनको पंडित जी द्वारा देखे जाने की संभावना होती मुझसे करा लिए जाते। लोगों को ऐसा विश्वास हो गया था कि जो काम मैं कर दूँगा उसको पंडित जी की स्वीकृति मिल ही जाएगी। मेरे पूर्व हिंदी अनुवादों से पंडित जी का असंतोष और कभी-कभी उन पर उनका गुस्सा सर्वविदित था। इसका मौक़ा ही न आए, इसलिए ज़रूरी अनुवाद संबंधी कामों से मुझे संबद्ध कर लिया जाता था।

बाहर से मिले एक रोचक काम के विषय में कुछ विस्तार से कहना चाहूँगा। रोचक ही नहीं, यह काम एक तरह से मुझे तल्लीन करनेवाला था। 1956 की वैशाख पूर्णिमा को भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की ढाई हज़ारवीं जयंती पड़ी जो पंडित जी की प्रेरणा से राजकीय स्तर पर मनाई गई। पंडित जी बुद्ध और बौद्ध धर्म के अनुयायी सम्राट अशोक के व्यक्तित्व से अभिभूत थे। लड़कपन में ही अपने थियोसोफिस्ट अध्यापक एफ़० टी० ब्रुक्स द्वारा वे 'धम्मपद' से परिचित हो चुके थे। विद्यार्थी जीवन में एडविन आरनाल्ड की 'लाइट आफ़ एशिया' उनकी प्रिय पुस्तक थी, विश्व इतिहास के स्वाध्याय से वे सम्राट अशोक के परम प्रशंसक हो गए थे। उनके पुत्री हुई तो उन्होंने उसका नाम 'प्रियदर्शिनी' इंदिरा रखा—अशोक प्रव्रज्या लेने के बाद 'प्रियदस्सी' (प्रियदर्शी) नाम से विख्यात थे। पता नहीं इंदिरा जी ने अपने नाम का यह प्रिय भाग क्यों छोड़ दिया। स्वराज मिलने के बाद तो बौद्ध प्रतीक, निश्चय ही उनके सुझाव पर, हमारे राष्ट्रीय झंडे और सरकारी मुहर पर आ गए—सेना के 'बैजों' पर भी। उत्कृष्ट

शौर्य का पुरस्कार अशोक चक्र है। राष्ट्रपति भवन के दरबार हाल में राष्ट्रपति के बैठने की जगह के ठीक पीछे-ऊपर बुद्ध की खड़ी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने की कल्पना किसकी थी, मैं नहीं जानता; पंडित जी की ही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। धार्मिक पंचशील को पंडित जी ने राजनैतिक पंचशील में परिवर्तित कर दिया। अपनी देश-विदेश की अनेकानेक यात्राओं में बुद्ध से संबद्ध तीर्थों, मठ-मंदिरों, चैत्य-गुफाओं, स्तूपों, स्मारकों, संघारामों को देखने से शायद ही वे कभी चूकते। मैंने पद्मजा नायडू के पास पंडित जी का एक चित्र देखा था जिसमें किसी बौद्ध मठ में उन्हें बौद्ध भिक्षुओं का चीवर भेंट किया गया था और उन्होंने विनोद-विनोद में उसे धारण कर लिया था। तभी बौद्ध भिक्षुओं के साथ उनका एक चित्र भी लिया गया था। उस चित्र को देखने से लगता था कि इतने भिक्षुओं में उन-सा सौम्य भिक्षु कोई भी नहीं। इसी प्रकार मैंने एक और चित्र देखा था, किसी बौद्ध स्मारक के खंडहर के किसी द्वार का, जिसके बीच पंडित जी विनोद में बुद्ध-आसन में बैठ गए थे। अपने देश में आदि शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा गया था, गो साथ ही यह भी माना जाता है कि बौद्ध धर्म को भारत बदर करने में कुमारिल भट्ट के साथ उन्होंने विशेष भूमिका अदा की थी। मैंने पंडित जी के बारे में जो कुछ देखा-सुना, पढ़ा उससे मैं समझता हूँ कि 'प्रच्छन्न बौद्ध' के विशेषण के जितने अधिकारी वे थे उतना शायद कोई दूसरा नहीं।

भगवान बुद्ध के पट्ट शिष्य सारिपुत्र और महामौद्गलायन की अस्थि-पेटिकाएँ जब भारत आईं—पता नहीं किस विदेश से—तब उनका राजकीय स्वागत किया गया। ढाई हजारवीं बुद्ध जयंती के लिए पंडित जी के मन में अद्भुत उल्लास था। कुछ समय पहले अशोक होटल बनना शुरू हो गया था, संभवतः इस विचार से कि जयंती तक वह बनकर तयार हो जाएगा, गो हुआ नहीं। राजधानी में बुद्ध जयंती पार्क बनवाया गया— उसके मध्य में श्रीलंका से मंगाकर बोधि वृक्ष की एक शाखा रोपित की गई। भारतवर्ष में तो बोधिवृक्ष की कोई निशानी रहने नहीं गई दी थी। पर इतिहास साक्षी है, सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और अपनी पुत्री संघमित्रा को गया के बोधिवृक्ष की शाखा के साथ श्रीलंका भेजा था, जहाँ वह पावन पुरातन वृक्ष के रूप में अब भी सुरक्षित-पूजित है। उसी समय राजधानी की एकाध बस्तियों को भी अशोक के नाम से संबद्ध किया गया। यह पंडित जी का ही करिश्मा था कि एक धर्म-निरपेक्ष राज्य द्वारा उन्होंने एक महान धर्म-संस्थापक की जयंती बिना किसी प्रकार की धार्मिक रूढ़ियों से आबद्ध हुए मनवा दी। वस्तुतः पंडित जी ने इस पर्व को पूर्वी एशियायी देशों के साथ, जिनमें बौद्ध-धर्म अब भी जन-जीवन से जुड़ा है, भारत की भावनात्मक एकता रेखांकित करने का एक अवसर बनाया। बर्मा से ऊ नू आए, चीन से चो-एन-लाई, यद्यपि वहाँ माओत्सेतुंगी साम्यवाद आने के बाद बौद्ध प्रभाव घट रहा था, तिब्बत से दलाई लामा (The Living Buddha) आए और उनसे छोटे पणछेन लामा तथा और भी पूर्वी एशिया के कई प्रख्यात राजपुरुष।

जयंती समारोहों के सिलसिले में भगवान बुद्ध पर एक विस्तृत वृत्तचित्र तैयार करने की योजना बनी और यह काम सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय को सौंपा गया। अंग्रेज़ी कमेंट्री के साथ यह वृत्त-चित्र श्री राजबंस खन्ना से बनवाया गया। राजबंस खन्ना के बारे में मैं अधिक नहीं जानता। वृत्त चित्र बनाने का

अनुभव उन्हें पर्याप्त होगा। बाद को मैंने कहीं पढ़ा उन्होंने एक वृत्त चित्र 'कश्मीर' पर बनाया था। जब वृत्त चित्र पर कमेंट्री हिंदी में करने की बात उठी तब मुझे याद किया गया। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ने कुछ समय के लिए मेरी सेवाएँ माँगीं। बाहर के कामों के लिए जब मुझे बुलाया जाता था, पंडित जी मुझे बुलाकर पूछ लेते थे, क्या काम मेरी रुचि का होगा ? क्या मैं करना चाहूँगा ? वे मेरे 'बास' थे, मुझे आज्ञा दे सकते थे और मुझे करना ही होता। पर बड़े लोग ऐसी ही छोटी-छोटी बातों से अपने बड़प्पन का सबूत देते हैं और अपने से छोटों का मन जीत लेते हैं।

इस बार भी जब उन्होंने मुझसे पूछा तो मैंने कहा, इस काम में अपना यत्किंचित सहयोग देकर मुझे प्रसन्नता होगी। मैं जानता था काम पंडित जी की रुचि का है और वे चाहेंगे कि उसे कुशलता से संपन्न किया जाए। उन्होंने मुझे मि० लाड के पास भेजा। मि० लाड उस समय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय में सचिव के पद पर थे। बुद्ध वृत्त चित्र उन्हीं की देख-रेख में बना था। मि० लाड अवस्था से प्रौढ़, महाराष्ट्रीय, साँवले, मझोले क़द-काठी के, पुराने आई० सी० एस० के आदमी होते हुए भी स्वभाव से खुले और मिलनसार थे। थोड़ी-सी बातचीत से ही मुझे पता लग गया कि वे पाली के विद्वान हैं—पाली ग्रंथों से कई उद्धरण उन्होंने ज़बानी दिए—और बौद्ध साहित्य भी उन्होंने काफ़ी पढ़ रखा था। लाड की विद्वत्ता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। राजबंस खन्ना की लिखी अंग्रेज़ी कमेंट्री मेरे सामने थी। मुझे उसका अनुवाद हिंदी में करना था। पर लाड जानते थे कि अनुवाद प्राय: नकली, निर्जीव, नीरस और जड़ प्रतीत होता है। उन्होंने वृत्त चित्र अंग्रेज़ी कमेंट्री के साथ मेरे लिए स्क्रीन कराया, कहा, आप आधार तो इसी कमेंट्री को बनाएँ, इसके विषय-विचार से दूर न जाएँ, पर अनुवाद में शाब्दिक होने की ज़रूरत नहीं; बल्कि अनूदित कमेंट्री ऐसी हो कि लगे कि वह मूल रूप से हिंदी में ही लिखी गई है। मैंने उन्हें बताया कि बौद्ध धर्म संबंधी मूल ग्रंथ या उनके हिंदी अनुवाद भी जो उपलब्ध हैं मैंने नहीं पढ़े, बुद्ध या बौद्ध धर्म के विषय में जो मेरा ज्ञान है वह अंग्रेज़ी पुस्तकों से संजोया गया है। उनका कहना था कि बुद्ध, उनकी विचारधारा, बौद्ध कर्मकांड और दर्शन से कुछ विशिष्ट शब्द जुड़े हैं। अंग्रेजी कमेंट्री में उनका उपयोग नहीं हो सकता था, पर हिंदी कमेंट्री में उन्हीं का उपयोग करना आवश्यक भी होगा और उचित भी। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी के in tiate को 'दीक्षित करना' कहना ठीक न होगा। उसके लिए बौद्ध संदर्भ में कहना होगा, 'प्रव्रज्या देना'। ऐसे ही और भी कुछ विशिष्ट शब्द उन्होंने बताए। फिर अपने पुस्तकालय से निकालकर मुझे एक किताब दी, राहुल सांकृत्यायन लिखित 'बुद्धचर्या'—शायद पुस्तक उनकी नहीं थी, पुस्तक में एक जगह पर काका कालेलकर का नाम लिखा था, उन्होंने कभी उनसे उधार ली होगी। कहा, 'अनुवाद का काम अभी आप न करें, आठ दिन में यह पुस्तक पूरी पढ़ जाएँ।'

मैंने ऐसी कम ही किताबें पढ़ी हैं जिन्होंने मुझे इतना तल्लीन कर लिया हो। उससे मैंने बहुत कुछ सीखा-जाना जो मेरे लिए नया था, जो जीवन भर के लिए सँजोने योग्य था। हिंदी कमेंट्री तैयार करने में निश्चय इस पुस्तक ने मेरी बड़ी सहायता की। मुझे चाहिए था कि वृत्तचित्र संबंधी काम समाप्त होने पर मैं

पुस्तक लौटा देता, पर मैं उसे फिर पढ़ना चाहता था, मैंने लाड साहब से कुछ और समय तक पुस्तक अपने पास रखने की अनुमति ले ली और इस कुछ समय की अवधि मैं बढ़ाता ही गया। लाड साहब ने भी कभी पुस्तक के लिए तगादा न किया। कालांतर में उनकी मृत्यु हो गई। पुस्तक उनकी स्मृति में मैंने अपने पुस्तकालय में रख ली। पुस्तक का आकर्षण मेरे लिए आज भी बना है और आज भी उसे मैं कहीं से खोलूँ वह मुझे तल्लीन कर लेती है, उसे मैं एक पृष्ठ पढ़ने के लिए भी उठाऊँ तो वह मुझे 10-12 पृष्ठ तक खींच ले जाती है। 'बुद्धचर्या'—जिसके विषय में आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था कि 'इस पुस्तक के लिए यदि कहा जाय कि त्रिपिटक का सार है तो अत्युक्ति न होगी...बुद्ध धर्म के सबसे प्रामाणिक आधार त्रिपिटक ही हैं'—मेरे पुस्तकालय की अमूल्य निधि है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि अगर मेरे पुस्तकालय में आग लग जाए और मुझे केवल दस पुस्तकें लेकर भागना पड़े तो निश्चय 'बुद्धचर्या' एक होगी। और 9 पुस्तकें कौन होंगी?—यह जानने के लिए आपको कुतूहल हो सकता है। बता दूँ?—ये होंगी—भगवद्-गीता, गीतगोविंद, कालिदास ग्रंथावली, रामचरितमानस, बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट), कम्प्लीट शेक्सपियर, पोएटिकल वर्क्स आफ़ ईट्स, दीवाने ग़ालिब, रोबाइयात उमरख़ैयाम। दो और किताबों की गुंजाइश हुई तो टाल्सटाय की 'वार एंड पीस' और रोमें रोलां की 'जां क्रिस्तोफ़' भी उठा लूंगा।

आठ-दस दिन में मैंने राजबंस खन्ना की अंग्रेज़ी कमेंट्री का मूलरूपी हिंदी अनुवाद किया। मुझे प्रसन्नता हुई कि मुझसे लाड साहब की प्रत्याशा पूरी हुई और उन्होंने मेरा अनुवाद पसंद किया। पर अभी यह मेरे काम का केवल आधा भाग था। अगर वह किसी पुस्तिका के रूप में छपकर पढ़े जाने के लिए होता तो उस दज पर मेरा काम समाप्त हो गया होता। पर उसे तो चलते चित्रों के साथ बोलकर सुना जाने को था। यहाँ हिंदी के लिए मुश्किल खड़ी हुई। किसी विषय पर अंग्रेज़ी कमेंट्री जितनी देर बोली जाने को थी तत्संबंधी चलचित्र उतनी ही देर स्क्रीन पर रखे गए थे। जैसे अगर बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी के संबंध में अंग्रेज़ी कमेंटेटर को तीन मिनट तक बोलना था तो लुम्बिनी संबंधी चित्र, स्मारक, शिलालेख आदि तीन मिनट के लिए फलक पर चलाए-दिखाए गए थे। हिंदी को उल्टा काम करना था। जितनी देर तक लुम्बिनी संबंधी चित्र फलक पर रहे थे उतनी देर में हिंदी कमेंट्री पूरी कर देनी थी—न उससे ज़्यादा समय में, न कम समय में। अनुवाद के सम्बन्ध में मेरा अनुभव यह था कि अंग्रेज़ी जितना एक पंक्ति में कहती थी हिंदी उतना कहने के लिए कम से कम डेढ़ पंक्ति माँगती थी। और भी, चूंकि मुझे अनुवादों को बोलने का भी अनुभव था इसलिए मैंने देखा कि अंग्रेज़ी की एक पंक्ति पढ़ने में जितना समय लगता था हिंदी की उतनी ही बड़ी पंक्ति पढ़ने में ड्योढ़ा समय। बोली हुई कमेंट्री को चलते हुए चित्र के साथ तुल्यकालिक (सिनक्रोनाइज़) बनाने के लिए मुझे बम्बई भेजा गया, वहाँ के फिल्म डिवीजन की सहायता से यह काम पूरा करने के लिए।

कमेंट्री को चलचित्र के साथ तुल्यकालिक करने का काम मेरे लिए नया था, कठिन भी। फिल्म्स डिवीज़न में एक छोटी सी मशीन पर यह काम किया जाता, जिसे 'विज़ुओला' कहते हैं; उसपर छोटे आकार में चलचित्र चलता जिसे इच्छानुसार रोका या आगे-पीछे किया जा सकता था। डिवीज़न के एक कर्मचारी

पंडित नीलकंठ तिवारी मेरी सहायता के लिए दिये गए—तिवारी जी इंदौर के रहनेवाले थे, हिंदी में कविता करते थे, उनके एकाधिक संग्रह निकले भी थे। उच्चारण उनका शुद्ध, आवाज़ उनकी टकसाली थी; उनके स्वर का उपयोग डिवीज़न के विविध वृत्तचित्रों में किया जाता था। विज़ुओला पर काम करने में वे निष्णात थे। जैसी कि मुझे आशंका थी, संबद्ध विषय पर चलचित्र समाप्त हो जाता और वार्ता चलती जाती। आप मेरी मुसीबत समझ सकते हैं। मुझे हर विषय पर हिंदी कमेंट्री संक्षिप्त करके प्रायः आधी करनी पड़ती, तब कहीं चलचित्र के साथ वह क़दम-ब-क़दम चल पाती। पंद्रह दिन के श्रम-संघर्ष के बाद यह काम समाप्त हुआ। साल बाद सरकार को फिर एक अंग्रेज़ी डाकूमेंट्री को हिंदी वृत्तचित्र में परिवर्तित कराना पड़ा। बुद्ध वृत्तचित्र में मेरी यत्किंचित सफलता के कारण फिर यह काम मुझे सौंपा गया—वह वृत्तचित्र था 'डान ओवर इंडिया'—इसे रूसी सरकार ने भारत सरकार को भेंट किया था—मूल कमेंट्री रूसी में थी, उसकी अंग्रेज़ी की गई, उसकी हिंदी; कमेंट्री का अनुवाद करा के मुझे फिर बंबई भेजा गया, पर अब मैं काम समझ गया था, ज़्यादा मुश्किल नहीं हुई, विषय भी ऐसा नहीं था कि उसमें काटा-कूटी करने में मुझे कुछ दर्द हो। फिल्म्स डिवीज़न के पास हिंदी की कुछ अच्छी आवाज़ों के लोग थे। मुझे पता नहीं किसकी आवाज़ में बुद्ध हिंदी कमेंट्री रेकार्ड की गई। जब यह वृत्तचित्र ट्रायल के लिए दिल्ली आया तो मि० केसकर (सूचना एवं प्रसारण मंत्री) और मि० लाड के साथ मैंने भी उसे देखा; थोड़ी देर के लिए पंडित जी भी उसमें आए, अंग्रेज़ी वृत्तचित्र वे पूरा देख चुके थे। सभी लोगों ने हिंदी कमेंट्री पसंद की; मैं ही संतुष्ट नहीं हुआ। समय की सीमा में रहने के लिए अनिच्छा से मुझे कितना कुछ काट देना पड़ा था। मेरी धारणा है कि अगर मूल हिंदी वार्ता के अनुरूप वृत्तचित्र बनाया जाता तो इससे कहीं अच्छा होता। कुछ लंबा ज़रूर हो जाता। पिछलगुई होकर हिंदी अपनी कितनी आभा-अस्मिता खोती है।

बुद्ध जयंती के संबंध में राजधानी में जो उत्सव-समारोह हुए उनमें से न किसी में मैं सम्मिलित हो सका, न किसी को देख सका। उस समय तो मैं बंबई में 'विज़ुओला' से जूझ रहा था। हाँ, इतना याद है कि लौटने पर किसी पार्टी में पंडित जी ने चो-एन-लाई से मुझे मिलवाया था और उससे मैंने हाथ मिलाया था—कसकर—'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का भरम उन दिनों खूब फैला था। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो चाऊ से मिलाए हाथ पर मुझे कुछ गंदे धब्बे नज़र आने लगे और मैंने पिड़ोर मिट्टी से मलकर तीन बार अपना हाथ गंगाजल से धोया!

जयंती के समय किसी विशेष प्रेरणा की मुझे याद नहीं। 'बुद्ध और नाचघर' पर मैंने एक कविता केम्ब्रिज-प्रवास में लिखी थी, जिसके संबंध में 'प्रवास की डायरी' में भी कुछ टिप्पणी है। वही कविता 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपी। बाद को इसी नाम से मेरी मुक्तछंद की कविताओं का एक संग्रह निकला। एक लेख मैंने अवश्य लिखा, 'आधुनिक हिंदी कविता में बुद्ध' जो तभी आकाशवाणी से प्रसारित हुआ और बाद को मेरे निबंध-संग्रह 'नए-पुराने झरोखे' में सम्मिलित किया गया। मैंने आगे चलकर अपनी दो-तीन और कविताओं में बुद्ध को याद किया—'महागदभ' (त्रिभंगिमा), 'बुद्ध के साथ एक शाम' (चार खेमे चौंसठ

खूंटे), 'युगनाद' (कटती प्रतिमाओं की आवाज़) में। बुद्ध में मेरी रुचि का सृजनशील परिणाम इतना ही।

बंबई से लौटने के थोड़े दिन बाद खरगपुर की पोस्ट के लिए साक्षात्कार का बुलावा आ गया। उसके लिए तेजी की असहमति से मेरा उल्लास प्रायः समाप्त हो गया था। मुझे कोई खुशी नहीं हुई। फिर भी जब मैंने उनसे पूछा कि साक्षात्कार के लिए जाऊँ कि न जाऊँ तब उन्होंने जाने के लिए ही कहा और अपनी शुभकामना दी, गो दिल्ली से फिर उठकर किसी दूसरी जगह जाने की कल्पना से उनके चेहरे पर मैंने एक तनाव की रेखा ही देखी।

साक्षात्कार लेनेवाला सेलेक्शन बोर्ड तीन सज्जनों का था। अध्यक्ष पद पर जो सज्जन बैठे थे, कौन थे, मैं नहीं जानता था। दूसरे सज्जन खरगपुर इंस्टीट्यूट के प्रिंसिपल थे और तीसरे विशेषज्ञ (एक्सपर्ट) के रूप में श्री डी० पी० मुकर्जी थे। डी० पी० मुकर्जी किसी समय लखनऊ यूनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष थे; शायद उस समय अवकाश प्राप्त कर चुके थे। डी० पी० की—वे अपने परिचितों-मित्रों में इसी नाम से जाने जाते थे—अकादमीवी उपलब्धियाँ क्या थीं मुझे नहीं मालूम, पर एक समय उत्तर प्रदेश में अंग्रेज़ी के जिन तीन विद्वानों की धाक ज़मी थी उनमें एक प्रो० सिद्धांत थे, दूसरे डी० पी० मुकर्जी और तीसरे थे अमरनाथ झा। ऐसा मैंने सुना था कि डी० पी० कुछ समय के लिए रवि बाबू के निजी सचिव रहे थे और बंगला साहित्य पर भी उनका विशेष अधिकार था। अंग्रेज़ी के बाद, वे संसार की नहीं तो एशिया की भाषाओं में—भारत की भाषाओं में तो निश्चित रूप से—बंगला को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। समुचित कारण भी थे। नोबेल पुरस्कार से अभिषिक्त होने का गौरव एकमात्र बंगला भाषा को मिला था। उस समय तक एशिया की किसी अन्य भाषा को यह विशिष्टता नहीं दी गई थी। मेरा ऐसा ध्यान है कि डी० पी० बंगला की श्रेष्ठता की ही नहीं, बंगाली जाति की बौद्धिक वरिष्ठता की ग्रंथि से भी प्रपीड़ित थे। अंग्रेज़ी सूट-बूट में अपने दुबले-पतले, लमछर शरीर, गौर वर्ण, अध-गंजे बड़े सिर, चमकती आँखों, पतली नाक, पतले ओठ से डी० पी० दिखते ही किसी को भी अपनी दिमागी तेज़-तर्रारी से प्रभावित करते थे। उनसे एक बार मेरी कुछ अप्रिय-सी मुलाकात हो चुकी थी। उन्हें बोर्ड में देखते ही मेरा माथा ठनका।

बात 1944-45 की होगी। मैं यू० ओ० टी० सी० के कैम्प में भाग लेने के लिए कुकरैल (लखनऊ) गया था। जब कैम्प समाप्त हुआ तो मेरे मित्र ज्ञान प्रकाश जौहरी ने, जो उन दिनों लखनऊ युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर थे, एक शाम अपने घर पर मेरा काव्य-पाठ रखा जिसमें उन्होंने अपने कुछ चुने हुए मित्रों के साथ विभाग के प्रोफेसर डी० पी० मुकर्जी को भी बुला लिया था। इसके पूर्व जौहरी मेरी कविता 'बंगाल का काल' का कुछ अंश उन्हें सुना चुके थे और उन्होंने उसपर मुझे एक पत्र लिखा था जिसकी चर्चा मैं 'बंगाल का काल' की भूमिका में कर चुका हूं।[1] उस शाम जौहरी ने फ़रमाइश की कि मैं 'बंगाल का

1. **'बंगाल के काल' पर बंगला-सरस्वती के मौन पर डी०पी० ने मुझे लिखा था, "बंगाल ने इस काल का अनुभव अपनी हड्डियों में किया, रक्त और और नसों में किया और अपनी**

काल' पूरी सुनाऊँ। जब कि और श्रोताओं ने कई स्थलों पर मुझे दाद दी, डी० पी० गुम-सुम बैठे रहे, अपनी एक हथेली से अपना आधा मुंह ढके, जैसे उनके सामने कोई बहुत बदज़ायका चीज परोसी गई हो और उन्हें मुलाहज़े-मुलाहज़े में उसे किसी तरह निगलना पड़ रहा हो। कविता समाप्त होने पर तो वे मुझपर बरस ही पड़े। क्रोध की अभिव्यक्ति करने में अंग्रेज़ी बड़ी समर्थ भाषा मालूम होती है। अच्छी-भली हिंदी में बात करते हुए लोग गुस्सा ज़ाहिर करने के लिए अक्सर अंग्रेज़ी पर उतर आते हैं। मुझे अब तो याद नहीं कि उस दिन डी० पी० ने क्या-क्या कहा। मतलब उनके क्रोधोद्गार का यही था कि तुमने एक महान जाति को उसपर आई विपदा के क्षण में उसके प्रति सहानुभूति-संवेदना दिखाने के स्थान पर उसे नीचा दिखाने और ओछा साबित करने का प्रयत्न किया है, और ऐसे दुर्दिन में, जिसे तुमने दूर ही से देखा है, तुम कौन आए यह बतलाने वाले कि उसे क्या करना चाहिए था — क्या करना चाहिए, 'सिच्छक हौं सगरे जग कौ गुरु ताकहं तू अब देति है सिच्छा'—बंगाल ने सारे देश को प्रेरणाएँ दी हैं, और अब हिंदी का एक तुक्कड़ उसे प्रेरित करने का दावा करने चला है।

मुझे बड़े आदर और विनम्रता के साथ यही निवेदन करना था कि ऐसे समय बंगालियों के प्रति सहानुभूति दिखलाना या उनको दया का पात्र समझना उनका सबसे बड़ा अपमान होता।

जिन्हें जल्दी क्रोध आता है उन्हें जल्दी ही अपने क्रोध पर पश्चात्ताप भी होता है, खासकर बड़े आदमियों में।

मैं अभी इलाहाबाद पहुंचा ही था कि डी० पी० की चिट्ठी मुझे मिली जिसमें उन्होंने मुझसे अपने आवेश में किये व्यवहार के लिए क्षमा माँगी थी। पत्र पढ़कर मुझे लगा था कि डी० पी० में कहीं बड़प्पन भी मौजूद है अथवा वे मुझे ऐसा पत्र न लिखते। अंत का उनका वाक्य बड़ा मार्मिक था 'जो अकारण दूसरों को अपमानित करता है उसने अपनी मृत्यु की घंटियाँ सुन ली हैं'—'One who unprovoked insults another has heard his death knell.' उनकी चिट्ठी मेरे कागद-पत्रों में कहीं सुरक्षित है। दो या तीन वर्ष बाद जब भूपेन्द्रनाथ दास कृत 'बंगाल का काल' का बंगला अनुवाद, डा० विनय सरकार की भूमिका के साथ, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था तब मैंने उसकी एक प्रति डी० पी० को भेज दी थी, जिसकी, जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने प्राप्ति-सुचना भी न दी थी।

बोर्ड में उन्होंने कोई ऐसा संकेत न दिया कि वे मुझसे कभी पहले मिल चुके हैं और मैंने भी याद दिलाना उचित न समझा। औपचारिक प्रश्नों के अतिरिक्त अधिकतर प्रश्न मुझसे डी० पी० ने ही किये थे। केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में प्रस्तुत डाक्टरेट के लिए मेरी थीसस की चर्चा आनी ही थी जो ईट्स पर थी, और भारतीय पढ़े-लिखों के मन में ईट्स का नाम अनिवार्य रूप से टैगोर से जुड़ा हुआ था जिनकी नोबेल प्राइज विजयिनी 'गीतांजलि' की भूमिका ईट्स ने लिखी थी। ईट्स और टैगोर की जीवन-दृष्टि की तुलना पर बात उठी तो मैंने कहा कि

समस्त शक्ति लगाकर अपना मुँह बंद रखा।" इसे आज के मुहावरे में शायद 'चुप्पी की दहाड़' कहा जाता।

भारत के विद्वानों में फैले इस भ्रम को दूर किया जाना चाहिए कि ईट्स की दृष्टि जीवन के प्रति टैगोर की तरह ही रहस्यात्मक थी। अगर कभी ईट्स की ऐसी दृष्टि थी तो कालांतर में वह बिलकुल बदल गई थी। इतना ही नहीं रहस्य-दृष्टि के प्रति उनकी सहानुभूति नहीं रह गई थी, वे उसे रुग्ण दृष्टि भी समझने लगे थे और उसके विरोधी भी हो गए थे। उन्हें टैगोर की निष्क्रियता (Passivity) से गहरा असंतोष था। वे टैगोर को परम्परा से स्वीकृत विश्वासों और प्रगल्भ कल्पना का कवि समझते थे जबकि अपने को जीवन के कटु अनुभवों से प्राप्त मान्यताओं और यथार्थ चित्रण का—कम से कम उनकी अंतिम परिणति इसी रूप में हुई थी। वे अपनी कविता की गतिशीलता के प्रति सचेत थे और उन्हें शिकायत थी कि टैगोर की कविता स्थिरता की एकरसता से पीड़ित है और ऊब पैदा करती है। टैगोर किसी समय अपनी कविता का अनुवाद स्वयं अंग्रेज़ी में करने लगे थे और उसके कुछ नमूने ईट्स के पास भेजे थे जिसपर ईट्स ने अपनी नापसंदगी ज़ाहिर करते हुए कह दिया था, 'Tagore does not know English. No Indian knows English.' पद के लिए आवश्यक अर्हता में अंग्रेज़ी के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य का ज्ञान भी सम्मिलित था। मैंने हिंदी साहित्य की अपनी विशेष जानकारी और उर्दू-संस्कृत के सामान्य ज्ञान की बात अपने प्रार्थनापत्र में लिखी थी। डी० पी० जानना चाहते थे कि बंगला साहित्य का मुझे कितना ज्ञान है। मुझे यही कहना था कि हिंदी में बंगला का कुछ साहित्य अनूदित हुआ है और मैं उससे अपरिचित नहीं हूँ। उनके मुँह से एक ऐसी बात निकल गई जिससे मैंने समझ लिया कि मैं इस पद के लिए नहीं चुना जाऊँगा। 'अगर इस पद के लिए आपकी नियुक्ति होती है तो आपके अधिकतर विद्यार्थी तो बंगाली ही होंगे।' और मेरा ध्यान साक्षात्कार के लिए बुलाए गए अन्य प्रार्थियों की ओर चला गया जिनमें अधिकतर बंगाली ही थे। अंत में एक सवाल उन्होंने पूछा, 'आप भी कवि हैं, कवि के रूप में आप किसको अपने निकट पाते हैं, टैगोर को या ईट्स को' ? मेरे मुँह से वेसाख्ता निकल गया 'ईट्स को'। और बोर्ड के अध्यक्ष ने मुझे संकेत कर दिया कि मैं जा सकता हूँ।

तेजी जानने के लिए उत्सुक थीं कि साक्षात्कार कैसा हुआ ? मैंने उन्हें बताया कि साक्षात्कार तो बुरा नहीं हुआ पर लिया मैं नहीं जाऊँगा; किसी बंगाली की उस पद पर नियुक्ति होगी। मैंने कहा, इससे मैं निराश नहीं हूँ : तुम भी नहीं चाहती थीं कि दिल्ली से उठकर फिर कहीं जाऊँ, चलो, जो हुआ अच्छा हुआ। अब किसी से इसका ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं। मैं विदेश मंत्रालय के काम मे अपनी पटरी बिठलाने की कोशिश करूँगा। विपरीत परिस्थितियों को झेलते या उनसे झगड़ते मेरी उम्र ही बीती है। और अब तो शायद वे मेरी प्रेरणाएँ ही वन गई हैं। कुछ अप्रिय, प्रतिकूल, विरोधी की चुनौती स्वीकार करने में ही संभवतः मैं अपने में निहित शक्ति, सामर्थ्य, सक्षमता को जगा पाता हूँ। मैंने यह तो लिखा था कि 'सरलता से कुछ नहीं मुझको मिला है'; मुझे यह भी लिखना चाहिए था 'कठिनता से ही मुझे सब कुछ मिला है'।

कई दिन गहन चिन्तन में बीते।

और फिर एक दिन बिजली-सी चमकी और मुझे एक राह दिखाई दी। मुझे उस संध्या की याद आई जब बलराज और अलकाजी से हाथ मिलाकर मैंने

शेक्सपियर के किसी नाटक को अनूदित करने का वादा किया था।

मैंने अपने मन में कहा, अगर मुझे यहाँ अनुवाद का ही काम करना है तो क्यों न मैं किसी समय-सिद्ध कृति का अनुवाद करूँ जिसमें अपना कुछ शब्द सामर्थ्य, अपनी कुछ बौद्धिक कुशलता, कुछ कल्पना-शक्ति उद्‌बुद्ध करने का अवसर मिले। किसी बड़ी रचना का सफल अनुवाद करना किसी उच्च कोटि के मौलिक सृजन से न कम महत्व का काम है, न कम श्रम-साधना-साध्य। साथ ही इस अभ्यास से जो अनुवाद-सामर्थ्य मेरा बढ़ेगा उसका कुछ लाभ यहाँ के काम को भी मिलेगा, और मंत्रालय के अधिकारी भी क़ायल होंगे—अगर न होना ही न चाहें तो—कि जब शेक्सपियर ऐसा मानक साहित्य हिंदी में सरलता से रूपांतरित किया जा सकता है तो विदेश मंत्रालय में जो लिखने-लिखाने की कार्रवाई होती है क्या वह हिंदी में नहीं की जा सकती। मेरे अनुवाद के द्वारा हिंदी की क्षमता का एक प्रमाण तो सामने प्रस्तुत होगा ही। और बाधाएँ जो उसके रास्ते में खड़ी की जायें, की जायें, यह तो न कह सकेंगे कि हिंदी असमर्थ, अपरिपक्व, अविकसित भाषा है।

मैंने शेक्सपियर के नाटकों को उलटा-पलटा और अंत में मैंने निश्चय किया कि मैं सबसे पहले 'मैकबेथ' को उठाऊंगा। 'मैकबेथ' को इसीलिए कि वह मुझे सबसे कठिन लगा। लोग प्रायः सरल से शुरू करके कठिन की ओर जाते हैं। मैं कठिन से पहले टक्कर लेता हूँ। अपनी तरोताज़ा ताक़त से अगर उसको मैंने ज़ेर कर लिया तो आगे का रास्ता मैं आसान पाता हूँ।

दो-तीन बातें मेरे मस्तिष्क में सुस्पष्ट थीं :

नाटक को अविकल हिंदी में लाना है,
नाटक को रंगमंच के लिए प्रस्तुत करना है,
नाटक के कवित्व की रक्षा करनी है।

शेक्सपियर के नाटक मुख्यतया पद्य नाटक हैं। मुझे भी अनुवाद को आयम्बिक पेंटामीटर के जोड़ के किसी ऐसे छंद में बाँधकर देना है जो अपने लचीलेपन से जीवन के प्रत्येक भाव-विचार को बोल-चाल के लब-लहजे में सहज उन्मुक्तता से अभिव्यक्त कर सके। पद्य के संयमन की अपनी कुछ शक्ति है जिस पर गद्य की स्वच्छंदता को भी ईर्ष्या हो।

मैंने शेक्सपियर के कुछ मार्मिक स्थलों के अनुवाद को विभिन्न छंदों में बाँधकर देखा और अपने प्रयोगों से इस परिणाम पर पहुँचा कि 24 मात्राओं का रोला छंद आयम्बिक पेंटामीटर का सबसे नज़दीकी छंद है। छंद-शास्त्र में विशुद्ध रोला के नियम कम कड़े नहीं हैं—मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त में विशुद्ध रोला के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जायेंगे। पर मैंने देखा कि उनसे स्वतंत्रता लेने पर भी रोला का प्रवाह बना रहता है। इतना ही नहीं, आठ या सोलह मात्रा जोड़ देने पर भी रोला की गति कुंठित नहीं होती। दो लघु को एक दीर्घ अथवा एक दीर्घ को दो लघु में बदल देना रोला जितनी सहजता से सहन कर लेता है उतनी से कोई अन्य छंद नहीं। शेक्सपियर के चार सर्वश्रेष्ठ नाटकों को रोला में प्रस्तुत करके मेरी यह निश्चित धारणा है कि खड़ी बोली हिंदी के लिए रोला अंग्रेज़ी आयम्बिक पेंटामीटर के समान आधारभूत छंद हो सकता है। हिंदी में अभी पद्य नाटक के प्रयोग नहीं किए गए। कभी किए गए—गद्य माध्यम

के बाद भी कई साहित्यों में पद्य माध्यम से नाटक लिखे गए हैं—तो उसके लिए रोला से अधिक उपयुक्त कोई और छंद नहीं होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

मंत्रालय का रुटीन काम विधिवत करते रहने के बावजूद 'मैकबेथ' का अनुवाद पूरा करने में मुझे छह महीने से अधिक नहीं लगे। 14 नवंबर 1956 को—पंडित जी के जन्म दिवस पर—मैंने अनुवाद की एक स्वच्छ टाइप प्रतिलिपि उन्हें समर्पित की इन शब्दों में—

श्री जवाहरलाल नेहरू को

आदरणीय,

आपने मुझे जिस प्रकार के कार्य के लिए अपने निकट बुलाया था, अपने कलाकार के मानों में, उसी का एक परिष्कृत स्वरूप आज आपके सामने रख रहा हूँ। काम के समय अपने पैर ज़मीन पर जमाए हुए भी, अवकाश के समय आकाश में अपने डैने फैलाने का जो प्रयास मैंने किया है, आशा है, उसे आप थोड़े कौतूहल और बहुत सहानुभूति के साथ देखेंगे।

आपका,
बच्चन

विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली
14-11-56

आप देखेंगे कि अपनी 'खसमियत' निभाने के साथ अपनी 'अस्मियत' जीने का संकेत मैंने उस समर्पण में भी कर दिया था।

सृजन का सुख, सृजन का सुकून, सृजन की शांति सृजक ही जान सकता है। 'मैकबेथ' का अनुवाद करना अनुवाद से अधिक मेरे लिए सृजन था। मैंने एक लंबे अंतराल के बाद अपने अस्तित्व का अनुभव किया था—अस्तित्व जो निश्चय कवि या कलाकार का अस्तित्व था। राजनयिक दस्तावेज़ों का अनुवाद करते हुए मैं मनुष्य भी नहीं, मशीन लगता था। थकता तो मैं दिन के काम से था, घर आकर देर रात तक शेक्सपियर के साथ बैठे, उसके मनोजगत में विहार करते मैं तरोताज़ा हो जाता था, जैसे कहीं से भागता, पसीने से तर, धूल-धक्कड़ में सना आकर स्वच्छ-शीतल जल के नील सरोवर में स्नान कर रहा हूँ। सोने जाता तो ऐसा लगता जैसे मस्तिष्क की शिरायें कोई अत्यंत कोमल-मधुर गत बजाकर अभी-अभी मौन हो गई हैं—सृजक सृजन के पश्चात ऐसी ही नींद सोता है जैसे सधवा प्रसव के पश्चात।

जैसे-जैसे मैं 'मैकबेथ' में डूबता गया, तेजी की बीमारी उभरती गई। इसकी आशंका मुझे थी। जब-जब मैंने सृजन का कोई महत्वपूर्ण काम उठाया है तब-तब कोई-न-कोई विघ्न-बाधा मेरे निकट आकर खड़ी हो गई है। 'जिस जगह यज्ञ होता राक्षस आ ही जाते'। कभी आपने सोचा है, जहाँ यज्ञ होता है वहाँ राक्षस क्यों आ जाते हैं? प्रतीक रूप में यज्ञ करना विसंगति में संगति, असामंजस्य में सामंजस्य, अव्यवस्थिति में सुव्यवस्थिति लाना ही तो है। जहाँ किसी ने यज्ञ करना शुरू किया, विघटन, विखंडन, विशृंखलता की शक्तियाँ भिन्ना उठती हैं। जैसे ही यज्ञ का सुवासित धूम उनकी नाक में पहुंचता है वे उद्विग्न हो उठती हैं, मचल उठती हैं और जिधर से सुगंध आती है, उसी ओर उसका प्रतिरोध करने

को चल पड़ती हैं आक्रमणोद्धत—'ज्यों मधु तोरे माखी'। इन्हीं को प्रतीक रूप में राक्षस कहा गया है। ज़रूरी नहीं कि राक्षस दीर्घ नख-दंत-दैत्य के रूप में ही आए। ये शक्तियाँ बड़ी मायाविनी होती हैं, ये रोग-शोक, चिंता, आधि-व्याधि किसी रूप में आ सकती हैं और यज्ञ को विध्वंस करने का उपकरण बन सकती हैं। मैंने सृजन को सदा यज्ञ ही माना है और जब-जब मुझे राक्षसों ने सताया है मैंने सोचा है, काश मुझे ऐसे राम-लक्ष्मण मिले होते जो उनसे निपटते और मैं अपना कार्य निर्विघ्न समाप्त कर पाता, पर सदा ही मुझे अपने राम-लक्ष्मण को अपने ही अंदर से निकालकर खड़ा करना पड़ा है—अपने ही धैर्य, अपनी ही सहन-शक्ति के रूप में।

पर धीरज और सहन शक्ति के यह अर्थ तो नहीं थे कि तेजी को बीमारी में पड़ी देखता रहता और अपना काम किए जाता। तेजी को अपनी ईमारी-बीमारी छिपाने की कला खूब आती है—इस कला में मेरी पहली पत्नी श्यामा भी निष्णात थी—यह देखकर कि मैं किसी महत्त्वपूर्ण काम में लगा हूँ और उनकी बीमारी मेरे लिए चिंता का विषय हो सकती है या काम में बाधा पहुँचा सकती है, यदि उनका बस चलता, तो मुझपर यह प्रकट भी न होने देतीं कि उन्हें कोई तकलीफ़ है। पर उनकी बीमारी तो ऐसी थी जो छिपाई भी नहीं जा सकती थी। मैं दिल्ली में किसी अच्छे डाक्टर को न जानता था। जिस डाक्टर ने पहले देखा था उसने बीमारी का कारण किसी प्रकार का मानसिक तनाव बताकर सिर्फ़ सोने की दवा दी थी। आदमी नकली नींद कहाँ तक सोये। कुछ दिनों में सोना खुद एक बीमारी हो जाती है। और उससे जो मानसिक तनाव उत्पन्न होता है फिर उसकी दवा नहीं मिलती।

इस बीच एक दिन हम दोनों बहन रेहाना तैयब जी से मिलने चले गए। वे हमारे बगल के ऊपरवाले फ़्लैट में रहती थीं। उनसे मिलने के लिए किसी औपचारिक परिचय की आवश्यकता न थी, हम देखते थे अक्सर अजनबी लोग भी उनसे मिलने ऊपर चले जाते थे, हम तो पड़ोसी थे। उन्होंने हमारा स्वागत किया।

एक चर्म रोग होता है जिसमें चमड़ी सफ़ेद हो जाती है, यह कोढ़ नहीं होता है, न बदन पर किसी किस्म की खुजली होती है, उम्र के साथ जिस्म पर कत्थई रंग के छोटे-छोटे दाग पड़ जाते हैं। रेहाना जी एक लंबा चोगा-सा पहने बैठी थीं, सिर्फ़ चेहरा, हाथ और पाँव खुला, जिसकी त्वचा सफ़ेद, छोटे कत्थई दागों वाली दिखती थी; उमर सत्तर से कम क्या होगी, शरीर से भारी, सिर पर एक काला रेशमी रूमाल, बेफ़िक्री से लपेटा, बाल उनके बँधे सफ़ेद, आँखें उनकी चमकदार लंबी-पतली, पर एक अजीब सी गहराई लिए। लोगों का कहना था रेहाना जी में आदमी का भूत-भविष्य देखने की सहज शक्ति है। हम कौतूहलवश उनके पास चले गए थे, उनसे कुछ पूछने-जानने के लिए नहीं।

रेहाना तैयबजी प्रख्यात स्वतंत्रता सेनानी अब्बास तैयबजी की सुपुत्री थीं। 1930 के नमक सत्याग्रह के दिनों में सभाओं और जलूसों में एक गीत गाया जाता था।

'हिंद की खातिर शेर जवाहर जेल की रोटी खाए,
असी बरस का अबास तैयब जेल में उमर गंवाए।'

रेहाना ने पिता से मिले संस्कारों को जीवन में पूरी तरह उतारा था, वे उदारमना मुस्लिम महिला थीं, गांधी जी के आश्रम में बरसों रही थीं, शायद अविवाहित थीं। लगता था अपनी ध्यान-साधना से उनमें कुछ रहस्यात्मक शक्तियाँ जाग्रत हो गई थीं जिसका लाभ वे दुख-चिंता पीड़ित इंसानों को देना चाहती थीं। ऐसे लोग उनके पास आकर कुछ सान्त्वना, कुछ संतोष लेकर लौटते थे।

मौज आने पर वे लोगों का हाथ भी देखती थीं, सामान्य सामुद्रिकों के समान वे सीधी हथेली नहीं, उल्टा हाथ देखती थीं; देखती भी नहीं थीं; उसपर अपनी लंबी, पतली, सूक्ष्म-स्पर्शी उंगलियाँ फेरती थीं और कुछ बताने लगती थीं। तेजी की और मेरी हथेली की पीठ पर हाथ फेरकर उन्होंने कहा था, 'तुम दोनों सात जन्मों से पति-पत्नी होते आ रहे हो।' हम दोनों एक दूसरे को देखकर मुस्कराए थे कि अब तो कुछ परिवर्तन होना चाहिए! —मेरी अंगूठी के नीलम को देखकर वे बोली थीं, 'यह बड़ा जरतुहा नीलम है, वह शुभ न करे पर इसे हाथ से निकालोगे तो तुम्हारा कुछ अशुभ अवश्य कर देगा।' तेजी ने इसे गाँठ बाँध लिया है। कभी मैंने थोड़ी देर के लिए भी अंगूठी उतारी नहीं कि उनकी नज़र मेरी उंगली पर जाती है, वे पूछती हैं, 'अंगूठी कहाँ है?' जब रेहाना जी कुछ बताने पर ही आ गई थीं तो हम जानना चाहते थे कि तेजी अच्छी कब होंगी। बोलीं, 'बीमारी लंबी चलेगी, डा० जयचंद का इलाज करो!'

यह बात तो उनकी ठीक निकली कि बीमारी लंबी चलेगी, चल ही रही है, पर डा० जयचंद के इलाज से लाभ नहीं हुआ, हानि ही हुई।

डा० जयचंद लाहौर के प्रसिद्ध होमियोपैथ थे, देश विभाजन पर दिल्ली आकर बस गए थे। उनसे मेरा परिचय मेरे मित्र पंडित खुशीराम शर्मा ने 1939 में कराया था जो उन दिनों मोगलपुरा में रहते थे। उनसे परिचय की मुझे खास याद इसलिए है कि जब लाहौर रेडियो स्टेशन से पहली बार मेरी 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयों और 'प्याले का परिचय' कविता का प्रसारण किया गया था तब उसे मैंने उन्हीं के घर पर बैठकर सुना था। उस शाम उन्होंने अपने यहाँ मेरे लिए एक चाय पार्टी दी थी। मुझे खुशीराम ने बाद को बताया था कि वे पार्टी के बहाने ब्याहने योग्य उम्र की अपनी एक भतीजी का परिचय मुझसे कराना चाहते थे। पार्टी में उसे देखने की तो मुझे याद है, पर न मैंने उसमें कोई विशेष रुचि ली थी, न उसने ही मुझ में।

मैं डा० जयचंद को बुलाने गया तो 15-16 वर्ष बाद मुझे देखने पर भी उन्होंने मुझे पहचान लिया, घर आए, तेजी की विधिवत स्वास्थ्य-परीक्षा की, पिछली बीमारियों का इतिहास पूछा, काफ़ी समय दिया, दवा बताई, जाते समय फ़ीस लेने से इनकार कर दिया—'लाहौर के पड़ोस की बेटी से फीस लूंगा!" उन्होंने तेजी की बीमारी में बहुत रुचि ली, मुझे होमियोपैथी पर पढ़ने को एक किताब दी, पर दवा उन्होंने रोग को एग्रेवेट करने की दी, शायद होमियोपैथी के उपचार में किसी दर्जे पर रोग को उभारना भी होता है। इससे तेजी बहुत घबराईं और उनका इलाज आगे करने को तैयार न हुईं। मुझे याद है '56 की पंडित जी की वर्षगांठ पर जब अपने 'मैकबेथ' अनुवाद की टाइप प्रतिलिपि मैं उन्हें भेंट करने गया था, तेजी मेरे साथ गई थीं—उनकी पलकें लाल दानों से

सूजी थीं, और पंडित जी ने क्वचित चिंता से कहा था, 'यह क्या कर लिया है तुमने अपने चेहरे को ?'

मैंने सोचा, सब कहते हैं, तेजी की एलर्जी मानसिक है तो उनके मन को बहलाने, किसी दिशा में लगाने की कोशिश क्यों न की जाय । एलर्जी उभरती तो दमा दब जाता, एलर्जी दबती तो दमा उभरता । डाक्टर कभी एक को दबाते, कभी दूसरे को दबाने का प्रयत्न करते । एलर्जी एक प्रकार की एक्ज़ेमा थी । मैंने कहीं सुना था—

एक्ज़ेमा क्योर्ड
एस्थमा श्योर

यानी अगर एक्ज़ेमा अच्छा कर दिया जाय तो निश्चय वह दमे का रूप ले लेता है । इलाज जैसे-तैसे चलता रहा । मैंने अपने 'मैकबेथ' के अनुवाद में उनकी रुचि जगाने का प्रयत्न किया । जब उनकी तबियत कुछ ठीक रहती मैं उनको अपना अनुवाद सुनाता । नाटकों में उनकी दिलचस्पी थी । मेरा अनुवाद उन्हें बहुत पसंद आया । कभी-कभी हम नाट्य-पाठ करते, यानी पुरुष-पात्र के डायलाग मैं बोलता, स्त्री पात्र के वे । टाइप-कापी से उन्हें पढ़ने में दिक्कत नही होती थी । तभी हमने अनुभव किया कि हिंदी रूपांतर मंच पर भी लाने योग्य है । तेजी ने एक दिन कहा, नाटक का मंचन होगा तो मैं लेडी मैकबेथ का पार्ट करूंगी, मैंने हँसी-हँसी में कह दिया मैं मैकबेथ का । फिर तो हमने संभावित मंचन की तैयारी में काफ़ी रिहर्सल किये । यह हमारा पुराना शुग़ल था । मुझे याद है 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के समय जब इमर्जेंसी लगा दी गई थी, और युनिर्वासिटी दो-तीन महीने के लिए बंद करा दी गई थी तो हम दोनों घर पर शेक्सपियर के नाटकों की प्ले-रीडिंग किया करते थे । अमित पेट में था । अब हमसे लोग पूछते हैं कि अमिताभ में अभिनय की प्रतिभा कहाँ से आई । मैं उन दिनों की याद कर एक प्रति-प्रश्न उछाल देता हूँ, 'अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदने की क्रिया कहाँ से सीखी ?'

'मैकबेथ' अनुवाद की टाइप प्रतियाँ मैंने अपने दो-तीन मित्रों के पास भेजी थीं, उनकी टिप्पणी के लिए, सुधार के उनके सुझावों के लिए । कुछ सुधार के सुझाव बलराज साहनी ने भेजे, कुछ पंत जी ने; रघुवंश किशोर ने अंग्रेज़ी के मूलपाठ से पंक्ति-पंक्ति मिलाई । उन सबपर विचार करके, और जगह-जगह तेजी की सलाह पर मंचन की दृष्टि से अनुवाद को संशोधित कर मैंने उसे अंतिम रूप दिया । प्रकाशित करने के लिए उसे मैंने राजपाल एंड संस के स्वामी विश्वनाथ को दे दिया ।

विश्वनाथ जी एक दिन साउथ एवेन्यू वाले मकान में मुझसे मिलने आए थे । उनकी उदीयमान संस्था से मैं अपरिचित न था । दिनकर जी ने अपनी 'संस्कृति के चार अध्याय' उनके यहाँ से प्रकाशित कराई थी और वे उनके व्यवहार से संतुष्ट थे । प्रकाशन के लिए अपनी किताबें राजपाल को देने की उन्होंने सिफ़ारिश की थी । मैंने प्रयोग की तरह पहली किताब 'धार के इधर-उधर' उन्हें प्रकाशित करने को दी थी जिसे उन्होंने अपनी तरफ़ से तो सुरुचि से ही निकाला; गो मैं पूर्णतया संतुष्ट न था, फिर भी उन्होंने रायल्टी अच्छी दीं और समय से ।

सृजन-यज्ञ चलता रहा—

—मैंकबेथ अनुवाद का प्रारूप तैयार हुआ।
—उसकी टाइप प्रतियाँ तयार की गईं।
—उसके नाट्य-पाठ से घर गुंजित रहा।
—उसके मंचन की कल्पना की गई।
—बीच-बीच में गीत-कविताएं उतरती रहीं जो 'आरती और अंगारे' में जुड़ती रहीं।
—'धार के इधर-उधर' प्रकाशित हुआ।
—'मैंकबेथ' अनुवाद को मित्रों के सुझावों पर, नाट्य-पाठ के अनुभवों से संशोधित कर अंतिम रूप दिया गया।
—उसकी प्रेस कापी तैयार की गई।
—उसे प्रकाशित करने को राजपाल ऐंड संस को दिया गया।
—'मैंकबेथ' के बाद कौन नाटक अनुवाद के लिए उठाया जाय, इसके लिए शेक्सपियर के नाटक उलटे-पलटे गए—
—सृजन-यज्ञ में आहुति पर आहुति पड़ रही थी।
—राक्षस और भिन्ना उठे, और सक्रिय हो गए।
—उन्होंने हमें दफ़्तर और घर दोनों से उखाड़ने की योजना बनाई।

पहले बतला चुका हूँ हिंदी-अनुभाग मन्त्रालय के किचनेट में था। पहले ही उसमें बैठने की जगह की कमी थी। अजित कुमार आए तो उसी में एक कुर्सी, एक मेज़ और ठूंस दिए गए। इसी को हमारी तरफ कहते हैं, 'सकेते में समधियान' करना। मैं भी जिस कमरे में बैठता था, उसमें पखवाइयाँ लगाकर चार दड़बे बना दिए गए थे, चार 'नीच' सचिवों के बैठने के लिए। मेरा काम, ज़ाहिर है, औरों के काम से अलग तरह का था। मौलिक सृजन न सही, शुद्ध और किसी दृष्टि से सुंदर अनुवाद करने के लिए भी मुझे कुछ एकांत-शांत जगह की आवश्यकता थी। बुद्ध वृत्तचित्र का अनुवाद करते समय मुझे ऐसे वातावरण की कमी विशेष खली थी। हिंदी अनुभाग प्रबंध की दृष्टि से प्रशासन विभाग के अंतर्गत आता था। मैंने संबद्ध सह-सचिव को एक प्रार्थनापत्र दिया जिसमें मैंने लिखा कि अपने काम को सुचारु रूप से करने के लिए मुझे एक अलग कमरा चाहिए, साथ ही हिंदी-अनुभाग के लिए भी एक बड़े कमरे की ज़रूरत है। हिंदी 'नीच' सचिव और हिंदी लिपिकों-टिपिकों की यह हिमाकत! हुक्म हुआ हिंदी आफ़िसर और हिंदी अनुभाग को मय सरो-सामान—लाक-स्टाक ऐंड बैरेल—मंत्रालय के मुख्य भवन से हटाकर हटमेंट (यानी झोपड़-पट्टी) 'पी' ब्लाक के 86-87 कमरे में पहुँचा दिया जाय; जहाँ एक स्वतंत्र कमरा मेरे लिए होगा, एक सेक्शन के लिपिकों-टिपिकों के लिए। विगत महायुद्ध के समय उठी, जगह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसे हटमेंट की लाइन की लाइन कई जगह बनाई गई थीं—जहाँ भी खुली जगहें मिल गई थीं—एकमंजिली, कामचलाऊ—सरकारी हुक्म था, हमें मानना ही था। हम 'पी' ब्लाक में चले गए जो मंत्रालय के मुख्य भवन से आध मील पर तो होगा। मुझे लगा हम मंत्रालय के ऐसे अंग नहीं समझे गए कि हमें निकट रखा जाय। वहाँ अगल-बगल, आमने-सामने और भी कई विभागों के छोटे-मोटे दफ़्तर थे, जिनसे मेरे काम में काफ़ी शोर-गुली व्याघात पहुँचता था। किस-

किस बात की शिकायत की जाय। मुझे इस स्थानांतरण में हिंदी की अब मानना ही लगी जो जान-बूझकर की जा रही थी। विदेश मंत्रालय की बुलंद इमारत में पंडित जवाहरलाल नेहरू के बुलंद व्यक्तित्व के सानिध्य में हिंद राष्ट्र की राष्ट्रभाषा हिंदी का काम करने का यत्किंचित गर्वीला-गौरव जो हम अनुभव करते थे उससे हम वंचित हो गए। साज़िश तो यह कुछ अंग्रेज़ी-परस्त और हिंदी-विद्वेषी अफसरों की थी, पर इसका 'श्रेय' मैंने राक्षस को ही दिया—वही दूसरों को उपकरण बनाकर अपना यज्ञ-भ्रंशी काम कर रहा है। लेकिन मैं पराजित होने को तैयार न था। राक्षस को ही पराजित करने की दृष्टि से मैंने युद्ध का एक और फ्रंट खोल दिया। अब जब मुझे मौका मिलता मैं सृजन-संबंधी कुछ काम 'झोपड़-पट्टी' के अपने किसी कदर आज़ाद कमरे में भी बैठकर करता। 'मैकबेथ' के बाद मैंने 'ओथेलो' का अनुवाद करने का इरादा किया था और मुझे याद है उसके कुछ भाग निश्चित रूप से झोपड़-पट्टी के कमरे में ही बैठकर किए गए थे। कायस्थ को लहरें गिनने के काम पर लगा दिया गया था, पर वहाँ भी उसने अपने लाभ की जुगत बैठा ली थी। जातिबद्ध संकीर्णता से सिद्धांतया मैं अपने को ऊपर रखता हूँ, पर न जाने क्यों मुझे चुनौती दी जाती है तो मुझे संस्कारतः अपनी जाति के अपराजेय चातुर्य का स्मरण आता है और मैं समझता हूँ मैं इस हथियार का काफ़ी सफ़ाई से इस्तेमाल कर सकता हूँ। अपने इस जातीय आत्म-विश्वास पर एक मेरे संबंधी ने तुलसी के प्रसिद्ध दोहे—

> काह न पावक जारि सक का न समुद्र समाइ।
> का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ॥

की एक पैरोडी लिखी थी—

> काह कलम नहिं मारि सक कागद का न समाइ।
> का न करै कायथ प्रबल जाहि काल नहिं खाइ॥

'कलमवीर कायथ' कहावत तो आपने सुनी होगी—शायद उसी को याद कर मैंने अपनी एक कविता में लिखा था—

> 'कलम से ही
> मार सकता हुँ तूझे मैं;
> कलम का मारा हुआ
> बचता नहीं है'—

और कागद पर कुछ भी लिख दो 'समुद्र'—'आकाश'—समा गया न? अंतिम खंड से आपको आपत्ति हो सकती है—क्या कायस्थ नहीं मरता? पर 'कायस्थ' माने वही है जो गीता के इस श्लोक में—

> अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

'शरीरस्थ' वही जो 'कायस्थ'—'शरीर'='काया'।

राक्षस दफ्तर से उखाड़कर मुझसे मात खा गया था। उसने मुझे घर से भी उखाड़ा।

शायद मैं पहले बता चुका हूं कि 77 साउथ एवेन्यू जिसमें साल भर से मैं रहता था पार्लियामेंट्री फ़्लैट था—यानी संसद के सदस्यों के लिए था—और राजेश्वर बाबू ने अपने विशेषाधिकार से उसे मुझे दे दिया था। शायद किसी संसद-सदस्य को आवश्यकता हुई, या और कोई बात हुई—उकसाया तो छद्म वेश से राक्षस ने ही होगा—हाउसिंग कमेटी से मुझे आर्डर मिला कि मैं एक सप्ताह के अंदर उस फ्लैट को खाली कर दूँ और नए एलाट किए फ्लैट में चला जाऊं—219/डी-1, डिप्लोमेटिक एनक्लेव में। एक मकान से उठकर दूसरे मकान में जाने पर आदमी कितना अव्यवस्थित हो जाता है, इसे वे सब लोग जानते होंगे जिन्हें ऐसे अनुभव से गुज़रना पड़ा होगा। बहुत सी किताबों वाले आदमी की तो और मुसीबत होती है। महीनों पता नहीं लगता कि कौन किताब कहाँ है। मकान बदलने का नतीजा यह होता कि महीनों के लिए मेरे लिखने-पढ़ने का काम ठप्प हो जाता, और यह मैं किसी हालत में नहीं होने देना चाहता था। यह मेरी मात होती।

मंत्रालय से हम तीन मील की दूरी पर फेंक दिए गए। चाणक्यपुरी के फ़्लैट नए-नए बने थे। उनके चारों ओर न वृक्ष, न हरी घास का एक तिनका। हम जब वहाँ गए गर्मी के दिन थे, बिना पर्दे लगी खिड़कियों, जालीदार बरामदों से ढेर-की-ढेर रेत कमरों में आती। हमारा फ़्लैट सफ़दरजंग हवाई अड्डे से बिलकुल मिला था। हवाई अड्डे की निकटता मेरे लिए सबसे ज़्यादा परेशान करनेवाली चीज़ थी—हवाई अड्डा क्या था घनघोर शोर का कारखाना। जब-जब कोई हवाई जहाज़ उड़ने के लिए उठता—और दिन-रात में बीसों उठते; तब-तब हमारे फ्लैट के दरवाज़े-खिड़कियाँ हिल जातीं, दीवारें थरथरा उठतीं और अगर टेबिल पर बैठे कोई विचार-कल्पना मेरे दिमाग में होती तो वह हवाई जहाज़ की भर्रर्र र्र···उड़ान के साथ उड़न-छू हो जाती।

पर सृजन-यज्ञ रुका नहीं। पहली बात तो मैंने यह की कि यज्ञ की समिधा-सामग्री-घृत-स्रुवा-हवनकुंड मैं बहुत संभालकर साउथ एवेन्यू से चाणक्यपुरी उठा लाया। अग्नि तो अंदर ही थी। मैंने तेजी से कहा, तुम और सामान तो ट्रक से ले जाने का प्रबंध करो, पर मैं अपनी किताबें, अपने पढ़ने-लिखने का सामान मोटर से वहाँ पहुँचाऊँगा, चाहे मुझे पचीस चक्कर लगाने पड़ें। उन्होंने किराये की तीन अलमारियां, एक मेज़-कुर्सी, टेबिल-लैंप के साथ सबसे पहले नए फ़्लैट में लगवाई। और दो ही, दिन के अंदर मैं अपने 'ओथेलो' के अनुवाद पर काम करने लगा। नए फ़्लैट में बिजली अचानक आती-जाती रहती। मैंने टेबिल पर दो मोमबत्तियाँ रखवा लीं—बिजली चली जाती तो मैं मोमबत्तियाँ जला लेता और काम करता जाता।

नए फ़्लैट में धूल फाँकते-फाँकते तेजी का दमा बढ़ना ही था। पर तेजी मुझसे कम ज़िद्दी नहीं हैं। उन्होंने अपनी बीमारी की हालत में ही बाज़ार से लाकर बरामदे में टाट के पर्दे, खिड़कियों-दरवाज़ों पर कपड़े के सुरुचिपूर्ण पर्दे लगवाए और घर को, जैसा भी हो सकता था, सुविधापूर्ण बनाया। सोते हम थे ज़मीन पर डनलप के गद्दों पर। दफ़्तर दूर हो जाने से आने-जाने में मेरा काफ़ी वक़्त बरबाद होता, पर जो भी समय हमें मिलता उसमें मैं कुछ अपना

लिखने का काम न करता होता तो तेजी का मेरा नाट्य-पाठ चलता, 'मैकबेथ' को मंचित करने की आवश्यकताओं पर सोच-विचार होता—स्टेज कैसा बनेगा, पात्रों की पोशाकें कैसी होंगी, मंच पर इस्तेमाल होनेवाले साज-सामान क्या होंगे—कितनी तरह के तो दृश्य हैं—राज-दरबार के, भूत-चुड़ैलों के श्मशान के, दुकेली और सामूहिक लड़ाइयों के, वग़ैरह-वग़ैरह; और उन पर खर्च कितना बैठेगा—खर्च का सवाल उठते ही हमारी सारी योजना हवा हो जाती। प्रकाशन अव्यवस्थित हो जाने से रायल्टी बहुत कम मिलती थी, कवि सम्मेलनों आदि से जो ऊपरी आमदनी हो जाया करती थी वह प्रायः बंद थी—कहाँ दफ्तरों में इतनी छुट्टी मिलती थी दूर-दराज़ जाने की—बेटों की प्रवासी पढ़ाई पर जो ऊंची फ़ीस लगती थी उसके बाद घर-गिरिस्ती के खर्च के लिए वाजबी-वाजबी ही बचता था। तेजी की बढ़ती बीमारी पर दवा-दारू का खर्च बढ़ता ही जाता था।

नाटक-अनुवाद संबंधी सृजन-यज्ञ में मेरी सहयोगिनी होने के कारण तेजी को भी राम जी की तलाश थी कि वे राक्षसों को परास्त करें तो हमारा यजन-आयोजन कुछ आगे बढ़े। मुझे तो राम जी नहीं मिले, पर तेजी ने राम-निवास यानी राम जिसमें निवास करें उन हनुमान जी का पता लगा लिया। एक तरह से राक्षस ने ही अपनी कुचाल से उन्हें हनुमान जी तक पहुँचाया। हनुमान जी का पता प्रायः राक्षस ही बताते हैं।

किंवदंती आपने सुनी होगी। बाबा तुलसीदास प्रातःकाल शौच से जब लौटते तो लोटे में बचा हुआ जल एक पेड़ की जड़ में डाल देते। उसमें एक ब्रह्मराक्षस रहता था। एक दिन वह विप्र रूप में उनके सामने खड़ा हुआ, बोला, 'आप जो जल यहाँ डालते थे उससे मुझ ब्रह्मराक्षस का उद्धार हो गया। बोलिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ।' बाबा ने कहा, 'मुझे हनुमान जी का पता बता दो।' राक्षस ने बताया अमुक स्थान पर रामकथा होती है, वहाँ हनुमान जी कोढ़ी के वेश में कथा सुनने आते हैं। तुलसीदास ने कोढ़ी के पाँव पकड़ लिए, और कोढ़ीवेशी हनुमान ने उन्हें राम जी के दर्शन करने की जुगत बताई।

राक्षस ने तो हमारी यज्ञस्थली से हमें दूर फेंका था, उसे क्या पता था कि वह हमें हनुमान जी के निकट भेज रहा है। भौतिक संसार में हमारे चारों ओर जो छोटी-छोटी घटनाएं होती हैं उनका कभी-कभी हमारे मन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है इस पर हम जल्दी ध्यान नहीं देते। इतना मैं अवश्य मानूँगा कि ग्रहणशील मन भी होना चाहिए। एक उदाहरण मेरे सामने है।

जिस समय हम लोग 219/डी-1, चाणक्यपुरी में आए उस समय हमारे फ़्लैट और अशोक होटल के बीच कोई मकान न था। हम अपने फ्लैट से अशोक होटल को बनते-उठते देखा करते। हमारे फ़्लैट और अशोक होटल के बीच विनय मार्ग पर किसी जगह से प्रति ब्राह्म मुहूर्त में किसी के शुद्ध, सुस्पष्ट उच्च स्वर में विनय पत्रिका की हनुमत-स्तुति के बारह पद सुनाई देते—'जयत्यंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधुविबुध-कुल-कैरवानंदकारी' से लेकर 'मंगल मूरति मारुत-नंदन' तक। तेजी को और मुझे भी सुबह-सुबह का यह श्रद्धा-भक्तिमय मंगल पाठ बहुत अच्छा लगता। पाठ के प्रति तेजी का कौतूहल जागा तो मैंने उन्हें विनय पत्रिका से एक-एक पद के विस्तृत व्याख्यापूर्वक अर्थ समझाए। अपनी

साल भर की बीमारी से तन-मन-जर्जर तेजी ने कुलिश-तन, वज्र-संकल्प संकट-मोचन का प्रखर आह्वान सुना—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

और वे हनुमान जी की शरण में चली गईं—पूर्ण श्रद्धा-विश्वास के साथ। नाटक-मंचन की लगन लगाए हुए क्या वे हनुमान की इस विरुदावली से भी प्रभावित हुईं ?—

'महानाटक निपुन, कोटि कविकुल तिलक, गान गुण-गर्व-गंधर्व जेता।
और क्या उन्होंने 'कोटि कविकुल तिलक' मेरा सजातीय आदर्श भी देखा ?

मैंने सुना कि जब अशोक होटल से चाणक्यपुरी तक विनय मार्ग बनने लगा तो रास्ते में बहुत से ऊंचे-नीचे टीलों को हटाना पड़ा। तभी बीच के एक टीले की खोदाई में हनुमान जी की एक विशाल मूर्ति मिली। कहते हैं जैसे ही यह खबर फैली कि धरती फाड़कर हनुमान जी प्रकट हुए हैं वैसे ही हज़ारों की भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गई। और कई दिनों तक दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहा। तभी कहीं से एक वयस्क ब्राह्मण देवता वहाँ पहुँचे और मूर्ति के चारों ओर के कंकड़-पत्थरों को हटाकर लेटे हनुमान जी की प्रति प्रभात को जल-सेवा करने लगे। उन्हीं के ओजस्वी स्वर में गाई हुई हनुमत-स्तुति हमें अपने फ़्लैट से सुनाई पड़ती थी। अब तो वहाँ अच्छा-खासा मंदिर खड़ा हो गया है। तेजी जब भी कार से विनय मार्ग से गुज़रतीं मूर्ति के सामने उनका माथा झुक जाता। फिर वे वहाँ एक मिनट रुक, मोटर से उतर हनुमान जी का दर्शन करने लगीं। बाद को वे हनुमान जी के पवित्र दिन मंगल को अलोना व्रत रखने लगीं, सुन्दर कांड का पाठ भी करने लगीं। सास की परंपरा आहिस्ता-आहिस्ता पतोहू में उतर पड़ी। मेरी माँ भी मंगल को व्रत रखती थीं और सुन्दर कांड का पाठ करती थीं। हनुमत मूर्ति ने अपना पूरा प्रभाव दिखा दिया था।

ऐतिहासिक तथ्य शायद यह है कि जब तुर्कों ने इस देश पर आक्रमण करना शुरू किया और मंदिरों-मूर्तियों को ढहाने-तोड़ने लगे तो हिंदुओं ने अपनी भव्य मूर्तियों को बचाने के लिए उन्हें ज़मीन में गाड़ दिया। हिंदू मनीषा ने निश्चय यह कल्पना की होगी, कभी तो यह पाशविक हमलावरी बाढ़ रुकेगी और तब जब ये मूर्तियाँ निकलेंगी तो अपने चारों ओर सहस्रगुनी दैवी चमत्कारी आभा लिए हुए। राजस्थान से बंगाल तक, नेपाल से धुर दक्षिण तक सैकड़ों मंदिर आपको मिलेंगे जिनकी मूर्तियों के बारे में यह कहा जाता है कि ये 'स्वयंभू' हैं। ब्रज में तो इन मूर्तियों के लिए एक विशेष शब्द प्रयुक्त होता है, 'प्राकट्य'—वृंदावन में निधिवन में वह स्थान दिखाया जाता है जहाँ से श्रीनाथ जी की मूर्ति का 'प्राकट्य' हुआ था। प्राकट्य के विषय में अजीब-अजीब कहानियाँ भी प्रचलित हैं। नेपाल में 'बूढ़ा नीलकंठ' की एक मूर्ति है—नीलकंठ तो शिव को कहते हैं, पर यह भव्य मूर्ति शेषशायी भगवान विष्णु की है—संगमूसा की—आदम कद के तिगुने आकार की—मूर्ति के पाँव की एक उँगली कटी हुई है। कहा जाता है कि ज़मीन खोदते हुए किसी किसान की कुदाली किसी बड़ी चीज़ से टकराई और उससे रक्त की धार निकलने लगी। कहने का मतलब कि मूर्ति जड़ नहीं, सजीव है। कभी सोचता हूँ कि इन मूर्तियों के बारे में वैज्ञानिक शोध

की जाए तो बड़े ऐतिहासिक तथ्य मालूम किए जा सकते हैं और हिंदू मनस् के सोचने की प्रक्रिया का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन भी किया जा सकता है; पर हिंदू पुजारी शायद ही ऐसा करने दें। उद्देश्य संभवतः मनुष्यों में श्रद्धा जगाने का है, वह किसी विधि से हो। मेरा ऐसा ध्यान है कि अगर श्रद्धा सत्याधारित हो तो अधिक दृढ़ होगी, अधिक दिशानिर्दिष्ट। बूढ़ा नीलकंठ के मूर्तिकार को जो श्रद्धा मैं दे सकता हूँ वह किसी विष्णुभक्त की श्रद्धा से न कम है, न निम्न कोटि की। श्रीनाथ जी मूर्ति के गढ़िया को मैं उसी श्रद्धा-भक्ति से नमन करना चाहूँगा जिससे लोग श्रीनाथ जी को नमन करते हैं। श्रद्धेय कुछ न दे—शायद कुछ देता भी नहीं—पर मनुष्य अपनी श्रद्धा से बहुत कुछ ले लेता है। उससे सांत्वना-शांति पाता है, बल-साहस सँजोता है, और उनके कारण सफल मनोरथ भी होता है। श्रेय वह श्रद्धेय को दे, पर वास्तविक श्रेय तो उसे अपनी श्रद्धा को देना चाहिए।

तेजी ने हनुमान जी के प्रति अपनी श्रद्धा से अपने इच्छा-बल को अधिक सुदृढ़ किया, आत्मविश्वास को अधिक जगाया। मनोवैज्ञानिक सत्य शायद यह है कि अपने में इच्छा-बल और आत्मविश्वास होने के कारण ही उन्होंने हनुमान में अपना इष्ट पाया। हनुमान इच्छा बल और आत्मविश्वास के ही देवता तो हैं। वे जो भी करना चाहें कर सकते हैं, करते हैं। इस दृष्टि से मैं हिंदुत्व को बड़ा मनोवैज्ञानिक और बड़ा कवित्वपूर्ण धर्म मानता हूँ। हिंदुओं ने इतने-इतने देवताओं की कल्पना इसलिए की है कि हर मनुष्य अपनी मनोवृत्ति के अनुसार अपना देवता चुन ले, चुनता ही है। और यह तो वैज्ञानिक सत्य है कि हर मनुष्य अपनी अलग प्रवृत्ति रखता है। एक ही धर्म, एक ही विश्वास, एक ही सिद्धांत सबके लिए—कितना अवैज्ञानिक है, इसे सहज ही देखा जा सकता है। सभ्यता के विकास में अगर कभी पूर्णतया वैज्ञानिक युग आया तो उसका वैज्ञानिक धर्म हिंदुत्व ही हो सकेगा।

तेजी ने 'दनुज वन कुशानुं' को अपनाया तो दनुजों को क्रुद्ध-क्षुब्ध होना ही था। उन्होंने और भीषण रोग बनकर उन पर आक्रमण किया। डा० जयचंद का इलाज बन्द करने के बाद हम फिर एलोपैथिक इलाज पर आ गए थे। पर रोग टस-से-मस न हुआ। इस बीच तेजी की एक सहेली—इलाहाबाद की—डा० वत्सला सामंत हमारे घर आईं। वे स्त्री रोग विशेषज्ञ थीं। तेजी की हालत देखकर उन्होंने उनकी विस्तार से परीक्षा की। बड़ा विचित्र है, हर रोग-विशेषज्ञ किसी भी रोगी में अपने ही रोग का प्रकोप देखता है। डा० सामंत का निदान था कि गर्भाशय में किसी प्रकार का इन्फ़ेक्शन या छूत रोग है, उसी से एलर्जी भी है और उसी को दबाने से साँस भी फूलती है। क्यों न गर्भाशय को निकलवा दिया जाए। और बच्चे पैदा करने की न तेजी जी की मंशा है न उम्र; गर्भाशय निकलवा देने से वे रोग-मुक्त हो जाएँगीं और उनका स्वास्थ्य भी सुधरेगा—डा० सामंत ने इतने निश्चय और आत्मविश्वास से कहा कि उसमें संदेह करने की हमारे लिए कोई गुंजाइश न थी। जुलाई में कमला नेहरू अस्पताल में तेजी का आपरेशन हुआ। आपरेशन सफल रहा, पर तेजी बहुत ही कमज़ोर होकर दिल्ली लौटीं। बड़े अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि डा० सामंत के पूरे-पक्के आश्वासनों के बावजूद आपरेशन के बाद भी न एलर्जी कम

हुई और न दमा घटा। कटु अनुभूति हुई कि आपरेशन के लिए जो कष्ट, जो परेशानी उठाई गई सब बेकार थी। डा० सामंत को दोष देना बेमतलब था। रोग था तो उसका कुछ इलाज तो कराना ही था। किसी के सुझाव पर पुरानी दिल्ली के एक वैद्य का इलाज आरंभ किया गया। याद है वह इतना कड़ुआ काढ़ा पीने को देता था कि तेजी कहतीं इससे तो विष पीना अच्छा।

बच्चे मार्च में स्कूल जाते तो दिसंबर में लौटते। तीन-तीन महीनों पर अर्थात जून और अक्टूबर में हम हफ़्ते-दो-हफ़्ते को नैनीताल जाकर उनसे मिल आते। ये दिन हमारे और बच्चों के लिए भी बड़ी ख़ुशी के होते। अक्टूबर में स्कूल का वार्षिकोत्सव होता, हमारे बच्चों के भी कुछ कार्यक्रम होते, हमें उन्हें कुछ विशिष्टता पाते देखकर प्रसन्नता होती और बच्चों का भी हौसला बढ़ता कि वे जो विशिष्ट कर रहे हैं उसे देखने को, उसकी प्रशंसा करने को, उस पर ताली बजाने को उनके माता-पिता उनके सामने हैं।

उस साल अक्टूबर में नैनीताल जाने को हम विशेष उत्सुक थे। स्कूल में वार्षिकोत्सव पर गोगोल का नाटक 'इन्सपेक्टर जनरल' मंचस्थ किया जाने को था और अमित को मेयर का पार्ट दिया गया था—15 वर्ष की उम्र में कम-से-कम 45 वर्ष की अवस्था के पात्र की भूमिका अदा करने को! तेजी और मैं दोनों ही अपने बेटे का अभिनय देखने को उत्सुक थे, पर आपरेशन के बाद की कमज़ोरी और उनकी दमे की बढ़ती बीमारी से मुझे डर था कि हम नैनीताल जा भी सकेंगे कि नहीं। लेकिन तेजी तो अपना 90 प्रतिशत काम इच्छा-बल से करती हैं। अक्टूबर लगा कि वे चलने के लिए तैयार हो गईं।

हम कालेज के रंगभवन में बैठे थे। नाटक आरंभ हो गया था। अमित ने मेयर की वेश-भूषा में बड़े आत्मविश्वास के साथ रंगमंच में प्रवेश किया था, पर तेजी का दिल धक-धक कर रहा था, वे नरवस हो रही थीं और पास बैठे उन्होंने मेरा हाथ ज़ोर से पकड़ लिया था। शायद कुछ-कुछ नरवस मैं भी था, पता नहीं अमित अपना अभिनय ठीक कर पायेगा कि नहीं। पर अमित जिस प्रकार पात्र में डूबकर अपनी भूमिका अदा कर रहा था उससे हमारी नरवसता ज़्यादा देर न रह सकी। नाटक के अंत में निर्णायकों ने उसे नाटक के सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार 'केन्डल कप' प्रदान किया। हम अपनी ख़ुशी क्या बताएँ, लगा था जैसे हमें ही पुरस्कार मिला हो। पर उस समय हमने शायद ही समझा हो कि एक दिन यह लड़का फिल्म-संसार का एक सर्वप्रिय और सर्वोत्कृष्ट अभिनेता कहा जाएगा, और उसकी यह शुरुआत है। अधिक-से-अधिक यही सोचा होगा कि अपनी यत्किंचित प्रतिभा से उसने वार्षिकोत्सव के एक कार्यक्रम को सफल और मनोरंजक बनाया और स्कूल के अधिकारियों ने उसे मान्यता देने को पुरस्कृत किया। हम बहुत ख़ुश लौटे। तेजी अधिक बीमार होकर लौटीं। पहाड़ पर उनका दमा हमेशा बढ़ जाता था।

डाक्टर हो, वैद्य हो, हकीम हो, कोई कभी नहीं स्वीकार करता कि उसके निदान में किसी प्रकार की ग़लती थी या उसके उपचार में किसी प्रकार की त्रुटि। इसलिए हमारे वैद्यजी ने जब एक दिन कहा कि संभव है मैं रोग को ठीक नहीं पकड़ पा रहा हूं, और इसलिए दवा लग नहीं रही है, तो हम उनकी ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा कि उनके एक वयोवृद्ध गुरु हैं जो

बरेली में रहते हैं और उन्होंने न जाने कितने असाध्य रोगों को अच्छा किया है, साँस के रोगों के तो वे एक प्रकार से विशेषज्ञ हैं, चर्म रोगों के भी, और कभी-कभी तो उनकी एक ख़ूराक दवा ही रामबाण की तरह काम करती है। आते-जाते वे कहीं नहीं, उनके पास ही जाना होगा, जाने की आसान राह भी उन्होंने बता दी, 'आप लोग मोटर से बदायूं चले जाएँ, चार-पाँच घंटे का रास्ता है, वहाँ से फेरी सर्विस से रामगंगा पारकर आप मोटर समेत उस पार बरेली पहुँच जाते हैं। संध्या को ही भिषगाचार्य को दिखाइए और रात भर बरेली रहकर सवेरे फिर फेरी सर्विस से बदायूं आ जाइए और दोपहर तक आप दिल्ली में होंगे।' वैद्यजी का नाम-पता भी उन्होंने बता दिया। हमने सोचा अगर हम शनिवार को आधे दिन की छुट्टी ले लें तो उसी शाम बरेली पहुँचकर इतवार को लौट सकते हैं, सोमवार को दफ़्तर करने के लिए।

कुछ दिन पहले से इलाहाबाद के कुँवर बहादुर चौधरी हमारे साथ रहने लगे थे। वे जगदीश राजन के श्वसुर प्रताप बहादुर चौधरी के छोटे भाई थे। डा० वत्सला सामंत उनकी पत्नी थीं। वे इंडियन एयर फोर्स में प्रथम श्रेणी के पाइ-लट थे, पर किसी कारण उन्होंने वहाँ से इस्तीफ़ा दे दिया था और किसी प्राइवेट फर्म में नौकरी खोजते हुए वे दिल्ली आ पहुँचे थे। उन्हें बिरला की एक बड़ी फर्म में काम मिल गया था। वे मेहमान की तरह हमारे घर आए थे, पर बाद को हमारा इतना मन मिला कि वे घर के सदस्य की ही तरह हमारे साथ रहने लगे। उमर में वे मुझसे एकाध साल ही बड़े होंगे, पर जगदीश राजन के नाते से तेजी और मैं उन्हें अंकिल कहते। तेजी की तबीयत संभल नहीं रही थी। एक सप्ताहांत में अंकिल और मैंने तेजी को लेकर कार से बरेली जाने का कार्यक्रम बनाया।

उस यात्रा में हम तीनों की जान बाल-बाल बची!

हम तीनों दोपहर बाद विनयमार्गी हनुमान जी के दर्शन कर रवाना हुए—प्रसंगवश बता दूँ कि अंकिल भी हनुमान के भक्त थे। अंकिल मोटर चला रहे थे, तेजी उनके बगल में बैठी थीं। मैं पीछे की सीट पर था। रास्ते में हमें याद आया कि जैसा हमें बताया गया था अंतिम फेरी सर्विस छह बजे शाम की है, अगर हम उसके पहले रामगंगा तट पर न पहुँचे तो हमें रात भर इसी पार पड़ा रहना होगा। अंकिल कुछ तेज़ ही मोटर चलाते थे। ड्राइवर की सीट पर बैठे हुए भी पुरानी आदत के कारण वे समझते थे कि वे पाइलट की सीट पर बैठे हैं। समय से घाट पहुँचने की जल्दी में उन्होंने मोटर की चाल कुछ और तेज़ कर दी थी। शायद सत्तर मील फी घंटे की चाल से जा रहे थे। शाम हो रही थी, पर रास्ता बिलकुल साफ था, साफ दिखाई दे रहा था, कि एक भैंस सड़क पार करने को एक ओर से दूसरी ओर को भागी और पीछे बैठे मैंने एक ज़ोर की 'धड़ाक'!!! की आवाज़ सुनी और देखा कि भैंस एक बड़े-से गेंद की शक्ल में कोई पाँच गज़ ऊपर उछलकर सड़क के बाईं ओर लगभग बीस गज़ पर गिरी और मोटर चारों पहियों पर सीधी खड़ी है!—इतनी तेज़ रफ्तार पर भैंस से टकराकर कुछ भी होना असंभव नहीं था, मोटर उलट सकती थी, अगल-बगल के किसी पेड़ से भिड़कर चकनाचूर हो सकती थी, हम तीनों की हड्डी-पसली चूर-चूर हो सकती थी, हमारा प्राणांत हो सकता था। उस धड़ाक की आवाज़ और धक्के से हमारे कान सुन्न हो गए थे, हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा गया था और एक क्षण के

लिए हम बिलकुल चेतना-शून्य हो गए थे। और जब हमारी चेतना लौटी तो हमने एक दूसरे को टटोल-टटोलकर देखा कि हम सशरीर ज़िंदा तो हैं, या मर-कर प्रेत हुए एक दूसरे को देख रहे हैं...

हममें से किसी को खरोंच तक न लगी थी। गाड़ी आगे से पिचक गई थी, आगे की सीट के इधर-उधर के दरवाज़े भीतर को धँस गए थे, पर उनके खुलने में कोई दिक्कत न हुई थी, शीशों पर चिटक तक न पड़ी थी, पहिए चारों दुरुस्त, इंजन को ज़रूर क्षति पहुँची थी और गाड़ी अब चलाई नहीं जा सकती थी, उसे तो किसी बड़ी मोटर या ट्रक से 'टो' करके, यानी रस्से से बाँधकर ही कहीं ले जाया जा सकता था।

अभी हम इस भीषण दुर्घटना से निस्तब्ध और अपने चमत्कारी बचाव पर आश्चर्यचकित मनःस्थिति से सामान्य भी न हो पाए थे कि भैंस के मालिक ने अपने दस-बारह लठैतों के साथ हमें घेर लिया — 'बड़े मोटर दौड़ानेवाले आए, हमारी गाभिन मुर्रा भैंस मार दी, 500 रुपये रखाए बिना न हम तुम्हें यहाँ से जाने देंगे और न तुम्हारी गाड़ी को।' हम उनसे कह रहे थे, 'यहाँ से जो नज़दीक पुलिस थाना हो वहाँ हम चलते हैं, हमारी रपट लिखा दें और हमें जाने दें, थाने-दार या वहाँ के अफ़सर जो भी कहेंगे हम उनकी मार्फ़त तुम्हें दिल्ली से भेजवाएंगे, साथ हम इतना रुपया तो लेकर चलते नहीं।' उनका कहना था, 'नहीं, साहब, हम थाने-वाने के चक्कर में नहीं पड़ते, मामला महीनों लटकेगा, आप दोगे भी तो आधा तो पुलिस खाएगी, हमको क्या मिलेगा, आप अपनी घड़ी, अँगूठी, गहने, बटुआ-सटुआ जो हो यहीं हमारे सामने रखो, नहीं तो...'

अँधेरा जल्दी-जल्दी उतर रहा था; और अँधेरा बाहर क्या उतर रहा था जो हमारे अन्दर। रात हो गई तो दुर्घटना से तो हम बच गए पर ये उजड्ड हमारा सब कुछ लूट ही न लेंगे, हमें जान से भी मार देंगे। हम इस ताक में थे कि कोई ट्रक या मोटर उधर से निकले तो हम उसे रोककर प्रार्थना करें कि हमें बदायूं तक पहुँचा दे। 'जैसी होय होतिबा वैसी मिलै सहाय।' मौक़े से एक ट्रक आ गया और वह हमें बदायूं तक 'टो' कर ले जाने को तैयार भी हो गया। हम बार-बार मोटर को ट्रक से बँधवाते और बार-बार गाँव वाले रस्सी खोल देते। हम तीन वे बीस। हम उनसे सिवा प्रार्थना करने के कुछ न कर सकते थे और प्रार्थना-वार्थना सुनने को वे तैयार न थे, पास में भैंस मरी पड़ी थी और उस पर न जाने कहाँ से पचासों गिद्ध उतरकर माँस नोच-नोच खाने लगे थे। एक तरह से भैंस गिद्धों से ढक गई थी और अँधेरा अब पूरी तरह उतर आया था और हम लाचारी में किसी भी अनिष्ट के लिए खुले थे।...

इतने में फिर एक चमत्कार हुआ।

'आय गयउ हनुमान जिमि करुना मुँहु वीर रस'

एक सज्जन आ पहुँचे। वे गाँव की पाठशाला में अध्यापक थे, कवि बच्चन की कविता के प्रेमी, उनकी एक-दो किताबें भी पढ़ चुके थे। मैंने अपना परिचय दिया कि वे भाव विभोर हो उठे। फ़ौरन हमारा पक्ष ले वे गाँव वालों से बोले, 'ये लोग बहुत बड़े आदमी हैं, लोग इनके दर्शनों को तरसते हैं, तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम इन्हें देख रहे हो। राम-राम, इनको तुम परेशान कर रहे हो, इनके तो

पाँव छुओ। ऐसा अवसर तुमको फिर जीवन में न मिलेगा।' गाँव वालों के लड़के अध्यापक जी की पाठशाला में पढ़ते थे और उनका गाँव भर में बड़ा मान था। उनका स्वर इतना दबंग था कि विरोध में किसी की आवाज़ न उठी। जो गाँव वाले हमारी रस्सी खोल-खोल देते थे, उन्होंने ख़ुद हमारी मोटर को ट्रक से बाँधा। अध्यापक जी ने कहा, 'उझानी यहाँ से दूर नहीं, भैंस वाला साथ चले, ट्रक में हम भी चलते हैं, थाने में रपट लिखा दो, थानेदार जो कहेगा ये लोग पूरा करेंगे, ज़िम्मा इनकी तरफ से मैं लेता हूँ...' मैंने उनको बहुत-बहुत धन्यवाद दिया (अंदर ही अंदर अपनी कविता महारानी को—ख़ूब काम आई आज !) मैंने उनको अपनी मोटर में बिठला लिया। नाम उनका पंडित शांति प्रसाद शर्मा था। वे उझानी के रहनेवाले थे।

शर्मा जी ने मध्यस्थता करके हमारे और भैंस वाले के बीच सुलहनामा तैयार कराया जिसके अनुसार हमें भैंसवाले को 300 रुपये देने को थे, जो हमने बाद को थानेदार, उझानी की मार्फ़त भेजे, पता नहीं भैंसवाले को कितने मिले।

शर्माजी से सालों तक हमारा पत्र-संपर्क बना रहा। उन्होंने अपने उपकार का प्रत्युपकार किसी रूप में भी न चाहा। मैंने ही उनको अपनी कई पुस्तकें भेजीं। इधर कई वर्षों से उनका कोई पत्र नहीं मिला। शायद वे दिवंगत हो चुके हैं।

बदायूँ के जिलाधीश श्री नरेश वर्मा थे—इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र; मेरे परिचितों में थे, कुँवर के भी, पर चूँकि हमें बदायूँ नहीं रुकना था इससे हमने उन्हें सूचित न किया था। हम 'टो' की हुई गाड़ी में उनके बँगले पर पहुँचे तो वे हमें देख भौंचक रह गए। हमें अपने यहाँ ठहराया। शहर की सबसे बड़ी मोटर वर्कशाप खुलवाकर रातोंरात हमारी गाड़ी ठीक कराई और दूसरे दिन दोपहर का खाना खिलाकर हमें विदा किया। हमने रात को ही निश्चय कर लिया था कि अपशकुन हो गया है, अब हम बरेली न जाकर सीधे दिल्ली लौट जाएँगे। लौटते समय दुर्घटना के गाँव वाले कहीं हमें तंग न करें इसलिए वर्मा जी ने अपना एक बन्दूकधारी कान्स्टेबिल हमारे साथ कर दिया।

गाँव से गुज़रते हुए हमने देखा कि गिद्धों ने भैंस के मांस-मज्जा की ऐसी सफ़ाई की थी कि अब उसकी ठठरी मात्र सड़क के किनारे पड़ी हुई थी।

हमारी मुसीबतें अभी ख़त्म न हुई थीं। रास्ते में कारबोरेटर की कोई दरार खुल गई। हमें मील-आध-मील पर रुककर उसमें पानी भरना पड़ता—कहीं नज़दीक के कुएँ से, कहीं तालाब से, तब गाड़ी चलती, वर्ना इंजन गर्म हो जाता और गाड़ी रुक जाती। हम करीब 9 बजे रात को अलीगढ़ पहुँचे; हमने कारबो-रेटर ठीक कराया। रात के ग्यारह बज गए थे। हमने यही तै किया कि अब जैसे-तैसे धीरे-धीरे दिल्ली ही चले चलें और घर पर पहुँचकर ही आराम करें। रात का सुनसान सफ़र, तरह-तरह की आशंकाओं से भरे-डरे हम चार बजे घर पहुँच अपने बिस्तरों पर गिर पड़े, पर नींद किसे थी, बस यही ख़्याल बार-बार आता था कि अगर उस दुर्घटना में हमारी मृत्यु हो जाती तो हमारे बच्चों का क्या होता। अंकिल की बेटी को तो फिर भी उसकी माँ पाल लेती, पर अमित-अजित तो अनाथ हो जाते, उनके आगे-पीछे कोई न था जो उनकी देख-रेख करता। हाय, वे कहाँ जाते ! क्या करते ! उनके भाग्य की ही कोई प्रबल रेख होगी कि हम बच

गए, वर्ना इतनी भीषण घटना से हमारी मृत्यु अवश्यंभावी थी।

विधि के किसी विधान से मोटर की सारी तेजी और ज़ोर को भैंस के शरीर ने जज़्ब कर लिया था—और हमें और किसी हद तक गाड़ी को भी किसी तरह की चोट या गहरी क्षति से बचा लिया था—और हमें क्या बचाया था, हमारे बच्चों को एक ऐसे दुर्भाग्य से बचा लिया था जिसकी कल्पना से ही हमारा दिल डूबने लगता था। एक क्षण में वे सुकुमार-होनहार राजकुमार दर-दर के भिखारी हो जाते! त्राहिमाम! त्राहिमाम!

'दनुज' ने तो हमारे साथ हमारे वंश को भी निर्मूल कर देने का षड्यंत्र रचा था; शायद उसे आभास हो गया था कि यह वंश तो भविष्य में भी सृजन की भूमिका निबाहेगा। पर 'दनुज वन कृशानु' ने उसके षड्यंत्र को निष्फल कर दिया।

हम तो इतना ही जानते थे कि हमारा सृजन-संघर्ष बाहरी और भीतरी अव-रोधों के बावजूद निरन्तर चल रहा था। 'ओथेलो' अनुवाद का कुछ अंश प्रति मास हिंदी 'आजकल' में प्रकाशित कराने की योजना हमने बनाई थी, और मुझे नहीं याद कि किसी मास में नागा हुआ। कुछ छंदोबद्ध और कुछ मुक्त छंद की कविताएँ भी समय-समय पर रची जाती रहीं, और उन्हें 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' में स्थान दिया जाता रहा। आकाशवाणी से भी समय-समय पर मेरा काव्यपाठ होता रहा या मेरी कोई वार्ता प्रसारित होती रही जिन्हें 'नए पुराने झरोखे' में संगृहीत किया गया। मेरी नई कविताएँ और लेख 'साप्ता-हिक हिन्दुस्तान' और 'धर्मयुग' में निकलते रहे। बाहर तो अधिक जा सकना संभव न था, पर राजधानी की विभिन्न संस्थाओं के कवि-सम्मेलनों में मेरे काव्य-पाठ या सभा-सेमिनारों में मेरे व्याख्यान होते रहे और यथापूर्व ललक से सुने जाते रहे। ये सब सृजन-यजन में आहुतियाँ नहीं थीं तो क्या थीं? एक विशेष आहुति का अवसर 14 नवम्बर को पंडितजी की वर्षगाँठ पर आया।

आकाशवाणी ने मेरे निदेशन में पंडित जी के निवास-स्थान—तीन-मूर्ति भवन—में बच्चों का एक अभिनव कार्यक्रम आयोजित कराया। प्रत्येक भाषा-प्रांत के बच्चे अपने प्रांत की विशेष वेशभूषा में आए थे और उन्होंने अपने-अपने प्रदेश का लोकगीत सुनाया था। तभी यह अनुभूति हुई थी कि हमारी भाषाओं की लोक धुनों का भंडार भी कितना विपुल और कितना विविध है। उर्दू लोक गीत न रखने से कुछ विवाद भी अंग्रेज़ी प्रेस में उठा और मुझे इस तर्क से उसका शमन करना पड़ा कि उर्दू तो दुर्भाग्यवश अथवा ऐतिहासिक कारणों से केवल शहरी भाषा है, उसमें लोकगीत कहाँ! एकीलीज़[1] को समझ लेना चाहिए कि

---

1. एकीलीज़—युनानी दंत-कथाओं का एक वज्रकाय योद्धा। जब उसका जन्म हुआ था तब देवताओं ने उसकी माता से कहा था कि वह अपने पुत्र का जितना शरीर स्टिक्स नदी में डुबा देगी उतना शरीर अभेद्य हो जाएगा। माता ने एकीलीज़ को एड़ियों से पकड़ उसके सारे शरीर को स्टिक्स नदी में डुबकी दिला दी। परिणाम यह हुआ कि एकीलीज़ का सारा शरीर तो वज्र का-सा हो गया, पर उसकी एड़ियाँ कमज़ोर रह गईं। होमर के महाकाव्य 'ईलियड' में वर्णित ट्रोजन-समर में एकीलीज़ के शत्रुओं ने उसकी एड़ियों को तोड़कर ही उसे धराशायी किया था। एकीलीज़ हील्स (एड़ियाँ) किसी बड़े की किसी कमज़ोरी के लिए मुहावरा बन गया है।

उसकी एड़ियाँ उसके शरीर का सबसे कमजोर अंग हैं। बच्चों को एक हास्य गीत मैंने भी सुनाया था—'ओथेलो' से लिया – 'एक बड़ा राजा था जिसने एक सिलाया पाजामा।'

पंडित जी के बालवत् स्वभाव की एक झाँकी जो उस दिन भी मैंने पाई थी आपके सामने प्रस्तुत करना चाहूँगा।

बच्चे भवन के बड़े हाल में सजे-धजे बैठे थे—कैमरे आदि चारों तरफ लगे हुए। पंडित जी आए तो बच्चे उनके प्रधानमंत्रित्व से आतंकित सहम से गए। उन्होंने फौरन बच्चों के चेहरों से यह बनावटी और अप्रिय स्थिति भाँप ली। इसे दूर करने के लिए वे जूते पहने कालीन पर जा बैठे, और फिर अपना एक जूता उतारा और ज़ोर से उसे कालीन के बाहर फेंका—'यह रही बिल्ली'! और फिर दूसरा जूता उतारा और उसे धीरे से कालीन के बाहर सरका दिया—'यह रहा चूहा!' और सब बच्चे हँस पड़े और एक सहज-स्वाभाविक वातावरण बन गया जिसमें बच्चों ने खुलकर अपने गीत गाए। केरल के एक बच्चे ने एक गीत गाया था। पंडित जी ने उसका मतलब पूछा, बच्चे ने बताया कि उसका अर्थ है कि राजा बलि के राज में न कोई दीन था न दुखी; न कोई भूखा था न नंगा; न कोई चोर था, न झूठा। पंडित जी चट बोले, 'तो भाई, पहले राजा बलि को ढूँढ़ना चाहिए।'

इस अवसर के लिए मैंने एक विशेष गीत लिखा था जिसे सब बच्चों ने साथ गाया—'भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं।' बाद को एक खुले मैदान में भारत के नक्शे के आकार में भाषा-प्रांतानुसार बच्चों के दल खड़े हुए और इस टेक से कि—

'भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं
नई उमंगों, आशाओं का हम संदेशा लाए हैं।'

बच्चों ने अपने-अपने भू-भाग से संबद्ध कड़ी गाई—

हम गिरि की ऊँचाई लाए,
हम सागर की गहराई,
हम पूरब से आए, लाए
प्रात किरण की अरुणाई।

हम पच्छिम से आए, लाए
आग-राग राजस्थानी,
हम लाए हैं गंग-जमुन के
संगम का निर्मल पानी।

कल आनेवाली दुनिया में
हम कुछ कर दिखलाएँगे,
भारत के ऊँचे माथे को
ऊँचा और उठाएँगे!

भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं,
नई उमंगों, आशाओं का हम संदेशा लाए हैं।

कार्यक्रम बहुत सफल रहा। पंडित जी बहुत खुश हुए। उनके चेहरे पर प्रसन्नता देखना भारतमाता के चेहरे पर प्रसन्नता देखने जैसा था।

14 नवंबर को पंडित जी का जन्म-दिन था,

19 नवंबर को इंदिरा जी का,

27 नवंबर को मेरा।

19 नवंबर को जब मैं इंदिरा जी को जन्मदिन की बधाई देने गया तो मैंने उन्हें 27 की शाम को घर आने के लिए निमंत्रित कर दिया—'उस दिन मैं अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे कर रहा हूँ, खैर इसकी क्या अहमियत, पर उस शाम को हम एक खास तरह का प्रोग्राम रख रहे हैं, जो हमारा अनुमान है, आपको पसंद आएगा। प्रोग्राम क्या है अभी नहीं बताऊँगा, जिससे आपका कौतूहल बना रहे, आप आएँ ज़रूर।' इंदिरा जी ने आने का वादा कर दिया।

मेरी कविता के कुछ प्रेमी चाहते थे मेरी पचासवीं वर्षगाँठ—साहित्यिक भाषा में कहें 'स्वर्ण जयंती' (टेंट में कौड़ी नहीं नाम करोड़ीमल)—सार्वजनिक रूप में मनाएँ। मैंने कहा, 'भैया, मेरी कविता से प्रेम है तो घर पर बैठकर मेरी पुस्तकें पढ़ो और मुझे ऐसे प्रदर्शनों से बख्शो।' मेरे पूर्व-विद्यार्थी ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने 'बच्चन जी की स्वर्ण जयंती' पर एक लेख लिखकर 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपाया। मैंने कहा, 'जब मैं केम्ब्रिज से डाक्टरेट लेकर लौटा था तब भी तुमने मुझपर लेख लिखा था, मैं पचास का हो गया हूँ, तब भी तुमने मुझ पर लेख लिखा है, मैं साठ का हूँगा, तब भी तुम्हीं मुझपर लेख लिखोगे, और मैं काठ हो जाऊँगा तब भी तुम्हीं...।' 60 पर तो उन्होंने मुझपर एक पुस्तक ही तैयार कर मुझे भेंट की—'बच्चन निकट से'—और काठ अभी मैं हुआ नहीं।

उस शाम को अपने पचीस-तीस मित्रों और साहित्यिक बंधुओं को बुलाकर तेजी और मैंने हिंदी 'मैकबेथ' के नाट्य-पाठ का एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। सबने एक स्वर से अनुवाद को सराहा और उसके सफलतापूर्वक अभिनीत किये जाने की संभावना देखी। इंदु जी विशेष प्रभावित होकर गईं। हमने उनको अपनी योजना बताई कि हम हिंदी 'मैकबेथ' को रंगमंच पर लाना चाहते हैं और अगर सफल हुए तो शेक्सपियर के अन्य नाटकों को भी; अंततोगत्वा हम हिंदी में एक शेक्सपियर मंच की स्थापना का स्वप्न देखते हैं—शेक्सपियर के नाटकों में विशेष रुचि लेने और जगाने के लिए भी।

आप सोचते होंगे कि जब मैं अपने सृजनशील कामों में इतना महो था, तब मैं विदेश मंत्रालय का क्या काम करता हूँगा। ऐसा बिलकुल नहीं था। मैं ठीक वक्त पर दफ्तर जाता, पूरे वक़्त दफ़्तर में रहता, जो भी काम दिया जाता उसे पूरी निष्ठा और लगन से करता, राधेश्याम शर्मा और अजित कुमार भी जो काम करते उसको अधिकारियों के सामने प्रस्तुत करने के पूर्व मैं शुरू से आखीर तक दुहराता और यथा आवश्यकता परिशोधित-संशोधित करता। हाँ, जब से मुझे अपने कर्त्तव्य की सीमा बता दी गई थी, तब से मैं उसे उल्लंघन करने का प्रयास नहीं करता था। अनुवाद के लिए दिये गए लंबे कामों पर अब ज़रूर मैं दफ़्तर के समय के बांद नहीं बैठता था, पर उनपर आवश्यकता से अधिक समय लगाने का दोष मुझे कभी नहीं दिया गया, दफ़्तर का काम समाप्त कर लेने के बाद अगर मुझे समय मिलता था तो मेज पर ऊँघने के बजाय यदि मैं अपना कोई

सृजनात्मक कार्य कर लेता था तो उसे मैं ग़लत नहीं समझता था। प्रभु ईसा मसीह ने कहा था—"Give back to Caesar what is Caesar's and to God what is God's. (S. Matthew—22) (जो सीज़र का है उसे सीज़र को दो, जो ईश्वर का है उसे ईश्वर को)। सीज़र को उसका प्राप्य दे लेने के बाद अगर मेरे पास कुछ बचता था तो उसे अपने ईश्वर को देने में कौन पाप था? शायद अपने ईश्वर को न देना पाप होता। क्या यह बताने की ज़रूरत है कि यहाँ मेरा ईश्वर कौन था—निःसंदेह मेरा सृजनशील लेखन, मेरा रचनात्मक कार्य। मैं समझता हूँ मैं अपनी 'खसमियत' को अपनी 'अस्मियत' के साथ निबाह ही नहीं रहा था, खूबसूरती से निबाह रहा था; यहाँ तक कि अब उस संबंध को न्यायिक वैधता देने को भी तैयार था।

जब भारतीय विदेश सेवा की उपशाखा खोलकर मूलशाखा को 'क' और उपशाखा को 'ख' कहा गया तो मैंने उपशाखा का स्थायी सदस्य होना चाहा, निश्चय ही पंडित जी की अनुमति लेकर।

भारतीय विदेश सेवा 'क' उन लोगों के लिए थी जो प्रतियोगिता-प्रशिक्षण के पश्चात् सेवा में लिए गए थे; 'ख' उनके लिए, जो बिना प्रतियोगिता-प्रशिक्षण के, अपनी किसी विशिष्ट योग्यता के कारण विदेश सेवा में लिए जा सकते थे। 'ख' के भी दो ग्रेड बनाए गए 'ग्रेड वन' और 'ग्रेड टू'। 'ग्रेड वन' का वेतन मान 1250-50-1500 (उपसचिव का) और 'ग्रेड टू' का 850-50-1250 (अवर सचिव का)। मैं विशिष्ट योग्यता के कारण हिंदी विशेषाधिकारी के अस्थायी पद पर 1000 रुपये प्रति मास पर नियुक्त हुआ था। मुझे आशा थी कि पद के स्थायी बना देने पर और मेरे कार्य, योग्यता का संतोषजनक प्रमाण पा लेने पर मुझे 'ग्रेड वन' दिया जायगा। पर मुझे 'ग्रेड टू' दिया गया। यह मेरे साथ बड़ी रियायत की गई कि मेरा वेतन 1000 से घटा कर 850 रुपये नहीं किया गया, पर इस रियायत के बदले में तीन वर्ष तक मुझे सालाना तरक्की नहीं दी गई, और उसके बाद 50 प्रति वर्ष, जब तक मैं 1250 नहीं पाने लगा, और उसके बाद तरक्की बंद। आई० सी० एस०, आई० ए० एस० या आई० एफ० एस० का अफ़सर बौद्धिक योग्यता का मापदंड अपने को ही मानता है। हिंदी का काम करनेवाला व्यक्ति अवर सचिव या 'नीच' सचिव से ऊपर भला कैसे समझा जा सकता था। मुझे कुछ निराशा हुई और मैंने इसे हिंदी का अपमान समझा। शायद मैं पंडित जी से कहता तो वे मुझे 'ग्रेड वन' में करा सकते थे, पर इतने छोटे काम के लिए उस बड़े आदमी को मैं कष्ट नहीं देना चाहता था। फिर मैं पंडित जी से वचनबद्ध था कि विदेश मंत्रालय में हिंदी के काम के लिए मैं वेतन की कोई शर्त न रखूंगा। जो ग्रेड मुझे दिया गया था उसे मैंने स्वीकार कर लिया और काम करता गया, अब यह भावना मन में रखकर कि दफ़्तर का काम तो मेरा गौण काम है, मेरा मुख्य काम तो सृजन का है। मैं ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ कि गौण काम को भी उसका देय देने में मैंने कभी कोताही नहीं की, और मुख्य काम यानी सृजन के देय को तो कोई अपना प्राण देकर भी नहीं कह सकता कि उसने उसे पूरी तरह चुका दिया। सृजनशील मन उसके ऋण से कभी मुक्त नहीं हो पाता। अन्यथा अपनी 77 वर्ष की अवस्था में मैं ये पंक्तियाँ क्यों लिखता

जाता। सृजन की अपूर्व-अपरिहार्य माँग को संभवतः स्रष्टा भी अभी तक पूरी नहीं कर सका, वर्ना वह अब भी सृष्टि को नव-नव रूप क्यों दिये जाता।

भारतीय विदेश सेवा 'ख' में लिए गए अफसरों की ग्रेडिंग करने का काम प्रशासन विभाग को दिया गया था। मैं एकाधिक 'ग्रेड वन' पाए अफसरों को जानता था। कोई अक़्ल का अंधा भी नहीं कह सकता था कि उनमें मुझसे अधिक योग्यता है। फिर मैं जिस प्रकार का काम कर रहा था उसकी योग्यता-अयोग्यता परखने की क्षमता भी प्रशासन विभाग के किस भकुए में रही होगी। पंडित जी को शायद पता तो लग गया होगा कि मेरे साथ न्याय नहीं हुआ; उनके एक इशारे से 'दो' 'एक' में बदला जा सकता था, पर ऐसे छोटे कामों में हस्तक्षेप करना उनके बड़प्पन के लिए अशोभन होता। मैंने इस अन्याय की शिकायत उनसे नहीं की—मेरे इस संयम से वे कम प्रभावित नहीं हुए होंगे। मुझे जो हानि या मानहानि पहुँचाई गई थी, उसका प्रतिकार करने को उन्हें जब भी अवसर मिला वे मुझे नहीं भूले। 13, विलिंगडन क्रिसेंट का बँगला जब खाली हुआ तब उसके लिए सह-सचिवों, उपसचिवों के प्रार्थी होने के बावजूद उन्होंने मुझे दिलाया, ऐसा मुझे उनके निजी सचिव श्री के० राम ने बताया था। मैंने याद किया, एक दिन उनके साथ ब्रेकफास्ट पर बैठे हुए उन्हें कुछ हलके मूड में पाकर मैंने उन्हें एक शेर सुना दिया था—

तुमने दिल्ली जो बुलाया तो बहुत खूब किया,
काश तुमने मुझे बँगला भी दिलाया होता।

बड़े-बड़े राजपुरुषों के राजभोजों में, जहाँ नौकरशाही के बड़े-से-बड़ अफ़सरों की छाया भी नहीं देखी जाती थी, वे तेजी को और मुझे आमंत्रित करते—ख्रुश्चोव, माउंटबेटेन, शाह-जारडन आदि के साथ राजभोज में बैठने की यादें हमें अब तक बनी हैं। आर्थिक दृष्टि से भी मेरी क्षतिपूर्ति करने को उन्होंने मुझे हिंदी न्यूज़ बुलेटिनों के सरलीकरण का काम सौंपा था और मुझे इस काम के लिए 250 रुपए प्रतिमास का अतिरिक्त पारिश्रमिक भी दिलाया था कि कुल मिलाकर मेरा वेतन 1500 हो जाय—'ग्रेड वन' आफिसर के वेतन के बराबर !

'नवीन' जी ने मुझे एक बार बताया था कि शेक्सपियर का नाटक 'मैकबेथ' पंडित जी का प्रिय नाटक था, और जब वे मलाका जेल में बंदी थे, तब उन्हें और देवदास गाँधी को सहबंदी के रूप में पंडित जी ने 'मैकबेथ' पढ़ाया था। बाद को अपने प्रबंध-काव्य 'ऊर्मिला' की भूमिका में भी नवीन जी ने उस 'मैकबेथ' क्लास' की चर्चा की थी। मैंने 'मैकबेथ' का हिंदी अनुवाद उन्हें समर्पित किया था। उन्होंने अवश्य उसे उलटा-पलटा होगा और निश्चय उसमें अपने प्रिय नाटक की देसी प्रति-ध्वनियाँ सुनी होंगी। इंदु जी ने मेरे जन्मदिन पर मेरे घर पर 'मैकबेथ' के नाट्य-पाठ की चर्चा उनसे अवश्य की होगी और यह भी कहा होगा कि हम लोग उसे मंच पर प्रस्तुत करना चाहते हैं। पंडित जी ने एक दिन मुझे बुलाया और बिना मांगे 15000 का चेक मेरे हाथ में रख दिया—प्रधान मंत्री के निजी कोष से—कहते हुए, 'सुना, तुम 'मैकबेथ' को स्टेज करना चाहते हो। इस एमाउंट से तुम्हें उसकी तैयारी में कुछ मदद मिलेगी। उम्मीद है इतना काफ़ी होगा। 'मैकबेथ' को

स्टेज करोगे तो मैं उसे देखने आऊँगा।' चेक पाकर जहाँ खुशी हुई वहाँ यह भी लगा कि कन्धे पर बहुत बड़ा दायित्व आ गया। अब 'मैकबेथ' को ऐसे रूप में प्रस्तुत करना होगा कि उससे पंडित जी की ऊँची रुचि को संतुष्ट किया जा सके। व्यक्तिगत रूप से मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई और एक तरह के मार्मिक संतोष की अनुभूति कि पंडित जी ने मेरे कलाकार, रचनाकार, सृजक को पहचाना और अपनी रीति से उसे मान दिया। स्वयं कोई उदारमना कलाकार ही दूसरे कलाकार को पहचान उसे इस भाँति प्रोत्साहित कर सकता था; और इसमें संदेह नहीं कि पंडित जी अपने भीतर कहीं बड़े उच्च कोटि का कलाकार छिपाए हुए थे। आश्चर्य होता है कि इस महामानव के व्यक्तित्व के कितने-कितने पहलू थे और हरएक अपनी मिसाल अपने आप बनकर।

तेजी के हाथों में मैंने चेक रखा तो वे उछल पड़ीं। 'मैकबेथ' मंचन के सपने तो वे बहुत देखती थीं, पर वे सबके सब अर्थाभाव की चट्टान से टकरा कर चकनाचूर हो जाते थे। अब उनको आशा बंधी कि वे अपनी कल्पना किसी दिन साकार कर सकेंगी। जैसे पुराने ज़माने में लोग बेटी के ब्याह की तैयारी में महीने-दर-महीने जुटे रहा करते थे उसी तरह वे जुट गईं—अभिनय में रुचि रखनेवालों की एक टोली तैयार करनी थी, फिर जाँचना-परखना था कि कौन किस पात्र की भूमिका के लिए उपयुक्त होगा, निदेशन के लिए एक अनुभवी निदेशक की खोज करनी थी, रिहर्सलों के लिए ऐसी जगह मालूम करनी थी जो एक तरह से केन्द्रीय हो, जहाँ पार्ट लेनेवाले आसानी से पहुँच सकें, नाट्य-युग के अनुरूप पात्रों की पोशाकों का पता लगाना था, फिर उन्हें तैयार कराना था, अभिनय के लिए ज़रूरी साज-सामान मालूम करना और उन्हें बनवाना था, दृश्य-दृश्य का अलग-अलग ध्यान रखकर; किसी विशेषज्ञ की सहायता से ऐसे रंगमंच की रूपरेखा तैयार करानी थी जिसपर थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ सारे-के-सारे दृश्य आसानी से अभिनीत किए जा सकें। किसी अच्छे मेकपमैन की सेवायें निश्चित करनी थीं और उसके लिए ज़रूरी-ज़रूरी सामान मँगवाने थे। ब्रिटिश कौंसिल से संपर्क करके तेजी ने उसके पुस्तकालय से एलिज़ाबेथी युग नाट्यमंचन पर कई पुस्तकें ईशू कराईं और उनका विधिवत अध्ययन किया, नोट्स लिए, चित्रादि के साथ, ठीक उसी अध्यवसाय से जैसे कोई गंभीर विद्यार्थी किसी ऊंची परीक्षा की तैयारी में लगा हो। वे ब्रिटिश कौंसिलवालों से मैकबेथ मंचन के लांगप्लेइंग रेकार्ड लाईं—रेकार्ड-प्लेयर भी लाईं—तब तो हमारे पास थे नहीं—और उन्हें बजा-सुनकर कथोपकथनों की सम-तीव्र-मंद गति, स्वराघात, आरोह-अवरोह के नोटेशंस बनाए और उसके बाद हिंदी अनुवादों से उनकी यथासंभव संगति बिठाई। आदर्श यह था कि जब नाटक मंचस्थ हो तब ऐसा ही लगे कि नाटक किसी ब्रिटिश स्टेज पर खेला जा रहा है, सिर्फ़ भाषा हिंदी बोली जा रही है। स्वास्थ्य संतोषजनक न होने के बावजूद तेजी छह-सात महीने इन कामों में लगी रहीं।

बीच में यह तय किया गया कि नाटक का संक्षिप्त रूप रेडियो से प्रसारित किया जाय। संक्षेपन का काम सत्येन्द्र शरत् ने किया। रेडियो प्रसारण में तेजी ने लेडी मैकबेथ की भूमिका अदा की; मुझे नहीं याद कि और पात्रों की भूमिका किन-किन को दी गई। पर प्रसारण के अनुभव से अभिनय के लिए बहुत कुछ सीखा-सँजोया जा सका।

अगस्त से दिसंबर तक प्रति दिन शाम को 6 से 9 बजे रात तक मैकबेथ के रिहर्सल होते। कनाट प्लेस के सिंधिया हाउस में डालमिया सीमेंट का दफ़्तर था जो शाम को 5.30 बजे बंद हो जाता था। बाद को वहीं रिहर्सल करने की अनुमति हमें डालमिया सीमेंटवालों ने दे दी थी। साँग ऐंड ड्रामा डिवीज़न के वीरेन्द्र नारायण हमारे निदेशक थे। तेजी ने अपने लिए लेडी मैकबेथ की भूमिका चुनी। रेडियो के हिंदी न्यूज़ रीडर अशोक रामपाल को मैकबेथ की भूमिका दी गई। इसके अतिरिक्त 28 और लोग नाटक के अन्य पात्रों की भूमिका में उतरे। मेरा काम था पात्रों द्वारा बोले गए कथोपकथन में उच्चारण को शुद्ध कराना। हमारे अधिकतर पात्र पंजाबी थे जो हिंदी शब्दों के उच्चारण में अजीब तरह की गल्तियाँ करते। कुछ संयुक्ताक्षरों को वे अलग कर देते और कुछ अलग अक्षरों को संयुक्त ! एक उदाहरण मनोरंजक होगा। नाटक की एक पंक्ति है—

'न्याय खड्ग उसकी गर्दन पर लटक रहा है।'

मैलकम की भूमिका में उतरनेवाला दर्शन बेदी उसे यों बोलता—

'न्याय खडग उसकी गर्दन पर लट्क रहा है।'

मैं उसको समझाता, भले आदमी 'खडग' को 'लट्क' की तरह कहो और 'लट्क' को 'खडग' की तरह ! उच्चारण की शुद्धता पर मेरा ज़ोर था और इसके लिए मुझे काफ़ी सिर-मगज़न करना पड़ा। नियमित रूप से रिहर्सल कराना कोई खेल न था। कभी कोई गायब, कभी कोई देर से पहुँचता; कभी किसी को जुकाम, कभी किसी का गला पड़ा; कभी किसी को शादी में शिरकत के लिए जाना, कभी किसी को मातमपुर्सी के लिए; कभी किसी को ज़रूरी काम और कभी किसी को ज़रूरी आराम ! प्राय: दृश्यों में एकाधिक पात्र साथ होते, एक ग़ायब कि दृश्य का रिहर्सल असंभव। कई दूर रहनेवाले आने-जाने के लिए सवारी-खर्च माँगते—कुछ अपनी ज़रूरतों के लिए भी—और हमें उनको देना पड़ता। महीनों के रिहर्सल से उन्हें तैयार करके हम उन्हें किसी भी क़ीमत पर अपने साथ रखने को मजबूर थे। अभिनेताओं के बड़े नखरे होते हैं क्योंकि वे सफल-असफल नाट्य-प्रदर्शन के लिए अपनी अनिवार्यता समझ लेते हैं; और हमें हर तरह उनकी नाज़बरदारी करनी पड़ती। मुझे उन दिनों अक्सर ईट्स की एक कविता याद आती जो उन्होंने नाटक मंचित करने की झंझटों पर लिखी है :

जो कठिन है उसके लिए आकर्षण
(द फेस्सिनेशन आफ़ व्हाट इज़ डिफ़िकल्ट)

जो मुश्किल है उसके आकर्षण ने मेरी
नस-नाड़ी के सारे रस को सोख लिया है,
और हृदय का स्वाभाविक संतोष,
        सहज आनंद निकाल कहीं फेंका है।
कुछ कुरेदता है मेरे कल्पना-अश्व[1] को—

1 यूनानी दंत-कथा के अनुसार कला की देवियों का परदार घोड़ा पैगेसस।

जैसे उसके तन में पावन रक्त नहीं है,
औ' न कभी कूदा करता था ओलिम्पस[1] पर,
बादल से बादल के ऊपर—जिससे वह चाहता
कि कोड़े खाकर काँपे, ज़ोर लगाए,
स्वेद बहाए, हचका देकर कूड़े-बोझी
गाड़ी खींचे ।
जायं जहन्नुम में वे नाटक
जिनको सत्तर तरह खड़ा करना पड़ता है,
कूढ़-मूढ़ जो दिन-भर सिर खाते रहते हैं,
अभिनय-अभिनेता संबंधी धंधे-पचड़े ।
मैं खाता हूँ क़सम, सबेरा तो होने दो
देखूँ रखता कौन तबेले में घोड़े को।

किस्सा कोताः, हिंदी शेक्सपियर मंच की ओर से 18, 19, 20 दिसंबर 1958 को नई दिल्ली के फ़ाइन आर्ट्स थियेटर में 'मैकबेथ' रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ। पंडित जी, जैसा कि उन्होंने वादा किया था, पहले ही दिन नाटक देखने आए, साथ इंदु जी भी आईं, और वे पूरे समय तक बैठे रहे। नाटक देखकर जब पंडित जी ने कहा, 'ए रिमार्केबिल एचीवमेंट' (प्रशंसनीय उपलब्धि) तो जैसे हमारा सब श्रम-यत्न सफल हो गया। अंतिम दिन प्रख्यात फिल्म-फनकार और नाट्य अभिनेता श्री पृथ्वीराज कपूर ने नाटक देखा और कहा 'ए न्यू ऐंड प्रेज़वर्दी वेंचर' (नया और सराहनीय प्रयास)। राजधानी के अंग्रेजी पत्रों, हिंदुस्तान टाइम्स, टाइम्स आफ इंडिया और स्टेट्समैन ने अनुवाद और अभिनय दोनों की प्रशंसा की। अंग्रेज़ी के अखबार हिंदी की चीज़ों को जल्दी घास नहीं डालते, इसलिए जब उन्होंने भी प्रदर्शन की तारीफ़ की तो लगा कि हमारी उपलब्धि कोई साधारण नहीं थी।

वस्तुतः जब 'मैकबेथ' रंगमंच पर खेला गया तब वह शेक्सपियर का ही सर्वप्रथम पद्यबद्ध नाटक नहीं था जो रंगमंच पर आया, बल्कि हिंदी का भी। नाटक का पद्य भाव-संवहन करते हुए भी इतनी स्वाभाविकता से बोला गया कि शायद ही किसी ने समझा कि मंच पर पद्य बोला जा रहा है। रोला से मेरी यही प्रत्याशा थी, और उसने पूरी की।

सभागार में प्रवेश पर नियंत्रण रखने के लिए दो प्रकार के टिकटों की व्यवस्था की गई थी—अब मुझे याद नहीं कितने-कितने के थे। सभागार तीनों रातों को खचाखच भरा था, पर टिकट बहुत कम बिके थे। हर अभिनेता को हर दिन अपने संबंधियों, मित्रों, परिचितों को नाटक, नाटक से अधिक अपना अभिनय दिखाने के लिए काम्प्लीमेंट्री पास पर बुलाना था—कैसे उनको पास न दिए जाते। बड़ी शर्म के साथ मुझे कहना पड़ता है कि मुझे खबर मिली थी कि कुछ अभिनेताओं ने फ़्री मिले हुए पासों को बेचकर कुछ रुपये भी खड़े किए। गरीब-अभावग्रस्त देश में ऐसा भ्रष्टाचार समझा तो जा सकता है, क्षमा भले ही न किया जा सके।

1. यूनानी देवताओं का निवास-स्थान।

दूसरे दिन के लिए हमने जिन मंत्रियों को निमंत्रित किया था उनमें पं० गोविन्द बल्लभ पंत भी थे, उनके पी०ए० ने कहा कि पंडित जी जायंगे, किसी को भेज दें कि उन्हें बँगले से लिवा ले जाय। गृह मंत्री थे, किसी को क्या भेजना था, मैं स्वयं गया। घंटे से ऊपर उनके बँगले पर बैठा रहा, और नाटक आरंभ होने का वक्त आ गया, शुरू भी हो गया, मेरे लिए, या पंत जी के लिए ही, नाटक को रुकना तो न था। वह बाहर निकले भी तो बोले, कुछ ज़रूरी कामों में फँस गया, अब तो देर हो चुकी है... (यानी न जा सकूँगा)। पंतजी से एकाध बार मिलने की ज़रूरत मुझे और पड़ी थी। वे बहुत बड़े नेता थे, बहुत समझदार राजनीतिज्ञ, उनकी शान के खिलाफ़ मुझे कुछ नहीं कहना चाहिए। इतना तो कहने के लिए आप मुझे क्षमा करें कि दूसरों का समय नष्ट करने की कला में वे पारंगत थे। आपको 8 बजे बुलाएँगे तो 10 बजे मिलेंगे और दो घंटे आपको इंतज़ार कराने पर उनके चेहरे पर किसी प्रकार का पश्चात्ताप न होगा। कभी सोचता हूँ पंडित जी के साथ उनकी कैसे निभती होगी।

एक और मंत्री जी का—नहीं-नहीं, उनकी पत्नी का क़िस्सा सुनिये। दूसरे दिन शायद पत्रों में अभिनय की प्रशंसा पढ़कर उनकी इच्छा हुई कि वे नाटक देखने आएं—सपरिवार आने को थीं तो चार पास भेज दिए गए। वे नाटक आरंभ होने के 20-25 मिनट बाद आईं। इधर गेटकीपरों को आदेश था कि नाटक आरंभ होते ही दरवाज़े बंद कर दिए जाएं और किसी के लिए न खोले जाएं। विदेशों में इस नियम का किस कड़ाई से पालन होता है, इसे मैं देख चुका था। और अच्छा नियम था, अपने देश में भी इसका पालन करना चाहता था। मंत्री-पत्नी के लिए दरवाज़ा नहीं खुला और दूसरे दिन फोन पर उन्होंने मुझे वह डाँट पिलाई जैसे मैं उनका ज़रखरीद गुलाम हूँ। आखीर में झुँझलाकर मैंने कहा, 'आपका अपमान हुआ, मैं गुनहगार हूँ, आप माफ़ न कर सकें तो मुझे जेल भेजवा दें...' आप मुझसे मत पूछिये किस महामंत्री की वे महीयसी महिषी थीं।

दिल्ली के तथाकथित बड़े कहलानेवाले लोगों में एक बड़ा रोग है—वे अपनी श्रेणी के प्रति हर जगह, हर समय सचेत रहते हैं और उसमें किसी तरह का विपर्यय सहन नहीं कर सकते। किन्हीं लोगों ने हमारे निमंत्रण इसलिए लौटा दिए क्योंकि उन्हें फ्रंट रो नहीं दी जा सकी थी। ऐसों में मामा वरेरकर भी थे जो उन दिनों संसद-सदस्य थे।

दूसरे ही दिन हमारे निदेशक वीरेन्द्र नारायण की तुनुकमिज़ाजी ने एक अजीब गुल खिलाया। स्मारिका में साफ़ छपा था कि 'मैकबेथ' की प्रस्तुतकर्त्री तेजी बच्चन हैं, निदेशक वीरेन्द्र नारायण। किसी अंग्रेज़ी अखबार में, शायद हिंदी ठीक न समझने के कारण छप गया कि नाटक की निदेशिका श्रीमती बच्चन थीं। बस वीरेन्द्र नारायण जी का पारा चढ़ गया। अभिनेता ग्रीन रूप में तैयार हो रहे हैं, उनका संदेशा आ गया, वे बीमार हैं, निदेशन के लिए न आ सकेंगे, तेजी बच्चन निदेशन कर लें। अभिनेताओं के हाथ-पाँव ढीले हो गए। मैंने ग्रीन रूम में जाकर अभिनेताओं से कहा, 'देखो, भाइयो, हमारी साख इसी में है कि पर्दा ठीक वक्त पर उठे, लड़ाई का क़ायदा है कि जब कप्तान मारा जाए तब उससे जो नीचे हो वह कमान हाथ में ले। अभिनेताओं में जो सबसे वरिष्ठ हो वह निदेशन करे।' उधर मैंने अंकिल को, जो व्यवस्था के इंचार्ज थे, वीरेन्द्र

नारायण के घर भेजा, और वे किसी तरह मना-मुनूकर उन्हें लिवा लाएँ। वे हर रात रिहर्सल खत्म होने पर उनको काले कोसों उनके घर कार से छोड़ने जाते थे।

मैकबेथ को प्रस्तुत करने में जो झंझटें हमें उठानी पड़ीं उनमें से कुछ का ज़िक्र मैंने यहाँ किया। पर उनके अलावा भी हमारी बहुत-सी परेशानियाँ थीं। काम ऐसा था कि उसे एक बार उठाकर छोड़ा नहीं जा सकता था, चाहे कितनी बाधाएँ उपस्थित हों। तीसरी रात को जब नाटक समाप्त हुआ और अंतिम बार पर्दा गिरा तो मंच पर आकर तीन बार मैं कान पकड़कर उठा-बैठा और प्रतिज्ञा की कि नाट्य प्रदर्शन आयोजित करने का काम अब मैं कभी नहीं करूँगा! रातों रात स्टेज से सेट उखड़वा, ग्रीन रूम से पोशाकें और दीगर सामान ठेले पर लदवा आधी रात को हमने घर भेजवाया। कबीर की उलटवासियों में बोलने को जी चाहता है। बेटी तो विदा हो गई और घराती जनवासे से दाज-दहेज लेकर घर लौटे। मैंने कहा था न, नाटक मंचित करना बेटी के ब्याह की तयारी करने जैसा था। नाट्य-संसार में ऐसा प्रसिद्ध है कि मैकबेथ बड़ा अशुभ नाटक है। उसके खेलने पर कुछ-न-कुछ अनिष्ट ज़रूर हो जाता है। शायद इसमें कुछ सत्य है। अंकिल जब दूसरे दिन दफ़्तर से लौटे तो बहुत गिरे-गिरे, उदास-उदास। मालूम हुआ, बिरला की फ़र्म ने बिना किसी कारण उन्हें नौकरी से हटा दिया। शायद फर्म वालों ने देखा कि फ़र्म से अधिक ध्यान चौधरी साहब मैकबेथ-मंचन का रख रहे हैं। स्मारिका के लिए विज्ञापन एकत्र करने में निश्चय उन्होंने अपने फर्म-संपर्क का कुछ उपयोग तो किया था। हमें बड़ा पश्चात्ताप रहा कि हमारे कारण अंकिल की नौकरी गई। कुछ दिन बाद वे इलाहाबाद लौट गए।

अब मंचन पर आए खर्च के बारे में भी आपको कुछ बता दूँ। अभिनेताओं की—और वे पूरे तीस थे—पोशाकों, ढाल-तलवारों, आसा-बल्लमों, कवच-कटारों, झंडों-बिगुलों, रंगमंच के सेटों और रंगमंच पर इस्तेमाल होनेवाले साज-सामानों, मेकप-मैन की फ़ीस और मेकप के सामानों, थियेटर हाल के तीन दिन के किराये, विज्ञापन, स्मारिका, टिकटों की छपाई, रिहर्सलों के समय चाय-पानी, अभिनेताओं के आने-जाने के किरायों तथा और ज़रूरतों पर पंडित जी द्वारा दिए गए 15,000 रुपये तो खर्च हुए ही—स्मारिका-विज्ञापन से जो रुपये मिले थे वे भी खर्च हुए। हमें आगाह किया गया था कि अगर नाटक दिखाने के लिए टिकट लगेगा तो सरकार को मनोरंजन-कर भी देना होगा। अगर हम प्रदर्शन को 'चैरिटी शो' घोषित कर दें, यानी अगर हम नाट्य-प्रदर्शन किसी राहत-कार्य, किसी लोक-सेवा संस्था, अथवा किसी सहायता-कोष को अनुदान देने के लिए करें तो मनोरंजन-कर माफ़ हो सकेगा। हमने एलान कर दिया कि हम प्रदर्शन प्रधान-मन्त्री-कोष की वृद्धि के लिए कर रहे हैं। हमने सोचा था टिकट-बिक्री से जो आमदनी होगी उसे हम प्रधान-मंत्री-कोष में दे देंगे। टिकटों की बिक्री से जो रुपये मिले वह हमने न छुए, पर वे इतने कम थे—लगभग 1000 रुपये—कि उसे लेकर पंडित जी के सामने जाने में हमें शर्म लगती थी। बहरहाल एक दिन हमने उनसे समय लेकर वे रुपये एक मखमल के बटुये में रखकर नाटक के सबसे अल्पायु अभिनेता अनिल सहगल (मैकडफ-पुत्र) के हाथों पंडित

जी के सामने रखवाए—सुदामा के तंदुल, भीलनी के बेर के समान! उन्होंने खुश होकर उसे स्वीकार किया, हमें धन्यवाद दिया, हम संकोच के मारे ज़मीन में गड़े जा रहे थे। खूब अभिवृद्धि की हमने प्रधान-मंत्री-कोष की 15,000 लेकर एक हज़ार देकर—यानी उसे 14,000 का घाटा पहुँचाकर!

जब से सिनेमा चल गया है, टिकट-बिक्री के बल पर नाटक-खेलने का खर्च निकालना भी मुश्किल हो गया है, उससे कुछ लाभ कमाना तो दूर की बात है। पारसी थियेटर कंपनियाँ भी इस देश में तभी तक फूली-फलीं जब तक सिनेमा नहीं आया था, बल्कि पारसी थियेटरों को ख़त्म ही सिनेमा ने किया। सिनेमा और थियेटर के संघर्ष में थियेटर बुरी तरह पिटा है। फिर भी हर साहित्य में नाटक एक प्राचीन विधा है, और बड़ी गरिमामय विधा है, और सब सभ्य-संस्कृत जातियाँ चाहती हैं, सरकारें भी, कि यह विधा बनी रहे, नाटक लिखे ही न जाएँ, खेले भी जाएँ। कई सरकारें अपनी-अपनी रीति से नाट्य-प्रदर्शनों को प्रोत्साहित भी करती हैं। एक बार पूर्वी जर्मनी राष्ट्रीय-नाट्य सप्ताह के अवसर पर मुझे वहाँ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बर्लिन में ही कई ऐसे थियेटर-हाल हैं जिनमें प्रतिदिन कोई-न-कोई नाटक खेला जाता है। दर्शकों को आकर्षित करने के लिए टिकट-दरें प्रायः वही रखी जाती हैं जो सिनेमा की, पर सिनेमा घर जहाँ लाभ पर चलते हैं, वहाँ थियेटर-हाल हानि पर। लेकिन उन्हें चलाया जाता है, सरकार चलाती है। मुझे बताया गया कि हर सीट जिस पर दर्शक 34 पैसे खर्च करता है, सरकार 66 पैसे अपनी तरफ़ से खर्च करती है, तब नाटक खेलने का खर्च पूरा होता है। मैं अपने यहाँ के नेशनल स्कूल आफ ड्रामा के क्रिया-कलापों से अधिक भिज्ञ नहीं। अभी शायद उसकी अधिक शक्ति कुछ लोगों को अभिनय कला सिखलाने की ओर ही लग रही है, जिसके बाद वे प्रशिक्षित सिनेमा संसार की ओर आँखें लगाए रहते हैं। राजधानी में ही नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा का कोई अपना प्रक्षागृह नहीं है जहाँ स्कूल की तरफ़ से नियोजित नाटक होते रहें, जिनकी टिकट दरें सिनेमा जैसी हों और जिनमें अभिनय करने वालों का वेतनमान इतना हो कि सिनेमा का प्रलोभन उन्हें जल्दी अपनी ओर न खींच सके। मंचीय अभिनय और सिनेमाई अभिनय दोनों अपनी-अपनी दिशा में अधिक सोफिस्टिकेटेड (परिष्कृत) हों तो शायद यह भी देखा जाए कि एक के अभिनेता दूसरे में अधिक नहीं खपते-फबते। पश्चिम में जन-मत में नाटक की महत्ता इतनी है कि सिनेमा के बड़े-से-बड़े अभिनेता की महत्वाकांक्षा रहती है कि वह किसी बड़े नाटक के नायक के रूप में अपनी विशिष्टता का झंडा गाड़ सके। चार्ल्स लाटन ने लियर की, और लारेंस ओलिवियर ने हैमलेट और ओथेलो की उच्च स्तरीय भूमिका निभाकर अपनी अभिनय कला की चरितार्थता मानी; हमारे दिलीपकुमार और अमिताभ बच्चन शायद ही कभी सोचते हों कि वे नाट्य-मंच पर चन्द्रगुप्त या स्कंदगुप्त की भूमिका में उतरकर अभिनय का एक मापदंड प्रस्तुत करें। दुर्भाग्य की बात है कि सिनेमा अपने डाइनामिज़्म में—गतिशीलता में—विकास से अधिक विकृति की ओर जा रहा है और नाट्य-मंच अपने शैथिल्य में विकसित होने के स्थान पर विकुंठित होता जा रहा है। हमें समझना चाहिए कि सिनेमा जन-सामान्य का चहेता होने के कारण उसके हल्के-फुल्के मनोरंजन के लक्ष्य को उपेक्षित नहीं कर सकेगा। नाटक को अधिक

सुसंस्कृत वर्ग की रुचि को सन्तुष्ट कर जीवन के अपेक्षया गंभीर सत्यों को उद्घाटित करना चाहिए। सामाजिक जीवन की संपूर्णता में शायद दोनों के लिए स्थान है। सिनेमा गंभीर और नाटक सतही होना चाहेगा तो दोनों अपनी प्रवृत्ति और अपने स्वभाव से च्युत होंगे, और विफल-मनोरथ होंगे।

निःसंदेह तेजी के लिए सन् 1958 मैकबेथ-वर्ष था। साल के 365 दिन, दिन के चौबीसों घंटे, सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते उनकी एक ही चिंता, एक ही सोच, एक ही बात के लिए प्रयत्न-परिश्रम कि 'मैकबेथ' रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो। मैं यह न कहूँगा कि अपनी बीमारी के बावजूद उन्होंने यह बहुआयामी काम उठाया और पूरा किया। मन और तन की पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ बड़ी जटिल और अनग्रकथनीय होती हैं। कभी तो मन अपनी उलझनों में शरीर को भी लपेट लेता है। और कभी मन अपनी उधेड़-बुन में इतना तल्लीन होता है कि शरीर को अछूता छोड़ देता है। मैं अपने अनुभव से बताता हूँ : कभी तो ऐसा हुआ है कि मेरी मानसिक परेशानियों ने किसी शारीरिक रोग का रूप ले लिया है। और कभी मन अपने चिंतन-बिगूचन में इतना व्यस्त रहा है कि शरीर में अगर कोई रोग हो भी तो उस पर उसने ध्यान नहीं दिया और उसकी इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ है कि शरीर अपेक्षया सामान्य और स्वस्थ रहा है। कभी किसी काम में मुझे बहुत व्यस्त देखकर तेजी ने कहा है, इतनी मेहनत करोगे तो बीमार पड़ जाओगे। और मैंने अक्सर यह कहा है कि जब तक काम खत्म नहीं होता, तब तक तो मैं बीमार नहीं पड़ूँगा, बीमार पड़ने की फ़ुरसत मुझे नहीं है; हाँ, जब काम खत्म हो जाएगा तो भले ही मैं खाट पकड़ लूं। तेजी के मामले में भी मैंने यही देखा। जब वे ख़ाली थीं, जब कुछ ख़ास करने को उनके पास न था, वे बीमार रहती थीं। '58 में जब मैकबेथ का भूत उनके सिर पर सवार था तब वे बहुत कम बीमार पड़ीं। लगातार इतनी सक्रिय, सोत्साह और स्वस्थ, मैंने उनको पहले भी कम देखा था, और बाद को भी। वैसे जब भी मैंने कोई काम उठाया है, उसमें अपने सहयोग का अंश उन्होंने फ़ौरन आँक लिया है और उसे देने में प्राणपण से लग गई हैं। अपने बेटों के उठाए काम के साथ भी उनकी यही टेक है। परिवार के प्रति उनकी निष्ठा अक्षुण्ण है।

'मैकबेथ'-मंचन संबंधी प्रबंध के प्रत्येक पक्ष को पूरी तरह देखने-संभालने के साथ ही लेडी मैकबेथ की भूमिका में अपने को परिपूर्णता से उतारने के लिए उन्होंने कम साधना नहीं की थी। नाट्य-आलोचकों ने जिन दो अभिनेताओं के अभिनय को सर्वश्रेष्ठ बताया था उनमें एक अशोक रामपाल थे, जिन्होंने मैकबेथ का पार्ट किया था और दूसरी थीं तेजी लेडी मैकबेथ का पार्ट करने वाली। वास्तव में शेक्सपियर ने इन्हीं दो पात्रों के कंधों पर पूरा नाटक खड़ा किया है। लेडी मैकबेथ आरम्भ में सबला और अन्त में अतिशय अबला दिखाई देती है। मैकबेथ इसके विपरीत प्रारम्भ में निर्बल और अन्त में अप्रतिहत प्रबल सिद्ध होता है। लेडी मैकबेथ का चरित्र बहुत ही जटिल और उसका अभिनय बहुत कठिन है। स्वभाव से वह बहुत सुकुमार, कोमल-हृदय और स्त्रियों में स्त्रैण है। उसका पति महत्वाकांक्षी तो है, पर उसमें अपनी आकांक्षा को फलीभूत करने के लिए न साहस है, न दृढ़ता, न पुरुष-प्रखरता। लेडी मैकबेथ परिपूर्ण पति-परायणा हैं।

वह अपने पति में साहस, दृढ़ता और पुरुषत्व जगाने के लिए अपने स्वभाव के प्रतिकूल अभिनय करती है, सच में अभिनय ही करती है। और अंत में अभिनय के भीतर से सच्चाई प्रकट होती है, उसका अभिनय उसके लिए दुःसह हो जाता है, उससे संभलता नहीं, और वह अपने दुर्बल स्वभाव के अनुरूप टूट जाती है, पागल हो जाती है, आत्महत्या कर लेती है। वास्तव में वह अपने पति पर बलिदान हो जाती है। लेडी मैकबेथ का यही रूप मैंने तेजी के सामने रखा था। वह जीवन में अभिनय करती है। पात्री को इसी अभिनय का अभिनय करना था। कठिन काम था। तेजी को पर्याप्त सफलता मिली थी। अधिक कहना मेरे मुँह से शोभन न लगेगा।

'मैकबेथ'-मंचन के संबंध में कोई गंभीर काम तेजी ने मुझे न सौंपा था। वे जानती थीं कि दिन में मुझे दफ़्तर का काम करना पड़ता है। सुबहें नियमित रूप से मेरे सृजनशील कार्य को समर्पित थीं। शाम को दफ़्तर से लौटने पर ही मैं तेजी को यत्किंचित सहयोग दे पाता था। हाँ, जब अगस्त से रिहर्सल शुरू हो गए थे तब से मैं ज़रूर दफ्तर से सीधे सिंधिया हाउस पहुँच जाता; और पात्र कथोपकथन—अगर इसकी जगह 'कथनानुकथन' कहें तो कैसा रहे—ठीक और शुद्ध बोलें, इसकी ओर सतर्क रहता था। और यह भी चाहता था कि पात्र अपना कथनानुकथन कंठस्थ कर लें, इतना कि प्राम्पटर की ज़रूरत ही न पड़े। केम्ब्रिज के नाट्य-प्रदर्शनों में मैंने देखा था, प्राम्पटर की कोई जगह नहीं होती थी।

नाटक के शेष पात्रों की भूमिका जिन्होंने निभाई, तथा मंचन से सबद्ध अन्य कार्यों में जिन्होंने सहायता पहुँचाई उनका ब्यौरा 'मैकबेथ' के दूसरे संस्करण में दे दिया गया है। कभी मैंने सोचा था कि शेक्सपियर के किसी नाटक का प्रामाणिक अनुवाद कर अगर उसे मंचस्थ किया जाए तो उसके प्रति जनरुचि जागेगी जिसका लाभ उठाकर हिंदी शेक्सपियर मंच की स्थापना की जा सकेगी। प्रथम प्रयोग उत्साहवर्धक नहीं रहा। नाटक सामाजिक सामूहिक कला है। अभी हम वैयक्तिक कला-साधना के दर्जे पर हैं। सामाजिक कला-साधना तक पहुँचने में समय लगेगा। अभी शायद यही हो सकता है कि मैं या मुझ जैसे कुछ लोग शेक्सपियर के नाटकों का शुद्ध, सरल, कवित्वपूर्ण, अभिनेय अनुवाद प्रस्तुत करें। ओथेलो मैं करीब-करीब पूरा कर चुका था, उसके बाद शेक्सपियर की दो और त्रासदियों को हाथ में लेने का मेरा इरादा था—हैमलेट और लियर को।

अब कुछ अंतर्मन की. बात। नवंबरांत में मैंने अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे किए—मोटे तौर से सत्तावनांत में ही। एक तरह से, जीवन पाकर हम प्रतिक्षण बढ़ते या घटते रहते हैं—बढ़ते-बढ़ते पचास के हो गए, यानी हमने अपने जीवन के पचास वर्ष जी लिए, हमारी बदी आयु के पचास वर्ष बीत गए, घट गए, आयु से कम हो गए। एक उर्दू का सरल किंतु अर्थगर्भित शेर याद आता है, पता नहीं किसका है—

'जितनी बढ़ती है, उतनी घटती है
उम्र अपने आप कटती है।'

पहली पंक्ति से असहमत कैसे हुआ जा सकता है, पर अपने जीवन के पिछले

पचास वर्षों को देखता हूँ तो यह अनुभूति तो नहीं ही होती कि उम्र अपने आप कट गई। कम-से-कम जब से अपनी सत्ता-इयत्ता के प्रति सचेत हुआ दिन-प्रतिदिन उम्र कभी हँस-रोकर, कभी-खुश-उदास होकर, कभी मस्ती में बहकर, कभी पस्ती में घिसटकर, कभी श्रम-संघर्ष में डटकर और कभी अपने में सिमटकर काटनी पड़ी है, और कोई कारण नहीं देखता कि शेष आयु भी इसी तरह न काटनी पड़े। अगर आयु की औसत अवधि सौ वर्ष मानें—हमारे पूर्वजों ने माना ही था, 'जीवेम शरदः शतम्'—हालाँकि आज सौ बरस कौन जीता है, जीना शायद सुखद भी न हो—तो पचास वर्ष पर यह ख्याल तो आता ही है कि बढ़ने का क्रम अब निश्चित रूप से समाप्त होता है और घटने का क्रम शुरू होता है! पूर्वार्द्ध के साथ बढ़ता हुआ बल था, पौरुष था, साहस था, उमंग थी। पर उत्तरार्द्ध के साथ वह सब क्रम-क्रम से कम होगा। फिर भी कहीं पढ़ा था कि जीवन सदा एक प्रकार का संतुलन रखता है, वह कुछ लेता है तो कुछ देता भी है; वह कुछ कम करता है तो कुछ का आधिक्य भी कर देता है। और सोचने लगता हूँ कि जीवन किन चीज़ों का आधिक्य कर देगा कि उनके बल पर शेष आयु काटनी शायद कठिन न होगी—अनुभव-संपन्न, विवेक-समृद्ध, स्वधर्म-सिद्ध। जी चाहता है, अपने से ऐसे बड़ों की ओर, बुज़ुर्गों की ओर देखें, सत्तर-अस्सी की उम्र वालों की ओर, कि वे कैसे जीवन से जूझ रहे हैं, कि जीवन से काँधा-से-काँधा मिलाकर चल रहे हैं, कि जीवन को झेल रहे हैं, उसके साथ समझौता करके। कुछ सामान्य और कुछ बड़े लोगों पर नज़र जाती है। याद आता है—'महाजनो येन गतः स पंथा'—पर रुको, महाजनों के पंथ पर जाना महाजनों का ही काम है, तुम तो लघुजन हो। बहुत ऊँचे आदर्श, बहुत बड़े उदाहरण तुम्हारे लिए उपयोगी न होंगे। फिर तुम कवि हो, 'सायर'—जन्म से वृष्णिवंशी—रामानंदी गुरु महाराज ने लड़कपन में तुम्हें देखकर भविष्यवाणी कर दी थी, 'यह बालक लीक-लीक नहीं जाएगा'—क्या उनकी बात निन्यानबे प्रतिशत ठीक नहीं उतरी? 'सायर', 'सिंह' भी लीक-लीक नहीं जाते; 'सपूत' तुम अपने को न कहो; उसका निर्णय आनेवाली पीढ़ियों पर छोड़ो। मिसालों से तुम्हारे भविष्य का रास्ता नहीं निर्णीत होगा। तुमने लिखा था—

'राह ? यहाँ पर राह नहीं है, अपनी राह बनाओ!'

तुम्हें अपने जीवन के उत्तरार्द्ध की राह खुद बनानी है, अलग बनानी है। शायद अच्छी ही बना पाओगे। निराशा लेकर बहुत दिनों तक चले हो। अब आशा लेकर भी कुछ दिन चलकर देखो। ब्राउनिंग की 'रबाई बेन एज़रा' को याद करो—

Grow old along with me
The best is yet to be.

(मेरे साथ बढ़ो, बुढ़ाओ,
सबसे अच्छा समय तो अब आने को है,
आस लगाओ)

रुबाई तो ऐसे कहता है जैसे 'अच्छा समय' कहीं तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठा है। बैठा नहीं है। 'अच्छा समय' लाना होगा—बनाना होगा—मैं इसीलिए बढ़ना-बुढ़ाना चाहूँगा। प्राचीन भारतीय आर्य पचास वर्ष के पश्चात की अवस्था को वानप्रस्थ कहते थे। क्यों ? वानप्रस्थ के शाब्दिक अर्थ हैं वन को जानेवाला। मुझे लगता है कि हमारा प्राचीन आर्य जीवन-क्षेत्र का बड़ा ही दुर्धर्ष योद्धा था। जब उसका बल-पौरुष क्षीण होने लगता था तब वह नगर की सुविधाओं को त्याग कर वन-जीवन की असुविधाओं, कठिनाइयों, कष्टों को अपने मनोबल से चुनौती देता था। मैं निश्चय करता हूँ कि मैं पचास पार कर वन को तो न जाऊँगा, पर वानप्रस्थ की मनःस्थिति को ज़रूर जीना चाहूँगा, जिलाए रखना चाहूँगा, अपने शारीरिक शौर्य-शक्ति से नहीं तो अपनी लगन से, धुन से, ज़िद से। मैंने जीवन से लड़ने का यह क्षात्र-धर्म अपने लिए विकसित किया है। इसी को अपनाए हुए मुझे जीना है, मरना है।

मैं ब्राह्म मुहूर्त में सोकर उठ जाता हूँ, तैयार होता हूँ, घूमने जाता हूँ। मुझे काम करना है तो मुझे स्वस्थ रहना चाहिए। सुबह के ताज़े तीन घंटे मेरे अपने हैं। दफ़्तर का उनपर कोई अधिकार नहीं है। मैं उनका उपयोग अपने सृजनात्मक कार्यों के लिए करता हूँ।

'मिलन-यामिनी' सन् '50 में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद 'प्रणय-पत्रिका' की योजना बनी थी, 'विनय-पत्रिका' से अंशतः प्रेरित। कल्पना थी, विनय-पत्रिका भक्ति-वैराग्य का दर्शन प्रतिपादित करती है तो प्रणय-पत्रिका के द्वारा मैं प्रेम-राग का दर्शन प्रस्तुत करूँगा। समय की कोई सीमा न रखी थी। 'मिलन-यामिनी' जिसमें केवल 100 गीत थे, पाँच वर्ष में पूरी हुई थी। 'प्रणय-पत्रिका' में 'विनय-पत्रिका' की पद-संख्यागत अनुकृति भी रखने के लिए 279 गीत रखने की मंशा थी, आठ-दस बरस में जब भी यह संख्या पहुँची जा सके। प्रस्तावित परिपूर्ण प्रणय-पत्रिका का खंड-मात्र 59 गीतों का, पर 'प्रणय-पत्रिका' के ही नाम से, सन् '55 में प्रकाशित कर दिया गया था। उसके बाद जो गीत लिख रहा था उन्हें अवशिष्ट प्रणय-पत्रिका में ही जोड़ता जाता था। जब उसके सौ गीत हो चुके तो जी में आया इनका भी एक संग्रह क्यों न प्रकाशित कर दूँ, एक अलग नाम देकर—'आरती और अंगारे' का, गो मेरी आदर्श 'प्रणय-पत्रिका' में अभी (279—159) 120 गीत और लिखे जाने को थे। सोचा था, उन्हें 'मेरे और तुम्हारे बीच' के अंतर्गत लिखूँगा और उनका एक स्वतंत्र संग्रह भी प्रकाशित करने के पश्चात 'प्रणय-पत्रिका', 'आरती और अंगारे' और 'मेरे और तुम्हारे बीच' के सब मिलाकर 279 गीतों का क्रम फिर से बिठाऊँगा, तब अपनी मूल 'प्रणय-पत्रिका' को रूप दूँगा। प्रेरणात्मक सृजन पर बौद्धिक संयोजनाएँ विरल ही चल पाती हैं। खैर, 100 गीतों के संग्रह की प्रेस कापी बनाकर तो छपने को भेज दी; पर पचास की अवस्था के बाद जो मानसिक परिवर्तन होने लगे उनमें प्रेम की, रागात्मकता की धार कुंठित होने लगी, कम-से-कम उनमें वह आवेग, वह तीक्ष्णता, वह रूमानियत न रह गई कि उससे प्रेम-गीत लिखा जा सके। 'मेरे और तुम्हारे बीच' के अंतर्गत शायद ही कोई गीत लिखा गया। कुछ गीत मैंने लिखे ज़रूर जैसे अपने को प्रयत्नतः उकसाकर, पर उनसे मुझे संतोष नहीं हुआ और मैंने उन्हें नष्ट कर दिया।

'मैं बोला जो मेरी नाड़ी में डोला, जो रग में घूमा।'

मैं इसे झूठ नहीं करना चाहता था। जो अब मैं लिख रहा था वह मेरी नाड़ी में नहीं धड़क रहा था, मेरी रगों में नहीं फड़क रहा था, वह मेरे मस्तिष्क की किसी शिरा में हरकत भर कर रहा था। मैंने अपने से कहा, 'बच्चन जी, अब आप बुड्ढन जी हो चले, आपके बालों में अब जगह-ब-जगह सफ़ेद रेखाएँ दौड़ चली हैं, आपके मुख से अब प्रेमगीत शोभन न लगेंगे।'...

इसी समय मैंने अपनी मुक्त छंद में लिखी रचनाओं को 'बुद्ध और नाचघर' नामक संग्रह में एकत्र कर छपने के लिए भेज दिया। 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' मेरे दोनों काव्य-संग्रह 1959 में प्रकाशित हुए।

पचास के बाद यौवन से वार्धक्य की ओर जाने के—'वार्धक्य' कहना शायद संगत न होगा, प्रौढ़ता या वयःप्राप्ति की ओर जाने के—कुछ विचित्र अनुभव हुए। वयःसंधि काल शायद सबके लिए नाजुक, संकोचशील और असमंजसपूर्ण होता है। याद करें 12-14 की अवस्था से 16-18 की ओर पहुँचने की, लड़कपन से कैशोर की ओर बढ़ने की, फिर 16-18 की उम्र से 24-25 पर आ लगने की—कैशोर से यौवन पर। लड़कपन और कैशोर की अवधि बहुत लंबी नहीं होती; फिर, कैशोर से लड़कपन की ओर या यौवन से कैशोर की ओर लौट जाने की कामना शायद ही किसी की होती हो। यौवन की अवधि बहुत लंबी होती है—पूरे पचीस वर्ष या कुछ ज़्यादा। यौवन की कुछ समस्याएँ होती हैं तो यौवन का कुछ सुख भी होता है। शरीर में शौर्य-वीर्य होता है, समस्याओं से उलझने के लिए, सुखों के भोगने के लिए। यौवन की समाप्ति का समय आते-आते जन-सामान्य की समस्याएँ प्रायः सुलझ जाती हैं—कोई अभागा ही होगा जिसकी 50 की अवस्था में भी व्यक्तिगत समस्याएँ अनसुलझी खड़ी हों, आदमी एक तरह से व्यवस्थित हो जाता है। लेकिन सुख-भोग की कामना तृप्त नहीं होती; वह यौवन को खींचना चाहता है वयःप्राप्ति में, वार्धक्य में भी, यदि संभव हो; उत्कट उदाहरण है ययाति का जो पुत्र से भी यौवन लेकर उसे भोगने की लिप्सा रखता है। यौवन देनेवाले बेटे तो बस दंतकथाओं में मिलते हैं। वयःप्राप्त विवाहेच्छुक होते हैं, संभव हुआ तो कर भी लेते हैं, आधुनिक मुक्त समाज में कुछ नए प्रेम-प्रसंग आरंभ करते हैं—हिंदी-उर्दू के साहित्य संसार में नज़र दौड़ाएँ, आप को कुछ प्रसिद्ध कवि-कथाकारों की जानी-पहचानी शक्लें दिखाई देंगी, सिने संसार में कुछ वृद्ध-कुमारों की। पुराने ज़माने में रूढ़ियों का बंधन तोड़कर न निकल पाने वाले अपनी प्रारंभिक वृद्धावस्था में घर में ही प्रेम-प्रसंग शुरू कर देते थे, कभी अपनी विधवा पुत्रवधू से—पुराने ज़माने में ही क्यों, आज केज़माने के एक प्रसिद्ध हिंदी कथाकार ने आज के ही ज़माने के एक प्रसिद्ध हिंदी कवि के ऐसे प्रसंग की चर्चा खुलकर की है—कभी अपनी वयःप्राप्ता पत्नी से संतान भी पैदा कर। बेटा भी पुत्र पैदा कर रहा है, बाप भी पुत्रोत्पन्न कर रहा है। अगले वक्तों में बेटों की संतानों के लिए खान्दान में दो तरह के चाचे मिलते थे, जिन्हें कहते थे 'चचा बुज़ुर्गवार' और 'चचा बरखुर्दार'—स्वयं मेरे पिता के एक खान्दानी चाचा उनसे उम्र में छोटे थे और मुझसे उन्हें बाबा जी कहने को कहा जाता था, जबकि उम्र में वे मेरे पिता जी की उम्र से भी कम के थे, मेरी माता जी ससुर के नाते उनके पाँव छूती थीं। ऐसे ही बाबा की ओर संकेत होगा

होली पर उत्तर प्रदेश में गाए जाने वाले इस फाग में, 'फागुन में बाबा देवर लागें!' दूर क्यों जाऊँ, अमिताभ की पत्नी जया के एक सगे चाचा हैं, उम्र में उससे छोटे, श्वेता और अभिषेक जया के बच्चे—उन्हें नानाजी कहते हैं, जबकि वे उनके पिता की उम्र से भी कम के हैं। कुछ अधिक संयत इस उम्र में अपने से काफी छोटी उम्र के मित्रों, शिष्यों की शादी कराने के लिए आग्रहशील होते हैं और इस प्रकार एक, जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं, 'वाइकेरियस प्लेज़र' का अनुभव करते हैं—हिंदी में क्या कहेंगे? 'स्थानापन्न सुख'। गांधी जी ने शायद अपनी आत्मकथा में लिखा है या कहीं और कि जब उन्होंने स्वयं तीन-चार बेटे पैदा करने के बाद ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था तब अपने से छोटे सब मित्रों पर विवाह कर लेने के लिए ज़ोर डालते थे। बच्चन जी भी प्रमुख उपकरण बनते हैं सुशील बोस की शादी कराने में, जगदीश राजन की, सत्येन्द्र शरत की, अजित कुमार की। इनमें से दो की सुहागरात अपने घर मनवाते हैं—उनकी सद्‌भावना के पीछे कहीं वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक कारण भी तो नहीं हैं?

यौवन से ही, अपने जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण मेरी कामक्षुत्पिपासा का 'सबलिमेशन'—परिष्करण—कविता में होता आ रहा था—

वासना जब तीव्रतम थी बन गया था संयमी मैं,
है रही मेरी क्षुधा ही सर्वदा आहार मेरा;
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।

(मधुकलश)

न तुम होतीं तो, मानों ठीक
मिटा देता मैं अपनी प्यास,
वासना है मेरी विकराल,
अधिक पर अपने पर विश्वास।

(हलाहल)

मगर अब कविता—प्रेम कविता के लिए आवश्यक मन का आवेग, उभार, ज्वर-ज्वार उतार पर था—और मैं आरोपित प्रेरणा से ठंडी कविताएँ नहीं लिखना चाहता था। मैं ठंडे मन से ठंडी कविताएँ न लिखूँ पर सृजक ठंडे मन से भी कुछ लिखना तो चाहता ही है—उसका क्या रूप हो, उसकी क्या दिशा हो, इसे सोचते हुए काफ़ी दिन बीते।

मेरे जीवन का यह अनुभव है कि कुछ चीजें जो मेरे लिए बड़े महत्त्व की थीं, जिनकी मुझे बड़ी आवश्यकता थी, जिनको पाने के लिए मैं अपना सब कुछ दाँव पर लगा सकता था, वे मुझे प्रार्थना-अभ्यर्थना से, श्रम-संघर्ष से, ख़ून-पसीने की क़ीमत पर नहीं मिलीं, वे मुझे अनायास, अज्ञात के वरदान की तरह मिल गई हैं।

कर परिश्रम कौन तुमको आज तक अपना सका है,
खोजकर कोई तुम्हारा कब पता भी पा सका है,

देवताओं के अनिश्चित यदि नहीं वरदान तुम हो,
कौन तुम हो ?

इसी समय देवताओं के वरदान के समान मुझे राधा बाबा मिले। कई कड़ियाँ मुझे याद हो आई हैं जिनसे जुड़ते हुए मैं कलकत्ता के नवयुवक काव्य-प्रेमी उद्योगपति श्री रामनिवास ढंढारिया के संपर्क में आया। वे कलकत्ता की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था भारतीय संस्कृति संसद के संस्थापक सदस्यों में थे। कई बार मुझे कभी अकेले और कभी सपरिवार संसद के समारोहों में बुला चुके थे। औपचारिक से बढ़ते-बढ़ते उनका मेरा संबंध आत्मीय और पारिवारिक भी हो गया था। उम्र में मैं उनसे कुछ बड़ा था, इस नाते उनके बेटे-बेटियाँ मुझे ताऊ कहकर संबोधित करते। धर्मानुरागी परिवार था, रामनिवास जी विशेष रूप से राधाभक्त थे और राधा-भाव से कृष्ण-प्रेमी बने रहना चाहते थे। पत्रों में अथवा मिलने पर प्रणाम-नमस्कार आदि के स्थान पर वे 'जय श्रीराधे' लिखते या कहते और मैं प्रत्युत्तर 'जय श्रीकृष्ण' से देता। इस संबंध में उनके प्रेरक राधा बाबा थे, जिनकी चर्चा यदा-कदा मिलने पर उन्होंने मुझसे की थी, पर उनसे मिलने या उन्हें देखने की जिज्ञासा मेरे मन में कभी न उठी थी। 1958 के प्रारंभ में राधा बाबा दिल्ली पधारे, रामनिवास पहले से दिल्ली में मौजूद थे या उनसे मिलने को ही कलकत्ता से दिल्ली आए थे, मैं नहीं जानता। एक दिन अचानक मेरे घर आए, बोले, संयोग से राधा बाबा दिल्ली में हैं, मैं चाहता हूँ तुम्हें उनसे मिला दूँ—'इष्टं धर्मेण योजयेत'। मैं जिस प्रकार की मानसिक समस्या में उलझा था, उसमें मैंने समझा इस समय किसी संत का सत्संग मेरे लिए हितकर सिद्ध हो सकता है—तुलसीदास के कई दोहे-चौपाइयाँ एक साथ स्मृति में गूँज उठीं—

> बड़े भाग पाइअ सतसंगा।
>
> अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।
>
> पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।

मन ने कहा कि शायद हरि ने कृपा की है कि राधा बाबा के रूप में एक संत के दर्शन का सुयोग मुझे मिल रहा है। चलो !

राधा बाबा भगवा एक-वस्त्र में थे, आधा कमर में लपेटे, आधा कंध पर डाले, मझोले कद के, क्षीणकाय, मुंडित शीश, शरीर आभामय ताम्रवर्णी, उनके भगवा वस्त्र से 'मैच' करता, भौंह घनी काली, आँखें अधमुंदी गहराई का आभास देतीं जैसे जो उनकी ओर देखे उसको अंदर खींचती हुईं—उमर में मुझसे छोटे लगते—थे ही—कोई पाँच बरस।

राम निवास उन्हें मेरा कुछ परिचय दे चुके थे, मेरी कुछ कविताएँ सुना चुके थे जो उन्हें पसंद आई थीं। मुझे देखते ही उम्र में अपने से बड़ा आँककर उन्होंने 'बच्चन दादा' कहकर मेरा स्वागत किया। मैं प्रणाम कर सामने बैठा तो उन्होंने मुझसे 'मधुशाला' सुननी चाही; और उसके प्रतीकों में क्या अर्थ आरोपित-निरूपित कर वे विभोर होते रहे वे ही जानें। दूसरे दिन पंत जी और 'दिनकर' जी के साथ मैंने राधा बाबा के दर्शन किये, पंत जी रेडियो की किसी मीटिंग के

सिलसिले में दिल्ली आए थे, 'दिनकर' दिल्ली में थे ही। मैं जानता था पंत जी संतों से मिलने में रुचि रखते हैं। एक बार उन्होंने मुझे माता आनंदमयी से मिलवाया था, एक बार नीम करौली बाबा से—परम हनुमान भक्त—जो प्रयाग आनेपर पंत जी के घर भी आते थे; 'दिनकर' भी संतों से मिलने को उत्सुक रहते थे। दोनों कवियों ने जो भी प्रश्न पूछे उनका राधा बाबा ने संतोष-जनक उत्तर दिया। पंत जी के प्रश्न मुख्यतः आध्यात्मिक थे; 'दिनकर' के प्रश्न जब वैयक्तिक स्तर पर उतर आए तो बाबा को कहना पड़ा, 'क्षमा करें, मैं ज्योतिषी नहीं हूँ।' विशेषकर उन्होंने यह बताया कि काष्ठ मौन क्या है। वे थोड़े दिनों बाद काष्ठ मौन लेनेवाले थे। बाबा से मिलने के बाद उनसे अप्रभावित रहना असंभव था। कम-से-कम मैंने तो ऐसा ही अनुभव किया। वे मुझे बार-बार याद आते। मेरे सपनों में आते। मुझसे विचित्र-विचित्र बातें करते। उन्होंने मुझे सम्मोहित कर लिया था या मैं अपने से आत्म-सम्मोहित हो गया था, इसे कौन बताए।

बाबा अपने संन्यासपूर्व जीवन के बारे में कुछ न बताते थे। और सन्यासोत्तर जीवन के विषय में भी नाम मात्र। संस्कृत का उन्हें सम्यक ज्ञान था और धार्मिक संस्कृत वाङ्मय का शायद सभी कुछ उनके स्वाध्याय का विषय रह चुका था, अंग्रेज़ी भी वे काफी अच्छी जानते थे। 1930 के नमक सत्याग्रह के आंदोलन में वे जेल गए थे और वहीं उन्हें वैराग्य हुआ था; कहीं पढ़ा था, अरविंद घोष को भी अलीपुर जेल में सम्बोधि प्राप्त हुई थी। जेलों की देन सभ्यता-संस्कृति के इतिहास में छोटी नहीं है। भगवान कृष्ण मथुरा जेल में पैदा हुए थे, विश्व की कई महान कृतियाँ जेलों में लिखी गई थीं। तिलक महाराज ने 'गीता रहस्य' मांडले जेल में लिखा था। जवाहलाल नेहरू ने 'डिसकवरी आफ इंडिया' अहमद-नगर जेल में लिखी थी। उनकी 'ग्लिम्पसेज़ आफ वर्ल्ड हिस्ट्री' और आत्मकथा भारत के विभिन्न जेलों में लिखी गई थीं, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्म-कथा का अधिकांश बांकीपुर जेल में लिखा। माखन लाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' की कई और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की बहुत-सी कविताएँ मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के जेलों में लिखी गई थीं। यशपाल की कई प्रसिद्ध कहानियाँ नैनी जेल में लिखी गई थीं; 'अज्ञेय' की 'शेखर: एक जीवनी' का पहला ड्राफ्ट अमृतसर जेल में तैयार किया गया था। स्पेनी लेखक सरवेंटीज़ की प्रसिद्ध कृति 'डान क्विग्ज़ोट', जान बनयन की 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और आसकर वाइल्ड की 'डि प्रोफंडिस' भी जेलों में ही लिखी गई थीं। भाव प्रवण और बुद्धि-विचक्षण शायद जेलों के बाह्य बंधन में अपने को अंतर्मुक्त अनुभव करते हैं और उस अवस्था में मन की एकाग्रता सृजन-साधना के द्वार उन्मुक्त खोल देती है। जो हो मुझे तो जेल जाने का सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त हुआ, पर जीवन में कैदखाने के बाहर भी कैदी की-सी मनःस्थिति से गुज़रने का दुर्भाग्य मैंने कम नहीं जाना। उनकी सृजन-देन का मूल्य क्या है, उस पर मैं कैसे मुँह खोलूँ—

> प्राण प्राणों से सकें मिल किस तरह दीवार है तन
> काल है घड़ियाँ न गिनता, बेड़ियों का शब्द झन-झन,

वेद-लोकाचार प्रहरी ताकते हर चाल मेरी,
बद्ध इस वातावरण में क्या करे अभिलाष यौवन
अल्पतम इच्छा यहाँ मेरी बनी बंदी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा।
कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा !

प्रसंगवश बता दूं कि मेरी कविता में वासनातिशयता का आरोप 'विशाल भारत' में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने लगाया था। जब उसके उत्तर में मैंने 'कवि की वासना' शीर्षक कविता किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित कराई, तब उन्होंने यह पूरी कविता 'विशाल भारत' में उद्धृत की, अपने आरोप पर खेद प्रकट किया, पर इसपर अपनी प्रसन्नता भी व्यक्त की कि उनकी कटु टिप्पणी ने मुझसे यह ज़ोरदार कविता लिखा ली—हिंदी में ऐसी 'शिवलरी' और उदारता अब कहाँ !

राधा बाबा जेल से छूटकर कहाँ गए; किससे, कहाँ उन्होंने संन्यास की दीक्षा ली कोई नहीं जानता। कई वर्षों बाद एक नवयुवक संन्यासी कलकत्ता के कोढ़ियों के बीच उनकी सेवा करता पाया गया। कहते हैं, वहीं से श्री जयदयाल गोयनका ने उन्हें पहचाना, ज्ञानमार्गी से भक्तिमार्गी बनाया, राधारूप से कृष्ण रूप की आराधना का उपदेश दिया, राधा बाबा नाम दिया और उन्हें हनुमान प्रसाद पोद्दार के सानिध्य में रहने को गीता वाटिका, गोरखपुर में छोड़ गए। उनके लिए वाटिका के पिछले भाग में एक कुटी छवा दी गई और उसी में वे रहने लगे। पोद्दार जी के देहावसान के बाद भी वे गीता वाटिका में ही रहते हैं, पर, सुना है, अब उन्होंने कुटी भी छोड़ दी है और एक वृक्ष के नीचे रहते हैं। उनकी कृष्ण आराधना का एक रूप है प्रतिदिन गोवर्द्धन परिक्रमा। किसी खुली जगह पर अपनी गुदड़ी रख देते हैं—गोवर्द्धन रूप—और उसकी इतनी बार परिक्रमा करते हैं कि गोवर्द्धन परिक्रमा की दूरी पूरी हो जाय। एक-दो बार उन्हें परिक्रमा करते देखने का मुझे अवसर मिला है। उनके पाँच-सात भक्त पास बैठ जाते हैं और धीमे-धीमे 'कृष्ण, गोविंद, गोविंद, गोपाल, नंदलाल, कृष्ण' समवेत स्वर से जपते रहते हैं। उस समय बाबा को देखना विचित्र अनुभव होता है। उनकी आँखें कहीं दूर लगी रहती हैं, वे बड़ी उत्सुकता से, उतावली से चलते हैं—भागते-से—चाल उनकी स्त्रैण हो जाती है, लगता है जैसे राधा ही कृष्ण से मिलनातुर उनकी ओर खिंची चली जा रही हैं...

वे लंबी-लंबी अवधि के लिए काष्ठ मौन ले लेते हैं। तब वे बस सिद्धासन में बैठे रहते हैं। जब वे मौन तोड़ते हैं तब उनके मुख से जीवन के गहन, गंभीर, सत्य उद्‌घाटित होते हैं, गो वे पूछने पर ही अपना मुँह खोलते हैं और सुननेवाले बहुत कुछ सुख, शांति, संतोषप्रद पा जाते हैं। 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु' या 'काहू सों कछु न चहौंगो' के वे मूर्तिमान उदाहरण हैं। उन्होंने किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया। दो-एक लोग उनकी सेवा में रहते हैं स्वेच्छा से, पर वे भी परम निरीह—अपना नाम बताने में भी उनको संकोच होता है। तुलसीदास ने भरत से पुछवाकर रामचन्द्र के मुख से संतों के लक्षण कहलाए हैं—

संतन के लक्षन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता॥

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी।।
काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देह सुगंध बसाई।।

× ×

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखें पर।।
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।।
कोमलचित दीनन पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया।।
सबहिं मान प्रद आप अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी।।
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन।।
सीतलता सरलता मइत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयित्री।।
ये सब लक्षन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर।।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।।
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज।।

राधा बाबा को अगर कोई एक-एक लक्षण पर परखे तो उनको सौ टंच खरा पाएगा। मुझे अगर एक विशेषण से ही राधा बाबा को परिभाषित करना हो तो मैं उनको कहूँगा 'विशुद्ध' संत। तुलसीदास ने भी संत के लिए यह विशिष्ट विशेषण शायद एक ही बार प्रयुक्त किया है—

संत विशुद्ध मिलहिं परि तेही।
चितवहिं राम कृपा करि जेही।।

राम ने अगर कभी कृपाकर मेरी ओर देखा है तो उसका एकमात्र सबूत मेरे लिए यही है कि राधा बाबा मुझे मिले। आज 27 वर्षों से मेरा उनका संबंध है, और जिस रूप में उन्होंने मुझसे अपना संबंध स्थापित किया था उसी रूप में आज तक बना है। मैं भी अब तीन कम अस्सी का हूँ तो वे भी आठ कम अस्सी के हैं। शारीरिक स्वास्थ्य अब हम दोनों का समय-समय पर बिगड़ता रहता है। बीमार होने पर वे अपना इलाज नहीं कराते, कोई प्राकृतिक चिकित्सा करा दे तो करा दे। मैं बीमार होता हूँ तो उनका आशीर्वाद माँगता हूँ। वे बीमार होते हैं तो मैं—उनका 'दादा' होने के नाते—उन्हें आशीर्वाद भेजता हूँ और वे बड़े विनोद से ग्रहण करते हैं। और यह चमत्कार ही है कि हमारी आशीष एक-दूसरे को लगा करती है। पत्र वे नहीं लिखते, पर मैं समय-समय पर अपना समाचार उन्हें देता और गीता वाटिका में किसी के द्वारा उनका समाचार लेता रहता हूँ। यात्राएँ मेरे लिए कष्टकर हो गई हैं। उनके-मेरे परिचित प्रायः मुझसे कहते हैं एक बार राधा बाबा को जाकर मिल आएँ, पर मेरा उत्तर यही होता है, बाबा से दूरी का आभास मुझे होता हो तब तो मैं उनके पास जाऊँ। उनसे मेरी मुलाकात के अवसर कम ही रहे हैं पर हर मुलाकात की स्मृति मेरे मन में ताज़ी है। जब भी मैंने उनसे कुछ पूछा है उसका उन्होंने सारगर्भित उत्तर दिया है, पर कभी इस बात का आग्रह नहीं किया कि मैं उनकी बात मानूँ ही। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, प्रारब्ध, कर्म-स्वातन्त्र्य के विषय में मैंने उनसे प्रश्न किये हैं। वे जानते हैं कि मैंने उनके उत्तरों को अर्ध-विश्वास, अर्ध-संदेह से ग्रहण किया है, पर उन्होंने

इतना ही कहा है हृदयस्थ भगवान ही किसी को कुछ नहीं मनवा सकेंगे तो मनुष्य क्या मनवाएगा—'सोइ जानइ जेहि देहिं जनाई'।

मुझसे प्रथम मिलन के बाद ही राधा बाबा ने काष्ठ मौन ले लिया था। बाद को उनकी स्वप्न-प्रेरणा से कैसे मैं गीता अनूदित करने को उद्यत हुआ, इसकी कथा विस्तार से मैं गीता के अपने अनुवाद 'जनगीता' की भूमिका में दे चुका हूँ। रुचि हो तो वहीं देखें। गीता मेरे लिए अपरिचित पुस्तक न थी। गीता पहली बार बहुत छोटी अवस्था में मैंने अपनी बड़ी बहन की मृत्यु के बाद किसी हिंदी भाष्य से पढ़ी थी, जो मेरे पिता की नित्यपाठ की पोथियों में रहती थी। बड़े होने पर तिलक का 'गीता रहस्य' और गांधी का 'अनासक्ति योग' भी मैंने देखा था, इंग्लैंड जाने के पूर्व मैंने डा० एनी बेसेंट और डा० राधाकृष्णन का गीता का अंग्रेज़ी अनुवाद भी पढ़ लिया था। केम्ब्रिज में मैंने मोहिनी चटर्जी और पुरोहित स्वामी का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ा जिनसे ईट्स किसी-न-किसी रूप में संबद्ध थे। लौटकर मैंने विनोबा भावे का 'गीता-प्रवचन' भी पढ़ा था। बाबा जब दिल्ली से लौटे थे तब उन्होंने गीता प्रेस के प्रमुख धार्मिक प्रकाशनों को मेरे लिए भेजवा दिया था जिनमें महाभारत, वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्‌भागवत और प्रमुख उपनिषदों के अतिरिक्त शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के गीता-भाष्य के हिंदी अनुवाद भी थे। कहने का मतलब, मेरे अनुवाद के पीछे गीता संबंधी इतने स्वाध्याय की तैयारी थी। गीता का अनुवाद करने की बात जब मैंने सोची तब उसे मानस की अवधी में, दोहा-चौपाई छंद में। मुझे नहीं मालूम इसके पूर्व दोहा-चौपाई में गीता का कोई अनुवाद हुआ था या नहीं। यदि हुआ भी था तो लोक-परिचित न हुआ था, कम से कम मेरे निकटवर्तियों में किसी को उसका ज्ञान न था। तुकांत खड़ी बोली पद्य में 'दिनेश' जी का और खड़ी बोली तुकांत अनुष्टुप में सियारामशरण गुप्त का अनुवाद छप चुका था—पर दोनों ही मेरे मन को न भाये थे। अनुवाद के लिए अवधी भाषा और सोरठा-दोहा-चौपाई छंद चुनने का मेरा एक विशेष कारण था। मैं देखता था कि बहुत से लोग प्रतिदिन 'मानस' और 'गीता' का पाठ साथ करते थे। मानस के सरस राग में बहते-बहते जब वे गीता पर आते थे तो ऐसा लगता था जैसे हरी-भरी वनानी के शीतल-मंद-सुगंध झकोरों से सूखे-सूने मरु प्रदेश के तप्त-रेतीले झड़-झपेटों में आ पड़े हों। माना कि गीता में मानस का कथा-रस नहीं, पर गीता का दर्शन सिद्धांत इतना नीरस भी नहीं कि उसे जड़-शुष्क भाषा में ही व्याख्यायित किया जा सके। क्यों न गीता को ऐसी भाषा में गाया जाय जो उसके 'गीता' नाम को सार्थक करती हुई उसके सूक्ष्म-दर्शन सिद्धांत को रसमय रागात्मकता में अभिसिंचित करती चले, कि जब कोई मानस से गीता की ओर जाय तो उसे ऐसा न लगे कि वह मधुवन से मरुस्थल में आ गया बल्कि एक मधुवन से दूसरे मधुवन में चला गया; जिस लय में वह मानस में बह रहा था उसी लय में वह गीता में भी बहता चला जाय। अनुवाद को मैंने एक पावन अनुष्ठान के रूप में ही आरंभ किया। पहले मैंने पद्‌मावत पूरा पढ़ा। ठेठ अवधी का ठाठ तो पद्‌मावत में ही है। और पद्‌मावत के सृजन में ईश्वरीय प्रेरणा की अनुभूति जायसी को कम नहीं हुई थी—

आपुहिं कागद, आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी, आखर, आपुहिं पंडित अपार।।

मानस का तो मैंने अखंड सस्वर पाठ किया—निराहार, निर्जल, अनवरत, अठारह घंटे एकासन पर बैठकर! अवधी भाषा और दोहा-चौपाई छंद से अपने कंठ-कान-मानस को पूरी तरह रसा-बसा लेने के लिए, और तब मैंने गीता का अनुवाद शुरू किया—

धर्मखेत, कुरुखेत, कहावा, जहं कौरव-पांडव - दल आवा;
काह करेन्हि तहं दोऊ समुदाई ? संजय मोहि कहहु समुझाई।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः
मामका पांडवाश्चैव किम कुर्वत संजय।

से लेकर

जहं कृष्न जोगेस्वर, जहाँ धनु साजि, अरजुन राजहीं,
तहं रहइ श्री, वैभव, विजय, ध्रुवनीति, मम संमति सही।
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

तक मैंने चार मास में पूरा किया।

अनुवाद के बीच में कई चमत्कारी अनुभव हुए। हैं तो बड़े रोचक, पर उनको न बताऊँ तभी अच्छा। तुलसीदास ने कहा है—

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ
फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ।

गीता अनुवाद सकुशल संपन्न हुआ तो स्वाभाविक ही मेरी इच्छा हुई कि जिनकी सत्प्रेरणा से 'धर्म-ज्ञान-रसमय जनगीता' रूपांतरित हुई है उन्हें यह सुनाई जाय। मैं गोरखपुर गया और मैंने 18 मई 1958 को—उस दिन मेरे छोटे बेटे अजिताभ का बारहवाँ जन्मदिन था—राधा बाबा को 'जनगीता' के अठारहों अध्याय एक साथ एकासन पर बैठकर सस्वर सुनाए। वे उन दिनों काष्ठ मौन में थे। उन्होंने भी मेरे समक्ष एकासन में बैठकर पूरी 'जनगीता' सुनी। उनके चेहरे ने कोई प्रतिक्रिया न दी। पर समाप्ति पर मैंने अपनी आँखें ऊपर उठाईं तो उनकी मुखाम्बुज श्री मुझे बड़ी शांतिदायिनी लगी। और मैंने मन ही मन अजिताभ के लिए उनके आशीष की कामना की। अजिताभ का जन्मदिन मेरे काव्य जीवन के एकाधिक प्रसंगों से जुड़ा है, गांधी-बलिदान पर लिखी अपनी 'सूत की माला' मैंने अजिताभ के जन्मदिन पर ही समाप्त की थी—

है आज अठारह मई अजित का जन्म-दिवस,
वह तेज, अमित का, मेरा जीवन-धन-सर्बस,
उसका जन्मोत्सव आज मनाना है हमको,
मन से चिंता-दुख
आज हटाना
है हमको।

हैं दिवस एक सौ आठ आज तक बीते
जब से बापू के प्राण उड़े अंबर में,
तब से मेरी लेखनी आज तक रोई
गीतों के छंदों
में, पद-अक्षर-
स्वर में।
आशीष एक दे, गोद उठा दोनों को,
करता समाप्त हूँ अपने दुख के गाने,
मेरे पुत्रों की औ' पौत्रों की दुनिया
गांधी की सत्ता
और अधिक
पहचाने !

एच० एम० वी० द्वारा प्रवर्तित मेरी 'मधुशाला' का रेकार्ड भी 18 मई को ही सर्वप्रथम 'रिलीज़' किया गया था।

राधा बाबा के दर्शन और गीता अनुवाद का मेरे तन-मन पर मनोवांछित प्रभाव पड़ा। 'जनगीता' 12 अगस्त सन्' 58 को तेजी के जन्मदिन पर प्रकाशित हुई।

हिंदी में कुछ पत्रिकाएँ ऐसी थीं, जिनमें, आप कितना ही अच्छा क्यों न लिखें, वे उसमें कुछ खोट-खराबी अदबदा कर निकाल ही देती थीं। अब तो ऐसी पत्रिकाएँ अधिक ही हैं। खैर, उनको छोड़कर प्रायः सबमें गीता-अनुवाद के इस अभिनव प्रयोग का स्वागत किया गया। मुझे विशेष संतोष प्रयाग की 'सम्मेलन पत्रिका' की आलोचना से मिला, क्योंकि उसमें मेरे उस विशिष्ट उद्देश्य को भलीभाँति समझा गया था जिसे मन में रखकर मैंने अवधी के दोहा-चौपाइयों में गीता को 'जनगीता' के रूप में प्रस्तुत किया था। शायद आप उसे देखना चाहें। मैं उसे यहाँ अविकल उद्धृत कर रहा हूँ—

"गीता और रामायण भारतीय जन-जीवन के ऐसे प्राणदायी स्रोत हैं, जिनसे हमारा राष्ट्र और समाज ही नहीं बल्कि विश्व-साहित्य भी प्राणवान बन गया है। गीता के अनेक भाष्य और टीका ग्रंथ मिलते हैं, किन्तु डा० बच्चन के 'जन गीता' ने पूरक स्थान प्राप्त किया है। अवधी भाषा में रामचरितमानस के ढंग पर गीता का सही अर्थों में रूपान्तर किया गया है। मूल से अनुवाद की पूर्ण संगति है। कविता में वही सौष्ठव है जो मानस में मिलता है। गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रंथ को दोहों, चौपाइयों और छन्दों में रूपांतरित करने के लिए केवल कवि-सामर्थ्य ही नहीं बल्कि दैवी शक्ति भी अपेक्षित है—जो डा० बच्चन जैसे सौभाग्यशाली जनकवि को सहज उपलब्ध हुई है। जनगीता पढ़ते समय गीता और रामचरितमानस दोनों ग्रंथों का आनन्द एक साथ मिलता है।"

(सम्मेलन पत्रिका—आश्विन-मार्गशीर्ष 1880 शक)

'जनगीता' के सम्बन्ध में मुझे दो-एक रोचक प्रसंग और याद आए हैं। आप सुनना चाहेंगे ? 'जनगीता' प्रकाशित हुई तो मैंने उसकी एक प्रति राष्ट्रपति डा०

राजेन्द्र प्रसाद को भेंट की। वह उनको इतनी पसंद आई कि, मेरे प्रकाशक विश्वनाथ जी ने बताया, राष्ट्रपति भवन से 11 प्रतियों का आर्डर गया। मुझे बाद को मालूम हुआ कि राजेन्द्र बाबू ने एक-एक प्रति अपने परिवार के सब सदस्यों को भेंट की। इतना ही नहीं, एक दिन उनके निजी सचिव का पत्र आया कि राष्ट्रपति जी को प्रसन्नता होगी और वे आभारी होंगे अगर किसी दिन आप राष्ट्रपति भवन पधार कर 'जनगीता' उनको स्वयं सुनाएँ। तिथि निश्चित हो गई। हम एक फूलमाला, बंदनवारों से सजे कमरे में पहुँचाए गए—अगरु-धूप सुगंधित; जैसे वहाँ कोई पूजा होनेवाली हो। टेबिल पर रथारूढ़ अर्जुन और सारथी रूप भगवान कृष्ण का एक चित्र। फर्श पर दो आसन आमने-सामने—एक कुछ ऊँचा और दूसरा उससे नीचा, तदनुरूप उन पर बड़ी-छोटी मसनदें लगी। अगल-बगल छोटी-छोटी कालीनें बिछी, राष्ट्रपति परिवार के अन्य सदस्यों के बैठने के लिए। कक्ष में प्रवेश करते ही मैंने अनुमान किया कि नीचे बना आसन मेरे लिए और ऊँचा वाला राष्ट्रपति के लिए होगा। राजेन्द्र बाबू ने कमरे में आते ही मुझे ऊँचे आसन पर बैठने का संकेत किया। मैं कुछ संकोच कर रहा था कि बोले, आप गीता-पाठ करेंगे, आप व्यास-गद्दी पर बैठें, जिसे हमारी प्रथा के अनुसार सर्वोच्च ही होना चाहिए। राजेन्द्र बाबू हिंदू संस्कृति परम्परा के प्रति कितने निष्ठावान थे। उन्होंने एक घंटे से ऊपर बैठकर जनगीता का पहला, दूसरा, ग्यारहवाँ (जिसमें भगवान कृष्ण अपना विराट स्वरूप अर्जुन को दिखाते हैं) और अठारहवाँ अध्याय सस्वर सुना। उनके अपने सामने रेहल पर संस्कृत की गीता भी खुली थी—संभवत: वे तुलना करते जा रहे थे कि मेरा अनुवाद कहाँ तक मूल का अनुवर्ती है। जब मैं अठारहवें अध्याय के अंतिम छंद पर पहुँचा तब तो उन्होंने मेरे स्वर में स्वर मिलाकर वह छंद पढ़ा—

श्री बेद ब्यास— प्रसाद तें, यह गोप्य जोग, परम गुना,
मैं जोगपति श्री कृष्न कहं साच्छात स्वयं कहत सुना।
केसव-धनंजय मध्य यह संबाद सुभग, सुभावना,
मैं, सुमिरि बारंबार, बारहिं बार, अति हरषितमना।
कुरु-भूप, सोइ हरि-रूप अदभुत, सुमिरि पुनि-पुनि, हिय धरउं;
निज दीठि पै बिसमय करउं, बपु बहुरि-बहुरि पुलक भरउं।
जहँ कृष्न जोगेस्वर, जहाँ धनु साजि, अरजुन राजहीं,
तहँ रहइ श्री, वैभव, बिजय, ध्रुवनीति, मम संमति सही।

पाठ की समाप्ति पर उन्होंने गीता की आरती की और प्रसाद बँटवाया।

इसके कुछ दिन बाद ही मैं 'जनगीता' की एक प्रति उग्र जी को भेंट करने गया। उग्र साहित्य को कभी मैंने बड़े शौक से पढ़ा था। उनके साहित्य को 'घासलेटी' कहकर पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने जो आंदोलन चलाया था उससे भी मैं परिचित था। उनके बारे में जो अज़ीबोग़रीब किस्से-कहानियाँ हिंदी संसार में कही-सुनी जाती थीं उनसे मैं अनभिज्ञ न था, पर मैं उनसे मिला कभी नहीं था। किसी कवि सम्मेलन में मुझे सुनकर उन्होंने एक लेख में लिखा था कि अगर मैं प्रोड्यूसर होता तो बच्चन को किसी फ़िल्म के एक खास पात्र की भूमिका में उतारता। रेडियो पर एक बार मेरी कविता 'पपीहा और चील कौए' (बुद्ध

और नावघर) सुनकर उन्होंने एक लेख में उस कविता की गणना हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कविताओं में की थी। शायद उस कविता में उनके जीवन की निजी अनुभूति अभिव्यक्ति पा गई थी। लेख की कटिंग मेरे कागज-पत्रों में कहीं सुरक्षित है। वे उन दिनों दिल्ली के कृष्णनगर में रहते थे। एक बार उज्जैन के कवि-लेखक महेश शरण जौहरी 'ललित' दिल्ली आए और कई दिन उग्र जी के पास ठहरे। ललित उग्र के प्रशंसक थे, मेरी कविता के भी प्रेमी। ललित ने एक दिन मेरे पास आकर बताया कि उग्र जी आपकी कविताएँ बहुत पसन्द करते हैं, अगर कभी आप उनसे मिलें तो वे बड़े खुश होंगे। 'जनगीता' प्रकाशित हुई थी, सोचा, उग्र से पहली बार मिलने जाऊँ तो अपनी नई कृति उन्हें भेंट करने को ले जाऊँ, पता ललित से ले लिया था, मोटर से उनसे मिलने गया। मोटर उनके घर से कुछ दूर खड़ी कर उनके घर पहुँचा।

आधुनिक हिंदी में दो साहित्यकारों के चरित्र बड़े विचित्र, बीहड़, बेहंगम और बेढंगे थे। उनमें एक थे, 'निराला' और दूसरे थे 'उग्र'। मध्ययुगीन वर्जनाओं, निषेधों, दमनों, कुंठाओं का चरम पर पहुँचकर जहाँ विस्फोट हुआ था वहीं इन दो विभूतियों ने अवतार लिया था। उनके प्रति मन में आदर का भाव भी उठता और उनसे डर भी लगता था। कभी-कभी उन पर क्रोध और यदा-कदा उनसे घृणा भी हो सकती थी, पर उनकी उपेक्षा किसी हालत में नहीं की जा सकती थी। वे अपने व्यक्ति-वैचित्र्य के प्रति सचेत थे और बराबर अपने किसी-न-किसी काम, बात या व्यवहार से आपको उससे ग़ाफ़िल न होने देते थे। दोनों ही बड़े प्रबल व्यक्तित्व के लोग थे, पर हर प्रबल की कोई न कोई कमज़ोरी होती है—एकीलीज की एड़ियों की दुर्बलता प्रसिद्ध है और मैंने दोनों एकीलीज़ों की एड़ियाँ पहचान ली थीं।

निराला को पर-प्रतिभा – बड़े से बड़े की भी—सह्य न थी। हमारे युग में तो रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रतिभा के मानदंड माने जाते थे। उनके लिए भी निराला ने कहीं लिखा था : जब रवीन्द्रनाथ के राजसूय यज्ञ का यशः अश्व बंगाल से छूटा तो उसे मैंने गढ़ाकोला में पकड़ा—गढ़ाकोला उन्नाव का एक गाँव, जहाँ निराला का पैतृक घर था। निराला ने अपने पागलपनी-क्रोध में एक बार मुझे कुश्ती के लिए ललकारा, मैंने कहा, मैं तो आपका चरण छूने के योग्य भी नहीं हूँ, आपसे कुश्ती क्या लड़ूँगा— अमृतलाल नागर चश्मदीद गवाह हैं—निराला पानी-पानी हो गए थे।

उग्र को पर-वैभव—समृद्ध से समृद्ध का—असह्य था। कलकत्ता के संपन्न संस्कृत विद्वान गांगेय नरोत्तम शास्त्री को, जो उद्योग धंधे से थोड़ा-बहुत धनार्जन भी कर लेते थे, उग्रजी गालियाँ दिया करते थे, चाहे वे उनके लिए कुछ उपहार ही क्यों न भेजें। ऐसा शास्त्री जी के सुपुत्र श्री विष्णुकांत शास्त्रीजी ने स्वयं मुझे बताया था। 'मतवाला' से संबद्ध सेठ महादेव प्रसाद को देखते ही उग्र गालियों से उनका स्वागत करने लगते थे, यहाँ तक कि एक दिन उन्हें कहना पड़ा था, 'महाराज, आप मुझे गाली देते हैं, मैं चुप रह जाता हूँ, आप नपुंसक हो जाएँगे।'

उग्र मुझे देखते ही बोले, 'तो सरकार हैं।' मेरी तस्वीर पत्र-पत्रिकाओं में देखी होगी, दूर से मुझे कभी देखा ही था। मुझे उनकी आँखों से लगा जैसे वे कल्पना कर रहे हों कि 30-35 बरस पहले मैं कैसा दिखता हूँगा। सहसा बोल

उठे, 'यह तो अच्छा हुआ तुम अपनी कम-उमरी में मुझे नहीं मिले, मैं तुम्हें छोड़ता नहीं।' बोलचाल में लैंगिक प्रतीकों की मुहावरेदार भाषा के उग्र उस्ताद थे। मैंने भी कुछ उनसे सीखी।

मैंने कहा, 'मैं छोड़वाता भी नहीं।' जवाब उन्हें मिल गया था। इसका व्यंजनार्थ वे ही समझेंगे जो इलाहाबादी-अवधी में 'छोड़वाने' का मतलब समझते होंगे।

मैंने जनगीता उनके हाथों में रखी, बोले, '···तो तुमने गीता मानस की भाषा में कर दी।' कुछ देर मौन पढ़ते रहे, फिर सस्वर पढ़ने लगे, बोले, 'तुलसी की आत्मा बोल रही है! ···' फिर अपने सहज लहजे में बोले,'साले, तुम कायस्थ हो। शूद्र! ···यह बाम्हन बहन···रोटी-पांड़े हो जाए, पानी-पाँड़े हो जाए, धर्म यह ब्राह्मण से ही स्वीकार करता है, तुम्हारी जनगीता को वह मान नहीं देगा, उसने अपने धर्म का नाम ही ब्राह्मण धर्म दे रखा है—धर्म जिसे ब्राह्मणों ने दिया, इतर श्रमण धर्म जिसकी जड़ें उसने इस देश में जमने नहीं दीं···।'

उनसे विदा लेकर जाने लगा तो दरवाज़े तक मुझे छोड़ने आए, बोले, कैसे आए थे, मैंने मोटर दिखाई जो मैंने उनके घर से पचास गज पीछे छोड़ दी थी— बोले, 'दुष्यंत!'— संकेत था कि तुमने वही परम्परा निभाई जो दुष्यंत ने चलाई थी—'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक में जब वे कण्व के आश्रम में गए थे तो अपना रथ आश्रम से दूर उन्होंने खड़ा किया था और उसी में अपने आभूषणादि उतारकर रख दिए थे 'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपो वनानिनाम।' उनके घर के सामने मोटर लाकर खड़ी करना वैभव का प्रदर्शन होता जो उग्र शायद ही सह पाते। इस एक बात से मैंने उनका मन जीत लिया था।

उग्र का चरित्र बड़ा विरोधाभासी था। उन्हें ब्राह्मण होने का अभिमान भी था—वे अपना पूरा नाम लिखते थे पांडेय बेचन शर्मा उग्र, यानी 'बेचन' को 'पांडेय' और 'शर्मा' की उपाधियों से आगे-पीछे परिपुष्ट करते हुए—और ब्राह्मणों की संकीर्णता से उन्हें नफ़रत भी थी। भाँग डटकर पीते थे, शराब भी, मांस खाते थे कि नहीं, मैं नहीं जानता, स्वपाकी थे यानी अपने हाथ का बनाया खाते थे। अपने चरित्र के ऐबों को वे जानते थे और खुलकर स्वीकार करते थे— मैं समझता हूँ इस साहस से ही सब ऐब धुल जाता था। मकान के पास एक शिव मंदिर था—मुँह अँधेरे पानी की बाल्टी और झाड़ू लेकर जाते और मंदिर की सफ़ाई करते। उनके इस रूप को शायद ही कोई देख पाता हो। मैं उनसे कई बार मिला, मुझे अपने जीवन की उन्होंने कुछ ऐसी बातें बताई— शायद किसी कारण अधिकारी समझकर ही—जो कोई अपने घनिष्ठ से घनिष्ठ से शायद ही बताता हो। उनसे बात करने में मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि उनके मन में कुछ और है और मुंह पर कुछ और, और जब करने का अवसर मिलता तो वही करते जो मन में होता, जो कह चुके होते। संस्कृत के किसी श्लोक की पंक्ति है—

मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मस्येकं महात्मनाम

इस अर्थ में वे महात्मा थे – महान। उनके संबंधियों, जाति-भाइयों, उनके मित्रों ने भी उन्हें बहुत ग़लत समझा था, उनके साथ बहुत अन्याय किया था। वे अपने को अकेले पाते थे, पर अकेलेपन की हीनता से पीड़ित मैंने उन्हें कभी

नहीं देखा, पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें दै खूब पढ़ते थे। तुलसीदास और गालिब उनके प्रिय कवि थे--'ग़ालिब-उग्र' नाम से उन्होंने ग़ालिब की गज़लों का एक संग्रह अपनी 'टीका' के साथ निकलवाया था—उनके हस्ताक्षर से दी यह कृति मेरे पुस्तकालय की शोभा है। किसी से मिलने नहीं जाते थे, कोई आ गया तो दुर-दुराते न हों, पर उसके आने से बहुत खुश भी नहीं होते थे। अकेलेपन की पर्याप्तता उन्होंने खूब समझ रखी थी। उन्हें देखकर मुझे अपनी एक पंक्ति याद आती थी, 'अकेला भी बहुत बड़ा है इंसान।' न वे किसी पर निर्भर थे, न उन्हें किसी से डर था। उनके जीवन के अंतिम दिनों तक उनकी किताबों की रायल्टी से या उनके लेखन से जो मिलता था वह उनके लिए काफ़ी था। एक बार उनकी बीमारी की खबर किसी पत्र में छपी थी और मैंने उन्हें कुछ भेजने की आज्ञा चाही थी, मेरे पत्र का उत्तर उन्होंने न दिया था। मिलने पर उन्होंने मेरे पत्र मिलने की चर्चा की थी, 'तुमसे पैसे लेकर तुम्हारे सामने कभी आने पर मुझे एहसानमन्द होना पड़ता, वह मैं किसी के सामने नहीं हुआ हूँ; एहसानमन्द मैं सिर्फ रामजी का हूँ कि उन्होंने मुझे कुछ ऐसा दिया है कि फिर मुझे किसी से कुछ न लेना पड़े।' एक दिन बात-बात में कहने लगे, 'एहसानमन्द तो मैं अपनी लाश उठाने वालों का भी न होना चाहूँगा।' बाद को उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा था कि जब मैं मरूँ और तुमको यह खबर मिले तो मेरी लाश हरिजनों से उठवाकर बस्ती से दूर किसी नदी में फेंकवा देना। पत्र परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

उनके मरने पर खबर मुझे मिली थी। उनके कोई संबंधी उनकी अंतिम क्रिया करने को आ गए थे, मैंने पत्र को दिखाना उचित नहीं समझा। पर उनकी लाश को देखकर एक अनुभूति जो मुझे हुई थी वह न पहले किसी लाश को देखकर हुई न बाद को। उनकी मृत्यु दिल के दौरे से हुई थी। मृत्यु के पश्चात मैंने बहुतों के चेहरे देखे लेकिन जितनी शांति उग्र के चेहरे पर थी उतनी मैंने किसी मृत के चेहरे पर नहीं देखी थी। मृत्यु में सच कहूँ तो उनका चेहरा सुन्दर हो गया था—बस लग रहा था कि वे सोये भी नहीं, जागते हुए जैसे ध्यानमग्न हो गए हों। तन की चादर उन्होंने जतन से तो न ओढ़ी थी, पर चमत्कार ही था कि उन्होंने ज्यों की त्यों धर दी थी—शायद उसे कुछ सँवारकर—जैसे मैंने गांधी जी के लिए लिखा था—

सुर, नर, मुनि इसको अपने तन पर लेते हैं।
दुनिया ही ऐसी है—मैली कर देते हैं।
कुछ ओढ़ जतन से ज्यों की त्यों धर देते हैं।
दी उसे तपोधन गांधी ने तप से सँवार।

उग्र ऐसे साधक अपने बाहरी औघड़पन में अपने भीतरी तप को छिपा रखते हैं।

'उग्र और उनका साहित्य' पर डा० रत्नाकर पांडेय ने एक पुस्तक लिखी है। शायद यह उनकी डाक्टरेट का शोध प्रबध है। और जैसे हिंदी में शोध प्रबंध होते हैं, पांडेय जी क्षमा करेंगे, उनका भी शुष्क-नीरस है। उग्र की तो कोई जीवंत जीवनी लिखी जानी चाहिए। उनकी अपनी छोटी-सी आत्मकथा 'अपनी खबर' इतनी विशिष्ट शैली, इतनी ईमानदारी और खुलेपन से लिखी गई है कि

हिंदी आत्मकथाओं में उसके जोड़ की दूसरी कृति नहीं है।

उग्र से मैं जब भी मिला, दो बातों का मुझे एहसास हुआ—पहली कि मैं स्वच्छंद, निर्बंध, मुक्त जीवन से रू-ब-रू मिल रहा हूँ; और दूसरी कि उसका कुछ अंश मुझमें और मेरा कुछ अंश उसमें है और शायद इसी से हम एक दूसरे की ओर आकर्षित हैं।

उग्र के देहावसान पर उनके संबंध में कई संस्मरण हिंदी पत्रिकाओं में निकले थे। एक शिवपूजन जी का लिखा या उनके संबंध में मुझे नहीं भूलता—उग्र और शिवपूजन जी साथ 'मतवाला' में काम कर चुके थे। वह संस्मरण दोनों के व्यक्तित्वों पर अद्भुत प्रकाश डालता है।

शिवपूजन जी की पत्नी सद्यःमृत पड़ी थीं। उग्र अचानक पहुँच गए थे। शिवपूजन जी को पूछना ही था, आपको कैसे पता लगा ? आप उग्र जी की जगह पर होते तो क्या कहते ? उग्र ने कहा, मैं तो आपसे कुछ रुपये उधार माँगने आया था। शिवपूजन जी जानते होंगे कि उग्र किसी उत्कट संकट में ही रुपये माँगने आ सकता था। उन्होंने रुपये लाकर उग्र के हाथ में रख दिए, ज़िंदों की ज़रूरतें मुर्दों की ज़रूरतों से पहले पूरी की जानी चाहिए। और उग्र रुपये लेकर चले गए। उग्र की सच्चाई और शिवपूजन जी की उदारता दोनों मेरे नमन-योग्य हैं, आप चाहे जो भी सोचें।

अक्टूबर निकट आ रहा था, जब हम लोग नैनीताल जाकर अपने बेटों से मिलते थे और शेरवुड कालेज का वार्षिकोत्सव भी देखते थे। इधर अगस्त से 'मैकबेथ' के नियमित पूर्वाभ्यास शुरू हो गए थे। तेजी आकण्ठ उसके मंचन की तैयारी में डूबी थीं, मैं भी उन्हें जो कुछ सहयोग संभव था, देता ही था। अगर हममें से कोई नैनीताल न जा सका तो बेटे बहुत निराश होंगे। इस वर्ष भी अमित कालेज के नाटक में प्रमुख नायक की भूमिका में उतरनेवाले थे। अजित भी 'रेसीटेशन' प्रतियोगिता में भाग ले रहे थे और दोनों की इच्छा थी कि हम उनका 'शो' अवश्य देखें।

'58 मेरे लिए बहुत ही व्यस्त वर्ष था, या मैंने जानबूझ कर बना लिया था। 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' पूरे कर प्रकाशित कराए थे। 'जनगीता' का अनुवाद किया था और उसे भी निकलवाया था। 'ओथेलो' की किस्तें हर मास 'आजकल' में प्रकाशनार्थ जाती रही थीं, उनके संबंध में सुधार के जो सुझाव आते थे उन पर भी विचार करता और उन्हें अंतिम रूप देता था, यहाँ तक कि '58 के अंत तक 'ओथेलो' अनुवाद की प्रेस कापी तैयार कर दी थी। मेरी दो-या-तीन पुरानी रचनाओं के नए संस्करण निकले थे जिनके लिए नई भूमिकाएँ लिखी थीं, प्रूफ़ादि मैंने खुद देखे थे। 'मैकबेथ'-मंचन के सम्बन्ध में बाहर का थोड़ा-बहुत काम करता ही रहता था। और यह सारा कुछ मैं कर रहा था दफ्तर का 'रुटीन' काम पूरी तरह देखते हुए। उधर पंडित जी नारा दे रहे थे, 'आराम हराम है'। कुछ उसका असर भी दिमाग पर होगा। तेजी ने मुझसे कहा, तुमने महीनों से बहुत काम किया है, थके हो, एक हफ़्ते की छुट्टी लेकर नैनीताल हो आओ। बेटों का मन रह जाएगा और तुम्हें कुछ वांछित परिवर्तन और आराम मिल जाएगा। मैं अकेले ही जाने को तैयार हो गया।

नैनीताल पहुँचने पर पता चला कि अमित दो दिन से तेज़ बुखार में पड़े हैं और उन्हें नरसिंग होम में रख दिया गया है। मैं अमित को मिलने के लिए नरसिंग होम गया। अमित बिस्तर पर लेटे थे, बुखार उन्हें उस समय भी तेज़ था। कालेज की ओर से समुचित देखरेख उनकी हो रही थी, डाक्टर ने उन्हें एक सप्ताह पूरे आराम की सलाह दी थी, पर इसी बीच तो उनके कालेज का वार्षिकोत्सव का नाटक होने को था जिसमें उन्हें प्रमुख भूमिका निभानी थी और जिसके लिए उन्होंने हफ्तों से तैयारी की थी। प्रिंसिपल लेवलिन ने उनसे कह दिया था, कि बड़ा अफ़सोस है, तुम अपना अभिनय न कर सकोगे, मैंने तुम्हारी भूमिका किसी दूसरे लड़के को दे दी है और वह तैयारी में लगा है। अमित को फिर भी उम्मीद थी कि वे नाटक खेले जाने के दिन तक ठीक हो जाएँगे और अपना पार्ट खुद करेंगे। कुछ महीने बाद अमित को केम्ब्रिज स्कूल सर्टिफिकेट की परीक्षा देनी थी और प्रिंसिपल उनकी तंदुरुस्ती से किसी तरह का खतरा न उठाना चाहते थे। उनकी राय थी, डाक्टर अमित को एक हफ्ते से पहले बिस्तर छोड़ने की इजाज़त न देंगे। पर अमित को अपनी बीमारी की इतनी चिंता न थी जितनी नाटक में अपना पार्ट न कर सकने की। उन्होंने बड़े श्रम-संकल्प से अपना पार्ट याद किया था, पूर्वाभ्यासों में बिला नागा गए थे, और उनको पूरी आशा थी कि इस वर्ष भी उन्हें केंडल कप मिलेगा। अकस्मात और बेवक़्त आई बीमारी दुर्भाग्यपूर्ण थी, पर इससे उनका मानसिक क्लेश और उनकी निराशा सहज कल्पित की जा सकती थी।

मैं अपना ज़्यादातर वक़्त अमित के बिस्तर के पास गुज़ारता। तेज़ बुखार में भी अमित के दिमाग़ में कुछ था तो बस नाटक-नाटक-नाटक ! उन्हें डाक्टर से शिकायत थी, खामखाह मेरी छोटी-सी बीमारी को गंभीर बना रहा है। मुझे नाटक में भाग लेने से रोक रहा है। मैं बोल सकता हूँ, अपने आप उठ बैठ सकता हूँ, चल-फिर सकता हूँ, मैं नाटक में अभिनय क्यों नहीं कर सकता। स्टेज पर कोई जिमनास्टिक थोड़ी करनी है या कुश्तिम-कुश्ता। सिर्फ दो घंटे की बात है जिसमें मुझे बस आधा घंटा स्टेज पर रहना होगा। क्या खतरा पैदा हो जायगा इतने से मेरी बीमारी में। उन्हें शिकायत थी प्रिंसिपल से—मुझसे पार्ट नहीं कराना था तो मुझसे इतनी मेहनत कराई क्यों, और फिर बिना मुझसे पूछे मेरा पार्ट दूसरे को दे दिया, मुझसे पूछ तो लेते कि क्या मैं अपना पार्ट इतनी बीमारी में भी कर सकूँगा; मैं कर सकूँगा। प्रिंसिपल की मेरे साथ ज़्यादती है; आप कहिए न प्रिंसिपल से कि मुझे कुछ नहीं होगा, मुझे अपना पार्ट करने दें; मुझे अपना पार्ट न करने देंगे तो ज़रूर मुझे कुछ हो जायगा। और सबसे ज़्यादा शिकायत थी उन्हें अपने से। वे अपना माथा ठोंकते, मैंने बीमार पड़कर कालेज का ड्रामा बिगाड़ दिया। पार्ट मैं करता तो कितना अच्छा करता ! मैं क्यों बीमार पड़ गया। मुझे इसी वक़्त बीमार पड़ना था। देखिए मुझे अपना पूरा पार्ट याद है; और वे अपना 'डायलाग' बोलने लगते, समुचित मुद्राओं के साथ।

जिस समय नाटक हो रहा था, मैं अमित के बिस्तर के पास बैठा था, वे बहुत बेचैन थे, तड़प रहे थे कि इस समय भी डाक्टर या प्रिंसिपल उन्हें अनुमति दे दें तो वे उछलकर मंच पर पहुँच जाएँ और अपना पार्ट करने लगें। मन से, कल्पना से वे मंच पर ही थे। वे बार-बार घड़ी देखते।...अब नाटक शुरू हो गया होगा...

अब फलाँ पात्र स्टेज पर आया होगा ! ···अब मुझे आना था ।···अब मुझे ऐसा बोलना था ।···अब फलाँ पात्र को ऐसा करना था···और मुझे यह करना था, वग़ैरह-वग़ैरह । जब तक नाटक होता रहा वे क्रमानुसार नाटक के दृश्यों की शाब्दिक झाँकी मेरे सामने प्रस्तुत करते रहे जैसे किसी क्रिकेट या हाकी मैच की कमेन्ट्री चल रही हो । मैं आश्चर्यचकित था; उन्होंने अपना पार्ट ही नहीं समझा और तैयार किया था, पूरे नाटक को, नाटक के हर पात्र को, विशेषकर उनको जो उनके संसर्ग में रंगमंच पर प्रस्तुत होनेवाले थे, समझा था । नाटक वास्तव में विविध वादकों के समूह द्वारा बनाई गई एक 'सिम्फ़नी'—रागिनी—है जिसकी सफलतापूर्वक अदायगी तभी की जा सकती है जब हर वादक पूरी सिम्फ़नी की गति-मति, वृत्ति, प्रभाव को आत्मसात किए हो और सब के साथ और सबके बीच अपनी भूमिका की संलग्नता के प्रति सजग-सचेत हो । शायद यही बीजांकुर थे जो आज पल्लवित-पुष्पित हो अमिताभ के अभिनय को कुछ निजता, कुछ विशिष्टता दे रहे हैं ।

अमित कहते जा रहे थे—

अब अंतिम बार परदा गिरा होगा ।

···अब सब पात्र एक पंक्ति में रंगमंच पर खड़े हो गए होंगे ।

···अब फिर परदा उठा होगा ।

···और अब दर्शकालय तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा होगा ।

···पात्र बार-बार कृतज्ञता से झुक रहे होंगे ।

···अब निर्णायकों ने 'बेस्ट एक्टर अवार्ड' की घोषणा की होगी ।

···पता नहीं किसको मिला होगा ।

···पता नहीं प्रिंसिपल ने धन्यवाद-भाषण में यह कहा कि नहीं कि नाटक में प्रमुख भूमिका अमिताभ बच्चन अदा करनेवाला था; बीमारी की वजह से नहीं कर सका ।

सहानुभूति प्रशंसा का स्थानापन्न तो नहीं !

नाटक की समाप्ति पर अमिताभ बहुत उदास, बहुत गिरे-गिरे थे । उन दिनों अपनी अनुभूतियों और दूसरों के उदाहरणों और अपने थोड़े-बहुत अध्ययन से मैंने अपने लिए एक फिलासफी विकसित की थी—नई तो उसे शायद ही कह सकें पर मैंने उसे नए तरह से रखा था, और उस संध्या को पहली बार मैंने अमित को उससे दीक्षित किया था—संक्षेप में, एक वाक्य में, मैं उस यों रखता हूँ—

अपने मन का हो जाय तो अच्छा,
न हो जाय तो ज्यादा अच्छा !

कभी आप भी सोचें, इस फ़िलासफ़ी में मनुष्य को कुछ मूल्यवान, सारवान देने की क्षमता है ?

दूसरे ही दिन अमित का बुखार उतर गया । जैसे नियति का यह सारा षड्-यंत्र अमिताभ को कालेज के नाटक में अभिनय करने से वंचित रखने के लिए ही रचा गया था ।

नियति की प्रतिक्रियाओं को अब सनकपन, अटकलपच्चू, निर्लक्ष्य अथवा निरर्थक कहने में मुझे संकोच होगा।

मनुष्य को सीखना चाहिए, और नियति अपने तरीके से सिखाती भी है, और यह कोई छोटी सीख नहीं है कि जीवन में निराशा भी होती है, और मनुष्य को इस निराशा को कैसे झेलना चाहिए, और कैसे उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

अमिताभ ने निश्चय सीखा है। उन्होंने कई मौकों पर मेरे इस कथन को दुहराया है—अपने मन का हो जाय तो अच्छा, न हो जाय तो ज़्यादा अच्छा!

दो-एक दिन बाद मैं दिल्ली लौट आया और तेजी के साथ मैं भी 'मैकबेथ'-मंचन' की तैयारी में डूब गया।

वर्षांत तक अमिताभ अपनी केम्ब्रिज स्कूल सर्टिफिकेट की परीक्षा देकर लौटे—दो-एक महीने तक परीक्षा-परिणाम आ गया। उनके लिए फिर निराशा थी। उन्हें प्रथम श्रेणी पाने की आशा थी, उन्हें द्वितीय श्रेणी मिली थी।

प्रतिभा का पहला और सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि वह अपने को पहचान लेती है। वह अपनी रुचि, अपनी प्रवृत्ति, अपना झुकाव, अपना स्वभाव, अपनी क्षमताएँ, अपनी संभावनाएँ, अपनी प्रगति, अपने विकास की दिशा जान लेती है, और उसी ओर अपनी सारी शक्ति लगा देती है, और देखते-देखते उन्नति का शिखर छू लेती है। शेक्सपियर ने पहचान लिया था कि उसमें नाटककार बनने की प्रतिभा है, वह नाटक लिखता गया और दुनिया का सर्वश्रेष्ठ नाटककार बन गया। नेपोलियन ने समझ लिया था कि वह एक अच्छा सैनिक, अच्छा सैन्य-संचालक हो सकता है और उसी ओर उसने अपनी प्रतिभा लगा दी। वह संसार के सर्वकुशल, सर्वसाहसी सेनानायकों में गिना जाता है। अगर शेक्सपियर सैनिक बनना चाहता तो पहली ही लड़ाई में मारा जाता और नेपोलियन अगर नाटककार बनना चाहता तो उसका पहला नाटक ही 'हूट' हो जाता। अधिकतर लोग अपने को नहीं पहचानते; क्षमता लिए हैं क्लार्क बनने की, करने चलते हैं कविता, तुकबंद बनकर रह जाते हैं; प्रवृत्ति है सिपहगिरी करने की, बनने चलते हैं डाक्टर वैद्य, नीम-हकीम बनकर बहुतों के लिए खतरे-जान बन जाते हैं। ज़्यादातर लोग जिसे अंग्रजी में कहते हैं गोल छेद में चौखूंटी खूंटी धंसाने या चौखूंटे छेद में गोल खूंटी घुसाने में अपनी उमर खपा देते हैं। अपनी सीमाओं या अपने आयामों को पहचान लेना, परख लेना बहुत मुश्किल काम है। इसीलिए प्रतिभायें विरल होती हैं।

अमिताभ ने अपने को जल्दी नहीं पहचाना, और न हमने ही जो उसके माता-पिता थे। अमिताभ की माँ सिक्ख परिवार की थीं, विवाह हमारा दूसरे विश्व-युद्ध के दरमियान हुआ था। हमारे यहाँ अक्सर तेजी के ऐसे निकट संबंधी आया करते थे जो सेना में होते—सैनिक पोशाक-बिल्लों के साथ कद्दावर शानदार दिखते। अमिताभ जन्म के समय ही 9 पाउंड का था, बढ़ने लगा तो तेजी से, दो बरस की उम्र में चार का लगता, चार से अधिक। उस समय हमें बहुत सफ़र करना पड़ता, इलाहाबाद से लाहौर, लायलपुर, कराची; रेलवे में क़ायदा था, चार बरस से कम उम्र के बच्चों पर टिकट नहीं लगता था, हम अमित का टिकट नहीं खरीदते थे और रेलवे अधिकारियों से प्रायः हमें बहस करनी पड़ती, वे अमित

को चार से ऊपर बताते, हम कसमें खाते, भाई, बच्चा चार से कम है। बाद को तो इस झगड़े से बचने के लिए हम अमित की चार की उमर से कम पर भी उसका आधा टिकट लेने लगे। अमित साल भर का भी नहीं हुआ था कि मैं संयोग से युनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर में दाखिल हो गया। शायद मेरे परबाबा के संस्कार थे, लड़कपन में स्काउट बनना चाहता था, पर विश्राम तिवारी तो मुझे बस पढ़ाकू-लिखाकू बनाना चाहते थे। सैनिक पोशाक मैंने पहनी तो कहीं मन में उठा कि यह नवजात बालक इतना सैन्य-संस्कारी है कि उसने मुझे भी फौज में भेज दिया। हम अमित को छुटपन में फील्डमार्शल अमिताभ कहा करते थे—अपने बेटे के लिए मोहगर माता-पिता का यह सपना देखना समझा जा सकता है कि वह सैनिक बने तो सबसे ऊंचे पद पर पहुँचे!

अमिताभ सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा देकर लौटे तो उनकी उमर 16 वर्ष की थी—उन्होंने अच्छी बाढ़ ली थी। उस समय हम उन्हें मिलिट्री ट्रेनिंग के लिए खड्गवासला भेजना चाहते थे। अमिताभ ने वहाँ जाने में रुचि न दिखाई तो हमने उनपर दबाव नहीं डाला। पता नहीं किस कारण उस समय, शायद किसी अध्यापक की प्रेरणा से अथवा किन्हीं स्कूली साथियों के सलाह-मशविरे से अमिताभ इंजीनियर बनने का सपना देख रहे थे। परीक्षा में द्वितीय श्रेणी पाने पर भी वे साइंस-कोर्स लेकर बी० एस-सी० करना चाहते थे। वे समझते थे कि परीक्षा-पूर्व बीमारी की वजह से उन्हें प्रथम श्रेणी नहीं मिली। बी० एस-सी० में वे अवश्य प्रथम श्रेणी पाएँगे और इस प्रकार इंजीनियरिंग कालेज में उनका दाखिला आसानी से हो जायगा। इंटर में द्वितीय श्रेणी लेकर बी० ए० में प्रथम श्रेणी लाने का उदाहरण उनके पिता का ही था। उनका नाम किरोड़ीमल कालेज में लिखा दिया गया।

उन्हीं दिनों हमारे इलाहाबाद के एक मित्र कर्नल हबीबुल्ला दिल्ली आए, हमसे मिलने हमारे घर आए, अमिताभ को देखते ही बोले, 'बच्चन साहब, इस लड़के को तो मुझे दीजिए, मैं इसको एक शानदार फौजी अफ़सर बना दूंगा! ···

अमिताभ अपने इंजीनियर का सपना से रहे थे।

तीन वर्ष बाद कम्पार्टमेन्टल से उन्होंने बी० एस-सी० की।

इंजीनियर बनने का सपना पूरी तरह ध्वस्त हो चुका था।

तब किसी फर्म की नौकरी की तलाश में '63 में कलकत्ता गए। बर्ड और ब्लैकर्स कंपनी में छह वर्ष रहे—शौकिया नाटक में भाग लेते रहे—पर वे फिल्म के लिए बने हैं, यह बात कभी उनके मन में न उठी।

इसके विपरीत अजिताभ शुरू से अपने को पहचानता था, अपने स्वभाव के प्रति जागरूक था। लड़कपन से उसे पैसा इकट्ठा करने का शौक था। उन दिनों एक खिलौने का लेटरबाक्स मिलता था—जिसमें एक लंबी दरार बनी रहती थी जिससे उसके अंदर रेजगारी डाली जा सकती थी। अजित जब भी रेजगारी पाता अपने खिलौने-लेटरबाक्स में डाल देता। हम उसे परिवार का 'बनिया' कहते। वह साल में बीस-पचीस रुपयों की रेजगारी इकट्ठी करता। उसने आर्ट्स विषयों से सीनियर केम्ब्रिज किया—प्रथम श्रेणी में। बी० ए० (आर्ट्स) में उसने अर्थ-शास्त्र लिया। परीक्षा में फिर प्रथम श्रेणी लेकर उसने तीन वर्ष शा वैलेस में काम

किया और एक वर्ष जर्मनी में शिपिंग प्रशिक्षण लेकर लौटने पर उसने अपना स्वतंत्र उद्योग आरंभ किया। और आज उसमें वह किसी कदर सफल ही कहा जा सकता है। उसने अपनी प्रतिभा को समझने में गलती नहीं की। इतना ही नहीं उसने अमित की प्रतिभा को भी ठीक-ठीक समझा। यह अजिताभ की ही प्रेरणा थी जिसने अमिताभ को फिल्म क्षेत्र में भेजा। उसके विषय में विस्तार से फिर कभी।

अमिताभ की सीनियर-केम्ब्रिज परीक्षा का फल आ चुका था, और उसके बाद से हमारी विशेष चिंता थी दिल्ली के किसी अच्छे कालेज में उन्हें बी० एस-सी० में दाखिला दिलाने की। उनके द्वितीय श्रेणी पाने के कारण दाखिले में कुछ कठिनाई खड़ी हो रही थी और हम उन्हें दिल्ली से बाहर के किसी कालेज में भेजने की तैयारी में थे। उसी समय, शायद मई का महीना था, पंडित जी की विशेष कृपा से 13, विलिंगडन क्रिसेंट हमें एलाट हुआ। 219, डी-1, डिप्लोमेटिक एन्क्लेव में, सफदरजंग एरोड्रोम की निकटता के कारण मेरे चिंतन, सृजन, लेखन में जो बाधा उपस्थित होती थी उसका ज़िक्र मैंने पंडित जी से कभी किया था। मेरी वह बात कहीं उनके मन में अटकी होगी, इसलिए जब विलिंगडन क्रिसेंट का बंगला खाली हुआ तो मुझे एक शांत एकांत जगह देने के विचार से उन्होंने मुझे दिलाया। मैं डिप्लोमेटिक एन्क्लेव वाले मकान में दो वर्ष रहा। पर उन दो वर्षों में कितनी-कितनी घटनाएं उस मकान से जुड़ गई थीं।

वहीं रहते मैंने 'ओथेलो' और 'गीता' का अनुवाद किया था;
'आरती और अंगारे', 'बुद्ध और नाचघर' (मौलिक कृतियां), 'जनगीता' और 'ओथेलो' (अनुवाद) प्रकाशित हुए थे;
मेरी पिछली दो-तीन रचनाओं के नए संस्करण भी;
वहीं रहते 'मैकबेथ' का मंचन हुआ था;
उसी घर में सत्येन्द्र-उषा ने अपनी सुहागरात मनाई थी—
(इस वर्ष 4 फरवरी,'84 को उन्होंने अपने विवाह की रजतजयंती मनाई);
वहीं रहते कुछ अप्रिय भी हुआ था—तेजी का आपरेशन, बरेली जाते कार-दुर्घटना और अंकिल की नौकरी से बर्खास्तगी।

पर जिन दो बातों के लिए मैं डिप्लोमेटिक एन्क्लेव के मकान को आज भी याद करता हूँ वे दूसरी ही हैं—उनमें से एक तो यह है कि उसी में रहते हुए तेजी के मन में हनुमान-भक्ति जागी थी, जो तब से निरंतर बढ़ती रही है। तब से आज तक के पच्चीस वर्षों में उन्होंने न जाने कितने हनुमान मंदिर देखे होंगे, और उनमें स्थापित मारुति-मूर्ति के समक्ष सिर झुकाया होगा। पर उनकी जो श्रद्धा विनयमार्गी हनुमान जी की मूर्ति के सामने जागती है वह अन्यत्र नहीं। 'Love at first sight' आँख चार होते ही प्रेम—की बात तो आपने सुनी होगी, शायद आपको अनुभव भी हो, उसी प्रकार Devotion at first sight भी होता है—प्रथम दर्शन पर ही भक्ति। तेजी को विनयमार्गी हनुमान-मूर्ति के समक्ष आते ही कुछ ऐसा चमत्कारी अनुभव हुआ था। दूसरी बात यह, कि यहीं रहते मैंने गीता का 'जनगीता' के रूप में अनुवाद किया था। आपको याद होगा, मैंने कहा था कि अनुवाद करते हुए मुझे कई अद्भुत अनुभव हुए थे, जिन्हें अपने तक ही सीमित रखने की मुझे सलाह दी गई थी। पर आज एक

अनुभव आपको बताना चाहता हूँ, जिसके कारण मैं उस घर को भूल नहीं पाता। अनुवाद करते हुए अक्सर मुझे ध्यान आता था कि मैं जहाँ बैठा हूँ वहाँ कभी द्वारिका से हस्तिनापुर जाते हुए भगवान कृष्ण का रथ खड़ा हुआ था। और कभी-कभी मुझे रथ की, रथ में जुते, थके घोड़ों की, सवार और सारथी दोनों रूपों में रथ पर बैठे श्री कृष्ण की साफ़ झलकी मिलती !—अब भी अगर कभी मैं उस घर के सामने से गुज़रूँ, तो उस घर की और कोई बात मुझे न याद आए, वह दिव्य झलकी ज़रूर याद आ जाती है।

'जनगीता' मैं राधा बाबा को समर्पित करना चाहता था, 'त्वदीयं वस्तु गोविंद···' कहकर, पर उन्होंने संकेत से मना किया, मैंने उनकी सेवा में रहने वाले रामसनेही को समर्पित कर दिया—'राम ते अधिक राम कर दासा'। पर सुना रामसनेही समर्पण देखकर खुश नहीं हुआ—एक मेरा ही अहं जगाने को रह गया था। बड़ा शुभ लक्षण है कि नाम के लिए मरनेवालों की दुनिया में अनाम जीनेवाले भी कहीं-कहीं हैं।

'बुद्ध और नाचघर' मैंने अपने केम्ब्रिज के साथियों को समर्पित किया। अधिकांश कविताएँ वहीं लिखी गई थीं और वे ही लोग उनके प्रथम श्रोता थे। उनमें, पाकिस्तान के हमीद अहमद खां ने Wordsworth & Paganism—वर्ड्सवर्थ और आदि प्रकृतिपूजक—पर शोध कर एम० लिट० की डिग्री ली थी; उनकी थीसस के लिए कुछ वेदमंत्रों की प्रतिलिपि मैंने बनाई थी। बाद को लाहौर युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर हो गए थे। ग़ालिब के बड़े प्रेमी थे। एक बार ग़ालिब के विशेष स्वाध्यायी मालकराम को खोजते हुए वे दिल्ली आए थे और मेरे ही साथ ठहरे थे। तेजी से वे ठेठ पंजाबी में बातें करते। उनकी बड़ी इच्छा थी कि एक बार तेजी और मैं लाहौर आएँ और उनके मेहमान बनकर उनके साथ ठहरें। तेजी ने बड़ी मार्मिक बात कही थी, 'अपने ही घर में मेहमान बनकर आना मेरा दिल गवारा न कर सकेगा !' पाकिस्तान बनने के घाव के निशान नक्शे पर ही नहीं पुरानी यादों के रूप में दिलों पर भी पड़े हैं—पश्चिमी पंजाब में जन्मे रूपचंद साहनी ने 'गैस में जीवनदायी तत्व' पर शोध कर डाक्टरेट ली थी। अमरीका के किसी शोध संस्थान में उनकी नियुक्ति हो गई थी; सीधे केम्ब्रिज से चले गए थे; वहीं व्यवस्थित हो गए हैं। जब काम में बहुत व्यस्त हुए तो मुझ से बोले, 'संगिया, अब रातोंवाली मुलाकातां खतम !'—रनवीर सिंह बावा के विषय में कतिपय विस्तार से 'बसेरे से दूर' में लिख चुका हूँ। अमृतसर के विश्वनाथ दत्त ने 19वीं सदी के सुधारवादी आंदोलन पर थीसिस लिखकर एम० लिट० ली थी। कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफ़ेसर हैं, देश के इने-गिने इतिहासज्ञों में माने जाते हैं, कई विषयों पर प्रामाणिक पुस्तकें लिख चुके हैं। कमला, उनकी पत्नी, तब नवविवाहित, अब तीन पुत्रियों की मां है। बड़ी पुत्री एम० ए० करने के बाद शोध कर रही है। दिल्ली अक्सर आते और हमसे मिलते रहते हैं।

'ओथेलो' अनुवाद मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी को समर्पित किया, जिनके संकेत पर पंडित जी ने 'मैकबेथ'-मंचन के लिए हमें आर्थिक सहायता दी थी—कवि के पास कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में देने को और क्या है—और श्रीमती तेजी बच्चन को, जिन्होंने उक्त मंचन में लेडी मैकबेथ की स्मरणीय भूमिका

अदा की थी।

'आरती और अंगारे' भी तेजी को समर्पित थी, इन शब्दों के साथ, 'अर्पित तुमको, मेरी आशा, और निराशा और पिपासा'—'प्रणय-पत्रिका' में इसी मुखड़ से पूरी कविता है।

13 विलिंगडन क्रिसेंट ! 13 का नाम सुनते ही दिमाग़ में एक खटका होता है, अशुभ संख्या है। यह अशुभ से कैसे जुड़ा ? प्रभु ईसा मसीह ने अपने 12 शिष्यों के साथ एक टेबिल पर बैठकर रात्रि-भोजन किया। दूसरे दिन उनको क्रास पर लटका दिया गया। योरोप में बहुत से होटलों में 13 की संख्या के कमरे नहीं होते। 13 आदमी मिलकर कोई काम नहीं उठाते; 13 की पार्टी कहीं नहीं जाती, इसी तरह और बातों में भी 13 से संबद्ध होने को बचाया जाता है। भारतीय संदर्भ में भी 13 की संख्या एक बड़े अशुभ से जुड़ी है। महाभारत का युद्ध 18 दिनों तक चला था। उसकी सबसे हृदयविदारक त्रासदी थी आठ महारथियों द्वारा मिलकर 16 वर्षीय अभिमन्यु का वध। यह युद्ध के 13वें दिन हुआ था !—परंतु इसे स्मरण कर 13 को भारतीय मनीषा ने अशुभ से नहीं जोड़ा, बल्कि पुराणों के अनुसार धार्मिक कार्य करने के लिए त्रयोदशी या तेरस शुभ दिन माना जाता है। हिंदू धन-तेरस को अपने यहाँ नए बर्तन आदि लाकर रखते हैं। शिवरात्रि त्रयोदशी को होती है।

सच कहूँ तो 13 मेरे मन में भी खटका—कहीं इस घर में जाना अमंगल-कारी ही न हो। पर मैंने एक और बात याद की। कहते हैं गुरु नानक का मन किसी संसारी कार्य में न लगता था। पिता ने कुछ कम्बल बेचकर कुछ लाभ कमाने को दिए तो उन्होंने ठंड से काँपते साधुओं को दान कर दिए। फिर पिता ने दूसरे काम पर लगाया। कहीं मज़दूरों को 15-15 सेर अनाज उनकी मज़दूरी के रूप में तोलकर देना था। नानक जी ने तौलना आरम्भ किया—तौल ठीक रखने के लिए संख्या उच्चारित करते जाते थे—1, 2, 7, 10, 12, 13 (तेरह को सामान्य बोलचाल में तेरा भी कहते हैं)—13 पर उनका ध्यान चला गया होगा कबीर के इस दोहे पर—

> मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर,
> तेरा तुझ को सौंपते काह लगत है मोर।

और फिर 'तेरा' 'तेरा' कहकर ही वे अनाज देते चले गए ! पानेवाला तो निहाल हो गया होगा। पर किसी ने जल्द ही टोका होगा; क्योंकि नानक के लिए सब 'तेरा' था, 'मेरा' कुछ भी नहीं—'इदं न मम'।

मैं भी 'तेरह' को 'तेरा' मानकर उस घर में चला गया। उसके फलस्वरूप या संयोगवशात् उस घर में जो हुआ मंगलमय ही हुआ। थोड़ी ईमारी-बीमारी को मैं अमंगल की श्रेणी में न रखना चाहूँगा।

तेजी ने सबसे पहले उस घर में रखने को पिता जी के दैनिक पाठ का 'रामचरितमानस' भेजा।

अभी तक हमें रहने को जितने मकान मिले थे—चाहे इलाहाबाद में, चाहे दिल्ली में, उनमें यह सबसे अच्छा था। इसके चारों तरफ आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ

लम्बे-चौड़े लान। एक बड़ी खास बात थी उसकी स्थिति के बारे में। बँगला तो लबे सड़क था, पर सड़क के एक ऐसे छोटे से हिस्से पर जो 'बस रूट' न था—यानी उतने हिस्से पर बसों का आना-जाना न होता था। इस कारण बँगले में पूर्ण शांति रहती थी। हवाई जहाज़ों के रवाना होने और उतरने के शोर से प्रतिध्वनित-प्रकंपित डिप्लोमेटिक एनक्लेव के मकान के बाद इस मकान का शांत-स्निग्ध वातावरण घोर तपस्या के बाद सुखद वरदान की तरह लगा।

मकान, मकान क्या बँगला, बहुत सोच-विचार कर बनाया गया था—एक सद्गृहस्थ के हर मौसम का सुविधा का ध्यान रखकर। बाईं ओर को दो छोटे दो बड़े, लंबे ज़्यादा—चौड़े कम, कमरों में सिर्फ किचन का फैलाव था। किचन से संबद्ध सारी चीज़ें यहां रखी जा सकती थीं। उसके दाईं ओर पीछे की तरफ़ डाइनिंग रूम और आगे की तरफ बेड रूम—बाथरूम के साथ। उसके दाईं ओर और प्रायः बँगले के बीच में ख़ासा बड़ा ड्राइंग रूम—साथ आतशदान। ड्राइंग-रूम के आगे-पीछे बरामदे। उसके दाईं ओर फिर दो बेड रूम—एक कुछ बड़ा—दोनों के साथ अलग-अलग बाथरूम। बड़े बेडरूम के साथ एक छोटा ड्रेसिंग रूम। बाहर की तरफ़ सब दरवाज़े-खिड़कियों पर लकड़ी-शीशे के पल्लों के अतिरिक्त जाली के पल्ले कि मच्छर वगैरह अंदर न आ सकें। कमरों में हवादानों पर भी अर्द्ध गोल जाली लगी कि उधर से भी हवा तो आ सके पर मच्छर, कीड़े-मकोड़े न आ सकें। पीछे गराज और कई सर्वेंट क्वार्टर। बँगले के रख-रखाव का काम एन्क्वायरी आफ़िस के तहत था। कुछ चीज़ बिगड़ी हो, खराब हो, फ़ोन कर दीजिए, वहाँ से मज़दूर-कारीगर आएँगे और ठीक-ठाक कर जाएँगे। किराया तनख्वाह का 1/10वाँ हिस्सा, यानी जब मेरी तनख्वाह 1000 रु. थी तब केवल 100 रु०।

मैंने बाईं तरफ के बेडरूम का अपना स्टडी बनाया। '58 की रायल्टी के रूप में जो राशि मुझे मिली थी उससे तेजी ने सबसे पहले मेरी स्टडी के लिए व्हाइट वुड की एक कुर्सी-मेज़—मेज़ इतनी बड़ी कि उसके एक किनारे पर मुंशी मेज़ रखकर उसके सामने खड़े होकर भी पढ़ा-लिखा जा सके—दो छोटी आलमारियाँ, एक आधी शीशेदार, आधी खुली, बड़ी आलमारी बनवाई थी। एक छोटी-सी स्टडी तो डिप्लोमेटिक एन्क्लेव में भी थी, पर यहाँ का कमरा काफ़ी बड़ा था। बाद को तो उस कमरे की सारी दीवालें क़द्देआदम अलमारियों से ढक गईं—किताबों से भरी—उसी में मेरा वार्डरोब और उसी में मेरा बिस्तरा भी लग गया। दाहिने तरफ़ का आगे का रूम अमित को दिया गया, पीछे वाला तेजी ने लिया। अजिताभ तो अभी तीन वर्ष शेरवुड में रहने को थे, छुट्टियों में आते तो अमिताभ के कमरे में ठहरते।

आप कहेंगे, 'बच्चन बाबू, आप दुनिया भर के विषयों को लेकर सरपट दौड़ते हैं, पर जिस कार्य विशेष के लिए आपको इलाहाबाद से दिल्ली बुलाया गया था—यानी विदेश मंत्रालय में क्रमानुसार हिंदी के अधिकाधिक प्रयोग में सहयोग-सहायता देना उसके विषय में आप कुछ नहीं बोलते। मुझे उसके जवाब में सिर्फ़ इतना कहना है कि मेरी लगाम खींच दी गई थी। शुरू-शुरू में मैंने कुछ अपना हाथ-पाँव फेंकने फैलाने की कोशिश की थी, पर मुझे विदेश सचिव के द्वारा आगाह कर दिया गया था कि जब तक भाषा आयोग की रिपोर्ट पर

राष्ट्रपति के आदेश नहीं आते तब तक हमको कुछ भी नया—कम-से-कम इस मंत्रालय में—नहीं करना है।

भाषा आयोग का गठन 7 जून, 1955 को किया गया था। उसके बीस सदस्य थे; अध्यक्ष थे श्री बी० जी० खेर। उसे दो काम करने थे—

1. क्रमानुसार हिंदी के अधिकाधिक प्रयोग के बारे में सुझाव पेश करना।
2. अंग्रेज़ी की जगह पर हिंदी लाने के लिए समय-सारिणी तैयार करना।

आयोग ने 31 जुलाई 1956 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

रिपोर्ट संसद की टेबिल पर 12 अगस्त, 1957 को रखी गई।

मुझे यह पूछने का अधिकार नहीं है कि 378 दिन यह रिपोर्ट कहाँ, किसके पास, किस कारण अज्ञातवास सेती रही।

तब, उसपर विचार करने के लिए तीस सदस्यों की एक संसदीय समिति बनी जिसमें बीस सदस्य लोकसभा के और दस सदस्य राज्यसभा के थे। उसके अध्यक्ष थे श्री गोविंद वल्लभ पंत।

संसदीय समिति ने 20 अप्रैल, 1959 को अपनी रिपोर्ट पेश की।

उसपर महामहिम राष्ट्रपति ने अपने आदेश दिए जो अप्रैल 1960 के गज़ट में प्रकाशित हुए।

कहाँ तो व्यवस्था यह थी कि 5-5 वर्ष पर आयोग बैठेगा और उत्तरोत्तर हिंदी के प्रयोग को बढ़ाकर प्रशासन, न्याय, शिक्षा, सभी क्षेत्रों में उसे प्रस्थापित कर देगा—कहाँ पहले ही कमीशन के सुझावों को अंतिम रूप देने में पाँच वर्ष लग गए। वस्तुतः पहला आयोग ही जिन परिणामों पर पहुँचा उससे यह स्पष्ट हो गया कि आगे आयोगों की कोई आवश्यकता न होगी। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम था कि 15 वर्ष तक यानी 1965 तक अंग्रेज़ी की जगह पर हिंदी लाना न आवश्यक है, न संभव; सिद्धान्ततः हिंदी राजभाषा मानी जायगी, अंग्रेज़ी सहचरी भाषा; (व्यवहार में उसके विपरीत : अंग्रेज़ी राजभाषा, हिंदी सहचरी —अधिक उपयुक्त होगा कहना 'अनुचरी')। सरकारी प्रयास हिंदी के बिभिन्न पक्षों को विकसित करने का होगा—प्रयोग करने का नहीं—जिसमें कितने ही 15 वर्ष लग सकते हैं। मेरी समझ में **प्रयोग से विकास** के सिद्धांत की उपेक्षा कर बड़ी भारी गलती की गई; अंततोगत्वा जिसका परिणाम यह होना है कि हिंदी तैयारी ही करती रहेगी और प्रयोग में शायद ही कभी आए—'डासत ही सब निशा बीत गई, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो'।

राष्ट्रपति के आदेश के पालन के संबंध में विदेश मंत्रालय को क्या करना था उसको जानना आपके लिए अधिक प्रासंगिक होगा। आदेश के अंतर्गत जिन अफ़सरों की उम्र 45 से ऊपर होगी उन्हें हिंदी सीखने की आवश्यकता न होगी; 45 से कम उम्र वालों के लिए हिंदी सीखना अनिवार्य होगा, (obligatory) हिंदी उन्हें मुफ़्त सिखाई जायगी; अगर वे सीखने में असमर्थ हों तो उन्हें किसी प्रकार दंडित नहीं किया जायगा। गुलामी में पली क़ौमें बिना दंड-भय के कोई काम करती हैं? भारत सरकार की उदारता का पूरा 'सदुपयोग' किया गया। किसी दर्जे पर यह भी आदेश आया कि नए अफ़सरों की नौकरियाँ तब तक पक्की न की जाएँगी ज़ब तक वे हिंदी की परीक्षा न पास कर लें। विदेश मंत्रालय

में नए लिये गए अफसरों की परीक्षा का काम हिंदी सेक्शन को सौंपा गया। प्रशिक्षित करने का काम शिक्षा मंत्रालय की तरफ़ से किया जाता था—दफ़्तर के समय में से ही समय निकालकर। कुछ अफ़सर परीक्षा में सफल होते थे। कुछ नहीं भी होते थे। पर उनकी नौकरी पक्की कर दी जाती थी। 'ऊपर' से फ़ोनादेश आ जाता था—'उन्हें पास कर दीजिए। ये ऐसी जगह काम करेंगे जहाँ हिंदी जानने की कोई ज़रूरत न होगी।' और ताबेदार बच्चन बाबू को हुक्म-बरदारी करनी पड़ती थी। आप मुझसे मत पूछें कि ये 'ऊपर' वाले कौन थे। आप पूछेंगे भी तो मैं बताऊँगा नहीं; मैं गोपनीयता की शपथ जो लिये बैठा हूँ—दफ़्तरी मामलों में। सरकारी-तंत्र से संबद्ध मेरी मजबूरी समझेंगे। शायद जितना मैंने कह दिया उतना भी मुझे नहीं कहना चाहिए था। पर अब तो क़लम से निकल गया। इस एक बात को छोड़ राष्ट्रपति के आदेश का विदेश मंत्रालय के कार्यों पर कोई असर न पड़ना था। मैं छह वर्ष और विदेश मंत्रालय में रहा। मुझे नहीं याद कि उस अवधि में हिंदी प्रयोग की दिशा में कोई और क़दम उठाने की इच्छा प्रकट की गई या अनुमति दी गई। हाँ, कुछ आलतू-फालतू काम हिंदी सेक्शन के जिम्मे ज़रूर कर दिये जाते थे। एक बहुत बोरिंग, उबाऊ काम के विषय में आगे कभी बताऊंगा।

ग़नीमत थी कि सरकारी तंत्र में एक बड़नामी (glorified) क्लार्क की हैसियत रखने पर भी मेरे कवि की स्वतंत्र सत्ता को यदा-कदा याद कर लिया जाता था। बेल्जियम में हर दूसरे वर्ष एक अंतर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह होता है जिसे 'पोयट्री बाईनियल' कहते हैं—काव्य द्विवार्षिकी। 1959 में होनेवाले समारोह में भाग लेने को कवियों का एक प्रतिनिधि शिष्टमंडल भेजने के लिए भारत सरकार को आमंत्रित किया गया था। भारत सरकार ने जिन चार कवियों को भेजा था उनमें से एक इन पंक्तियों का लेखक भी था। शेष तीन थे श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बंगला), श्री विजय कृष्ण गोकाक (कन्नड़), श्री रविश सिद्दीकी (उर्दू)।

प्रेमेन्द्र मित्र नाटे, साँवले, गठे शरीर के हम सब लोगों से उम्र में बड़े थे, पर यही तीन-चार साल। वे बंगला के प्रख्यात लेखक थे—मुख्य रूप से कवि, पर कहानी-उपन्यासकार भी; उन्हें 1957 में अपनी काव्यकृति 'सागर थेके फेरा' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल चुका था। उस समय तक उनकी 40 पुस्तकें तो निकल चुकी होंगी। लगभग 80 वर्ष की अवस्था में अब भी मौजूद हैं; लिखते कुछ-न-कुछ बराबर रहे हैं, अब आँखें कमज़ोर हो गई हैं। पिछली फ़रवरी में कलकत्ता के डा० चन्द्रदेव सिंह ने मेरे पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित कराया था—'बच्चन के श्रेष्ठ पत्र' के नाम से। वे चाहते थे कि उसका विमोचन मैं करूँ। उसी अवसर पर 'अनामिका' संस्था की ओर से एक कवि सम्मेलन का आयोजन भी कर लिया गया था। समारोह का उद्घाटन प्रेमेन्द्र मित्र करनेवाले थे। कलकत्ता पहुँचने पर मुझे मालूम हुआ कि मित्र जी बीमार हैं और कार्यक्रम के लिए न आ सकेंगे तो मैं स्वयं उनके घर पर उन्हें मिलने गया। उन्हें अस्वस्थ देखकर दुख हुआ, पर मुझें देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। उनका साहित्य तो मैंने न पढ़ा था पर उनके मुँह से उनकी कुछ कविताएँ सुनी थीं। उनकी एक कविता

'तीन ठि गुली'—तीन गोलियाँ—जो महात्मा गांधी की छाती पर लगी थीं, मुझे बहुत मार्मिक लगी। वे तीन गोलियाँ गांधी के सीने पर ही नहीं लगी थीं, वे लगी थीं हमारी संस्कृति पर, हमारी सभ्यता पर, हमारी नैतिकता पर। मैं प्रेमेन्द्र जी को हमेशा 'तीन ठि गुली' के साथ याद करता हूँ।

गोकाक साँवले, लंबे, चौखुंटे चेहरे, चौड़ी नाक, चौड़े मुंह के, उम्र में मुझसे दो साल छोटे थे; अंग्रेज़ी के एम० ए० थे, उनकी शिक्षा बंबई और आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी में हुई थी। अकादमीवी योग्यता तो उनकी अंग्रेज़ी की थी, पर सृजनशील लेखन के लिए मुख्य रूप से उन्होंने अपनी मातृभाषा कन्नड़ को अपनाया था। उनके गीतों के कई संग्रह निकले थे, एक-दो नाटक भी उन्होंने लिखे थे। उनके अंग्रेज़ी गीतों का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ था, 'The Song of Life' ('48). अंग्रेज़ी में उनकी एक आलोचनात्मक कृति भी थी—'Poetic Approach to Language'—उन दिनों वे Central Institute of English, Hyderabad के डाइरेक्टर थे। इधर कई सालों से उनसे नहीं मिला। इंस्टीट्यूट से अवकाश प्राप्त करके कई साहित्यिक-शैक्षणिक संस्थाओं से संबद्ध रहे। आजकल ज्ञानपीठ पुरस्कार समिति के अध्यक्ष हैं, साहित्य अकादमी के भी। बीच में किसी गोकाक ने—शायद वे विजय कृष्ण ही हों—कन्नड़ भाषा कमीशन की अध्यक्षता की थी, जिसकी रिपोर्ट कुछ विवादास्पद मानी गई है। हाल में पत्रों में गोकाक कमीशन की सिफ़ारिशों की आलोचना-प्रत्यालोचना आती रही है।

रविश सिद्दीकी को जब मैं याद करता हूँ, तब नाटे क़द, गठी काठी का एक आदमी शेरवानी, चूड़ीदार पाजामे में मुझे नज़र आता है, जिसका सिर कुछ बड़ा, घने काले बालों का है, और जिसके चेहरे पर जीवन के कई उतार-चढ़ावों के श्रम-चिह्न तो हैं, पर जिसपर उन्हें पारकर समतल भूमि पर आ जाने की ख़ुशी भी है। रविश सिद्दीकी का कुछ समय गुरुकुल में भी बीता था। वे कैसे वहाँ पहुँच गए थे और कैसे वहाँ से निकले, उसके विषय में मैं अधिक नहीं जानता। पर उसका प्रभाव उनके जीवन, उनके स्वभाव, उनके व्यवहार पर स्पष्ट दिखाई देता था। इस्लामी कट्टरता उन्हें छू तक नहीं गई थी, और वे मुसलमानों की अपेक्षा अपने हिंदू मित्रों के बीच अधिक सहज भाव से घुलमिल जाते थे। वे उन दिनों आल इंडिया रेडियो की उर्दू शाखा से किसी रूप में संबद्ध थे। रेडियो कार्यक्रमों के संबंध में वहाँ आते-जाते मेरी मुलाक़ात अक्सर उनसे होती थी और हम कुछ समय निकाल कहीं बैठ शेरो-शायरी की चर्चा भी कर लेते थे। मुझे नहीं मालूम कि उनकी गज़लों-नज़मों का कोई संग्रह प्रकाशित हुआ था या नहीं, पर उनसे सुने बहुत से शेर मुझे आज तक याद हैं। शायद वे पचास के भी न हुए थे कि उनकी मृत्यु हो गई। उनकी कविता के विषयों में विविधता थी, पर मुख्य रूप से वे हुस्नो-इश्क के शायर थे, जो उर्दू शायरी का खास मिज़ाज है—

किसको मालूम है हम हुस्न-शनासाने अज़ल[1],
कितने औहाम[2] से गुज़रे तो यक़ीं तक पहुँचे।

---

1. आदिकाल से सौंदर्य के खोजी
2. संदेहों

हज़ार हुस्न दिल आराए दो जहाँ[1] होता
नसीबे इश्क न होता तो रायगाँ[2] होता।

जीवन-संघर्षों से गुज़रने और फिर भी जीवन-संघर्षों के लिए तैयार रहने के तेवर उनकी शायरी में मुझे खास पसंद थे।

गुज़र चुकी तेरी कश्ती हज़ार तूफ़ाँ से,
हनोज़-हसरते-तूफ़ाँ[3] नहीं तो कुछ भी नहीं।
ज़िंदगी नाम है तूफ़ान-हवादिस[4] का 'रविश',
नंगे-साहिल[5] है वो जिसको कोई तूफ़ाँ न मिला।

तूफ़ान और झंझावात के प्रतीकों से लिखी मेरी कविताएँ भी 'रविश' को बहुत पसंद थीं---

'तुम तूफ़ान समझ पाओगे ?' (निशा निमंत्रण)

'प्रबल झंझावाता, साथी' (निशा निमंत्रण)
उठ पड़ा तूफ़ान, देखो,
मैं नहीं हैरान देखो,
एक झंझावात भीषण मैं हृदय में से चुका हूँ।
मूल्य अब मैं दे चुका हूँ। (निशा निमंत्रण)

रविश की बेटी हुमा सिद्दीक़ी मुरादाबाद में रहती है। सिनेमा देखने की बड़ी शौकीन है। अमिताभ की ज़बरदस्त फ़ैन है। उनकी नई तस्वीरें मंगाने को मुझे अक्सर पत्र लिखती है। कभी मैं उससे पूछना चाहता हूँ, 'बिट्टो रानी, कभी अपने मरहूम वालिद माजिद की कविताएँ भी पढ़ती हो ?'

हम लोग सितंबर '59 के पहले सप्ताह में हवाई जहाज़ से ब्रुसेल्स, बेल्जियम की राजधानी पहुँचे थे, वहाँ होटल में एक दिन-रात रहकर दूसरे दिन ट्रेन से कनाके-लिज़ूते नगर पहुँचे थे, जहाँ के कैसीनो कम्यूनाल हाल में पाँच दिनों तक काव्य-द्विवार्षिकी की बैठकें हुई थीं।

ब्रुसेल्स में हमारे ठहरने का प्रबंध भारतीय राजदूतावास की ओर से किया गया था। वहाँ के एक कर्मचारी ने हमसे पूछा, संध्या के मनोरंजन के लिए आप लोग क्या देखना चाहेंगे—सिनेमा, नाटक या यहाँ का प्रसिद्ध शो—'मौलाँ रूज'। उन्होंने बताया भारत से आनेवाले लोग प्रायः 'मौलाँ रूज' ही देखते हैं—सिनेमा तो भारत में भी देखते हैं, नाटक में भाषा न समझ में आने से उसका पूरा आनंद नहीं लिया जा सकता, 'मौलाँ रूज' में गाना-बजाना, नाचना होता है और होती

1. संसार भर को मोहनेवाला
2. व्यर्थ
3. तूफान से टक्कर लेने का अरमान
4. हादसों का तूफान
5. किनारे का कलंक

है 'स्ट्रिप टीज़' यानी एक सुगठित नवयुवक एक सुंदरी नवयौवना के एक-एक वस्त्र उतारता है और अंत में उसे एकदम नग्न कर देता है। इस प्रदर्शन को बड़ा कलात्मक रूप दिया जाता है संगीत और रंगारंग प्रकाश के साथ ! पचास के आसपास होने पर भी हम सबने मौलाँ रूज देखने की ही इच्छा प्रकट की थी और हमारे लिए टिकट मंगा दिया गया था। 'मौलाँ रूज' के अर्थ हुए 'Red Mill'—'लाल चक्की'—पता नहीं ऐसे प्रदर्शनों को यह नाम क्यों दिया गया। लंदन में ऐसा प्रदर्शन 'Wind Mill' 'हवा चक्की' के नाम से होता है—इसका एक 'शो' देखने का ज़िक्र मैं 'प्रवास की डायरी' में कर चुका हूँ।

ब्रसेल्स के 'मौलाँ रूज' में हमने देखा कि गाने-बजाने-नाचने की कलापूर्ण भूमिकाएँ कृष्णवर्णियों (मैं उनको नीग्रो नहीं कहता; यह अपमानसूचक शब्द हो गया है) द्वारा निभाई गई थीं; यह तो आपको मालूम होगा कि उस समय तक अफ्रीका का कांगो प्रदेश बेल्जियम का उपनिवेश था और कृष्णवर्णी बराबर वहाँ से आकर बेल्जियम के नगरों के मनोरंजन-गृहों में काम करते थे। कृष्णवर्णी गाने-बजाने, खेल-कूद में योरोपियनों और अमरीकनों से बाज़ी मार ले जाते हैं। प्राचीन यूनानी अपनी जाति की महानता का आधार तीन चीज़ों को मानते थे—म्यूज़िक (संगीत), मार्च (सैन्य संचरण) और मैथ्स (गणित) को, यानी स्वर-संयम, शरीर-संयम और मस्तिष्क-संयम को। कृष्णवर्णियों ने स्वर-संयम और शरीर-संयम को सहज साध लिया है; जिस दिन उन्होंने मस्तिष्क-संयम को साधा उस दिन वे संसार की महान और श्रेष्ठ जाति बनकर उभरेंगे।

'मौलाँ रूज' का प्रदर्शन गोकाक के और मेरे लिए नया नहीं था; प्रेमेन्द्र दा गंभीर-प्रकृति हैं, तटस्थ भाव से वह भी देख लिया; हम में सबसे कम-उम्र और किसी कदर दिल-फेंक 'रविश' ने उसपर एक गज़ल लिखी थी। हमें सुनाई भी। ऐसे प्रदशन, यदि वे कलापूर्ण हों, कविताओं के लिए प्ररक बन सकते हैं। मैंने स्वयं जब मास्को के बोलशोई थियेटर में पहले-पहल 'स्वान लेक बैले' देखा था, कविता लिखने के लिए प्रेरित हुआ था।

अंतर्राष्ट्रीय काव्य समारोह की कल्पना सर्वप्रथम श्री आर्थर होलो के मस्तिष्क में आई थी, वही इसके संस्थापक थे। पहला समारोह 1953 में हुआ था; तब से प्रति दूसरे वर्ष यह समारोह होता रहा है। हर बार यह कनाके लिज़ूते में ही हुआ है। इसको यूनेस्को, पी० ई० एन० क्लब, फ्रांस की रायल अकादेमी और बेल्जियम की साहित्य अकादेमी तथा अन्य कई साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की संरक्षता प्राप्त है।

चौथे समारोह में 42 देशों के लगभग 250 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। भाग लेनेवालों में प्रायः योरोपीय देशों के तथा उनके उपनिवेशों के प्रतिनिधि थे। समारोह में सबसे अधिक लोग बेल्जियम के थे। आश्चर्य इस बात का था कि अंतर्राष्ट्रीय कही जानेवाली इस संस्था के समारोह में भाग लेने के लिए इंग्लैंड से कोई कवि नहीं आया था।

समारोह की कार्रवाई की भाषा फ्रासीसी थी, अन्य भाषाओं में जो व्याख्यान आदि होते थे उनके अनुवाद फ्रांसीसी में कर दिए जाते थे। योरोपीय महाद्वीप में प्रायः फ्रांसीसी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ी जाती है, इस कारण गैर-फ्रांसीसी देश के प्रतिनिधि भी प्रायः फ्रेंच में ही बोले। भारतीय प्रतिनिधि मंडल में फ्रांसीसी

जाननेवाला कोई नहीं था; एक महिला दुभाषिया कभी-कभी हमारी सहायता करती थी।

समारोह के अध्यक्ष जां कासू का भाषण 'विज्ञान और कविता' विषय पर था। कविता युग-युग से अज्ञात और रहस्यमय पर पलती रही है। विज्ञान ने बहुत से रहस्यों को खोज लिया है, पर इससे कवियों को घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विज्ञान ने जहाँ बहुत-से रहस्यों को खोला है, वहाँ बहुत-से रहस्यों को जन्म भी दिया है। इन रहस्यों में धंसने का साहस आगे भी वैज्ञानिक से पहले कवि करेंगे। फिर विज्ञान नैतिकता से निरपेक्ष है। कविता नैतिकता से निरपेक्ष नहीं हो सकती। उसे विज्ञान पर नैतिकता का नियंत्रण बनाए रखना है।

समारोह के उपाध्यक्ष पियर लुई फ़्लूके ने भी 'विज्ञान और कविता' को अपने भाषण का विषय बनाया था। उन्होंने कहा, कवि को त्रिकालदर्शी होना चाहिए। उसे गत और अनागत के बीच सेतु बनाना चाहिए। विज्ञान ने आज तरह-तरह की मशीनें बना दी हैं, पर मशीनें सदा मनुष्य पर निर्भर रहेंगी। कविता का काम है कि वह मशीनों के पीछे काम करनेवाले मनुष्य को मानव-हितकारी मनुष्य बनाए रखे। मनुष्य कितनी ही बड़ी और सूक्ष्म मशीनें क्यों न बना ले, वह उन्हें अपना सद्-असद् विवेक का एकाधिकार कभी नहीं सौंपेगा और उसको संयत-शिक्षित-दीक्षित करना कवि का काम है। मशीनों ने जिस भय को जन्म दिया है उससे मानव को मुक्त करने का उत्तरदायित्व कविता को लेना है। कविता मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है और उसका स्थानापन्न अभी तक तो खोजा नहीं जा सका।

इन भाषणों के पश्चात अन्य प्रतिनिधियों ने भी इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रकट किए।

5 सितंबर को 'समाज और कविता' पर भाषण हुए। योरोपीय देशों में कविता समाज से दूर चली जा रही है। कविता लिखनेवाले बहुत हैं, पर पढ़नेवाले कम। पढ़नेवाले प्रायः लिखने-पढ़ने के पेशे से संबद्ध लोग हैं। जहाँ कुछ लोगों का विचार है कि कविता को लोकप्रिय बनाना चाहिए, वहाँ कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि हर समाज में कविता समझनेवाले कम ही लोग होते हैं। जैसे विज्ञान की बारीकियों को कम लोग समझते हैं, पर उसका लाभ अधिक-से अधिक लोगों को पहुँचता है, उसी प्रकार कविता भी कम लोग समझेंगे, पर कुछ ऐसा किया जा सकता है कि उसका प्रभाव व्यापक बनाया जाए। फ्रांस के लुई गियम ने तो यहाँ तक कहा कि कविता एकांत और सूक्ष्म चिंतन का फल है और उसका उपभोग एकांत में ही ठीक तरह से हो सकता है। आज की हलचल के जीवन में जो अपने को एकांत में ध्यानस्थ कर सके, कविता उसकी है। ऐसे लोग अधिक नहीं होंगे। पर उनका भी ऐसा विचार था कि वह कविता भी जिसे कम लोग ही समझते हैं, किसी अनजानी जन-मनोविज्ञानी प्रक्रिया से साधारण जनता तक पहुंच जाती है और उसे प्रभावित करती है। अंत में उन्होंने केसरलिंग के इस कथन को दुहराया था—आज हम जानते तो हर चीज़ को हैं पर समझते किसी चीज़ को नहीं। विज्ञान जानने के काम में संलग्न है, कविता को समझने का काम करना है। उसे वैज्ञानिक के मस्तिष्क के जोड़ की वह शक्ति चाहिए जो उसे चीज़ों को ठीक समझने का सामर्थ्य दे।

पियर बेयार्न ने कहा था कि एटमी युग में एटमी कवि भी चाहिए। समाज को दोनों को समझने, अपनाने के लिए गतिशील होना चाहिए।

उसी दिन 'भारतीय समाज और कविता' के ऊपर मेरा व्याख्यान हुआ। मैंने कहा कि भारत में विज्ञान अभी जीवन के क्षेत्र में इतना व्यापक नहीं हुआ कि काव्य से उसके संघर्ष की बात सोची जा सके। हमारे सुधार और स्वतंत्रता के आंदोलन में कविता ने बराबर सहायता दी है। कविता के संबंध में दो धारणाएं भारत में परंपरा से सुदृढ़ हैं कि कविता आनंद के लिए है, कविता मानव-कल्याण के लिए है। इनके विरुद्ध जो भी शक्तियां खड़ी होंगी भारत का कवि उनका विरोध करेगा। कविता के लिए भारतीय जनता भाव प्रवण है। जैसे जैसे वह अधिकाधिक शिक्षित और संपन्न होगी वह कविता के अधिक निकट आएगी। संसार की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक प्रगति से भी भारत का कवि अनभिज्ञ नहीं है। पर यह मेरी व्यक्तिगत सम्मति है कि कवि को अपने ज्ञान के दंभ में जनता से दूर नहीं चले जाना है। उसे उड़ना ही नहीं, औरों को पंख प्रदान करना भी है। मैं उच्च, रहस्यमय, जटिल, सूक्ष्म को सरल, बोधगम्य, आनंद-दायक बनाने को कवि की साधना का अंग मानता हूँ।

6 तारीख को कवि की स्वतंत्रता के विषय में व्याख्यान हुए। फ्रांस के पियर इमैनुएल ने कविता की शक्ति पर ज़ोर दिया, हिट्लरी पंजे से फ्रांस की मुक्ति में रेसिस्तांस आंदोलन का हिस्सा बताया, और कहा कि कवि को अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठानी चाहिए और उसे ऐसा करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। इस सिलसिले में हंगरी के 62 वर्षीय कवि डेरी टाइबर का नाम विशेष रूप से लिया गया था जो हंगरी के विद्रोह को अपनी मानसिक सहानुभूति देने के कारण 9 वर्ष की सज़ा भुगत रहे थे। पास्तरनाक का नाम भी कई बार लिया गया था। अंत में बहुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ था कि कवि के राजनीतिक विचार कुछ भी हों, उसे उन्हें व्यक्त करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

अपराह्न और रात्रि का समय सिनेमा, कंसर्ट, आर्केस्ट्रा, बैले नृत्य (एक बैले टैगोर की कविता पर था), कविता-पाठ आदि के लिए था। इन्हीं कार्यक्रमों के अंतर्गत एक संध्या को मारिस मेटरलिंक के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई जिसमें भारत की ओर से श्री गोकाक ने श्रद्धांजलि अर्पित की। मारिस मेटरलिंक के 'ब्ल्यू बर्ड' से प्रभावित होकर उन्होंने 'रत्न पक्षी' नाम से एक कविता भी लिखी थी, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी उन्होंने सुनाया।

संध्या के कार्यक्रमों में कुछ ऐसे फ़िल्म दिखाए गए जो आधुनिक कविताओं के रूपकों को समझाने के लिए बनाए गए थे। सिनेमा द्वारा प्रयत्न किया गया था कि किसी कविता में कवि की कल्पना किन किन दृश्यों का ध्यान करते हुए किन रूपकों पर पहुंचती है और उनमें ऐसा क्या होता है कि उनका उपयोग करती है। यह बहुत मनोरंजक था। कुछ वृत्तचित्र कवियों के जीवन पर भी थे।

कुछ देशों के शिष्टमंडलों ने अपने स्टैंड बनाए थे जिस पर उनके देश के कवियों के चित्र और उनकी रचनाएं सजाकर रखी गई थीं। रूसी स्टैंड सबसे अच्छा था। रूसी शिष्टमंडल ने अपने यहाँ की कविता का एक सेट और एक सीपी का सींगनुमा प्याला भी समारोह को समर्पित किया था।

भारत के कवियों से विभिन्न देशों के कवियों ने परिचय प्राप्त किया और

यहाँ की काव्य संबंधी समस्याओं के बारे में पूछताछ की। भाषा की कठिनता के कारण आदान प्रदान में असुविधा का अनुभव हम बराबर करते रहे।

समारोह के अधिकारी इस बात से बहुत प्रसन्न थे कि भारत के कवि इसमें भाग लेने आए। समारोह में शिष्टमंडल का परिचय कराया गया और उस का भव्य स्वागत हुआ।

समारोह समाप्त होने पर हम ब्रुसेल्स लौटे। मेरे तीनों साथी प्रेमेन्द्र, गोकाक और रविश भारत लौट गए। भारत से चलते समय ही मैंने ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि समारोह के बाद मैं दो सप्ताह योरोप में ठहर सकूँ। ईट्स पर अपने शोध के संबंध में जब मैं इंग्लैंड गया था, तब भी मेरा इरादा था कि लौटते समय योरोप भ्रमण करते हुए भारत लौटूँगा। कहीं पढ़ा था कि एलिज़ाबेथी युग में विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि जब तक कोई योरोप का भ्रमण न कर ले तब तक उसकी शिक्षा परिपूर्ण न समझी जानी चाहिए, जैसे अपने यहाँ धारणा थी कि जब तक कोई चारों धामों की यात्रा न कर ले तब तक वह मोक्षाधिकारी नहीं होता—पुरी, रामेश्वरम्, द्वारिका, बदरीनाथ की। यह बात कहीं दिमाग़ में अटकी थी। इंग्लैंड के विश्व-विश्रुत विश्वविद्यालय से शोध कार्य पर डाक्टरेट लेकर मैंने अपनी शिक्षा की कमी कुछ पूरी की है, क्यों न योरोप भ्रमण कर रही-सही कमी भी पूरी कर लूँ और कम से कम एलिज़ाबेथी अर्थ में अपने को 'परिपूर्ण' शिक्षित समझूँ। पर अंत में पैसों की ऐसी कमी हुई कि एक मित्र से उधार लेकर भारत आने तक का टिकट खरीद सका। अब सोचा, योरोप आने का मौक़ा मिला है तो क्यों न लगे हाथ पेरिस और रोम देखता चलूँ। पता लगा लिया था कि लौटानी हवाई टिकट पर दोनों नगरों में चार छह दिन रुकने पर अतिरिक्त किराया नहीं देना होगा। पेरिस और रोम दोनों जगह भारतीय राजदूतावास में काम करनेवाले कुछ ऐसे लोग थे जो पहले विदेश मंत्रालय, दिल्ली में काम कर चुके थे और जिनसे मेरा थोड़ा बहुत परिचय था, और जो मुझे दो चार रोज़ के लिए अपने पास ठहरा सकते थे।

ब्रुसेल्स से मैं पेरिस के लिए रवाना होऊँ, उसके पूर्व ऐम्सटरडैम से हालैंड में भारत के राजदूत का फ़ोन आ गया। वे चाहते थे कि मैं दो दिन के लिए ऐम्सटरडैम आऊँ और हालैंड भी देखूँ। उनका निमंत्रण इतना आग्रहपूर्ण था कि मैं इन्कार न कर सका। वे स्वयं अपनी बड़ी सी कार से ब्रुसेल्स आए और मुझे ऐम्सटरडैम लिवा ले गए। राजदूत महोदय साँवले, कद्दावर, भारी शरीर के पंजाबी सज्जन थे। उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय न था। बीस बरस पहले, जब शायद वे विद्यार्थी होंगे, उन्होंने लाहौर की लिटरेरी लीग में मेरा काव्य पाठ सुना था, और मुझे न भूल सके थे। बीच में मेरी कुछ कृतियाँ भी देखी थीं। उनका नाम मुझे नहीं याद आ रहा है।

हालैंड नाम मेरे लिए पूर्व परिचित था। इलाहाबाद युनिवर्सिटी से लगा एक होस्टल है हालैंड हाल, जहाँ शोध छात्र के रूप में मैं कुछ दिन रहा था। शायद वह हालैंड के मिशनरियों द्वारा स्थापित किया गया था। अब उन मिशनरियों के मूल देश में था। हालैंड, जिसे नीदरलैंड भी कहते हैं, उत्तरी योरोप का छोटा सा देश है, जिसके पूर्व में जर्मनी है, दक्षिण में बेल्जियम, उत्तर-पश्चिम में उत्तरी सागर, लगभग दो सौ मील लंबा, डेढ़ सौ मील चौड़ा, उसका प्रायः

आधा भाग समुद्री सतह से नीचा है जिसे रहने योग्य बनाने के लिए तटों पर लंबे-चौड़े मज़बूत बाँध बाँधे गए हैं। ये बाँध हालैंड वासियों की सुरक्षा के साधन भी हैं। जहाँ किसी विदेशी ने उनके देश पर कब्ज़ा किया वे बाँधों को तोड़ देते हैं और दुश्मन का बेड़ा ग़र्क हो जाता है। उनके कई नगर कस्बों के नाम 'डैम'—बाँध से जुड़े हैं जैसे ऐम्सटरडैम, राटरडैम आदि। देश में तीन नदियाँ हैं, बहुत सी नहरें हैं जिनसे सिंचाई भी होती है और जो नावों से यातायात के मार्ग भी हैं।

हालैंड निवासियों को डच कहते हैं। डच शायद 'ड्यूच' या 'ड्यूश' मे संबद्ध है, जिसके अर्थ हैं जर्मन; जर्मन अपने देश को 'ड्यूशलैंड' कहते हैं। डच जर्मन जाति की एक शाखा हो सकती है, पर डचों ने जर्मनों से अलग अपनी चारित्रिक विशिष्टता अर्जित कर ली है। अंग्रेज़ी में 'डच' कोई सम्मानसूचक शब्द नहीं है। I am Dutch के अर्थ हैं—मैं अपने में नहीं हूँ, शराब पीनेवाले ज्यादा नशा चढ़ने पर ऐसा कहते हैं—'ओथेलो' में इयागो एक महफ़िले जाम में कहता है कि हालैंड वाला तो बस थोड़ी सी पी नहीं कि क़ै करने लगता है...'डच' स्वार्थी और कंजूस का भी सूचक है। Let us go Dutch के अर्थ हैं—हम साथ रहेंगे पर सब अपना-अपना खर्च करेंगे, कोई किसी पर नहीं। Flying Dutch उसे कहते हैं जो दर-ब-दर मारा फिरे। मालूम होता है डचों का अतीत में कोई अपना देश नहीं था, वे योरोप के समुद्री तटों पर नावों में घूमते फिरते थे, इसी से तो शायद समुद्र तट से निचले भाग में जहाँ कोई नहीं बस सकता था, उसको उन्होंने अपनी बस्ती बनाई—समुद्र तटों पर बाँध बनाकर। प्रकृति पर उनकी यह विजय उनके चरित्र का कुछ संकेत तो देती है। कुल मिलाकर शायद डच लोगों को स्वतंत्रताप्रिय, आत्मकेन्द्रित और संघर्षशील कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगीकरण के पहले हालैंड कृषिप्रधान देश होगा—लोग खेती करते थे, पशु पालते थे, विशेषकर गौ। विंड मिल्स—आटा पीसने की चक्कियाँ गाँवों में आज भी चलती हैं। गौ-पालन और दुग्ध-उत्पादन हालैंड का अपना विशिष्ट व्यवसाय है। वे अपनी डेरियाँ वैज्ञानिक रीति से चलाते हैं। सैकड़ों गाएं अविश्वसनीय सफ़ाई के साथ पलती हैं। किसी होटल में आप खाने का आर्डर दें तो बेयरा आपकी टेबिल पर पहले एक बोतल दूध रख जाएगा जैसे अपने यहाँ पानी रखा जाता है। बताया गया औसतन एक-एक गाय प्रति दिन आधा-आधा मन दूध देती है। गाएं देखिए—मोटी ताजी स्वस्थ। गायों के विशिष्ट डाक्टर होते हैं जो समय समय पर उनकी परीक्षा और आवश्यक हुआ तो उनका उपचार करते रहते हैं। वहाँ की गायों को देखकर मैं कहता था, गोपाल कृष्ण अगर फिर कभी संसार में अवतार लेंगे तो हालैंड में। साथ यह भी जान लेना चाहिए भावुकता इसमें कहीं नहीं, सब कुछ व्यावहारिक; यही गाएँ, जिनकी इतनी देख रेख होती है, जब दूध नहीं दे सकतीं, बूचड़खाने भेज दी जाती हैं और उनका माँस बाज़ारों में बिकता है।

दूध से चीज़-पनीर बनाने में डच दुनिया में सबसे माहिर है। कितनी चीज़ बनती है, कितने तरह की यह बताना मेरे लिए संभव नहीं। योरोप का कोई नगर-बाज़ार आपको ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ हालैंड की चीज़ न पहुंचती हो, न बिकती हो। इस उद्योग से हालैंड कितना धन कमाता होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

हालैंड से जो दूसरी चीज़ बहुत बड़े पैमाने पर निर्यात की जाती है वह है ट्यूलिप के फूल। मीलों लंबे खेतों में ट्यूलिप उगाए जाते हैं। दुर्भाग्यवश मैं जब हालैंड में पहुंचा था तब बल्बों के जमीन में लगाए जाने का समय था। फूल तीन महीने बाद आने वाले थे। ट्यूलिप के खेतों की कुछ तस्वीरें मैंने देखी हैं। अमित जी की एकाधिक फिल्मों की शूटिंग ट्यूलिप के रँगारंग खेतों में की गई है। विश्वास नहीं होता कि धरती पर तरह तरह के रँगों की इतनी लंबी चौड़ी चादरें बिछाई जा सकती हैं। ट्यूलिप की कोई डेढ़ सौ किस्में होती हैं। बड़े दूरदर्शी होंगे जिन्होंने इस फूल की आर्थिक महत्ता समझी होगी। कहते हैं 16वीं शताब्दी में यह फूल तुर्की कुस्तुनतुनिया से उत्तर योरोप पहुँचा था। 17वीं शताब्दी तक इस फूल के बल्बों की इतनी क़ीमत बढ़ गई थी कि कुछ पूछिए मत। फ्रांस में इस फूल का एक बल्ब कन्या की शादी का पर्याप्त दहेज़ समझा जाता था। लोग अपने घर, ज़मीन, कारखाने गिरवी रखकर इस फूल के बल्ब खरीदते थे। फूल निकलते भी न थे कि वे कई हाथों बेचे, ख़रीदे जा चुकते थे। आज ट्यूलिप के सबसे अधिक, सबसे अधिक किस्मों के उत्पादक हालैंडवासी हैं और यातायात के साधनों के विकसित होने के कारण वे सारे योरोप के देशों को ट्यूलिप निर्यात करते हैं, शायद अमरीका को भी।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के वैज्ञानिक अनुसंधानों और उनके तकनीकी उपयोगों से व्यावसायिक लाभ कमाने की कला हालडवासियों ने ख़ूब सीखी है। खनिज पदार्थों में वे अधिक धनी नहीं हैं। उन्होंने ऐसी चीज़ें तैयार कीं जिनमें माल कम से कम लगे, पर दाम उनका अधिक से अधिक वसूल किया जा सके। अपने सीमित साधनों में असीम धन कमाने का यह गुर उन्होंने शायद स्विस लोगों से सीखा, जो घड़ियाँ बनाते हैं; मेटीरियल उनमें कितना लगता है, पर दाम उनका कितना लिया जाता है ! दाम वास्तव में सूक्ष्म तकनीक का होता है। हालैंड वालों ने रेडियो सेट, साउंड रेकार्डर, जिसे अब टेप रेकार्डर कहते हैं, और बिजली से चलनेवाले तरह तरह के सामान बनाए। किसी समय बिजली का सामान निर्यात करनेवाले देशों में वे सबसे आगे थे। उनकी बनी चीज़ें सबसे अच्छी और टिकाऊ मानी जाती थीं। हालैंड की फिलिप्स कंपनी के बने बल्ब योरोप और एशिया के सभी देशों में, जहाँ बिजली थी, प्रयुक्त होते थे। अब तो प्रतियोगिता में अन्य देश भी आ गए हैं, भारत में ही बहुत सी बिजली की चीजें बनने लगी हैं, पर फिलिप्स कंपनी की बनी चीज़ों की साख अब भी बनी है, तुलना में किसी भी देश के बिजली के सामान से उनके सामान बीस ही ठहरेंगे, उन्नीस नहीं। मुझे याद है मैं फिलिप्स कंपनी का कारखाना देखने गया था, विशेषकर मैं देखना चाहता था वह यूनिट जहाँ साउंड रेकार्डर बनते थे। अपने काव्य पाठ को रेकार्ड करने के लिए मैं एक साउंड रेकार्डर वहाँ से लाना चाहता था। डालर हमारे पास कहाँ ! दूतावास के एक कर्मचारी ने सहायता की—यहाँ आप हमसे ले लें, भारत में हमारे परिवार वालों को रुपयों में अदा कर दें। शायद मैंने 500 रु. के बराबर के डालर लेकर एक फ़िलिप्स का साउंड रेकार्डर ख़रीदा था। काम यह एक तरह से ग़लत है, पर लोग करते हैं, और मैंने भी किया था।

अधिक समय मेरा ऐम्सटरडैम नगर देखने में ही बीता था, पर इस वक़्त

केवल उसका एरोड्रोम देखने की याद मुझे बनी है। अपनी स्थिति का पूरा लाभ इस नगर को मिला है। बताया गया था कि जितने हवाई जहाज़ ऐम्सटरडैम में उतरते और वहाँ से रवाना होते हैं उतने दुनिया के किसी और एरोड्रोम से नहीं। कुछ देर वहां ठहरकर यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता था। इसी प्रकार अपनी स्थिति का पूरा लाभ राटरडैम को भी मिला है, जो दुनिया का सबसे व्यस्त बंदरगाह माना जाता है। यहाँ माल के जितने जहाज़ लंगर डालते हैं उतने दुनिया के किसी और बंदरगाह पर नहीं। अमरीका, इंग्लैंड, पश्चिमी योरोप के देश योरोप के मध्यवर्ती और पूर्वी देशों में अपना माल भेजने के लिए राटरडैम को जितना सुविधाजनक पाते हैं उतना किसी और बंदरगाह को नहीं। इसी प्रकार योरोप के देश इंग्लैंड और अमरीका को अपना माल भेजने के लिए राटरडैम को सबसे अधिक उपयुक्त पाते हैं।

ऐम्सटरडैम में मुझे प्रत्याशा से अधिक भारतीय चेहरे दिखाई पड़े। ये लोग सुरीनाम से आकर हालैंड के प्रमुख नगरों में बसना चाहते थे। 18वीं सदी में भारत से व्यापार करने के लिए जैसे ब्रिटिश, फ्रेंच, पोर्चुगीज़ ईस्ट इंडिया कंपनियाँ बनी थीं, वैसे ही डच ईस्ट इंडिया भी बनी थी। अपने से सशक्त योरोपियन देशों की प्रतियोगिता में डच भारत में अपना पैर तो न जमा सके थे, पर यहाँ से—मुख्यतः बिहार से—बहुत बड़ी संख्या में मज़दूर वे अपने अन्य उपनिवेशों में काम कराने के लिए ले गए थे, सुरीनाम जिनमें खास था। 1954 में जब हालैंड ने सुरीनाम को आज़ाद किया तो वहाँ के वासियों को—यदि वे चाहें तो—हालैंड के नागरिक होकर रहने का अधिकार भी दिया। इसका लाभ उठाकर बहुत से भारत-मूलक लोग हालैंड चले आए, और वहाँ बस गए। अब तो उनमें कई अमिताभ जी के उग्र प्रेमी और उत्कट फैन हैं। जब अमिताभ वहाँ जाते हैं वे उनकी बड़ी खातिरतवाज़ो करते हैं और उनकी हर सुविधा का ध्यान रखते हैं। कई तो प्रति वर्ष उनसे मिलने को बंबई पधारते हैं। पिछली बार जब अमिताभ हालैंड गए तब मेरे मित्र श्री महाराजकृष्ण रसगोत्र, जिनका ज़िक्र मैं 'बसेरे से दूर' में कर चुका हूँ, वहाँ राजदूत थे और उन्होंने उनका बड़ा आत्मीयतापूर्ण स्वागत-सत्कार किया था।

मुझे हालैंड का एक ठेठ गाँव भी दिखाया गया था। वहाँ लोग अब भी अपनी पुरानी वेशभूषा में रहते हैं। मर्द एक तरह की काली कुर्ती और काला ही सलवारनुमा ढीला पाजामा पहनते हैं, सिर पर किश्तीनुमा काली टोपी। कानों में सोने की बालियाँ, गले में मोतियों की दुलरिया या तिलरियाँ और हाथों में चाँदी के कड़े, जैसे अपने यहाँ सिक्ख धारण करते हैं। गाँव में एक विंड मिल ज़रूर होती है। पनीर घर-घर बनता है। अतिथि सत्कार की भावना में वे भारतीय ग्रामीणों से मिलते जुलते हैं। ताज़े पनीर से मेहमान-नवाजी का आम चलन है।

एक शाम मेरा काव्य पाठ राजदूत महोदय के निवास पर हुआ था, जिसमें दूतावास के सभी कर्मचारी आमंत्रित थे। काव्य पाठ रेकार्ड भी किया गया था, पता नहीं अब वह रेकार्ड कहाँ, किसके पास है।

तीसरे दिन मुझे कार से ब्रुसेल्स पहुँचा दिया गया था, जहाँ से हवाई जहाज़ से मैं पेरिस आया। सात वर्ष पहले बंबई से लंदन जाते हुए हमारा जहाज़ कुछ

देर के लिए पेरिस रुका था, पर तब से पेरिस का हवाई अड्डा इतना विकसित, इतना परिवर्तित हो गया था कि उसे पहचानना मुश्किल था। उस समय की एकमात्र पहचान, जो अब भी थी, वह थी फ्राँस की शराब और इत्रों के नमूने प्रदर्शित करनेवाली जगह-जगह शीशे की आलमारियाँ !

पेरिस में मैं श्री कात्यायनी शंकर वाजपेयी के साथ ठहरा जो उस समय भारतीय दूतावास में प्रथम सचिव के पद पर काम कर रहे थे। दिल्ली से चलते समय मैं फ्राँस के राजदूत के नाम इंदु जी का एक पत्र लाया था। जब दूसरे दिन मैं उनसे मिला और मैंने वह पत्र दिया तो वे बोले, 'आप मेरे साथ आकर ठहरिए', पर मैंने कहा 'वाजपेयी जी मेरे मित्र हैं, उन्हीं के साथ ठहरा हूँ, बहुत आराम से हूँ, आपको बहुत धन्यवाद, पेरिस देखने की थोड़ी बहुत सुविधा दिला सकें, यही आपकी बड़ी कृपा होगी।' और मुझे मानना चाहिए मेरी प्रत्याशा से अधिक उन्होंने दूतावास की ओर से मुझे सुविधाएँ दिलाईं। कहीं भी मैं पेरिस से दूर या बाहर गया दूतावास की कार मुझे मिल गई—यों तो वाजपेयी जी ही अक्सर मेरे साथ होते और अपनी गाड़ी में मुझे ले जाते।

पेरिस फ्राँस की राजधानी है, इतना तो हर स्कूल का विद्यार्थी जानता है। पर, पेरिस फ्राँस के लिए उससे कहीं अधिक है। पेरिस फ्राँस का हृदय है। इतना ही नहीं, पेरिस संक्षिप्त फ्राँस है। फ्राँस का नक्शा बहुत दिनों से मेरी आँखों के सामने है, पर पेरिस के अलावा किसी और नगर का नाम भी मेरी स्मृति में नहीं अटका। सच्चाई तो यह है कि फ्राँस के किसी और नगर ने किसी बात में इतनी महत्ता नहीं अर्जित की कि वह पेरिस का आधा तीहा तो दूर, दशांश भी माना जाए। फ्राँस में जो कुछ भी महत्वपूर्ण हुआ या किया गया है वह पेरिस में, या फिर वह किसी न किसी रूप में पेरिस से जुड़कर या उससे संदर्भित होकर। मैं कहता हूँ पेरिस में कोई मैगनेट है—चुम्बक शक्ति—जो फ्राँस की सारी प्रतिभा, सारी विद्या, सारी सक्रियता को अपनी ओर खींचती रहती है। आपने महाभारत के बारे में पुराने संस्कृत विद्वानों का एक कथन सुना होगा 'यन्न भारते तन्न भारते' अर्थात् जो महाभारत में नहीं वह भारतवर्ष में नहीं। उसी के जोड़ पर मैं एक दूसरी बात कहता हूँ 'यन्न पेरिसे तन्न फ्राँसे', जो पेरिस में नहीं वह फ्राँस में नहीं। राजधानी तो लंदन भी इंग्लैंड की है, पर आप यह नहीं कह सकते कि जो लंदन में नहीं वह इंग्लैंड में नहीं; आक्सफर्ड केम्ब्रिज कहाँ जाएँगे ? या मास्को रूस की राजधानी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जो मास्को में नहीं वह रूस में नहीं, लेनिनग्राद फिर कहाँ जाएगा ? क्या आप कह सकते हैं कि जो दिल्ली में नहीं वह भारत में नहीं ? लोग हँसेंगे आप पर। पर आप निःसंकोच घोषित कर सकते हैं कि जो पेरिस में नहीं वह फ्राँस में नहीं। और पेरिस फ्राँस के इतिहास से कब से जुड़ा है, इसे भी जान लेना चाहिए; शायद यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगी कि पेरिस का इतिहास ही संक्षेप में फ्राँस का इतिहास है।

प्राचीन यूनान के एथेन्स-स्पार्टा और रोम को छोड़ पेरिस योरोप का सबसे प्राचीन नगर है। पर एथेन्स और स्पार्टा इतिहास के दौरान लंबे-लंबे समय तक अविज्ञात रहे हैं; आज भी उनकी क्या महत्ता है ? पेरिस से अगर कोई टक्कर लेता है तो रोम; और रोम भी रेनेसाँ—पुनर्जागरण—के समय अपनी प्रतिभा को चोटी छूकर क्या नीचे ही नीचे नहीं खिसकता रहा है और अगर कभी उठा है

तो रिनेसाँ की छाया भी नहीं छू सका।

शायद आप को मालूम हो, या याद हो कि 1951 में फ्रांस ने ल्यूटेशिया (Leutetia) की 2000वीं जयंती मनाई—और यह ल्यूटेशिया ही पेरिस का पुराना नाम है। पेरिस नाम शायद इसलिए पड़ा कि आदि काल में गाल जाति के एक कबीले ने, जिसका नाम पेरिसी या पेरिसाई था, इस पर शासन किया था। चौथी शताब्दी के प्रारंभ से ही ल्यूटेशिया पेरिस के नाम से जाना जाता रहा है। और तब से आज तक निरंतर यह फ्रांस के इतिहास में अपनी पहचान बताता रहा है। पेरिस की विशेष उन्नति तबसे हुई जब से ईसाइयत यहाँ पहुँची। पेरिस की—निश्चय ही फ्रांस भर की भी—सब से पुरानी और सब से महत्त्वपूर्ण इमारत नाटरडैम का कैथीड्रल है जो गार्थिक कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है और जो 12वीं सदी में बनकर तैयार हो गया था। इतनी उत्कृष्ट कला के विकास में कितनी सदियाँ लगी होंगी इसका कुछ अनुमान कैथीड्रल देखकर ही किया जा सकता है। इसके मानी यह हैं कि चौथी या पाँचवीं शताब्दी से ही पेरिस उन्नति के क्रम में अपनी स्थापत्य कला अथवा वास्तुशिल्प का विकास करता रहा है। नाटरडैम का प्रथम परिचय मुझे 'हंचबैक आफ नाटरडैम' उपन्यास से मिला था, जिस पर एक बहुत सुंदर फिलम भी बनाई जा चुकी है, जिसमें हंचबैक की भूमिका प्रख्यात अभिनेता चार्ल्स लाटन ने निभाई थी। मैं सबसे पहले पेरिस की यही इमारत देखने गया। कैथीड्रल सीन नदी की दो धाराओं के बीच एक द्वीप पर स्थित है। बाहर और भीतर उसके लिए एक ही शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है, 'भव्य'! —सामने दो ऊँचे चौकोर टावरों के बीच के सिंहद्वारों पर कितने ही ईसाई संतों की मूर्तियाँ खचित हैं। एक मूर्ति ने मेरा विशेष ध्यान आकर्षित किया। एक पादरी खड़ा है, अपने हाथों में अपना कटा हुआ सिर लिए हुए है। कबीर याद आए—

> सीस काटि भुइँ पर धरै तापर धारै पाँव।
> दास कबीरा यों कहै ऐसा होऊ तो आव।

शायद सिर अहं का प्रतीक है। जब मनुष्य अपने अहं को मिटाता है तभी वह भगवान को पाता है। कभी कभी दुनिया के बड़े बड़े धर्मों की आधारभूत एकता मुझे चकित कर देती है।

कैथीड्रल के भीतर की मुख्य वेदी पर क्रास के समक्ष मोमबत्तियों की कतारें जलती रहती हैं—मंदिर की आरती और उसमें क्या अंतर है?

आइए अब 12वीं सदी की पत्थर की इस बुलंद धार्मिक इमारत के बाद 19वीं सदी की लोहे की अ-धार्मिक अति-बुलंद इमारत देखें—आइफ़ेल टावर—इस टावर को यह नाम उसकी रूपरेखा तैयार करने वाले इंजीनियर अलेक्जांडर गुसटाव आइफेल (1832-1923) के नाम पर दिया गया है। यह 1889 में पेरिस प्रदर्शनी के अवसर पर खड़ा किया गया था। इसकी ऊंचाई हजार फीट से अधिक ही है, इसके सामने कुतुबमीनार बच्चा लगेगी। तस्वीर उसकी आपने देखी होगी। बीच के इंद्रधनुषी मेहराब के नीचे से चौड़ी सड़क जाती है जिसपर ऊँची से ऊँची बसें बिना मेहराब को छुए आ-जा सकती हैं। उन्नीसवीं सदी के विज्ञान और लौह वास्तु शिल्प का यह मूर्त चमत्कार है। ऊपर तक जाने के लिए लिफ़्ट

है, जहाँ एक रेस्टराँ भी है। ऊपर पहुँच कर नीचे पेरिस नगर गुड़ियों के घरों का एक विशाल समूह सा जान पड़ता है। ऊपर पहुँचकर मुझे प्रेमचंद की एक बात याद आई। एक बार प्रेमचंद दिल्ली आए और जैनेन्द्र जी उन्हें कुतुबमीनार दिखाने ले गए। जैनेन्द्र जी नवयुवक थे, प्रेमचंद जी उमर में उनसे काफ़ी बड़े। जैनेन्द्र जी ने कहा, आइए सीढ़ियों से ऊपर तक चलें। प्रेमचंद जी ने कहा, हम सीढ़ियों से ऊपर पहुँच गए तो हम ऊपर हो जायँगे और मीनार नीचे हो जाएगी। किसी ऊँची चीज को नीची करना इंसानियत नहीं है। प्रेमचंद जी नीचे से ही कुतुबमीनार देखते रहे।

आइफेल टावर लोहे का बना है—बहुत मज़बूत—लगभग सौ वर्ष हिम, वर्षा, शीत, ताप, झंझावात सहता यह खड़ा रहा है। पर कबीर के कथनानुसार—

'पहरौ काल सकल जग ऊपर'

संसारी सब चीज़ों पर काल का पहरा है। सबकी एक निश्चित आयु है। सबके गिरने टूटने का एक निश्चित समय है। और बड़े-बड़े इंजीनियरों का कहना है कि आइफ़ेल टावर अब अपनी उम्र भोग चुका है। अब उसे गिरा देना चाहिए, अन्यथा जर्जर होकर कभी वह अपने आप गिरेगा और उससे कभी बड़ी दुखद त्रासदी घटित हो सकती है।

मैंने पत्रों में पढ़ा है कि आइफ़ेल टावर जब तोड़ा जाएगा, तब उसके लोहे के टुकड़े लोग स्मृति-चिह्न की तरह रखना चाहेंगे। लोहे के टुकड़ों की फैंसी प्राइस से, अनुमान लगाया गया है, जो धन आएगा वह उसके बनाने के ख़र्च से कई गुना होगा।

अगर आपने मेरा 'बंगाल का काल' पढ़ा होगा तो वरसाई (Versailles) के नाम से अपरिचित न होंगे। 1943 में बंगाल में अकाल पड़ने पर, जिसे Man-made famine कहा गया था, जब मैंने पत्रों में पढ़ा कि हज़ारों लोग कलकत्ता की सड़क-गलियों में कृमि-कीटों की तरह मर रहे हैं और आक्रोश की, विरोध की, क्रांति की एक उंगली भी नहीं उठ रही है तब मैंने याद किया कि डेढ़-सौ बरस पहले पेरिस में जब रोटी का अभाव अनुभव किया गया था तब कैसे वहाँ की जनता दल-बल के साथ फ्राँस के राजा को राजप्रसाद —शातू-दि-विरसाई— पर टूट पड़ी थी और राजा, रानी और राजकुमार को बंदी बना पेरिस लाई थी—नारा लगाते हुए—

'अब निराश मत हो, हे मित्रो
रोटी की अब कमी न होगी,
देखो आज पकड़कर हम सब
बावर्ची, बावर्चिन लाए,
बावर्ची का बेटा
हमें बना अब देंगे रोटी
और भरेंगे पेटा'...

एक दिन मैं शातू-दि-वरसाई देखने गया। कभी-कभी कल्पना जो चित्र

खींचती है वह सत्य से कितना मिलता-जुलता है ! —निश्चय 'बंगाल का काल' में वरसाई को जैसा मैंने कल्पित किया था वह कार्लाइल के फ्रेंच रेवोल्यूशन पर आधारित था। वरसाई को जैसा मैंने देखा, उसका वर्णन करना चाहूँ तो आज भी मुझे अपनी कविता की पंक्तियों का ही सहारा लेना होगा—

ग्यारह मील दूर पेरिस से—
एक मनोहर वनस्थली में
वरसाई गर्विता बसी थी,
ऋद्धि-सिद्धि संपत्ति विभव से,
वभव से सब भाँति लसी थी;
गुंबद, कलश, धरहरे वाले
नभचुंबी प्रासाद खड़े थे,
जिनके चारों ओर सुशोभित
हरे, घने, उद्यान बड़े थे।
झलक रहा था जहाँ-तहाँ पर
झीलों का नीलम-सा-पानी,
करते थे संगीत मनोरम
जिधर-तिधर झरने सैलानी;
शीतल-मंद, सुगंधित सारी
चिंताओं को हरनेवाला
पवन सदा उसपर बहता था—

शातू-दि-वरसाई अब टूरिस्टों के लिए बड़ा आकर्षण-केन्द्र है। शातू के चारों ओर के उद्यानों, शातू की इमारतों, उसके कमरों, सभागारों, गैलरियों, ज़ीनों, शातू के शाही चर्च—सबको पुरानी साज-सज्जा के साथ बरक़रार रखने का प्रयत्न किया गया है—झाड़-फ़ानूस, परदों, फ़रनीचरों के साथ। शातू के एक बड़े भाग को अजायबघर का रूप दे दिया गया है, जहाँ फ्रांस के इतिहास से संबद्ध ऐसा अनुमान किया जाता है, 8000 से ऊपर चित्र और मूर्तियाँ हैं—कला-कारीगरी के उत्कृष्ट नमूनों के अतिरिक्त। फ्रांस के एक राजा ने ठीक ही इसे Glory of France (फ्रांस की विभूति) के नाम से अभिहित किया था। बहुत बड़ी संख्या में टूरिस्ट प्रति दिन शातू को देखने जाते हैं। टिकट लगता है। शातू के बनने में बड़ा धन व्यय हुआ था। बहुत बड़ा भाग संगमरमर, ग्रेनाइट और उस पर विविध-रंगी पत्थरों की पच्चीकारी से बना है। पर सालहा-साल टिकटों की बिक्री से जो आमदनी होती रही है उंससे उस पर आए खर्च से कहीं अधिक कमाया जा चुका होगा।

फ्रांसीसी क्रांति की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ वरसाई से जुड़ी हैं—जिसने राज-सत्ता के ऊपर प्रजा-सत्ता की मुहर लगाई और संसार को मानवाधिकार का प्रख्यात नारा दिया---Liberty, Equality, Fraternity (स्वतन्त्रता, समा-नता, सौहार्द) जो, जहाँ भी जन आंदोलन होता है आज भी उठाया जाता है। अंतिम ऐतिहासिक घटना जिससे वरसाई जुड़ी है वह है प्रथम विश्व युद्ध के

पश्चात मित्र राष्ट्रों और जर्मनी के बीच की संधि जो यहीं हस्ताक्षरित हुई थी।

फ्रांस की भूमि पर नेपोलियन की याद न आना असंभव है। फ्रांसीसी क्रांति के अन्त में वह जनोल्लास का प्रतीक बनकर सशक्त नीहार के समान उठा और समग्र योरोप पर छा गया। कहते हैं संसार के पुस्तकालयों में नेपोलियन पर जितनी किताबें हैं उतनी किसी भी एक व्यक्ति पर नहीं। बीसवीं सदी के मध्य तक उस पर दो लाख किताबें लिखी जा चुकी थीं। मैं नेपोलियन की समाधि देखने गया था। उसे फ्रांसीसी Hotel de Invalides कहते हैं। समाधि गांभीर्य और गरिमा की प्रतीक है। एक विशाल गुंबद के नीचे लाल पत्थर की कब्र निम्न स्तर पर है, दर्शक-दीर्घा उच्च स्तर पर। स्वाभाविक ही दर्शक का सिर समाधि का दर्शन करते समय झुक जाता है। शायद इसी को ध्यान में रखकर समाधि का नक़्शा बनाया गया था। समाधि के चारों ओर की गोलाकार दीवार पर बड़े-बड़े अक्षरों में फ्रेंच में कुछ वाक्य लिखे हैं—शायद नेपोलियन के प्रसिद्ध कथन हैं। उसी रात को नेपोलियन की समाधि के सामने सों-ए-लुमेयर (ध्वनि-प्रकाश) का कर्यक्रम भी देखा था। ध्वनि और प्रकाश के द्वारा उस दिन का पेरिस का वातावरण प्रस्तुत किया गया था जिस दिन नेपोलियन का शव सेंट हेलेना से लाया गया था। किसी को विश्वास नहीं होता था कि नेपोलियन शव के रूप में पेरिस आ रहा है, जनता की दबी-दबी कल्पना थी कि पेरिस की भूमि पर आते ही वह शव-पेटिका से निकलकर 'वीव ला फ्रांस' (फ्रांस राष्ट्र ज़िंदाबाद) का नारा लगाएगा।

एक पूरा दिन मैंने लूव्र देखने में लगाया। लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम और लेनिनग्राद के हरमिताज के समान पेरिस का लूव्र संसार के सबसे बड़े संग्रहालयों में है। एक दिन में कितना देखा होगा, जबकि लूव्र को देखने के लिए शायद एक महीने का समय भी कम हो। संग्रहालय जिस इमारत में है पहले वह राज-प्रासाद था; लुई चतुर्दश ने जब वरसाई के भव्य शातू को राजनिवास बनाया तब उसे संग्रहालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। राजभवन में संजोई कलाकृतियों से उसकी शुरुआत हुई थी और आज कई मंज़िलों के कोड़ियों कमरों में उसका विस्तार हो गया है—योरोप और पश्चिम एशिया की उत्कृष्ट कलाकृतियों, चित्रों, मूर्तियों से सज्जित-समृद्ध। आज पचीस वर्षों बाद जब मैं लूव्र की कला संपदा को अपने स्मृति-फलक पर लाना चाहता हूँ तो दो ही चीज़ें बड़ी स्पष्टता से सामने आती हैं। एक है वीनस डि मीलो की मूर्ति और दूसरी है लियोनार्डो डा विंची का चित्र—मोनालीसा का। संग्रहालय की गैलरियों में चलते-फिरते कला-कृतियों पर नज़र डालते अथवा किसी-किसी चित्र की मूर्ति के सामने इक्के-दुक्के खड़े लोग अक्सर पाए जाएँगे। पर ये दो कला-कृतियाँ ऐसी हैं जिनके सामने 40-50 लोग बराबर खड़े दिखाई देंगे—उन पर आँखें गड़ाए, उनके प्रति आकर्षण का कारण बूझने का प्रयत्न करते, उनके सौन्दर्य का रहस्य जानने के लिए उत्सुक। वीनस-डि-मीलो का चित्र शायद आपने कभी देखा हो। किसी यूनानी कलाकार द्वारा गढ़ी गई थी, जिसका नाम कोई नहीं जानता। संगमरमर की युवा नारी मूर्ति है—नाभिकुंड के ऊपर नग्न और नीचे वस्त्रा-च्छादित। हाथ उसके दोनों टूटे हैं। पारखियों का कहना है कि अगर मूर्ति बिलकुल नग्न होती तो इतनी सुन्दर न होती जितनी अब लगती है। Half-revealed

and half-concealed—अधखुला और अधमुंदा—से कल्पना को बड़ा आयाम मिल गया है। कुछ लोग इसको ही मूर्ति का मुख्य आकर्षण मानते हैं। यों स्त्रियों की नग्न मूर्तियाँ एक-से-एक सुन्दर हैं, पर उनमें दृष्टि, अंग विशेष-संकुचित हो जाती है, किसी मनोवैज्ञानिक कारण से। मूर्ति का दूसरा रहस्य उसके टूटे हाथों में माना जाता है। इसपर भी कला-पारखियों में विवाद है। सम्यक मूर्ति में हाथों की स्थिति क्या-कैसी रही होगी। कुछ लोगों का तो कहना यह है कि मूर्तिकार ने मूर्ति के हाथ गढ़े ही नहीं थे—हाथों को भी उसने कल्पना के आयाम में डाल दिया था। मूर्ति जिस रूप में है उसमें ही सुन्दरता की इतनी परिपूर्णता है कि उसमें कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। विशिष्ट से विशिष्ट मूर्तिकार ने आज तक साहस नहीं किया कि मूर्ति के अनुरूप हाथों को गढ़कर उसमें जोड़ दे और तब देखे मूर्ति कैसी लगती है। लोग समझते हैं, कैसा भी हाथ, कैसी भी मुद्रा में बनाकर मूर्ति में जोड़ा जाए, उसके सौंदर्य को बिगाड़ देगा। खंडता, अपूर्णता, अभाव के आकर्षण, सौन्दर्य और रहस्य का एक अद्‌भुत नमूना यह वीनस-डि-मीलो की मूर्ति है। सुमन की सुषमा के इस अदृश्य अंश को समझने के लिए बड़ी सूक्ष्म दृष्टि, कल्पना और बुद्धि की आवश्यकता है कि अगर उसे आप छुएँ-छेड़ें तो वह हाथ उठाकर आपको बरज नहीं सकता। वीनस-डि-मीलो ऐसा ही सुमन है।

मोनालीसा का चित्र योरोपीय पुनर्जागरण के प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्डो डा विंची की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में माना जाता है। मोनालीसा की विशिष्टता उसकी तनावरहित, सहज स्वाभाविक सजीवता में है। वह शरीर से भरी है पर सन्तुलन के साथ; मांसल है, पर मोटी नहीं; त्वचा उसकी सुचिक्कण है जो उसके चेहरे, वक्षस्थल के स्वल्प खुले भाग और हाथों पर देखी जा सकती है। वस्त्र जो उसे पहनाया गया है, उसे कोई विशिष्टता नहीं दी गई; हाँ, रंग से अवश्य त्वचा के रंग का अलगाव ख़ूब खुलकर अभिव्यंजित हुआ है। मोनालीसा को अंग-प्रदर्शन में कोई रुचि नहीं। बांह इसकी कलाई तक ढकी है, बाल सुनहले-से सिर के बीचों-बीच कढ़ी मांग से सीधे कंधों पर लटक रहे हैं, माथा चौड़ा है। इतना सब कुछ सामान्य होने पर पूछा जा सकता है, मोनालीसा का आकर्षण किस चीज़ में है? उसके चेहरे में कुछ अनोखापन है। उसकी पलकों में ऊपर भौंहें नहीं बनाई गईं, जिसकी ओर सहसा ध्यान नहीं जाता। कला-पारखियों का कहना है कि भौंहों का न बनाना लियोनार्डो की कलात्मकता की बड़ी सूक्ष्म सूझ है। चेहरा देखने पर सबसे पहले ध्यान आँखों पर जाता है, और वे दर्शक का पर्याप्त ध्यान खींचतीं हैं। लियोनार्डो चाहता था कि दर्शक जब मोनालीसा का चेहरा देखे तो उसका सारा ध्यान आँख देखने की ओर जाय, भौंहों के प्रति ध्यान से अविभाजित। और उसकी आँखें आपकी ओर ही देखती हैं आप दाएँ-बाएँ-सामने कहीं भी खड़े हों। हमारी आँख हमारे मन के भावों को अनिवार्य रूप से व्यक्त करती है। मोनालीसा की आँखों से लगता है कि वह मन के भावों को उनके द्वारा व्यक्त होने पर सहज नियंत्रण रखे हुए है, पर वे होंठों की हलकी-सी मुस्कान से कुछ-कुछ बिंबित हो जाते हैं। बस यही अनबूझ पहेली है—मोनालीसा के मन में क्या है जो वह आँखों से ज़ाहिर नहीं होने देती और जो होंठों से क्वचित झलक उठता है। लोग उसके सामने खड़े कभी उसकी नयन-कोरों से,

कभी उसके अधरोष्ठ कोनों से उसके मन-मानस में कूद उसकी थाह लेना चाहते हैं और न पाकर निराश लौट आते हैं। मेरी समझ में शायद यही सबसे बड़ा उस कलाकृति का आकर्षण है।

एक और विशेष बात। जब हम मन के भावों पर नियंत्रण करते हैं, उन्हें मुख-मुद्रा से नहीं व्यक्त होने देते तो हमारा शरीर तनावग्रस्त हो जाता है। प्रतीक रूप से हमारे पंजे बंद हो जाते हैं या मुट्ठियाँ कस जाती हैं। लियोनार्डो दिखलाना चाहता है कि मोनालीसा के लिए यह नियंत्रण बहुत सहज साध्य है, बिलकुल निष्प्रयत्न। वह उसके दोनों हाथों को दिखाता है एक दूसरे पर रखे, पर बड़े स्वाभाविक रूप से। एक पंजे की तो सारी उंगलियाँ खुली-फैली हैं — मानों इंगित करतीं कि मन में कहीं कोई तनाव नहीं है। दूसरा पंजा आधा बंद है, पर प्रयत्नतः नहीं—शायद इतना संकेत देता है कि कुछ जो मन में छिपाया गया है वह अधखुली हथेली-जैसा है—फिर जैसे half-revealed, half concealed—शायद उच्च कोटि की कला का यह बड़ा भारी रहस्य है। कला की दुनिया विचित्र है। वीनस-डि-मीलो में हाथों का अभाव उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है, मोनालीसा के हाथों का भाव उसके सौन्दर्य भेद को खोलने का फ़ारमूला बन जाता है। मोनालीसा के हाथों को निकाल दीजिए, उसका आकर्षण आधा रह जाएगा। चेहरे के बाद उसके हाथ ही सबसे अधिक व्यंजक हैं।

एक रात पेरिस का जगत-प्रसिद्ध शो फ़ालीज़-बरजेर भी देख आया। जानते हैं उसका शाब्दिक अर्थ क्या है? 'गड़रिन का गँवरपन'। पर पेरिस की गड़रिन का गँवरपन भी संसार के बड़े-बड़े शहरों की खांदानी खवातीनों के बा-शराफ़त नाज़ो-अंदाज़ को मात करे। इसके मंच पर संसार के बड़े-बड़े अभिनेता-नर्तक उतर चुके हैं—जैसे मारिस शिवेलियर, चार्ली चैपलिन, अन्ना पावलोवा—जिसने उदय शंकर को नृत्य सिखाया था। वैसे इस शो को लंदन की 'विंड मिल' या ब्रुसेल्स के 'मौलां रूज' का वृहद रूप कह सकते हैं। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि लंदन और ब्रुसेल्स के शो इसी के लघु संस्करण हैं। इन प्रदर्शनों का लक्ष्य कला की ऊँचाइयों-गहराइयों को छूना नहीं; केवल सतही मनोविनोद प्रस्तुत करना होता है, पर तकनीकी परिपूर्णता के साथ। उन्हें आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य की यौन संबंधी जिज्ञासा, पिपासा, दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया जाता है या जिसे अंग्रेज़ी में कहेंगे पूरी तरह exploit किया जाता है। इसे संसार का सबसे नंगा और नटखट प्रदर्शन माना जाता है—'Nudest and naughtiest show' कुछ लोगों की राय है कि उनके द्वारा दमित-शमित यौन भावनाओं का विरेचन (catharsis) भी होता है। शायद आपा-धापी से भरे, सतत संघर्ष में लगे, अतिशय व्यस्त और तनावग्रस्त महानगरीय जीवन के लिए ऐसे खेल तमाशों की बड़ी उपयोगिता है कि उनसे लोगों के खिंचे तने, टूटते स्नायु ढीले किए जा सकें। लगभग सौ बरसों से हर शाम तीन घंटे के लिए दो हज़ार लोग एक साथ बैठकर यह शो देखते हैं—योरोप का कोई सम्राट, कोई बड़ी हस्ती नहीं जिसने यह शो न देखा हो—एडवर्ड सातवें ने देखा था, आइज़न-होवर और एडवर्ड आठवें ने भी। कुछ बहुत बड़े लोगों ने यह शो incognito — गुप्त वेश में—देखा है।

पेरिस से विदा होने का कार्यक्रम मैंने बनाया तो वाजपेयी जी—मेरे

मेज़बान—बोले, बच्चन जी, आपने पेरिस की 'नाइट लाइफ़' तो अभी देखी ही नहीं। मैंने कहा, अब उसके लिए न उमर रह गई है और न पाकेट में पैसे हैं—

सैर कर दुनिया की, ग़ाफ़िल, ज़िंदगानी फिर कहाँ,
ज़िंदगानी भी रही तो नौजवानी फिर कहाँ।

मेरा यही हाल है कि ज़िंदगानी में दुनिया की सैर करने का मौक़ा जब मिला है तो नौजवानी जा चुकी है।

पेरिस से मैं रोम आया। वहाँ मैं मि० देवा के साथ ठहरा। देवा साहब रोम स्थित भारतीय राजदूतावास में फ़र्स्ट सेक्रेटरी थे। विदेश मंत्रालय में काम करते हुए उनसे मेरा परिचय हुआ था।

रोम में क्या देखूं, कैसे देखूं? देवा साहब ने कहा, 'जिनके पास समय कम हो, जैसे आपके पास, उन्हें मोटर कोच से रोम देखना चाहिए, पाँच दिन में वे सारा रोम दिखा देती हैं।' मैंने कुछ जगहें तो मोटर कोच से देखीं, और कुछ जगहें, जहाँ मैं ज़्यादा वक्त बिताना चाहता था, दूतावास के एक कर्मचारी के साथ।

अगर पेरिस दो हज़ार बरस पुराना नगर है तो रोम लगभग तीन हज़ार बरस पुराना। कहा जाता है ईसा के आठ सौ बरस पहले किन्हीं पर्वत प्रदेशों से एक कबीला आया और रोम की सात पहाड़ियों में से एक पर बस गया, जो टाइबर नदी के सबसे नज़दीक था, बाद को उस कबीले ने अपने शौर्य-साहस से सातों पहाड़ियों पर अधिकार कर लिया—उसी कबीले के रोमूलस नामक सरदार ने अपने नाम पर रोम नगर की स्थापना की। पंडित नेहरू का अनुमान है कि यह कबीला उन्हीं आर्यों की एक शाखा थी जो कभी भारत आए थे। रोमूलस और रोम से संबद्ध इसी कबीले ने रोमन नाम लिया।

रोमूलस के बारे में दंतकथा है कि वह मादा भेड़िया के दूध पर पला था। वर्जिल ने अपने महाकाव्य 'एनीड' में उसकी साखी भरी। शायद रोमनों ने बाद को यह कथा गढ़ी होगी, अपनी शूरवीरता, साहसिकता, निर्भीकता और विरोधियों के प्रति निर्ममता-क्रूरता के स्रोत की खोज में—हम वंशज किसके हैं? जो भेड़िये के दूध पर पला था। शेरनी पर ध्यान शायद नहीं गया। रोमनों ने अपने इतिहास के बहुत बड़े भाग पर अपने भेड़ियाई स्वभाव का परिचय दिया है। पर आठ शताब्दियों के युद्धों के बाद जब रोमनों ने संपूर्ण दक्षिणी योरोप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका पर प्रभुत्व प्राप्त कर रोमन साम्राज्य की स्थापना की तो विधि-व्यवस्था संगठित कर ऐसी शांति का वातावरण भी पैदा किया जिसमें रोमनों की सृजनात्मक प्रतिभा ने उच्चता के शिखर छुए—स्थापत्य, मूर्ति, चित्रकला में, साहित्य में।

फिर शुरू होता है सिलसिला बाहरी आक्रमणों का, आंतरिक युद्धों का और ईसाइयत के साथ संघर्ष का जिसमें अन्त में ईसाइयत विजयी होती है और चौथी शताब्दी में रोमन सम्राट कान्सटैन्टाइन ईसाई हो जाता है और राजधानी रोम से कान्सटेंटिनोपुल ले जाता है। रोम अधिकाधिक धर्मकेन्द्र बनता है पर शासनिक सत्ता के साथ। पोप और सम्राट के अधिकारों की लड़ाई में रोमन साम्राज्य बिखर जाता है और पोप का आधिपत्य घटते-घटते वाटिकान तक

सीमित रह जाता है। इसके साथ आता है रिनेसाँ का युग—योरोप के पुनर्जागरण का—जिसके प्रतिनिधि हैं दांते, लियोनार्डो-डा-विंची, राफेल, माइकेल ऐंजिलो।

रोम के नाम से जो कई कहावतें जुड़ी हैं उनमें से एक है Rome was not built in a days; भाषा का अपना मुहावरा है, पर तात्पर्य यही है कि रोम को बनाने में सदियाँ लग गई हैं। रोमनों ने अपने बल, बुद्धि, विद्या का जो कीर्तिमान स्थापित किया वह इतिहास के पृष्ठों में बंद पड़ा है, पर उन्होंने अपनी कला, कल्पना, निर्माण-प्रियता, श्रम-साधना से रोम को जो रूप दिया, जो ऊँचाई दी, जो शानो-शौकत बख्शी वह साक्षात देखी जा सकती है। रोमनों का इतिहास कागज़ और कलमों से ही नहीं लिखा गया, पत्थर और छेनियों से लिखा गया, फलक और रंग-तूलिकाओं से लिखा गया। इतिहासकारों, विद्वानों और कवियों ने अगर उसे eternal city (नैसर्गिक नगर) के नाम से अभिहित किया तो कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। मोटर कोच में बैठा हुआ पर्यटक भी नभचुंबी प्रासादों, विराट गिरजाघरों, विशाल संग्रहालयों, गढ़ों ,मठों, समाधियों, स्मारकों, नर-नारी मूर्तियों, पुरा देवमंदिरों, क्रीड़ा भवनों, स्नानागारों, यहाँ तक कि काल-जर्जर गिरी-टूटी दीवारों, आधे-अधूरे स्तंभों, ध्वंसावशिष्ट चौक-चबूतरों को देखकर बरबस कह उठता है—

> 'The glory that was Greece
> And the grandeur that was Rome !'...
> (गौरव जो कभी यूनान था, वैभव जो कभी रोम था !)

रोमनों को जल से बड़ा अनुराग था। नहाने में वे बड़े सुख का अनुभव करते थे। प्राचीन काल में रोम का एक कृत्रिम जलाशय इतना बड़ा था कि उसमें तीन हज़ार व्यक्ति एक साथ स्नान कर सकते थे, छोटे शाही स्नानागार दर्जनों में, सार्वजनिक हमाम सैकड़ों में थे। अब भी रोम में हज़ार डेढ़ हज़ार से कम फ़ौवारे नहीं होंगे—कुछ प्राकृतिक, कुछ कृत्रिम जिन्हें उन्होंने सुन्दर और विचित्र, कहीं काँस्य, कहीं पाषाण मूर्तियों-कलाकृतियों से सजाया है। आधुनिक समय में बिजली की रंगीन रोशनियों ने उन्हें और भी आकर्षक बना दिया है। इस माने में रोम सचमुच फ़ौवारों का नगर कहा जा सकता है। खेद है, सड़कों पर मोटर, बसों, ट्रकों, स्कूटरों के यातायात ने इन फ़ौवारों के ध्वनि-संगीत को प्राय: समाप्त कर दिया है, फिर भी यदि आप आधी रात के बाद या अलस्सुबह रोम की किसी सड़क पर होकर गुज़रें तो आप दो-चार फर्लांग नहीं जाएँगे कि आपको किसी पास के फ़ौवारे की सरसर-झरझर या कलकल-छलछल ध्वनि सुनाई पड़ने लगेगी।

फ़ौवारों में मुझे त्रेवी फौवारा नाम से याद है। उसके बारे में यह किंवदंती है कि अगर कोई पर्यटक फिर से रोम आने की लालसा रखता हो तो अपने कंधे की ओर हाथ ले जाकर इस फ़ौवारे में एक सिक्का डाल दे। फ़ौवारे के सामने जो एक छिछली जलहरी-सी बनी है उसमें प्रति दिन बहुत से सिक्के पड़े दिखाई देते हैं। मैंने भी उसमें एक सिक्का डाल दिया था—पचीस बरसों में रोम फिर जाने का जोग तो लगा नहीं। रोमनों का यह फ़ौवारा-प्रेम कहीं मुझे अंदर छू

गया। फौवारे के प्रति अपने आकर्षण के विषय में मैंने अपनी किसी कविता में लिखा भी है।

ऐतिहासिक इमारतों में दो ही को देखने में मैंने विशेष रुचि ली या यों कहें कि दो ही को देखने की याद मुझे अब बनी है—एक कोलीज़ियम की और दूसरी सेंट पीटर गिरजाघर की। कोलीज़ियम को फ़्लेवियन एम्फ़ीथियेटर भी कहते हैं। यह इमारत रोमन साम्राज्य के स्वर्ण-युग का प्रतीक है जो ईसा की प्रथम शताब्दी में बनकर तैयार हो गई थी; अब तो उसका एक खंड ही शेष है, पर उससे भी पूर्ण का कुछ अंदाज़ा लगाया जा सकता है। यह अंडाकार थी और चारों ओर चार-मंज़िली। बाहरी लंबाई अधिक से अधिक 188 मीटर थी और भीतरी खुले चौगान की 88 मीटर; यानी चौड़ाई में 50 मीटर की इमारत चारों ओर थी, 57 मीटर ऊँची। उसकी चौतरफ़ी चार मंज़िली दीर्घाओं में पचास हज़ार दर्शक एक साथ बैठकर चौगान के खेल-तमाशों को देख सकते थे। दीर्घाओं के बीच-बीच बहुसंख्यक ज़ीनों की ऐसी व्यवस्था थी कि खेल खत्म होने पर उनसे उतरकर आधे घंटे के अंदर सारे दर्शक कोलीज़ियम से बाहर हो सकते थे। इसके बनाने में ट्रेवरटीनो मारबल, तूफ़ा स्टोन और पक्की ईंटों का उपयोग किया गया था, जो अब रंग में आमतौर से कत्थई मालूम होती हैं। इमारत के निचले भाग में ऐसे कमरे-कोठरियाँ थीं जिनमें खड्ग-मल्ल (ग्लेडियेटर), उम्र-कैदी, भगोड़े गुलाम, नव-ईसाई और जंगली जानवर रखे जाते थे—सब रोमनों के मनोरंजन के साधन।

जब इस इमारत की बुलंदी, पुख्तगी, नक्शा-निगारी और उम्दगी की ओर ध्यान जाता है तो रोमनों की प्रशंसा किए बग़ैर नहीं रहा जा सकता। इसे देखकर वेनेरेबिल बीड—एक मध्ययुगीन संत—इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने भविष्यवाणी की थी—

> 'As long as the Coliseum will stand, Rome
> will exist; when the Coliseum will fall, Rome
> will fall and the world come to an end.'

(जब तक कोलीज़ियम खड़ा रहेगा, रोम बना रहेगा; जब कोलीज़ियम गिरेगा, रोम खड़ा नहीं रह सकेगा, और संसार का अंत हो जाएगा।)

पर जब उसके चौगान में होने वाली निर्दय-क्रूर क्रीड़ाओं का ख्याल आता है तो रोमनों के प्रति घृणा होती है। खड्ग-मल्लों के कई जोड़े चौगान में छोड़ दिए जाते थे कि वे एक दूसरे से लड़ें जब तक कि एक उनमें से मर न जाए। जीते हुओं के फिर जोड़े बनाकर अखाड़े में उतार दिए जाते थे। और इसी प्रकार कई बार, जब तक एक ही न बच जाता था। पता नहीं उसे क्या देकर निहाल करते थे। उमर क़ैद, भगोड़े गुलाम और नव-ईसाई—निहत्थे—भूखे शेरों के सामने छोड़ दिए जाते थे और रोमन सामंत-संभ्रांत नागरिक उनके परवश, निरीह चीथे-फाड़े जाने को देखकर खुश होते थे। शायद आपने ऐंड्रोक्लीज़ और शेर का किस्सा पढ़ा होगा। वह बंधुआ गुलामी से किसी प्रकार बच निकला था। पकड़े जाने पर जब उसे शेर के सामने छोड़ा गया, शेर उस पर नहीं झपटा; कारण

यह था कि संयोगवश यह वही शेर था जिसके पैर का काँटा ऐंड्रोक्लीज़ ने कभी निकाल दिया था। शेर उसके पाँव चाटने लगा, ऐंड्रोक्लीज़ उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। आप समझते हैं रोमनों ने ऐंड्रोक्लीज़ को छोड़ दिया होगा। नहीं, उसे दूसरे शेर के सामने छोड़ा गया होगा। ऐसे क्रूर थे रोमन! मैंने कहीं पढ़ा था कि एक रोमन सम्राट के पास बारह सौ खड्ग-मल्ल थे, एक दूसरे को मार कर अपने स्वामी का मनोविनोद करने के लिए। शुरू-शुरू में इतने नव-ईसाइयों का कोलीज़ियम में वध किया गया था कि बाद के किसी पोप ने उसे शहीदों के रक्त से पावन-स्थल का पद दे दिया था।

पाँचवीं सदी के भूकंप में कोलीज़ियम का बहुत बड़ा भाग ध्वस्त हो गया, जिसका प्रयत्न करके भी जीर्णोद्धार न किया जा सका। बाद को तो उसके ईंट-पत्थर उखाड़कर लोग ले जाते अपने मकानों को बनाने के लिए। अब बचे-बचाए भाग को पर्यटक आकर्षण मानकर सुरक्षित किया गया है।

कोलीज़ियम अगर रोमन-साम्राज्य के स्वर्ण युग की देन था तो सेंट पीटर का गिरजाघर योरोप के पुनर्जागरण काल की देन है। उसका शिलान्यास 1505 में किया गया था, बनने में 121 वर्ष लगे। गिरजे में प्रथम प्रार्थना 1626 में हुई, पर उसके सामने के चौक बनने में 40 वर्ष और लगे।

गिरजाघर की लंबाई 186 मीटर है—कोलीज़ियम की अधिक से अधिक लंबाई के बराबर—चौड़ाई 71 मीटर और ऊँचाई फर्श से गुंबद के ऊपर लगे क्रास तक 132 मीटर। कोलीज़ियम में पचास हज़ार लोग बैठ सकते थे; गिरजा-घर में एक लाख लोग खड़े हो सकते हैं, बैठने के लिए कुर्सियाँ, स्टूल, बेंच आदि वहाँ नहीं रखे गए। बाहर के पक्के चौक में और दो लाख लोग खड़े हो सकते हैं। इन संख्याओं से गिरजा की विराटता का कुछ आभास तो आपको मिला होगा।

अगर आप हेलीकाप्टर में बैठकर ऊपर उठें और काफी ऊँचे जाकर नीचे गोल चौक के साथ लंबे गिरजाघर को देखें तो आपको ऐसा मालूम होगा जैसे ज़मीन पर कोई बड़ी कुंजी पड़ी है इस शक्ल की :
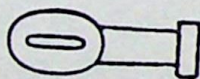
मालूम होता है नक्शा-निगारों ने इस कथन से प्रेरणा ली है। पीटर को देखकर महाप्रभु ईसा ने कहा था : 'Thou art Peter, and over this stone I shall build my church, and I shall give thee keys of the kingdom of heaven.'

(तू पीटर है, और तू वह चट्टान है जिस पर मैं अपना गिरजाघर बनाऊँगा और मैं तुझे ही स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ सौंपूंगा।)

कुंजीनुमा गिरजाघर मानों यह संकेत करता है कि यही स्वर्ग के राज्य की कुंजी है। पीटर की मूर्ति जहाँ कहीं बनाई जाती है उसके हाथ में कुंजी दिखाई जाती है।

जिस जगह पर गिरजाघर बना है, बताया जाता है, वही जगह है जहाँ सेंट पीटर को क्रूस पर लटकाया गया था। इसपर चौथी शताब्दी में सम्राट कान्सटैन-टाइन ने एक चर्च बनवाया था जो हज़ार बरस तक खड़ा रहा। उसके जीर्णशीर्ण

हो जाने पर उसे गिराकर इस गिरजाघर की नींव रखी गई। इसके साथ कई स्थापत्य-विशेषज्ञों के नाम संबद्ध हैं जिनमें राफ़ेल और माइकेल ऐंजिलो के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। माइकेल ऐंजिलो की प्रसिद्ध संगमरमरी कलाकृति 'पायटा' गिरजे की दाहिनी दीवार पर प्रवेश करते ही देखी जा सकती है। इसमें वर्जिन मेरी क्रास से उतारी अपने बेटे मसीह की लाश को गोद में लिए बैठी है। कहते हैं संगमरमर का यह टुकड़ा इतना चपटा-बेढंगा था कि कोई उसको खरीदने को तैयार नहीं होता था। ऐंजिलो की कल्पना ने इतने कम चौड़े अनगढ़ पत्थर से भी दो मार्मिक भावपूर्ण मूर्तियाँ निकाल दीं। 'पायटा' ही एकमात्र मूर्ति है जिस-पर माइकेल ऐंजिलो ने अपने हस्ताक्षर उकेरे हैं। गिरजे के गुंबद की नक्शा-निगारी भी माइकेल ऐंजिलो ने की थी। उसकी एक विशेषता है : गुंबद भीतर से छोटा और बाहर से बड़ा है, वस्तुतः छोटे-बड़े दो गुंबद एक दूसरे के ऊपर बनाए गए हैं, बीच की खाली जगह में सीढ़ियाँ हैं जिनसे चढ़कर गुंबद के ऊपर तक पहुँचा जा सकता है। लिफ़्ट से छत तक जाकर, मुझे याद है, मैं भीतर-भीतर सीढ़ियों से चढ़कर गुंबद के धुर ऊपर तक चला गया था। सीढ़ी के दोनों ओर गोलाकार झुकती दीवारों पर कोई ऐसी जगह न थी जहाँ यात्रियों ने अपने नाम न लिख दिए हों। रोम से जुड़ी एक कहावत याद कर—'When at Rome, do as Romans do.' मैंने अपना नाम भी देवनागरी में लिख दिया।

गुंबद की चोटी से रोम नगर अछोर विस्तृत गृह समूह-सा लगता था—दो तीन खास-खास इमारतें उभरती हुई—कोलीज़ियम, विक्टर इमैनुएल द्वितीय का प्रासाद, और सेंट ऐंजीलो कासिल—लाल पत्थरों का गोल किला—उसपर भी मैं गया था। उसकी सबसे ऊँची छत पर एक कैटापुल्ट रखा है—प्राचीन पत्थर का गोला फेंकने का उपकरण! उसके अंदर पुराने फ़ौजी सरो-सामानों का संग्रहालय भी है।

सेंट पीकर गिरजाघर के बगल में पोप नगरी वैटिकान के सिसटीन चैपेल को देखने केवल इसलिए गया कि वहाँ के भित्ति चित्र माइकेल ऐंजिलो द्वारा बनाए गए थे। बाइबिल के अनुसार सृष्टि-प्रलय के जो चित्र उन्होंने बनाए हैं उन्हें देखकर बस यही कहना पड़ता है—

> केसव कहि न जाय क्या कहिये।
> देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिये।
> सून भींति पर चित्र रंग नहिं तन बिनु लिखा चितेरे…

माइकेल ऐंजिलो ने तो उस 'तन बिनु' चितेरे को भी चित्रित कर दिया है।… किसी चर्च में उसकी कृति 'मूसा' को भी देखने की याद है—ज्ञान वृद्ध, दिव्य-दृष्टि नबी!

मैंने किताबों में पढ़ रखा था कि अंग्रेज़ी रूमानी कवि कीट्स ने अपने अंतिम दिन रोम में ही बिताए थे, यहीं उनकी समाधि है, उनके समकालीन युवा कवि शली की भी। दोनों मेरे प्रिय कवि रहे हैं। रोम आकर उनसे संबद्ध स्थानों को देखने, उन्हें नमन करने की लालसा स्वाभाविक थी। रोम में एक स्थान 'स्पेनिश स्टेप्स' के नाम से मशहूर है जिसके करीब सौ सीढ़ियों के उठान पर दो चौखुंटी

मीनारों पर गुंबदों वाला फ्राँसीसी चर्च है जिसे ट्रिनिटा-डिमान्टी कहते हैं। जहाँ से स्पेनिश स्टेप्स शुरू होती हैं उसी के दाहिनी ओर के एक छोटे-से मकान में कीट्स अपने जीवन के अंतिम दिन बिताने के लिए आए थे—तपेदिक में ग्रस्त, प्रेम में असफल, समालोचकों से विनिंदित, एकाकी, उदास, निराश, मौत का इंतज़ार करते।

रहिये अब ऐसी जगह चलकर, जहाँ कोई न हो,
हम-सुख़न कोई न हो और हम-ज़बाँ कोई न हो।
बेदरो-दीवार-सा यक घर बनाया चाहिये,
कोई हमसाय: न हो और पासबाँ कोई न हो।
पड़िये गर बीमार, तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइये, तो नौह:ख़्वां कोई न हो।

नान-कैथालिकों के क़ब्रगाह में उनकी समाधि है जिस पर लगे पत्थर पर उनकी इच्छा के अनुसार लिख दिया गया है—

Here lies One
Whose Name was writ on Water.
(यहाँ पर वह अनंत निद्रा में सोया है
जिसका नाम पानी पर लिखा गया था।)

काश, कीट्स को अपनी अंतिम घड़ियों में यह विश्वास हो सकता कि उसका नाम भले ही पानी पर लिखा हो, उसका काव्य मनुष्य के हृदयों पर लिखा है।

उसकी समाधि पर दो फूल, चार आँसू!

साल बाद शेली की समाधि भी इसी कब्रगाह में बननेवाली थी। उनकी मृत्यु स्पेज़िया खाड़ी में नौका डूबने की दुर्घटना में हुई थी। उन दिनों रोम में कुछ ऐसा नियम था, जिसकी मृत्यु डूबकर होती थी उसके शव को गाड़ने की अनुमति नहीं दी जाती थी। उसे जलाना पड़ता था। कहते हैं शेली की चिता पर इतनी शराब उँडेली गई थी जितनी उन्होंने अपने जीवन भर न पी होगी।

'और चिता पर जाय उँडेला पात्र न घृत का पर प्याला।'

उनकी राख-फूल को एक पात्र में रखकर ज़मीन में गाड़ दिया गया था और उस पर समाधि बना दी गई थी।

उस पर शायद उनके नहीं, उनके प्रशंसकों के आदेशानुसार लिखा है—

Nothing of him that doth fade,
But doth suffer a sea-change
Into something rich and strange.

(नष्ट नहीं हो सका अंश भी उसके तन का
वह केवल सागर-परिवर्तित कुछ ऐसे में
जो अमूल्य है, जो अद्‌भुत है, जो अनुपम है।)

शायद आपको पता हो कि ये शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की पंक्तियाँ हैं—उस

गीत से जो एरियल फ़रडीनेंड को सुनाता है।

Full fathom five thy father lies.

दोनों के समाधि लेखों में कितना अंतर!—एक शोकप्रद, दूसरा संतोषप्रद। फिर भी दोनों अपनी असमय-अकाल मृत्यु के कारण सुंदर-जीवंत सृजन की कितनी-कितनी संभावनाएँ अपने साथ लिए चले गए।

उसकी भी समाधि पर दो फूल, चार आँसू।

योरोप के लिए मेरे पास दो-तीन दिन और थे। रोम में जो कुछ मैं देखना चाहता था, देख चुका था। मैं दो दिन के लिए अकेले ट्रेन से फ़्लोरेंस चला गया। मि० देवा ने फ़ोन से स्टेशन के निकट ही एक होटल में मेरे ठहरने का प्रबंध करा दिया था। फ़्लोरेंस छोटा नगर है। मैंने स्टेशन पर उतरते ही एक गाइड बुक और नगर का एक नक्शा खरीद लिया। होटल तक पैदल ही चला गया और वहाँ अपना हैंडबैग कमरे में रख, नगर देखने को निकल पड़ा।

आप पूछ सकते हैं कि इटली में और भी प्रसिद्ध नगर हैं, जैसे नेपिल्स या वेनिस, आपने फ़्लोरेंस ही क्यों जाना चाहा। मैंने महाकवि डान्टे की 'डिवाइन कमेडी' और उसके रचयिता का जीवनचरित पढ़ा था और मेरे मन में कौतूहल था उस नगर को देखने का जिसने डान्टे को जन्म दिया था और डान्टे की महान कृति की प्रेरणा को भी। डान्टे की 'डिवाइन कमेडी' की प्रेरणा थी बीट्रिस, एक अनिंद्य सुंदरी, जिसे डान्टे ने पहली बार तब देखा था जब वह नौ वर्ष का था, और जिसकी सूरत वह न भूल सका था। अठारह वर्ष की अवस्था में डान्टे ने बीट्रिस को दूसरी बार देखा जब उसने डान्टे से कुछ बात भी की और तब तो डान्टे अपनी सुध-बुध ही खो बैठा। उसके बाद प्रायः सात वर्ष वह बीट्रिस के रूप-गुण के गीत गाता रहा, जब अचानक बीट्रिस का देहावसान हो गया। इस धक्के का दुष्परिणाम यह हुआ कि कुछ दिनों तो डान्टे ने नैतिकता की दृष्टि से अति पतित जीवन जिया (morally unworthy life), पर एक दिन सहसा उसे बीट्रिस अपने दिव्य रूप में दिखी (in a splendid vision) जिसके प्रभाव में वह अपनी पतितावस्था से उबरा, सुधरा, पावन हुआ और उसने स्वर्ग की सीमाएँ छुईं। उसने अपने पतन-उद्धार-उन्मेष में अपने पतित देश-काल के उद्धार और उन्मेष की दिशा देखी। यही है बीज रूप में 'डिवाइन कमेडी' की कथा। 'डिवाइन कमेडी' के तीन खंड हैं—नरक (Hell), सुधार-लोक (Purgatory) और स्वर्ग (Paradise)। पहले दो खंडों में लैटिन महाकाव्यी 'एनड' का रचयिता वर्जिल डान्टे का पथप्रदर्शक बनता है और नरक और सुधार लोक की सैर कराता है और स्वर्ग में स्वयं बीट्रिस अपने दिव्य रूप में डान्टे को ईश्वरीय रूप (Grace) का अनुभव कराती है। डान्टे की कल्पना-प्रवणता, इतिहास-ज्ञान और उदात्त-भावमयता से सारा महाकाव्य ओतप्रोत है। इस महाकाव्य की प्रेरणा भूमि मुझे खींच रही थी।

फ़्लोरेंस में मेरे लिए एक और आकर्षण था। माइकेल ऐंजिलो की मूर्ति-कला-चित्रावली में मुझे उसकी चार मूर्तियाँ सर्वश्रेष्ठ लगी थीं—'डेविड', 'पायटा', 'मोज़ेज' और 'स्लेव'। 'स्लेव' मैं लूव्र में देख आया था, 'पायटा' और

'मोज़ेज' रोम में। 'डेविड' की मूर्ति फ्लोरेंस में थी; फ्लोरस में ही माइकेल ऐंजिलो की समाधि थी जिसे भी मैं नमन करना चाहता था।

मैंने एक गली में डान्टे का घर देखा—Casa-di-Dante—छोटा, पुराने ढंग का, स्लेटी पत्थर की कटी ईंटों का बना। पुराना नहीं लगता। मालूम होता है समय-समय पर उसका जीर्णोद्धार कराया जाता रहा है। इस समय तो उस पर ताला लगा है। पता नहीं अंदर क्या है—संभव है डान्टे के जीवन से संबद्ध कुछ वस्तुएँ, उनकी पांडुलिपियाँ, उनका या उनपर कुछ साहित्य। अपने यौवन-काल के बाद वे इसमें रहे भी कितना होंगे। सामयिक राजनीति में फँस जाने के कारण, पोप और सम्राट के बीच चल रहे संघर्ष में सम्राट का पक्षधर होने पर उन्हें फ्लोरेंस से निर्वासित कर दिया गया था; मौत की सज़ा भी सुना दी गई थी, फ्लोरेंस में प्रवेश करने पर ज़िंदा जलाकर! उन्होंने अपना बहुत-सा साहित्य एक नगर से दूसरे नगर में भागते-छिपते लिखा था—कभी अच्छी-से-अच्छी हालत में और कभी बुरी से बुरी दशा में। जीवन के अंतिम भाग में वे रावेना नगर पहुँच गए थे जहाँ 'डिवाइन कमेडी' समाप्त करते ही उनकी मृत्यु हो गई थी—केवल पचपन वर्ष की अवस्था में।

लेकिन डेढ़ सौ बरसों के अंदर 'डिवाइन कमेडी' को ईसाई धर्म का इतना महत्त्वपूर्ण काव्य और उसके रचयिता को इतना महान व्यक्ति समझा जाने लगा था कि फ़्लोरेंस के कैथीड्रल आफ़ सेंट मैरी आफ़ दि फ़्लावर की एक दीवार पर उनका चित्र बनाया गया जो आज भी देखा जा सकता है। चित्र में डान्टे लंबा चोगा पहनकर खड़े 'डिवाइन कमेडी' पढ़ रहे हैं—उनके बाईं ओर फ़्लोरेंस, पृष्ठभूमि में सुधारलोक (Purgatory) और दाहिनी ओर नरक चित्रित है—स्वर्ग शायद ऊपर—स्वर्ग को अदृश्य रहना ही चाहिए। कहा जाता है कि यह डान्टे का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक चित्र है।

मैंने आरनो नदी पर पत्थर का वह पुराना पुल भी देखा जिस पर बताया जाता है, डान्टे ने बीट्रिस को पहली बार देखा था। किसी समय उस पुल पर सोने-चाँदी के ज़ेवरों की दूकानें हुआ करती थीं; कला-कारीगरी की चीज़ों की दूकानें अब भी हैं। यहाँ से मैंने डान्टे की संगमरमर की एक छोटी आवक्ष मूर्ति खरीदी। शाम को पुल पर काफ़ी चहलपहल रहती है। लोकमानस के अवचेतन में शायद कहीं प्रत्याशा है कि पुल पर कोई बीट्रिस फिर दिखाई दे सकती है।

'डेविड' की मूर्ति गैलेरी आफ़ दि एकेडेमिया में है। पहले यह कहीं और रखी थी, बाद को सुरक्षा की दृष्टि से एकेडेमी में लाई गई। डेविड, इस्राइल और जूडिया ('यहूदी' शब्द शायद इसी से बना हो) के संयुक्त राज्य के संस्थापक और प्रथम शासक थे। ऐसी कथा है उन्होंने गोफना से पत्थर फेंककर अपने सबसे बड़े शत्रु गोलियथ को मारा था। मूर्ति बारह फीट ऊँची है; डेविड अपने बाएँ कंधे पर पड़े गोफना को अपने बाएँ हाथ से पकड़े नग्न खड़े हैं—नग्नता बिना उन्हें यहूदी नहीं सिद्ध किया जा सकता था—घूँघरदार बालों वाला सिर ऊपर उठा, थोड़ा दाएँ को घूमा, चुस्त आँखों से कहीं दूर देख रहा है। नीचे तक लटकी आजानु दाहिनी बाँह की उँगलियों की मुद्रा ऐसी है जैसे बस तैयार हैं कि गोलियथ दिखाई भर दे और वे गोफना पकड़कर पत्थर फेंक दें। पर मुख-मुद्रा या शरीर की माँसपेशियों में क्रोध या तनाव का कोई चिन्ह नहीं है जैसे यह काम उनके

लिए बहुत सरल-स्वाभाविक है। डेविड की ख्याति योद्धा के ही नहीं, गायक के रूप में भी थी—

युगों से मौन हुआ दाऊद (डेविड)
कभी था जिसका सुमधुर गान

(खैयाम की मधुशाला)

डेविड की मुखमुद्रा में योद्धा की कठोरता न दिखलाने का एक कारण शायद यह भी हो कि ऐंजिलो उसमें उसके गायक रूप को भी बिंबित करना चाहता था। डेविड के हाथों में अगर वीणा रख दी जाती तो उसकी मुख-मुद्रा बदलने की आवश्यकता शायद ही होती।

इससे सुगठित, सुंदर, अंग-अंग सानुपातिक नर नग्न मूर्ति संसार के संग्रहालयों में दूसरी नहीं। फिर भी फ्रेंच कारडिनल ने, जिसके आदेश पर यह मूर्ति गढ़ी गई थी, इसे देखकर कहा, नाक कुछ लंबी है, उसे थोड़ी छोटी की जानी चाहिए। ऐंजिलो अपनी मूर्ति में तिल भर परिवर्तन नहीं करना चाहता था, पर उसे कारडिनल को भी संतुष्ट करना ही था जिससे क़ीमत मिलने वाली थी। उसने थोड़ा-सा पत्थर का चूरा अपनी मुट्ठी में लिया और छेनी-हथौड़ी ले सीढ़ियों से नाक तक चढ़ा। वह छेनी पर हथौड़ी मारता रहा, पत्थर का चूरा मुट्ठी से धीरे-धीरे गिराता रहा, बिना नाक को तनिक भी छुए। और जब वह उतरा कारडिनल खुश था कि नाक ठीक हो गई! कला के असमझदारों से निपटना ऐंजिलो खूब जानते होंगे। एक ड्यूक की उन्होंने आवक्ष मूर्ति बनाई। ड्यूक ने उसे देखकर कहा, चेहरा तो अच्छा है, पर मेरे चेहरे से कम मिलता है। ऐंजिलो ने कहा, कालांतर में यही आपका असली चेहरा माना जाएगा। ड्यूक खुश हो गया।

फ्लोरेंस के दूसरे संग्रहालय, नेशनल म्यूज़ियम, में तो अलग एक माइकेल ऐंजिलो कक्ष है, जिसमें सबसे अच्छी मूर्ति 'बेकस' की है—नग्न, मदिरा का देवता अंगूर का गुच्छा हाथ में लिए, पर उसके अंग सानुपातिक नहीं—पेट फूला हुआ है, शायद ज़्यादा अंगूर खाने से!

अंत में जाकर माइकेल ऐंजिलो की समाधि पर खड़ा हुआ जो सांता क्रोचे में है—आँख के सामने कभी डेविड आता है—कभी पायटा, कभी मोज़ेज—कभी सिसटोन चैंपेल की भीतरी छत पर उकेरी कितनी-कितनी मानव आकृतियाँ—एक दूसरे से भिन्न—कभी चैंपेल की वेदी के पीछे 'दि डे आफ जजमेंट'; और मैं ऐंजिलो की प्रतिभा से अभिभूत हो जाता हूँ। क्या हैं हम ऐसी विभूति के सामने! यह तीर्थ नहीं तो क्या है जहाँ आकर अहं धुल-पुँछ जाता है।

वहाँ खड़े-खड़े कला के बारे में एक विचित्र विचार मन में उठता है। माइकेल ऐंजिलो ने जितनी मूर्तियाँ गढ़ीं, जितने भी चित्र उरेहे दूसरों की फ़रमाइश पर, दूसरों के कमीशन पर—आर्डर पर, फिर भी अपनी प्रतिभा का, कला का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया। हम तो दूसरों के आदेश पर कविता लिखने को बड़ा हेय समझते हैं। स्वांतः सुखाय लिखी चीज़ को ही महत्व देते हैं। जो अपनी प्रेरणा, अपनी उद्भावना से नहीं रचा गया वह उच्च कोटि का हो भी कैसे सकता है। क्या कलाकार ऐसी स्थिति पर भा पहुँच सकता है जब दूसरों के आदेश पर की हुई रचना में भी वह अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह समो दे? बहुत

संभव है, ऐंजिलो ने वही आदेश-आर्डर स्वीकार किए हों जिनमें उसने देखा हो कि वह अपने को पूरी तरह बिंबित कर सकेगा। उसके अस्वीकार किए हुए आदेशों का किसे पता है ? फिर भी एक बात याद करता हूँ; अपनी प्रेरणा से जो मूर्ति-बंध उसने अपनी समाधि के लिए बनाना चाहा था उसमें वह सफल नहीं हुआ। कई वर्ष तक उस पर काम करके जब वह संतुष्ट नहीं हुआ तो एक दिन उसने हथौड़ा उठाया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। प्रतिभाएँ नियमों से नहीं बाँधी जा सकतीं।

फ़्लोरेंस से रोम, रोम से दिल्ली। घर पर तेजी, अमित सकुशल। अमित किरोड़ीमल कालेज जाने लगे हैं। अजित शेरवुड कालेज नैनीताल में हैं; पत्र आते हैं, वे भी वहाँ सकुशल।

विदेश मंत्रालय के हिंदी सेक्शन का रुटीनी काम होने लगा है। मंत्रालय से असंबद्ध काम भी हमारे पास आया करते थे। '60 में किसी समय एक ऐसा ही काम हमें सौंपा गया।

एक दिन पंडित जी ने मुझे अपने कमरे में बुलाया। उनकी मेज़ के एक ओर बादामी कागज़ की तीन-चार मोटी-मोटी फ़ाइलें रखी थीं। उनकी ओर इशारा करके बोले, 'रूसी-हिंदी डिक्शनरी है, हमारे मंत्रालय में एक मि० ऋषि हैं, कई वर्ष हमारे दूतावास के कर्मचारी के रूप में रूस में रहे हैं, वहाँ उन्होंने थोड़ी-बहुत रूसी सीखी और यह रूसी-हिंदी डिक्शनरी तैयार की, वे इसे छपाना चाहते हैं, पर वे चाहते हैं कि छपाने से पहले कोई हिंदी-दाँ इसे संशोधित कर दे; तुम इस काम में रुचि लोगे ?'

'मगर, पंडित जी, मैं तो रूसी बिलकुल नहीं जानता।'

'रूसी से तुम्हें मतलब नहीं; तुम उसके हिंदी भाग को देखो; मि० ऋषि को अपनी हिंदी पर विश्वास नहीं, पंजाबी हैं; शायद शब्दों की वर्तनी आदि तुम्हें दुरुस्त करनी पड़े...'

'पंडित जी, अकेले डिक्शनरी बना देना डा० जानसन ऐसी प्रतिभा का काम है; मुझे पता नहीं ऋषि जी का रूसी ज्ञान कितना है।'

'मगर मैं ऋषि की मेहनत और लगन से प्रभावित हुआ हूँ; डिक्शनरी किसी रूसी-अंग्रेज़ी डिक्शनरी के आधार पर बनाई गई है।'

'काम में आपकी रुचि है तो मैं ज़रूर करूँगा।'

'हाँ, मेरी रुचि तो है इस काम में, काम रूसियों के प्रति हमारी सद्भावना का प्रतीक होगा; हमारे कितने साहित्य का अनुवाद वे रूसी में करा रहे हैं; हमारे लोग कभी रूसी से हिंदी में अनुवाद करना चाहेंगे तो ऐसी डिक्शनरी उपयोगी होगी। यह शुरूआत होगी, आगे और अच्छी बन सकेगी।'

मैं चारों फ़ाइलें उठवाकर अपने कमरे लाया।

ऋषि महाराज ने किया क्या था ?

उन्होंने एक प्रामाणिक रूसी-अंग्रेज़ी डिक्शनरी की दो प्रतियाँ खरीदी थीं।

कैंची से उन्होंने एक-एक शब्द को अलग-अलग काटा था। उसे सादे बादामी कागज पर लेई से चिपकाया था—और उसके आगे अंग्रेज़ी में जो उसका अर्थ दिया था उसका अनुवाद हिंदी में कर दिया था। यानी एक तरह से यह रूसी-

अंग्रेज़ी डिक्शनरी का हिंदी अनुवाद था।

इसमें संदेह नहीं कि ऋषि ने तत्परता और सतर्कता से यह काम किया था; काम लगन और होशियारी का था, पर अक़्ल का नहीं। अंग्रेज़ी का ही उन्हें कितना ज्ञान होगा। अंग्रेज़ी शब्दों का अर्थ उन्होंने अंग्रेज़ी-हिंदी कोश से खोजा होगा जो उस समय तक कई प्रकाशित हो चुके थे। अच्छे कोश में केवल शब्दों के अर्थ ही नहीं दिये होते, अर्थ भी कई दिये होते हैं, उनसे बननेवाले मुहावरे भी दिये होते हैं, कुछ व्याकरण संबंधी तथ्य भी शब्द के बारे में होते हैं। ऋषि महाराज ने सबका अक्षरशः अनुवाद किया था—मक्षिका स्थाने मक्षिका। डिक्शनरी बनाने की योग्यता को कितना खोखला बनाकर उन्होंने अपनी अक़्ल के ऊपर चढ़ा लिया था। ऐसों के लिए ही कहा जाता है—

'Fools rush where angels fear to tread.'
(फ़रिश्ते जहाँ पाँव रखते डरते हैं, मूर्ख वहाँ दौड़ते चले जाते हैं।)

चलते समय पंडित जी ने कह दिया था कोई जल्दी नहीं है, जब दफ़्तर के काम से फ़ुरसत मिले तब इसको देखें। पर जब काम मैंने ले लिया तो अरदल देने का भार ऋषि महाराज ने उठाया। दसवें-पंद्रहवें वे मेरे पास आते, पूछते, कितना काम हुआ है। कई बार मुझे गुस्सा भी आता। वे बीच में पंडित जी का नाम ले देते—पंडितजी पूछ रहे थे—अब कौन पंडित जी से पूछने जाय कि आपने पूछा कि नहीं। चालाक लोग ऐसे ही अपना काम निकालते हैं। फिर भी साल से ऊपर इस काम में लगे होंगे। ऋषि जी की हिंदी सुधारते-सुधारते मुझे संदेह हुआ कि ऋषि जी अंग्रेज़ी में दिये अर्थों को भी ठीक समझते हैं कि नहीं। सुनिश्चित होने के लिए मैंने वही रूसी-अंग्रेज़ी कोश मँगवाया जिसका हिंदी अनुवाद किया गया था। और जैसी कि मुझे आशंका थी, ऋषि ने बहुत जगहों पर अंग्रेज़ी भी ठीक न समझी थी। बहुत जगहों पर उनके शब्द सुधारने ही नहीं पड़े, उन्हें नए रूप में लिखना भी पड़ा। बाद को ऋषि महाराज ने यह कोश साहित्य अकादमी से प्रकाशित कराया जिसकी भूमिका में मेरे भी यत्किंचित सहयोग का उल्लेख है। शेष जितने दिनों मैं विदेश मंत्रालय में रहा उसमें मंत्रालय के रुटीनी कामों के अतिरिक्त किसी और विशिष्ट काम की मुझे याद नहीं। तो अब जो मैं कहना चाहूँगा वह दफ़्तर से बाहर के अपने क्रिया-कलापों के विषय में।

हम लोग जून '59 में विलिंगडन क्रिसेंट के बंगले में आए थे। गर्मी के दिन, फिर बरसात के। तीन महीने घर के भीतरी हिस्सों को ठीक-ठाक करने में लग गए। फिर एक महीने के लिए योरोप गया। लौटकर आया तो बाहर की ओर ध्यान गया। अगल-बगल, पीछे खुले मैदान, जिनमें जगह-बेजगह बड़े-बड़े बबूल के पेड़ खड़े। कुछ पेड़ कटा दिये जिससे खुले लंबे-चौड़े लान बनाने में सहूलियत हुई। पीछे एक कोने पर किचेन-गार्डेन बनवाया।

सामने गोलाकार पक्की सड़क के बीच की जगह खाली थी, पीछे की ओर ऊँची हेज लगवाई कि सड़क से बँगले का बरामदा-ड्राइंगरूम न दिखाई दे। सामने एक क्रीड़ा-शैल बनाने की कल्पना मन में उठी।

कभी सोचता हूँ पर्वतों के लिए हमारे मन में आकर्षण क्यों है, इलाहाबाद के

महाजनी टोले में मथुरा के गोसाइयों का जो कृष्ण मंदिर था उसमें सावन की झाँकियों में एक रात कृत्रिम पर्वत पर राधा-कृष्ण का झूला पड़ता था, उस दिन की झाँकी क्यों हमें सबसे अच्छी लगती थी, हमने जब अपने घर पर झाँकी बनानी शुरू की तब क्यों एक कोने में पर्वत भी बनाते थे ? क्यों और झाँकियाँ बनानेवाले भी ऐसा करते थे ? तब तक तो हमने पर्वत देखा भी न था—देखा भी था तो नक्शे पर; जाना भी था तो परिभाषा से 'मिट्टी पत्थर का वह ढेर जो दो हज़ार फीट से ज्यादा ऊँचा हो।' क्यों किसी हिल स्टेशन पर जाकर हम एक खास तरह के सुकून का अनुभव करते हैं, जो सिर्फ़ ठंडक का नहीं होता ? जाड़े में मैदानों में वैसा सुकून क्यों नहीं अनुभव करते ? क्यों हमने अपने बहुत-से तीर्थस्थान पर्वतों पर बनाये हैं—बदरीनाथ, केदारनाथ, पशुपतिनाथ, अमरनाथ। क्यों हमने शिव-पार्वती को कैलाश पर बिठला दिया है ? क्यों हमने हिमालय को देवताओं का वासस्थान माना है—'देवतात्मा हिमालय' ? क्यों हमारे स्वर्ग की कल्पना हिमालय पर या उसके पार कहीं है ? क्यों महाभारत के महारथी अपने जीवन का साफल्य हिमालय की ओर महाप्रस्थान करने में मानते हैं ? क्या हमारा मूलस्थान कोई पर्वत प्रदेश ही था जहाँ से हम मैदानों में उतर आए ? क्या वहाँ की याद हमारी नस-नाड़ी के बहते रक्त में अब भी फड़कती है ? क्या हमारी मनोशिराओं में इन शैल-शिखरों की स्मृतियाँ अब भी स्फुरित होती और हमें प्रेरित करती हैं कि हम उन्हें अपनी दंतकथाओं से लेकर अपने दिनानुदिन के जीवन में कल्पित-निरूपित करें ? क्या इतिहासवेत्ताओं का यह कथन सत्य है कि आर्य मध्य एशिया की किसी ऊँची उपत्यका से निकलकर आर्यावर्त्त के निचले भागों में आए थे ? हमारा शैल-प्रेम, क्रीड़ा-शैल-प्रेम शायद उसका एक सूक्ष्म अंतर्साक्ष्य हो।

सुबह घूमने के लिए 'रिज' तक जाने लगा और वहाँ से लौटते समय कोई आकर्षक पत्थर का टुकड़ा उठाकर साथ लाता। कोई बड़ा पत्थर होता तो उसे लुढ़काता हुआ घर लाता—मिनी-सिसिफ़स की तरह थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन। अपनी इस धुन की बदौलत मुझे हार्निया की तकलीफ़ हुई और आपरेशन कराना पड़ा। पर धुन-तो-धुन, वह न छूटी। इन पत्थरों से सामने गोले पर एक चन्द्राकार क्रीड़ा-शैल बना। ऊपर एक शिवगुफा बनी, एक कोने पर एक पीपल का पेड़ लगाया गया, जो अब जैयद दरख़्त हो गया है; दूसरे कोने पर एक दारुचंपक का वृक्ष, जिसकी तिकोनी डालों पर रखा गया एक मिट्टी का पात्र, चिड़ियों के दाने के लिए, दूसरा, चिड़ियों के पानी के लिए। शिवगुफा के इधर-उधर लगा दिये कैक्टस; मदार-धतूरे के प्रेमी शिव को कांटे-कूंटे से क्या परहेज़। कैक्टस बढ़े तो जाड़े की रातों में फूलते। कैक्टस का फूल मेरी एक बढ़िया कविता के लिए प्रेरणा बना था। कविता 'बहुत दिन बीते' में है। पता नहीं पुस्तक आपके पास है कि नहीं। कविता तो सुनना चाहेंगे ? सुना दूं ? कविता का शीर्षक है—'कोयल, कैक्टस, कवि', पर आपको केवल 'कैक्टस' वाला भाग सुना रहा हूं :

रात
एकाएक टूटी नींद

तो क्या देखता हूँ
गगन से जैसे उतरकर
एक तारा
कैक्टस की झाड़ियों में आ गिरा है;
निकट जाकर देखता हूँ
एक अद्भुत फूल काँटों में खिला है—
"हाय, कैक्टस,
दिवस में तुम खिले होते,
रश्मियाँ कितनी
निछावर हो गई होतीं
तुम्हारी पँखुरियों पर,
पवन अपनी गोद में
तुमको झुलाकर धन्य होता,
गंध भीनी बाँटता फिरता द्रुमों में,
भृंग आते,
घेरते तुमको,
अनवरत फेरते माला सुयश की,
गुन तुम्हारा गुनगुनाते !"

धैर्य से सुन बात मेरी
कैक्टस ने कहा धीमे से,
"किसी विवशता से खिलता हूँ,
खुलने की साध तो नहीं है;
जग में अनजाना रह जाना
कोई अपराध तो नहीं है।"

ऐसे ही पत्थरों से एक महादेव मंदिर और एक मारुति मंदिर सड़क पार दाहिनी ओर बबूल के पेड़ के नीचे बना। उसकी तो जल-सेवा और सँझवाती भी की जाती।

सामने का बरामदा भी काफ़ी बड़ा था। उसके एक कोने पर अदन का बाग़ बना। बबूल की दो मोटी-पतली डालों से आदम-हौआ बने; गमले में लगाई नागफनी से 'पापों का साँप' बना। विविध जीव-जंतुओं के आकार के जो पत्थर मिले नीचे बिछाए गए। देखनेवाली आँख चाहिए; बहुत से ऐसे पत्थर मिलते हैं।

ईट्स की एक कविता है 'Those Images'—'मरकत द्वीप का स्वर' में मैंनेउसका अनुवाद किया है। उसके दो अंतिम पद सुनें—

जाओ, प्रतिमाओं को खोजो,
जिनमें भेद भरा है भारी,
बन के चारों कोनों पर जो—
कुलटा, बालक, बाघ, कुमारी।

और गरुड़ जो उड़ता नभ में
पर फैलाए, उसको जानो;
गाओ फिर जितना जी चाहे
जो इन पाँचो को पहचानो।

मेरे मन में बहुत दिनों से था, यह मूर्तिबंध अपने बरामदे में लगाऊँ, जैसे ईट्स कहते हैं, शायद ये काव्य की प्रेरणाएँ बनें। उन्हीं दिनों एक बार मथुरा की यात्रा में मुझे एक पुरानी खंडित मूर्ति मिली—विपरीत रति-रत नारी की—उसे मैंने 'कुलटा' कहा।

यह विखंडित मूर्ति
मथुरा की सड़क पर
मिली मुझको,
शीश-हत,
जाँघें-पसारे
खुले में विपरीत-रति-रत !
अरे, यह तो पुंश्चली है !

इसी यात्रा में केशव टीले से एक सिंह मूर्ति मिली।

शेर यह—
निर्भीक-मुद्रा—
था वहाँ पर पड़ा
चरती हैं बकरियाँ तृण
सशंकित जिस जगह पर,
भूलकर, वह सिंह की औलाद,
पौरुष मूर्त है,
अतिशय बली है।

बाद को अचानक मुझे 'रिज' पर बालक और कुमारी (virgin) के आकार के पत्थर मिले। कुमारी तो उतनी स्पष्ट न थी। मैंने उसके गले में एक रुद्राक्ष की माला डाल दी और चारों मूर्तियाँ बरामदे में लगा दीं। बाद को मुझे गरुड़ के आकार का एक पत्थर मिला। 'कुलटा' और 'गरुड़' के बारे में ज़रा विस्तार से बताऊँ ?—

'कुलटा' बाहर बरामदे में रखी थी। कभी किसी राष्ट्रीय संग्रहालय के अधिकारी की दृष्टि उस पर पड़ी। लाल पत्थर की उस पुरानी अद्‌भुत मूर्ति की ओर वे आकृष्ट हुए। विशेषज्ञ को साथ लाए जिसने उसकी परीक्षा की, उसका चित्र लिया, नापजोख की, मूर्ति बहुत पुरानी थी, संग्रहालय के लिए खरीदना चाहा, दस हज़ार दाम देने को तैयार हुए, मैंने मूर्ति न बेची। झट बरामदे से उठवाकर कमरे में रखा दी। गरुड़ वाला पत्थर इंडोनेसिया दूतावास के सामने वाली सड़क के दूसरी ओर पड़ा मुझे दिखा था, बिलकुल गरुड़ के आकार का था। आँखों की जगह के बीच नोकीला टुकड़ा चोंच की तरह बाहर उभरा। मैं

उसे घर लाना चाहता था। लुढ़काकर ही लाता। किसी तरह से उसे अपनी जगह से हटाया तो उसके नीचे साँप की केंचुल थी—गरुड़ सिद्ध हो गया। तीन-चार मन से कम वज़न का न होगा।

ओ गरुड़,
तेरी जगह तो है गगन में,
भूमि पर कैसे पड़ा है,
पोटली की भाँति गुड़मुड़।
घूरना था जिस नज़र से सूर्य को
तू मुझे अनिमिष देखता है।
बाहुओं में अब कहाँ बल,
उम्र मेरी ढल चली है।

कार से अमित को ले गया। बीस के अमित में बड़ी ताक़त थी, उन्होंने गरुड़ को उठाकर डिकी में रखा और घर लाए। घर पर डिकी से निकालकर बरामदे में रख दिया। उन दिनों पत्थरों को रँगने का भी मुझे शौक हो चला था—तैल रंगों से। मैंने गरुड़ की दो आँखें बना दीं। चोंच पर सिर्फ़ एक सफ़ेद लाइन लगा दी। बाद को मैंने इस मूर्तिबंध पर एक कविता लिखी—'पाँच प्रतिमाएँ' जो 'उभरते प्रतिमानों के रूप' में है। घर के कई बार के बदलाव में यह मूर्तिबंध बिखर गया। 'कुलटा', 'शेर' और 'गरुड़' की मूर्तियाँ 'प्रतीक्षा' बंबई में हैं। पत्थरों को रँगने के प्रयोग में मैंने एक तिपहले पत्थर पर इयागो, ओथेलो और डेसडिमोना को चित्रित किया था। एक बगुले का भी मूर्ति-चित्र बनाया था जिसे मैंने 'नाड़ीजंघ' नाम दिया था—महाभारत में आता है। एक शीशाकार पत्थर को केवल सफ़ेदे से रंगकर मैंने किसी ऋषि-मुनि का चित्र उभारा था। मेरी स्टडी के बाहर रखा था। उसे व्यास या वाल्मीकि कह सकते थे। भीतर महाभारत और रामायण का अध्ययन होता था। तीन पत्थरों के जोड़ से एक अहिल्या की भी मूर्ति खड़ी की थी। कुछ पेड़ और मंदिर भी पत्थरों पर रंगे थे। एक पेड़ को 'अक्षयवट' नाम दिया था। उन्हीं दिनों मैंने सीमेंट का एक गणेश भी ढाला था—वह मूर्ति भी अब 'प्रतीक्षा' में है, गणेशोत्सव के दिनों में उसका शृंगार होता है। ये मंदिर-मूर्तियाँ याद आती हैं तो सोचता हूँ कि मैंने कितना उन पर अपना समय लगाया था। वे कुछ ऐसी न थीं कि उन्हें कलाकृतियाँ कहा जाता। मन की कोई इच्छा या सनक पूरी करने को कुछ किया जाए तो उसे सर्वथा निरर्थक तो नहीं कह सकते। याद है अजित कुमार ने इन मूर्तियों पर एक लेख 'धर्मयुग' के लिए लिखा था।

दिन के दस से पाँच तक दफ़्तर के समय के पूर्व और पश्चात मेरे पास पर्याप्त समय था—आहार-निद्रा-व्यायाम के समय को बाद देकर—जिसमें मैं अपना सृजन-स्वाध्याय कर सकता था। कभी कविताएँ लिखता, कभी निबंध-वार्ताएँ, कभी कुछ अनुवाद कार्य करता।

1960 में कविवर सुमित्रानंदन पंत की हीरक जयंती पड़ी। वे सदी के प्रारम्भ के साथ आए थे। एक दिन बैठे-बैठे मुझे ध्यान आया, क्यों न इस अवसर

पर उन पर लिखे अपने निबंधों का एक संग्रह संकलित कर उन्हें समर्पित करूँ। उस समय तक उन पर मेरे चार लेख लिखे जा चुके थे; पाँच लेख मैंने नए लिखे। इस प्रकार नौ लेख और पंत जी द्वारा मुझको लिखे 127 पत्रों का मैंने एक संग्रह तैयार किया और उसे नाम दिया—'कवियों में सौम्य संत'। उनको यह विशेषण मैंने गांधीजी के बलिदान पर लिखी एक कविता में दिया था—

तुमसे मेरी प्रार्थना, सुमित्रानन्द (न) पंत,
संतों में सुमधुर कवि, कवियों में सौम्य संत,
आ पड़ी देश पर, बंधु आपदा यह दुरंत—
टूटे सत्यं, शिव, सुंदरता के तंतु-तंतु।

माने क्या हैं जो हुआ देश पर यह अनर्थ,
बोलो वाणी के पुत्रों में सबसे समर्थ,

वंदित वीणा पर गाकर अपना ज्ञान-गान
सुस्थिर कर दो भारतमाता के विकल प्राण,
ले करामलकवत् भूत, भविष्यत, वर्तमान,
ओ कविर्मनीषी, करो विश्व का समाधान।

पुस्तक पंत जी को समर्पित करने के लिए मैंने उनके जन्मदिन पर, 20 मई, 1960 को, विलिंगडन क्रिसेंट के लान पर एक समारोह आयोजित किया था जिसमें मैंने दिल्ली के जाने-माने सभी साहित्यकारों को आमंत्रित किया था। मंच के पीछे एक वेदी पर एक बड़ी मोमबत्ती के दोनों ओर तीस-तीस छोटी मोमबत्तियाँ जलाई थीं—उनकी अवस्था के वर्षों के प्रतीक रूप में। समारोह में डा० केसकर, उस समय सूचना एवं प्रसारण मंत्री और स्वनामधन्य मैथिलीशरण गुप्त के सम्मिलित होने की मुझे याद है। कृति-समर्पण के बाद काव्य-पाठ हुआ था जिसमें राजधानी के सभी प्रख्यात कवियों ने अपनी कविताएँ सुनाई थीं। अवसर के चित्र कहीं मेरे अलबम में सुरक्षित हैं।

पंत जी की स्वर्ण जयंती पर भी मैंने निजी रीति से एक उत्सव का आयोजन 'दशद्वार' (17, क्लाइव रोड, इलाहाबाद) के लान पर किया था। मुझे याद है, उस दिन डा० राम कुमार वर्मा ने अपने भाषण में कहा था, हमारी शुभकामना है कि पंत जी सौ बरस जियें और इसी प्रकार हम उनकी शतवार्षिकी मनाएँ। मैंने विनोद में कहा था कि पंत जी तो ब्रह्मचारी हैं, शायद सौ बरस जी भी जाएँ, पर हम उनके सौ बरस पूरे करने तक कहाँ जीनेवाले हैं। काल की विडंबना कि पंत जी तो सात वर्ष पहले चले गए और डा० वर्मा के साथ इन पंक्तियों का लेखक भी अभी मौजूद है!

उसी वर्ष राजपाल एन्ड सन्ज ने काव्य-संकलनों की एक नई सिरीज़ आरंभ की—आज के लोकप्रिय हिंदी कवि। पहला संकलन वे पंत जी की चुनी हुई कविताओं का निकालना चाहते थे और उसके संपादन का भार उन्होंने मुझे सौंपा। मैंने उसकी रूप-रेखा बनाई। शुरू में 25-30 पृष्ठों की भूमिका हो, जिसमें कवि के युग और उसके काव्य की विशिष्टताओं को रेखांकित किया जाए; लग-

भग सौ पृष्ठों में कवि की श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कविताएँ हों, और अंत में तीन परिशिष्ट जोड़े जाएँ—कवि का जीवन-क्रम, कवि का रचना-क्रम और कवि पर उपलब्ध आलोचनात्मक साहित्य। यह सिरीज़ काफ़ी लोकप्रिय हुई; अब तक उसमें दस-बारह कवि लाए जा चुके हैं।

रूसी-हिंदी कोष के महानीरस काम से बीच-बीच में कुछ राहत पाने के लिए उसके साथ मैंने एक और अनुवाद की योजना बनाई। 1959 में माइकेल ब्रीचर की 'Nehru : A Political Biography' निकली। '60 में किसी समय मैं नेहरू जी से मिलने गया तो यह पुस्तक मैंने उनकी मेज़ पर देखी। नेहरू जी पर कुछ निकले तो उसे पढ़ने में तेजी की रुचि थी और मेरी भी। अभी हमने यह पुस्तक न पढ़ी थी। शायद बाज़ार में भी न आई थी। बात-बात में मैं पूछ पड़ा, आप पर जो यह किताब निकली है, आपकी राय में, कैसी है। पंडित जी ने कहा, लेखक ने बड़ी खोजबीन और बड़ी मेहनत से यह किताब तैयार की है, मैं नहीं समझता कि अब तक मुझ पर कोई इतनी प्रामाणिक और इतनी अच्छी किताब लिखी गई। तभी बिजली की चमक की तरह मेरे दिमाग़ में एक ख्याल आया, क्यों न इसका अनुवाद हिंदी में किया जाए। मैंने अंग्रेज़ी पद्य का काफ़ी अनुवाद किया था और लोगों ने उसे अच्छा अनुवाद माना था, पर मैंने अंग्रेज़ी गद्य की कोई किताब अनूदित न की थी। क्यों न गद्य-अनुवाद के लिए यह पुस्तक उठाऊँ। विषय मेरे मन का है। इससे मेरी अनुवाद क्षमता भी बढ़ेगी जिसका अंततः लाभ मेरे दफ़्तरी काम को मिलेगा। साथ ही हिंदी के जीवन-चरित साहित्य की वृद्धि होगी, फिर हिंदी भाषियों को पंडित नेहरू के महत्व और राष्ट्र की उन्नति-प्रगति-विकास में उनके योगदान को जानना ही चाहिए। पुस्तक के आकार ने काम उठाने में कुछ हिचक भी पैदा की। 640 पृष्ठों की थी, जो अनुवाद में लगभग 1000 पृष्ठ होते। इतनी बड़ी किताब अनूदित भी कर दी तो छापेगा कौन, और छप भी गई तो खरीदेगा कौन। कुछ दिन इसी असमंजस में रहा, काम उठाऊँ कि न उठाऊँ। इस बीच खरीदकर पुस्तक पढ़ भी ली। पुस्तक रोचक भी थी और प्रेरक भी, पर उसका आकार देखकर सहसा हिम्मत न पड़ती थी कि उसे अनूदित करने को उठा लूँ। सौभाग्य से साल भर के अंदर पुस्तक का संक्षिप्त संस्करण बाज़ार में आ गया—254 पृष्ठों का, जिसे स्वयं लेखक ने तैयार किया था। पढ़ने पर मालूम हुआ कि मूल पुस्तक का सार उसमें रख दिया गया है, साथ ही शैली का आकर्षण बनाए हुए। मेरी समस्या को समाधान मिल गया। यह पुस्तक आसानी से अनूदित की जा सकती थी, प्रकाशित भी और मूल्य सामान्य हिंदी-भाषियों के क्रय-सामर्थ्य की सीमा में रखा जा सकता था। काम में मैंने हाथ लगा दिया। कोष के काम से जब ऊब-थकन मालूम होने लगती तो माइकेल ब्रीचर की किताब उठा लेता। छह महीने में अनुवाद पूरा हुआ, मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया, तीन महीने छपाई में लगे और पुस्तक अनुवाद के रूप में पंडितजी को उनकी 72वीं वर्षगांठ पर भेंट की गई—14 नवंबर 1961 को। उस वर्ष पंडित जी का कार्यक्रम ऐसा था कि उनका जन्मदिन प्रवास में पड़ने वाला था। मुझे याद है मैंने इंदु जी को, जो उनके साथ जाने-वाली थीं, पुस्तक की एक प्रति सौंपी कि वे वर्षगांठ पर पंडित जी को, जहाँ कहीं

वे हों, मेरी ओर से भेंट कर दें।

जब पंडित जी प्रवास से लौटे तब प्रकाशक ने स्वयं पुस्तक की एक प्रति पंडित जी को समर्पित करनी चाही। मुझे भी साथ ले गए। पुस्तक समर्पण के बाद प्रकाशक पंडित जी के साथ एक चित्र भी खिचाना चाहते थे। पंडित जी तैयार हो गए। मैं अलग खड़ा हो गया।

पंडित जी ने कहा, 'तुम भी आ जाओ।'

मैंने कहा, 'मैं तो वैसे ही छोटा आदमी हूँ, आपके साथ तस्वीर खिचाकर और छोटा हो जाऊँगा।'

पंडित जी कब चूकने वाले थे, बोले, 'छोटे बनने में ही ख़ुशी हो तो ज़्यादा ही छोटा बनना चाहिए।'

मैं उनके साथ जाकर खड़ा हो गया।

चित्र प्रकाशक के पास होगा।

मूल पुस्तक माइकेल ब्रीचर ने अपने माता-पिता को समर्पित की थी। अनुवाद मैंने समर्पित किया था--

राजीव-संजय
प्रभात
अमित-अजित
को
नई पीढ़ी को
जिसे भावी भारत का निर्माण करना है।

इनमें सभी नामों से आप परिचित हैं—प्रभात मेरे छोटे भाई शालिग्राम का लड़का है, आजकल राउरकेला के इस्पात कारखाने में मैनेजर-मेटीरियल है। आप मानेंगे, मेरी कवि-दृष्टि ने भविष्य का कुछ-न-कुछ आभास अवश्य पाया था।

'61 में मैंने दो काम और किए। मेरा पिछला काव्य-संग्रह 'आरती और अंगारे' सन् '58 में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद जब-तब जो कविताएँ लिखता रहता था वे हिंदी के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं। ये कविताएँ मैंने 'त्रिभंगिमा' नाम से प्रकाशित कीं। संग्रह करने के लिए जब कविताएँ एकत्र कीं तो देखा मैंने तीन प्रकार की कविताएँ लिखी हैं—कुछ छंदोबद्ध, कुछ मुक्त छंद में और कुछ लोक धुनों पर आधारित। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर संग्रह का नाम 'त्रिभंगिमा' दे दिया गया। किसी भाव, विचार, प्रेरणा ने किसी विशेष छंद, लय, धुन में बँधकर अपने को क्यों अभिव्यक्त किया, इसे तो मैं भी नहीं जानता। रचना सफल हुई हो तो कहना पड़ेगा कि मेरी सृजन-प्रवृत्ति या रुचि का नियोजन ठीक दिशा में हुआ। न हुई हो तो दूसरे मेरी ग़ल्तियों से कुछ सबक़ सीख सकते हैं।

बहरहाल, प्रायः तीन वर्षों में मेरी जिन अनुभूतियों, कल्पनाओं, भावनाओं, मेरे जिन विचारों, जिन मानसिक संवेगों, मंथनों, चिंतनों अथवा, एक शब्द में, मेरी जिन संवेदनाओं ने कविता का रूप लिया था उनकी एक तालिका प्रस्तुत कर दी गई थी। 'त्रिभंगिमा' समर्पित की थी मैंने अपने तीन अग्रजों को—

कवि-शार्दूल निराला
कवि-श्री महादेवी
और
'संतों में सुमधुर कवि'
सुमित्रानन्दन पंत
को ।

प्राय: पचीस वर्षों बाद उन कविताओं को जब मैं देखता हूँ तो दो-तीन बातें साफ़ उभरती हैं। मेरी दृष्टि अब आंतरिक के साथ बाह्य भी हो गई है। बाहर जो वह देखती है उससे न वह प्रसन्न है न संतुष्ट। वह यह भी देखती है कि उस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार कौन है। और मेरे शब्द उसकी ओर उँगली उठाने से नहीं चूकते। आज तो मुझे आश्चर्य होता है कि सरकारी दफ़्तर में बैठकर मैंने ये कविताएँ—'सड़ा हुआ कमल', 'यह भी देखा : वह भी देखा', 1960 की दीवाली', 'जनतंत्र दिवस', 'खजूर', 'महागर्दभ', 'दानवों का शाप', 'अंधा पर गूँगा-बहरा युग नहीं' लिखी कैसे। मुझे ताज्जुब है कि ऐसा लिखने के लिए मुझसे कैफ़ियत क्यों नहीं माँगी गई। शायद शासन बिलकुल बेखबर है या बहुत उदार है, या भलीभाँति जानता है कि मेरे जैसे तुकबंदों के तुक्कों का असर भी क्या होना है। जो उपेक्षा के गुड़ से मर सकता हो उसे विरोध के माहुर से क्यों मारा जाय।

सन् '61 का दूसरा काम मेरा था, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के लिए 'आधुनिक कवि' ग्रंथमाला में अपना संकलन तैयार करना। मेरे पहले छह कवि इसके लिए आमंत्रित किए जा चुके थे—महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, रामकुमार वर्मा, गोपालशरण सिंह, अयोध्या सिंह उपाध्याय और माखन लाल चतुर्वेदी। मेरा संकलन सातवां था। उसके लिए मैंने भूमिका लिखी और अपनी तीस बरस की रचनाओं में से अपनी दृष्टि से प्रतिनिधि कविताओं का चुनाव किया। '61 के बाद भी मैंने बहुत कुछ लिखा है, पर आज तक उसके तीन संस्करणों के पश्चात भी (अंतिम '83 का है) उसे अद्यतन बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया। इस प्रकार यह संकलन काल-सीमित हो गया है। पिछले प्राय: पचीस वर्षों की रचनाओं का उसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं है।

आपको याद होगा कि 'मैकबेथ' के मंचन में मुझे इतनी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था कि उसके तीन 'शो' के बाद जब आख़िरी बार परदा गिरा तो मैं कान पकड़कर मंच पर उठा-बैठा था कि अब ऐसे काम में फिर हाथ नहीं डालना है, पर तेजी उस कटु अनुभव से न निरुत्साहित हुई थीं और न उन्होंने हार मानी थी। वे 'ओथेलो' को मंचस्थ करने का सपना सँजोए बैठी थीं। बैठी थीं, कहना ग़लत होगा; सपने को साकार करने के लिए सक्रिय थीं। वे किसी-किसी संध्या को नाट्य पाठ का आयोज़न करतीं। पहले तो घर के हम तीन लोग ही उसमें भाग लेते—तेजी, अमित और मैं। हमारे पास एक खिलौना आ गया था। ऐम्सटरडैम से मैं फ़िलिप्स का साउंड-रेकार्डर लाया था। कुछ अभ्यास के बाद हम नाट्यपाठ या अभिनय-पाठ करते—अंतर कहीं स्पष्ट कर चुका

हूँ—तो साउंड-रेकार्डर चला दिया जाता, फिर हम उसे सुनते; संतुष्ट न होते तो उसे मिटाकर दुबारा-तिबारा रेकार्ड करते। कभी हम अपनी जान-पहचान के लड़के-लड़कियों को भी नाट्य-पाठ में भाग लेने को बुलाते। वास्तव में तेजी जी ऐसे लोगों की खोज में थीं जिनमें अभिनय प्रतिभा हो और जो, जब 'ओथेलो मंचस्थ हो तो विभिन्न पात्रों की भूमिका में उतर सकें। इसी क्रम में एक दिन उन्होंने कुछ बड़े पैमाने पर एक गोष्ठी का आयोजन किया जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में श्री गोपाला रेड्डी—उस समय सूचना एवं प्रसारण मंत्री—और श्रीमती इंदिरा गांधी को आमंत्रित किया।

उस संध्या को 'ओथेलो' के कुछ स्पूल बजाए गए, कुछ अंश का अभिनय-पाठ प्रस्तुत किया गया। हमारे दोनों मेहमान बहुत प्रभावित हुए। रेड्डी महोदय ने 'ओथेलो' के संक्षिप्त रूप को रेडियो से प्रसारित कराने की इच्छा प्रकट की। मैंने नाटक की स्क्रिप्ट तैयार की। रेडियो-प्रसारण में, याद है, तेजी ने डेसडिमोना की भूमिका निभाई थी। इसका एकाधिक बार प्रसारण किया गया, पर नाटक को मंच पर लाने की कोई बात न बनी। असल बात यह थी कि उसके लिए हमें अच्छी खासी रक़म की ज़रूरत थी और उसका हमारे पास टोटा था।

'हिंदी शेक्सपियर मंच' के नाम से फ़ंड एकत्र करने के हमारे अभियान में मित्रों के थोड़े-बहुत आर्थिक सहयोग के साथ हमें ब्रिटिश कौंसिल से एक अच्छी रक़म मिली—एक हज़ार रुपये की। इससे बड़ी राशि हमें अपने एक उद्योग-पति मित्र से मिली, जो अपना नाम गुप्त रखना चाहते थे। थोड़ी-बहुत कमी पड़े तो हम पूरी करने की स्थिति में थे ही। हमने नगर के 'दि लिटिल थियेटर ग्रुप' के साथ मिलकर 'ओथेलो' को मंचस्थ करने की योजना बनाई। ग्रुप के पास कुछ अच्छे अभिनेता और अनुभवी कार्यकर्ता थे। तय हुआ व्यय का दायित्व 'हिंदी शेक्सपियर मंच' का होगा, संगठन और प्रबंध का 'दि लिटिल थियेटर ग्रुप' का—यह तो कुछ ऐसा ही था—

> आओ पड़ोसिन पुए पकाएँ
> आटा-घी-गुड़ तेरा,
> ईंधन-पानी-चूल्ह-कड़ाही
> चकला-बेलन मेरा।

पर हम तैयार हो गए। हम जानते थे कि आटा-घी-गुड़ हो और चकला-बेलन न हो तो पुआ नहीं पक सकता। ग्रुप के पास चकला-बेलन थे। रिहर्सल होने लगे। मुख्य नायक ओथेलो का पार्ट रवीन्द्र कपूर को दिया गया। बाद को वे फिल्मी हीरो बनने की महत्त्वाकांक्षा लेकर बंबई गए, पर भाग्य ने साथ नहीं दिया; आजकल 'एक्सट्राज़' के रूप में फिल्मों में काम करते हैं। नीरा कुकरेजा डेसडिमोना बनी। पहले मैकबेथ की भूमिका में उतरे अशोक रामपाल ने इयागो का पार्ट किया। अपनी साफ़ आवाज़ और शुद्ध उच्चारण के कारण वे बी० बी० सी० (लंदन) में ले लिए गए। बाद को, सुना, वे वहीं व्यवस्थित हो गए हैं। इयागो की पत्नी एमीलिया का पार्ट तेजी ने किया; ओथेलो के नायब कैसियो का अमिताभ ने। दोनों ने घर के नाटक-अभिनय पाठ में अपनी भूमिका का काफ़ी अभ्यास किया था। गोपाल कौल को निर्देशन का भार सौंपा गया। पात्रों की

पोशाकें बन गईं। मंच पर काम आने वाले जरूरी सामान खरीद लिए गए। हमारी पूरी तैयारी थी कि ओथेलो '62 के अंत में मंच पर प्रस्तुत कर दिया जाएगा कि अचानक देश पर चीन ने आक्रमण कर दिया।

चीन से हमारे संबंध 1959 से बिगड़ने शुरू हुए जब दलाई लामा ने अपने कुछ अनुयायियों के साथ तिब्बत से भागकर भारत में शरण ली। चीन का आरोप था कि बिना भारत सरकार की शह-सहायता के दलाई लामा लासा से नहीं निकल सकता था। चीन के प्रति इस कथित विश्वासघात का बदला लेने के लिए चीन सरकार ने भारत के लद्दाख और नेफ़ा के बहुत बड़े भू-भाग पर अपना अधिकार घोषित कर दिया। इतना ही नहीं, भारत के दस सैनिकों को चीन ने यह आरोप लगाकर मार दिया था कि वे उसकी सीमा में घुस गए थे और उनकी लाशें भारत के प्रधान मंत्री के जन्मदिन पर भेंट की तरह वापस की थीं—14 नवंबर '60 को। पंडित जी ने अपनी सद्‌भावना में समझा कि यह संयोग होगा, पर इस देश में बहुतों ने ऐसा समझा था कि चीन ने यह जानबूझकर किया है और इस शत्रु कर्म के द्वारा उसने मानों घोषित कर दिया है कि इसके बाद हिंदी-चीनी भाई-भाई का युग समाप्त होता है और चीन सीमा के प्रश्न पर भारत से संघर्ष के लिए तैयार है। चीन के इस कुकृत्य से क्षुब्ध होकर मैंने 'चेतावनी' शीर्षक एक कविता लिखी थी—जो 'त्रिभंगिमा (फरवरी '61) में है—जिसमें मैंने एक तरह से चीन के साथ युद्ध की भविष्यवाणी कर दी थी। युद्ध के लिए नेहरू जी तैयार नहीं थे, चीन से युद्ध के लिए तो कभी नहीं। तब से समय-समय पर दोनों सरकारों के अधिकारियों की उच्चस्तरीय बैठकें कभी चीन, कभी भारत में होती रही थीं, सीमा-समस्या का समाधान निकालने के लिए; पर दोनों पक्षों के अपने-अपने दावों पर अड़े रहने के कारण कोई प्रगति न हो रही थी। चीन ने बलप्रयोग से अपना दावा सही सिद्ध करने के लिए 20 अक्टूबर '62 को पूरे दल-बल के साथ लद्दाख और नेफ़ा पर चढ़ाई कर दी। नेफ़ा के मोर्चे पर तो उसकी 20,000 की सेना ने से-ला दर्रे से घुसकर 36,000 वर्ग किलोमीटर पर कब्ज़ा कर लिया।

चीन का यह आक्रमण इतना अप्रत्याशित था कि सारा देश स्तब्ध रह गया; इसका सबसे बड़ा धक्का निश्चय पंडित जी को लगा, क्योंकि चीन की मैत्री उन्हीं की कल्पना थी, उन्होंने ही चीन से पंचशीली संबंध स्थापित किया था, वे ही अंतर्राष्ट्रीय फ़ोरमों पर चीन की वकालत करते रहे थे, उन्होंने ही हिंदी-चीनी भाई-भाई का नारा दिया था। पर जब दुश्मन सीमा के अन्दर घुसता चला आ रहा हो तब घबराकर बैठने का वक्त तो नहीं था। मोर्चे पर सेना जो कर सकती थी, वह कर रही थी, नागरिकों को अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए आह्वान किया गया। इंदिरा जी के नेतृत्व में एक सिटीज़ेन्स कौंसिल बनी, जिसको फ़िलहाल यह काम दिया गया कि वह नगर से ऊनी कपड़े-कम्बल और खाने-पीने की चीज़ें एकत्र करे जिनके पैकेट बनाकर मोर्चे पर भेजे जाएं—युद्ध हिम प्रदेश में हो रहा था। प्रधान मंत्री निवास पर राजधानी के बुद्धिजीवियों की एक सभा हुई जिसे इंदिरा जी ने संबोधित किया—इस समय लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी लेखनी से जनता का मनोबल ऊपर उठाएं, उसमें उत्साह जगाएं, जो भी मुसीबत आए उसका सामना करने के लिए हिम्मत बढ़ाएं, और

अंत में शत्रु को विफल-मनोरथ, पराजित और देश से खदेड़ भगाने के लिए इच्छा-बल दृढ़ाएँ।

देखते-ही-देखते सारे देश पर युद्ध का बुखार चढ़ गया। हमारे रिहर्सल बंद हो गए। तेजी सिटीज़ेन्स कौंसिल की ओर से काम करने को निकल पड़ीं। हमारे नाट्य-दल के और भी सदस्य अन्यान्य युद्ध-संबंधी कामों में लगे। देश का संकट कटेगा तो नाटक खेलने के लिए बहुत समय रहेगा।

पत्र-पत्रिकाओं में युद्ध संबंधी कविताएँ-लेख आने लगे, चीनियों के विरुद्ध और भारतीयों के शौर्य-साहस को प्रोत्साहित, प्रोत्तेजित करनेवाली कई किताबें निकलीं; दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने लोगों का ध्यान विशेष आकर्षित किया, जिसमें उन्होंने खुलकर हिंसा की वकालत की—

है एक हाथ में परशु एक में कुश है,
आ रहा नए भारत का भाग्य पुरुष है।
है जहाँ खड्ग सब पुण्य वहीं बसते हैं।

देखेंगे, कैसा प्रलय चंड होता है।
असिवंत हिंद कितना प्रचंड होता है।

असि पर अशोक को मुंड तोलना होगा,
गौतम को जय-जयकार बोलना होगा।

मधुसूदन को टेर, नहीं यह सुगत बुद्ध का काल।

समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप।

इसलिए अच्छे या बुरे उपाय का विचार छोड़ किसी तरह युद्ध जीतना चाहिए।

सभी द्विधाएं व्यर्थ समर में साध्य और साधन की।

एक ही पंथ अब भी जग में जीने का
अभ्यास करो छागियो रक्त पीने का।

पंडित जी ने अपनी आदर्शवादी भाषा में उस समय भी कहा था, हम लड़ें भी तो इंसानों की तरह, हैवानों की तरह नहीं।

इस पर दिनकर ने एक कविता लिखी थी—

अब भी पशु मत बनो,
कहा है वीर जवाहरलाल ने
पर यह सुधा-तरंग कौन पीने देता है?
बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है?

हमारे देश और हमारी जाति की एक कुप्रवृत्ति है कि हम किसी चीज को उठाते हैं तो उसकी अति ही कर देते हैं। अब जिसे देखो वही चीनियों के विरुद्ध कविताएँ लिख रहा है, जहाँ देखो वहीं चीनी-युद्ध पर कवि-सम्मेलन-मुशायरे हो रहे हैं। मैंने केवल तीन कविताएँ लिखीं—पहली उस विक्षोभ पर जो दोस्त द्वारा

पीठ में छुरा भोंकने का होता है—

अगर दुश्मन खींचकर तलवार करता वार—
उससे नित्य प्रत्याशित यही है—
चाहिए इसके लिए तैयार रहना;
यदि अपरिचित-अजनबी कर खड्ग ले आगे खड़ा हो जाय,
अचरज बड़ा होगा,
कम कठिन होगा नहीं उससे सँभलना;
किंतु युग-युग मीत अपना,
जो कि भाई की दुहाई दे दिशाएँ हो गुँजाता,
शीलवान जहान भर को हो जनाता,
पीठ में सहसा छुरा यदि भोंकता,
परिताप से, विक्षोभ से, आक्रोश से, आत्मा तड़पती।
नीति धुनती शीश, छाती पीट मर्यादा बिलखती,
विश्व मानस के लिए संभव न होता इस तरह का पाशविक आघात सहना।

दूसरी में मैंने चीनी आक्रमण के प्रति आभार प्रकट किया था—

क्योंकि अपने आपमें जो हो, हमारे लिए तो वह
ऐतिहासिक मार्मिक संकेत है, चेतावनी है।

पंचशीली पंचतही ओढ़े रज़ाई, आत्मतोषी डास तोषक;
सब्ज़बाग़ी, स्वप्नदर्शी योजना का गुलगुला तकिया लगाकर,
चिर पुरातन मान्यताओं को कलेजे से सटाए
देश मेरा सो रहा था,
बेख़बर उससे कि जो उसके सिरहाने हो रहा था।
तोप के स्वर में गरजकर,
प्रतिध्वनित कर घाटियों का स्तब्ध अंतर
नींद आसुर अजदहे ने तोड़ दी,
तंद्रा भगा दी।
देश मेरा उठ पड़ा है, स्वप्न झूठा पलक-पुतली से झड़ा है,
आँख फाड़े घूरता है घृण्य, नग्न यथार्थ को जो सामने आकर खड़ा है।
प्रांत, भाषा, धर्म, अर्थ-स्वार्थ का जो वात रोग लगा हुआ था—
अंग जिससे अंग से बिलगा हुआ था—
एक उसका है लगा धक्का
कि वह ग़ायब हुआ-सा लग रहा है,
हो रहा है प्रकट मेरे देश का अब रूप सच्चा!
अजदहे, हम किस क़दर तुझको सराहें,
दाहिना ही सिद्ध तू हमको हुआ है
गो कि चलता रहा बाएँ।

और अंतिम में मैंने इस शब्द-समर के गुल-गपाड़े के प्रति अपने देश को

आगाह किया था—

> शब्द सबलों की सफल तलवार हैं तो
> शब्द निबलों की नपुंसक ढाल भी हैं।
> साथ ही यह भी समझ लो,
> जीभ को जब-जब भुजा का एवज़ी माना गया है,
> कंठ से गाना गया है।
> और ऐसा अजदहा जब सामने हो कान ही जिसके न हों तो
> गीत गाना—हो भले ही वीर रस का वह तराना—
> गरजना, नारा लगाना, शक्ति अपनी क्षीण करना, दम घटाना।
> बड़ी मोटी खाल से उसकी सकल काया ढकी है।
> सिर्फ भाषा एक जो वह समझता है
> सबल हाथों की करारी चोट की है।

ये तीनों कविताएँ 'उघरहिं अंत न होइ निबाहू', 'बहुरि बंदि खलगन सति भाए' और 'सूर समर करनी करहिं...' शीर्षक से मेरे 'दो चट्टानें' काव्य संग्रह में दी गई हैं।

महीने भर बड़े दबे मन से दिन-प्रति-दिन हमने मोर्चे से आते युद्ध-समाचार सुने—भारतीय सेना हर मुहिम पर हारती पीछे हटती जा रही थी और दुश्मन आगे बढ़ता आ रहा था कि चीनियों ने अचानक अपनी ओर से युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। अपने मन की बात कहूँ तो इस घोषणा से मैंने जितना लज्जित-अपमानित अनुभव किया उतना शायद ही करता यदि चीनी हमें पराजित करते हुए हमारी राजधानी तक आ जाते। इस घोषणा का निहितार्थ था, 'ओ नामर्द, नपुंसको, तुम तो इस योग्य भी नहीं कि तुमसे लड़ा जाय।'—ये भाव मेरी एकाधिक कविताओं में भी व्यक्त हुए जो 'दो चट्टानें' में हैं।

देश में सामान्य स्थिति लौटी तो 'लिटिल थियेटर ग्रुप' वालों ने फिर इच्छा व्यक्त की, हम अपने अधूरे काम को पूरा कर डालें, अपनी योजना पर हमारे हज़ारों रुपये खर्च हो चुके हैं, अगर हमने उसे छोड़ दिया तो यह सारा रुपया बेकार चला जायगा। तय हुआ कि जनवरी, '63 के प्रथम सप्ताह में तीन शामों को हम अपने नाटक प्रस्तुत करें और उससे जो आमदनी हो वह 'वार फंड' में दे दी जाय। रिहर्सल होने लगे और सब तैयारी पूरी कर ली गई।

हमारी इच्छा थी कि पंडित जी, जैसे वे 'मैकबेथ' देखने आए थे, वैसे ही 'ओथेलो' देखने भी आएँ। चीनी आक्रमण के कारण पंडित जी को जो सदमा पहुँचा था उसमें वे ऐसे उत्सवों में नहीं जाते थे। पर जब हम उनके पास गए और हमने उनसे कहा कि नाटक हम वार-फंड की सहायता के लिए कर रहे हैं तो वे तैयार हो गए। जनवरी के जाड़े की रात में तीन घंटे बैठकर उन्होंने हमारा नाटक देखा; इंदु जी भी साथ आईं। हमारे प्रदर्शन से वे प्रसन्न हुए। हमें खुशी हुई कि हम उनका कुछ मन बहला सके। सुबह उन्हें कहीं जाना था, जाने से पहले उन्होंने हमारी सफलता पर बधाई स्वरूप फूलों का एक गुलदस्ता भेजा। उनसे यत्किंचित प्रशंसा या प्रोत्साहन पाना हमारे लिए बड़े गौरव की बात थी।

'62 के प्रारंभ में मैंने अपने कुछ पुराने, कुछ नए निबंधों का एक संग्रह प्रकाशित कराया—'नए-पुराने झरोखे' के नाम से जिसे मैंने समर्पित किया 'नवीन' जी की स्मृति में, जिनकी कुछ समय पूर्व मृत्यु हो चुकी थी, और श्री भगवतीचरण वर्मा को 'जिनके स्वरों ने एक दिन मेरे स्वरों को शह दी थी'।

'62 के अंत में मैंने अपनी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित किया 'चार खेमे चौंसठ खूंटे'। यह मैंने काव्य-जगत के अपने अग्रजों को समर्पित किया—मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, उदयशंकर भट्ट और सियारामशरण गुप्त को। इसमें 'त्रिभंगिमा' की तीन विधाओं की कविताएँ तो थीं ही, मंचगान और जोड़ दिया गया था; कुल मिलाकर 64 कविताएँ थीं, इस प्रकार 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' नाम शायद कुछ सार्थक लगे।

'62 में ही मुझे हार्निया का आपरेशन कराना पड़ा था। उससे आई शारीरिक दुर्बलता के साथ मानसिक दुर्बलता में जीवन के संबंध में जो शंकाएँ उठती हैं उनके प्रतिबिंब चार खूंटे की कई कविताओं में मिलेंगे।

जग के कीचड़-कांदो से लथपथ-मटमैली
काल-कंटकित-झंखाड़ों में अटकी-झटकी चिथ-चिरबत्ती
जीवन के श्रम-ताप-स्वेद से बुसी किचैली
चादर का अब मोह निवारो

×

सबल, जब दिवसांत काले
वेणु बन से घर मुझे लौटालना हो
तब गले में डालकर प्रश्वास-पाश कठोर
मुझको खींचना मत।

×

लौटती है लहर सागर को
अगम, गंभीर क्षण है
शांति रक्खो
मौन धारो।

इसे किसी अर्थ में आप मेरी विशिष्ट मनःस्थिति कह सकते हैं। पर पचपन वर्ष पर किसी गंभीर बीमारी के बाद मृत्यु की निकटता का आभास होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यों तो सब जानते हैं कि मौत तो आके रहेगी और वह किसी दिन किसी वक़्त आ सकती है, पर उसकी पदचाप सुनने पर मानव मन में बड़ी विचित्र प्रतिक्रिया होती है। वह विश्वास जगाना चाहता है कि वह पूर्णतया नहीं मरेगा; उसका प्राण, उसकी आत्मा, अथवा जीव-रूप में वह जीता जायगा, पर उस अवस्था में वह अपनी लघुता, अपनी सीमा, अपनी अशक्यता का बोध अवश्य करेगा और तब आवश्यकता होगी किसी महत् की, असीम की, शक्तिमान की, भगवान की, प्रभु की, परमात्मा की शरण में जाने की, उनका हाथ पकड़ने की, उनका सहारा लेने की। 'चार खेमे' की कुछ अंतिम कविताओं में मेरी इस अनुभूति की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। मेरी सामान्य मनः-स्थिति जानने के लिए 'चार खेमे' की शेष कविताएँ देखनी होंगी। 'त्रिभंगिमा' के

समान इन कविताओं में भी मैं साफ़ देखता हूँ कि कभी तो मेरी प्रेरणाएँ आभ्यांतरिक, वैयक्तिक हैं, और कभी देश-काल-समाज की स्थितियाँ मेरी अभिव्यक्ति के लिए प्रेरक बनती हैं—वहाँ भी कहीं मेरी दृष्टि आशावादी है, कहीं आदेशात्मक, कहीं उत्साहवर्द्धक; और कहीं विक्षुब्ध, व्यंग्यात्मक और कहीं निराश-हताश।

'मंचगान', जहाँ तक मुझे मालूम है, कभी मंच पर नहीं गाया गया। मैंने भी आगे कभी नहीं लिखा।

लोकधुनों पर आधारित गीत भी इस संग्रह में आखिरी बार लिखे गए हैं: संभवतः मुझे अनुभूति हो गई है कि लोकधुनों को अपनाने से कवि लोकधुनों के लोक यानी ग्रामीण वातावरण में बरबस खिच जाता है। गीतों का भाव क्षेत्र वैसे भी सीमित है। सामान्य कविता के लिए लोकधुनें शायद ही सहायक हो सकें। ये धुनें ऐसे समय की देन हैं जो शांत, स्निग्ध, सरल था। शोरगुल, संघर्ष, तनाव के युग की दूसरी धुनें होंगी। शायद कोई भविष्य का कवि उनकी खोज करे।

अमिताभ ने अपनी स्नातकीय डिग्री के लिए विज्ञान विषय लेकर अपनी मूल प्रवृत्ति को पहचानने में भूल की थी; परीक्षा-परिणाम संतोषजनक नहीं हुआ। विज्ञान लेकर आगे पढ़ने का रास्ता अब बंद हो गया था। वे अपने जीवन के इक्कीस वर्ष पूरे कर चुके हैं। मैं अपनी पिछली बीमारी के कारण अपने आगे के जीवन के विषय में शंकालु हो गया हूँ। मैं चाहता हूँ अमिताभ अब किसी काम से लगें। अजिताभ इस वर्ष सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा दे रहे हैं। तीन-चार महीने बाद वे दिल्ली आ जाएँगे। सफल होने पर वे डिग्री कोर्स के लिए तीन वर्ष और आगे पढ़ना चाहेंगे। ज़िंदगी हो तो तीन वर्ष और यानी 58 होने तक मैं सरकारी नौकरी में रह सकूँगा, उसके बाद न कोई नौकरी मिलने की संभावना है, न मैं करना ही चाहूँगा। अगर कुछ और आयु शेष है तो स्वतंत्र रूप से कुछ लिखना-पढ़ना चाहूँगा। आमदनी उससे बहुत अच्छी तो नहीं हो सकती। चाहता हूँ परिवार में कोई—कोई और कौन है?—अमिताभ हा अर्जन-सक्षम हो जाएँ कि यदि अचानक मेरा अंत आ जाय तो वे अपनी मां और भाई का भरण-पोषण कर सकें, संभव हो तो भाई को आगे पढ़ा सकें।

नवयुवक के लिए यह बड़ा कठिन समय होता है, जब वह विद्यार्थी नहीं रह जाता और नागरिक नहीं हो पाता—जब उसे शिक्षा-संस्था के सीमित क्षेत्र से निकलकर खुले संसार का सामना करना पड़ता है, जैसे कोमल सपनों से निकल कटु वास्तविकताओं का—जब उससे प्रत्याशा की जाने लगती है कि वह कोई ऐसा काम खोजे जिससे वह कुछ कमा सके। उसे जल्दी सूझता नहीं कि वह क्या करे, कहाँ काम माँगने जाए, किस प्रकार का काम वह कर सकेगा, किस प्रकार का काम उसके मन के अनुकूल होगा। अमित को भी कुछ महीने इसी ऊहापोह में बीते।

अमिताभ की अभिनय में रुचि थी। शेरवुड में, सर्वश्रेष्ठ अभिनय के लिए उसे केंडल कप मिला था। 'ओथेलो' के नाटक में उसने कैसियो की भूमिका सफलतापूर्वक निभाई थी। फिल्म में जाने की इच्छा उसने एकाध-बार प्रकट की

थी; फ़िल्मों की दुनिया में हमारा संपर्क सिर्फ़ पृथ्वीराज कपूर से था जो उन दिनों संसद-सदस्य भी थे। एक बार उन्हें घर पर बुलाकर हमने अमित के फ़िल्म में जाने की बात चलाई थी, पर उनकी ओर से कोई प्रोत्साहन न मिला। तभी आल इंडिया रेडियो में कुछ समाचार पढ़नेवाले लिए जाने वाले थे। अमित ने प्रार्थना-पत्र भेज दिया। उन्हें आवाज़-परीक्षण के लिए बुलाया गया, पर उनकी आवाज़ ना-क़ाबिल पाई गई। पता नहीं रेडियो वालों के पास अच्छी आवाज़ का मापदंड क्या था। आज तो अमिताभ के अभिनय में आवाज़ उनका ख़ास आकर्षण माना जाता है। पर अच्छा हुआ वे रेडियो में नहीं लिए गए। वहाँ चरमोत्कर्ष पर भी पहुँच कर वे क्या बनते ?—'मूस मोटाई लोढ़ा होई।' हमारी असफलता और नैराश्य में भी कभी-कभी हमारा सौभाग्य छिपा रहता है।

थोड़े दिनों बाद पता लगा कि बर्ड कंपनी कलकत्ता में एक्ज़ेक्यूटिव पोस्ट के लिए कुछ लोग लिए जाने वाले हैं। वे कलकत्ता गए और बर्ड कंपनी में ले लिए गए।

इधर अजिताभ सीनियर केम्ब्रिज प्रथम श्रेणी में पास हुए और इकानामिक्स (आनर्स) करने के लिए उनका नाम सेंट स्टीफेन्स कालेज में लिखा दिया गया।

सृजन की दृष्टि से '63 मेरे लिए बहुत अच्छा वर्ष नहीं रहा। पहले तो हार्निया की आपरेशनी कमज़ोरी से मैं न उबरा था, दूसरे अमिताभ के काम मिलने की चिंता जितनी उन्हें थी उससे कम मुझे नहीं थी; साथ ही इसपर भी मैं दृढ़ था कि मेरे प्रयत्न से काम मिले तो मिले, मेरे सपर्क-संबंधों के पभाव से कभी नहीं; अन्यथा उन्हें रेडियो में काम दिला देने के लिए सिर्फ़ मुझे मुँह खोलने भर की देर थी। मैं चाहता था अमिताभ जहाँ भी काम शुरू करें अपनी योग्यता-क्षमता सिद्ध करके, किसी के कहने-सुनने, सिफ़ारिश से नहीं। बैसाखी के सहारे चलना शुरू करनेवाला कभी अपने पैरों का बल नहीं जानता। मेरी दृष्टि में उन्नति-प्रगति-विकास का पहला क़दम आत्मविश्वास है।

उसी वर्ष मेरे एकमात्र मामाजी बीमार पड़े और उनकी मृत्यु हो गई। उनका नाम विंध्येश्वरी प्रसाद था। उम्र उनकी उस समय 75 के क़रीब होगी। मामी जी बारह वर्ष पूर्व जा चुकी थीं। उनके कोई संतान न थी। अपने पिता के बनवाए मकान में, पुराने कटरा, इलाहाबाद में, अकेले रहते थे। मकान बड़ा था, तीन चौथाई उन्होंने किराए पर उठा दिया था और शेष में खुद रहते थे। पचपन वर्ष की अवस्था में नौकरी से अवकाश प्राप्त कर लिया था और फिर कोई नौकरी न की थी—किसके लिए करते ? सस्ती का समय था, मकान से जो किराया आता था उसी में उनका और मामीजी का भरण-पोषण हो जाता था। मामी जी की मृत्यु उनके लिए बड़ी दुखद और उनके जीवन में बड़ी परिवर्तनकारी घटना थी। वे बड़ी व्यवहारकुशल स्त्री थीं और घर-गिरिस्ती उन्हीं के बूते चल रही थी। उनके चले जाने पर मामाजी ने अपने को बिलकुल एकाकी, असमर्थ, किंकर्तव्यविमूढ़ पाया।

मैंने उन्हें अपने पास रहने को बुलाया, पर वे तैयार न हुए, आज़ाद-तबीयत, मनमानी रहने के अभ्यासी थे। बोले, 'बच्चा, रहूँगा मैं अपने घर, हाँ, ईमारी-बीमारी में मेरी खोज-ख़बर लेना और मरूँ तो मेरी मिट्टी को पार लगा देना।'

उन्होंने घर के बर्तन-भाँड़े, मामी के ज़ेवर आदि बेच दिए और रुपये बैंक में जमा कर दिए। उनके घर का सामान था एक पलंग, एक आरामकुर्सी, ज़मीन पर बिछाने की एक चटाई, कपड़े रखने के लिए एक-दो बक्से, 40-50 किताबें रखने के लिए एक छोटी आलमारी, एक क़लमदान, पानी पीने के लिए एकाध लोटा-गिलास, बस। जब से मामी मरीं तब से न उनके घर चूल्हा जला, न उन्होंने मकान की सफ़ाई-पोताई कराई। बारह बरस पहले मामी ने पूजा करके एक फूल-माला खूँटी पर टाँग दी थी, वह उसी तरह सूखी-सी टँगी हुई थी, मकान जाले-माले से भरा था। वे एक तरह से अघोरी का जीवन जी रहे थे।

मुँह अँधेरे ही घर पर ताला लगा छड़ी-छाता ले निकल पड़ते। गंगा जी की ओर चले जाते, वहीं नहाते-धोते, किनारे बसे साधू-फकीरों की संगत करते, वहीं की दूकानों से कुछ ले खा-पी लेते। शाम को नगर में कहीं कथा-कीर्तन-भजन होता तो वहाँ जा बैठते और रात को घर लौटते। जैसे-तैसे बिस्तर पर पड़ रहते। नींद न आती तो हरीकेन लालटेन के उजाले में कुछ पढ़ते, कुछ लिखते; धार्मिक किताबें पढ़ने और उर्दू के शेर लिखने का उनको शौक़ था, चार-पाँच मोटी-मोटी कापियाँ भर डाली थीं। यही उनकी साल के 365 दिनों की दिनचर्या होती। खर्च उनका मकान के किराए से पूरा हो जाता। कुछ खास ज़रूरत होती तो बैंक से थोड़ा-बहुत निकलवा लेते। सेहत उनकी अच्छी थी। एक दिन घर आए तो मैंने पूछा, 'मामाजी, आपकी तंदुरुस्ती का राज़ क्या है ?' बोले, 'पैदल चलना और बेफ़िक्री।'

वे बीमार पड़े—मेरी याद्दाश्त में पहली बार—तो उनके मित्र श्री अयोध्या-नाथ, अवकाशप्राप्त एक्साइज़ कमिश्नर, ने मुझे तार दिया। मैं एक सप्ताह की छुट्टी लेकर इलाहाबाद गया, पंत जी के साथ ठहरा। मामाजी के ऊपर फ़ालिज गिरा था। नीचे किराएदार के घर के लोग उनकी देखरेख कर रहे थे। घर में उनके इतनी गंदगी थी कि वहाँ डाक्टर को भी बुलाते शर्म लगती। मैंने मोतीलाल नेहरू अस्पताल में उनको भरती कराने का प्रबंध किया; एम्बुलेंस लेने आई तो अस्फुट स्वर में बोले—फ़ालिज का असर ज़बान पर भी पड़ा था—'अब लौटकर इस घर में शायद ही आऊँ।' इशारे से किसी किताब में पास बुक बताई, कहा, 'भगवान ने तुमको बहुत दिया है, रुपये निकलवाकर दान-पुन्न कर देना।' चौथे रोज़ अस्पताल में ही उनकी मृत्यु हो गई; मुहल्ले में खबर करा दी। वहीं से हम उनकी अर्थी गंगा जी ले गए और पंचाग्नि करा दी। जैसी उनकी इच्छा थी, मेरे हाथों उनकी मिट्टी पार लग गई।

युनिवर्सिटी के नाते अपने शिष्य श्री गोपीनाथ एडवोकेट (अब हाई कोर्ट जज) से उत्तराधिकार प्रमाण-पत्र के लिए कचहरी में अर्ज़ी दिला दी। मेरे अलावा और तीन-चार लोगों ने उत्तराधिकार के लिए अर्ज़ियाँ दी थीं; जिन्होंने ज़िंदगी में कभी बात न पूछी थी अब रिश्ता जोड़ उनके मकान-माल के दावेदार बन आगे आ गए थे। मुक़दमे के सिलसिले में मुझे इलाहाबाद कचहरी के आधे दर्जन चक्कर लगाने पड़े, अंततोगत्वा फ़ैसला मेरे पक्ष में हुआ। बैंक में मामाजी के लगभग दस हज़ार रुपये जमा थे। गली के उस पुराने मकान को रखकर मैं क्या करता। किराएदार खरीदना चाहता था; मैंने मय-सरोसामान आठ हज़ार में उसे बेच दिया, केवल दो पुस्तकें मामाजी की वहाँ से लीं, जो अब भी मेरे पास

सुरक्षित हैं—एक थी मेरे नाना के हाथ की लिखी फ़ारसी की 'दीवाने हाफ़िज़' और दूसरी थी उनके परिवार में कई पुश्तों से चली आई रामायण की हस्त-लिखित पोथी—उर्दू लिपि में। मामाजी के लिखे शेरों की चार-पाँच कापियाँ भी मैं लाया।

उनकी लिखावट पढ़ पाना मेरे लिए आसान न था। राजपाल द्वारा प्रकाशित उर्दू के लोकप्रिय शायर सिरीज़ के संपादक प्रकाश पंडित को मैंने वे कापियाँ दिखाईं, कुछ भागों का मैंने नागरी लिप्यंतर भी उनसे कराया। मामा जी की शायरी में कुछ भी ऐसा न था जिसे छपाया जा सकता। उन्होंने अपना वक़्त काटने के लिए क़लम-घिसाई भर की थी। फिर भी उनकी कापियाँ मेरे कागद-पत्रों में अब भी सुरक्षित हैं।

उनकी अंतिम इच्छा के अनुसार मैंने उनकी पाई-पाई दानपुन्न में लगा दी।

'64 का आरम्भ भी बहुत अच्छा नहीं हुआ। छुटपन से ही अमिताभ की गर्दन में बाईं तरफ़ मटर के दाने की तरह की सूजन थी। उमर के साथ वह कुछ बढ़ी थी। जिन दिनों वे किरोड़ीमल कालेज में पढ़ते थे, उसमें यदा-कदा कुछ दर्द भी होता। हमने सफ़दरजंग के सर्जन डा० अय्यर को दिखाया। उन्होंने एक छोटा आपरेशन कर उसका एक अंश निकाल बायोप्सी के लिए भेजा और रिपोर्ट आने पर बताया यह कोई हानिकर सूजन नहीं; बल्कि इसे छूने-छेड़ने से कुछ हानि हो सकती है। बात आई-गई हो गई। जिन दिनों अमिताभ बर्ड कंपनी में काम कर रहे थे, गले के दाने की सूजन फिर बढ़ने लगी और दर्द कुछ ज़्यादा ही होने लगा। कपनी से संबद्ध डाक्टर ने देखा तो कहा कि यह ट्यूमर है, शायद बुरे क़िस्म का नहीं, पर इसका फैलना आगे चलकर कभी गंभीर कष्ट दे सकता है। कुछ और विशेषज्ञों की राय ली गई। सबकी राय हुई कि आपरेशन करके निकलवा देना ही अच्छा होगा।

तेजी कलकत्ता गईं। वहाँ के वुडलेंड नर्सिंग होम में नगर के एक प्रसिद्ध सर्जन ने अमिताभ के ट्यूमर का आपरेशन किया। गर्दन का आपरेशन नाजुक था ही। दो घंटे आपरेशन में लगे। तेजी घबराई बाहर बैठी थीं पसीने-पसीने। जब डाक्टर आपरेशन थियेटर से निकला तब उसने बताया कि ट्यूमर गर्दन से चलकर कंधे तक फैल गया था, जहाँ तक भी उसका फैलाव मिला वह काटता गया और उसे पूरी तरह से निकाल दिया; ख़ैरियत यह थी कि ट्यूमर नीचे की ओर फैला था, ऊपर नहीं गया था, दिमाग़ की ओर जाने पर आपरेशन कठिन हो जाता। तेजी कई सप्ताह कलकत्ता रुकी रहीं। जब अमिताभ सामान्य हो दफ़्तर जाने लगे तब वे लौटीं। पद्मजा नायडू उन दिनों बंगाल की गवर्नर थीं; उनसे हमारी पारिवारिक मैत्री थी; उनके कारण अमिताभ के आपरेशन के दौरान हमें कुछ ऐसी सुविधाएँ मिल गईं जो अन्यथा हमें सहज सुलभ न होतीं।

इक्कीस बरस तक इस ट्यूमर के कारण किसी प्रकार के कष्ट की शिकायत न की गई। बायाँ कंधा अमित का ज़रूर कुछ झुक गया था, पर उससे किसी प्रकार की तकलीफ़ महसूस न होती थी। अब जब उन्हें माइस्थीनिया ग्रेविस की शिकायत हुई है और वे अमरीका अपना इलाज कराने गए हैं तब वहाँ के एक विशेषज्ञ की राय है कि ट्यूमर का आपरेशन करते समय कई ज़रूरी नसें कट गई थीं और उसी के परिणामस्वरूप अब मांसपेशियों में यह निर्बलता आई है।

शरीर एक बड़ी रहस्यात्मक मशीनरी है। डाक्टर, वैद्य, हकीम उसके एक अंग को लाभ पहुँचाने में उसके दूसरे भाग को हानि भी पहुँचा सकते हैं। फिर हम जो शरीर विज्ञान में कोरे हैं उन्हीं की राय पर चलने के अतिरिक्त कर भी क्या सकते हैं। आज हम ऐसे परस्पर संबद्ध समाज में रहते हैं कि हम अपनी ग़लतियों का ही परिणाम नहीं भोगते, दूसरे की ग़लतियों का भी, साथ ही दूसरों की सही सूझों का लाभ भी क्या हम कम उठाते हैं ?

जनवरी '64 में ही ख़बर आई कि भुवनेश्वर में पंडित नेहरू पर लकवे का आक्रमण हुआ, जहाँ वे काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने गए थे। चीनी आक्रमण के बाद जिन्होंने पंडित जी को पिछले साल भर देखा हो उनके लिए यह पक्षाघात बहुत अप्रत्याशित नहीं था। साल भर से उनकी तबीयत गिरी-गिरी रहती थी, वे बराबर टूट रहे थे। चीनी आक्रमण उनके लिए देश के किसी भूमि-भाग पर आक्रमण मात्र न था; वह उनके आदर्शों, स्वप्नों, आस्थाओं-विश्वासों पर वज्राघात था। उसके बाद पंडित जी को जैसा मैंने पाया था, हूबहू, अपनी एक कविता में चित्रित करने का प्रयत्न किया था। चीनी जिस दिन हमें पराजित, पद-मर्दित कर चले गए, जिस दिन सदियों की शांति परम्परा और सद्य: संपादित पंचशीली समझौते को तोड़कर चले गए, जिस दिन नैतिकता, मानवता और सभ्यता पर बर्बरता का नग्न नृत्य करके चले गए—

उस दिन देश का सबसे सीधा मेरुदंड झुक गया,
उस दिन देश का सबसे गर्वोन्नत भाल नत हो गया,
उस दिन देश का सबसे बड़ा जवान वृद्ध हो गया,
उस दिन बहुत-सी आशाएँ कुम्हला गईं,
उस दिन बहुत से स्वप्न तिरोहित हो गए,
उस दिन बहुत से आदर्शों का खोखलापन सिद्ध हो गया—
तब से उस जवान के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गईं,
झाइयाँ छा गईं !
तब से वह जवान न दिल खोलकर हँसा,
न मन से मुस्कराया,
न उसने होली खेली,
न दिवाली का दीप जलाया,
(न अपना जन्मदिन मनाया)
उसने अपने रक्त की अंतिम बूँदों तक
अपनी नसों के अंतिम स्पंदन तक,
अपनी छाती की अंतिम धड़कन तक,
अपनी चौकी पर डटे रहकर
सारे देश के अपमान,
सारी जाति की लज्जा का मूल्य चुकाया।
(मूल्य चुकाने वाला—दो चट्टानें)

भुवनेश्वर से जब इंदु जी पंडित जी को लेकर लौटीं, मैं एक सुबह उन्हें

देखने चला गया। इंदु जी उनका हाथ पकड़कर उन्हें तीन मूर्ति हाउस के पीछे के लान में घुमा रही थीं। पक्षाघात का असर मुख्यतया उनके बाएँ अंग पर पड़ा था। लान की दूब पर हल्की-हल्की ओस अभी सूखी न थी, जिस पर चलने से गीले दाग़ बन जाते थे। पंडित जी के दाहिने पाँव के दाग़ अलग-अलग उभर रहे थे और बाएँ पाँव की एक लंबी गीली पट्टी बन रही थी क्योंकि वे उसे उठा न सकते थे—घसीट रहे थे।

देखकर दुख हुआ।

समय ने क्या से क्या कर दिया था।

याद आया चालीस बरस पहले का जवान जवाहर। प्रयाग में अर्द्धकुंभ पड़ा था। संगम को किसी कारण असुरक्षित समझकर सरकार ने वहाँ ज़ाने पर रोक लगा दी थी। ऊँची-ऊँची बल्लियाँ गाड़कर मार्ग अवरुद्ध कर दिया गया था। पंडित मदन मोहन मालवीय अपने अनुयायियों के साथ धरना देकर बैठे थे—स्नान करेंगे तो संगम पर। उधर सरकार रोक हटाने के लिए तैयार न थी। जवाहर लाल को खबर लगी, आए और बात की बात में कूदकर बल्लियों पर चढ़ गए और उन्हें हिला-हिलाकर गिराने लगे, रास्ता बन गया, मालवीय जी ने जाकर स्नान किया और सरकार के सवार और सिपाही देखते ही रह गए।

वही पंडित जी आज ?···

वही पंडित जी जिन्हें कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऋतुराज कहा था ! ···ऋतुराज से याद आया, हम उस वर्ष भी वसंत पर पंडित जी को मिलने गए थे। वे अपने कमरे में अकेले कुर्सी पर बैठे थे; सुबह की हल्की-सी धूप उनके ऊपर पड़ रही थी। उनके पैरों पर एक कम्बल पड़ा था—पीले रंग का—शायद इंदु जी ने जानबूझकर वसंती कबंल आज के दिन उन्हें दिया था। तेजी ने उन्हें देखकर कहा था—

वसंती कबंल ! तो आज आप भी वसंत मना रहे हैं !

पंडित जी ने एक उदास मुस्कान दी। बोले, तुमने कहा तो मेरा ध्यान इस ओर गया—आज वसंत है ?··· (कमला जी से पंडित जी का विवाह वसंत के दिन हुआ था।)

लेकिन मुझे वह पीलापन उन पत्तियों के पीलेपन से मिलता-जुलता लगा जो सामने के पेड़ों से गिरकर ज़मीन पर बिखर रही थीं।

थोड़ा सँभलते ही वे फिर काम करने लगे थे, कुछ ज्यादा ही, शायद उन्हें आभास हो गया था, उनके पास समय अब कम है। 26 मई की रात को सोने जाने के पहले उन्होंने अपने निजी सचिव से कहा था, 'मैं समझता हूँ मैंने अपना सब काम खत्म कर दिया।'

और 27 की सुबह को उठकर जब वे सोये तो फिर कभी नहीं जगे। उनकी मेज़ पर राबर्ट फ्रास्ट की ये पंक्तियाँ लिखी रखी थीं—

> The woods are lovely dark and deep
> But I have promises to keep
> And miles to go before I sleep,
> And miles to go before I sleep.

(गहन, सघन, मनमोहक बन-तरु मुझको आज बुलाते हैं,
किंतु किये जो वादे मैंने, याद मुझे आ जाते हैं।
अभी कहाँ आराम बदा, यह मूक निमंत्रण छलना है।
अरे अभी तो मीलों मुझको, मीलों मुझको चलना है।)
(भाषा अपनी भाव पराए)

शायद ये पंक्तियाँ बहुत दिनों पहले मेज़ पर रख ली गई थीं।
तब से वे मीलों चलकर अपना सफ़र पूरा कर चुके थे।
और अब अनंत निद्रा में सोने चले गए थे।

दो रातों तक उनका शव दर्शनार्थियों के लिए तीन मूर्ति हाउस में रखा रहा। उन रातों को फ़िराक़ की यह ग़ज़ल हम कितनी-कितनी बार दुहराते !

ग़ज़ल के साज़ उठाओ बड़ी उदास है रात,
नवा-ए-'मीर' सुनाओ बड़ी उदास है रात।

अभी तो ज़िक्रे-सहर दोस्तो है दूर की बात,
अभी तो देखते जाओ बड़ी उदास है रात।

सुना है पहले भी ऐसे में बुझ गये हैं चराग़,
दिलों की खैर मनाओ बड़ी उदास है रात।

दिये रहो युँ ही कुछ देर और हाथ में हाथ,
अभी न पास से जाओ बड़ी उदास है रात।

याद आता नेहरू जी की आँख बंद होने के बाद, इंदु जी का उनके ठंडे हाथ को पकड़े उनके शव के पास बैठी रहना ! ...

कोई कहो ये ख़्यालों से और ख़्वाबों से,
दिलों से दूर न जाओ बड़ी उदास है रात।

समेट लो कि बड़े काम की है दौलते-ग़म,
इसे युँ ही न गँवाओ बड़ी उदास है रात।

इसी खँडर में कहीं कुछ दिये हैं टूटे हुए,
इन्हीं से काम चलाओ बड़ी उदास है रात।

लिये हुए हैं जो बीते गमों के अफ़साने,
वो ज़िन्दगी ही बुलाओ बड़ी उदास है रात।

और याद आता डंकन की मृत्यु के बाद मैकबेथ का प्रलाप—

(क्योंकि) इस घड़ी से जीवन में बड़ी चीज़ कुछ
नहीं रह गई; सिर्फ़ रह गए गुड़िया-गुड्डे;
गौरव और गुमान उठ गया; जीवन-मदिरा
खींच ली गई, औ' अब जग की मधुशाला में
डींग मारने को सीठी भर बची हुई है...

29 को नेहरू जी का शव अग्नि को समर्पित कर दिया गया।

उनका वसीयतनामा अंग्रेजी में प्रकाशित होता है। उसका अनुवाद करता हूँ। उनका यह अंतिम काम है जो मैं कर रहा हूँ। तब मुझे क्या मालूम था कि पंद्रह वर्ष बाद यह अनुवाद अमिताभ की आवाज़ में रेकार्ड किया जायगा और नेहरू संग्रहालय में होनेवाले सों-लुमेयर (ध्वनि-प्रकाश) में सुनाया जाया करेगा।

अस्थि-विसर्जन के लिए प्रयाग को जानेवाली गाड़ी से मैं भी जाता हूँ,—हर स्टेशन पर शब्दशः जनसागर उमड़ पड़ता है। गाड़ी चलती है तो दोनों ओर लोगों को दूर तक दौड़ते चले आते देखता हूँ। नेहरू की राख में भी कितना ज़बरदस्त चुम्बक है!

इलाहाबाद में अमिताभ से भी भेंट हो जाती है। वे कलकत्ता से अस्थि-विसर्जन पर उपस्थित रहने को आ गए थे और वहीं से वापस चले गए।

दिल्ली में नेहरू जी का उत्तराधिकारी चुनने का काम शुरू हो जाता है।

श्री लालबहादुर शास्त्री हमारे नए प्रधान मंत्री बनते हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी सूचना एवं प्रसारण मंत्री के पद पर उनके कैबिनेट में हैं।

पंडित जी के चले जाने का सदमा सारे देश पर है। मैं पिछले दस वर्षों से उनके संपर्क में कुछ अधिक ही रहा था। मैं अपना ग़म अपनी कुछ कविताओं में ग़लत करता हूँ जो मेरे संग्रह 'दो चट्टानें' में बाद को दी गईं—'27 मई', 'गुलाब की पुकार', 'द्वीप लोप', 'गुलाब, कबूतर और बच्चा', 'दो फूल'।

'64 में भी मेरे मौलिक सृजन का कोई रूप प्रकाश में नहीं आया। पिछले कई वर्षों से समय-समय पर मैं रूसी कविताओं का अनुवाद उनके अंग्रेज़ी अनुवादों के आधार पर करता रहा था। इस वर्ष मैंने सबको एकत्र कर 64 रूसी कविताएँ' के नाम से प्रकाशित कराया। संकलन मैंने रामचरितमानस के रूसी अनुवादक अलेक्सेई वरान्निकोव की पुण्य-स्मृति में उनके पुत्र प्योत्र वरान्निकोव—उस समय रूसी दूतावास में सांस्कृतिक संपर्क अधिकारी—और उनकी पत्नी रीमा को समर्पित किया। 'चौंसठ रूसी कविताएँ' पर मुझे सन् '67 में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार मिला। प्योत्र और रीमा दोनों हिन्दी बहुत अच्छी जानते थे; तीन वर्षों बाद रीमा ने मेरी कुछ कविताओं का अनुवाद रूसी में करके 'लिरिका' नाम से प्रकाशित कराया।

'53 में मेरी सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संकलन 'सोपान' नाम से निकला था। वह समाप्त हो गया था। उसके बाद दस वर्षों में मैंने और बहुत सी कविताएँ लिखी थीं। मेरे प्रकाशक एक नया संकलन निकालना चाहते थे जो अद्यतन हो। पुराने संकलन में बाद की कृतियों से श्रेष्ठ कविताएँ जोड़कर मैंने एक नया संकलन तैयार किया जो 'अभिनव सोपान' के नाम से प्रकाशित हुआ। पं० सुमित्रानंदन पंत ने उसके लिए एक भूमिका लिखी।

1965 का वर्ष मेरे लिए बड़े महत्त्व का था। उस वर्ष महाकवि ईट्स की जन्मशती पड़ती थी। डा० हेन से संपर्क रहने के कारण मुझे इसका पता तो था कि इंग्लैंड और आयरलैंड में इस अवसर पर कौन-कौन से समारोह आयोजित किये जा रहे हैं। आयरलैंड के कुछ समारोहों में डा० हेन विशेष रूप से भाग लेने

वाले थे। उनकी इच्छा थी कि इस अवसर पर मैं ईट्स पर कोई पेपर तैयार करूँ। स्लाइगो के एक समारोह के लिए उन्होंने मुझे आमंत्रित करा लिया था, पर जाना मेरे लिए संभव न था। मैंने उनको लिखा कि मैं भारत में ही अपनी रीति से ईट्स के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करूँगा। इस वर्ष मैंने केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में डाक्टरेट के लिए प्रस्तुत अपना शोध प्रबंध 'W. B. Yeats & Occultism' प्रकाशित कराया—मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से, जिसके लिए मेरी प्रार्थना पर डा० हेन ने एक बड़ी सारगर्भित भूमिका लिखी।

अंग्रेज़ी कवियों में ईट्स मेरे बहुत प्रिय कवियों में रहे हैं। जीवन और काव्य संबंधी उनके और अपने दृष्टिकोण में मैंने बड़ी समता देखी थी। इसी कारण उन्हें मैंने अपने विशेष शोध का विषय बनाया था। वस्तुत: उनके काव्य से मेरा संबंध दो स्तरों पर था—रागात्मक और विवेचनात्मक। विवेचनात्मक का परिणाम मेरा शोध-प्रबंध था; विवेचन-विश्लेषण शुष्क प्रक्रिया है, कुछ स्थापनाओं को सिद्ध करने के लिए बहुत-सा तथ्य जुटाना पड़ता है। केवल यही करना होता तो मैं पागल हो जाता। ग़नीमत यह थी कि विवेचन के साथ मैं ईट्स के काव्य का आनन्द भी ले रहा था। ईट्स पर लिखी एक कविता में मैंने इसका संकेत किया है—कविता 'आरती और अंगारे' में है। उसका एक पद सुनें—

काव्य-सिंधु में उतर तुम्हारे
मैंने तह को खूब थहाया,
मोती जो दो-चार निकाले
वह माँझी का फ़र्ज निभाया,
इनको जग परखे, मेरा तो
सुख सबसे बढ़कर था, उसकी
चिर-चंचल वर्तुल लहरों से क्रीड़ा की, विलसा मनमानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे आयर के शायर अभिमानी।

'माँझी' से मैं संकेत कर रहा हूँ मरजीवे का, जो मोती पाने के लिए सीधे समुद्र की तह में उतरता है।

मोती उपजै सीप में, सीप समंदर माहिं
कोई मरजीवा काढ़सी, जीवन को गम नाहिं। (कबीर)

'माँझी' यहाँ प्रतीक है शोधार्थी का जो कुछ सत्य-तथ्य की खोज में काव्य-सिंधु के तह तक जाता है—उसे समुद्र की लहरों के उच्छल-उल्लास से कोई संबंध नहीं, उसे उसके कल-कल, छल-छल वीचि-विलास से कोई सरोकार नहीं, उसके नील-शीतल रोमांचकारी जल-स्पर्श से कोई मतलब नहीं। उस सबका आनंद तैराक लेता है—काव्य-सिंधु की सतह पर तैरनेवाला। सत्य की शोध-प्रक्रिया के लिए ईट्स रेखा-सीधे प्रतीकों का उपयोग करते हैं, सौंदर्यानंद के लिए वर्तुल-गोलाकार प्रतीकों का। मेरी कविता में भी यह संकेतित है। माँझी सीधे रेखा की तरह नीचे उतरता है; तैराक वर्तुल लहरों से खेलता है। मैं कहना चाहता हूँ कि मैंने शोध का शुष्क कर्म करते हुए काव्यानंद भी कम नहीं भोगा।

ईट्स को अपनी श्रद्धांजलि मैं काव्य-शोधक के रूप में ही नहीं देना चाहता था; काव्यरसिक के रूप में भी मैंने उनकी 101 कविताएँ चुनीं और उनका अनुवाद हिंदी में किया और उसे मैंने 'मरकत द्वीप का स्वर' के नाम से प्रकाशित कराया। आयरलेंड अपनी हरीतिमा के कारण Emerald Island कहलाता है, 'मरकत द्वीप'। संकलन मैंने श्रीमती ईट्स की पुण्य-स्मृति में समर्पित किया—

जिन्होंने मेरे डबलिन-प्रवास में एक दिन ईट्स की अँगूठी
मेरे दाएँ हाथ की कनिष्ठा में पहना दी और जब
ठीक आई तो बोलीं,
'विली की कनिष्ठा बिलकुल तुम्हारी जैसी थी !'—
इन अनुवादों की यत्किंचित सफलता का श्रेय
मैं उसी जादुई स्पर्श को देता हूँ।

शताब्दी के अवसर पर मैंने ईट्स पर एक परिचयात्मक लेख 'धर्मयुग' के लिए लिखा जो परिशिष्ट-1 के रूप में 'मरकत द्वीप का स्वर' के साथ छापा गया है। उसी अंक में मेरे द्वारा किए गए ईट्स की कुछ कविताओं के अनुवाद भी छपे थे।

'65 में ही मैंने अपनी कविताओं का संकलन 'दो चट्टानें' प्रकाशित किया, जिस पर '67 में मुझे साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला।

आपको स्मरण होगा कि मैंने विदेश मंत्रालय में हिंदी विशेषाधिकारी के रूप में भारत सरकार की सेवा 27 दिसंबर 1955 को आरम्भ की थी। सरकारी सेवा के संशोधित नियमों के अनुसार अवकाश प्राप्त करने की आयु 58 वर्ष रखी गई थी—पहले 55 ही थी। 27 नवंबर 1965 को मैंने 58 वर्ष पूरे कर लिये। उस समय तक मैं सरकारी सेवा में 9 वर्ष 11 महीने रह चुका था। अवकाश प्राप्त करने पर पेन्शन का अधिकारी मैं तभी हो सकता था जब मेरी सेवा कम से कम दस वर्ष की हो। चूंकि मेरी सेवा दस वर्ष से एक महीना कम थी, इसलिए मुझे पेंशन नहीं मिल सकती थी। मैं चाहता था या तो मेरी सेवा एक मास के लिए और ले ली जाय या विदेश मंत्रालय में आने से पूर्व आल इंडिया रेडियो की मेरी तीन महीने की सेवा मेरी सरकारी सेवा में जोड़ ली जाय और इस प्रकार मुझे पेंशन का अधिकारी बना दिया जाय। यह तो मेरे प्रति बड़ा अन्याय होगा कि केवल एक महीने की तकनीकी कमी के कारण मुझे पेंशन से वंचित किया जाय जबकि वास्तविकता यह है कि आल इंडिया रेडियो में काम करते हुए भी मैं सरकारी सेवा में ही रहा हूँ। मैंने इस आशय का एक प्रार्थनापत्र प्रशासन-प्रभागीय सह-सचिव की मार्फ़त विदेश सचिव को दे दिया। पर मुझे यही उत्तर दिया गया कि विदेश मंत्रालय में सेवा आरम्भ करने की तिथि मैंने 27 दिसंबर दी थी—मैं उसी समय यह आग्रह करता कि मेरी सेवा अक्टूबर से समझी जाय तो उस पर विचार किया जा सकता था (दस वर्ष आगे देखने की व्यवहार-बुद्धि कहाँ कविवर बच्चन में !) पर अब इसमें कोई परिवर्तन करना संभव न होगा। और मैं किसी हालत में पेंशन का अधिकारी न समझा ज़ा सकूंगा। इस संबंध में सरकार के नियम बहुत रूढ़ हैं। एक महीना तो बहुत

होता है, एक दिन की भी छूट नहीं दी जा सकती थी।

मैंने सोचा इस मामले में एक बार विदेश मंत्री से भी मिलकर देख लिया जाय।

मैं समय लेकर प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री से मिला, जो विदेश मंत्री भी थे। मैंने उनके सामने सारी स्थिति रख दी। उन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ मेरी बातें सुनीं। उस दफ़्तर में बैठे हुए असंभव था कि याद न आए कि यहीं मैं पंडित जी से कितनी बार मिला था। चलते समय मेरे मुँह से निकल गया, आप पंडित जी की कुर्सी पर बैठे हैं, मेरे संबंध में निर्णय लेते हुए मेरी प्रार्थना सिर्फ़ इतनी है कि आप एक बार सोचें कि पंडित जी होते तो मेरे संबंध में क्या करते।

उन्होंने दो दिन बाद मुझे बुलाया। कहा, मुझे अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि आपके प्रार्थनापत्र पर जो निर्णय विदेश सचिव ने लिया है वह नियमानुकूल है और मैं उसके विपरीत न जाना चाहूँगा। आपकी नियमित सेवा विदेश मंत्रालय में 27 नवंबर को समाप्त हो जाएगी। पर देश आपकी सेवा किसी और रूप में ले सकता है, अभी आप चार महीने कान्ट्रैक्ट बेसिस पर अपनी जगह पर काम करते जायें। आपको वही वेतन मिलता रहेगा जो आपको अब मिलता है। डा० राधाकृष्णन—हमारे राष्ट्रपति—आपको जानते हैं ? एक बार उनसे मिल लें।

मैं एक बार राष्ट्रपति जी से मिल आया। वे मेरे नाम-काम से अपरिचित न थे, फिर भी उन्होंने मुझसे मेरा बायोडाटा माँगा जो मैंने उन्हें भेज दिया।

मुझे कुछ आभास तो हो गया कि संभवतः प्रधान मंत्री के सुझाव पर राष्ट्रपति मुझे राज्यसभा के लिए मनोनीत करने पर विचार कर रहे थे।

इस बीच देश की पृष्ठभूमि में पाक-भारत युद्ध, सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव पर युद्धविराम, सोवियत मध्यस्थता में ताशकंद समझौता, शास्त्री जी की मृत्यु, प्रधान मंत्री के रूप में श्रीमती इंदिरा गांधी का चुनाव।

नए प्रधान मंत्री की राय ली गई होगी तो निश्चय मेरे लिए उनका समर्थन मिला होगा।

31 मार्च के पत्रों में प्रकाशित हो गया कि राष्ट्रपति ने मुझे 2 अप्रैल से 6 वर्ष के लिए राज्यसभा का सदस्य मनोनीत कर दिया है। मैं इतना ही समझा कि यह दूसरे रूप में मेरे काम के लिए मुझे पेंशन दी गई है।

2 अप्रैल को मैंने राज्यसभा के अध्यक्ष उपराष्ट्रपति डा० ज़ाकिर हुसैन के समक्ष राष्ट्र और राष्ट्र के संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ ली। तेजी दर्शक दीर्घा में बैठी मुझे देख रही थीं।

श्री लालबहादुर शास्त्री केवल 18 महीने प्रधान मंत्री रहे। यह छोटी सी अवधि दो बातों के लिए विशेष रूप से याद की जायगी। एक तो भारत-पाक युद्ध के लिए, जिसमें विजयी होकर भी भारत के हाथों कुछ नहीं लगा सिवा अपने प्रधान मंत्री की मृत्यु के; दूसरी, तमिलनाडु में हिंदी-विरोधी उग्र आंदोलन के लिए। उसकी कुछ पूर्व पीठिका संक्षेप में।

संविधान 1950 में पास हुआ जिसमें भारत प्रजातंत्र की राष्ट्रभाषा हिंदी

मानी गई। हिंदी चूंकि पर्याप्त विकसित नहीं थी इसलिए पंद्रह वर्ष उसके विकास के लिए रखे गए और इस अवधि के लिए अंग्रेजी को राजभाषा (Official Language) रखा गया। हिंदी की प्रगति का लेखाजोखा लेने के लिए पाँच-पाँच वर्ष पर राजभाषा आयोग (Official Language Commission) की व्यवस्था की गई।

प्रथम भाषा आयोग की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही (1957-58) तमिलनाडु में आंदोलन शुरू हुआ कि राजभाषा के रूप में हिंदी को लाने के लिए निश्चित अवधि न रखी जाय और अंग्रेज़ी अनिश्चित काल के लिए राजभाषा मानी जाए।

1958 के काँग्रेस अधिवेशन, गौहाटी, में नेहरू जी को आश्वासन देना पड़ा कि अहिंदी-भाषी जब तक चाहेंगे तब तक अंग्रेज़ी सहचरी राजभाषा बनी रहेगी। (English would remain the associate official language for as long as the non-Hindi speaking people wished.) इस पर आंदोलन समाप्त कर दिया गया।

नेहरू जी के आश्वासन को संविधान में राजभाषा अधिनियम 1963 का रूप दिया गया कि 1965 के बाद भी अंग्रेज़ी, हिंदी के अतिरिक्त, केन्द्र तथा संसद के समस्त राजकाज और कार्रवाई के लिए प्रयुक्त की जा सकती है।

(English may continue to be used after 1965 in addition to Hindi for all the official purposes of the Union and for the transaction of business in Parliament.)

फिर भी तमिलनाडु का आग्रह अँग्रेज़ी के रखने पर उतना नहीं था जितना हिंदी के न रखने पर। उनकी माँग थी, केन्द्र और संसद के सभी कार्यों के लिए अंग्रेज़ी एकमात्र भाषा रहे और हिंदी को प्रमुख क्या, किसी भी रूप में साथ आने न दिया जाए। हालांकि '63 के अधिनियम के बाद भी अंग्रेज़ी ही प्रमुख भाषा थी और हिंदी सहचरी या वस्तुतः अनुचरी या वह भी नहीं। संपूर्ण तमिलनाडु में तीन सप्ताह के उग्र हिंसक आंदोलन के बाद 11 फरवरी को प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री को राष्ट्र-व्यापक रेडियो प्रसारण के द्वारा केन्द्र की भाषा नीति इस प्रकार स्पष्ट करनी पड़ी कि—

(1) प्रत्येक प्रांत को पूर्ण स्वतंत्रता होगी कि वह जिस भाषा में चाहे अपना कामकाज करे।

(2) अंतर-प्रांतीय पत्राचार अंग्रेज़ी के माध्यम से होगा। हिंदी या अन्य किसी भाषा माध्यम से करने पर साथ प्रामाणिक अंग्रेज़ी अनुवाद लगाना होगा।

(3) अहिंदी-भाषी प्रांत पहले की तरह केन्द्र से अंग्रेज़ी में पत्राचार करने के लिए स्वतंत्र होंगे।

(4) केन्द्र के काम-काज के लिए अंग्रेज़ी प्रयुक्त की जाती रहेगी।

17 फ़रवरी को राष्ट्रपति ने संसद के दोनों सदनों के सम्मिलित बजट अधिवेशन में स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि जबकि हिंदी केन्द्र की राजभाषा मानी गई है, अंग्रेज़ी तब तक बनी रहेगी जब तक अहिंदी भाषाभाषी उसे रखना आवश्यक समझेंगे।

इसपर उत्तर भारत में विशेषकर दिल्ली में अंग्रेज़ी-विरोधी आंदोलन हुए। अहिंदीभाषियों पर हिंदी न लादी जाए, पर हिंदीभाषियों पर अंग्रेज़ी क्यों लादी जाए। सत्ताधारी यानी कांग्रेस पार्टी ने एक समिति का गठन किया, इसपर विचार करने के लिए कि क्या अहिंदीभाषी प्रांतों के अधिकारों को इस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है कि वे हिंदीभाषी प्रांतों को अंग्रेज़ी से अधिकाधिक मुक्त होने में बाधा न बनें। इस समिति के सदस्य थे सर्वश्री मोरारजी देसाई, द्वारिका प्रसाद मिश्र, सुब्रमण्यम, निजलिंगप्पा और ढेबर, पर उसकी सिफ़ारिशें शास्त्री जी के आश्वासन से आगे न जा सकीं—उसकी अतिरिक्त सिफ़ारिशें थीं—शिक्षा के क्षेत्र में त्रि-भाषा फ़ार्मूला लागू हो और केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की परीक्षाएँ अंग्रेज़ी और हिंदी के अतिरिक्त सभी प्रांतीय भाषाओं में हों।

जहाँ तक अतिरिक्त सुझावों का संबंध है, उनसे विदेश मंत्रालय का संबंध नहीं था; हाँ, अगर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के मधु लिमये के आवाह्न के अनुसार हिंदीभाषी प्रांत अपने यहाँ का सारा कामकाज हिंदी में करते, केन्द्र के साथ सभी स्तरों पर अपने पत्राचार के लिए अंग्रेज़ी को त्याग कर केवल हिंदी का प्रयोग करते तो विदेश मंत्रालय को ऐसे अनुवादकों की आवश्यकता होती जो उनके यहाँ से आए पत्रों को अंग्रेज़ी और अधिकारियों के उत्तरों को हिंदी में अनूदित कर सकें, पर ऐसा हुआ नहीं।

वैसे, जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, प्रथम भाषा आयोग की रिपोर्ट के बाद ही विदेश मंत्रालय में हिंदी को अग्रसर करने के लिए कोई नया क़दम नहीं उठाया गया।

जून 1966 को अजिताभ बी० ए० (आनर्स) प्रथम श्रेणी में पास हुए और थोड़े दिन बाद ही वे भी कलकत्ता चले गए, अमिताभ के सहयोग से कहीं कोई काम अपने लिए खोजने। उन्हें शा वेलेस में काम मिल गया और दोनों भाई वहीं साथ रहने लगे।

1959 से पहले तीन वर्ष अमिताभ हमारे साथ थे, फिर तीन वर्षों के लिए अजिताभ आ गए। अब दोनों के चले जाने से तेजी और मैं फिर अकेले हो गए।

राज्यसभा की सदस्यता मिलने के प्रथम दिन से मैंने यह निर्णय किया था कि यथासंभव मैं राजनीति से अलग रहने का प्रयत्न करूँगा; उस क्षेत्र में सक्रिय रूप से कुछ करने की न तो मुझमें क्षमता है, न अब दो कम 60 की उम्र में विकसित की जा सकती है।

उम्र सारी तो कटी इश्के बुताँ में मोमिन,
आख़िरी वक्त में क्या खाक मुसल्माँ होंगे।

तो बाक़ी ज़िन्दगी भी 'इश्के बुतां' में ही क्यों न गुज़ारी जाए—यानी साहित्य-सृजन में, गो मैं अपनी उम्र के किसी हिस्से में केवल 'ग़मे इश्क' में मुब्तिला नहीं रहा, 'ग़मे रोज़गार' भी साथ लगा रहा। अब आख़िरी वक्त में मुझे मौक़ा मिला था कि मैं 'ग़मे रोज़गार' से मुक्त होकर 'ग़मे इश्क' को

अपनाऊँ। और मैंने अपने मन में सृजनशील लेखन की कई तरह की योजनाएँ बनाईं—कविताएँ मैं समय-समय पर लिखता ही रहता था; शेक्सपियर की चार प्रमुख त्रासदियों के अनुवाद मैं करना चाहता था। 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' प्रकाशित हो चुके थे, 'हैमलेट' और 'लियर' अनूदित करना था; विशेष योजना थी मेरी अपनी आत्मकथा लिखने की।

अपने नए कामों के मंगलारंभ के रूप में मैंने 'नागर गीता' की प्रेस कापी तैयार की और वह जून में प्रकाशित हुई। राधा बाबा की इच्छा थी कि गीता का अनुवाद खड़ी बोली गद्य में भी किया जाए। 'जनगीता' अवधी में थी। मैंने गीता का अनुवाद लयात्मक खड़ी बोली में किया और जब वह प्रकाशित हुई तब मैंने उसे अपने मामा स्व० विंध्येश्वरी प्रसाद की पुण्य-स्मृति में समर्पित किया—श्राद्धस्वरूप। पुत्र न होने से मरने पर उनका परंपरागत श्राद्ध नहीं किया गया था।

1967 सृजन, प्रकाशन के अतिरिक्त मेरे लिए उत्सव, विदेश-यात्रा और सम्मान का वर्ष था।

24 जनवरी को हमने अपने विवाह की रजतजयंती मनाई जिसके उपलक्ष्य में हमने दिल्ली के अपने 25 आत्मीयों को एक भोज दिया। अमित और बंटी इस अवसर पर कलकत्ता से आए। अजिताभ ने अमिताभ के साथ अतिथियों के सामने उपस्थित होकर एक बड़ी मनोरंजक बात कही—"माँ और डैड की 'प्रोग्रेस रिपोर्ट' तो हमीं लोग हैं!"—श्रीमती इन्दिरा गांधी भी उस भोज में सम्मिलित हुई थीं और उन्होंने हमें उपहारस्वरूप चेकोस्लोवाकिया का एक शीशे का सुनहला कलापूर्ण बाज़ दिया था जो हमारे डाइनिंग रूम में आज भी सुशोभित है।

भारत सरकार और साम्यवादी देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा मंत्रालय ने मुझे 3 अप्रैल से 31 मई तक रूस, मंगोलिया, चेकोस्लोवाकिया तथा पूर्व जर्मनी की यात्रा करने के लिए आमंत्रित किया।

चूंकि उसके पूर्व लबनान की राजधानी बेरूत में तीसरा ऐफ़्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन होने को था और भारतीय शिष्टमंडल का नेतृत्व करने के लिए मुझे निमंत्रित किया गया था, इसलिए उपर्युक्त यात्रा पर जाने के पूर्व मैं बेरूत गया और वहाँ एक सप्ताह सम्मेलन की बैठकों में भाग लेकर वहीं से मास्को गया।

शिष्टमंडल में प्रमुख थे मुल्कराज आनंद और सज्जाद ज़हीर। सज्जाद ज़हीर पहले ही बेरूत पहुँच चुके थे। मुल्कराज उसी जहाज़ में थे जिससे मैं जा रहा था। हम लोग 26 मार्च को तड़के बेरूत पहुँचे, हल्की फुहार पड़ रही थी, हवा में दिल्ली से अधिक ठंडक थी; घड़ी कोई तीन घंटे पीछे करनी पड़ी।

दस बजे से सम्मेलन का खुला सत्र आरम्भ होने को था। हम लोग जल्दी-जल्दी तैयार होकर सभा-भवन में पहुँचे जो निकट के ही एक होटल के बड़े हाल में था। दस-बारह देशों के शिष्टमंडल सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए थे—चीन और पाकिस्तान, जिन्होंने पिछले सम्मेलनों में भाग लिया था, अनुपस्थित थे, कतिपय राजनैतिक कारणों से। संख्या में सबसे बड़ा शिष्टमंडल रूसियों का था;

वे मास्को से एक पूरा प्लेन चार्टर करा के आए थे। शिष्टमंडल के नेताओं को प्रीसीडियम में स्थान दिया गया, जो एक ऊँचे डायस पर था; मुझे भी वहीं जगह मिली। उपस्थिति दो-ढाई सौ के करीब होगी; हाल छोटा था, इसलिए अतिथियों का प्रवेश नियंत्रित था।

फ़्लोर की भाषा अरबी थी, पर भाषणों के अंग्रेज़ी अथवा फ्रेंच अनुवाद इअर-फोन के द्वारा सुने जा सकते थे। मध्याह्न-पूर्व के सत्र शिष्टमंडल के नेताओं के भाषण के लिए थे। उद्‌घाटन, स्वागत भाषण के पश्चात पहले दिन का प्रमुख भाषण रूसी शिष्टमंडल के नेता का था। वे रूसी में बोले और उसका अनुवाद अरबी में किया गया, साथ ही इअर-फोन द्वारा अंग्रेज़ी और फ्रेंच में सुना गया। उनके भाषण ने जैसे टोन सेट की, दिशा-संकेत दिया और फिर सभी नेता उलट-फेरकर उन्हीं की बातों को दुहराते रहे। दूसरे दिन मैंने अपना लिखित भाषण पढ़ा और किसी अंश में वह भी रूसी भाषण के प्रभाव से मुक्त नहीं था। मैंने अपना भाषण हिंदी में दिया जिसका अनुवाद मुल्कराज ने अंग्रेज़ी में किया। लबनान में तो उसका स्वागत हुआ, पर भारत के अंग्रेज़ी पत्रों में इसे मेरा हिंदी कठमुल्लापन कहा गया—हिंदी शावनिज़्म !

सारे सम्मेलन पर रूसी छाए रहे। कार्यकारिणी और खुले सत्र में भी उनके द्वारा प्रस्तुत सभी प्रस्ताव पास हुए। मुल्कराज के सुझाव पर चौथा सम्मेलन नई दिल्ली में करने का प्रस्ताव मैंने पेश किया, जो स्वीकार कर लिया गया। इसके लिए अनुमति मुल्कराज श्रीमती इंदिरा गांधी से लेकर आए थे, और संभवतः रूसी शिष्टमंडल की पूर्व-सहमति भी उन्होंने प्राप्त कर ली थी। प्रायः सभी प्रस्ताव राजनैतिक स्थितियों-परिस्थितियों-सिद्धांतों से प्रभावित थे। राजनीति से मुक्त शायद दो ही प्रस्ताव थे—एक तो यह कि अफ्रीका-एशिया के विशिष्ट लेखन की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जाय—'लोटस' नाम की। 'लोटस' (कमल) नाम किसका सुझाव था, इसका मुझे पता नहीं, पर इस पर भारतीय शिष्टमंडल को विशेष संतोष हुआ था। पत्रिका का मुख्यालय क़ाहिरा में होने को था और पहले वह अंग्रेज़ी और बाद को रूसी, फ्रेंच और अरबी में निकलने को थी; मैंने हिंदी का भी सुझाव दिया था, 'लोटस' कभी हिंदी में नहीं निकला। दूसरा प्रस्ताव था, हर वर्ष अफ्रीका-एशिया के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक को 'लोटस' पुरस्कार देने का। पुरस्कार की राशि अच्छी-खासी होने को थी, गो वह निश्चित नहीं की गई थी। कुछ लोगों का ख्याल था कि वह नोबल-पुरस्कार-धनराशि की टक्कर की होगी; और लेखकों में भावी प्राप्त-कर्ताओं के नाम की अनुमान-चर्चा चल पड़ी थी।

सम्मेलन में कवि-सम्मेलन अथवा मुशायरे का कोई कार्यक्रम नहीं था, पर एक संध्या को येवतेशेंको का काव्य-पाठ हुआ। येवतेशेंको रूस के नवयुवक कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं; वे भी रूसी शिष्टमंडल के साथ आए थे। रूसी तो मैं न समझा, पर उनके काव्य-पाठ से लगा कि बड़ी जोशो-खरोश की कविता है; और वे बड़ी नाटकीयता से पढ़ते हैं, हाथ-पाँव फेंकते हुए, चेहरे से विभिन्न भावों की मुद्राएँ प्रदर्शित करते। शायद अभिनेता बनते तो बहुत सफल होते—अच्छे डील-डौल के हैं; सुन्दर भी। खबर थी कि उन्हें काव्य-पाठ के लिए अमरीका बुलाया गया है और वे वहीं से चले गए थे।

स्वागत समिति की ओर से बाहर से आनेवाले लेखकों के लिए मनोरंजन और ऐतिहासिक तथा दर्शनीय स्थानों को दिखाने का भी प्रबंध था। 'बिबलोस' को भूलना असंभव है। रोमन युग के—आज से दो हजार वर्ष से भी अधिक समय के—दो-तीन महाकाय, नक्काशी किए दृढ़ स्तंभ खड़े हैं। यदि ये किसी बड़े 'हाल' के अवशेष हैं तो शेष खंभों का क्या हुआ; उनको वहाँ से हटा ले जाना असंभव था। एक ही संभावना है उनके ग़ायब हो जाने की—शायद किसी भूचाल में नीचे की धरती फटी और उन खंभों को निगल गई। रोमनों के समय के बंदरगाह के अवशेष भी हमने एक समुद्र-तट पर देखे।

दर्शनीय स्थानों में विशिष्ट हमने एक पर्वत की गुफा देखी जिसके अन्दर दर्पण-स्वच्छ पानी का एक बड़ा नाला बहता है। हमने उसमें नाव से यात्रा भी की। गुफा को कितना साफ़, बिजली की रोशनी से कितना प्रकाशमान, संगीत से गुंजायमान कर रक्खा गया है; दोनों तटों पर तथा गुफा की छत में भी ऊपर से चूनेवाले पानी के साथ आती मिट्टी ने प्राकृतिक बेल-बूटों की क्या अद्‌भुत कारीगरी की है! क्या चित्रकूट की गुप्त गोदावरी को ऐसा ही नहीं बनाया जा सकता? वहाँ भी गुफा में पानी की धारा बहती है; पर वहाँ कितना अंधकार है, कितनी बदबू, चमगादड़ों का कितना अशोभन, घृणोत्पादक जमघट।

मनोरंजन में हमने लबनानी संगीत-कला-नृत्य का कोई प्रदर्शन नहीं देखा। कैसीनो, पेरिस की 'फ़ाली बरजेर' की सफल नकल भर कहा जा सकता है। एक भाग में बहुत ऊँची बाज़ी का जुआ भी होता है। सुना, कई लाख वार्षिक आमदनी पर इन्कम-टैक्स देनेवाले ही जुआघर में प्रवेश पाते हैं—एक छोटे-से सूराख से जीतनेवालों की दानवी, अट्टहासी मुद्रा और हारनेवालों की नारकीय शोक संतप्त शक्ल देखी जा सकती है; और इसके लिए भी बड़ा महँगा टिकट खरीदना पड़ता है। दोनों तरह के लोगों को सँभालने के लिए डाक्टर और नर्सों का एक दस्ता वहाँ मौजूद रहता है।

एक दिन हमें सीरिया की राजधानी दमिश्क भी ले जाया गया। वहाँ हम दमिश्क की पार्लियामेन्ट में बैठे और सीरिया के प्रधान मंत्री ने फिलिस्तीनी शरणार्थियों की समस्या पर व्याख्यान दिया। फिर हमें शरणार्थियों के शिविरों को देखने के लिए ले जाया गया—बड़ी ही दयनीय हालतों में वे रह रहे थे। छोटी-छोटी कोठरियों से औरत, मर्द, बच्चे, बूढ़े निकलते ही आते थे—हैरत होती थी कैसे, क्या करते होंगे इतने-इतने लोग उनमें बैठे, और कितने दिनों नहीं, कितने सालों से! सुना कि दमिश्क की उमय्या मस्जिद बड़ी विराट और भव्य है। खुदा के बंदों की माँदों को देखने के बाद—माँदों से भी बदतर थीं उनके रहने की जगहें—खुदा के रंगमहल को देखने का मेरा उत्साह जाता रहा। मुल्कराज जाकर देख आए। चमत्कृत थे!

भारतीय शिष्टमंडल के हम कुछ लोग एक दिन लबनान स्थित भारतीय राजदूतावास गए। मि० ख़ूबचंद हमारे राजदूत थे वहाँ; उन्होंने बड़े आदर से हमारा स्वागत किया। बातचीत के दौरान उन्होंने इज़राइल-अरब राष्ट्र संघर्ष पर भी हमें कुछ मर्म की बातें बताईं। अरब राष्ट्र इज़राइल से विरोध क्यों मान बैठे हैं? इसलिए कि फ़िलिस्तीन से निकाले हुए शरणार्थी सब अरब राष्ट्रों में फैल गए हैं और सालहा-साल संख्या में बढ़ रहे हैं, पर अरब राष्ट्र इन्हें हज़म

नहीं कर पाए। सब से बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अरब राष्ट्रों में एकता नहीं है और न हो सकती है; यह इज़राइल के हित में है। जार्डन में इतने शरणार्थी आ गए हैं कि जार्डन की मूल आबादी के बराबर हैं और वे सल्तनत के लिए चुनौती बन गए हैं। जार्डन को उन्हें बसाने की इतनी फिक्र नहीं जितनी उन्हें अपने देश से निकालने की। लबनान में फिलिस्तीनियों के प्रति पूरी हमदर्दी नहीं, यहाँ की 50 प्रतिशत जनसंख्या ईसाइयों की है जो इस समस्या के प्रति निरपेक्ष हैं। इसी तरह सीरिया, ईराक तथा अन्य अरब राष्ट्रों में तख़्ता पलटने का खेल मौसम बदलने की तरह चला करता है। सब मिलकर इज़राइल के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई शायद ही कभी कर सकें। क्रूर सत्य तो यह है कि अरब राष्ट्रों को यत्किंचित निकट लाने का इज़राइल-विरोध एक नकारात्मक माध्यम बना हुआ है। फिर इज़राइल को अमरीका का समर्थन प्राप्त है—राज्य का भी और अमरीकी यहूदी जनता का भी, जिनकी संख्या और शक्ति बहुत बड़ी है; जैसे अरब राष्ट्रों को रूस की सद्भावना और सहायता सुलभ है। लेकिन रूसी बाहरी समस्याओं को सुलझाने से अधिक रुचि आंतरिक शासन-पद्धति को बदलने में लेते हैं। बहरहाल, फ़िलिस्तीन के प्रश्न को लेकर अमरीका और रूस निकट-संघर्ष का ख़तरा नहीं उठा सकते और बहुत दिनों तक यह समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रहेगी। एक आसान-सा हल यह हो सकता था कि अरब राष्ट्र फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों को अपने देश की राष्ट्रीयता देकर हज़म कर लें।—वे सब के सब अरब जाति (रेस) के हैं, सब मुसलमान हैं, सब अरबी भाषी हैं, पर ऐसा सुझाव देने का साहस आज कोई नहीं कर सकता।

यों तो मास्को में मेरा कार्यक्रम दो अप्रैल से आरम्भ होने को था, पर बेरूत से मास्को जानेवाले जहाज़ में तीन से पहले जगह न मिल सकी। इस परिवर्तन की सूचना मास्को को दे दी गई थी। मैं तीन अप्रैल की संध्या को मास्को पहुँचा। जहाज़ उतरने के कुछ देर पहले मास्को में बरफ पड़ चुकी थी और जहाज़ की खिड़की से बाहर पड़ी बरफ़ का दृश्य दिखाई देता था। सहसा ध्यान आया दिल्ली में लू शुरू हो गई होगी।

हवाई अड्डे पर सोवियत राइटर्स यूनियन की ओर से मादाम मरियम ने मेरा स्वागत किया। कई बार भारत आ-जा चुकी थी, हिंदी बहुत अच्छी और शुद्ध बोलती थी। किसी हिंदी लेखक ने, शायद 'दिनकर' ने उन्हें 'मीरा' नाम दे रखा था और इसे उन्होंने बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया था। मेरा उनका पूर्व परिचय भी था। औपचारिक सद्भावना प्रकाशन के बाद उन्होंने मेरा परिचय मादाम इरीना से कराया—भरे शरीर की सुन्दर नवयुवती—दुबली-पतली स्त्रियाँ-लड़कियाँ रूस में अपवाद ही होती हैं जैसे स्वयं मरियम। वे मेरी दुभाषिया थीं और मेरी रूस-यात्रा के दौरान बराबर मेरे साथ रहने को थीं। वे हिंदी-उर्दू के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भी समझती और बोल सकती थीं। उनके बैग में हर समय दो पाकेट-कोश पड़े रहते थे—रूसी-अंग्रेज़ी और रूसी-हिंदी के, जिन्हें वे जब-तब निकालकर देख लिया करती थीं। शायद ही कोई ऐसा अवसर आया जब उन्हें मेरी बात समझने या अपनी बात मुझे समझाने में दिक्कत पेश हुई। बने हुए कार्यक्रम को पूरा कराने के लिए सब तरह का प्रबंध करने में वे दक्ष थीं और मेरी

सुविधा और आवश्यकता का हर समय ध्यान रखती थीं।

मुझे पीकिंग होटल में ठहराया गया। सुना कि चीन की सरकार ने चीनी ढंग से सजाकर इसे मास्को वालों को भेंट किया था। सबसे नीचे तल्ले पर खाने के लिए बने दो बड़े 'हालों' को छोड़कर चीनी साज-सज्जा मुझे कहीं न दिखी। दस-बारह तल्लों का होटल था जिसमें आधुनिक रहन-सहन की सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। मेरी दुभाषिया लगभग दस बजे होटल में आ जाती थी और फिर दिन भर के कार्यक्रम में मेरे साथ रहती थी। मेरे लिए एक बड़ी कार का भी प्रबंध कर दिया गया था जो नगर में कहीं भी आने-जाने के लिए मुझे हर समय सुलभ थी। रूस में एक बड़ी अजीब प्रथा देखी—और बाद को तो सभी साम्यवादी देशों में देखी—अतिथि को प्रतिदिन के हिसाब से सारे प्रवास के लिए निश्चित धन-राशि दे दी जाती है। उसे अपने ब्रेकफ़ास्ट, लंच, डिनर का बिल खुद उसी राशि से चुकाना पड़ता है। राशि इतनी होती है कि खाने का बिल अदा करने के बाद भी ऊपर के खर्च के लिए कुछ बच रहता है। मैं तो शाकाहारी था और शराब-सिगरेट भी नहीं पीता था। प्रतिदिन के लिए नियत राशि के आधे से ही मेरा काम चल जाता था। वापस आते समय बचाए रूबलों से मैंने कई रूसी 'सोवेनीर' (स्मारक-उपहार) ख़रीदे।

अफ्रो-एशियायी लेखक सम्मेलन में रूसी लेखकों का जो प्रतिनिधिमंडल गया था वह भी उसी जहाज़ से मास्को लौटा जिससे मैं आया। सम्मेलन में भाग लेने-वाले कई पूर्वी देशों के लेखक भी मास्को आए, जैसे जापान, वियतनाम आदि के। तीन-चार दिन तक मेरा कार्यक्रम प्रायः उन्हीं लेखकों के साथ बँधा था। पहली प्रमुख सभा इस ध्येय से की गई कि मास्को के लेखकों को उपर्युक्त सम्मेलन की उपलब्धियों से अवगत कराया जाए। दूसरी बड़ी सभा में जनता भी बुलाई गई और उसमें अन्य कवियों के साथ मैंने भी अपनी कविता का पाठ किया। मैंने 'एकांत संगीत' की 'अग्नि-पथ, अग्नि-पथ, अग्नि-पथ !' कविता सुनाई।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त हमें कभी दिन के और कभी रात के कई भोज दिए गए। रूसी भोज कई घंटे तक चलते हैं और बीच-बीच में मेज़बानों और मेहमानों की तरफ़ से भाषण होते हैं और विशिष्ट लोगों के जामे-सेहत पीने के प्रस्ताव किए जाते हैं। रूसी अपनी मेहमान-नवाज़ी में अपने यहाँ की खास शराब 'वोदका' पीने की प्रार्थना करते हैं, मनुहार करते हैं, आग्रह करते हैं और खुद नशे में आ गए तो ज़बर्दस्ती भी करते हैं! इन भोजों में मेरी तो बड़ी मुसीबत होती थी। रूसी यह समझ ही नहीं सकते थे कि मैं शराब न छूने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। और एकाध जगह बिना 'वोदका' के गिलास को होंठों से छुलाए मैं अपने प्राण न छुड़ा सका। मैंने इसे आपद्धर्म कहकर अपना प्रबोध कर लिया। एक काकटेल पार्टी भारतीय राजदूतावास में दी गई। राजदूतावास की इमारत पुरानी है, ऐतिहासिक है, कुछ नए हिस्से भी उसमें जोड़े गए हैं। पुराने हिस्से में हमें एक 'बालकनी' दिखाई गई जहाँ से, कहते हैं, नेपोलियन ने मास्को को जलते हुए देखा था। जब उसने मास्को पर आक्रमण किया था तब, इसके पूर्व कि उसकी सेनाएं नगर में घुसें, मास्को निवासियों ने स्वयं नगर खाली करके उसमें आग लगा दी थी। राजदूतावास से चलते समय फिर मुझे एक विचित्र बात मालूम हुई। एक अधिकारी ने मुझे कुछ मेरे काम की जगहों के फ़ोन नम्बर दिए, बताया,

मास्को में फ़ोन तो असंख्य हैं पर 'डायरेक्टरी' नहीं छपती, अपने काम-बात के ज़रूरी नम्बरों का पता आप मुख्यालय से लगा सकते हैं। इसके तो बड़े गहरे मतलब हुए। अपने देश में तो आप रिसीवर उठाइए और प्रधान मंत्री के यहाँ फ़ोन कर दीजिए। रूस में यह अकल्पनीय। प्रजातंत्र और साम्यवाद का अंतर !—ख़ैर।

तीन-चार दिन के सम्मिलित कार्यक्रम के बाद मेरा स्वतंत्र कार्यक्रम बनाया गया। लेनिन की समाधि का दर्शन सबसे पहले याद आता है। क्रेमलिन की दीवार के बाहर रेड स्क्वायर में लेनिन की समाधि है—इमारत लाल संगमरमरी पत्थरों की बनी—सादी, सुदृढ़, गम्भीर—लेनिन के व्यक्तित्व के अनुरूप। किसी भी दिन जाइए, दर्शनार्थियों के लम्बे-लम्बे 'क्यू' आपको मौन प्रतीक्षा में खड़े मिलेंगे। लोग एक दरवाज़े से जाते हैं और बिना रुके लेनिन के शव को देखते हुए दूसरे दरवाज़े से बाहर निकल आते हैं—किसी तरह की फूल-माला भीतर ले जाने अथवा बोलने की आज्ञा नहीं है। लेनिन का शव एक शीशे के ताबूत में रखा है; उनके चेहरे पर तेज़ रोशनी पड़ती है, चेहरा प्रायः श्वेत दिखाई पड़ता है। चारों कोनों पर, जैसे बाहरी दरवाज़ों पर, नीली वर्दी के बुत-से खड़े बंदूकधारी फौजियों का पहरा रहता है। मैं चूंकि विशिष्ट अतिथि था—राज्यसभा का सदस्य भी—इसलिए मुझे 'क्यू' में नहीं खड़ा होना पड़ा। समाधि के वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव मुझ पर पड़ा कि बाहर निकलकर मैं बहुत गम्भीर हो गया और बड़ी देर तक मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकला !

रेड स्क्वायर में ही एक सिरे पर ईवान दि टेरिबिल का बनवाया हुआ सेंट वेसिल का चार सौ बरस पुराना गिरजा है जो अपने गुम्बदों के रंग, आकार-प्रकार, तरतीब के कारण संसार में अद्वितीय है। कहते हैं कि इसको बारमा नाम के इंजीनियर ने बनाया था। ईवान इसे देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने बारमा की आँखें निकलवा लीं, जिससे कि वह कहीं और ऐसा गिरजा न बना सके ! बारमा को इसकी आशंका पहले से हो गई थी। उसने मेहराबों के बीच-बीच में झरोखे बना दिए थे जिन्हें दूर से देखने से लगता है कि बारमा की आँखें ही जैसे अनेक हो इन नेत्राकार मेहराबों और पुतली-रूप झरोखों से घूर रही हैं ! 'बारमा की आँखें' शीर्षक से मैंने एक कविता लिखी है जो 'उभरते प्रतिमानों के रूप' में है।

कई दिन मैंने युनिवर्सिटी, आर्ट गैलेरियाँ, पुस्तकालय, प्रसिद्ध लेखकों के भवन—जैसे तोल्सतोय, गोर्की, मायकोव्सकी, चेखोव आदि के—देखने में लगाए। लेखकों के भवनों में जाने के पहले जूतों के ऊपर बड़े-बड़े कैनवस-नम्दे के जूते पहनने पड़ते हैं जिससे एक तो जूतों की रगड़ से फर्श न खराब हों; हज़ारों लोग प्रतिदिन दर्शनार्थी के रूप में आते हैं, दूसरे जूतों की खटर-पटर से शोर न हो। तोल्सतोय में अपने लेखन को निखारने के प्रति कितनी लगन थी, कितना श्रम उन्होंने किया ! 'वार ऐंड पीस' ऐसे भीमकाय ग्रंथ को सात-आठ बार उन्होंने अपने हाथों से लिखा ! प्रतिभावानों के कैसे विचित्र-विचित्र शुग़ल भी होते हैं। लार्ड तोल्सतोय को जूते बनाने का शौक था और वे फ़ुरसत के समय जूते बनाया करते थे; जूते बनाने का उनका सारा सामान ज्यों का त्यों रखा है। क्रांति के बाद लेनिन ने गोर्की को रहने के लिए जो घर दिया वह किसी सामंत का था।

सोने के कमरे का शृंगार देखकर उन्होंने कहा, इसमें तो किसी बैले डांसर को सोना चाहिए। बिस्तर के आगे दीवार में कद्दे आदम शीशा लगा था, पहली रात को तो गोर्की को नींद ही न आई। दूसरी रात को उन्होंने शीशे की ओर अपना सिरहाना करा लिया। हर जगह गाइड हैं जो लेखकों के भवनों, रहन-सहन, कार्य-प्रणाली आदि के बारे में मनोरंजक बातें बताते हैं।

एक संध्या को मास्को की स्टेट युनिवर्सिटी में मेरा काव्य पाठ हुआ। मास्को की युनिवर्सिटी मकानियत और विद्यार्थी-अध्यापक संख्या में इतनी बड़ी है कि अगर हमारे देश की दस-बारह सर्वश्रेष्ठ युनिवर्सिटियाँ मिल जाएँ तो भी उसकी बराबरी शायद ही कर सकें! सभा में भारतीय विद्यार्थियों के अतिरिक्त बहुत-से रूसी भाई भी आए थे। एक और संध्या को लुमुम्बा फ्रेंडशिप युनिवर्सिटी में मेरा व्याख्यान और काव्य-पाठ हुआ। यहाँ डेढ़-दो सौ भारतीय विद्यार्थी विभिन्न विषयों में शिक्षा पा रहे थे। एक दिन रूस के वयोवृद्ध लेखक और कवि ईलिया एहरेनबुर्ग से मेरी भेंट का प्रबन्ध किया गया था। साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला में भी उनकी गहरी रुचि थी। उनके ड्राइंग-रूम में मैंने एक-दो चित्र जैमिनी राय के देखे। एहरेनबुर्ग का कहना था कि जैमिनी राय की कला पर फ्रेंच प्रभाव है। मैंने उनसे लगभग एक घंटे आधुनिक साहित्य और काव्य के विषय में बातचीत की। अपने साहित्य संबंधी विचारों में वे बहुत-से रूसी लेखकों से अलग और स्वतंत्र लगे—निर्भीक भी। उन दिनों उनके दिमाग़ में साहित्य कला के अन्तर्राष्ट्रीय मापदंड की बात ज़ोरों से घूम रही थी। सोवियत राइटर्स यूनियन में एक संध्या को केवल मेरा काव्य पाठ कराया गया; एहरेनबुर्ग ने सभापति का आसन ग्रहण किया; कई हिन्दी जाननेवाले रूसी मित्रों ने मेरी कविता का भाव रूसी में बताया। एक रूसी भाई ने लिखकर भेजा—मेरी हिन्दी कविता, जिसकी वे केवल ध्वनि मात्र सुनते हैं, रूसी अनुवाद से अधिक प्रभावकारी लगती है। एहरेनबुर्ग ने पढ़कर उसका मतलब मुझे समझाया और कहा, यह आपके लिए बहुत बड़ा सर्टिफ़िकेट है। उसी रात को मुझे एक भोज दिया गया जिसमें एहरेनबुर्ग, भारत के राजदूत और कई प्रसिद्ध रूसी लेखक सम्मिलित हुए।

प्राय: प्रत्येक रात्रि को किसी न किसी प्रकार के मनोरंजन का प्रबन्ध रहता था—थियेटर, बैले, ओपेरा, सिनेमा; और कुछ न सही तो पपेट शो (कठपुतली का खेल) या सरकस। सरकस के लिए मास्को में स्थायी भवन हैं जैसे सिनेमा के लिए। बोलशाई थियेटर का 'स्वान लेक बैले' भूलने की चीज़ नहीं। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस पर कविता लिखी जा सकती है—मैंने एक लिखी भी है—स्वान-लेख बैले की प्रमुख बैलेरीना के प्रति—'हंस-मानस की नर्तकी' शीर्षक से। प्रस्तुत कर दूं?

> शब्द-बद्ध तुमको करने का
> मैं दु:साहस नहीं करूँगा।
> तुमने अपने अंगों से जो गीत लिखा है
> विगलित लयमय, नीरव स्वरमय, सरस रंगमय, छंद-गंधमय
> उसके आगे मेरे शब्दों का संयोजन—

अर्थ-समर्थ बहुत होकर भी—मेरी क्षमता की सीमा में—
एक नई कविता-सा केवल जान पड़ेगा—
लयविहीन, रसरिक्त, निचोड़ा, सूखा, भोंडा।
ओ माखन-सी मानस-हंसिनि, गीत तुम्हारा
जब मैं फिर सुनना चाहूँगा,
अपने चिर-परिचित शब्दों से नहीं सहारा मैं माँगूँगा।
कान मूंद लूंगा, मुख अपना बंद करूँगा,
पलकों में पर लगा, समय-आकाश पारकर
क्षीर-सरोवर तीर तुम्हारे उतर पड़ूंगा
तुम्हें निहारूँगा नयनों से
जल मुक्ताहल तरल झड़ूंगा!

दर्शक बैले समाप्त होने पर हाल छोड़कर घर जाने की जल्दी में नहीं रहते। वे तालियाँ बजाते हैं और नर्तकियाँ बारम्बार परदे से बाहर आ-आकर दर्शकों का अभिनंदन स्वीकार करती हैं, और ज़ोर से तालियाँ बजती हैं, लोग 'ब्रावो', 'ब्रावो'—खूब किया—चिल्लाते हैं और यह क्रम आठ-दस मिनट तक चलता है!

मुझे दस दिन मास्को में रखने के बाद रूस के अन्य नगरों की यात्रा कराने का भी कार्यक्रम बनाया गया। 14 की रात को ट्रेन से मैं लेनिनग्राद के लिए रवाना हुआ—इस गाड़ी को 'रेड ऐरो' कहते हैं। स्टेशन पर मुझे लेने के लिए वरान्निकोव दंपति मौजूद थे, शायद राइटर्स यूनियन की ओर से मेरे लेनिनग्राद पहुँचने की सूचना उन्हें दे दी गई थी। दोनों उन दिनों लेनिनग्राद की विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन का कार्य करते थे। इरीना मेरे साथ आई ही थी। हमें 'होटल एस्टोरिया' में ठहराया गया। कहते हैं हिटलर ने लेनिनग्राद पर कब्ज़ा करने के बाद इसी होटल में भोज देने का स्वप्न देखा था; योजना तक बना डाली थी, निमंत्रण-पत्र भी छपा लिए थे, पर उसने अपना भाग्य समझने में कितना धोखा खाया था।

पहले मुझे 1917 की क्रांति और पिछले महायुद्ध से संबद्ध स्थान-स्मारक दिखाए गए। मैंने 'अरोरा' नामक जहाज़ देखा जिससे क्रांति का पहला गोला दागा गया था। मुझे बताया गया कि जिस आदमी ने पहला गोला दागा था वह अभी मौजूद है और अक्तूबर में जब क्रांति की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जाएगी तब उसे विशेष रूप से सम्मानित किया जाएगा। 'स्मालनी' वह इमारत है जिसमें क्रांति की सफलता के पश्चात् लेनिन रहते और काम करते थे। इस बड़ी इमारत में उन्होंने केवल दो कमरे अपने और अपनी पत्नी के लिए रक्खे थे। एक कमरे को पर्दे से दो भागों में विभाजित कर छोटा-सा सोने का कमरा बनाया गया था—बिस्तर इतने कम चौड़े थे जितने अपने यहाँ के रेलवे के बर्थ। आधे में उनका दफ़्तर था। दूसरे कमरे में वे लोगों से मिलते थे। उसी कमरे में अब लेनिन के व्याख्यानों के रेकार्ड दर्शकों को सुनाए जाते हैं। रूसी तो मैं न समझा, पर उनकी आवाज़ में गम्भीरता, संतुलन, निश्चितता, ठोसपन सहज आँका जा सकता था। ये विशेषताएँ गांधी जी की आवाज़ में भी

थीं। एक जगह एक रेल का डिब्बा देखने की याद है जिसमें चढ़कर लेनिन क्रांति पूर्व लेनिनग्राद (पहले पीट्रोग्राद) आए थे, एक टैंक देखने की भी, जिस पर खड़े होकर क्रांति के पश्चात् लेनिन ने जनता को संबोधित किया था। पिछले महायुद्ध की गति-प्रगति प्रदर्शित करने के लिए तो एक स्थायी प्रदर्शनी लगाई गई है। युद्ध में काम आए सैनिकों, शहीदों, नागरिकों के स्मारक पर रात-दिन अविरत आग की लपटें उठाने का प्रबन्ध है—गैस-प्रवाह के द्वारा। आप दिन में किसी वक़्त जाएँ आपको एक भीड़ मातृभूमि के लिए प्राणों की आहुति देनेवाले अपने संबंधियों की याद में खड़ी दिखाई देगी।

'हरमिताज' पुराने ज़ारों का राजमहल था; अब वह रूस का सबसे बड़ा संग्रहालय है, चित्रों, मूर्तियों और नानाविध कलाकृतियों का। उसके सारे कक्षों में से होकर निकल जाने के लिए ही सारा दिन चाहिए। हम दो दिन 'हरमिताज' देखने गए और नहीं कह सकते कि हमने वहाँ की सारी चीज़ें देख लीं, गो कलाकृतियों के देखने भर का कोई अर्थ नहीं होता। एक-एक कृति के पीछे कलाकारों के जीवन-भर का परिश्रम है; वह साधिकार माँग करती है कि उसके सामने रुको, उसके सौंदर्य को समझो, उसके सर्जक के प्रति आदर से झुको। हर संग्रहालय से मैं यह भावना लेकर लौटता हूँ कि मैं उसके प्रति न्याय नहीं कर सका। यह सोचकर उदास भी हो जाता हूँ कि इन कलाकारों ने अपनी कल्पना, प्रतिभा, श्रम, लगन से दुनिया के एक कोने को सुन्दर बना दिया है; क्या मैं भी कभी ऐसा कर सकूँगा ! इस जन्म में तो नहीं।

एक दिन रीमा बरान्निकोवा मुझे अपने स्कूल लिवा ले गईं। वहाँ हिन्दी एक विषय के रूप में शुरू से पढ़ाई जाती थी। मुझे बताया गया कि ऐसे बहुत-से स्कूल हैं जहाँ विश्व की कोई न कोई भाषा शुरू से आखीर तक शिक्षा क्रम में रहती है—एक तरह से रूस में भी 'थ्री लैंग्वेज फारमूला' माना जाता है। जिनकी भाषा रूसी है उन्हें एक योरोपीय भाषा और एक एशियाई भाषा सीखनी होती है। रूस के तीस से अधिक रिपब्लिकों की अलग-अलग भाषाएँ हैं। रूसी के अतिरिक्त उन्हें अपनी भाषा भी सीखनी होती है और एशिया अथवा योरोप की एक और भाषा। रूसी के सर्व-स्वीकृत होने का एक बड़ा कारण है कि अन्य रूसी भाषाओं की तुलना में यह सर्वाधिक विकसित है। हिन्दी के भारत भर में स्वीकृत न होने की वजह यही है कि वह भारत की अन्य दर्जन भर प्रमुख भाषाओं के समान ही विकसित अथवा अविकसित है। —मैंने स्कूल के बच्चों को कुछ कविताएँ सुनाईं, उन्हें गाने की लय सिखाई। उन्होंने भी मेरी कुछ कविताएँ मुझे सुनाईं।

एक शाम का प्योत्र और रीमा बरान्निकोवा ने मुझे अपने घर बुलाया, हिन्दुस्तानी खाना बनाकर खिलाया, रीमा अपने भारत-प्रवास में हिन्दुस्तानी खाना बनाना सीख गई थी, पर सामान आदि उसने कहाँ से जुटाया, राम ही जाने !

लेनिनग्राद से मैं हवाई जहाज से किएव गया। किएव किसी समय रूस का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था। ईसा की दसवीं शताब्दी में जब प्रथम रूसी राजवंश की नींव डाली गई तो किएव को ही राजधानी बनाया गया था। किएव के धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास में उसकी यूनान से निकटता का बड़ा

हाथ है। किएव के ही राजा ब्लादिमीर प्रथम ने सन् 989 में सर्वप्रथम ईसाई धर्म स्वीकार किया—यूनानी कट्टरपंथी चर्च का ईसाई धर्म, जिसे ईस्टर्न चर्च भी कहा जाता है; वेस्टर्न चर्च रोम-केन्द्रित था। मुझे याद है कि पहले दिन जब मैं अपने होटल से निकल नगर देखने चला था तो सबसे पहले मुझे ब्लादिमीर प्रथम की मूर्ति के सामने ले जाया गया था जो एक ऊँचाई पर खड़ी की गई है।

ईसाई धर्म को शासकीय स्वीकृति तो दसवीं शताब्दी में मिली, पर उसके बहुत पूर्व ईसाई साधक किएव में साधना करने को आ गए थे। संभवतः खुले में साधना का विरोध देखकर उन्होंने ज़मीन के अन्दर-अन्दर गुफाएँ खोदकर, रास्ते बनाकर अपनी साधना जारी रक्खी थी। मुझे ये गुफाएँ दिखाई गईं, गुफाओं के पतले रास्तों की लम्बाई ही सब मिलाकर एक मील से कम न होगी। बीच-बीच में अच्छे बड़े कमरों की चौड़ाई की गुफाएँ हैं जिनमें सामूहिक प्रार्थना होती होगी। अब तो इनमें बिजली का प्रकाश है, ताजी हवा भी पहुँचाई जाती है, पर सदियों पूर्व इनके भीतर जीवन की कठिनाई का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। संतों के मरने पर उनकी लाशें दीवारों में जगह खोदकर रख दी जाती थीं—बहुत-सी लाशें हज़ार बरस से अधिक पुरानी हैं और सड़ी नहीं! किएव में बड़े सुन्दर और भव्य गिरजे हैं जिनमें बाईज़ैनटियम शैली की चित्रकारी की गई है। यह दीवारों पर रंग-बिरंगे पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़ों को जमाकर की जाती है। साम्यवादी व्यवस्था में चर्चों में तो प्रार्थनाएँ नहीं होतीं पर उनकी सफ़ाई, मरम्मत और उनके जीर्णोद्धार का पूरा प्रयत्न किया जाता है। पिछले युद्ध में कई गिरजे बममारी से ध्वस्त हो गए थे; उनका उसी तरह पुनर्निर्माण करने की योजना बनी है। रूसी अपने अतीत के इतिहास से जुड़े रहने की महत्ता को खूब समझते हैं; फिर टूरिज़्म की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। मनुष्य में न जाने क्या है कि चीज़ें जितनी पुरानी हों वह उतनी ही रुचि-कौतूहल से उन्हें देखता है।

किएव में मुझे एक प्लेनिटोरियम भी दिखाया गया। यहाँ एक विशेष प्रकार के डिमोन्सट्रेशन से ज़मीन के चलने का सबूत दिखाया जाता है। बड़ी ऊँची छत से एक भारी लट्टू टंगा हुआ है। उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक झूलने का अनुपात किसी वैज्ञानिक विधि से धरती की चाल से रक्खा गया है : लट्टू इतना भारी है कि वह अपनी चाल की सीधी रेखा नहीं बदल सकता, पर पृथ्वी के चलने से वह थोड़ा बदलता है। इसका पता यों लगता है कि लट्टू आते-जाते अपनी नोक से दोनों ओर रखी लकड़ी की छोटी-छोटी गोटों को टक्कर से गिरा देता है जब कि पहली झूल में वह साफ़ उसके बगल से निकल गया था।

किएव ऊँचाई और ढलानों पर जैसा बसा है उससे मुझे वह शिमले की याद दिलाता था, आबोहवा भी उन दिनों वहाँ कुछ शिमले जैसी थी।

किएव की भी राइटर्स यूनियन में मुझे निमंत्रित किया गया और वहाँ बहुत-से लेखकों और कवियों से मेरा परिचय कराया गया। कुछ ने अपनी कविताएँ भी सुनाईं, मैंने भी सुनाईं, उनके अनुवाद भी एक दूसरे के लिए किए गए पर ऐसे अनुवादों से कविता का कोई तत्त्व हाथ नहीं लगता।

किएव के मूल निवासी कोसक्स हैं। कोसक्स भावुक लोग हैं, मिलते-विदा होते मर्द भी मर्द का चुम्बन लेते हैं, रंगों से बड़ा शौक है। वैसे तो साधारणतया अब सब योरोपीय पोशाक पहनते हैं, खासकर बाहर; पर घरों में उन्हें अपनी पुरानी पोशाकें पसंद हैं जिन पर रंगीन तागों से बड़ी सुन्दर कढ़ाई की जाती है। किएव के आस-पास के पहाड़ी स्थानों में बड़े सुन्दर चिकने पत्थर पाए जाते हैं। वहाँ इन पत्थरों को कलापूर्ण शक्लों में काटने की कारीगरी विकसित की गई है। ऐसे पत्थरों की एक दुकान पर गया तो समझ में नहीं आता था कि किसे ख़रीदूँ किसको छोड़ूँ। विचित्र पत्थरों को इकट्ठा करने का शौक मुझे भी है, बहुत-से लोगों को होता है। मैंने ज़ाकिर हुसैन साहब के पास पत्थरों का बहुत अच्छा संग्रह देखा था। कहीं पढ़ा था जर्मन कवि गेटे को भी पत्थरों के प्रति बड़ा आकर्षण था। किएव के पत्थर एक तो भारी, दूसरे भारी क़ीमतों के, फिर मुझे हवाई जहाज़ से यात्रा करनी और रूब्ल अपने पास इने-गिने। केवल नमूने के तौर पर एक ख़रीदा; बाक़ियों को अपनी स्मृति में संजो लाया। अब भी कभी-कभी विचित्र शक्ल-रंग के पत्थरों की वह दुकान मेरी आँखों के आगे नाच जाती है।

तीन दिन किएव में रहकर मैं हवाई जहाज़ से बाकू गया। मुझे किसी ने बताया कि 'बाकू' का पुराना नाम 'बादेख़ूबा' था जो दो शब्दों से बना था 'बादः' और 'ख़ूबा'; 'बादः' का अर्थ है 'हवा' और 'ख़ूबा' का अर्थ है अधिक—यानी वह स्थान जहाँ हवा ख़ूब चलती है। दोनों शब्द फ़ारसी के हैं। 'बादेख़ूबा' ही बिगड़कर 'बाकू' हुआ। बाकू में हवा अब भी ख़ूब चलती है। ठंडक भी वहाँ मुझे और जगहों से अधिक लगी। अपने यहाँ कहावत प्रसिद्ध है—'माघे जाड़ न पूसे जाड़, जड़ बयार तबै जाड़े' और बयार बाकू में हर समय चलती थी। अब तो बाकू की प्रसिद्धि उसकी तेल उगलने वाली ज़मीन के कारण है। नगर के बाहर चप्पे-चप्पे पर तेल खींचने की मशीनें लगी हैं। जिन दिनों मैं वहाँ था समुद्र के अन्दर से तेल निकालने का कोई बड़ा अभियान चल रहा था।

पुराना बाकू निश्चय ही रूमानी नगर था—हुस्नो-इश्क का, शेरो-शायरी का, कला-कारीगरी का, सुन्दर इमारतों का। पुराने महल-मीनारों से प्रेमी-प्रेमिकाओं की अज़ीबोग़रीब कहानियाँ जुड़ी हैं, जो अब भी दुहराई जाती हैं—फ़लाँ महल में फ़लाँ सुन्दरी क़ैद थी; फ़लाँ मीनार से फ़लाँ आशिक कूद पड़ा था। पुराने साहित्य और कला को संरक्षित रखने के बहुत अच्छे संग्रहालय हैं। आबादी में बहुतायत मुसलमानों की है। मुझे बताया गया, किसी को अपना धर्म छोड़ने को बाध्य नहीं किया जाता, पर नास्तिक भौतिकवाद की शिक्षा स्कूल के पाठ्य-क्रम का एक अंग है। एक मस्जिद भी देखने की याद है—निहायत साफ़, सुथरी, सुन्दर। भीतर नमाज़ केवल बूढ़े लोग पढ़ रहे थे, औरतों के नमाज़ पढ़ने की जगह पीछे थी, परदे से अलग की हुई।

पुराने बाज़ार, जिनमें पुरानी कला-कारीगरी की चीज़ें बिकती हैं, दिल्ली या लखनऊ के बाज़ार की याद दिलाते हैं। सामान बेचना और शायद ख़रीदना भी एक कला है। योरोप में तो चीज़ें रखी हैं, उन पर दाम लिखा है, आपको चीज़ पसंद हो तो इशारा कीजिए, चीज़ पैककर आपको दे दी जाएगी, आप काउन्टर पर जाइए, दाम चुकाइए, अपनी राह लीजिए। पूर्व का विक्रेता दुकान में आपका

स्वागत करता है, आपकी आँख भाँपता है, आपकी जेब आँकता है, कौन-सी चीज़ आपको पसन्द है, कौन नहीं; किस पर, कहाँ तक आप ख़र्च कर सकते हैं। कोई चीज़ आपको कम पसद है, उसे पूरी पसंद करा देने में बिक्री की कला है; कोई चीज़ आपको पसंद नहीं है उसे आपको ख़रीदवा देना बिक्री-कला की बहुत बड़ी सफलता है। एक बाज़ार में चाँदी के बारीक काम के गहने बिक रहे थे। इरीना की नज़र एक झुमके पर पड़ी और दुकानदार ने बातों की वह झड़ी लगाई, झुमका निकालकर इरीना के कानों में ऐसे पहना दिया कि उसे लेना ही पड़ा। उस झुमके के बारे में मुझे एक मनोरंजक बात याद आ गई। बाज़ार से गुज़रते हुए इरीना के एक कान का झुमका कहीं गिर गया; बहुत ढूँढ़ा गया, नहीं मिला। इरीना बड़ी दुखी हुई, मैंने उसका मन बहलाने को 'बरेली के बाज़ार में झुमका गिरा रे' गीत थोड़ा बदलकर सिखाया,

> बाकू के बाज़ार में झुमका गिरा रे।
> सास मोरी पूछे, ननद मोरी पूछे,
> कहाँ गिरा रे ?
> बाकू के बाज़ार में झुमका गिरा रे।
> सइयाँ ने देखा, कान मेरा छूँछा;
> कहाँ गिरा झुमका, सवाल नहीं पूछा;
> चुपके से ला के नया दिया रे !
> बाकू के बाज़ार में झुमका गिरा रे !

इरीना अंत में फिर गहनों की दुकान पर गई, इस आशा में कि शायद उसी तरह का दूसरा मिल जाए। दुकानदार ने यह कहकर कि सिर्फ़ इस झुमके के तीन पीस बने थे बिल्कुल उसी तरह का एक झुमका लाकर दे दिया। फिर बेचने की कला का नमूना। बाद को मैं सोचने लगा कि झुमका दुकान में ही तो नहीं गिर गया था कि दुकानदार ने वही फिर पेश कर दिया; पर इरीना इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुई कि रूस का दुकानदार ऐसी बेईमानी करेगा।

बाकू से मैं 22 अप्रैल को मास्को वापस आया। वह दिन मैंने ख़रीदारी करने में बिताया। मेरी 'लिरिका' की रायल्टी मुझे दे दी गई जो कई सौ रूबल थी; इरीना के हिसाब से भारतीय सिक्कों में लगभग तीन हजार रुपयों के बराबर; कुछ रूबल दैनिक भत्ते के मेरे पास बचे थे। ये सब रूस के अन्दर ही ख़र्च करने थे। कुछ समय मैंने किताबों की दुकानों पर बिताया। रूस में सारा प्रकाशन राज्य की ओर से होता है। रूस ने अपने को वर्ल्ड कापीराइट कन्वेन्शन से मुक्त कर लिया है। वे दुनिया की किसी भी पुस्तक का अनुवाद बिना लेखक की अनुमति के और बिना कुछ रायल्टी दिए कर सकते हैं—करते भी हैं; कोई लेखक रूस पहुँच जाए तो रूबलों में वे उसकी रायल्टी अदा कर देते हैं; पर रूबलों को रूस में ही ख़र्चना होता है। रूस की आंतरिक भाषाओं में भी परस्पर अनुवाद ख़ूब होते हैं। पुस्तकें सुन्दर होने के साथ सस्ती भी होती हैं और रूसी जनता में पुस्तक प्रेम बहुत है। जहाँ भी मैं पुस्तकों का दुकान पर गया मैंने ख़रीदनेवालों की भीड़ देखी। मुझे बताया गया कि भारतीय साहित्य की ही लगभग सौ किताबें रूसी में अनूदित हो चुकी हैं और कई किताबें रूसी अनुवाद में जितनी बिकी हैं

उतनी मूल भारतीय भाषा में नहीं !

रूस ऐसे बड़े देश के विषय में, जो देश नहीं दुनिया है, केवल तीन सप्ताह रहकर, और उसके सिर्फ़ चार नगरों को देखकर, और उन नगरों में वही देखकर जो आपको दिखाया गया है, कोई सही राय बनाना असंभव है। कुल मिलाकर मुझ पर यह असर पड़ा कि रूस ऐसे विविधतापूर्ण देश को सुगठित, सुअनुशासित करने और उसके निवासियों को समृद्धि नहीं तो खुशहाली देने और भविष्य के लिए उन्हें आशावान और कर्मशील बनाने में जो सफलता प्राप्त की गई है वह किसी भी शासन प्रणाली के लिए बड़ी भारी उपलब्धि है। शासन की जकड़बंदी बड़ी चौकस है पर उसके बदले में जनता को कुछ मिला है जिसके कारण वह उस जकड़बंदी को स्वेच्छया स्वीकार किए हुए है।

रूस के बाद मुझे मंगोलिया जाना था। मैं 22 अप्रैल की शाम को मास्को से हवाई जहाज़ से रवाना हुआ। ओमस्क रुकते जब हमारा जहाज़ इरकुटस्क पहुँचा तो घड़ी में मास्को समय से चार घंटे का अंतर आ चुका था। इरकुटस्क में हमें बताया गया, रात के दो बजे हैं, गो सूरज निकल रहा था, गर्मियों में वहाँ सूरज ऐसे ही वक़्त निकल आता है। वहाँ से मंगोलिया जाने वाला जहाज़ आठ बजे चलने को था। हम लोग पास के होटल में जाकर सो गए। काले परदों को खिड़कियों पर खींचना पड़ा तब रात होने का आभास हुआ। इरकुटस्क से आठ बजे चलकर हमारा जहाज़ क़रीब ग्यारह बजे मंगोलिया की राजधानी उलान-बतोर पहुँचा। मुझे नेहरू परिवार में किसी ने बताया था कि 'उलानबतोर' के अर्थ हैं 'लाल बहादुर'—'उलान' का अर्थ है लाल, 'बतोर' वही शब्द है जो बहादुर। मुझे पता नहीं कि नगर का यह नाम पुराना है या लाल क्रांति के बाद यह नाम दिया गया। वहाँ मुझे पूछने की याद नहीं रही। अपने देश में दक्षिण में 'कोयमबतोर' नगर प्रसिद्ध है। क्या संबंध होगा 'कोयमबतोर' और 'उलानबतोर' के 'बतोर' में ? प्रसंगवश बता दूँ कि मंगोलिया में क्रांति के जनक थे सूकेबतोर, जो वही है जो सुख बहादुर। सूकेबतोर लेनिन से मिले थे और मंगोलिया में उनका वही स्थान है जो रूस में लेनिन का। उलानबतोर के रेड स्क्वायर में सूकेबतोर का स्मारक उसी तरह बना है जिस तरह मास्को में लेनिन का। क्रांति के पूर्व मंगोलिया में लामा-धर्म-सामंती शासन था, जैसे तिब्बत में; तिब्बत से निश्चित रूप से धार्मिक-सांस्कृतिक संबंध और आदान-प्रदान था; और इस प्रकार सदियों से भारतीय बौद्ध संस्कृति का निर्यात मंगोलिया को हो रहा था। मध्ययुगीन लामा-धर्म-संस्कृति से अपने को बिलकुल काटकर नवयुग में पदार्पण करने के क्रांति के प्रयत्नों के बावजूद मंगोलिया के जन जीवन में पुरा संस्कारों के सूक्ष्म चिह्न आज भी देखे जा सकते हैं; उदाहरणार्थ लड़कों के संजय, धनंजय नाम, लड़कियों के सूकिया (सुखिया), सुंदरिया। प्रणाम करने में हाथों को जोड़ने की रीति; यह प्रथा तो कोरिया-जापान तक चली गई है। ख़ैर।

उलानबतोर के हवाई अड्डे पर मंगोलिया सरकार की मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मिस्टर थरवा और मिस्टर तावा ने मेरा स्वागत किया। मि० तावा मेरे दुभाषिया थे, वे अंग्रेजी बोल और समझ सकते थे। हिंदी जाननेवाला दुभाषिया उपलब्ध न था; संस्कृत जाननेवाला दुभाषिया मिल सकता था,

लेकिन लज्जा और दुर्भाग्य की बात कि भारत का सांस्कृतिक प्रतिनिधि मैं संस्कृत नहीं बोल सकता था। संस्कृत न जानने की लज्जा इससे अधिक शायद ही कही मैंने अनुभव की।

उलानबतोर में मेरा कार्यक्रम छह दिनों का था। संग्रहालय व पुस्तकालय के अतिरिक्त वहाँ मुझे कोयले की खान, चमड़े की एक फ़ैक्टरी और ऊन की बुनाई का एक कारख़ाना दिखाया गया। पुस्तकालय में तिब्बती भाषा में लिखी पांडु-लिपियों का बहुत बड़ा संग्रह है। मंत्रों और धार्मिक पुस्तकों को स्वर्णाक्षरों में लिखने की कला मंगोलिया के लामाओं ने विकसित की थी। बहुत-सी पांडुलिपियाँ सचित्र हैं। संग्रहालय में दीवारों से टाँगने के लिए कपड़े पर बने चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। पत्थर, काठ, धातु की कला-कारीगरी की, पूजा के उपयोग में आनेवाली अथवा जन-जीवन के दैनिक व्यवहार की जितनी भी चीज़ें हैं, सब पर तिब्बता कला की छाप है। कला के संबंध में तिब्बत की एक अपनी दृष्टि है। मुझे पता नहीं कला विशेषज्ञों ने कला में किसी विशिष्ट तिब्बती स्कूल की स्थापना की है या नहीं। यह लिखावट में, चित्रकारी में, धातु की वस्तुओं की ढलाई में, पत्थरों की गढ़ाई में, लकड़ी पर की गई नक्काशी में, भवनों की बनावट में, उन पर किए गए रंगों की सजावट-मिलावट में, सब जगह अपनी विशिष्टता लिए हुए है। इसका ध्येय वास्तविकता से दूर ले जाना है और कल्पना को एक अर्थ-गर्भित वक्रता देना है, अर्थ जो गुह्य तंत्रों या मंत्रों में छिपा है। साधारण दृष्टि से देखने पर भी उनका वैचित्र्य अर्थ की जिज्ञासा तो जगाता ही है। संग्रहालय में लोहे की एक इतनी मोटी ज़ंजीर रक्खी है कि कल्पना नहीं की जाती कि किन दानवों को उनसे बाँधा जाता होगा। चंगेज़ ख़ान का झंडा आज भी दिल में दहशत पैदा करता है। यह असंख्य बालों का बना है, कहते हैं जब चंगेज़ ख़ान किसी का सिर काटता था तो उसके सिर या दाढ़ी का एक बाल इस झंडे में जोड़ देता था। एशिया और योरोप को रौंद डालनेवाला चंगेज़ ख़ान बौद्ध था और मंगोलियायी उसे अपना राष्ट्र वीर मानते हैं।

मुझे ग्राम की एक सहकारी संस्था भी दिखाई गई जिसे मंगोल भाषा में 'नंगदल' कहते हैं। 'नंगदल' में ग्राम जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले, विभिन्न परिवारों को एक साथ रक्खा जाता है। खेती करनेवाले, कपड़ा बनानेवाले, जानवरों की देख-रेख करनेवाले, डेरी का काम करनेवाले, शिक्षक डाक्टर और मेकॅनिक—मशीन की संभाल-मरम्मत करनेवाले—सब मिलकर एक इकाई बनाते हैं जो आत्म पर्याप्त होती है। मंगोलिया में जहाँ जनसंख्या बहुत कम है मशीनों के अधिकाधिक उपयोग को प्रोत्साहित किया जाता है। जहाँ मशीनें कभी देखी ही नहीं गई थीं वहाँ जनता बड़े विनोदपूर्ण कौतूहल से मशीनों को देखती, चलाती और उनकी उपयोगिता सीखती है, तोड़ती भी है, और इसलिए नंगदल में मेकैनिक का बड़ा महत्त्व है। शुरू-शुरू में विकसित साम्यवादी देशों से मेकैनिक लाकर रक्खे गए थे। अब मंगोलियायी उनकी जगह लेते जा रहे हैं।

मंगोलिया में मीलों लंबे-चौड़े चौरस मैदान हैं जिनमें खेती नहीं हो सकती, केवल जंगली घास उगती है। वहाँ केवल भेड़ें और घोड़े पाले जा सकते हैं; घोड़ी वहाँ की गाय है, घोड़ा बैल। घोड़ी के दूध से 'क्यूमिस' बनाया जाता है जो

गड़रियों का प्रिय पेय है; मादक और शक्तिवर्धक भी होता है। गड़रियों के परिवार नमदे के तंबू लिए चरागाहों में एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते हैं। भेड़-घोड़े जब एक जगह की घास चर लेते हैं तो दूसरी जगह जाना ज़रूरी हो जाता है। उनके गोल तंबू 'घिर' कहलाते हैं। डा० रघुवीर ने मुझे बताया था कि 'घिर' 'शिविर' का बिगड़ा रूप है। ये 'घिर' आधे घंटे में उखाड़े या लगाए जा सकते हैं। मुझे बताया गया कि जाड़ों में भी, जब बरफ़ पड़ रही हो, 'घिर' पक्के मकानों से अधिक गर्म रहते हैं। एक घिर में आठ-दस आदमियों का परिवार बड़े मज़े से रह सकता है। मुझे मोटर से ले जाकर एक चरागाह में 'घिर' दिखाया गया। बैट्री से चलने वाले रेडियो सेट 'घिरों' में रक्खे गए हैं जिनसे गड़रियों को खबरें दी जाती हैं, मौसम का हाल बताया जाता है, गीत-वार्ताएं सुनाई जाती हैं और शिक्षित भी किया जाता है। एक घिर में गड़रियों ने मुझे खाना खिलाया। भेड़ का मांस वे इस प्रकार पका-सुखाकर रखते हैं कि बहुत दिनों तक ख़राब न हो। शक्करपारे भी वे बनाकर रखते हैं, पर वे इतने सख्त थे कि उन्हें काटने में दाँतों को पूरी ताक़त लगानी पड़ती थी। माँस तो मैंने न खाया; दूध, घी, शक्कर में पका चावल भी था, वही मैंने लिया; एकाध शक्करपारे खाए; क्यूमिस भी चखी; तेज़ थी, स्वादिष्ट नहीं लगी। मैंने मंगोली घोड़े की सवारी की और याद आया कि संभव है इसी घोड़े के लक्कड़दादे के लक्कड़दादे की पीठ पर सवारी गाँठ कर चंगेज़ ख़ान या उनका कोई जांबाज़ सरदार लूट-मार के किसी साहसी-क्रूर अभियान पर गया हो।

मुझे मंगोलिया में बचा एकमात्र लामाओं का मठ दिखाया गया, जहाँ करीब सौ लामा अब सरकारी वेतन में रहकर पुरानी पांडुलिपियों को व्यवस्थित संरक्षित अथवा उन पर शोध का काम करते हैं। मुख्य हाल में भगवान बुद्ध की मंगोली मुद्रा में चमकती धातु-मूर्ति थी और उनके अगल-बगल बहुत-सी मूर्तियाँ और पूजा का सामान था जो खुली आलमारियों में सजा था। घी के बड़े-बड़े दीपक जल रहे थे, अगरबत्तियाँ जल रही थीं और उनके गंध और धुएँ से हाल भरा था। बीच में आमने-सामने दो पंक्तियों में पालथी मारे बैठे वृद्ध, मुंडित शीश, स्थूलकाय, पीत-लबादा धारी एक दर्जन लामा अपने आगे पोथियाँ खोले पढ़ रहे थे और 'गें-गें-गें' शब्द हाल में गूँज रहा था। बीच-बीच में छत से लटकती एक खंभड़ीनुमा डफली को एक लामा नीचे से घुमाकर 'डिमिक-डिमिक' बजा देता और दूसरा लामा एक बड़े झाँझ को 'झइम-झइम', और फिर वे बिना रुके, बिना हिले-डुले, बिना किसी की ओर देखे 'गें-गें-गें'—करने लग जाते। हाल की दीवारों से लगी आलमारियों में बस्तों में बंधी सैकड़ों पोथियाँ रक्खी थीं; किसी लामा ने उनकी ओर संकेत करके कहा, 'गंजोर-तंजोर'। इसके आगे मैं कुछ न समझा। मठ के बाहर 'प्रेयर ह्वील' या प्रार्थना चक्र लगे हैं, जिन पर 'ऊँ नमो मणि पद्मे हुं' लिखा है। कुछ लोग अब भी आते हैं, इन प्रार्थना चक्रों को घुमाते हैं और मुख्य द्वार पर साष्टांग प्रणाम करते हैं।

प्रमुख लामा से भी मुझे मिलाया गया—पाठकारी लामाओं का प्रतिरूप, रक्तवर्ण, गंभीर। मठ से लगा उनका निजी कक्ष था। मैंने झुककर प्रणाम किया तो उन्होंने मुन्न से कुछ कहा। दुभाषिया ने बताया, आपको आशीर्वाद देते हैं; वहाँ मंगोलिया के कई कवि और लेखक भी एकत्र हुए; मेरा कविता-

पाठ हुआ; मैंने ही अपनी कविता का भावार्थ अंग्रेज़ी में बताया, तावा ने उसको मंगोल में समझाया। वहीं मुझे दिन का भोजन दिया गया। प्रमुख लामा ने साथ खाना नहीं खाया; वे उपस्थित भर रहे। मंगोलिया में वह मेरा अंतिम दिन था। चलते समय मंगोलियाथी चित्रों का एक भारी एलबम मुझे भेंट किया गया।

मंगोलिया जो आधी सदी पूर्व केवल गड़रियों और लामाओं और उनके संरक्षक तानाशाही सामंतों का देश था, अब साम्यवादी जनसत्तात्मक लोकतंत्र है; हर दिशा में विज्ञान के सहारे औद्योगिक उन्नति हो रही है; नए नगर खड़े हो रहे हैं और उन्हें आधुनिक बनाने की योजनाएँ कार्यरूप में परिणत की जा रही हैं। रूस और चीन दोनों ही मंगोलिया को अपने प्रभाव में रखना चाहते थे, पर सफल रूस हो रहा है। मंगोलिया में चीन के प्रति इस बात पर आक्रोश है कि उसने आउटर-मंगोलिया को अपने कब्ज़े में कर रक्खा है। मंगोलिया की उन्नति-प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि पूर्वी समुद्र तट पर उसे कोई द्वार मिले जिससे निकलकर वह बाहरी दुनिया से स्वतंत्र संबंध बना सके। रेड स्क्वायर में घोड़े पर सवार सूकेबतोर की मूर्ति अपना बायाँ हाथ पूर्व दिशा की ओर बढ़ाए हुए है। क्या मंगोलियावासियों के लिए यह कोई संकेत है?

मंगोलिया से लौटकर मैं मास्को आया और मैंने पहली मई की परेड देखी जिसके लिए मुझे पहले से निमंत्रण मिला था। भूलने की चीज़ नहीं वह। रूसी फ़ौज और उसके हथियारों का विश्व-आतंककारी प्रदर्शन! रूसियों को अडिग आश्वासन कि कोई शक्ति तुम्हारे देश का बाल बाँका नहीं कर सकती। लेनिन की समाधि की छत पर खड़े होकर रूस के राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल के सदस्य सलामी लेते हैं। जिसके पांवों में सात-आठ घंटे खड़े रहने की ताक़त न हो वह रेड स्क्वायर में परेड देखने न जाए। वहाँ किसी को बैठने की जगह नहीं दी जाती। जब फ़ौजी मार्च करते हुए जा रहे हैं तब किसी को आराम से बैठकर उन्हें देखने का अधिकार नहीं है। अपने देश का रिपब्लिक डे भी याद आया! फ़ौजियों की परेड के बाद किसान, मजदूर, नागरिक हाथों में फूल की डालियाँ लेकर निकलते हैं गाते-नाचते हज़ारों, हज़ारों, हज़ारों—जैसे घोषित करते हों कि वह सारी युद्ध की तैयारी इसलिए है कि देश में शांति के सुमन खिलते-महकते रहें।

अगला पखवाड़ा चेकोस्लोवाकिया की यात्रा के लिए था। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया दो देशों का सम्मिलित नाम है। किन राजनीतिक कारणों से चेक और स्लोवाक दो विभिन्न भाषा-भाषी देशों को एक कर दिया गया है, मुझे नहीं मालूम। मैं तो उसे एक ही देश समझता था। वहाँ जाने पर पता चला कि दोनों देशों की अलग-अलग राजधानियाँ भी हैं; चेक की प्राग, जिसको वहाँ वाले प्राहा कहते हैं, और स्लोवाक की ब्राटिसलावा। मैं 2 मई को मास्को से हवाई जहाज से चलकर प्राग पहुँचा। प्राग में राइटर्स यूनियन की ओर से मादाम यूनोवा ने मेरा स्वागत किया। वे स्वयं लेखिका थीं और अंग्रेजी अच्छी तरह बोल और समझ सकती थीं। उनके पति किसी समय मंत्रिमंडल में थे; उनकी मृत्यु हो चुकी थी और यूनोवा अपने दो बेटों के साथ रहती थीं जिनमें से एक की

शादी हो गई थी; दूसरा कालेज में पढ़ता था। भारतीय राजदूतावास के सांस्कृतिक संपर्क अधिकारी भी हवाई अड्डे पर मुझसे मिलने आए थे। मुझे एम्बेसेडर होटल में ठहराया गया था।

तीस अप्रैल को उलानबतोर में, 1 मई को मास्को में, 2 मई को प्राहा में था। माना कि यात्रा हवाई जहाज़ से की गई थी पर बदन थककर चूर था। मैंने यूनोवा से कहा, आज कोई प्रोग्राम नहीं; वह चली गईं। पर शाम को कमरे में लेटे-लेटे घुटन महसूस हुई और मैंने अकेले ही बाहर निकलने का निश्चय किया। फुटपाथ पर काफ़ी चहल-पहल थी और मैं अपनी अजनबी की-सी नज़र आदमियों, मकानों, दुकानों पर डालता आगे बढ़ रहा था कि मुझे एक आदमी निर्मल वर्मा-सा दिखा और मैंने आवाज़ लगा ही दी। वर्मा ही थे।

'अरे आप! यहाँ कैसे? खूब पहचाना!'

'योरोपियनों की भीड़ में हिन्दुस्तानी कहीं छिपता है!'

फिर हम दोनों साथ हो गए और दो-तीन घंटे उन्होंने मुझे पैदल और ट्राम से प्राग की ख़ास-ख़ास सड़कें, इमारतें, बाज़ार, रेस्टराँ दिखाए; चेकोस्लोवाकिया के सिक्के समझा; नगर-नागरिकों की विशेषताएँ बताईं, फिर किसी क्लब या पब में ले गए। सवाल है, पीनेवालों की संगत का मज़ा वह ज़्यादा उठाता है जो खुद पीता है या जो नहीं पीता। मैं अपना निर्णय न पीनेवालों के पक्ष में देना चाहूँगा। क्लब में निर्मल ने एक नवयुवक चेक कवि से मेरा परिचय कराया; नाम था तोपिंका—सुन्दर, छरहरा, निर्मल की ही तरह नाटा, किसी क़दर 'नाटी' भी यानी नटखट; वह निर्मल से बीच-बीच में चेक में कुछ कहकर हँसता रहा। निर्मल ने मुझे बताया था और मुझे खुद भी यह भाँपने में देर न लगी कि चेकोस्लोवाकिया में साम्यवाद है पर साम्यवाद का आतंक या दबदबा नहीं है। रूस और मंगोलिया की यात्रा के बाद चेकोस्लोवाकिया का यह खुला-खुलापन मुझे प्रियकर लगा। मुझे यह भी लगा कि चेकोस्लोवाकिया का नागरिक उतना राजनीति-प्रेरित नहीं, जितना कला अथवा सौन्दर्य-प्रेरित; सामाजिक बंधनों को स्वीकार करते हुए वह कहीं अपनी स्वतंत्रता के प्रति भी सचेत है।

बाद को मादाम यूनोवा के संरक्षण में कई बार राइटर्स यूनियन में चेक लेखकों और कवियों से मेरी भेंट कराई गई; और भारतीय साहित्य और भाषा के विषय में मैंने उनकी जिज्ञासाओं का समाधान किया। ऐतिहासिक महत्व के स्थानों और भवनों को देखने के अतिरिक्त मैंने चार्ल्स युनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग के विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान दिया और कविता-पाठ किया। वहाँ डा० स्मेकल हिन्दी के अध्यापक थे। वे एक से अधिक बार भारत आए थे। उनका मेरा परिचय दिल्ली में हुआ था। जब वे पहली बार भारत आए थे तब भी इतनी शुद्ध, और सही उच्चारण से हिन्दी बोलते थे कि आश्चर्य होता था। मैं उनके घर भी गया, उनकी पत्नी से मिला। उनके घर के भीतर की साज-सज्जा किसी सुसंस्कृत भारतीय के घर से अधिक भारतीय लगी। उन्होंने अपने टेप रेकार्डर पर मेरी कई कविताएँ रेकार्ड कीं। मेरी 'मधुशाला' के कई पदों का अनुवाद उन्होंने चेक भाषा में किया था जो किसी चेक पत्रिका में छपा भी था; और भी कुछ कविताओं का।

प्राग में सभी क्लब-पब पीने-पिलाने, नाचने, ब्रिज-रमी खेलने के लिए नहीं

हैं। कुछ क्लबों का ऊँचा सांस्कृतिक स्तर है, जहाँ बुद्धिजीवी, कवि, कलाकार, चित्रकार एकत्र होते हैं। ऐसे ही एक 'वियोला क्लब' में मेरा कविता-पाठ रखा गया; डा० स्मेकल ने मुझ पर और मेरी कविता पर एक परिचयात्मक व्याख्यान दिया और मेरी पठित कविताओं का अनुवाद चेक में सुनाया। वास्तव में मैंने वही कविताएँ सुनाईं जिनका अनुवाद डा० स्मेकल पहले ही चेक में कर चुके थे; कविता कोई साधारण भाषण नहीं कि उसका अनुवाद तुरत-फुरत दूसरी भाषा में प्रस्तुत कर दिया जाए।

तीन दिन के लिए मुझे प्राग से ब्राटिसलाबा भेजा गया। वहाँ भी मैंने ऐतिहासिक स्थानों को देखा और राइटर्स यूनियन में व्याख्यान दिया और कविता-पाठ किया। डेन्यूब के तट पर बसा ब्राटिसलाबा बड़ा रमणीक नगर है। नगर के कतिपय भागों में किसी प्रकार की सवारी गाड़ियाँ ले जाना मना है। वहाँ बड़ी शांति रहती है; बूढ़े लोग निर्भय घूमने आते हैं, नगर की दौड़-धूप-तेज़ी-शोर-शराबा जैसे यहाँ आकर शांत हो गया है। ब्राटिसलाबा में 'सिरेमिक्स' का काम बहुत अच्छा होता है—मिट्टी के बर्तनों, खिलौनों, कलाकृतियों को रंगकर पकाने का काम। 'सिरेमिक्स' का काम सिखाने के कालेज भी हैं—एक कालेज में एक भारतीय विद्यार्थी भी प्रशिक्षण ले रहा था। डेन्यूब पर मैंने मोटर लांच से यात्रा की; थोड़ी दूर पर उस पार हंगरी की सीमाएँ शुरू होती हैं; तटों पर बड़ी चौकसी रखी जाती है।

चेकोस्लोवाकिया में मैंने कई ओपेरा, बैले, नाटक भी देखे। नाट्य कला को वहाँ विशेष रूप से विकसित किया गया है—विशेषकर रंगमंच की तकनीक को। सिनेमा और रंगमंच को मिलाने के भी प्रयोग हुए हैं। सिनेमा कई जगह बीच के बड़े पर्दे के अतिरिक्त पखवाइयों पर भी दिखाया जाता है—तीन दृश्यों पर ध्यान रखने से दिमाग़ और आँख दोनों पर ज़ोर पड़ता है—शायद अभ्यास से देखना सहज और आनन्ददायक भी हो जाता हो। प्राग में एक रात को मैंने 'रूमियो ऐन्ड जूलियट' का चेक रूप देखा। रंगमंच की तकनीक नाटक पर हावी हो गई थी। मैं शेक्सपियर के नाटकों को सादे से सादे रंगमंच पर देखना चाहता हूँ; तभी भाषा के सौंदर्य और पात्रों के अभिनय-कला की पूरी परख होती है। शेक्सपीरियन नाटकों के मंचन में आधुनिकीकरण की एक सीमा माननी होगी; उसका उल्लंघन कर जाने से शेक्सपियर शेक्सपियर नहीं रह जाएगा।

कुल मिलाकर मुझको चेकोस्लोवाकिया बड़ा कल्पना-प्रवण और प्रयोग-प्रिय देश लगा।

14 मई को मैं प्राग से ईस्ट बर्लिन पहुँचा। हवाई अड्डे पर मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मेरा स्वागत किया गया और मिस कोपेल्के मुझे दुभाषिया के रूप में दी गई। ईस्ट बर्लिन में मुझे उन्टर डिन लिन्डेन होटल में ठहराया गया। यह होटल हिन्डेनबर्ग गेट से दूर नहीं है जो वेस्ट-ईस्ट बर्लिन के बीच खिंची दीवार की सीध में है। वेस्ट बर्लिन से शायद ही कभी किसी ने ईस्ट बर्लिन आने की कोशिश की हो, पर ईस्ट बर्लिन से वेस्ट बर्लिन जाने पर सख़्त प्रतिबंध है और दीवार फाँदकर उस पार जाने के प्रयत्न में बहुत-से लोग पहरेदारों की गोलियों के शिकार हुए हैं। इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

हिन्डेनबर्ग गेट से दीवार की सीध में चलकर कुछ दूर पर वह स्थान है जहाँ हिटलर की चांसरी थी। उसे बिल्कुल नेस्तनाबूद कर दिया गया था; उस पर अब जंगली घास उगती है; केवल हिटलर का बंकर, जैसे किसी जानवर की माँद के रूप में, छोड़ दिया गया है; वहाँ किसी को जाने की आज्ञा नहीं है। चांसरी की सारी भूमि ईस्ट बर्लिन की ओर पड़ती है।

सबसे पहले मुझे वह स्मारक दिखाया गया जो उन लोगों की यादगार में बनाया गया है जो हिटलरी फ़ासिज्म के शिकार हुए थे। एक बड़ा-सा हाल है जिसमें मानो फ़ासिज्म के प्रतीक के रूप में एक भारी कुरूप काला पत्थर रक्खा है। मुझे बताया गया कि गैस-प्रवाह से यहाँ दिन-रात अग्नि-ज्वाल उठती रहने का प्रबन्ध किया जा रहा है। इमारत के आगे फ़ौजी पहरा रहता है और सप्ताह में एक दिन फ़ौज की एक टुकड़ी बैंड-बिगुल-झंडे के साथ आकर शहीदों को सलाम पेश करती है।

युद्ध के समय बर्लिन पर ज़बरदस्त बममारी हुई। मलवे साफ की गई ज़मीन पर नया बर्लिन उठ चुका है, उठ रहा है, पर नगर के बीच में कई अंशतः ध्वस्त इमारतें अब भी खड़ी हैं। शायद उन्हें न गिराया गया है, न उनकी मरम्मत कराई गई है, इस ध्येय से कि आनेवाली पीढ़ियाँ देख सकें कि युद्ध कितनी भीषण चीज़ होती है! और वह सभ्यता-संस्कृति की बहुमूल्य उपलब्धियों को किस निर्ममता से विनष्ट करती है।

ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा के अतिरिक्त मैंने राज्य-पुस्तकालय, संग्रहालय और युनिवर्सिटी देखी। कुछ स्कूल भी मुझे दिखाए गए। एक स्कूल के विद्यार्थियों को मैंने अपनी कविताएँ सुनाईं। बर्लिन नगर छोटी-छोटी झीलों से घिरा है; इनको नहरों द्वारा मिलाकर बड़ा मनोरम जलमार्ग बनाया गया है। मोटर लाँच द्वारा इस जलमार्ग से यात्रा करने की याद बहुत दिनों तक बनी रहेगी। इस जल-मार्ग के दोनों तटों पर छोटे-छोटे काटेज बने हैं जहाँ नगर के धूल-धुएँ-शोर के दमघोट वातावरण से ऊबकर ताज़गी पाने के लिए लोग छुट्टियों में आ जाते हैं। बर्लिन जैसे व्यस्तता-विक्षिप्त नगर के लिए ऐसे स्थल कितने बड़े वरदान हैं!

चार-पाँच दिन बर्लिन में रखने के बाद मुझे कार से ड्रेसडेन, लाइपज़िग और वाइमार की यात्रा पर भेज दिया गया। ड्रेसडेन पर पिछले युद्ध के समय सबसे बर्बर और भीषण बमबारी हुई थी और बताते हैं कि लगभग अस्सी प्रतिशत इमारतें धराशायी हो गई थीं। नया ड्रेसडेन फिर से खड़ा हो गया है। कुछ पुराने ध्वसावशेष ज्यों के त्यों पड़े हैं, शायद जैसे बर्लिन में, युद्ध की भीषणता का बोध कराने के लिए। ड्रेसडेन में मैं वहाँ के कवि ज़िमरिन और उपन्यासकार विली माइन्क्स से मिला। माइन्क्स कई बार भारत आ चुके हैं, भारत पर कई पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं। ज़िमरिन की मृत्यु हो चुकी है।

लाइपज़िग व्यावसायिक नगर है, वहाँ पर मैंने जर्मन भाषा का सबसे बड़ा पुस्तकालय देखा। संसार में जहाँ कहीं भी जर्मन में कुछ लिखा जाता है लाइपज़िग के पुस्तकालय में उसे संगृहीत करने का प्रयत्न किया जाता है। ग्राफ़िक आर्ट स्कूल भी वहाँ बहुत बड़ा है, जहाँ छपाई की कला का विकास किया जाता है। मुझे यहाँ के छपे कई सचित्र जर्मन क्लासिक्स दिखाए गए। महाकवि कालिदास

के 'ऋतुसंहार' के जर्मन अनुवाद का सचित्र भव्य संस्करण मुझे भेंट किया गया, जो कभी यहीं छपा था। कालिदास की किसी कृति का मूल संस्करण भी इतने भव्य रूप में भारत में प्रस्तुत नहीं किया गया। यहाँ तो संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रंथों के लिए काशी की 'चौखंबा सिरीज़' है जिसे सस्ती बनाने के प्रयत्नों में सुरुचि का अच्छी तरह बलिदान कर दिया गया है। उसका ग्राहक गरीब ब्राह्मण इतने से ही संतुष्ट हो जाता है कि मूलपाठ तो उसे उपलब्ध करा दिया गया—उसके निकट पूर्वजों को तो हाथ से प्रतिलिपियाँ बनानी पड़ती थीं। स्वतंत्र भारत का ध्यान अपनी साहित्यिक निधि का सम्मान करने की ओर कब जाएगा? भारत सरकार ने अच्छी छपाई को प्रोत्साहन देने के लिए पुरस्कारों की एक योजना बनाई है, पर उसका लाभ प्राय: कैलेन्डरों-पोस्टरों को छपवानेवाले उठाते हैं; क्यों न आग्रह समय-सिद्ध ग्रंथों के उत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण पर हो! कार्ल मार्क्स युनिवर्सिटी में मुझे जर्मन भाषा पढ़ाने की वैज्ञानिक विधि समझाई गई। कई भारतीय विद्यार्थी वहाँ थे जिन्होंने एक वर्ष में इतनी जर्मन सीख ली थी कि वे उसी माध्यम से उच्च कोटि का वैज्ञानिक शोध संबंधी कार्य कर सकते थे। वैज्ञानिक विधियाँ किसी भाषा पर लागू हो सकती हैं। भारत सरकार, यदि वह हिन्दी के व्यापक प्रचार के प्रति गंभीर है तो, इस वैज्ञानिक विधि को क्यों न अपनाए? शुरू-शुरू में यह कुछ महंगी पड़ सकती है, पर इससे समय की जो बचत होगी, अन्ततोगत्वा वह इसको सस्ता भी सिद्ध करेगी।

मेरी लाइपज़िग यात्रा एक और कारण विशेष से महत्त्वपूर्ण रही। जिन दिनों मैं लाइपज़िग में था उन्हीं दिनों गेटे के संपूर्ण 'फ़ाउस्ट' का मंचीकरण नगर की सबसे बड़ी नाट्यशाला में हो रहा था। मुझे बताया गया कि ऐसा अवसर दस-बारह बरस के अंतराल पर आता है। पूर्ण 'फ़ाउस्ट' के अभिनय में लगभग बारह घंटे लगते हैं। शाम से खेल शुरू होता है और सारी रात चलता है; तीन-तीन घंटे बाद आधे-आधे घंटे के इन्टरवल होते हैं। इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मैं पूर्ण 'फ़ाउस्ट' का मंचीकरण देख सका! मैं 'फाउस्ट' के अनुवाद को अंग्रेज़ी में कई बार पढ़ चुका था, इस कारण नाटक को समझने में मुझे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। फ़ाउस्ट का हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। क्या अभिनय, क्या साज-सज्जा, क्या दृश्य-परिवर्तन, क्या भव्य प्रदर्शन, क्या प्रकाश-व्यवस्था—सब कुछ अद्भुत था। जनता का तीन-तीन घंटे तक समाधि लगाकर बैठना, न हिलना-डुलना, न चूं करना (किसी की छींक-खाँस भी मैंने नहीं सुनी) कम अद्भुत नहीं था। एक-एक सीट भरी थी। योरोप का यूनान-युग से लेकर मध्ययुग तक का सारा इतिहास ही रंगमंच पर होकर गुज़र गया। कल्पना करना कठिन है कि कितने सौ अभिनेताओं ने इस विराट प्रदर्शन में भाग लिया होगा। और हर इन्टरवल पर और नाटक की समाप्ति पर जनता ने अभिनेताओं के अभिनंदन में जो तालियाँ बजाईं, जो हर्षध्वनि की 'हेल-हेल', जो उत्साह दिखाया वह मेरे अनुभव में न पहले आया था, न बाद को कभी आया। ऐसी जनता के बीच होना उल्लास के समुद्र में स्नान करने जैसा था। धन्य हैं वे लोग जो अपने कलाकारों का सम्मान करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होते हैं। उनके बीच उच्च कोटि के कलाकार न जन्म लेंगे तो कहाँ लेंगे!

लाइपज़िग से कार से हम लोग वाइमार आए। मैं वाइमार में विशेष

प्रभावित हुआ गेटे और शिलर के संग्रहालय और स्मारक देखकर। गेटे अभिजात वर्ग के थे, राज्य-सम्मानित, भव्य भवन में रहनेवाले, भव्य जीवन बितानेवाले। वे जिस घर में रहते थे—महल ही है—उसी में अब उनका संग्रहालय है। उनके जीवन-सृजन से संबद्ध छोटी से बड़ी चीज़ें तक संकलित, सुसज्जित, सुव्यवस्थित। एक स्थान पर उन विचित्र पत्थरों का भी संग्रह है जिनका उनको शौक था। कहते हैं गेटे लेटकर नहीं, बैठे-बैठे मरे। वह कुर्सी भी दिखाई गई जिस पर अपनी अंतिम साँसों से Light, More Light कहते हुए उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। गेटे और शिलर में घनिष्ठ मित्रता थी और दोनों की वसीयत के अनुसार दोनों के शव लोहे के मुहरबंद ताबूतों में एक चबूतरे पर अलग-बगल रक्खे हैं।

वाइमार से कुछ ही दूर पर हिटलर ने बुख़ेनवाल्ड कन्सन्ट्रेशन कैम्प बनाया था। प्राकृतिक दृश्य यहाँ का बड़ा ही मनोरम है; धीरे-धीरे उठती ज़मीन आगे चलकर चौरस हो गई है, कुछ दूर पर वनाली आरंभ होती है, लंबे, शायद देवदार के, वृक्ष हरी प्राचीर-सी उठाए हुए हैं। प्रकृति और संस्कृति की इस रंग-स्थली को हिटलर ने क्यों अमानुषी अत्याचार ढाने के लिए चुना था! बताते हैं, यहाँ दो लाख यहूदी बंदी थे जिनमें से साठ हजार को जान से मार दिया गया था। फाटक पर जर्मन में एक मोटो था जिसका अर्थ अंग्रेज़ी में होता है—to everyman his due—हर व्यक्ति को उसका प्राप्तव्य—और यहाँ के हर व्यक्ति का प्राप्तव्य था, कठिन श्रम, भूख, प्यास, गाली, मार, मृत्यु। बंदियों को भारी पत्थरों से लदी गाड़ियाँ खींचनी पड़ती थीं, जिनको Singing Cart कहा जाता था। बंदी खींचते-खींचते गिरते, कोड़े खाते, दम तोड़ देते थे। सामूहिक मृत्यु के गैस चेम्बर थे, सामूहिक फाँसी के हाल थे जिनमें बंदियों को अपने हाथों से गले में फंदा डाल झूल जाना पड़ता था, जो झूलने पर भी न मरते थे उन्हें मुंगरियों से पीटा जाता था, फिर मरों-अधमरों को उतारकर बिजली की भट्ठियों में झोंक दिया जाता था, ये भट्ठियाँ आज भी मौजूद हैं और इनके निकट जाने पर जलते मनुष्य मांस की काल्पनिक चिरायँध से भी उबकाई आने लगती है। जिस दिन बुख़ेनवाल्ड कैम्प देखने गया था उस दिन मुझसे खाना नहीं खाया गया था। गैस पी, गोली खा अथवा फाँसी लगा मर जाना तो निश्चय ही कैम्प का सुखद अनुभव रहा होगा। मनुष्य को दमित, पीड़ित, पराजित अपमानित करने के जिन क्रूर से क्रूर, पाशविक से पाशविक कृत्यों की कल्पना की जा सके, वे सब वहाँ किए गए थे, कुछ कल्पनातीत भी। उनकी बात सुनकर आदमी हहर उठता है। अगर सभ्यता और संस्कृति में कुछ भी नैतिक बल बाकी हो तो उसे देखना चाहिए कि संसार का कोई देश अब कभी फ़ासिस्टी शिकंजे में न आने पाए।

वाइमार से लौटकर मैं फिर ईस्ट बर्लिन आया। वहाँ मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मुझे विदा भोज दिया गया, कुछ साहित्य भी भेंट किया गया, उसमें 1924 में जर्मन में लिखी गांधी जी पर डा० ज़ाकिर हुसैन की पुस्तक की फोटो प्रतिलिपि भी थी। उस समय वे डाक्टरेट लेने के लिए बर्लिन में शोध कार्य कर रहे थे। जर्मन में गांधी जी पर लिखी वह प्रथम पुस्तक थी।

लौटते समय एक समस्या खड़ी हो गई। मेरा टिकट फ्रैंकफ़र्ट होकर था और वहाँ के लिए मुझे वेस्ट बर्लिन से जहाज़ पकड़ना था। मुझे ईस्ट बर्लिन से वेस्ट बर्लिन भेजने को कोई तैयार न था, मेरा टिकट बदलवा कर वे मुझे मास्को से भेज सकते थे। एक भारतीय मित्र ने वेस्ट बर्लिन से एक टैक्सी मँगवाई और उसमें बैठकर मैंने हिन्डेनबर्ग गेट पर ईस्ट-वेस्ट बर्लिन के बीच विभाजन रेखा पार की। एक-एक चीज़ की तलाशी दोनों ओर हुई, पर मेरे पास कुछ आपत्तिजनक न था, सिवा एक दूरबीन के, जो ईस्ट जर्मनी में मुझे भेंट स्वरूप मिली थी। उसे रास्ते में न निकालने की शर्त पर मैं वेस्ट बर्लिन हवाई अड्डे पर भेज दिया गया। 27 मई को वेस्ट बर्लिन से फ्रैंकफ़र्ट और फ्रैंकफ़र्ट से जहाज़ बदल मैं बेरूत आया और वहाँ 3 दिन पिछली यात्रा में बने मित्र वीरेन्द्र पाल सिंह और सत्येन्द्र कुमार 'बीना' का मेहमान रहकर 31 मई को दिल्ली पहुँचा।

दिल्ली में आग बरस रही थी। पर अपना घर अपना ही घर था। तेजी सकुशल थीं, अकेली छोड़कर गया था, पर वे बहादुर हैं। बच्चे दोनों कलकत्ते में थे, पहले ही दिन उनसे ट्रंक पर बात कर ली। जी खुश हो गया। 'जो सुख छज्जू के चौबारे, वह न बलख न बुख़ारे।' यह कहावत जब बनी होगी तब बलख़ या बुखारा का वैसा ही आकर्षण होगा जैसे आज लंदन या पेरिस का।

जब मैं विदेश जाने लगा था तब बंटी ने मुझसे रूस से एक ख़ास क़िस्म का कैमरा लाने के लिए कहा। जैसा मैं बता चुका हूँ, मेरी कुछ चुनी हुई कविताओं का रूसी अनुवाद 'लिरिका' मास्को से प्रकाशित हुआ था और मुझे एक अच्छी राशि रायल्टी के रूप में मिली थी। मैंने अपने दुभाषिये से कहा कि मैं अपनी रायल्टी से अमुक नाम का कैमरा खरीदना चाहता हूँ। उसने पता लगाकर बताया कि वह फिल्मी कैमरा है और काफ़ी महँगा है। मैंने अपनी पूरी रायल्टी देकर वह कैमरा खरीद लिया। बंटी की माँग थी; मैं उसे निराश नहीं करना चाहता था। फिर भी मेरा माथा ठनका था कि बंटी फ़िल्मी कैमरा लेकर क्या करेगा—यह रहस्य तो बाद को खुला कि उसी कैमरे से बंटी ने अमिताभ की कई तस्वीरें लीं और प्रसिद्ध फिल्मी अभिनेताओं की तस्वीरों के मुक़ाबले उन्हें रखकर अमित को समझाया कि तुम देखने में किस फिल्म अभिनेता से कम हो, तुम नाटकों में अच्छा अभिनय करते हो, क्यों न तुम फिल्म क्षेत्र में अपनी क़िस्मत आज़माओ। अमित में फिर भी हिचक थी। अगर बंटी ही न उन्हें फिर-फिर कुरेदता तो अमित शायद ही फ़िल्म क्षेत्र में जाते।

इसी वर्ष मेरा नया काव्य संग्रह निकला, 'बहुत दिन बीते', जो मैंने सर्वश्री केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती और कुँवर नारायण को समर्पित किया कि साठा होने पर पाठा कितना, मेरे पाठक देखें।

इसी वर्ष मेरे काव्य-संग्रह 'दो चट्टानें' (1965) पर मुझे साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया।

'68 का आरम्भ एक मंगल-कार्य से हुआ। राजीव गांधी की मँगेतर सोनिया इटली से आई तो उसे हमारे घर में ठहराया गया, जहाँ रहते उसने भारतीय रहन-सहन, जीवन से कुछ परिचय प्राप्त किया। हमारे आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से सोनिया इतनी प्रभावित हुई कि उसने तेजी से धर्म की माँ और अमित-बंटी से

धर्म के भाई का नाता जोड़ लिया। फ़रवरी में राजीव की शादी हुई। विवाह संबंधी कुछ रस्में 13 विलिंगडन क्रिसेंट में ही हुई।

जनवरी में ही बंटी की बदली कलकत्ता से मद्रास हो गई थी। राजीव की शादी में भाग लेने के लिए अमिताभ कलकत्ता से आए थे, बंटी मद्रास से।

मई में बंटी के जन्मदिन पर मैं मद्रास गया। यह बंटी का इक्कीसवाँ जन्मदिन था। जीवन में कितनी जल्दी वह व्यवस्थित हो गया था, कमाने लगा था। शा वैलेस की ओर मे उसे कार भी मिली थी जो वह खुद ड्राइव करता था। उसके मन मे अमित के लिए बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ थीं; वह फ़िल्म में उनका भविष्य देखता था। उसने मुझे बहुत से चित्र भी दिखाए जो उसने अमित के लिए थे, उसी कैमरे से जो मैं रूस से लाया था। उसने मुझे बताया उसे नवम्बर में कंपनी के काम से बम्बई जाना होगा, तव वह बम्बई के प्रोड्यूसरों से मिलेगा और अमिताभ को किसी फ़िल्म में ब्रेक दिलाने की कोशिश करेगा। मैं बंटी की बातों को कौतूहल से सुनता पर अर्ध-अविश्वास के साथ। कहाँ अमित लगी-लगाई नौकरी छोड़कर फिल्मों में अपना भाग्य आज़माने जाएँगे। पर मैं बंटी को निरुत्साहित करना भी नहीं चाहता था। उस दर्जे पर मैं उसे रोक नहीं रहा था। कोशिश करने में क्या हर्ज है। बहुत से बड़े कामों का आरम्भ उत्साह से हुआ है।

मद्रास की उस यात्रा में मैं श्री अरविंद आश्रम, पांडीचेरी भी देख आया। मेरे मित्र पंडित सुमित्रानन्दन पंत श्री अरविंद के परम भक्त थे और अक्सर उनके, श्री माँ के और अरविंद आश्रम के विषय में मुझसे बातें किया करते थे। उनकी प्रेरणा से मैंने उनका कुछ साहित्य भी पढ़ा था, उनकी 'सावित्री' और 'दि लाइफ़ डिवाइन' पढ़ने की मुझे याद है। 'सावित्री' के कवित्व से मैं प्रभावित हुआ था, यद्यपि वह अमूर्त विचार-विवेचन से बहुत बोझिल है। अरविंद के दर्शन ने मुझे बिलकुल न छुआ था। पंत जी तो उसमें डूबे थे, इतना डूबे कि वह उनकी कविता को ले डूबा। गच कहूँ तो मैं किसी भक्ति-भाव-श्रद्धा से नहीं गया था, कौतूहलवश गया था।

आश्रम के एक अंतेवासी ने आश्रम की विभिन्न इमारतें दिखाईं। विशेष याद है श्री अरविंद का पुस्तकालय देखने की—विशाल; अच्छी देखरेख उसकी हो रही थी।

फिर गया श्री अरविंद की समाधि देखने। वृक्षों की छाया में, संगमरमरी पत्थरों की बनी चबूतरानुमा, जिसका हर दिन सुबह भक्तों द्वारा नए-नए प्रकार से फूल-शृंगार किया जाता है। वृक्ष के नीचे समाधि है। वृक्ष पर कौए तो आकर बैठेंगे। उन्हें क्या पता कि नीचे किस महापुरुष की शयन-शैया लगी है। वे उसपर बीट करने में क्यों संकोच करेंगे। कौओं को ऐसा नहीं करने देना चाहिए। उपाय क्या है? दिन भर के लिए चार भक्तों की ड्यूटी लगा दी गई कि वे तीन-तीन घंटे हाथ में गुलेल ताने ऊर्ध्व-दृष्टि समाधि की परिक्रमा करें और अगर कौए ऊपर की किसी डाल पर बैठे दिखाई दें तो उनको निशाना बनाएँ। बताया गया समाधि के अन्दर दो तहखाने हैं। एक में श्री अरविंद की शव-पेटिका सुरक्षित है और दूसरी अभी रिक्त है—जब श्री माँ स्वर्ग सिधारेंगी तब उनकी शव-पेटिका उसमें सुरक्षित कर दी जाएगी। मैंने समाधि को नमन किया, गुलेलबाज़ को भी

—'राम ते अधिक राम कर दासा'—आखिर यह भी गुरु-सेवा ही है कि गुरु की समाधि को गंदी होने से बचाया जाए। अब मैं अपने शंकालु मन को क्या करूँ, समाधि को नमन करते मुझे उमरखैयाम की यह रुबाई भी याद आ गई—

स्वर्ग-जग पर करते शास्त्रार्थ
जता विद्वत्ता का अभिमान,
अरे, कल जो सब पंडित-विज्ञ
गड़े मूढ़ों के आज समान।

गड़े दोनों ही एक समान
हुए मिट्टी दोनों के हाड़,
न कोई हो पाया वह स्वर्ण,
जिसे देखें फिर लोग उखाड़।

फिर मैंने श्री माँ के दर्शन की इच्छा प्रकट की। श्री अरविंद के जीवन काल में तो यहाँ आ न सका, हालाँकि आने की इच्छा करता भी तो यह निश्चय नहीं था कि उनके दर्शन मिल ही पाते। वे साल में तीन बार दर्शन देते थे—अपने जन्म-दिन पर, अपने संबोधि-दिवस पर और गुरु पूर्णिमा पर। पहले फ़ोटो भेजनी पड़ती थी, फ़ोटो से श्री अरविंद पता लगाते थे कि आदमी दर्शन का अधिकारी है कि नहीं। मेरी फ़ोटो देखकर शायद ही मुझे अधिकारी समझते। श्री माँ से मिलने पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था। श्री अरविंद पहुँचे हुए थे तो श्री माँ कम पहुँची हुई नहीं थीं। अरविंद के दर्शन नहीं कर सका तो माँ का ही कर लूँ। मेरी कल्पना में वे क्या थीं—उनपर लिखी अपनी एक कविता का सहारा लूंगा :

श्री माँ के बारे में मैंने
पढ़ा-सुना था जितना उससे मैंने उनको
दिव्य शक्ति, दैवी विभूति ही मान लिया था।
स्वयं पंत जी ने मुझको यह बतलाया था—
स्वर्ग-चेतना हैं यदि श्री अरविंद
'मदर' हैं धरा-चेतना
जो जग में साकार हुई हैं।

लेकिन बड़ी निराशा हुई जब उनके निजी सचिव ने आकर कहा कि श्री माँ के दाँतों में दर्द उठा है, कई दिनों से, मिल न सकेंगी। 'दिव्य शक्ति' और 'दैवी विभूति' और 'धरा चेतना' के दाँत में दर्द! दैव योग से उन दिनों मेरे दाँतों में भी दर्द था। मैंने उनपर एक कविता लिखी—'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' में है। अंतिम पंक्ति थी, 'मनुआँ, चल, तेरी-उनकी है किसी जगह पर कुछ तो समता!' बस, श्री अरविंद आश्रम के बारे में मुझे इतना ही याद है।

उस निराशा में सोचा, महाबलिपुरम देख आऊँ। कला कभी निराश नहीं करती। महाबलिपुरम मद्रास से 40-50 मील दक्षिण है। मोटर से गया। सीधा पक्का रास्ता है। समुद्र-तट पर स्थित काली-लाल चट्टानों को काटकर बनाए गए मंदिरों, रथों, मंडपों और पौराणिक देव-मूर्तियों के साथ प्राकृतिक मानव-मूर्तियों

को देखकर आँखें तृप्त हो गईं। कला की यह नगरी सातवीं-आठवीं शताब्दी में बनकर तैयार हो गई थी। कुशल संगतराशों की एक पूरी सेना ही आई होगी इसे बनाने के लिए। महाबलिपुरम पर मैंने एक कविता बाद को लिखी थी। वहाँ जो देखा, जो सोचा उसे मेरी कविता के माध्यम से देखें। किसी ने किसी भावाकुल क्षण में इस समुद्र-तट पर खड़े हो इन चट्टानों को देखा होगा और अपनी कल्पना से अनुमान किया होगा कि उनके अंदर सौंदर्य का क्या वैभव छिपा है! वह कल्पना कोमल, सुकुमार वायवी नहीं थी, वह थी सबल, प्रखर, सक्रिय—

कल्पना आई यहाँ पर,
और उसके दृग-कटाक्षों से
लगे पाषाण कटने—
कलश, गोपुर, द्वार, दीर्घाएँ,
गवाक्ष, स्तंभ, मंडप, गर्भगृह,
मूर्तियाँ औ' फिर मूर्तियाँ, फिर मूर्तियाँ...
उन्मुक्त निकलीं
बंद अपने में युगों से जिन्हें
चट्टानें किए थीं—
मूर्तियाँ जल-थल-गगन के जंतु-जीवों,
मानवों की, यक्ष-युग्मों की अधर-चर,
काव्य और पुराण वर्णित
देवियों की, देवताओं की अगिनती—
स्मृति सँजोती
विफल होती,
शीश धुनती।

यहाँ वामन बन त्रिविक्रम
नापते त्रैलोक्य अपने तीन डग में,
और आधे के लिए बलि
देह अपनी विनत प्रस्तुत कर रहे हैं।
यहाँ दुर्गा
महिष मर्दन कर
विजयिनी का प्रचंडाकार धारे।
एक उँगली पर यहाँ पर
कृष्ण गोवर्धन सहज-निःश्रम उठाए
तले ब्रज के गोप-गो सब शरण पाए,
औ' भगीरथ की तपस्या यहाँ चलती है कि
सुरसरि बहे धरती पर उतरकर,
सगर के सुत मुक्ति पाएँ।
उग्र यह कैसी तपस्या और संक्रामक
कि वन के हिंस्र पशु भी

ध्यान की मुद्रा बनाए।...
औ' बहुत कुछ घुल गया संस्कार बनकर
जो हृदय में
शब्द वह कैसे बताए !

इस अनुपम कला-भंडार को आश्चर्य-विस्फारित नयनों से देखते हुए ध्यान जाता है उन शिल्पियों की ओर, उन उपकरणों, उन छेनियों-हथौड़ों की ओर जिन्हें लिये वे कभी यहाँ आए होंगे और जुटे रहे होंगे कितने-कितने दिनों तक— दिन लगन, श्रम-स्वेद के, संघर्ष के—

काटते इन मूर्तियों को
नहीं
अपने आप को ही।

संगतराशी के मुहावरे में 'काटने' का अर्थ 'निकालना', 'बनाना', 'निरूपित करना' भी होता है। कलाकृति को बनाते-बनाते कलाकार स्वयं बन जाता है—'मेरे कवित्त तो मोंहि बनावत'—शायद कुछ इससे प्रेरणा ले, कुछ अपने अनुभव से मैंने 'हलाहल' में एक पद लिखा था—

हुआ करती जब कविता पूर्ण
हुआ करता कवि का निर्माण,
अमर हो जाता कवि का कंठ,
गूँजकर मिट जाता है गान।

तो सृजन-प्रक्रिया की उत्कृष्ट उपलब्धि कलाकृति नहीं है, कलाकार है। कहता हूँ—

देखने की वस्तु तो
इनसे अधिक होंगे वही
पर वे मिले
इस देश के इतिहास में
इसकी अटूट परंपरा में
और इसकी मृत्तिका में
जो कि तुम हो,
जो कि मैं हूँ।

कलाकार का अमरत्व व्यक्तिगत नहीं, जातिगत है, इतिहासगत है, परंपरागत है। वे कलाकार हमारे अस्तित्व में हैं, कभी हमें उनपर गर्व करने का अवसर देते हुए, कभी हमारी प्रेरणा बनते हुए आज की, भविष्य की कलाकृतियों के निर्माण के लिए।

मैं चाहूँगा, कभी आप यह पूरी कविता पढ़ें।

'चौंसठ रूसी कविताएँ' ('64) पर 1966 में मुझे जो सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार मिला था उसके साथ दो सप्ताह की रूस की यात्रा भी थी। यह यात्रा

मैंने सितंबर 1968 में की। उस यात्रा में तीन सज्जन और थे—पश्चिमी बंगाल के श्री मन्मथ रे, महाराष्ट्र के श्री एल० एन० भावे और केरल के श्री के० के० नायर। ये भी ऐसे पुरस्कार विजेता थे जिसके साथ रूस-यात्रा जुड़ी थी। मास्को में इन लोगों के साथ मैंने प्रायः वही स्थान फिर देखे जो मैं पहली यात्रा में देख चुका था और जिनके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ। बाद के तीन स्थानों की यात्रा मेरे लिए नई थी—यारावान, तिबलिसी और सुखूमी की।

यारावान का नाम आते ही गिरि अरारात मेरी स्मृति में खड़ा हो जाता है—सीधे शंकु (cone) के आकार का—बरफ़ से ढका—जो नगर के किसी भी भाग से देखा जा सकता है। यारावान आरमीनिया की राजधानी है। गिरि अरारात जिस भू-भाग पर है वह एक समय आरमीनिया का था, पर तुर्कों ने आरमीनियों का क़त्ले-आम कर उन्हें इस प्रदेश से नेस्त-नाबूद कर दिया। आरमीनिया-वासियों के हृदय में यह पर्वत जाने जितनी स्मृतियाँ जगाता है, जाने कितने सपने खड़े करता और ढहाता है। यारावान के जिस नागरिक से भी मैंने बात की उसके दिल में अरारात की जुदाई का दर्द पाया। मैंने गिरि अरारात पर एक कविता लिखी थी। उसके कुछ पद आपको सुनाना चाहता हूँ : शायद वे कुछ अधिक निकटता से आपको इस दर्द का आभास करा सकें—

आरमीनिया के
कितने ही चित्रकार अपने फलकों पर
बेचैनी से फेर-फेरकर तूली
उसको चित्रित करने का प्रयास करते रहते हैं।

आरमीनिया के कितने ही कवि
भावों की, विकल कल्पनाओं की
दर्द-बँधे शब्दों की कलियाँ मधुमुख सुमनांजलियाँ
अरारात को अर्पित करते।

और आरमीनी सुन्दरियाँ अपने पीर-मधुर कंठों से
मंद्र, मध्य औ' तारस्वर में—तीव्रस्वर में—
सौ-सौ गीत उठाकर जैसे
अरारात गिरि की चोटी छू-छू आती हैं।

आरमीनिया का जन-मानस
आशा औ' विश्वास लिए अपनी आँखों में
सेता रहता है यह सपना,
कभी समय फिर आएगा जब अरारात गिरि होगा अपना।

यारावान में हमें वहाँ के वयोवृद्ध चित्रकार सेरियन से मिलाया गया। अवस्था उनकी करीब अस्सी के होगी; जवानी में उन्हें अंग्रेज़ी में big built कह सकते होंगे—लंबी-चौड़ी काठी के। अब वे घुटनों से कुछ झुक रहे थे, छोटे मुख, लंबी-पतली नाक, सफ़ेद घनी भौहों के नीचे गहराई का आभास देती आँखों के चेहरे पर बड़ा-सा सिर हिम-श्वेत केशों से ढका वार्धक्य की गरिमा का नमूना था। भारत के लिए उनके मन में बड़ा सम्मान था। उन्होंने याद किया कि भारत ने

सभ्यता के प्रभात में बुद्ध को जन्म दिया और अपने गिरे दिनों में भी गांधी को। विनम्रता से बोले, भारत के सामने आरमीनिया तो ऐसा ही है जैसे गरुड़ के सामने गौरैया। मैंने उनका मान रखने के लिए कहा, गरुड़ अपनी जगह पर बड़ा हो, गौरैया अपनी जगह पर छोटी नहीं है।

टहनी पर बैठी गौरैया
चहक-चहक कर कहती, मैया,
नहीं कड़कते बादल का ही, मेरा भी अस्तित्व यहाँ है।

अब घन-गर्जन गान कहाँ है।

सेरियन बोले, यह भारतवासी ही कह सकता है।

सेरियन जिस मकान में रहते थे, वह दोमंज़िला था; नीचे वे स्वयं रहते थे, ऊपर उनके चित्रों की गैलरी थी। उनके एक शिष्य के साथ ऊपर जाकर हमने सेरियन के चित्र देखे। सेरियन पचास वर्ष की अवस्था तक अपने चित्रों में रूमानी और प्रभाववादी (romantic aud impressionist) थे; पचास के बाद वे यथार्थवादी हो गए थे—realist—अपने बारे में उनकी धारणा थी कि उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ यथार्थवादी काल की हैं। इस मामले में ईट्स और सेरियन की धारणा बिलकुल समानांतर थी। ईट्स का भी विचार था—और ठीक ही—कि उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताएँ 50 और 75 वर्ष के बीच की अवस्था में दीं। सुन्दर और सशक्त में अगर हम सशक्त को तरजीह दें तो मानना पड़ेगा कि ईट्स अपने संबंध में ग़लत नहीं थे। मैं नहीं जानता सेरियन के परवर्ती चित्रों के बारे में पारखियों की क्या राय थी, पर मुझे उनके यथार्थवादी चित्र ज़्यादा अच्छे लगे थे—शायद इसलिए कि मैं भी अब अपनी कविता में यथार्थ की ओर अधिक झुक रहा था, गो कभी-कभी पिछला रूमान भी मुझ में उभर उठता था, जिसके लिए एक अवसर यारावान में ही उपस्थित हो गया।

एक रात आरमीनिया होटल में भोजन के लिए बैठा था। पास की टेबिल से मेरे दुभाषिये को किसी ने इशारा किया। लौटकर उसने शैम्पेन की एक बोतल मेरी टेबिल पर रख दी—आरमीनिया की गायिका की ओर से भारत के कवि को तोहफ़ा। मैं आँखों से उसे धन्यवाद दूँ कि उसने मेरी टेबिल पर आकर बोतल खोल दी और वह उफनती झाग से नहा उठी... मैंने कहा, इससे मैं पहले अपने बेटे का जामे-सेहत उठाता हूँ, फिर तुम्हारा; कारण मत पूछना। (आपको याद होगा, मैंने अमिताभ की एक गंभीर बीमारी में शराब न छूने की प्रतिज्ञा की थी)। इस पर मैंने एक कविता लिखी थी—'प्रण-भंग'। उसका अंतिम पद आपको सुनाना चाहता हूँ—

प्रण-प्रतिज्ञा ले, निभाना भी उन्हें मैं जानता हूँ,
आत्मबल की कर परीक्षा पूर्ण उनको ठानता हूँ,
जानता हूँ, राह में मिलते प्रलोभन जो बड़े हैं,
पर निवारण के लिए निज शक्ति भी पहचानता हूँ;
कर सकूँगा मैं न समझौता कभी कमज़ोरियों से,
और तिल भर भी खिसक सकता नहीं बरजोरियों से;

किंतु मेरे टूटने से तार जुड़ता एक हो तो ?···

दो तुम्हीं निर्णय, सुकंठिनि, आज अपना व्रत कड़ा क्यों तोड़ आया।
मुसकरा तुमने बुलाया,
और,
अपनी साधना मैं छोड़ आया।

यारावान सोवियत रूस के बहुत प्राचीन नगरों में माना जाता है। कुछ समय पहले उसकी 2500वीं जयंती मनाई गई थी। एक प्राचीन गढ़ के भग्नावशेष भी हमें दिखाए गए थे, जिसे तुर्कों ने 16वीं सदी में बनाया था। निश्चय जब वह बना होगा नगर पर चढ़ बैठा-सा लगता होगा।

मतेन्दरान यारावान का पुराभिलेखागार है, जहाँ आरमीनिया की पुरानी से पुरानी पांडुलिपियाँ और प्राचीन लिपि-कला (Caligraphy) और चित्रकला के नमूने सुरक्षित हैं। जब छपाई की मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब खुशखत लेखन-कला साधना कितने रुचि-रस और श्रम के साथ की जाती थी। मशीन की छपाई ने इस कला को समाप्त कर दिया। इस कला की आराधना से कलाकार को जो आनंद मिलता होगा, इससे स्वयं उसका जैसा निर्माण होता होगा, वह मशीनें कहाँ दे या कर पाती हैं। वहीं मैंने आरमीनी में पहले छपे अखबार की प्रति देखी जो, आपको सुनकर आश्चर्य होगा, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। मन्मथ रे ने बतलाया कि कलकत्ता में आरमीनियनों की एक पूरी बस्ती है, जिन्होंने कई सदी पूर्व तुर्कों के अत्याचार से भागकर वहाँ शरण ली थी। कई आरमीनी शब्द बंगला में खप गए हैं, जैसे 'बालिश' जिसके अर्थ हैं तकिया या सिरहाना।

यारावान से हम लोग तिबलिसी गए, कार से, जो वहाँ से लगभग 100 मील उत्तर है। सड़क अच्छी है; ब्रेकफास्ट लेकर चले थे, और लंच टाइम तक तिबलिसी पहुँच गए। रास्ते में थोड़ी देर सीवान लेक पर ठहरे, जिसके एक घाट के ऊँचे चबूतरे पर एक काले पत्थर की लम्बी नारी मूर्ति खड़ी है, अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाए जिसपर एक दीपक रखा है।

सीवान मीठे पानी की बहुत बड़ी झील है; इतनी बड़ी कि बीच-बीच में छोटे-छोटे द्वीप भी हैं, जिनपर दस-बारह घरों की बस्तियाँ भी हैं। बहुत पुराने ज़माने की बात है, इनमें से एक द्वीप पर एक लड़की रहती थी जिसका नाम तमारा था—अनन्य सुन्दरी। इस तट पर एक लड़का रहता था—तुख़ारा नाम था—उठती जवानी का। दोनों में प्रेम हो गया। आधी रात को तमारा द्वीप तट पर एक दीप लेकर बैठ जाती और तुखारा इस तट से तैरता उसके पास पहुँच जाता।...एक रात तमारा बिना तेल डाले दिया लेकर चली आई। तुखारा को दीप की लौ न दिखाई दी और वह द्वीप के चक्कर लगा-लगाकर थककर, डूबकर मर गया। तब से तमारा सारे जीवन हर रात दीपक ले-ले द्वीप तट पर बैठती रही, पर तुख़ारा को कहाँ आना था। इस तट के लोग कहते हैं कि द्वीप तट पर रोज़ आधी रात को दीपक की लौ दिखाई देती है। द्वीप-तट के लोग कहते हैं कि रोज़ आधी रात को जब झील की लहरें द्वीप-तटों से टकराती हैं तब तुख़ारा की आवाज़ में 'अख तमारह!—अख़ तमारह!' शब्द सुनाई पड़ता है। घाट की

मूर्ति तमारा की यादगार में खड़ी की गई है। मैंने इस प्रेम-त्रासदी पर एक कविता लिखी है जो मेरे संग्रह 'उभरते प्रतिमानों के रूप' में है। यह सात गीतों का समुच्चय है। पहले गीत में प्रेम-कथा है जो ऊपर संक्षेप में दी गई है। फिर तीन गीत तमारा के हैं और तीन तुख़ारा के। तमारा का जीवन-पर्यंत-प्रतीक्षा का गीत आपको सुनाना चाहूँगा।

घर से आती,
दीप जलाती,
दीप न जलने पाता
जाता पहुँच तुखारा,
चट से हो जाता भिनसारा।
रात जले!
जब घर से आई
दीप न लाई,
रूठ गया उस रैन तुख़ारा।
मना न फिर
गो हुई न मुझसे भूल दुबारा।

घर से आती,
दीप जलाती,
पूछ-पूछ बाती चुक जाती,
कहाँ तुखारा ? कहाँ तुख़ारा ? कहाँ तुखारा ?
और नहीं होता भिनसारा,
और नहीं होता भिनसारा,
और नहीं होगा भिनसारा!

तमारा की जीवन रात इतनी लंबी हो गई कि उसका कभी प्रभात ही न हुआ। मैं चाहूँगा कभी आप यह पूरी कविता पढ़ें। मैं समझता हूँ मैंने इससे करुण गीत नहीं लिखा।

तिबलिसी जार्जिया प्रजातंत्र की राजधानी है। मेरी कल्पना है जार्जिया कभी आर्यों की बस्ती होगी। आर्य, आर्ज, जार्ज, जार्जिया—इस ध्वनि-परिवर्तन क्रम में नाम पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जार्जिया की पुरानी राजधानी मत्सखेता थी जो, हो सकता है, पहले 'मत्स्य क्षेत्र' हो। आर्य क्षेत्र से प्रदेशों का नाम रखते थे—कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध है; शूकर क्षेत्र भी, जो बाद को 'सूकरखेत' हो गया। ('मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत')। मत्स्य क्षेत्र नाम, संभव है, इसलिए दिया गया हो कि उस प्रदेश में कई सर-सरोवर हों जिनमें मछलियाँ बहुतायत से पाई जाती हों। तिबलिसी नगर के बीचोंबीच जो नदी बहती है उसका नाम 'कुरा' है। हो सकता है यह आर्यों के समय की 'क्षुरा' हो—तेज़ बहने वाली।

यों तो तिबलिसी डेढ़ हज़ार बरस पुरानी नगरी बताई जाती है, पर वहाँ मुझे पुराने समय की कोई बड़ी इमारत न दिखाई दीसिवा सायन (Sion) कैथी-

ड्राल के जो पाँचवीं शताब्दी में बनना शुरू हुआ था, पर उसके साथ बाद की कई सदियों में काफ़ी जोड़-तोड़ हुए थे।

तिबलिसी में एक इमारत पर लगी स्टेलिन की बड़ी मूर्ति ने भी हमें आकर्षित किया। स्टेलिन की मृत्यु के समय तो उनका इतना दबदबा था और उनके अनुयायी इतनी ऊँची जगहों पर थे कि उनका शव लेनिन की समाधि में सुरक्षित किया गया। पर उनके उत्तराधिकारी ख्रुश्चोव की अपेक्षया उदार नीति ने स्टेलिन के संबंध में कुछ ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया कि स्टेलिन के प्रति आदर घटने लगा, अनादर की भावना फैली और अंततोगत्वा घृणा में बदल गई, जिसके फलस्वरूप स्टेलिन का शव लेनिन-समाधि से निकालकर जलाया गया (केवल उनकी राख क्रेमलिन की दीवाल में गाड़ दी गई), उनकी मूर्तियाँ जगह-जगह से हटाई गईं, यहाँ तक कि चित्रों में जहाँ कहीं भी वे लेनिन के साथ थे उन्हें मिटा दिया गया। साम्यवादी व्यवस्था में जब किसी के प्रति विरोध आरम्भ होता है तब उसे जड़-मूल से उखाड़ फेंका जाता है। रूस की अपनी दोनों यात्राओं में मैंने किसी जगह पर स्टेलिन की मूर्ति अथवा चित्र नहीं देखा था, इसलिए तिबलिसी में स्टेलिन की मूर्ति देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। कोई विशेष कारण होगा इस मूर्ति को बख़्श देने का। यह तो शायद आपको मा़लूम होगा कि स्टेलिन जार्जियन थे। बाद को मैंने सुना कि ब्रेज़नेव के प्रभाव से 1970 में स्टेलिन की क़ब्र पर उनकी मूर्ति लगा दी गई है।

तिबलिसी की मेरी यादें, पता नहीं क्यों, वहाँ की रातों से जुड़ी हैं। एक रात को रोप-ट्राली से काकेशस की एक पहाड़ी पर जाकर हमने तिबलिसी को देखा था। उस पर मैंने एक कविता लिखी थी। उसका पहला अंश आपको सुनाना चाहूँगा। शायद आप उससे तिबलिसी की रात की एक झाँकी पा सकें।

> काकेशस पर्वतमाला पर
> कनक थाल-सा चाँद उगा है।
> बैठ रोप-ट्राली में अभी
> पहाड़ी स्टेशन पर पहुँचा हूँ,
> पर्वत के चरणों में फैली-बसी तिबलिसी
> रंग-बिरंगे बिजली के लाखों बल्बों के
> जिप्सी-मेले-सी लगती है,
> बीच नगर से होकर कुरा नदी बहती है—'क्षुरा' कभी की—
> जैसे कोई सर्प
> चाँदनी-चमचम-केंचुल धार
> चतुर्दिक् बहुसंख्यक बिखरी मणियों में होकर
> लहरिल गति से जाता,
> नहीं किसी को जैसे अपने मन की पाता,
> डाल उपेक्षा भरी दृष्टि सब पर
> आगे को बढ़ता जाता, बढ़ता जाता, बढ़ता जाता...
>
> ('उभरते प्रतिमानों के रूप')

तिब्लिसी से हम लोग सुखूमी नगर आए—रेलवे ट्रेन से। काला-सागर तट पर बसी सुखूमी अबखाज़िया प्रजातंत्र की राजधानी और उसका सुरम्य सैकता-वास (सी रिसोर्ट) है। वहाँ की भाषा में सुखूमी का अर्थ है—समुद्र और सिकता। समुद्र तट मीलों लंबा गीला-रेतीला मैदान है जिसपर हज़ारों लोग समुद्र में नहाकर बठे-लेटे धूप सेंकते हैं। सुखूमी के उस तट को मेरी आँखों से देखें। उस पर भी मैंने एक कविता लिखी थी।

काला सागर को
किसने काला सागर की संज्ञा दी है ?
यहाँ मुझे तो कुछ भी काला-नहीं दीखता;
दृष्टि जहाँ तक जाती है
सागर का पानी निलछर-निलछर,
हल्का नीला, गहरा नीला;
खड़ी हुई जो सागर घेरे पर्वतमाला
हरी-भरी है,
और यहाँ तो पीछे एक बड़ा झरना है,
पानी का या कहूँ दूध का,
मीठे पानी का,
जो आगे फैले लहराते-हहराते गहरे खारे सागर पर
मरकत-पर्वत के मधुर व्यंग्य-सा।

धुली हुई चादर-से फैले सिकता-तट पर
बहुसंख्यक गौरांग युवतियाँ, छवि-छोकरियाँ,
हृष्ट-पुष्ट गौरांग युवकगण, छल-छरहरे,
बहुरंगी कौपीन-क्षीण तैराकी वसनों में
सागर में तैर-नहाकर, क्रीड़ा करके
व्रीड़ाहीन, खुली, निश्चिंत—विविध मुद्राओं में
अधलेटे-लेटे—
चित, पट, अरवट-करवट—
धूप सेंकते—
इतस्तत: रंगीन छतरियों के नीचे भी—
नहीं किसी की ओर देखते।

सैकतावास का दृश्य यहाँ समाप्त होता है। क्षण भर मेरे मन के साथ भी हों—

काश, यहाँ यौवन में आते !
तब क्या
तट से दूर खड़े हो,
टिके छड़ी पर,
केवल अपनी आँख सेंकते !

सुखूमी से हम मास्को लौटे। उस वर्ष गोर्की नगर में प्रसिद्ध रूसी लेखक गोर्की की जन्मशती मनाई जा रही थी। हम लोगों को भी शती-समारोहों में भाग लेने के लिए गोर्की ले जाया गया। गोर्की नगर का पुराना नाम निज़नी नोवोगोरोड था जो पुराने ज़माने में वृहत पशु मेले के लिए प्रसिद्ध था, आज तो वह रूस के बड़े औद्योगिक नगरों में गिना जाता है। गोर्की का जन्म निज़नी नोवोगोरोड में 1868 में हुआ था। उचित ही था कि उनकी जन्मशती उनके जन्म-नगर में मनाई जाती। निज़नी को गोर्की नाम गोर्की का सम्मान करने के लिए उनके जीवन-काल में ही दे दिया गया था, 1932 में; उनकी मृत्यु 1936 में हुई, उस साल प्रेमचंद की भी मृत्यु हुई थी। निज़नी मास्को से 260 मील पूर्व है जहाँ रोड, रेल, हवाई जहाज के अतिरिक्त वोल्गा नदी द्वारा स्टीमर से भी पहुँचा जा सकता है। हम लोग स्टीमर द्वारा 36 घंटे की यात्रा करके गोर्की पहुँचे थे। हमारे साथ देश-विदेश से आए लगभग सौ लेखक यात्रा कर रहे थे। स्टीमर से हमें निज़नी ले जाने का विशेष कारण था। हमें बताया गया—गोर्की ने अपने लड़कपन में वोल्गा के स्टीमर पर बर्तन धोने का काम किया था, जहाँ किसी रसोइये ने उन्हें पढ़ने का शौक लगाया था। स्टीमर की किताबों से जो उनमें पढ़ने की रुचि जागी वह फिर उनके जीवन भर बनी रही। प्रतिभा कितनी अटपट सीढ़ियों से अपने को ऊपर उठा लेती है। स्टीमर के यात्रियों में गोर्की की लड़की और गोर्की की नातिन भी थी।

मैक्सिम गोर्की के नाम से दुनिया जिसे जानती है उसका असली नाम अलेक्साई मैक्सिमोविच पेशकोव था। पेशकोव के पिता की मृत्यु पाँच वर्ष की अवस्था में हो गई, माता ने दूसरा विवाह कर लिया और वह अनाथ बच्चा अपनी ननिहाल भेज दिया गया, नानी के प्यार और नाना की मार के बीच पलने को। निज़नी में उनका घर सुरक्षित है जिसमें वह बेंच भी रखी है जिसपर लेटाकर नाना बालक गोर्की को बेंत से पीटा करते थे। आठ वर्ष की अवस्था में जब उसकी माँ भी मर गई तो उन्होंने पेशकोव को अपने बूते पर कमाने-खाने को घर से निकाल दिया। सोलह वर्ष तक निम्न श्रेणी के मज़दूर वर्ग का कोई ऐसा काम नहीं जो उन्होंने न किया हो—प्रायः पैदल रूस भर में एक जगह से दूसरी जगह भटकते। सर्वप्रथम प्रगतिवादी लेखक की शिक्षा-दीक्षा बड़े कठिन-कसाले की पाठशाला में हुई थी। चौंतीस वर्ष की अवस्था में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई 'मकर चूद्रा' (1893) तिबलिसी के एक पत्र में, जिसमें उन्होंने अपना कलमी नाम दिया 'गोर्की' जिसके अर्थ हैं 'कटु', 'तिक्त'। जीवन के कटु अनुभवों के बाद यह नाम न लेते तभी आश्चर्य होता। गोर्की को विशेष ख्याति 'शेलकश' (1895) के बाद मिली—('शेलकश' का हिंदी अनुवाद 1930 में साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी से प्रकाशित हुआ था—तभी की खरीदी उसकी प्रति अब भी मेरे पुस्तकालय में है)। इसके बाद आरंभ होता है गोर्की का चालीस वर्षीय लेखकीय जीवन जिसमें उन्होंने कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, संस्मरण, निबंध, यदा-कदा कविताएँ भी लिखीं—1901 में अपनी एक क्रांतिकारी कविता पर तो वह गिर-फ़्तार भी हुए। गोर्की के लेखन में मुझे विशेष रूप से पसंद हैं उसके आत्मकथा-त्मक त्रिग्रंथ (Trilogy)—Childhood (1915) (मेरा बचपन), In the World (1917) (दुनिया के बीच) और My Universities (1924)

(मेरे विश्वविद्यालय)। इन तथाकथित आत्मपरक रचनाओं में गोर्की अपने से कहीं अधिक अपने परिवेश और दूसरों के विषय में कहते हैं, उस कटु यथार्थी दुनिया के बारे में जिससे वे अपनी सत्ता के लिए टक्कर लेते हैं, अपने श्रम, संघर्ष और लगन के बल पर। यथार्थ का चित्रण कोई नई बात न थी, पर ऐसे यथार्थ का चित्रण और इस प्रकार कि उससे समाजवाद की संवर्धना हो, गोर्की की विशिष्ट देन थी।

जन्मशती समारोह तीन दिन का था। पहली संध्या का उद्घाटन भाषण किसी बड़े रूसी लेखक ने किया था, शायद शोलोखोव ने। दूसरे दिन पूर्वाह्ण और अपराह्ण में दो सेमिनार हुए थे जिनमें कुछ लोगों ने गोर्की पर पेपर पढ़े थे, जिन-पर कुछ वाद-विवाद हुआ था। तीसरे दिन रात को एक बड़े हाल में समारोह में आए लेखकों को भोज दिया गया था। भोज के बाद विभिन्न देशों से आए शिष्ट-मंडलों ने गोर्की के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की थी—भारतीय शिष्टमंडल की ओर से मैंने। संक्षेप में, मैंने कहा था कि गोर्की ने जिस वर्ग का चित्रण किया है वह वर्ग भारतीय साहित्य में, कम से कम हिंदी साहित्य में, अभी पर्याप्त मुखरित नहीं हुआ। कुछ हुआ है तो प्रेमचंद में, पर प्रेमचंद भी स्वयं उस वर्ग से नहीं आए थे; उनका चित्रण सहानुभूति-दाता का है, भुक्तभोगी का नहीं। कुछ ऐसी ही बात फणीश्वर नाथ रेणु के विषय में भी कही जा सकती है, गो वे प्रेमचंद से अधिक लोक-जीवन के पास होने का आभास देते हैं। निकट भविष्य में जब वह वर्ग शिक्षित हो, मुखर होगा, तब निश्चय गोर्की उसके लिए प्रेरक सिद्ध होंगे। अंग्रेज़ी अनुवादों के द्वारा गोर्की साहित्य में भारतीयों की रुचि जाग्रत हुई है और कुछ गोर्की साहित्य हिंदी तथा अन्य भारतीत भाषाओं में अनूदित हो चुका है। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की साहित्यिक पृष्ठभूमि में जिस प्रकार टैगोर खड़े हैं उसी प्रकार रूसी जनक्रांति की साहित्यिक पृष्ठभूमि में गोर्की। हम टैगोर के देश की ओर से गोर्की के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

पर शती समारोह में सबसे प्रभावकारी चीज़ थी गोर्की प्रदर्शिनी जिसमें रखी गई थीं गोर्की की कृतियाँ, उनके विभिन्न संस्करण, संसार की भाषाओं में उनके अनुवाद, उनपर आलोचनात्मक पुस्तकें, पत्रिकाएँ जिनमें उनपर लेखादि निकले थे; गोर्की की कतिपय पांडुलिपियाँ, और उनके जीवन से संबद्ध अनेकानेक चित्र!

> कुछ वर्ष पहले हमने प्रेमचंद की जन्मशती मनाई थी।
> उस समय गोर्की की जन्मशती बहुत याद आई थी।
> कितना अंतर! कितनी ग्लानि!

सितंबर के अंत में हम लोग रूस की यात्रा से वापस लौटे।

अक्टूबर '68 में मेरी कविताओं का नया संग्रह निकला—'कटती प्रतिमाओं की आवाज़'। 1967-68 में छोटी-बड़ी मिलाकर मैंने कुल 162 कविताएँ लिखीं। इन कविताओं को लिखते हुए बारंबार मेरा ध्यान उस विखंडन, विघटन और बिखराव की ओर गया है जो आज हमारे चारों ओर से अधिक, हमारे भीतर चल रहा है। पर उस विघटन और विखंडन के बीच कहीं कुछ विनिर्मित भी हो रहा है, इसकी भी चेतना मुझे है। 'कटती प्रतिमाओं' के लिए मैंने 91 कविताएँ

ऐसी चुनीं जिनमें मुझे लगा विघटन के प्रति मैं अधिक सचेत हूँ।

यह संग्रह मैंने स्वर्गीय राजकमल चौधरी की स्मृति को समर्पित किया।

पंक से तो
हर पंकज उठता है
तूने पंक को भी
उठाने का प्रयोग किया,
अजब नहीं
पंक में बहुत कुछ
सन गया।

राजकमल के साहित्य से जिनका परिचय है वे देखेंगे कि वह जीवन के पंक में कितना सना है। पंक को उठाने का समय उसे नहीं मिला। पर वह बहुतों को पंक के प्रति सचेत कर गया।

नवंबर '68 में—मेरे 61वें जन्मदिन पर—अजित कुमार और ओंकार नाथ श्रीवास्तव ने एक पुस्तक संपादित कर मुझे समर्पित की 'बच्चन निकट से' जिसमें चालीस से अधिक मेरे आतमीयों और निकटवर्तियों ने मुझे याद किया। योजना उनकी मेरी षष्टी-पूर्ति पर यह पुस्तक प्रकाशित करने की थी, पर लेखों के आने में देरी लगी; फिर छपाने में। कई वर्षों बाद डा० रमेशचंद्र गुप्त ने संपादित कर उसकी पूरक कृति प्रस्तुत की 'बच्चन : निकष पर'। पहली में यदि मेरे व्यक्तित्व पर कुछ प्रकाश डाला गया है तो दूसरी में मेरे कृतित्व पर।

नवंबर में अजिताभ का स्थानांतरण छह मास के लिए मद्रास से बंबई हो गया। वहीं उनको पता लगा कि ख्वाजा अहमद अब्बास 'सात हिंदुस्तानी' के नाम से कोई फ़िल्म बनाना चाहते हैं और उसके लिए योग्य चेहरों की खोज में हैं। अजिताभ ने अमिताभ की तस्वीर ख्वाजा साहब के पास भेज दी। तस्वीर से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा कि जिसका चित्र है उसे साक्षात्कार के लिए बुलाओ। अमिताभ को जब यह सूचना मिली तो वे अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा देकर दिल्ली आ गए। मैं इस बात से खुश नहीं हुआ कि जब फ़िल्म में लिया जाना सुनिश्चित नहीं था, तब वे लगी-लगाई नौकरी छोड़कर चले आए। 1600 रु० प्रति मास पा रहे थे, कंपनी की ओर से कार भी उन्हें मिली थी। आगे उन्नति के अवसर थे। पर अमित का उत्साह देखकर मैं चुप रहा। अमित बंबई गए और अब्बास साहब से मिले। चित्र से वे प्रभावित थे ही, उन्हें देखकर अधिक ही प्रभावित हुए। उन्होंने अमित को फ़िल्म की कहानी सुनाई और जिस पात्र की भूमिका वे अमित को देना चाहते थे उसी को अमित ने भी अपने लिए अनुकूल पाया। गोटें बैठ रही थीं। अब्बास साहब ने अमित को अपनी फ़िल्म के लिए ले लिया और 5000 रु० पारिश्रमिक स्वरूप देने को कहा जो राशि वे इस फ़िल्म में काम करनेवाले प्रत्येक अभिनेता को दे रहे थे।

जब अनुबंध-पत्र तैयार करने की बात आई तो अमित ने अपना पूरा नाम अमिताभ बच्चन बताया और पते के रूप में C/o डा० एच० आर० बच्चन...

अब्बास साहब ने कहा, 'रुक जाओ, डा० बच्चन मेरे दोस्त हैं, बिना उनकी

इजाज़त के मैं तुमको फ़िल्म में नहीं ले सकता। बहुत से लोग घर से भागकर फ़िल्मों के लिए आते हैं। तुम्हारी पक्की नौकरी थी; पता नहीं तुम उनकी रज़ामंदी से आए हो कि नहीं...'

अमित ने बारहा कहा कि वे घर से भागकर नहीं आए, अपने माता-पिता की अनुमति से फ़िल्म क्षेत्र में अपनी योग्यता-क्षमता के अनुरूप काम की खोज में आए हैं; पर वे न माने।

अब्बास का खत मेरे पास आया, जिसमें उन्होंने पूछा था, आपके साहबज़ादे मेरी एक फिल्म में काम करना चाहते हैं, मैं उनको लेना भी चाहता हूँ; क्या इसके लिए आपकी इजाज़त है?

मैंने उन्हें तार दिया, 'मुझे कोई आपत्ति नहीं है, अगर वे आपके साथ काम कर रहे हैं।' विस्तार से पत्र भी लिख दिया।

अमिताभ अनुबंध पर हस्ताक्षर करके दिल्ली वापस आ गए। उन्हें फ़रवरी में बंबई जाना था, जब फ़िल्म की शूटिंग शुरू होनेवाली थी।

प्रभावकारी उच्चाधिकारी से संपर्क के जहाँ कुछ लाभ हैं वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। आप कुछ भी उन्नति-प्रगति-विकास करें तो लोग कहते हैं फ़लाँ अधिकारी की सिफ़ारिश से आप आगे बढ़े हैं—जैसे आपमें कोई योग्यता, क्षमता नहीं थी, आप उसके अधिकारी नहीं थे—अपने बारे में तो मैं ऐसी बातें सुनता ही था, पंडित अमरनाथ झा की कृपा से बच्चन इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर नियुक्त हुए, पंडित जवाहरलाल नेहरू की कृपा से विदेश मंत्रालय में हिंदी विशेषाधिकारी बनाए गए, श्री लाल बहादुर शास्त्री की कृपा से राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए। अब अमिताभ के बारे में कहा जाने लगा कि श्रीमती इंदिरा गांधी की कृपा से उन्हें फ़िल्म क्षेत्र में प्रवेश मिला।

ख्वाजा अहमद अब्बास साहब अपनी आत्मकथा में लिखते हैं :

It is important to clarify this at length because a lot of ugly rumours have been set afoot about Amitabh and myself. It has been said for instance, that it was the recommendation letter of the Prime Minister, Mrs. Indira Gandhi, that got him the role in my picture. I don't give roles to people who bring introductory letters. And in any case the Prime Minister did not write and communicate with me to cast Amitabh Bachchan in my picture.[1]

(यह बहुत ज़रूरी हो गया है कि मैं इस बात को खुले शब्दों में साफ़ कर दूँ : क्योंकि अमिताभ के और मेरे बारे में बहुत-सी बेहूदा अफ़वाहें उड़ाई गई हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि मैंने उसे अपनी फिल्म में इसलिए लिया कि वह प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी का सिफ़ारिशी खत अपने साथ लाया था। जो लोग सिफ़ारिशी खत लेकर आते हैं, उन्हें मैं अपनी फ़िल्म में नहीं लेता। बहरहाल, सच्चाई यह है कि अमिताभ को अपनी फ़िल्म में लेने के लिए न तो प्रधान मंत्री ने मुझे खत लिखा, न कहा या कहलाया।)

---

1. **देखें 'I am not an Island' by K. A. Abbas, p. 487**

मेरी कृतियों के प्रकाशन की दृष्टि से '69 मेरे लिए सौभाग्यपूर्ण वर्ष रहा। प्रारंभिक महीनों में 'हैमलेट' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। उस पर काम करना मैंने '59 में ही शुरू कर दिया था—'ओथेलो' अनुवाद के प्रकाशन के बाद। दस बरस इसे पूरा करने में लगे—गो मैं उसी पर बराबर काम नहीं करता रहा। इसके साथ कुछ ऐसा अपशकुन जुड़ा था कि जब-जब उसे मैंने उठाया मुझे कोई बीमारी लग गई। कुछ ही दिनों मैंने उसपर काम किया था कि मुझे 'वरटिगो' हो गया—सिर की किसी हरकत से चक्कर आता। तीन वर्ष बाद जब दुबारा उसके अनुवाद में हाथ लगाया तो मुझे हार्निया की तकलीफ़ हुई और आपरेशन कराना पड़ा। दो वर्ष बाद फिर उसे उठाया तो प्लूरिसी हो गई। किसी काम को अधूरा छोड़ना मेरी प्रवृत्ति नहीं। अधूरा 'हैमलेट' बुरी तरह मेरे दिमाग़ में करक रहा था। मैंने सोचा जब भी 'हैमलेट' उठाता हूँ कोई बीमारी पकड़ लेती है, क्यों न इस प्रक्रिया को उलटूँ—जब किसी बीमारी से उठूँ तो 'हैमलेट' हाथ में लूँ, पिछली बार अलसर के आक्रमण से उबरा तो मैंने 'हैमलेट' में हाथ लगाया और उसे पूरा करके ही छोड़ा।

'हैमलेट' समष्टि के साथ व्यष्टि की टक्कर में व्यष्टि के टूटने की कथा है। हैमलेट जिस संसार में अपने को पाता है उससे उसे असंतोष है, घृणा है, पर वह न उस ससार को बदल पाता है, न उससे समझौता कर पाता है, न उसे छोड़ पाता है; वह उसी में जीने-मरने को अभिशप्त है। उसने दुनिया में आकर देखा—

> . . . .घड़ियाँ काली।
> नियति ! निकाला तूने मुझसे कब का बदला,
> मुझको भेजा, इन घड़ियों को करूँ उजाली !'

और वह कुछ ऐसा-ही कहता दुनिया से चला गया होगा—

> 'जग में अँधियाला छाया था,
> मैं ज्वाला लेकर आया था,
> मैंने जलकर दी आयु बिता, पर जगती का तम हर न सका।
> मैं जीवन में कुछ कर न सका।'

'हैमलेट' को मैंने अमिताभ को समर्पित किया—इन शब्दों के साथ :

> अपने बेटे
> अमिताभ को
> जिसने मेरे हिंदी 'ओथेलो' के प्रथम प्रदर्शन में
> कैसियो की भूमिका अदा की थी,
> और जो, मुझे आशा है,
> किसी दिन मेरे हिंदी हैमलेट के प्रदर्शन में
> हैमलेट की भूमिका अदा करेगा।

अभी तक तो उसने की नहीं। मेरी कल्पना थी जैसे बहुत से अभिनेता अच्छे सिने-कलाकार होकर भी नाट्य-मंच पर अपना कौशल प्रदर्शित करने के अभिलाषी होते हैं, वैसे अमित भी करना चाहेगा, पर फ़िल्मी दुनिया ने उसे इस हद तक अपने मोह-पाश में जकड़ लिया है कि उसे अपने सामान्य गार्हस्थ सुख से ही वंचित होना नहीं पड़ा बल्कि अपने स्वास्थ्य से भी।

'69 के मध्य में '67-'68 में लिखी शेष कविताएँ—संख्या में 71—मैंने 'उभरते प्रतिमानों के रूप' नाम से प्रकाशित कीं। एक प्रकार से यह 'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' की पूरक कृति है। उसमें यदि मैं विघटन के स्वर के प्रति सजग हूँ तो इसमें सृजन के संकेतों के प्रति। यह कृति मैंने सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को समर्पित की इन शब्दों के साथ—

जिनकी कविता में लोक जीवन का यथार्थ
रूमानियत की छाया-छाया आया है।

जब ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, सर्वेश्वर को गए कुछ ही दिन बीते हैं। मृत्यु के उपरांत उनकी कृति 'खूँटियों पर टँगे लोग' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया है। 15 वर्ष पूर्व उनकी प्रतिभा का आभास पाने पर मुझे संतोष है।

अजिताभ छह मास बंबई रहकर फिर मद्रास चले गए थे। 'उभरते प्रतिमानों' के प्रूफ़ देख चुका था। मई में जब संसद का सत्र समाप्त हुआ तो मद्रास चला गया—वहीं अजिताभ का जन्मदिन मनाने के लिए।

अजिताभ स्वस्थ-सानंद थे; उन्हें इस बात की बड़ी प्रसन्नता थी कि उन्होंने अमिताभ का प्रवेश फिल्म क्षेत्र में करा दिया; अब अगर उनमें प्रतिभा होगी और भाग्य उनका साथ देगा तो वे वहाँ अपने लिए समुचित स्थान बना लेंगे।

इस बार दिल्ली लौटने के पूर्व मैंने कन्याकुमारी, रामेश्वरम और तिरुपति की यात्रा की। कन्याकुमारी के बारे में बहुत कुछ सुन-पढ़ चुका था। कल्पना नक्शे पर देखकर भी की थी कि वह ऐसी जगह पर स्थित है जहाँ तीन सागरों का संगम है, पूर्व में बंगाल की खाड़ी, दक्षिण में हिंद महासागर और पच्छिम में अरब सागर। स्वामी विवेकानंद धुर उत्तर हिमालय की यात्रा कर धुर दक्षिण कन्याकुमारी के अंतरीप तक पहुँचे थे, जहाँ से उन्होंने लघु-लघु द्वीपों के समान दो काली चट्टानें समुद्र में उभरी देखी थीं और तैरकर एक पर पहुँच सिद्धासन में बैठ गए थे, उत्तराभिमुख, और कहा जाता है, वे समाधिस्थ हो गए थे, उन्हें संबोधि प्राप्त हो गई थी। कन्याकुमारी भारत के प्राचीनतम तीर्थों में है। महाभारत में भी उसकी चर्चा है। जब पांडव वन-प्रवास में थे तब देवर्षि नारद ने उनके पास जाकर बहुत-से तीर्थों का वर्णन और उनकी महिमा का आख्यान किया था।

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(हे युधिष्ठिर, तत्पश्चात् समुद्र के तट पर विद्यमान कन्यातीर्थ—कन्याकुमारी—में जाकर स्नान करें। इस तीर्थ में स्नान करते ही मनुष्य सब पापों से मुक्त

हो जाता है।)

लगता है प्राचीन काल में इस देश के लोग बड़े यात्रा-भीरु रहे होंगे; तभी तो उन्हें तीर्थयात्राओं पर भेजने के लिए ऐसे-ऐसे प्रलोभन दिये जाते थे, फलाँ तीर्थ करने पर—'अश्वमेधं प्राप्नोति' अथवा 'गो सहस्र फलं लभेत्' या 'परां सिद्धि च गच्छति'।

मैं किसी ऐसी आशा-विश्वास से नहीं गया था। गया था अपने महादेश का स्थलांत देखने, त्रिसागर संगम का भव्य दृश्य देखने और सर्वोपरि अपने आदि पूर्वजों की कल्पना-स्थली देखने।

कल्पना थी—किसी समय वाणासुर नाम का महादानव था जिसने देवताओं को संत्रस्त कर रखा था। देवताओं ने उसका विनाश करने के लिए भगवान विष्णु से प्रार्थना की। भगवान ने कहा, तुम लोग जाकर त्रिसागर संगम पर तपस्या करो, वहीं पराशक्ति प्रकट होगी जो वाणासुर का वध करेगी। देवताओं की घोर तपस्या के फलस्वरूप कन्या कुमारी प्रकट हुई। साथ आकाशवाणी हुई, जब तक यह कन्या ब्रह्मचारिणी रहेगी उसे कोई पराजित नहीं कर सकेगा। पर शुचीन्द्रमवासी शिव ने उसे देखते ही उसे ब्याहना चाहा। अब शिव को कौन रोके। कन्या विवाहित हुई तो उसकी शक्ति जाती रहेगी। मध्य रात्रि में विवाह का शुभ लग्न रखा गया। शिव बरात सजाकर चले। नारद ने विघ्न डालने की एक तरकीब सोची। उन्होंने मुर्गे का रूप धारण कर बोलना शुरू किया, शिव जी ने समझा, सबेरा हो गया, विवाह की लग्न तो बीत गई। बरात वापस ले शुचीन्द्रम लौट गए। कालांतर में कन्या कुमारी ने वाणासुर का वध किया।

हिंदू कल्पना पर आश्चर्य होता है जिसका वध बड़े-बड़े देवता न कर सके थे उसका वध करने को उन्होंने कुमारी कन्या की कल्पना की! कन्यामूर्ति द्विहस्ता है और हाथों में भी कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं, केवल एक हाथ में सुमिरनी है! महिषासुर मर्दिनी तो अष्टभुजा हैं और उनके हर हाथ में कोई न कोई अस्त्र-शस्त्र है। कोई पूछे ऐसी कल्पना के पीछे हिंदू मस्तिष्क में क्या बात रही होगी।

कन्या कुमारी मंदिर पांड्य राजाओं ने बनवाया होगा 7वीं-8वीं शताब्दी में—मंदिर भव्य है, तमिल स्थापत्य शैली का। वैसे मंदिर तो शुचीन्द्रम का अधिक बड़ा और भव्य है—उच्च खचित पाषाण-स्तंभों पर आधारित उसकी लंबी दीर्घाएँ केवल रामेश्वरम् की दीर्घाओं से दूसरे दर्जे पर हैं। विशेष आकर्षण है उसके चार स्तंभों का जिनको ठोंकने से अलग-अलग घंटे की-सी आवाज़ निकलती है। लोगों का अनुमान है उन्हें भीतर से पोला किया गया है—राम ही जानें कैसे!

मैंने त्रिसागर संगम पर स्नान भी किया—सागर स्नान का सुख अलग ही है—तट में तीन रंगों के बालुका कण मिलते हैं—काले, सफेद, लाल—तमोगुण, सतोगुण, रजोगुण के प्रतीक ही मानो।

कन्याकुमारी समुद्र तट पर जहाँ महात्मा गांधी की अस्थियाँ विसर्जित की गई थीं गांधी स्मारक मंदिर बनाया गया है। पता नहीं किस स्थापत्यकार ने उसका नक्शा तैयार किया था; मुझे तो यह मंदिर भद्दा-कुरूप लगा। उसकी विशेषता बताई गई कि ऐसा बना है कि जिस चबूतरे पर विसर्जन पूर्व अस्थिपात्र रखा गया था उसपर दो अक्टूबर अर्थात् महात्मा गांधी के जन्मदिन पर दोपहर

को सूर्य किरणें पड़ती हैं—छत के किसी सूराख से आकर।

कुमारी अंतरीप के पूर्व में जो दो द्वीप-चट्टानें दिखाई पड़ती हैं उन्हें स्वामी विवेकानंद राक कहा जाता है। इनमें से जो कुछ बड़ी है उसपर राक मेमोरियल कमेटी द्वारा विवेकानंद मंदिर बनाया जा रहा था जिसमें, बताया गया, स्वामी जी की नौ फ़ीट ऊँची प्रतिमा स्थापित की जाएगी। तट पर पत्थरों की कटाई-नक़्क़ाशी हो रही थी जिन्हें बाद को फ़ेरी द्वारा चट्टान पर पहुँचाया जाता था। अब तो संभवतः मंदिर बन गया होगा। कन्याकुमारी नगर में एक स्वामी विवेकानंद पुस्तकालय है जिसमें धर्म पर पाँच हज़ार से अधिक पुस्तकें हैं।

दक्षिण के मंदिरों की स्वच्छता से मैं बहुत प्रभावित हुआ।

मंदिरों की चहारदीवारी पर बाहर की ओर ऊपर से नीचे लाल-सफेद रेखा-पट्टियाँ क्यों बनाई जाती हैं इसका रहस्य मैं नहीं समझ पाया।

मानवकृत मंदिरों की कितनी ही प्रशंसा क्यों न की जाए—वे अभिभूत भी करते हैं—पर कन्याकुमारी तट से सायं-प्रातः प्रकृति का जो स्निग्ध-शांत-सौंदर्य-विभव-विस्तार अनुभव किया जाता है उसकी तुलना में वे कुछ भी नहीं।

इतने दिनों बाद भी जब मैं कन्याकुमारी को याद करता हूँ तो लगता है मैं किसी संध्या को समुद्र तट पर खड़ा हूँ—जो सूर्य प्रातःकाल बंगाल की खाड़ी से निकला था वह सायंकाल अरब सागर में डूब रहा है—हमारे पूर्वजों ने उदयाचल-अस्ताचल की कल्पना की; उदयसिंधु-अस्तसिंधु की कल्पना क्यों नहीं की ?—ऊपर का कोई स्वर सुन पड़ता है तो ताड़-पात्रों में विचरती हवा का, नीचे का कोई स्वर सुन पड़ता है तो सागर-लहरों के तटीय-चट्टानों पर छहरने का !

रामेश्वरम् से अपना तो प्रथम परिचय 'रामचरितमानस' से हुआ था—

> देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना।।
> परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी।।
> करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना।।
>
> जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।।
> जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नरु पाइहि।।
> होइ अकाम जो छलु तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकरु देइहि।।

तुलसी के अनुसार सेतु बनने पर राम ने रामेश्वर की स्थापना की थी; वाल्मीकि का आधार लिया होगा उन्होंने। रावण-वध कर जब राम लंका से अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं तब पुष्पक विमान से सीता को रामेश्वरम् दिखाते हैं :

> एतत कुक्षौ समुद्रस्य स्कन्धावारनिवेशनम्।
> अत्र पूर्वं महादेव प्रसादमकरोद् विभुः।।

(यह समुद्र के उदर में ही विशाल टापू है, जहाँ मैंने सेना का पड़ाव डाला था। यहीं पूर्व काल में भगवान शंकर ने मुझपर कृपा की थी—सेतु बाँधने पर मेरे द्वारा स्थापित होकर वे यहीं विराजमान हुए थे।)

रामेश्वरम् मंदिर निर्माताओं की कल्पना इससे भिन्न है। रावण ब्राह्मण था; रावण का वध करने से राम को ब्रह्महत्या का पाप लगा था। पाप-विमोचन के

लिए अयोध्या लौटने के पूर्व राम ने रामेश्वर की स्थापना करनी चाही। हनुमान को कैलाश भेजा गया शिवलिंग लाने के लिए। स्थापना मुहूर्त तक हनुमान के न लौटने पर सीता जी ने मिट्टी-बालू का शिवलिंग बनाया जो स्थापित कर दिया गया। इतने में हनुमान शिवलिंग लेकर पहुँच गए। क्रोध में आ उन्होंने मृत्तिका-शिवलिंग को उखाड़ना चाहा, पर जगज्जननी द्वारा स्थापित, फिर शिवलिंग, हनुमान से न उखड़ सका। हनुमान को शांत-संतुष्ट करने के लिए राम ने व्यवस्था दी कि हनुमान द्वारा लाया शिवलिंग भी समीप ही स्थापित कर दिया जाए और रामेश्वर से पूर्व उसकी पूजा की जाया करे जो प्रथा आज तक प्रचलित है। ऐसी स्थापना का चित्र एक मंडप की भीतरी छत पर बना हुआ है और एक मूर्ति-बंध द्वारा भी प्रदर्शित।

इस सारी कल्पना में जो चीज़ मेरे लिए सबसे प्रियकर, तुष्टिकर है वह यह है कि मंदिर चाहे जितना बड़ा, ऊँचा, सुदृढ़ पाषाणों से बनाया गया हो, मूर्ति मिट्टी की ही प्रतिष्ठित की गई है—मैंने कभी लिखा था—

आज मैं संपूर्ण अपने को उठाकर
अवतरित ध्वनि-शब्द में करने चला हूँ...
और क्या है खास मुझमें जो कि अपने
आपको साकार करना चाहता हूँ;
खास यह है सब तरह की खासियत से
आज मैं इन्कार करना चाहता हूँ;
हूँ न सोना, हूँ न चाँदी, हूँ न मूँगा,
हूँ न मोती, हूँ न माणिक, हूँ न हीरा,
किंतु मैं आह्वान करने जा रहा हूँ देवता का एक मिट्टी के डले से।
अंग से मेरा लगा तू अंग ऐसे आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

मिट्टी के डले को यह महत्त्व देने से रामेश्वरम् मेरे लिए बहुत बड़ा तीर्थ हो गया है।

रामेश्वरम् एक द्वीप है जिसका संकेत ऊपर दिए गए संस्कृत उद्धरण में भी है। मंदिर के चारों ओर परकोटा है जो करीब नौ सौ फीट लंबा और इतना ही चौड़ा है—बाहर की ओर लाल-सफ़ेद धारियों से रँगा। पूरबी और पच्छिमी परकोटे के मध्य में ऊँचे गोपुर हैं और उत्तरी-दक्षिणी में छोटे। इस मंदिर की सबसे प्रसिद्ध वस्तु उसके लंबे प्राकार एवं दीर्घाए हैं। दोनों तरफ़ पाँच फ़ीट ऊँचे बरामदे पर स्थित 30 फ़ीट ऊँचे खंभों की कतार पर ये प्राकार बने हैं। मुख्य मंदिर तीन चौतरफ़े प्राकारों के भीतर है। प्राकारों की कुल लंबाई 3,850 फ़ीट बताई जाती है। बाहरी प्राकार में 1,200 खंभे हैं, भीतरी दोनों में क्रमशः कम। ये संख्याएँ मंदिर की विराटता का कुछ आभास तो देती हैं। स्थापत्य-कला की दृष्टि से मंदिर जितनी लंबाई-चौड़ाई में है उतना अनुपाततः वांछित ऊँचाई में नहीं; मंदिर को कोई प्लिंथ (चबूतरा) भी नहीं दिया गया; एकदम जमीन की सतह से लगा ऊपर उठता है। मंदिर को प्राकारों के 'घेरे के अंदर घेरा है, घेरे अंदर घेरा'—बनाने के संबंध में मेरा एक अनुमान है। मंदिर अपने वर्तमान स्वरूप में 12वीं शताब्दी में बनना शुरू हुआ था। तब तक सोमनाथ मंदिर के

तोड़े-गिराए जाने की खबर रामेश्वरम् पहुँच चुकी होगी। क्या प्राकारों का निर्माण सुरक्षा को सुदृढ़ करने के विचार से न किया होगा ?

स्वामी विवेकानंद रामेश्वरम भी आए थे और उन्होंने वहाँ जो व्याख्यान दिया था उसे संगमरमर की पट्टियों पर खुदवाकर प्रवेश गोपुर द्वार पर लगा दिया गया है—कुछ वाक्य ये हैं :

'It is in love that religion exists...external worship is only a symbol of internal worship, but internal worship and purity are the real things... This is the gist of all worship--to be pure and to do good to others... He who sees Shiva in the poor, in the weak, really worships Shiva. Unselfishness is the test of religion.'

(धर्म केवल प्रेम में प्रतिष्ठित है...बाह्य पूजा आंतरिक पूजा का प्रतीक मात्र है...आंतरिक पूजा और पवित्रता ही वास्तविक है...सब धर्मों का सार है पवित्र रहना और परहित करना...जो दीन-दुर्बलों में शिव को देखता है वही शिव की सच्ची पूजा करता है...निःस्वार्थता धर्म की कसौटी है।)

मंदिर को व्यवस्थित रखने के प्रयास में पूजा-अर्चना अर्थाधारित हो गई है। अधिकतम, सहस्र कलश अभिषेक के लिए एक हज़ार रुपये देने पड़ते हैं; न्यूनतम, फूल-माला चढ़ाने के लिए दस पैसे। खैरियत है कि कुछ देर के लिए 'धर्म-दर्शन' कराया जाता है जिस समय आप निःशुल्क केवल दर्शन कर सकते हैं। मैंने तो धर्म दर्शन ही किया और रजतद्वार-गर्भगृह में रजत-पूजा-पात्रों के बीच माटी के महादेव को देखकर कृतकृत्य हो गया। माटी ही सचमुच महादेवी है, महादेव है, सर्वदेव है।

इलाहाबाद में रहते हुए अपने जीवन के लगभग पचास बरसों में तीर्थों के नाम पर मैंने तिरुपति का नाम न सुना था। मुख्य तीर्थों में थे बदरीनाथ, जगन्नाथ-पुरी, रामेश्वरम् और द्वारिका। उनके बाद आते थे मथुरा, अयोध्या, काशी, उज्जयिनी। प्रयाग तो तीर्थराज ही था। इधर पचीस बरसों से तिरुपति का नाम अधिक सुना जाने लगा है। इसका खूब प्रचार किया गया है कि तिरुपति के बालाजी वेंकटेश्वर सब मनोकामनाएँ पूरी करते हैं—स्वार्थसिद्धि जिससे हो जनता उसी की पूजा करती है—'स्वारथ लाइ करहिं सब प्रीती'। बहुसंख्य लोग मनौतियाँ मानने और पूरी होने पर भेंट चढ़ाने जाते हैं। पत्रों में आता है कि भारत के मंदिरों में सबसे अधिक धनराशि तिरुपति में चढ़ती है।

तिरुपति जाने के लिए मुझे एक मारवाड़ी उद्योगपति का साथ मिल गया। हम लोग दोपहर के बाद मोटर से गए और शाम होते-होते तिरुपति पहुँच गए। मद्रास से लगभग सौ मील होगा। सड़क अच्छी है। जिस पहाड़ी पर स्थित है उसे शेषाचल कहते हैं, शायद उसकी चोटियों के शेष फणाकार होने के कारण; वेंकटाचल भी। इसी से उसके देवता को वेंकटेश्वर कहा गया; पर उसके पहले 'बाला जी' क्यों लगाया जाता है, यह मुझे किसी ने नहीं बताया।

रात रुकने के लिए मारवाड़ी सज्जन ने दो-तीन कमरों के एक काटेज का प्रबंध कर लिया था। तीन बजे सवेरे उठकर हम लोग स्वामी पुष्करिणी में

स्नान करने गए—दर्शनपूर्व यहाँ स्नान करना विहित है। पुष्करिणी मंदिर की उत्तरी दीवार के निकट है। कहा जाता है कि इसी पुष्करिणी के किनारे दीमकों के बिल 'वल्मीकि' के नीचे वेंकटेश्वर का प्राकट्य हुआ था। 'प्राकट्य' पर अपना विश्वास नहीं जमता। मूर्ति काले पत्थर की—अर्थात् संगमूसा की है। कोई बड़ा कुशल शिल्पी किसी समय यह मूर्ति गढ़कर इस सरोवर के निकट छोड़ गया होगा जिसपर कालांतर में दीमकें चढ़ गई होंगी। ऐसा लगता है किसी विशेष कालावधि में इस देश में काले पत्थर की मूर्तियाँ गढ़ी गईं—किसी विशिष्ट कला शिल्पी की प्रेरणा पर। नेपाल के बूढ़ा नीलकंठ, नाथद्वारा के श्रीनाथ, मथुरा के बाँके बिहारी, पुरी के साक्षी गोपाल और तिरुपति के वेंकटेश्वर—ये सारी मूर्तियाँ संगमूसा की हैं और बहुत भव्य! स्नान के बाद हम लोग मंदिर आए। पूर्वमुखी प्रवेशद्वार का गोपुर ऊँचा नहीं है। यहाँ भी तीन प्राकारों की परिक्रमा करके गर्भगृह के सामने पहुँचते हैं—जिसे आनन्द निलयम कहा जाता है, उसके ऊपर के गुंबद को विमान, जिसपर सुनहला पत्र चढ़ा है। इस समय का दर्शन विश्वरूप दर्शन कहलाता है; इसमें श्री वेंकटेश्वर के केवल चरण दिखलाई देते हैं; शेष भाग के समक्ष एक सफ़ेद वस्त्र तना रहता है जिसके पीछे देवता का पुष्प-शृंगार होता रहता है। इस दर्शन के लिए टिकट नहीं होता, फिर भी हमें क्यू में जाना पड़ा था। दूसरा दर्शन हमने 8 बजे किया। इसे 'तोमाल सेवा' कहते हैं। इसके लिए तेरह रुपये का टिकट लेना पड़ा; प्रसाद रूप चन्दन-कपूर की लिफाफी मिली। इस समय फूल से सजी पूर्ण मूर्ति के दर्शन होते हैं। वेंकटेश्वर के दोनों नेत्रों पर श्वेत-मोटा चन्दन रामानुजी तिलक के रूप में लगाया जाता है। कहते हैं, देवता के नेत्रों से एक ऐसी ज्योति झरती है जिसे दर्शक सहन नहीं कर सकते। काठमांडू में हनुमान ढोका के हनुमान की मूर्ति की आँखों पर भी पट्टी रखी रहती है। मथुरा में बाँकेबिहारी की मूर्ति के सामने पर्दे खुलते-बन्द होते रहते हैं। शायद इसीलिए कि देर तक बाँकेबिहारी के नेत्रों को देख सकना शायद भक्तों को सह्य न हो। अगर किसी की आँख बाँकेबिहारी से लड़ जाए तो फिर कहते हैं वह घर नहीं लौटता, वृन्दावन में रम जाता है। एक बार अमित, तेजी के साथ मैं वृन्दावन गया था। मुझे याद है, अमित बराबर अपनी माँ को देख रहा था, कि कहीं उनकी आँख बाँकेबिहारी से न लड़ जाए कि वे फिर घर ही न लौटें!...

पूजा-अर्चना यहाँ भी अर्थाधारित है—1 रु० से लेकर 2000 रु० तक की। प्रसाद बिकता है। मूर्ति पर कुछ चढ़ाने की आज्ञा नहीं है। उसके लिए एक बड़ा थैला टँगा है जिसे 'हुंडी' कहते हैं; उसमें लोग जो भी डालना चाहें गुप्त रूप से डाल देते हैं। कुछ लोग यहाँ सिर मुड़ाने की मनौती मानते हैं, खासकर स्त्रियाँ। जहाँ सिर मूड़े जाते हैं वह जगह 'कल्याण कट्ट' कहलाती है। सुना, बाल इकट्ठे किए जाते हैं और उन्हें विदेशों में बेचा जाता है जहाँ उनके नकली जूड़े (wig) बनते हैं। मंदिर द्वार के सामने एक विवाह-मंडप है, कुछ लोग मंडप में श्री वेंकटेश्वर के साक्ष्य में विवाह करते हैं। हर काम के लिए शुल्क नियत है। सुना मंदिर की आमदनी से कई शिक्षा संस्थाएँ, औषधालय, अस्पताल, अनाथालय, कुष्ठाश्रम आदि लोकहितकारी संस्थाएँ चलाई जाती हैं। वहाँ मुझे न कोई मनौती उतारनी थी, न मनानी थी; न स्नान-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का

आध्यात्मिक अनुभव हुआ। कौतूहल वश गया था, शांत कर चला आया। क्षोभ इतना ज़रूर था कि मूर्ति का भी मूल-सौंदर्य न देख सका—पुजारी मूर्ति को वस्त्राभूषण-चन्दन-पुष्प मालाओं से इतना सजाते हैं कि मूर्ति दिखलाई ही नहीं पड़ती।

दक्षिण यात्रा से लौटकर मैं अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग—'क्या भूलूं क्या याद करूं' को अंतिम रूप देने में लगा रहा। उसका आरम्भ मैंने '63 में किया था। कुछ अंश मैंने सत्येन्द्र शरत् को सुनाया। उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने सलाह दी कि उसे 'कल्पना' में भेजूं, जो उन दिनों हैदराबाद से निकलनेवाली साहित्य की उच्चस्तरीय पत्रिका मानी जाती थी। उसमें छपा तो कई पत्रिकाओं से उसका कुछ अंश छापने की माँग आई। जहाँ तक मुझे याद है, एक अंश 'कादम्बिनी' में भी छपा। यह तो मैं न कहूँगा कि 6 वर्ष मैंने लगातार उसी पर काम किया, पर यह मेरे दिमाग़ में बराबर बनी रही और जब भी मेरी मनःस्थिति अतीत को देखने की बनी मैंने उसका कुछ अंश लिखा। अतीत दुःखमय तो था ही और कला में, सृजन में उसे फिर जीना और अधिक दुःखमय था। सत्येन्द्र ने उसमें बराबर रुचि ली, पूरी हुई तो उन्होंने उसका एक-एक अक्षर पढ़ा, उनके सुझावों से मैं बहुत लाभान्वित हुआ और सितम्बर में पुस्तक प्रेस में दे दी गई। कृति मैंने पंडित प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त' और पंडित राजनाथ पांडेय को समर्पित की। ये ही दो मेरे ऐसे मित्र बचे थे जो मेरे अतीत जीवन के किसी रूप में साक्षी थे। औपचारिक समर्पण मेरे जन्मदिन पर 27 नवम्बर '69 को किया गया जिसके लिए मेरे दोनों मित्र पटना और सुलतानपुर से दिल्ली आए। एक छोटी-सी गोष्ठी हमने घर पर आयोजित की थी। उसकी कार्यवाही की स्पूल रेकार्डिंग कर ली गई थी। अब वह कैसेट पर उतार ली गई है और मेरे पास रखी है।

साहित्य-संसार में 'क्या भूलूं क्या याद करूं' का जैसा स्वागत हुआ वह मेरी प्रत्याशा के बहुत ऊपर था। जाने-माने साहित्यकारों की सम्मतियाँ प्रकाशक द्वारा विज्ञापित की जा चुकी हैं।

एक प्रसंग पर सम्बद्ध व्यक्तियों ने कुछ आपत्ति की, पर जो मैंने लिखा था उसके लिए मेरे पास इतने साक्ष्य थे कि वे थोड़ा शोर-गुल मचाकर शांत हो गए।

मेरे समीप विद्वानों, समालोचकों से अधिक मेरे सामान्य पाठकों की प्रतिक्रियाएँ, सम्मतियाँ मूल्य रखती हैं। उनके बधाई-प्रशंसा पत्रों का तांता लग गया। पुस्तक प्रकाशित होते ही लोकप्रिय हो गई थी। 'मधुशाला' के बाद ऐसा बाँह-पसार स्वागत मैंने अपनी किसी कृति का न जाना था। दो वर्ष के अन्दर उसके चार संस्करण निकले—कितने-कितने के, आप चाहें तो प्रकाशक से पूछ लें। सबसे बड़ी बात यह थी कि सैकड़ों लोगों ने पुस्तक में वर्णित युग के या चरित्रों के साथ अपने युग, अपने आस-पड़ोस के लोगों की या अपनी भी एकात्मता (identity) अनुभव की थी—'मेरे परबाबा भी आपके परबाबा जैसे थे', 'मेरे बाबा का स्वभाव बिलकुल आपके बाबा के समान था', 'मेरे पिता तो बिलकुल आपके पिता की अनुकृति थे'। संसद-सदस्य भागवत झा आज़ाद ने मुझसे कहा था कि उनके लड़कपन के अध्यापक दूसरे विश्राम तिवारी थे। इसी

प्रकार लगभग एक दर्जन नवयुवकों ने मुझे लिखा था, 'मैं पूर्व जन्म का कर्कल हूँ'—जाने-माने लोगों में कानपुर के कवि-लेखक 'उद्भ्रांत' का नाम गिना सकता हूँ। उनके जीवन में क्या ऐसा घटित हुआ था जिससे उनको यह प्रतीति हुई थी वही जानें। और लड़कों से अधिक लड़कियों ने मुझे लिखा था 'मैं पूर्व जन्म की श्यामा हूँ', या 'मैं पूर्व जन्म की चंपा थी'। कुछ के नाम पते बता सकता हूँ। पर क्या ऐसा करना उचित होगा ? फिर भी एक के विषय में बग़ैर नाम-पता बताए एक विशेष कारण से, कुछ विस्तार से कहना चाहूँगा, कभी आगे।

ऐसे सारे पत्रों को मैंने अपने लेखन की यत्किंचित सफलता का प्रमाण-पत्र समझा। मैंने अतीत का, अतीत के लोगों का ऐसा चित्रण किया था कि मेरे पाठकों को वे चरित्र चलते-फिरते, बोलते-चालते दिखाई पड़े या फिर किन्हीं-किन्हीं में उन्हें अपने ही गुण-स्वभाव-प्रवृत्ति, प्रसंगों और जीवन में घटित घटनाओं की इतनी प्रतिध्वनि-प्रतिच्छाया मिली कि उन्हें लगा, लगा ही नहीं, विश्वास भी हुआ कि वे वही हैं, उनकी ही आत्मा है उनमें, जो पूर्व जन्म में वैसे ही अनुभवों से गुज़र चुके हैं, और शायद इस जन्म में भी वही सब उन्हें जीना-भोगना पड़ रहा है। ख़ैर, मेरे चरित्र तो जीते-जागते वास्तविक हाड़-मांस के चरित्र थे। बड़े लेखक, महान कलाकार अपनी कल्पना से भी ऐसे चरित्रों का निर्माण करने में सफल हुए हैं जिन्हें लोगों ने काल्पनिक नहीं, सत्य ही, यथार्थ, ऐतिहासिक समझा।

अगर आप आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य से परिचित हैं तो आपने जान गाल्ज़वर्दी (1867-1933) का नाम अवश्य सुना होगा। वे बीसवीं सदी की पहली एक-तिहाई में अंग्रेज़ी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार, नाटककार, कहानीकारों में गिने जाते थे। उनके एकाधिक नाटकों का अनुवाद प्रेमचंद ने हिंदी में किया था, जो हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुए थे। उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रतिनिधि कृति 'फ़ोरसाइट सागा' (1906-1921) थी जिसमें उन्होंने विक्टोरियन युग के अंतिम भाग में फूले-फले एक ऐसे वर्ग का चित्रण किया था जो संसार में सब कुछ सुखद-सुविधाजनक से अपने को समृद्ध करने को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य और आदर्श समझता था और जिसकी नैतिकता-विहीन मान्यताएँ प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1919) में विध्वस्त हो गई थीं। उपन्यास के सभी पात्र काल्पनिक थे, पर इंग्लैंड के न जाने कितने लोगों ने गाल्ज़वर्दी को लिखा था कि फ़लाँ-फ़लाँ पात्र तो वे ही हैं या फ़ोरसाइट परिवार उनका ही परिवार है। इसपर गाल्ज़वर्दी की प्रतिक्रिया उन्हीं के शब्दों में सुनें—

"So many people have written and claimed that their families were the originals of the Forsytes, that one has been almost encouraged to believe in the typicality of that species...

'Let the dead past bury its dead' would be a better saying if the Past ever died. The persistence of the Past is one of

those tragi-comic blessings which each new age denies, coming cocksure on to the stage to mouth its claim to a perfect novelty. But no Age is so new as that! ..."[1]

(इतने सारे लोगों ने मुझे लिखा है और दावा किया है कि उनका परिवार ही मूल रूप से फ़ोरसाइट का परिवार है कि मैं यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित हुआ हूँ कि मैंने जिस वर्ग का चित्रण किया है वह बहुधा पाया जाता है—'मुर्दा अतीत को अपने मुर्दे गाड़ने का काम मुर्दा अतीत पर छोड़ो'—यह कहावत अधिक संगत होती अगर अतीत कभी मरता होता। अतीत का दुर्निवार पुनरागमन एक ऐसा दुख-सुखांत वरदान है जिसे हर नया युग नकारता है, पर जो धृष्टतापूर्वक पुनः-पुनः रंगमंच पर उपस्थित होकर अपनी आमूल नवीनता का उद्घोष करता है। लेकिन कोई युग इतना नवीन नहीं होता जितने का वह दावा करता है।...)

मुझे भी अपने पास आए पत्रों से यह अनुभूति हुई और मुझपर जीवन का यह सत्य उद्घाटित हुआ कि अतीत में जो व्यक्ति अपने निकट सम्पर्क के कारण मुझे विशिष्ट और अद्वितीय लगे थे, वे इतने विशिष्ट और अद्वितीय न थे; वैसे व्यक्ति और भी जगह थे और वैसे व्यक्ति हर युग में अपना कुछ वाह्य वेश बदलकर आंतरिक रूप से बिलकुल वैसे या उनसे बहुत कुछ मिलते-जुलते आते हैं और वैसे ही या उसी प्रकार के सुख-दुख भोगकर चले जाते हैं। मैंने स्वयं जब रोमें रोलाँ का 'जाँ क्रिस्तोफ़' उपन्यास पढ़ा था, पहली बार बी० ए० या एम० ए० (प्रीवियस) करते समय तो उसके मुख्य पात्र जाँ क्रिस्तोफ़ और ओटो डाइनर के नवयौवन में मिलन, परिचय, मैत्री, घनिष्ठता, आत्मीयता, एकात्मता, प्रियतम-प्रेयसी की-सी भावमयता, पारस्परिक आत्मसमर्पण, शिकवा-शिकायतें, उलाहने, मान-मनावने, मनुहारें, ग़लतफ़हमियाँ, सफ़ाइयाँ, क्षमायाचनाएँ, आदि-आदि के बारे में जानकर और उनके मार्मिक क्षणों के रस-रागोच्छल पत्रों के आदान-प्रदान को देखकर कर्कल के और अपने सुकुमार संबंधों की स्मृतियों में डूब गया था जो पाँच बरस बाद भी कल की-सी लगती थीं और इस परिज्ञान पर स्तंभित था कि कर्कल और बच्चन चक पर ही नहीं होते, जर्मनी और फ्रांस में भी होते हैं।

जिन 'कर्कल', 'चंपाओं', 'श्यामाओं' ने मुझे पत्र लिखे थे उनके भाव-जगत को समझने का मैंने प्रयत्न किया था। उन्हें अपनी पूरी संवेदनाएँ दी थीं—कइयों को मैंने पत्र लिखकर यथेष्ट सहानुभूति के साथ इस वहम से निकालने का प्रयत्न किया था। एकाधिक आकर मुझसे मिले थे, एक ने तो चक की प्रदक्षिणा की थी। वहाँ का तो सभी कुछ बदल गया है, सिवा कुछ मंदिरों के जिनके चित्र उसने मुझे भेजे थे। एक 'श्यामा' ने मेरे कुछ पहने हुए वस्त्र मुझसे माँगे थे और मैंने भेज दिए थे। पता नहीं उन वस्त्रों का उसने क्या किया। एक और लड़की ने पूर्व काल की श्यामा होने के सबूत में लिखा था कि उसे इन्टेस्टाइनल टी० बी० भी है। एक लड़की 'मधुबाला' नाम से मुझे अब भी पत्र

1. Preface to The Forsyte Saga—1922

लिखती है और मेरी बीसों पंक्तियाँ अपनी मनःस्थिति व्यक्त करने को उद्धृत करती है। अपना देश बड़ा भावुक है!

आपने कहीं पढ़ा या सुना होगा कि कुछ लोग तीन पांवों की टेबिल पर, कुछ लोग 'ओयजा' कार्ड पर और कुछ लोग प्लेंचेट पर मृत आत्माओं को बुलाते हैं! मुझे इस सब में कतई विश्वास नहीं। पर एक प्लेंचेट पर मुझे विश्वास है। वह है शब्दों की प्लेंचेट; उसपर बुलाई हुई आत्माएँ सब से सजग, सचेत और सशक्त हो सकती हैं। मैंने अपनी शब्द-प्लेंचेट पर कुछ भूतों को जगा लिया था—

...graves at my command
Have waked their sleepers, oped and let 'em forth
By my potent art.

(Tempest)

(...मेरी आज्ञा पर कब्रों ने
अपने को खोला है, जगा-जगा मुर्दों को
बाहर भेजा है मेरी प्रभविष्णु कला से!)

(टेम्पेस्ट)

अच्छा होता वे मेरी पुस्तक की कोठरी में ही बंद रहते; जो चाहता खोलकर उनसे मिल लेता; पर कुछ उनमें से बाहर निकल आए। और दो-एक ने तो मुझे काफ़ी परेशान किया, मेरा कुछ आर्थिक शोषण भी। शायद भूत को भूत रहने देना ही अच्छा है। भूत को जगाना कला हो, पर खतरे की कला है। जागे और उससे ज़्यादा जागे हुए का अभिनय करनेवाले भूत बड़े खतरनाक हो सकते हैं। खैर, आपको उनसे डरने की ज़रूरत नहीं; आपके पास वे नहीं जाएँगे।

'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की कथा श्यामा के देहावसान पर समाप्त हो गई थी, पर जीवन की कहानी तो चलती गई थी—वह रुकती भी कहाँ है—कवि नरेन्द्र के शब्दों में 'कहीं भी रुकती नहीं यह पालकी'—और मैं अतीत स्मृति के प्रवाह में बहता चला गया था। मेरे उजड़े 'नीड़ का निर्माण फिर' हुआ और उसमें बसेरा लेते मैंने दस बरस भी बिता दिए। कहानी पुस्तक रूप में देनी थी तो एक बार फिर पड़ाव डालना था। '70 के मध्य तक यह काम मैंने पूरा कर लिया था।

मई में पंत जी की 70 वीं वर्षगाँठ पड़ी। मैंने उनकी स्वर्ण-जयंती मनाई थी; उनकी हीरक जयंती भी, जिसपर मैंने उन पर एक पुस्तक ही तैयार कर उन्हें समर्पित की थी; मेरे जी में आया उनकी 70वीं वर्षगाँठ पर भी कुछ याद-गार के रूप में दूँ। उनके सैकड़ों पत्र मेरे पास थे। उनके सवा सौ पत्रों को मैंने 'कवियों में सौम्य सन्त' में दिया था, और जहाँ कहीं पुस्तक की आलोचना हुई थी, उन पत्रों की महत्ता को भी स्वीकार किया गया था—निश्चय उनसे पंत जी के व्यक्तित्व की एक प्रामाणिक झाँकी मिलती थी। मैंने सोचा उनके सौ और पत्र इस अवसर पर प्रकाशित करा दूँ। 'बच्चन के नाम पंत के सौ पत्र'

श्री सुमित्रानंदन पंत की सत्तरवीं वर्षगाँठ पर
उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के
प्रेमियों को

समर्पित हुए।

इसी के साथ एक किताब और मैंने प्रेस भेजी—'भाषा अपनी भाव पराए'। जसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें अहिंदी भाषाओं की कविताओं के हिंदी अनुवाद हैं—ग्यारह कश्मीरी से हिंदी में हैं, दो पंजाबी से, एक गुजराती से, एक मराठी से, एक तेलुगू से, दो कन्नड़ से, दो मलयालम से, एक तमिल से, तीन अंग्रेज़ी से और एक स्पेनी से हिंदी में है। इनमें अधिकतर कविताएँ वे हैं जो दिल्ली रेडियो पर सर्व भाषा कवि सम्मेलन ('56-'68) में पढ़ी गई थीं। इतनी विविध भाषाओं को हिंदी में रखकर हिंदी कम से कम अपना अनुवाद-सामर्थ्य तो सिद्ध करती ही है। यह संग्रह मैंने राज्यसभा के अपने दो सहयोगियों श्री जी० शंकर कुरुप्प और श्री उमाशंकर जोशी को समर्पित किया—दोनों ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित।

'70 के प्रारम्भिक महीनों में 'सात हिंदुस्तानी' का विमोचन हो गया। अमिताभ की पहली तस्वीर थी। हमें अच्छी तरह याद है उसका ट्रायल शो फ़िल्म डिवीज़न आडीटोरियम में हुआ था। कितनी उमंग और आशा से भरे हुए तेजी और मैं उसे देखने गए थे। हम लोगों को अमिताभ का अभिनय सबसे अच्छा लगा था और उसी दिन तेजी ने कह दिया था कि अमिताभ ने शुरुआत उम्दा की है, सिने संसार में, देख लेना, वे बहुत आगे जाएँगे। तब मैंने तो यही समझा था कि यह माँ का बेटे के लिए मोह है। हमें तो अपने बेटे का काम अच्छा लगना ही था; शायद बुरा होता तो भी हमें अच्छा लगता, पर जब नेशनल अवार्ड के समय उसके अभिनय की प्रशंसा की गई तो हमें लगा हम गलत नहीं थे और अमिताभ के काम पर हमारी राय वात्सल्य-मोहाविष्ट नहीं थी।[1] जब 'सात हिंदुस्तानी' फ़िल्म 'शीला' सिनेमा में लगी तो कितनी ही बार जाकर हमने उसे देखा। और हर बार हमें अमिताभ का अभिनय पिछली बार से अच्छा लगा। इस नए क्षेत्र में उनके अभ्युदय के लिए हमारे रोम-रोम से आशीर्वाद निकलता था। 'सात हिंदुस्तानी' के बाद सुनील दत्त ने अमिताभ को अपनी फ़िल्म 'रेशमा और शेरा' के लिए अनुबद्ध किया; फ़िल्म में उनकी भूमिका छोटी पर विचित्र थी; उन्हें शेरा के गूंगे भाई का पार्ट दिया गया था। यह एक तरह से उनकी अभिनय-क्षमता की सबसे खरी परीक्षा थी, उन्हें सब कुछ, अपना सारा मनोभाव गति-मुद्रा-संकेत-से अभिव्यक्त करना था। मैं समझता हूँ अभिनय की इससे बड़ी परख नहीं हो सकती थी।

---

1. The point is that whether 'Saat Hindustani' ran for ten weeks or ten days or ten matinee shows, Amitabh Bachchan's performance in it was a thrilling one, winning for him the coveted and outstanding special mention in the National Awards.
—K. A. Abbas : I AM NOT AN ISLAND, p. 488

गर्मियों के लिए संसद का सत्र समाप्त हुआ तो मैं अमित-अजित को मिलने के लिए बंबई, और वहाँ से मद्रास गया। अमित अपने काम में व्यस्त थे और जिस चीज़ से मुझे सबसे अधिक संतोष हुआ वह यह था कि वे अपने काम में आनन्द ले रहे थे।

मद्रास में अजिताभ स्वस्थ-सानंद थे, शा वैलेस के मालिक उनके काम से प्रसन्न थे और उनकी वेतन वृद्धि कर दी गई थी; उन्हें कंपनी की ओर से कार मिली थी जिसका उपयोग वे कंपनी के काम के लिए तो करते ही, निजी कामों के लिए भी कर सकते थे।

इस बार दिल्ली लौटने के पहले मैंने पुरी, कोणार्क और भुवनेश्वर की यात्रा की।

पुरी के जगन्नाथ जी से मेरा परिचय लड़कपन से था। मेरी सबसे बड़ी विधवा चाची (जिन्हें हम लोग जीजी कहते थे) किसी समय जगन्नाथ यात्रा पर गई थीं और वहाँ की निशानी के रूप में जगन्नाथ जी का एक पट्ट और लाल बेंत का एक मुट्ठा लाई थीं, जो उनकी पूजा में रखा रहता था; प्रसाद रूप में लाई थीं सूखा भात। पट्ट के तीन देवताओं का चित्र किसी जाने-माने देवता से नहीं मिलता था—एक तरह से यह डरावना भी लगता था—भयानांभयं भीषणं भीषणानाम्...। बाद को पट्ट के देवताओं के बारे में बहुत-सी बातें जानीं। ये कृष्ण, बलराम, सुभद्रा हैं। एक बार नारद जी द्वारिका गए। तीनों के सामने ब्रज का वर्णन करने लगे। सुनते-सुनते वे इतने भाव-विभोर हुए कि उनके अंग गलने लगे। नारद को तीनों का विगलित रूप इतना भाया कि उन्होंने प्रार्थना की कि आप इसी रूप से स्थिर हों। वही रूप पुरी में स्थापित हुआ—मूर्तियाँ लकड़ी की हैं। फिर सुना बारह वर्ष बाद समुद्र में किसी वृक्ष का तना उतराता हुआ आता है। उसी से तीनों मूर्तियाँ बनती हैं। पुरी का एक ही दारुक परिवार है जो इन मूर्तियों को गढ़ता-रँगता है और जो व्यक्ति मूर्तियाँ गढ़ता है उसकी मृत्यु हो जाती है। फिर सुना साल में एक बार तीनों देवताओं की रथ-यात्रा निकलती है, रथ भक्तगण खींचते हैं, पुरी के राजा रथ के आगे सोने की सींक के झाड़ू से रास्ता साफ़ करते चलते हैं। पुरा काल में यह विश्वास था कि जो जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दबकर मर जाए उसे मुक्ति मिल जाती है, और जब रथ चलता था तो बहुत से मुक्तिकामी भक्त उसके सामने लेट जाते थे और रथ उन्हें दबाता-कुचलता निकल जाता था। इस संदर्भ से 'जगन्नाथ' से अंग्रेजी का शब्द Juggernaut बना जिसके अर्थ हैं ruthless. remorseless, अनिवार्य, अपरिहार्य, निर्मम।

ऐसी श्रुति-स्मृति से भरा मैं पुरी पहुँचा था, रेल से हावड़ा होते। पुरी समुद्र-तटीय तीर्थनगर है—समुद्रतट चौरस, बालुकामय, जिसपर ज्वारभाटे के साथ तरंगें आगे बढ़ती-पीछे हटती रहती हैं। कहते हैं आक्षितिज सागर की नीलोच्छल तरंगों में श्रीकृष्ण को कल्पित करते चैतन्य महाप्रभु समुद्र में धँसते चले गए थे और जल-निमग्न हो गए थे।

मंदिर, कहा जाता है, बारहवीं शताब्दी में उड़ीसा के राजा द्वारा बनवाया गया था। उसके चारों ओर लगभग साढ़े-छह सौ फ़ीट लम्बी और उतनी ही चौड़ी 20 फीट ऊँची चहारदीवारी है। मंदिर लंबे सड़क है, पर सड़क-सतह से

काफ़ी ऊँची प्लिंथ (चबूतरा) देकर मंदिर उठाया गया है। उसकी ऊँचाई 'बड़देउल' या गर्भगृह पर लगभग सवा दो सौ फ़ीट है और बहुत दूर से देखी जा सकती है, शायद समुद्री जहाज़ों से भी। पुर्तगालियों ने समुद्र से ही मंदिर को देखकर उसे White Pagoda कहा था, जैसे पचास मील पर कोणार्क मंदिर को देखकर Black Pagoda। 'बड़देउल' के आगे मंदिर के तीन खंड हैं—मख-शाला, जगमोहन, और भोग मंडप।

16वीं शताब्दी में काला पहाड़ ने मंदिर को लूटा और बहुत बड़े भाग को तोड़ा था और उसके बाद कई मुसलमान सेना-नायकों ने---17वीं सदी में पुरी के राजा नरसिंहदेव ने उसका पुनर्निर्माण कराया। जिस समय मैं गया था--'नवक-लेवर' अर्थात् नई मूर्तियाँ गढ़ने का वर्ष था—पट एक मास के लिए बन्द थे। मैं जगन्नाथ जी के दर्शन से वंचित रहा। मंदिर के बाहर छोटी-बड़ी मैथुन-विषयक अनेक मूर्तियाँ हैं। उनके लिए तरह-तरह की व्याख्या दी जाती है—कुछ कहते हैं काम बाहर, राम भीतर। कुछ उनमें गम्भीर तांत्रिक रहस्य देखते हैं। कुछ कहते हैं, पुराने ज़माने में यह विश्वास था कि जिन मन्दिरों में ऐसी मूर्तियाँ हों उन पर बिजली नहीं गिरती—बिजली उन्हें देखती है और शर्मा जाती है, दूर चली जाती है। इसमें संदेह नहीं कि इनमें से कई कला की दृष्टि से उत्कृष्ट मूर्तियाँ हैं। ऐसा ही एक मूर्ति-बंध देखकर मैं विमुग्ध हो गया था। उस पर मैंने बाद को एक कविता लिखी—'एक पावन मूर्ति' (केवल वयस्कों के लिए) शीर्षक से, जो 'जाल समेटा' में है। उस मूर्ति-बंध में मैंने अश्लीलता नहीं, जिजीविषा देखी, सुन्दरता देखी, शुचिता भी देखी।

यदि मूर्ति देखकर
तेरी आँखें नीचे को गड़तीं,
लगती है तुझे शर्म
(जीवन के सबसे गहरे सत्य प्रतीकों में बोला करते)
तो तुझे अभी अज्ञात
कला का,
जीवन का,
धर्म का,
मूढ़मति, गूढ़ मर्म।

मैं चाहूँगा कभी वह कविता आप पूरी पढ़ें। कभी संभव हो तो पुरी जाकर वह मूर्ति-बंध देखें।

रथयात्रा जगन्नाथ मन्दिर से गुंडीचा मन्दिर तक होती है, जहाँ जगन्नाथ, बलराम, सुभद्रा आठ दिन के लिए मेहमान होते हैं। रास्ता बन रहा था। देखा, कुछ लोग रास्ते पर पत्थर लगाते हैं---किसी प्रिय के नाम पर कि जगन्नाथ का रथ उस पर होकर जाएगा तो उसका कल्याण होगा। मैंने भी विनोद-विनोद में सात पत्थर लगा दिए —अमिताभ, अजिताभ, प्रभात, जगदीश, सत्येन्द्र, अजित और ओंकार के नाम पर। जगन्नाथ का रथ उस पर होकर गया होगा। दैववशात सबका मंगल ही हुआ है।

गुंडीचा मंदिर भी गया था। जानकी जी का मंदिर है—राधा-रुक्मिनी का

क्यों नहीं ?—वहाँ पुजारी यात्री को बेंत से मारता है—मारता क्या है छूता है —क्यों मैं नहीं कह सकता—प्रथा है, निभाई जाती है। बेंत वहाँ से लोग प्रसाद रूप में लाते हैं।

पुरी से बारह मील पर साखी गोपाल का मंदिर है। यहाँ संगमूसा की वेणु-धारी कृष्ण की, आदमक़द, बड़ी सुन्दर मूर्ति है। जगन्नाथ जी के दर्शन कर हर तीर्थयात्री को यहाँ आना पड़ता है। आप तीर्थ करने आए थे—उसकी साक्षी गोपाल ही भरते हैं। जब तक आप गोपाल मंदिर में हाज़िरी न दें तब तक आपकी तीर्थयात्रा की सनद नहीं मानी जाती। संभवतः ऐसा विधान इसलिए किया गया होगा कि लोग जगन्नाथ के अपरूप, अपूर्ण रूप को नहीं, गोपाल के सुन्दर, सम्पूर्ण रूप का प्रभाव मन पर लेकर लौटें।

हमारा देश इतना विशाल और उसका कला वैभव इतना प्रचुर है कि अपनी काफ़ी बड़ी अवस्था तक मैंने कोणार्क का नाम नहीं सुना था। लड़कपन में पुरी की यात्रा कर लौटे कई यात्रियों को मैं जानता था, पर किसी ने कोणार्क का ज़िक्र न किया था। पहले-पहल कोणार्क के विषय में मुझे रघुवंश किशोर ने बताया; उन्होंने कुछ समय वाल्टेयर में अध्यापन कार्य किया था और वहीं से कोणार्क देखने गए थे। उनका कहना था कोणार्क के सामने खजुराहो के मंदिर कुछ नहीं। हिंदी पठित जनता को कोणार्क से कुछ परिचित कराया जगदीश चन्द्र माथुर ने अपने 'कोणार्क' नामक नाटक से, जो शायद '50 के आसपास निकला था। उससे पूर्व मुझे नहीं याद कि हिंदी में कहीं कुछ कोणार्क पर लिखा गया था।

कोणार्क देखने मैं पुरी से टूरिस्ट बस द्वारा गया था जो भुवनेश्वर होती हुई लौटी थी। कोणार्क, पुरी से, पिपली होकर जाने वाली सड़क से कोई 50 मील पर होगा, निकटतम समुद्र तट दो मील पर है।

सूर्य मंदिर कोणार्क का निर्माण उड़ीसा के राजा नरसिंह प्रथम ने तेरहवीं शताब्दी के मध्य में कराया था। स्थान पवित्रता के लिए पुरा-प्रसिद्ध होगा। कहा जाता है भगवान कृष्ण के जाम्बवंती से पुत्र साम्ब को कोढ़ हो गया था और इसी स्थान पर सूर्योपासना करने से वह रोग मुक्त हुआ था। मंदिर के चारों ओर चहारदीवारी है कोई साढ़े आठ सौ फीट लंबी और साढ़े पाँच सौ फीट चौड़ी—चौदह फीट ऊँची—अब तो जगह-जगह से टूटी। मंदिर सूर्य के रथ के आकार का है—दोनों ओर बारह-बारह पहिए—सामने सात घोड़े उसे खींचते हुए। रथ का रूप रखते हुए भी हिंदू मंदिरों के परंपरागत विभागों का ध्यान रखा गया है—गर्भगृह—जगमोहन—नटमंदिर का। मंदिर पूर्वमुखी है; जब मंदिर ठीक हालत में था तब सूर्य की प्रथम किरणें तीन विभाग द्वारों से होती सूर्य देव पर पड़ती थीं। 'काले पेगोडा' अभिहित होने के कारण आप यह न सोचें कि मंदिर काले पत्थर का होगा। पत्थर मंदिर का हल्के सलेटी रंग का है जिसमें लाल की भी छाया मिली है। मंदिर के निकट कोई पहाड़-पहाड़ी नहीं; ऐसा अनुमान किया जाता है कि पत्थर महानदी के तट की चट्टानों से या चिलका झील के बीच खड़े पहाड़ी टीलों से लाया गया होगा—समुद्री मार्ग से। मंदिर बारह सौ कारीगरों ने बारह बरसों में तैयार किया था लगभग चालीस करोड़ रुपये के खर्च पर, जो उन दिनों उड़ीसा का बारह वर्षों का राजस्व था। एक

वाक्य में मंदिर शक्ति और शृंगार के महामिलन का एक अद्वितीय उदाहरण है।

निर्माण काल से मंदिर के साथ दुर्भाग्य जुड़ा था। गर्भगृह के सवा दो सौ फ़ीट ऊँचे शिखर पर जो पाषाण-कलश शोभित होने को था उसे यथास्थान रखने में कारीगर बार-बार असफल हो रहे थे। कहते हैं, प्रमुख स्थापत्य-विशारद मनोहरन के दस वर्षीय पुत्र धर्मपाद ने कुछ ऐसी तरकीब बताई कि कलश अपनी जगह रख दिया गया, पर श्रेय अपने पिता को देने के लिए उसने ऊपर से कूदकर अपने प्राण दे दिए। वास्तविकता शायद यह है कि उस कार्य की वांछित सफ़-लता के लिए उस बालक की बलि दी गई थी। पुराने समय में जब कोई इमारत बार-बार बनाने पर गिर जाती थी तब उसकी पुष्टि अथवा स्थायित्व के लिए नर-बलि दी जाती थी। मैंने ऐसा किस्सा अपने बुजुर्गों से इलाहाबाद क़िले की एक दीवार के विषय में सुना था।

ऐसा लगता है, सौ-दो सौ बरस बाद ही मंदिर ध्वस्त होने लगा था—बिजली गिरने से या भूचाल से या भीषण समुद्र-चक्रवात से। प्रकृति के विध्वंस-कारी कृत्य में जो कमी रह गई थी वह सोलहवीं सदी में काला पहाड़ ने पूरी की। प्रकृति और मनुष्य के अत्याचार के बाद भी जो अवशिष्ट है वह जीवंत है और भव्य है—सूर्यरथ के दीर्घाकार नक़्क़ाशीदार पहिये, घोड़े, हाथी, गायक, वादक, नर्तकों की आदमक़द मूर्तियाँ और मानव रूप में नवग्रह। निश्चय सर्वश्रेष्ठ मूर्तियाँ हैं उदय और अस्त होते सूर्यदेव की। ये मूर्तियाँ क्वचित हरित सुचिक्कण प्रस्तर की बनी हैं। उदय मुद्रा में सूर्य भगवान खड़े हैं आरुणि द्वारा हाँके जानेवाले सात घोड़ों के रथ पर। उनके दोनों ओर हैं खुले-खिले कमल—प्रभात के प्रतीक। अस्त मुद्रा में सूर्य भगवान एकमात्र घोड़े पर सवार हैं—सूर्य भगवान की आँखें मुंद रही हैं और घोड़ा भी थका गर्दन झुकाए दिखाया गया है। कमल बंद हो रहे हैं। कला की दृष्टि से मुझे अस्तंगमित सूर्यदेव अधिक सुन्दर लगे। उनका घोड़ा मेरी एक कविता के लिए प्रेरणा बना। कविता 'बच्चन रचनावली' में है—शीर्षक है 'घोड़ा और घुड़सवार'—कविता प्रतीकात्मक है—'रचनावली' आपको शायद ही उपलब्ध हो—कविता सुना दूं ?—

ओ घुड़सवार,
माना कि
भर दिन काले कोसों के सफ़र के बाद भी
तुम्हारे अन्दर है जोश
नयी चोटियों को चूमने का,
नये क्षितिजों को छूने का,
और तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में
दौड़ रही है स्फूर्ति की लहर
दुर्निवार।

पर अपने सफ़र के साथी को भी तो देखो—
थरथरा रही हैं उसकी टाँगें,

घुटनों तक लटक गयी है उसकी गर्दन,
झुक गये हैं कान,
झँप रही हैं उसकी पलकें,
और उसके जबड़े से फेचकुर निकलकर
चू रहा है उसके खुरों पर !—

ऐसे में, उसकी लगाम खींचना,
उसको एड़ लगाना,
या उस पर कोड़े सटकाना
क्या न होगा
उस बेज़बान जानवर पर अत्याचार !
ओ घुड़सवार !

सुना इसी प्रकार की एक मूर्ति मध्याह्न सूर्य की थी जो किसी म्यूज़ियम में पहुँच गई है। गर्भगृह की मूर्ति पुरी में है, पर उसे वहाँ देखने की मुझे याद नहीं।

मैथुन-मुद्रा मूर्तियाँ सैकड़ों हैं। उनके लिए तरह-तरह का सफ़ाई दी जाती है। पर मैं समझता हूँ जीवन से हमें सफ़ाई माँगने का हक़ नहीं। इन मूर्तियों का एक मात्र उद्‌घोष है—जीवन की मुक्त स्वीकृति—यौन भावनाओं पर अत्यधिक बल असंतुलन माना जा सकता है। पर क्या वह उस अप्राकृतिक यति धर्म की प्रतिक्रिया नहीं थी जिसका प्रचार बौद्ध धर्म द्वारा किया गया था। एक अति का परिहार शायद दूसरी अति द्वारा होता है। कितनी ही मुद्राओं में जटादाढ़ीधारी साधु मैथुन-प्रवृत्त हैं।

और इन अद्वितीय मूर्तियों के मूर्तिकारों ने कहीं अपना नाम नहीं दिया। कला की साधना में अहं परित्याग का इससे उदात्त उदाहरण कहाँ मिलेगा ? हम छोटी-सी कविता लिखते हैं तो उसके नीचे अपना नाम देना नहीं भूलते।

कोणार्क से पिपली होते हम लोग भुवनेश्वर आए। भुवनेश्वर से कुछ मील पहले हमने उदयगिरि और खंडगिरि की गुफाएं देखीं—पहाड़ियाँ बहुत ऊँची नहीं; दोनों पहाड़ियों की गुफाओं की संख्या लगभग 50 के होगी। इनमें अधिक पुरानी ईसा पूर्व की बताई जाती हैं, जिन्हें जैन मुनियों ने अपने रहने के लिए बनाया था; कुछ तो भद्दी हैं, पर कुछ में उच्च श्रेणी का नक़्क़ाशी का काम किया गया है जिनमें धार्मिक से अधिक भौतिक जीवन के दृश्य हैं। पाषाण कला बहुत पहले से धार्मिक से धर्मनिरपेक्ष (secular) हो गई थी। इसके सबसे अधिक चिह्न उड़ीसा के मंदिरों में मिले। खजुराहो के मंदिरों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। संभवतः नवीं शताब्दी में यह प्रवृत्ति देशव्यापी हो गई थी। दक्षिण के मंदिर भी इससे अछूते नहीं हैं।

भुवनेश्वर दो भागों में बँटा है—नया-पुराना। नया भुवनेश्वर उड़ीसा की राजधानी है। पुराना भुवनेश्वर मंदिरों का नगर है, जहाँ सौ से अधिक मंदिर हैं। सबसे प्रसिद्ध मंदिर लिंगराज का है जो ग्यारहवीं सदी में बना था। मंदिर 500 फीट लंबी और उतनी ही चौड़ी मोटी दीवार से घिरा है। मंदिर-मूर्ति भंजक मुसलमानों के आक्रमणों के बाद सुरक्षा की दृष्टि से मंदिर के चारों ओर प्राचीर, प्राकार, दीर्घाएँ बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था—सोमनाथ

मंदिर, काशी-विश्वनाथ मंदिर, अयोध्या-राम मंदिर के और मथुरा-केशव मंदिर के चारों ओर कोई दीवारें नहीं थीं; परिणामस्वरूप वे बहुत जल्दी और आसानी से विध्वंसक शक्तियों के शिकार बने। लिंगराज मंदिर लगभग डेढ़ सौ फ़ीट ऊँचा है। गर्भगृह में लगभग 8 फीट व्यास का शिवलिंग है, अनगढ़ प्राकृतिक प्रस्तर का। देव-प्रतिमाओं, भौतिक जीवन की मूर्तियों, नक्काशी के काम की यहाँ भी प्रचुरता है, पर कोणार्क देखने के बाद उन पर आँख नहीं जमती। सुदृढ़ता और गरिमापूर्ण अनुपात के लिए लिंगराज का मंदिर उड़ीसी कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है।

यहाँ से मैंने सींग की बनी एक छड़ी और शालभंजिका की एक पाषाण मूर्ति खरीदी—निशानी की तरह जो मेरे पास अब भी हैं।

भुवनेश्वर से लौटकर मैं सीधा दिल्ली आया। 'नीड़ का निर्माण फिर' को एक प्रकार से अंतिम रूप देकर गया था। मेरी अनुपस्थिति में सत्येन्द्र ने उसे पूरा पढ़ा और यत्र-तत्र सुधार के सुझाव दिए। मैंने प्रेस कापी तैयार की और पुस्तक छपने भेज दी गई। सत्येन्द्र ने प्रूफ़ आदि देखने में बड़ी मदद दी। 'नीड़ का निर्माण फिर' का विमोचन मेरे जन्मदिन पर मेरे प्रकाशक विश्वनाथ जी के घर पर हुआ दिल्ली के जाने-माने साहित्यकारों की गोष्ठी में। पुस्तक मैंने समर्पित की थी श्री आदित्य प्रकाश जौहरी और श्री ब्रजमोहन गुप्त को। श्यामा के देहावसान के बाद इन दो नवयुवकों ने मुझे बड़ी सहानुभूति और समझदारी दी थी। इस अवसर पर अमित बंबई से आए। 'रेशमा और शेरा' में उनका काम समाप्त हो चुका था और उन्हें ऋषिकेश मुकर्जी की फ़िल्म 'आनंद' के लिए अनुबंधित कर लिया गया था।

दिसंबर में दिल्ली में अफ्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस का चौथा अधिवेशन हुआ। उद्घाटन भाषण श्रीमती गांधी ने दिया था। उन्होंने लेखक की पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्ष लिया था जिसकी कि हमारे प्रजातंत्र में गारंटी है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि प्रतिभावान लेखक शासकीय प्रतिबंधों से कभी हत-प्रभ नहीं हुए। हर तरह के निज़ाम में लेखकों ने उच्च कोटि की रचनाएँ दी हैं—शायद सृजक अपने लिए जिस संसार की कल्पना करता है वह बाह्य संसार के अवरोधों से विचलित-विक्षत नहीं होता। उन्होंने कहा वे स्वयं लेखक नहीं हैं, पर लेखक होने की कामना उनके अंदर रही है, जो अब इसी रूप में संतुष्ट होती है कि जब उन्हें समय मिले तो कुछ अच्छा साहित्य पढ़ें। अफ्रीका तो नया-नया उभर रहा है, पर एशिया में साहित्य-काव्य-दर्शन की पुरानी परम्परा रही है। आधुनिकता की दौड़ में दोनों ज़रूर पिछड़ गए हैं और भविष्य में उन्नति-प्रगति के लिए दोनों के सामने प्राय: एक-सी समस्याएँ हैं। लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे जनजीवन से एक हों, उसे अभ्युदय-अभ्युत्थान की ओर प्रेरित करें।

इसी अधिवेशन में कतिपय और लेखकों के साथ मुझे लोटस पुरस्कार दिया गया। अपने देश में तो समालोचकों ने मेरी रचना में शायद ही कोई प्रगतिशील-तत्व देखे हों। एक तरह से यह पुरस्कार मेरे लिए भी अप्रत्याशित था। प्रगतिशीलता का दावा करनेवाले बड़े-बड़े धुरंधर पड़े हैं। मुझे तो एक तरह से प्रतिगामी या रिएक्शनरी समझा जाता है। इस पर मैंने एक शेर भी कहा था—

काबा ने मुझे कहके मुसलमान पुकारा,
हिंदोस्तान में मुझे काफ़िर कहा गया।

मुझे पुरस्कार देने के अनौचित्य पर कुछ कहा-लिखा भी गया था, जिससे मैं इतना क्षुब्ध हुआ कि अधिवेशन की किसी गोष्ठी में मैं कुछ नहीं बोला—केवल कवि सम्मेलन में कुछ कविताएँ सुनाई थीं जिन्हें—आप मुझे क्षमा करेंगे कहने के लिए—तथाकथित प्रगतिशीलों की रचनाओं से अधिक रुचि से सुना गया था।

'70 समाप्त हुआ।

'नीड़ का निर्माण फिर' का स्वागत इतनी सरगर्मी से न किया गया था जितनी से 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' का—जो एक तरह से नीड़ के उजड़ने की कहानी थी। नीड़ के उजड़ने की कहानी नीड़ के बसने की कहानी से जनसाधारण को क्यों अधिक प्रिय होती है, इस पर बहुत कुछ कहा गया है। पर यह मानव जीवन का बड़ा दर्दीला और शायद बड़ा नाज़ुक सत्य है। शैली ने कहा था—Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts. और बच्चन ने भी—शायद इसी से प्रेरित, शायद अपने अनुभव से भी लिखा था—

जिन गीतों में शायर अपना ग़म रोते हैं
वे उनके सबसे मीठे नग़मे होते हैं।

'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी' उतनी नहीं पढ़ी गई जितनी 'निशा-निमंत्रण, 'एकांत संगीत'। 'मधुशाला' भी शायद मस्ती से अधिक पस्ती का नग़मा है। '

पर जीवन की कहानी केवल ग़म की कहानी नहीं हो सकती और मैं एक साधारण से जीवन की कहानी लिख रहा था, फिर भी जीवन में रुचि लेनेवालों को यह 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' से कम रोचक नहीं लगी।

यह देखकर कि लोगों ने मेरे सरल-स्वाभाविक गद्य को पसंद किया है मैंने 'प्रवास की डायरी' प्रकाशित करने का निश्चय किया। नियमित गद्य लेखन के प्रयोग में यह मेरी पहली रचना थी। यह डायरी '52 में केम्ब्रिज में लिखी गई थी—आत्मकथा के दोनों भागों से 15 वर्ष पूर्व।

'प्रवास की डायरी' अगस्त '71 में प्रकाशित हुई।

इसे मैंने मार्जरी बोल्टन—'मधुशाला' की अंग्रेज़ी अनुवादिका और केम्ब्रिज में मेरी डिग में साथ रहनेवाली तीन फ्रेंच लड़कियों को समर्पित किया—मादमोज़ेल बोआज़ेन को, मादमोज़ेल ओदेत बुए और मादाम आंद्रे कोमे को। पेरिस जाने के पूर्व मैंने तीनों को पत्र लिखे थे, पर वे तीनों सुन्दरियाँ फ्रांस की रूमानी दुनिया में न जाने कहाँ खो गई थीं...

मेरे लिए '71 की—मेरी संसद सदस्यता के अंतिम वर्ष की—सबसे दुखकर और तरद्दुदकर घटना थी 'पंत के दो सौ पत्र' का प्रकाशन।

पंत जी से मेरी 30 बरस की मैत्री थी, जिस अवधि में उन्होंने मुझे लगभग 700 पत्र लिखे थे। मेरा अनुमान है मित्रता के स्तर पर इतने पत्र न तो पंत जी ने किसी और को लिखे होंगे और न मैंने प्रायः उतने ही किसी और को। मैंने उनके हर पत्र को सुरक्षित रखा था—यह मानकर कि पंत ऐसे सृजक को सम-

झने की आवश्यकता भविष्य समझेगा और उनके पत्रों के द्वारा उनके चरित्र का एक बड़ा स्वाभाविक और सच्चा रूप उद्घाटित हो सकेगा।

उनकी साठवीं वर्षगाँठ पर (1960 में) प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कवियों में सौम्य संत' के साथ मैंने उनके तब तक मुझे लिखे 127 पत्र भी प्रकाशित कर दिए थे, जिसके लिए मैंने उनकी लिखित अनुमति ले ली थी।

उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर यानी 1970 में मैंने 'पंत के सौ पत्र' और प्रकाशित किये थे—संग्रह का नाम उन्होंने ख़ुद सुझाया था, जैसा आगे उद्धृत एक पत्र से आप स्वयं देखेंगे।

उनकी इकहत्तरवीं वर्षगाँठ पर यानी 1971 में मैंने 'पंत के दो सौ पत्र' प्रकाशित किये।

इसपर पंत जी ने मुझको लिखा था कि संकलन में से 10 पत्र या तो निकाल दिये जाएँ या उनमें से कुछ अंश जो वे कहें हटा दिये जाएँ—पत्रों से उन अंशों को बिना निकाले पुस्तक बाज़ार में न आने दी जाय। (ये पत्र पुस्तक में पृष्ठ 134, 135, 142, 194, 197, 199, 218, 233, 242 और 265 पर हैं।)

मैं इसके लिए तैयार न था। मैंने उनको लिखा 'मेरी दृष्टि में पत्रों का महत्त्व इस बात में है कि वे जैसे लिखे गये हैं उनको उसी रूप में छापा जाए। आप पत्रों को 'सेंसर' करके छापने के पक्ष में हैं। आइए हम असहमत होने के लिए सहमत हों। अगर आपके पास मेरे पत्र पड़े हों और आप उन्हें कभी छपाना चाहें तो मैं कभी आप से नहीं कहूँगा कि पहले मुझे उन्हें सेंसर करने दीजिए। बच्चन के दाग, दोष, कमियाँ, त्रुटियाँ, शैतानियाँ संसार को मालूम ही हो जाएंगीं तो क्या ? न देगी दुनिया जो देती रही हो, बस न। (अगर) 'सौ पत्र' की कुछ बातों से कुछ लोग नाराज़ हो गए आपसे तो क्या बिगड़ गया आपका ? और दो सौ पत्रों से भी कुछ लोग बिगड़ेंगे तो आपका क्या बिगाड़ लेंगे।' (कचहरी में दी गई पंत जी की अपील से उद्धृत)

इससे नाराज़ होकर पंत जी ने अपने वकील के द्वारा, इलाहाबाद, ज़िला जज की कचहरी में मेरे खिलाफ मुकदमा दायर कर दिया, जिसमें उन्होंने कहा—कहा तो बहुत कुछ मेरे लिए अपमानजनक—उदाहरण के लिए वकालतनामे में मेरे नाम के आगे लिखा Father's name not known (पिता का नाम अज्ञात) जबकि 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' दो वर्ष पूर्व निकल चुकी थी, जिसे उन्होंने निश्चय पढ़ा था, और जिसकी प्रति उनकी आलमारी में रखी होगी। मैं मुद्दे की बातें दे रहा हूँ—

> कि 'पंत के दो सौ पत्र' उनकी साहित्यिक कृतियाँ हैं (literary works)
> कि उनपर उनका कापीराइट है,
> कि ये पत्र बिना उनकी अनुमति के छापे गए हैं; उन्हें छापने की जो अनुमति उन्होंने 1960 में दी थी वह सिर्फ़ 1960 तक के पत्रों के लिए थी,
> कि जो पत्र 'पंत के दो सौ पत्र' में छापे गए हैं वे '62 से '67 तक के हैं जिनके लिए पहली अनुमति लागू नहीं होती,

कि बच्चन ने पत्रों को प्रक़ाशित कर अवैध लाभ (unlawful profit) उठाना चाहा है,
कि प्रकाशन से जो लाभ हो उसके हक़दार सुमित्रानंदन पंत हैं, इसलिए क़चहरी की ओर से संकलनकर्ता (बच्चन) और प्रकाशक (सुरेन्द्रकुमार, प्रोप्राइटर, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली) पर यह स्थायी प्रतिबंध लगाया जाय कि वे पुस्तक बाज़ार में न बिकने दें। (A decree of permanent injunction restraining the defendants from selling or causing to sell the book entitled Bachchan Ke Nam Pant Ke Do Sau Patra.)

और, आगे वे सुमित्रानंदन पंत के कोई पत्र न तो प्रकाशित करें और न मूल पत्रों को किसी संग्रहालय को दें। (मैंने भूमिका में लिखा था कि 'मैं पंत जी के मूल पत्रों को किसी अच्छे संग्रहालय को देना चाहता हूँ यदि उनकी इसमें रुचि हो, साथ ही यदि वह उनको सुरक्षित रखने का आश्वासन दे सके)

मुक़दमा दायर करने और प्रतिबंध लगवाने की ख़बर पंत जी ने अखबारों में छपा दी -- उन्होंने मुझपर मुकदमा दायर कर दिया है, इसकी ख़बर मुझे पहले-पहल अख़बार से मिली। पढ़कर मैं बड़ा क्षुब्ध हुआ। तीसरे दिन मेरे पास कचहरी से सम्मन आ गया—इलाहाबाद ज़िला जज की कचहरी में फ़लाँ तारीख को हाज़िर होने का और वकील के द्वारा या ख़ुद कचहरी द्वारा पूछे गए सवालों का जवाब देने का।

निश्चित तिथि के तीन दिन पहले मैं इलाहाबाद गया। वहाँ मैंने अपने पूर्व शिष्य गोपीनाथ की सलाह से एक अच्छा वकील किया—गोपीनाथ स्वयं मेरा मामला न ले सकते थे, क्योंकि अब वे हाईकोर्ट के जज नियुक्त हो गए थे। पंत जी ने जो आरोप मुझपर लगाए थे उनपर मेरा कहना था कि 1960 में जो अनुमति उन्होंने दी थी वह केवल 1960 तक के पत्रों के लिए नहीं थीं, बाद के पत्रों के लिए भी थी। 1960 के बाद के पत्र तो 'पंत के सौ पत्र' में ही थे, पर प्रकाशन के साल भर बाद भी उन्होंने उसपर कोई आपत्ति न की थी। अगर यह मान भी लिया जाय कि अनुमति केवल '60 तक के पत्रों के लिए थी तो '70 के एक पत्र में उन्होंने अपनी अनुमति दुहराई थी और दो सौ पत्र केवल '62 से '68 तक के पत्र हैं। अनुमति देते समय न तो उन्होंने उन्हें संशोधित कर छपाने की शर्त लगाई थी और न अपने कापीराइट अधिकार से रायल्टी पाने की। फिर भी अगर वे रायल्टी चाहते हैं तो मैं देने के लिए तैयार हूँ। संशोधित कर पत्रों को छपाने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ और ख़ासकर तब जब वे स्वयं अपने पत्रों को अपनी 'साहित्यिक कृति' कहते हैं। हाँ, अगर वे चाहते हैं कि आगे मैं उनके पत्र न प्रकाशित कराऊँ तो मैं नहीं कराऊँगा, पर जब वे कहते हैं कि उसे किसी संग्रहालय को भी न दूँ तो वे शायद अपने अधिकार के बाहर की बात करते हैं, बहरहाल अभी मेरा इरादा उन्हें किसी संग्रहालय को देने का नहीं है, और इस संबंध में मैं पंत जी का आदेश मानने को बाध्य नहीं हूँ। ऊपर '70 के जिस पत्र का हवाला

दिया गया है वह ज्यों का त्यों इस प्रकार है—

18/बी-7, के० जी० मार्ग,
इलाहाबाद
12-2-70

प्रिय बच्चन,

बहुत दिनों बाद तुम्हारा पत्र पाकर प्रसन्नता हुई।

तुम मेरे पत्र जितने चाहो छपवा लो—शतपत्र से तो एक सौ एक पत्र या सौ पत्र अच्छा लगता है—या पंत जी के सौ पत्र—पर तुम्हें जा नाम ठीक लगे वही रखो—तुम तस्वीर खिचवाने के बहाने ही सही यहाँ आओगे यह जानकर प्रसन्न हूँ।

अपनी आत्मकथा का दूसरा भाग शीघ्र पूर्ण करो—वैसे जल्दी कुछ नहीं—तुम अभी मरनेवाले थोड़े हो—कुंडली में पूर्ण आयु है। यम के द्वार पर पहुँच भी जाओ तो यम तुम्हें दुनिया में धकेल देगा—कहेगा अभी तुम दिल्ली ही में रहो—वही आधुनिक यमपुरी है।

कोट के बारे में पढ़कर हार्ट फ़ेल होते-होते बचा। आशा है तेजी जी मेरे दिल के लिए कोई उपाय शीघ्र निकालेंगीं। दो जाड़े ठिठुरते हुए बीत गए हैं। आशा है तुम और तेजी प्रसन्न हो। दोनों को बहुत प्यार।

साईं दा

मेरे वकील ने मेरे आशय का एक affidavit (हलफ़नामा) बनाकर कचहरी में दाखिल कर दिया। पंत जी कचहरी में हाज़िर नहीं थे। Plaintiff (मुद्दई—वादी) के वकील ने, शायद उनके आदेश पर, मुक़दमे की सुनवाई की तारीख बदलवा दी। वकीलों के लिए ऐसा करना बाएँ हाथ का खेल है, पर इस से defendant (मुद्दालय—प्रतिवादी) को कितनी परेशानी होती है। बड़ा दुख होता था देखकर कि पंत जी की करतूत ने तीस बरस के दादा-भाई को 'मुद्दई-मुद्दालय' बना दिया था! इलाहाबाद के प्रति मेरे मन में जो कटुता थी उसमें पंत जी के व्यवहार ने एक तीखा काँटा और जोड़ दिया था।

इलाहाबाद की पेशी से लौटा तो तेजी ने समाचार दिया, बंटी का पत्र आया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि शा वैलेस कंपनी उन्हें शिपिंग में विशिष्ट प्रशिक्षण के लिए साल भर के कोर्स पर ब्रिमेन (जर्मनी) भेजना चाहती है, वे पानी के जहाज़ से जायेंगे और जहाज़ पर ही उनकी ट्रेनिंग शुरू हो जायगी, अगले मास विदा लेने के लिए दिल्ली आएँगे। हमें यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बंटी के काम से उनकी कंपनी खुश है और उन्हें इस योग्य समझती है कि उन्हें विदेश भेजकर उनको अपने विषय का विशिष्ट प्रशिक्षण दिलाए। इधर अमिताभ भी अपने क्षेत्र में आगे बढ़ रहे थे। 'रेशमा और शेरा' के बाद उन्हें हृषीकेश मुकर्जी ने 'आनंद' के लिए अनुबंधित कर लिया था और वे शूटिंग में व्यस्त थे। हमें अपने बेटों की प्रगति से बड़ा संतोष था।

थोड़े दिनों के बाद बंटी दिल्ली आए; उन्हें अपना बहुत-सा सामान दिल्ली छोड़ना था; विदेश के लिए कुछ खास सामान ले भी जाना था। उनके जाने के

साथ एक दुखद घटना जुड़ गई।

पिछले दस बरसों से हमारे पास एक सिडनी सिल्की कुतिया थी—छोटी सी, झबरी, बड़ी प्यारी—उसका अपना व्यक्तित्व था। हमने उसका नाम पिस्ती रखा था। निडर इतनी कि बड़े-बड़े कुत्तों से भिड़ जाए। कोई अजनबी बंगले में पाँव भर रखे, वह भूंक-भूंककर सारा घर सिर पर उठा लेती थी। पोस्टमैन-पुलिस की खाकी वरदी से उसे खास नफ़रत थी—उन्हें देखते ही उनपर टूटती थी। कभी उसका बदन सहलाना शुरू करो तो चाहती थी आप सहलाते ही जाइए; बंद कीजिए तो वह मुँह से संकेत करती थी—जारी रखो। खाने-पीने की बहुत शौकीन थी। खाने की टेबिल पर बैठो तो कुर्सी के पास आकर बैठ जाती थी, पाँव चाटती थी, खुशामद—मुझे भी दो!—आइसक्रीम, कुल्फ़ी, मिठाई आदि उसे बड़ी प्यारी थी—किसी को टेबिल पर खाते देखती तो आधी-खड़ी हो मुँह ऊपर उठाती माँगने के लिए, ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ आवाज़ भी निकालती थी। मैं उसे प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी' कहता था। बंटी को वह बहुत प्यार करती थी। बंटी शेरवुड चले जाते तो वह कई दिन अनमनी रहती—बड़े-बड़े आँसू रोती। स्कूल से वे लौटते तो उन्हें चाट-चाटकर हैरान कर देती। बंटी तो उसे अपने पास ही सुलाते। समझदार भी बहुत थी। कभी बीमार पड़ती तो घर से बाहर बाग में जाकर छिप रहती—जैसे चाहती कि उसकी वजह से किसी को तकलीफ़ न हो। हम उसे ढूंढ़-खोजकर घर में लाते—उसका इलाज कराते। पटाखों से बहुत डरती थी। एक दीवाली पर तो उसने हमें बहुत परेशान किया। पटाखों की आवाज़ से घबराकर वह भागी, हमने सोचा घर के किसी कोने में या बाग में या सर्वेन्ट क्वार्टर में जा छिपी होगी। कोना-कोना हमने छान मारा—पिस्ती का कहीं पता नहीं! दूसरे दिन जब मोटर निकाली तो वह मोटर के अंदर सीट के नीचे छिपी बैठी मिली। बंटी जिस दिन जानेवाले थे, तेजी ने उसके बदन पर ब्रश कर उसे साफ़-सुथरा-सुन्दर बना दिया था, गले में रिबन बाँध दिया था। बंटी जिस दिन गए पिस्ती ग़ायब हो गई—फिर उसका पता न लगा। हमने घर-बाहर बहुत खोजा, पत्रों में विज्ञापन निकाला, पर वह न मिली। दस से ज्यादा बरस की थी; अपनी उमर एक तरह भोग चुकी थी, इतनी ही उमर होती है इस जाति के कुत्तों की। पिस्ती को जैसे आभास हो गया कि अब बंटी के लौटने तक वह नहीं जीनेवाली—वह अब उनको फिर न देख सकेगी—इसी ग़म में वह कहीं निकल गई और शायद कहीं छिप अनशन कर उसने अपने प्राण दे दिये। जिस तरह पिस्ती लुप्त हुई उसने हमें बहुत दुखी किया। उसके बाद फिर हमने कोई कुत्ता नहीं पाला।

इस बीच पंत जी ने एक चाल चली—शायद अपने वकील की सलाह पर।

सन्मार्ग प्रकाशन के प्रोप्राइटर सुरेन्द्रकुमार के पिता प्रेमनाथ को इलाहाबाद बुलाकर उनसे एक समझौतानामा लिखा लिया, जिसके अनुसार प्रेमनाथ ने वादा कर लिया कि वे 'पंत के दो सौ पत्र' से वे अंश निकाल देंगे जो पंत जी कहेंगे।

इस आधार पर पंत जी ने मुकदमा वापस लेने की अर्ज़ी कचहरी में दे दी।

मेरे वकील ने यह आपत्ति की कि प्रतिवादी ने (यानी मैंने) अनुबंध सुरेन्द्र-

कुमार से किया था, प्रेमनाथ से नहीं, इसलिए वह समझौतानामा की शर्तें मानने के लिए बाध्य नहीं है। इसपर भी पंत जी ने—शायद अपने पक्ष की दुर्बलता देखकर—मुकदमा वापस लेने का ही फ़ैसला किया।

फलस्वरूप 'पंत के दो सौ पत्र' से एक अक्षर नहीं हटाया गया, वह पुस्तक जिस रूप में छपी थी उसी रूप में बिकती रही। मेरी यह कोई विजय नहीं थी। मैं एक बहुत बड़ी चीज़ हार गया था—पंत ऐसा आत्मीय। शायद पंत जी को भी आभास हुआ हो कि मुक़दमे के अलावा वे कुछ और हार गए थे जिसके लिए उन्हें मुक़दमा हारने से कहीं अधिक पश्चाताप था। ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने मुझसे बताया था कि जब उन्होंने पंत जी से इस विषय पर चर्चा चलाई तो उन्होंने कहा था, 'I committed suicide.' नियति ने दो कवियों के बीच यह कैसा जुआ खेला दिया था कि दोनों हार गए थे।

अक्टूबर में इंडियन एयरलाइन्स के एक जम्बो की पहली उड़ान पर तेजी को अतिथि रूप में आमन्त्रित किया गया। ऐसी प्रथा है कि जब इंडियन एयर-लाइन्स या एयर इंडिया में कोई नया जहाज़ आता है तो उसकी पहली उड़ान पर कुछ जाने-माने लोगों को निःशुल्क यात्रा करने को आमंत्रित किया जाता है। जम्बो की यह उड़ान न्यूयार्क तक की थी। तेजी न्यूयार्क तक गई। लौटते समय वे थोड़े दिन के लिए लंदन रुकीं, ओंकार-कीर्ति उस समय तक वहाँ पहुँच गए थे। उनको साथ लेकर वे केम्ब्रिज भी गईं—वहाँ केम्ब्रिज के मेरी रिसर्च के सुपरवा-इजर डा० हेन और उनकी पत्नी से मिलीं। लौटते समय पेरिस और रोम देखती दिल्ली लौटीं। पेरिस में बंटी ब्रिमेन से आकर उन्हें मिला, और माँ-बेटे ने साथ पेरिस देखा। रोम में सोनिया गांधी के मायके वालों ने तेजी की बड़ी आवभगत की और रोम देखने में उनकी मदद की। बड़े संतोष से लौटीं कि दुनिया के चार बड़े नगर देख आईं—न्यूयार्क, लंदन, पेरिस, रोम—हफड़ा-दफड़ी की यात्रा से स्वास्थ्य खराब हो गया था—बहुत कमज़ोर लौटीं—जान बची लाखों पाए, घर के बुद्धू घर को आए।

आठवें दशक के पहले वर्ष की कुछ घटनाओं का स्मरण मैंने किया, पर शायद उसकी सबसे स्मरणीय घटना थी अमिताभ का कई फिल्मों में परदे पर आना। अब फिल्म क्षेत्र में अमिताभ की प्रगति हमारा सबसे अधिक ध्यान आकर्षित कर रही थी। परदे पर आनेवाली उनकी हर तस्वीर की हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते, बड़ी उमंग से देखते और बड़ी आशा से उनके भविष्य की कल्पना करते।

'सात हिंदुस्तानी' के बाद परदे पर आनेवाली उनकी दूसरी तस्वीर थी 'रेशमा और शेरा'। जैसा कि पहले कह चुका हूँ, इसमें उनकी भूमिका शेरा के सबसे छोटे गूँगे भाई की थी, गो वह कहानी की दृष्टि से कम महत्त्व की न थी। उसमें बिना बोले हुए केवल मुद्राओं से अमित ने अपने अंदर अभिनय-क्षमता का अच्छा सबूत दिया था। तस्वीर वह बहुत नहीं चली।

तीसरी फिल्म जिसमें अमिताभ परदे पर आए वह थी हृषीकेश मुकर्जी की 'आनंद', जिसमें राजेश खन्ना ने हीरो का पार्ट किया था—राजेश खन्ना की

गिनती उन दिनों सुपर स्टार में होती थी, पर डाक्टर मोशाय के रूप में अमिताभ की भूमिका हीरो के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इस फिल्म में अमिताभ का काम इतना पसंद किया गया कि वे जनता में 'बाबू मोशाय' के नाम से याद किए जाने लगे। सार्वजनिक स्थानों में जहाँ भी वे देखे जाते, जनता 'बाबू मोशाय' के नाम से उन्हें पुकार उठती। हमें तो वह तस्वीर इतनी अच्छी लगी—उसमें भी विशेषकर अमित का अपना व्यक्तित्व लिए अभिनय—कि वह फ़िल्म तेजी और मैंने कम-से-कम दस बार देखी—कई बार तो कई-कई मित्रों के साथ।

'प्यार की कहानी' परदे पर आनेवाली अमित की चौथी तस्वीर थी, पर वह पहली तस्वीर जिसमें अमिताभ ने नायक की भूमिका अदा की थी। उसके प्रीमियर के लिए अमित ने हमें विशेष रीति से बुलाया था और हमें सन ऐंड सैंड होटल में ठहराया था। दुर्भाग्यवश वह तस्वीर नहीं चली। उस समय हमने 'परवाना' और 'बाम्बे टु गोवा' के कुछ भागों का ट्रायल भी देखा था, जिनकी आंशिक सफलता के बाद अमित की असफल फिल्मों का एक सिलसिला ही चल पड़ा था।...पर वह असफलताएँ नहीं थी, वे आगे आनेवाली सफलता की नींव की ईंटें थीं—

> In the lexicon of youth, which fate reserves
> For a bright manhood, there is no such word
> As Fail...
>
> —Lord Lytton

> (नवयौवन के शब्दकोश में, जिसे भाग्य ने
> उज्ज्वल प्रौढ़ावस्था में परिवर्तित करने
> को संरक्षित कर रखा हो, कोई ऐसा
> शब्द नहीं है—असफल (जिसका उच्चारण हो)
>
> —लार्ड लिटन

●●

दूसरा पड़ाव

(1971-1983)

"Few people realise when they see a picture of mine, that it is a phial of my blood which I have poured upon the canvas while painting it."

—P. Picasso

"मेरा चित्र देखकर बिरले ही कल्पना कर पाते हैं कि यह मेरा एक शीशी रक्त है जिसे फलक पर उँडेलकर मैंने इसे उरेहा है।"

—पी० पिकासो

राज्य सभा की मानद सदस्यता मुझे 2 अप्रैल को छह वर्षों के लिए दी गई थी; वह 2 अप्रैल 1972 को समाप्त होनेवाली थी। सदस्यता की सूचना मुझे देते समय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने मुझसे कहा था, अवधि समाप्त होने पर तुम्हें दुबारा और छह वर्षों के लिए यह मानद सदस्यता दी जा सकती है, मैथिलीशरण गुप्त और कई लोग 12-12 वर्ष तक राज्य सभा के सदस्य रह चुके हैं...। राज्य सभा की सदस्यता के दौरान मैंने अपना विशेष ध्यान गद्य लिखने की ओर लगाया था, हालाँकि उसी बीच मैंने अपने अंतिम चार काव्य संग्रहों की कविताएँ भी लिखी थीं और शेक्सपियर के दो नाटकों के अनुवाद भी पूरे किए थे। परिणामस्वरूप मेरी आत्मकथा के दो भाग—'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' और 'नीड़ का निर्माण फिर' प्रकाशित हुए थे; साथ ही केम्ब्रिज में लिखी डायरी भी मैंने संशोधित, संपादित कर प्रकाशित कर दी थी और आगे भी आत्मकथा का शेष भाग लिखने के अतिरिक्त गद्य लेखन की कई अन्य योजनाएँ मेरे मन में थीं, जो मेरी कल्पना थी, राज्यसभा की सदस्यता दुबारा मिलने पर मैं आसानी से पूरी कर सकूँगा। मनोनीत सदस्यों से संसद की राजनैतिक हलचलों में सक्रिय भाग लेने की न तो प्रत्याशा की जाती थी और न मुझमें क्षमता थी; मेरे सहयोगी भी, जिनमें ऐसी क्षमता थी, प्रायः सदन में मूक श्रोता बनकर बैठे रहते थे; इस प्रकार सदन में हाज़िरी देने के अतिरिक्त हमारा कोई दायित्व न समझा जाता था, हाँ, जब सदन में किसी महत्त्व के विषय पर वोटिंग होती थी तब हमारा वहाँ उपस्थित रहना आवश्यक होता था, वोट चाहे हम पक्ष में दें, चाहे विपक्ष में, चाहे न भी दें। संसद संबंधी कोई कार्यभार मस्तिष्क पर न होने से मैंने मुक्त भाव से सृजनात्मक लेखन का काम उठा लिया था, विशेषकर गद्य का, और उसका जिस प्रकार स्वागत हो रहा था उससे मैंने अपने आप को संतुष्ट कर लिया था कि मैं अपने समय और शक्ति का कुछ सदुपयोग तो कर ही रहा हूँ और मन में कहीं सरकार के प्रति कृतज्ञता का भाव भी था कि उसकी कृपा से मुझे ऐसा अवसर मिला था कि सब तरफ़ से निश्चिंत होकर मैं अपने रचनात्मक कार्य में अपने को पूरी तरह दे सकूँ। और यह 'अपना' भी कितना था? क्या देश को अच्छा साहित्य देना देश-सेवा ही नहीं है? सृजन में लगा हुआ मन

भावुक, कल्पनाशील और स्वप्नदर्शी हो जाता है। जैसे-जैसे मेरी राज्यसभा-सदस्यता की अवधि के समाप्त होने का समय निकट आता जाता, वैसे-वैसे मेरे मन में यह विश्वास दृढ़ होता जाता कि किसी-न-किसी स्रोत से अपनी रीति से 'देश-सेवा' का जो कार्य मैं कर रहा हूँ उसकी खबर प्रधान मंत्री और राष्ट्रपति को मिल जाएगी और वे मुझे इस कार्य को करते जाने के लिए दुबारा राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत कर देंगे। इसके लिए उनसे प्रार्थना करने या कहने में मुझे संकोच था। शायद मैं अपने सृजन को और सर्जक के स्वाभिमान को भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे रहा था। इतना मैंने अवश्य किया था कि प्रकाशित होने पर मैंने अपनी आत्मकथा के दोनों भाग और 'प्रवास की डायरी' प्रधान मंत्री को भेंट कर दी थी, पर ऐसा तो मैं अपनी हर रचना के साथ करता था, हालाँकि मैं यह जानता था कि उन्हें अपने व्यस्त जीवन में कहाँ इतना समय मिलेगा कि वे मेरी पुस्तकों को पढ़ें या उलटें-पलटें भी। पुस्तकें उन्हें देकर मैं आश्वस्त हो गया था कि वे कम-से-कम इससे अनभिज्ञ तो न होंगी कि अपनी राज्यसभा-सदस्यता के वर्षों में मैं क्या-कुछ करता रहा हूँ—उसके महत्त्व को वे न समझें तो भी।

पर भविष्य के मेरे इस सुखद स्वप्न को भारी धक्का लगना था।

दिसंबर में प्रधान मंत्री के निजी सचिव श्री बिशन टंडन मेरे पास आए, बोले, आपसे कुछ गोपनीय बातें करनी हैं—चार महीने बाद आपकी राज्यसभा सदस्यता समाप्त होगी। कैबिनेट ने ऐसा निर्णय किया है कि आगे से राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यसभा के सदस्यों को दुबारा मनोनीत न किया जाएगा। यह नियम आप पर और आपके साथ मनोनीत सभी सदस्यों पर लागू होगा।

इतना कहकर वे चुप हो गए, जैसे मेरे चेहरे से यह भाँप रहे हों कि मुझपर इस समाचार की क्या प्रतिक्रिया होती है। स्वाभाविक है कि यह खबर मेरे लिए सुखद तो नहीं थी; निर्णय जिस रूप में मेरे सामने रखा गया था उसके बदलवाने की संभावना भी नहीं थी—प्रधान मंत्री का निर्णय होता तो उसे बदलवाने का कुछ प्रयत्न किया जा सकता था, पर कैबिनेट का निर्णय—'विधि का लिखा'। एक ढर्रे पर चलती हुई ज़िंदगी अगर एकाएक ऐसी जगह पर पहुँच जाए, जहाँ से सिर्फ़ रास्ता ही न बदलना हो, बल्कि सवारी भी बदलनी पड़े तो एक बार हाथ-पाँव ढीले हो ही जाएँगे। पिताजी की कही एक बात याद आई, कुछ अप्रत्याशित घटित होने पर आदमी जिस प्रकार का व्यवहार करता है, वही उसके आत्म-बल की सच्ची परख करता है। मन कड़ा करके मैंने अपने को संबोधित किया, विधि के विधान को स्वीकार करो; दिल्ली अब छूटी, गुलमोहर कालोनी में तुमने एक प्लाट अपने नाम कराया था पर उसपर मकान नहीं बनवा सके, आग लगने पर कुआँ नहीं खोदा जा सकता, इलाहाबाद लौट चलो, जहाँ से दिल्ली आए थे, वहाँ पिताजी का बनवाया मकान खड़ा है, सिर छिपाने के लिए। राम—अपने भांजे—के हाथ उसे बेचते हुए मैंने यह शर्त रखी थी कि अगर मुझे कभी ज़रूरत पड़ी तो वे मकान मुझे लौटा देंगे, निश्चय ही क़ीमत चुकाने पर या समुचित किराया देकर मैं उसके आधे हिस्से में रह सकूंगा। रायल्टी किताबों की जितनी मिलती है उससे दो प्राणियों की गुज़र-बसर आसानी से हो सकेगी। भगवान को धन्यवाद दो तुम्हारे कोई लड़की ब्याहने को नहीं है, प्रभात (स्वर्गीय

छोटे भाई के लड़के) राउरकेला में व्यवस्थित हैं; अजिताभ का काम शा वैलेस में इतना अच्छा माना गया है कि कम्पनी की तरफ़ से शिपिंग में विशिष्ट ट्रेनिंग लेने के लिए उन्हें जर्मनी भेजा गया है; अमिताभ फिल्मी क्षेत्र में अपने पैर जमा रहे हैं...ये सारी बातें शायद एक मिनट से भी कम में मेरे दिमाग़ के पर्दे पर चमकीं और ग़ायब हो गईं। एक क्षण को मेरे चेहरे पर तनाव आया और फिर मैं सामान्य हो गया।

टंडन कह रहे थे...'पर आपके लिए एक ख़ुशखबरी भी है।'

प्रधान मंत्री दिल्ली में ही आपको एक दूसरी तरह का काम देना चाहती हैं जो आपकी रुचि के अधिक अनुकूल होगा, और जिसकी मासिक आय आपकी वर्तमान आय से तिगुनी नहीं तो दूनी तो अवश्य होगी; आप विदेश मंत्रालय में दस बरस हिंदी का काम देखते रहे हैं; अब आप केन्द्रीय हिंदी समिति के सचिव का पद सँभालें जिसपर दिनकर जी 5-6 वर्ष काम करने के बाद रिटायर किए जा रहे हैं; उन्हें आगे एक्सटेंशन नहीं दिया जाएगा। कृपया इसको अपने तक ही रखें—आप इस पद पर अगले पाँच-छः वर्षों तक रह सकते हैं, हिंदी का काम आगे और फैलेगा और आपकी योग्यता और अनुभव से यह काम अधिक सुचारु रूप से चल सकेगा।...'

जीवन के लिए जीविका का कितना महत्त्व है इसे बताने की ज़रूरत नहीं। हमारी अवधी की एक कहावत में तो जीविका को जीवन से भी अधिक महत्त्व दिया गया है—'जिउ जाय, जीविका न जाय'। एक प्रकार की जीविका की समाप्ति पर दूसरे प्रकार की जीविका के आश्वासन से मेरे मन को जो राहत मिलनी थी वह मेरे चेहरे पर झलक उठी होगी; पर वह ज़्यादा देर न ठहर सकी।

स्वार्थ अंधा होता है। मुझे राधा बाबा की कही एक बात याद आ गई—जब किसी मनुष्य का स्वार्थ सिद्ध होता है तब प्रायः किसी का स्वार्थ असिद्ध होता है। जब कभी ऐसा अवसर आये तो रुको और सोचो कि तुम्हारा स्वार्थ किसी दूसरे के स्वार्थ की क़ीमत पर तो नहीं सिद्ध हो रहा है। दिनकर की शक्ल मेरे सामने आ गई। मैं एक मिनट कुछ सोचता रहा, फिर बोला; टंडन अब भी मेरी प्रतिक्रिया जानने की प्रतीक्षा में थे।

मैंने कहा, प्रधान मंत्री जी को मेरी ओर से बहुत-बहुत धन्यवाद दें कि उन्होंने राज्यसभा की मेरी सदस्यता समाप्त होने पर मुझे एक अच्छा काम देने की बात सोची, पर जिस पद से दिनकर हटाए जा रहे हों उसे स्वीकार करने में मुझे बहुत संकोच होगा। पहली बात, दिनकर मुझसे उम्र में छोटे हैं; अगर मैं उनसे उम्र में छोटा होता तो उनके अवकाश प्राप्त करने पर उनकी जगह काम करने को बुलाए जाने को मैं अपने लिए गौरव की बात समझता। विपरीत परिस्थिति में दिनकर ही क्यों अपने पद पर बरक़रार नहीं रखे जा सकते। जहाँ तक कार्य के लिए योग्यता-क्षमता का प्रश्न है, दिनकर में मुझसे अधिक ही है, कम तो किसी हालत में नहीं। दूसरी बात, दिनकर सोच सकते हैं, और शायद और लोग भी, कि बच्चन को किसी काम से लगाना था, इसलिए दिनकर को हटाया गया; दिनकर यह भी सोच सकते हैं कि उनके हटाए जाने में संभवतः मैंने ही कोई भूमिका अदा की हो। दिनकर के मन में इस प्रकार का

संदेह भी उठे तो उनकी-अपनी चालीस बरस की मैत्री पर मैं एक कलंक ही समझूंगा। कुछ ही दिन पहले, शायद अपनी ही ग़लतफ़हमी से मेरे एक मित्र ने मुझसे अपना संबंध तोड़ लिया था, जिससे मैं बहुत मर्माहत हुआ था, अब दूसरे मित्र से टूटने का ख़तरा उठाने को मैं किसी तरह तैयार न था।

टंडन जाते-जाते कह गए, मैं आपके विचार प्रधान मंत्री तक पहुँचा दूंगा, पर इसे मैं आपका अंतिम उत्तर नहीं समझता; सोचने-विचारने के लिए अभी काफ़ी समय है।

तेजी को मैंने इस प्रसंग से अवगत किया तो उन्हें अपने से सहमत पाया, पर दिल्ली से उखड़ने की कल्पना उन्हें चिंतित और उदास कर गई। थोड़ी देर चुप रहकर वे बोलीं···काश हमने गुलमोहर पार्क के अपने प्लाट पर एक छोटा-सा मकान बनवा लिया होता !

मैंने कहा, 'बनवाना तो तुम्हीं को था, मैं तो शब्दों का ही मकान बनाने में लगा रहा; नहीं समझा था कि इतनी जल्दी ईंट-पत्थर के मकान की भी ज़रूरत आ पड़ेगी। फिर मैं एक वहम का शिकार था; प्लाट तो हमने ले लिया था, पर मुझे लगता था कि मकान तो उस पर कभी अमिताभ-अजिताभ ही बनवाएँगे। राधा से सुनी एक बात माँ ने कभी मुझ से बताई थी कि हमारे परिवार की यह परंपरा है कि एक पीढ़ी मकान बनाती है, दूसरी उसी में रहती है—तीसरी फिर मकान बनाती है—मिट्ठूलाल के बाबा ने मकान बनवाया था, पिता ने नहीं, मिट्ठूलाल ने मकान बनवाया, भोला नाथ ने नहीं, प्रताप नारायण ने मकान बनवाया, अब परंपरा के अनुसार मुझे मकान नहीं बनवाना है...

तेजी व्यंग्य से मुस्कराईं, 'पालन करने को एक यही परंपरा रह गई थी, कितनी परंपराएँ तो तुम तोड़ चुके हो।...'

दिल्ली में एक मकान बनाकर यहीं स्थायी रूप से रहने की मेरी कामना थी; प्लाट इसी ध्येय से लिया था। मकान न बनवा सकने की एक व्याख्या देने के लिए मैंने अपनी स्मृतियों के खंडहर से एक ईंट भर निकाल ली थी, जिससे अधिक से अधिक शिलान्यास की रस्म अदा की जा सकती थी !

दिल्ली में एक अजीब आकर्षण है। कितने-कितने लोग दिल्ली आने को लालायित रहते हैं। कितने ही लोग कोशिश करके भी नहीं आ पाते। उनके लिए दिल्ली दिमाग में चक्कर लगानेवाले एक स्वप्न-सी बनकर रह जाती है। मुझे अपनी एक कविता की कुछ पंक्तियाँ याद आ गई हैं :

> "दुनिया को देखे हुए तजुर्बेकारों से -
> मैंने ऐसा सुन रक्खा है,
> दिल्ली, मंज़िल का नाम नहीं,
> वह सिर्फ़ मार्ग, पथ, चक्कर है
> जिनपर चलकर, फेरे देकर
> बहुतेरे होते लस्त-पस्त,
> पर उनपर करती व्यंग्य
> प्रतिध्वनि एक सुनाई देती है—
> 'दिलदारो दिल्ली दूर अस्त !'—"

जो आ गए फिर वे यहाँ से जाना नहीं चाहते। यहीं बस जाना चाहते हैं। जाना ही पड़ा तो उनको यह जाना बहुत अखरता है। मैथिलीशरण गुप्त दो बार नामांकित होकर राज्यसभा के सदस्य के रूप में बारह वर्ष दिल्ली रहे। चाहते थे तीसरी बार भी उनका नामांकन हो जाए। पर नहीं हुआ। दिल्ली से जाते समय बहुत ख़ुश नहीं थे। भगवती बाबू ने अपने ख़ास लहज़े में एक दिन मुझसे कहा, 'मैथिली बाबू दिल्ली से बहुत कलपि के गे—'। बिहार की विधान सभा से राज्यसभा के लिए दो बार चुने जाकर दिनकर भी बारह बरस दिल्ली रहे। तीसरी बार वे नहीं चुने गए तो उन्हें दिल्ली छोड़नी पड़ी; भागलपुर युनिवर्सिटी की वाइस-चांसलरी उन्हें मिल गई। पर उनका मन दिल्ली के लिए उचाट रहने लगा और वे वाइस-चांसलरी छोड़ केन्द्रीय हिंदी समिति के सलाहकार के रूप में 6 वर्ष के लिए फिर दिल्ली आ टिके। जब वह भी समाप्त हुई तो उन्होंने, सुना है, राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के लिए नामांकित होने का बहुत प्रयत्न किया। किसी कारण सफलता न मिली। पर किसी न किसी बहाने वे रह-रहकर दिल्ली का फेरा लगाते ही रहे।

मैं कभी-कभी सोचने का प्रयत्न करता हूँ कि दिल्ली के इस आकर्षण का रहस्य क्या है।

दिल्ली देश की राजधानी है और राजधानी के प्रति सदा से सब देशों में लोगों का आकर्षण रहा है—व्यापारियों का, राजनीतिज्ञों का, कलाकारों का, साहित्यकारों का, अख़बारनवीसों का, जीवन के प्रायः हर क्षेत्र के महत्त्वाकांक्षियों का। सोलहवीं शताब्दी में संतों ने ज़रूर एक अपवादी स्वर उठाया—'संतन को कहा सीकरी सों काम'। पर बीसवीं शताब्दी में तो संतों ने भी 'सीकरी' में अच्छे-ख़ासे अड्डे जमा लिए हैं। पहले 'साधु समाज' की एक आलीशान इमारत नगर की एक सड़क पर दिखाई देती थी—सुना 'समाज' गुलज़ारी लाल नंदा के संरक्षण में बना था। पर अब तो स्वामी मुक्तानंद, सत्त साईं बाबा, भगवान रजनीश, महेश योगी, ब्रह्म कुमारी, धीरेन्द्र ब्रह्मचारी और कितनों-कितनों के मठ, आश्रम, संस्थान स्थापित हो गए हैं। इनके पीछे हमारे देश की एक मानसिकता है जो पुरानी परंपराओं से जुड़ी है। पर पुरानी परंपराओं से पिंड छुड़ा जो आधुनिक बनने के संघर्ष में हैं उनके लिए भी दिल्ली कम आकर्षक नहीं है। आज़ादी मिलने के बाद दिल्ली बड़ी तेजी से एक औसत नगर से महानगर में परिवर्तित हो गई है और दिल्ली की इस महानगरीयता ने उसके सांस्कृतिक वातावरण को बदल ही नहीं दिया, विश्रृंखल भी कर दिया है। जब उस्ताद ज़ौक ने कहा था, 'कौन जाए ज़ौक अब दिल्ली की गलियाँ छोड़कर' तब दिल्ली की गलियों की एक ख़ास तहज़ीब थी; आधुनिक दिल्ली की सड़कों की कोई तहज़ीब नहीं, कोई संस्कृति नहीं। और यह नकारात्मक वातावरण उन लोगों को बहुत अनुकूल पड़ता है जो समाज की जकड़बंदियों से छूट युगीन स्वतंत्रता का लाभ उठा जीवन के नये प्रयोग करना चाहते हैं। गाँवों, कस्बों, छोटे नगरों से दिल्ली जैसे महानगर की ओर बढ़ने वालों में ऐसों की संख्या कम नहीं है।

कई साल हुए मैंने रघुवीर सहाय लिखित एक पुस्तक पढ़ी थी 'दिल्ली मेरा परदेस'। शीर्षक से ऐसा लगता है जैसे कोई देश से दूर परदेस में पड़ा अपने देश

लौट जाने के लिए तड़प रहा हो। दिल्ली रहते मुझे भी लगभग तीन दशक होने को आते हैं। मुझे ऐसे लोग, कम से कम बुद्धिजीवियों में बिरले ही मिले हैं जो दिल्ली का 'परदेसीपन' जीने-भोगने के बाद देश वापस जाने को लालायित हों। हमारी तरफ़ एक कहावत कही जाती है 'देस चोरी, परदेस भीख'। इसका मतलब समझे? यानी जो काम देस में चोरी-चोरी किया जाता है उससे हेय काम भी परदेस में खुलकर किया जा सकता है। मेरे सामने कई उदाहरण हैं और खासे जाने-माने लोगों के, जहाँ उन्होंने दिल्ली में या दिल्ली जैसे महानगर में आकर ऐसा कुछ किया है जो छोटे नगर में वहाँ के पारिवेशिक दबाव के कारण शायद ही कर पाते। महानगरीय संत्रास को आधुनिक कवियों ने बहुत गाया है—मैं भी अपनी एक कविता में इसका गुनहगार हूँ—पर महानगर व्यक्ति को जो स्वतंत्रता देता है उसकी ओर लोगों ने कम ही ध्यान दिया है—किसको पड़ी है कि देखे, जाने, पूछे-पछोरे कि आप क्या करते हैं। अपनी पारिवारिक, जातिगत, समाजगत, संस्थागत लीकपीटू बाध्यताओं से जो मुक्ति दिल्ली जैसे विराट नगर में आकर मिलती है उसकी महत्ता कम नहीं आँकी जानी चाहिए, विशेषकर ऐसे समय में जब हमारा देश मध्ययुगीन संस्कारों को झाड़कर आधुनिक बनने की प्रक्रिया से गुज़र रहा है। यह तो ऊँचे तबक़े वालों की बात हुई। दिल्ली नीचे तबक़े वालों को भी खींचती है। मेरे एक मित्र थे जगजोतस्वरूप माथुर, दिल्ली के पुराने बाशिंदे; उन्होंने मुझसे एक बार बताया था कि हमारे यहाँ कहा जाता है कि 'दिल्ली बड़ी ग़रीबपरवर है।' अगर बेरोज़गारों की गणना की जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए यह देखकर कि छोटे-छोटे नगरों की अपेक्षा दिल्ली में बेरोज़गारों की संख्या अनुपाततः बहुत कम है। वजह शायद दो हैं—एक तो यह कि बहुआयामी विकासशील नगर में बहुत तरह के काम मिल सकते हैं, दूसरी यह है कि दिल्ली का जीवन-स्तर इतना मँहगा-ऊँचा है कि जो यहाँ काम नहीं पा सकेगा वह यहाँ से भाग खड़ा होगा। बहरहाल कई सूरतों में दिल्ली का आकर्षण समझने योग्य है। अवकाशप्राप्त लोग दिल्ली आकर शायद ही बसना चाहें, पर जो दिल्ली में काम कर अवकाश प्राप्त करते हैं वे यहीं बसे रहते हैं, प्रायः वे अपने कार्यकाल में अवकाशप्राप्त होने पर यहाँ बसने की जुगत बिठा लेते हैं। इतनी व्यावहारिक दूरंदेशी कविवर बच्चन में कहाँ!

पिछले छः वर्षों में जो सृजन संबंधी काम मैंने किया था उसने मुझे बहुत थका दिया था और अब यह चिंता तलवार बनकर सिर पर लटक रही थी—चार महीने बाद मुझे कहाँ जाना है, क्या करना है। कभी आँखों के सामने इलाहाबाद का अपना घर आता; अपना अब उसे न कहना चाहिए, राम का घर और कभी बंबई का अमित का छोटा-सा घर जो उन्होंने किराये पर ले रखा था। इलाहाबाद लौटने का ख्याल आते ही मेरे मन में ऐसी भावना उठती जसे मैं शरणार्थी की लाचारी से वहाँ जा रहा हूँ। और बंबई जाने का ख्याल आते ही मन में प्रश्न उठता कि अमित जब फ़िल्म क्षेत्र में अपने भविष्य के प्रति आशंकित जैसे-तैसे गुज़ारा कर रहे हैं तब उनपर और दो प्राणियों का भार डालना कहाँ तक उचित होगा। तेजी की ओर ध्यान जाता तो लगता न उनको इलाहाबाद का जीवन अनुकूल पड़ेगा, न बंबई का। इलाहाबाद जाने को विवश

होना पड़ा तो मैं तो फिर भी किसी तरह वहाँ के परिवेश से समझौता कर लूँगा, आखिर मेरे जीवन के पहले तीन दशक उसी वातावरण का ऊँच-नीच भोगते हुए बीते थे; पर तेजी के लिए वहाँ के पास-पड़ोस के रहन-सहन से अपने रुचि-रस की पटरी बिठालना बहुत मुश्किल होगा। बंबई में, बरसों से बेटे से दूर रहने के बाद, उसके साथ रहने का सुख उन्हें ज़रूर होगा पर वहाँ की नम आबोहवा में उनका दमे का कष्ट बहुत बढ़ जाएगा। और अमित को माँ की बीमारी की चिंता ऊपर से लग जाएगी। तेजी अपने कारण अमित को चिंतित देखना किसी हालत में बरदाश्त न कर सकेंगी, विशेषकर ऐसे समय जब अमित अपने भविष्य के प्रति संदिग्ध, प्राण-पण से एक नए क्षेत्र में अपने को स्थापित करने के लिए संघर्षरत हों।

कभी-कभी बाह्य संसार की घटनाएँ हमारा इतना ध्यान आकर्षित करती हैं कि हम अपने निजी जीवन के विषय में सोचने से बिलकुल उपराम हो जाते हैं। पूर्वी पाकिस्तान अथवा बांगला देश के पश्चिमी पाकिस्तान से अलग एवं स्वतंत्र होने का आंदोलन, जनरल याह्या खान के नेतृत्व में उस जन आंदोलन को कुचल देने के लिए पश्चिमी पाकिस्तान का क्रूरतम सैनिक अभियान, और अंत में बांगला देश का पक्ष लेकर भारत का पाकिस्तान से युद्ध, जिसमें पाकिस्तान बुरी तरह पराजित हुआ, और बांगला देश का एक सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रभुसत्तात्मक राष्ट्र के रूप में नवोदित होना, ऐसी ही घटनाएँ थीं।

बांगला देश में पाकिस्तानी सेना के बे-शर्त आत्मसमर्पण की घोषणा राज्य-सभा में श्री जगजीवनराम ने तथा लोकसभा में श्रीमती गांधी ने एक साथ की थी। मुझे याद है लोकसभा में श्रीमती गांधी के मुख से घोषणा सुनने के लोभ में मैं अपने कुछ और सहयोगियों के साथ लोकसभा की बालकनी में जाकर बैठ गया था। घोषणा सुनते ही लोकसभा में क्या उल्लास और उमंग की तरंगें उठ पड़ी थीं! सारे सदस्य एक साथ खड़े हो प्रधान मंत्री की जय-जयकार करने लगे थे और मेज़ें तो ऐसे पीटी जा रही थीं जैसे वे विजय के दमामे हों। निश्चय ही यह श्रीमती गांधी के राजनैतिक जीवन के साफल्य का परमोज्ज्वल क्षण था। पर सदन की हर्षोत्फुल्ल और उन्मुक्त बधाई का जो संक्षिप्त उत्तर उन्होंने दिया था वह बड़ा ही संयत और गरिमापूर्ण था। सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करते हुए इस विजय का श्रेय उन्होंने देश की बहादुर सेना को दिया था और भारत की जनता को जिसकी सद्भावना और सहयोग के बिना यह गौरवपूर्ण उपलब्धि संभव न होती। अंत में उन्होंने गीता का उद्धरण देते हुए कहा था कि हमको अपने पूर्वजों का यह उपदेश सदा याद रखना चाहिए कि हम पराजय को बिना दैन्य के और विजय को बिना दंभ के स्वीकार करें—'दैन्य जिते नहिं दंभ न जीती' और इसपर एक बार फिर सदन ने हर्षध्वनि कर उन्हें धन्यवाद दिया था।

दूसरे दिन श्रीमती गांधी को विशेष रीति से सम्मानित करने के लिए दोनों सदनों के सदस्यों की एक सभा हुई थी जिसमें एक विपक्षी दल के नेता ने तो उन्हें देश की नवदुर्गा कहा था। सभा समाप्त होने पर, मुझे याद है, चलते-चलते मैंने इंदिरा जी के पास जाकर अकबर इलाहाबादी का एक शेर सुनाया था—जैसा वह मुझे याद था—

'उसकी बेटी ने उठा रक्खी है दुनिया सिर पर,
यह तो अच्छा हुआ अंगूर के बेटा न हुआ।'

शराब को 'अंगूर की बेटी' कहा जाता है—'दुख़्तरे रज़'—मैंने अंगूर से जवाहरलाल का संकेत कर बांगला देश में भारत विजय का श्रेय उस महापुरुष को देना चाहा था कि जब उसकी बेटी में इतनी शक्ति थी कि पाकिस्तान के 90 हज़ार सैनिकों को धूल चटवाकर बे-शर्त आत्मसमर्पण करने को बाध्य कर दे तो अगर उसका बेटा होता तो न जाने क्या करता! इंदिरा जी हँस पड़ी थीं। उनके किसी काम से पंडित जी को गौरव मिले तो उनको सदा आत्मिक तुष्टि होती है।

इस अवसर को एक विशिष्ट स्थान देकर मैंने अपनी स्मृति में सँजो लिया था कि जब मैं नया-नया राज्यसभा में आया था, उसके कुछ ही समय पूर्व इंदिरा जी नई-नई प्रधान मंत्री बनकर आई थीं और उन्हें आम तौर से नौसिखुई और किन्हीं मानों में नारी-दौर्बल्य से पीड़ित प्रधान मंत्री समझा जाता था। और छह वर्षों बाद जब मैं राज्यसभा से विदा होने को हूँ तब उनको कितनी सशक्त, कितनी अनुभवसिद्ध और अपने पद पर कितनी साधिकार प्रतिष्ठित देख रहा हूँ। इन छह वर्षों में मैं भी लेखक रूप में जहाँ था क्या वहाँ से कुछ ऊपर उठा हूँ?

अधिक संवेदनशील और भाव-प्रवण लोगों में उनकी मानसिक चिंता अक्सर उनके शारीरिक रोग में परिवर्तित हो जाती है। हमारा तो सारा परिवार ही भावुक लोगों का है। मैं समझता हूँ कि इस भावुकता का सबसे बड़ा शिकार मैं हूँ। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मैं नारीत्व-प्रधान पुरुष हूँ, फिर कवि, शायद कवि इसी कारण। बरसों से मैं अल्सर से पीड़ित हूँ और डाक्टरों ने मुझसे कहा है कि इसका कारण मानसिक तनाव है जिसमें जग-जीवन की या वैयक्तिक छोटी-से-छोटी अननुकूल घटनाएँ मुझे डाल देती हैं। तेजी कम भावुक नहीं हैं, पर उनमें अपने पर तार्किक अनुशासन रखने की एक अद्‌भुत क्षमता है। पहले भी मैं कह चुका हूँ कि एक तो वे पुरुषत्व-प्रधान नारी हैं, फिर स्वयं मनोविज्ञान की विद्यार्थी रह चुकी हैं, इसलिए वे हर स्थिति में अपना विश्लेषण कर लेती हैं और इस प्रक्रिया से उन्हें अपने को सँभालने में बड़ी सहायता मिलती है। अपना यह गुण उन्होंने अपने पुत्रों को भी दिया है। अमित भावुक है, कलाकार है, भावनाओं में बह जाता है, पर वह जल्दी चेतता भी है और जब वह व्यावहारिक होना चाहता है तो अपनी इतनी प्रबल इच्छा शक्ति जगा लेता है कि पर्वत की तरह अटल-अडिग होकर खड़ा हो जाय, 'आइ मीन बिज़नेस।' अजित लड़कपन में बहुत भावुक था, पर धीरे-धीरे उसने भावुकों के परिवार में अपने दायित्व को समझा और उसी के अनुरूप अपने को ढाला। इस दिशा में उसके उद्योगों ने भी उसे बहुत कुछ साधा। हमारे परिवार में दूर तक आगा-पीछा देखकर चलनेवाला जितना आज वह है उतना दूसरा नहीं—हम उसको 'प्रैक्टिकल मैन आफ़ द फेमिली' कहते हैं। मुझे 'वाइज़ मैन आफ़ द फेमिली' कहा जाता है, पर मैं जानता हूँ कि मैं अपने बाबा की कितनी बड़ी अनुकृति हूँ—भोलेनाथ के भोलेनाथ। तीव्रतम और सुकुमारतम भावनाओं के बीच अपना संतुलन बनाए रहने में अजित जितना दक्ष है उतना शायद ही मैंने किसी को देखा-पाया हो। अमित

की पिछली भीषण दुर्घटना-घटित बीमारी में जब कि सारे परिवार के प्राण पत्ते पर धरे हुए थे वह भाई के उपचार के छोटे-से-छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े पक्ष पर अपनी नज़र रखता था। अमित की उस जीवन-मरण-संघर्षी बीमारी में उसके मृत्युंजयी बनकर निकल आने का श्रेय जितना डाक्टर-नर्सों को दिया जाता है उतना ही मैं अमित के इच्छाबल को दूँगा और उतना ही अजित के संबद्ध-प्रबंध-तंत्र को जिसके प्रति वह हफ़्तों क्षण-क्षण, कण-कण जागरूक रहा। मजाल है कि किसी समय, किसी जगह, किसी बात में, किसी की लापरवाही हो जाय।

पिछले छह वर्षों में लेखन संबंधी मानसिक श्रम के अतिरिक्त जो शारीरिक श्रम मुझे करना पड़ा था, जो दस-दस, बारह-बारह घंटे कुर्सी से चिपककर बैठना पड़ा था, उसके फलस्वरूप मुझे किसी शारीरिक रोग से ग्रस्त होना ही था। फिर राज्यसभा की सदस्यता समाप्त होने पर भविष्य जीवन की चिंता मेरे लिए कोई छोटी चिंता न थी। जबसे मुझे इसकी सूचना दी गई थी तबसे सोते-जागते, कोई भी काम करते, मेरे दिमाग़ के एक कोने में एक खुट-खुट होती रहती थी—मार्च '72 के बाद क्या करोगे ? कहाँ जाओगे ? क्या करोगे...

मुझे एक अजीब सी तकलीफ़ होने लगी—जब मैं लेटता या खड़ा रहता तो मैं सामान्य रहता पर ज्यों ही बैठता त्यों ही मुझे पेट में शूल की-सी पीड़ा होने लगती। चलता-फिरता आदमी कहाँ तक खड़ा रहे, कहाँ तक लेटा रहे। जब पीड़ा सहन से बाहर होने लगी तब मैंने डाक्टर को दिखाया—कई तरह के परीक्षणों से पता चला कि मेरी बड़ी आँतों के निचले भाग में एक फोड़ा बन रहा है और उसमें काफ़ी मवाद इकट्ठा हो चुका है। आपरेशन की सलाह दी गई। तेजी चिंतित हुईं, पर घबराई नहीं। गंभीर से गंभीर स्थिति आने पर मैंने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं पाया। वे फ़ौरन सोचती हैं कि अब क्या किया जाना चाहिए और वे सक्रिय हो जाती हैं। आपरेशन की तारीख निश्चित हो गई। तेजी ने फ़ोन के द्वारा अमित से संपर्क किया, उन्हें मेरा सब हाल-चाल बताया, और उन्हें दिल्ली बुला लिया। आपरेशन की तैयारी के लिए मुझे दो दिन पहले विलिंगडन नर्सिंग होम में भरती करा दिया गया।

आपरेशन गंभीर था, पर जैसा कि प्रत्याशित था, आपरेशन सफल हुआ। आपरेशन तो बेहोशी में हुआ था, पर दूसरे दिन की ड्रेसिंग में बस प्राण ही नहीं निकले, और सब दुर्गति हो गई थी। मलद्वार से एक इंच हट कर 9 इंच लंबा और काफ़ी गहरा आपरेशन हुआ था। अमिताभ ने मेरे लिए दो प्राइवेट नर्सों का इंतज़ाम करा दिया था—एक दिन को मेरे पास रहती, दूसरी रात को। एक महीने मैं बिस्तर से नीचे नहीं उतरा। नर्सें केरल की थीं, वयस्क, अनुभवी, बड़ी ममतालु, बड़ी ही सेवा-परायण। वे मेरा सभी तरह का काम करतीं। मुझे बड़ी शर्म आती। वह मुझसे कहतीं, तुम अपने को बच्चा समझो, हम तुम्हारी माँ की तरह हैं। मैंने तीन माएँ जानी थीं—अपनी अम्मा, चमाइन अम्मा जिसका दूध मैंने पिया था, और चम्पा, जो मुझे अपना मातृत्व रूप दिखा मुझसे सदा के लिए विदा हो गई थी। अब मुझे चौथी-पाँचवीं माएँ मिलीं। लोग नर्सों को सिस्टर कहते हैं, मैं उनको 'मामा' कहता। मैं एक तरह से बच्चा-सा ही हो गया था—दिल मेरा कच्चा-कच्चा-सा। उनको अपनी तरह-तरह की सेवाएँ करते देखता,

छोटी-छोटी बातों का ख्याल रखते तो मेरा दिल भर आता। मेरे आँसू बहने लगते। वास्तव में आपरेशन के कारण जो मुझमें जिस्मानी कमज़ोरी आ गई थी वह मुझे मानसिक रूप से भी दुर्बल-कातर कर गई थी। अपने से न मैं कुछ चाहता, न माँगता। कुछ चाहने पर बच्चा रोता तो है, मैं चुपचाप पड़ा रहता। जो कुछ कहा जाता कर देता, करने को बच्चे-सा तैयार हो जाता। कोई मुझे देखने आता तो मेरी आँखें गीली हो जातीं, जैसे मेरे ऊपर इतना एहसान कर रहा है जिसका मैं अधिकारी नहीं हूँ, और जिसका बदला किसी तरह न चुका सकूँगा—

आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।
आज पथ में साथ जो होगा
सगा भाई लगेगा,
हाल भर जो पूछ लेगा
स्वर्ग सुखदायी बनेगा,
जो चुभा उसको कहूँगा,
पद पकड़कर है बिठाता,
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

अब नहीं सँग में प्रणय के
चाहिए बलिदान मुझको,
आज तो अभिभूत करने
को बहुत मुसकान मुझको,
आज करुणा के दृगों से
देखता कोई मुझे तो,
मैं समझता हूँ कि नज़रें डालता भगवान मुझपर।

मुझको इतना भाव-विगलित होते देखकर मेरी नर्सों ने मेरे कमरे के दरवाज़े पर 'नो विज़िटर्स' की तख्ती लगा दी थी। सुबह अमित सबसे पहले मुझसे मिलने आ जाते। मैं उनसे कहता मेरे सिरहाने बैठ जाओ और मुझे धीरे-धीरे मेरी आत्मकथा या मधुशाला-मधुबाला सुनाओ। और सुनते-सुनते मैं अतीत की कितनी स्मृतियों में खो जाता। मेरे ही शब्दों से मेरे लिए कितने ही नये अर्थ खुलते। कभी मैं किसी पंक्ति पर अमित को चुप करा देता और नए अर्थों में डूबता-उतराता रहता। आज भी मुझे याद है मैंने 'मधुशाला' की एक पंक्ति सुनी—

'मैं शिव की प्रतिमा बन बैठूँ,
मंदिर हो यह मधुशाला।'

और बड़ी देर तक यही सोचता रहा, अगर मैं अपनी इस एक पंक्ति को ही जी लूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाए। शिव की, शिवत्व की प्रतिमा बनकर बैठना कितनी कठिन साधना, कितना तप माँगता है—क्या मैंने किया? क्या मैं कर सकूँगा? कविता अपना विशिष्ट रहस्य, विशिष्ट व्यक्तियों पर विशिष्ट क्षणों में उद्घाटित करती है। कभी तो वह जिये हुए को फिर से, अधिक सघनता से जीने

मैं सुखद सहायक होती है और कभी आकर्षक अनजिये को जीने के लिए अप्रति-रोध्य प्रेरक बनती है। कविता को भोगना हर एक के बूते की बात नहीं। साथ ही मुझे यह भी जोड़ देना चाहिए, हरएक कविता भोग्या होती भी नहीं। जो होती है वह कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं अपना अधिकारी भोक्ता खोज लेती है—इसी को भवभूति ने दूसरे शब्दों में कहा था—'कालोह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'।

बंबई में अमित की किसी फ़िल्म की शूटिंग चल रही थी, बड़ी मुश्किल से एक सप्ताह की छुट्टी लेकर आए थे। फ़िल्म शूटिंग से छुट्टी लेना आसान नहीं होता, कितने-कितने लोगों के सहयोग से एक-एक दृश्य की शूटिंग होती है और एक आदमी के भी हट जाने से सबको अपना कार्यक्रम बदलना पड़ता है। वे जाने लगे तो मैंने अपनी चिंता उनके सामने रखी—मार्च के अंत में मेरी राज्यसभा सदस्यता समाप्त होगी, हमें बँगला छोड़ना पड़ेगा। हमारे सामने समस्या होगी हम कहाँ जाएँ—अमित ने फ़ौरन कहा, 'आप दोनों बंबई आ जाएँ, हमारे पास दो कमरे हैं, मकान मालिक से कहकर मैं उन्हीं के ऊपर दो कमरे और तीन महाने के अंदर बनवाए देता हूँ, आप बिलकुल निश्चिंत रहें, बस बंबई आ जाएँ। फिर हम सब साथ रहेंगे— मई में बंटी भी योरोप से लौटेगा, हम कोशिश करेंगे कि उसकी पोस्टिंग भी बंबई में हो जाए। कितना अच्छा होगा फिर हम सबका एक साथ रहना!'

अमित बंबई लौट गए, पर हमारे सामने भविष्य के स्वप्न का एक मनोरम द्वीप छोड़कर जिसपर पहुँचकर वर्तमान चिंता के सागर में डूबते-उतराते हम शरण ले सकें। अमित जब तक थे तब तक आपरेशन के बाद की कमज़ोरी के बावजूद मैं भीतर कहीं कुछ ताक़त, कुछ आत्मविश्वास का अनुभव करता। वे चले गए तो जैसे वह सब अपने साथ समेट ले गए। तेजी सुबह-शाम अस्पताल आतीं, घंटों मेरे पास बैठतीं, मेरा मन बहलाने को रोचक बातें करतीं या कोई मनोरंजक पुस्तक पढ़कर सुनातीं, न जाने क्यों उन दिनों मुझे अपनी आत्मकथा का पहला खंड 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' सुनने की बहुत इच्छा होती, उसको सुनते-सुनते मैं अपने लड़कपन के दिनों की स्मृतियों में खो जाता। रात को मुझे कर्कल के स्वप्न आते—अपनी किशोरावस्था में, और मैं भी उसी अवस्था का होकर उसके साथ न जाने कैसी अद्‌भुत और भयावनी जगहों में घूमता या उड़ता! जागता तो लगता मेरी मृत्यु समीप है। विद्यापति की पंक्तियाँ दिमाग में गूँजतीं—

> सपन देखल हम सिब सिंध भूप
> बतिस बरिस पर सामर रूप।
> बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
> अब भेलहुँ हम आयु विहीन।
> विद्यापति क आयु अवसान...

मैं सोचता, शिवसिंह विद्यापति के मित्र थे। उनकी मृत्यु के 32 वर्ष बाद विद्यापति ने उनको स्वप्न में देखा, और कहते हैं, तभी उनको आभास हुआ कि उनकी आयु का अवसान हो गया है और उनकी मृत्यु निकट है। कर्कल बार-बार क्यों मेरे सपनों में आता है? क्या मुझे ले जाने को आता है? मैं डर के मारे काँपने

लगता। संख्या-विद्या (न्यूमेरालोजी) के विश्वासी बतलाते हैं कि 16 की संख्या बड़ी अशुभ-अमंगलकारी और भयावह होती है। शिवसिंह भूप अपनी मृत्यु के 16 × 2 = 32 वर्षों के बाद स्वप्न में आकर विद्यापति को ले गया था। कर्कल अपनी मृत्यु के 16 × 3 = 48 वर्ष बाद मुझे लेने आया है,..लेने आया है तो मैं क्यों डरूँ ? कर्कल तो मरते समय बहुत कुछ करने का अरमान साथ लिए गया होगा...मैं तो सब कुछ जी भोग चुका, कर-धर चुका, ले-दे चुका। चोर किसी निर्धन के घर सेंध मारे जहाँ से चुराने को कुछ न मिले तो उसे कितनी निराशा होगी। निर्धन तो मैं नहीं था, पर अब तक तो मैं सारा धन लुटा चुका हूँ, मौत मुझसे क्या पाएगी—मौत में मुझे क्या खोना है। और ऐसा सोचते-सोचते मृत्यु का भय मेरे अंदर से बिलकुल निकल जाता।

तभी किसी दिन लेटे-लेटे मैंने कागज पेंसिल माँगी और एक कविता लिखी—

> अब समाप्त हो चुका मेरा काम।
> करना है बस आराम ही आराम।—
> आ राम ही आ राम !—
> अब न खुरपी न हँसिया,
> न पुरवट न लढ़िया,
> न रतरखाव, न हर, न हेंगा।
> मेरी मिट्टी में जो कुछ निहित था
> उसे मैंने जोत-बो,
> अश्रु-स्वेद रक्त से सींच, निकाला,
> काटा,
> खलिहान का खलिहान पाटा,
> अब मौत क्या ले जायगी मेरी मिट्टी से ठेंगा !

यह कविता मैंने बाद को 'जाल समेटा' में सम्मिलित कर दी।

मैं पूरे एक महीने अस्पताल में पड़ा रहा, मेरा घाव नहीं भरा, पर मेरा मन अस्पताल से भर गया था। मैं घर चला आया और घर पर भी पूरे एक महीने तक एक प्राइवेट नर्स के द्वारा मेरी ड्रेसिंग कराई जाती रही। मैं प्रायः बिस्तर पर ही लेटा रहता, बैठने में मुझे तकलीफ़ होती, बैठता तो हवा भरा रबर का एक गोल तकिया बैठकी के नीचे रखकर। फ़रवरी के अंत में एक सप्ताहांत के लिए अमित मुझे देखने को दिल्ली आए। जाने लगे तो बोले, मेरे साथ बंबई चलिए; वायु-परिवर्तन से आपको लाभ होगा, कहते हैं आपरेशन के बाद समुद्र स्नान से स्वास्थ्य जल्दी सुधरता है, तेजी ने भी यही राय दी। मैं बच्चे-सा उनके साथ जाने को तैयार हो गया।

पिछले अक्टूबर में अमित के जन्मदिन पर जब तेजी के साथ मैं बंबई गया था उनका घर देख आया था। घर, नया ही बना, किसी गुजराती सज्जन का था जिसे उन्होंने अमिताभ को किराये पर उठा दिया था। घर का नाम 'मंगल' था जो मुझे अच्छा लगा था। डाक पता था—20, प्रेसीडेन्सी सोसायटी, उत्तर-दक्षिण रास्ता सातवाँ, जुहू-पारले स्कीम, बंबई-56। अमित तब नए ही नए उस

मकान में आए थे। बंबई में स्वतंत्र रूप से उनका यह पहला मकान था। अभी तक वे औरों के साथ रहे थे—पहले मंगलाबाई, शंकराबाई खेतान के साथ और बाद को प्रख्यात हास्य अभिनेता महमूद के छोटे भाई अनवर अली के साथ। दोनों ने अपनी-अपनी पहली फिल्म 'सात हिंदुस्तानी' में एक-एक हिन्दुस्तानी का भूमिका निभाई थी, और तभी से उनकी दोस्ती हो गई थी।

'मंगल' छोटा ही मकान था—लगे बाथरूम के साथ दो कमरे, किचेन-कम-डाइनिंग रूम और ड्राइंग-रूम का; आगे एक छोटा लान, पीछे कुछ बड़ा, जिससे लगा एक मोटर गराज और बाथरूम। अक्टूबर में जब हम लोग गए थे, अमित अपना मकान फ़रनिश करा रहे थे। मार्च में जब मैं गया, घर सुरुचिपूर्ण ढंग से फरनिश्ड था। एक कमरे में अमित रहते थे, एक खाली था, वही मुझे दे दिया गया। मेरे कमरे में बेड के अलावा एक कोने में एक छोटी मेज़ कुर्सी भी लगी हुई थी। मेरे कमरे की खिड़कियाँ पीछे के लान की तरफ़ खुलती थीं, जिसकी तार-खिंची बाउंड्री के पार मि० वालिया का लान और उसमें उनका घरेलू छोटा-सा कृष्ण मंदिर था, जिसकी सुबह-शाम की आरती की शंख-घंटियों की ध्वनि और जिसमें जली अगरबत्तियों की सुगन्ध मेरे कमरे तक आती थी और यह सारा वातावरण मुझे बहुत सुखद और शांतिप्रद लगता था।

जैसा कि अमिताभ कह गए थे, उन्होंने जनवरी में बंबई लौटते ही मकान मालिक को बुलवाकर ऊपर दो कमरे और बनवा देने को कह दिया था और जब मार्च में मैं गया तो उनपर काम लगा हुआ था। मैं आश्वस्त हुआ, अमिताभ ने केवल भावुकतावश हमें बबई आने के लिए नहीं कह दिया, वे इस विषय में गम्भीर हैं, तभी तो हमारे बंबई आने को निश्चित जान उन्होंने जल्दी-जल्दी कमरे बनवाने शुरू करा दिये हैं। मैं अपने कमरे में बैठे-बैठे सोचा करता। नए कमरे बन जाने पर भी मैं, तेजी नीचे के कमरों में ही रहेंगे। नीचे रहने से घर के प्रबंध को देखना तेजी के लिए सुविधाजनक होगा। मुझे भी अपनी कमज़ोर हालत में बार-बार सीढ़ी चढ़ना-उतरना कष्टकर होगा। अमित-अजित से कह दूंगा ऊपर के कमरों में रहें। ऊपर दोनों भाइयों का संग-साथ अच्छा रहेगा, नीचे हम दोनों का। कमरे बहुत बड़े नहीं थे। दिल्ली के सामान को सोचता तो घबराहट होती, कैसे वहाँ का सारा सामान यहाँ आ-समा सकेगा। बहुत कुछ वहीं छोड़ देना, दे डालना या बेच देना पड़ेगा। जीवन को बहुत संक्षिप्त करने पर ही बंबई में निबाह हो सकेगा। मेरे कमरे में दीवाल के साथ दो-तीन आदम-कद आलमारियाँ तो लग सकती थीं जिनमें अधिक से अधिक 500 पुस्तकें रखी जा सकती थीं। दिल्ली की स्टडी में तो 5000 पुस्तकें होंगी—बड़ी निर्ममता के साथ पुस्तकों की छँटनी करनी पड़ेगी। तेजी की भी तीस बरस की गिरिस्ती का जोड़ा-बटोरा सामान कम नहीं है। हम हिन्दुस्तानियों को ज़रूरी, ग़ैरज़रूरी, शौकिया, खरीदा, भेंट किया सामान इकट्ठा करने का मर्ज़ है और तिनका भी अलग करने में हमारी नानी मरती है। हमारी स्त्रियों को अपनी पुरानी चीज़ों से बहुत लगाव-लिपटाव होता है। पिताजी बताते थे कि उनकी माता जब ललित-पुर से इलाहाबाद आने लगी थीं तब घर बुहारने की झाड़ू भी बैलगाड़ी में रखा लाई थीं। मेरी माताश्री कम जोड़-बटोरू नहीं थीं। पिता जी के मरने के बाद ज़ब वे मेरे साथ रहने के लिए युनिवर्सिटी एरिया में आईं तब अपना कितना-

कितना सामान साथ लाई थीं और कितना सामान तो उन्होंने मुट्ठीगंज वाले मकान के एक कमरे में बंद कर दिया था, जो उनके जीवन काल में तो खोला नहीं गया। मुझे कभी उसे खुलवाने की ज़रूरत नहीं पड़ी और पच्चीस बरस बाद जब राम ने वह मकान ख़रीदा तब ताला तुड़वाकर खुलवाया। बताया था, सारा सामान दीमक खा गए थे, सिर्फ़ कुछ लोहे-ताँबे की चीजों को छोड़-कर। भय यह है कि मेरी दादी, माँजी की परंपरा मेरी पत्नी में भी उतर रही है। अगर वे दिल्ली का तमाम ताम-झाम लदा-फँदवा कर बंबई उतर पड़ीं तो यहाँ बड़ी मुसीबत खड़ी हो जायगी। उधर उनकी दुविधा होगी :

अंगड़-खंगड़ मोह सभी से
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूं रे।
क्या लादूं, क्या छोड़ूं रे।
कण-कण करके माया जोड़ी,
कितनी भुक्खड़ चाह निगोड़ी।
सबके प्रति मन में कमजोरी,
किस से नाता तोड़ूं रे।
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से
क्या बाँधूं, क्या छोड़ूं रे,
क्या लादूं, क्या छोड़ूं रे।

(बंजारे की समस्या—'चार खेमे चौंसठ खूंटे')

यह समस्या किसी दिन खड़ी होगी, क्या इसको मेरे कवि-मन ने दस बरस पहले जान लिया था ?

अमिताभ के पास एक ही नौकर था—मोहन सिंह गढ़वाली। वही उनका खाना बनाता, वही उनके घर का ऊपर का काम करता। खाना अच्छा बनाता था और सबसे बड़ा गुण उसका यह था कि अमिताभ के प्रति बड़ा ही निष्ठावान था और उनकी छोटी-से-छोटी ज़रूरत का ध्यान रखता था। अमित को आग्रह-पूर्वक खिलाते-पिलाते—'साहब, आपने दूध नहीं पिया', 'साहब, आपने नाश्ता ठीक नहीं किया'—और हर समय उनकी सुविधा के प्रति सचेत रहते देखकर अभिनेता महमूद उसको मज़ाक में मिसेज़ अमिताभ कहा करते थे। मैं गया तो मेरा भी वह मान-ध्यान रखने लगा।

बंबई रहते हुए मैंने समुद्र से लौ लगाई। थल-बद्ध नगर में रहनेवाले के लिए आक्षितिज फैले नीले सागर का आकर्षण सहज ही समझा जा सकता है, फिर अमिताभ ने मेरे कान में डाल दिया था कि आपरेशन के बाद समुद्र स्नान स्वास्थ्य प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। मेरी कविता के प्रेमी जानते हैं कि 'मधुकलश' से लेकर, जिस में मेरी प्रसिद्ध कविता 'तीर पर कैसे रुकूं मैं आज लहरों में निमंत्रण' है, अंतिम संग्रहों तक मेरी बहुत-सी कविताओं में सिंधु का रूपक प्रयुक्त हुआ है—निश्चय ही काल्पनिक सिंधु का ही। सृजन-संसार का यह बड़ा विचित्र और विरोधाभासी सत्य है कि कल्पना कभी-कभी वास्तविकता से अधिक विश्वसनीय होती है; अधिक स्थूल, सुस्थिर और सजीव लगती है।

वास्तविक समुद्र से प्रेरित होकर जो कविता मैंने लिखी शायद वह मेरी समुद्र संबंधी कविताओं में बहुत सशक्त न समझी जाय। आप सुनना चाहेंगे ? शीर्षक है उसका 'सागर तीरे'—

अनादि अतीत से
जो लहरें
उठ उमड़, हहर, घहर, गिर,
बूंद-बूंद में छहर
सागर में लीन विलीन हो गईं—सदा को—
उनका, उन सबका
नवीन लहरों को ज्ञान है,
फिर भी नई नई लहरें
फिर-फिर
उठतीं, उमड़तीं, हहराती, घहरातीं, गिरतीं
बूंद-बूंद में छहरती हैं।
सागर तट पर खड़े होकर देखो—
नई-नई लहरों में कितनी होड़ा-होड़ी है !
लहरों का यह उल्लास,
हास,
विलास,
सच पूछो तो लहरों की नहीं
सागर की कमज़ोरी है।

बाद को यह कविता मैंने 'जाल समेटा' में सम्मिलित कर दी। आपको कविता सुनाते समय मैं 'कमज़ोरी' शब्द पर रुक कर सोचने लगा हूँ कि उस समय तो शायद अपनी शारीरिक दुर्बलता के प्रति सचेत मैंने 'कमज़ोरी' लिख दिया था, पर अगर मैं आज लिखता होता—गो आज भी मैं तन से काफ़ी कमजोर हूँ, पर मन से नहीं—तो 'कमज़ोरी' की जगह 'शहज़ोरी' लिखता। क्या आप नहीं समझते कि 'शहज़ोरी' अधिक उपयुक्त होता ?

उन दिनों मैं मुँह अँधेरे उठता और जुहू बीच की तरफ चल पड़ता, पाँच-सात मिनट का रास्ता होगा 'मंगल' से। साथ एक हल्की सी फोल्डिंग चेयर हाथ में लटकाए जाता। वहाँ पहुँच कुर्सी खोल कपड़े उतार उसपर रख देखा और समुद्र किनारे बालू में ख़ूब लोटता—सारे शरीर में बालू लिस जाती। फिर समुद्र में हिल डुबकी लगता, बालू सब धुल जाती, मैं फिर-फिर डुबकी लेता, कभी कमर या छाती तक पानी में खड़ा रहता, लहरें आतीं और ऊपर से निकल जातीं, गरमी के दिन थे बहुत सुख मिलता। कुछ ठंड लगती या थक जाता तो कुर्सी पर आकर बैठ जाता, समुद्र का हलचल देखता रहता, जी होता तो फिर एकाध बार नहाता। काफ़ी देर सुबह की धूप में बैठता, पूरब से उठता सूरज पीठ पर पड़ता। हरे नारियल की रेड़ियाँ इधर-उधर घूमती रहतीं, किसी पर रुककर नारियल पानी पीता और घर लौट जाता। तब तक अमिताभ तैयार होकर नाश्ते पर बैठे मिलते। उनके साथ नाश्ता करता। वे तो काम पर चले जाते और मैं

अख़बार पढ़ता रहता। अमिताभ के पास कोई खास किताबें न थी। मैं अपनी कोई किताब साथ न लाया था। अखबारों की एक-एक पंक्ति पढ़ता। बारह-एक बज जाते। समुद्र के नोनखारे पानी से नहाने से बदन चिपचिपा हो जाता है। एक बार फिर घर के नलके पर नहाता। अमिताभ लंच के लिए न आते, मोहन सिंह टिफ़िन-कैरियर में उनका खाना सुबह-ही-सुबह बनाकर साथ कर देता, थरमस में पानी। वे अपनी कार खुद ड्राइव कर चले जाते। मैं लंच लेकर अपने कमरे में सोने की कोशिश करता—सोता क्या, ज़्यादातर लेटा ही रहता, ऊपर कमरे बन रहे थे—खूब खटर-पटर, धमा-धम होती रहती। शाम को फिर मैं अपनी फोल्डिंग चेयर उठाता और समुद्र तट पर जा बैठता। उस समय समुद्र तट पर तरह-तरह की देशभूषा में घूमने-फिरनेवालों की काफ़ी चहल-पहल रहती। सामने क्षितिज पर सांध्य-सूर्य समुद्र में धीरे-धीरे डूबता होता और बत्ती जलते-जलते मैं घर लौट आता। तट पर किसी से जान-पहचान नहीं, चुपचाप बैठा बंबइया लोगों की बंबइया भाषा सुनता, बंबइया रंग-ढंग देखता। अमित प्राय: देर रात को लौटते। मैं लंबी शामों को क्या करूँ। रेडियो चला देता—ज़्यादातार प्रोग्राम मराठी में होते, आधा-तीहा पल्ले पड़ता, पर सूनेपन से तो राहत मिलती। अमित आते तो हम खाना खाते। अमित प्राय: थके आते, चेहरे पर तनाव लिए—फिल्मी क्षेत्र में ये उनके कठिन संघर्ष के दिन थे। रात को हमें कभी अपनी, कभी किन्हीं दूसरों की फ़िल्म दिखाने ले जाते। मेरे बेटों ने अपने सुख-दुख में—'सुख' तो मुहावरे में जुड़ा है, दुख-संकट ही कहना चाहिए—मुझे कभी साझीदार नहीं बनाया, निश्चय मुझे अतिशय भावुक समझकर मानसिक तनावों से मुक्त रखने की दृष्टि से या किसी संकोचवश। माँ से ज़रूर वे सब कुछ कहते थे। मैं कभी पूछता तो अमित कहते सब कुछ ठीक है—ख़ुश दिखने का प्रयत्न करते या दिखने का अभिनय करते—इतनी कला तो उन्हें आ ही चुकी होगी, पर मैं भी इतना अनाड़ी नहीं था कि अभिनय और सच्चाई में फ़र्क न देख सकूँ। सोचता तेजी यहाँ होतीं तो अमित उनसे सब कुछ कहकर अपना दिल हलका करता। मैं इतना ही कर सकता था कि अपनी किसी प्रकार की चिंता उनके मन पर न छाने दूँ। मुझसे भी जब वे पूछते मैं कहता, 'मुझे यहाँ कोई तकलीफ़ नहीं, मैं आराम से हूँ, स्वास्थ्य मेरा सुधर रहा है, माँ का अभाव ज़रूर खलता है, उन्हें भी जल्दी आ जाने को कहो।'

मैंने कहीं पढ़ा था कि अगर किसी को सहसा समुद्र आकर्षित करने लगे तो समझना चाहिए कि उसकी मृत्यु निकट है या स्वयं उसके अन्दर से जिजीविषा घट रही है। आपरेशन के बाद की कमज़ोरी से उबरने में कभी सफल कभी असफल मुझे लगता ये दोनों बातें ठीक हो सकती हैं। रातों को मुझे कभी यौवन, कभी लड़कपन, कभी बचपन के दिनों के सपने आते। मुझे लगता मेरा जीवन लौट रहा है उसी न-होने की ओर जहाँ से मैं होने के प्रति सजग-सचेत हुआ था। कभी मेरे सपनों में कर्कल आता और मुझे कहीं चलने का संकेत करता—कहीं? कहाँ?···

जब मैं तेजी से दूर कहीं चला जाता, उन्हें प्रति दिन पत्र लिखता। बंबई से मेरा यह नियम नहीं निभ रहा था। कारण, मेरे हाथों में, ऑपरेशन के पहले से ही एक तकलीफ़ हो गई थी। मेरी उँगलियों का लचीलापन धीरे-धीरे जाता

रहा था, कलम या पेंसिल पकड़ने में भी कष्ट होता, चलाना मुश्किल होता। अपनी ज़िद से, और वह मुझमें कम नहीं है, मैं कुछ लिख भी लेता तो बाद को बहुत दर्द होता। इसको 'राइटर्स क्रैम्प' कहते हैं, हाथ से लिखनेवालों को यह बहुधा होती है। इसका मैंने बहुत तरह का इलाज किया—बिजली की सेंक कराई, गर्म-पिघली मोम में हाथ डाला, नारायण, महानारायण तैल की, मधीवाला लिनामेंट की मालिश कराई, पंजों की ख़ास तरह की हरकतें भी कीं। कोई फ़ायदा नहीं हुआ। अंत में एक बड़ी साधारण-सी चीज़ से लाभ हुआ। किसी ने बताया, अख़बार का एक पूरा पेज लो, उसे सहते-से गरम पानी में भिगो लो, फिर उसे मोड़-माड़कर गोल गेंद-सा बना लो और हाथ में लेकर उसे दबाओ, घुमाओ, उसका पानी निचोड़ो, थोड़ी देर में वह बिलकुल कागज़ की गेंद की तरह हो जाएगा। चाहो तो उसको फेंक दो, दूसरे दिन दूसरा कागज़ ले लो, चाहे पहले दिन की गेंद को ही रख दो और दूसरे दिन फिर उसे थोड़ी देर के लिए गरम पानी में डालकर गीला कर लो और फिर उसी तरह दबा-दबा कर उसका पानी निचोड़ो। छापे की स्याही से हाथ काला भी हो सकता है। साबुन से धो लो।

जिन कारणों से मैंने लेखन से संन्यास लेने की बात सोची थी, उनमें एक यह भी था। अमित मुझसे कहते, मैं आपके लिए एक स्टेनो रखा देता हूँ, आप बोलकर लिखाइए, या डिक्टाफ़ोन खरीद देता हूँ, आप उसमें बोल दीजिए, बाद को टाइपिस्ट उसे टाइप कर देगा और आप उसमें संशोधन कर दीजिए। इसके लिए मैं तैयार न हुआ। मैं जानता था, ऐसे तरीक़े से मैं लेखन में सफल न हो सकूँगा। बोलकर मैंने कभी नहीं लिखाया था। दफ़्तर के पत्र वग़ैरह की बात और थी। सृजनशील लेखन में आप लगातार लिखते ही तो नहीं रहते, बीच-बीच में रुककर सोचते भी हैं। अजीब लगेगा, आप स्टेनो के सामने बैठे चुपचाप सोच रहे हैं और वह आप का मुँह ताक रहा है कि कब आप बोलें और कब वह लिखना शुरू करे। दूसरा सामने बैठा हो तो चिंतन भी ठीक से नहीं हो पाता, कम से कम गंभीर लेखन विषयक; उसके लिए तो एकांत चाहिए। डिक्टाफ़ोन पर भी अजीब लगेगा। कमरे में कोई नहीं है और आप पागल की तरह एक मशीन को कुछ सुनाते जा रहे हैं। सोचने के लिए रुके तो टेप तो चलता जाएगा, कहाँ तक बार-बार उसे रोकें-चलाएँ। नहीं, मैंने कह दिया, इस तरह मेरा लेखन नहीं हो सकेगा। मैं तो जब कागज़ सामने हो, पेंसिल या क़लम हाथ में हो, और कमरे में कोई न हो तभी कुछ सोच सकता हूँ, तभी कुछ लिख सकता हूँ। बाद को कभी मैंने 'ज़ोरबा-द-ग्रीक' उपन्यास के लेखक के प्राक्कथन में पढ़ा कि 'जब मैं कागज़ से पेंसिल या कलम लगाता हूँ तभी मुझे कुछ सृजनशील लेखन की प्रेरणा मिलती है।' मेरा भी यही हाल है। मैं भी अपना पहला ड्राफ़्ट पेंसिल से ही बनाता हूँ। मेरी टेबिल पर पेंसिल बनाने की एक छोटी-सी मशीन लगी है, उससे तीन-चार पेंसिलें जल्दी-जल्दी बनाकर रख लेता हूँ। लिखता मैं तेज़ी से हूँ, जब एक पेंसिल घिस गई, दूसरी उठा लेता हूँ। विचार जब दिमाग में दौड़ रहे हों, मैं रुकना नहीं चाहता, पेंसिल बनाने के लिए भी। बाद को मैं अपना पहला ड्राफ़्ट फिर पढ़ता हूँ, और उसमें यथोचित संशोधन करता हूँ, फिर उसकी साफ़ कापी बनाता हूँ, अब पेंसिल से नहीं कलम से, स्याही से और साफ़, जो दूसरे पढ़ सकें। मेरा पहला ड्राफ़्ट पढ़ना दूसरे के लिए मुश्किल होता है, कभी-कभी तो

मेरे लिए भी। आदत से आदमी मज़बूर होता है : इस प्रकार लिखने की मेरी ज़िंदगी भर की आदत है, वह अब बदली नहीं जा सकती। यह संस्मरण भी इसी तरह लिखा जा रहा है—कागज़ी गेंद-कसरत से मेरी उँगलियाँ अब ठीक हैं और अब मैं 10-12 पेज लगातार लिख सकता हूँ।

पत्रों का अभाव फ़ोन से पूरा होता, मैं दूसरे-तीसरे तेजी को फ़ोन करता, वहाँ का हाल-चाल बताता, यहाँ का हाल-चाल लेता, हर बार उनसे आग्रह करता, तुम भी जल्दी बंबई चली आओ। वे कहतीं, 'आऊँगी, आऊँगी, मैं यहाँ कुछ ज़रूरी कामों से रुकी हूँ।' और मैं कल्पना ही करता रहता, ज़रूरी काम वहाँ क्या होगा। मैं फ़ोनों से बहुत नाराज़ हूँ। फोन ने पत्र-लेखन कला को ही समाप्त कर दिया है। जगदीश राजन बहुत अच्छे ख़त लिखा करते थे, अब बस थोड़े-थोड़े दिन पर दो-एक मिनट को फ़ोन कर लेते हैं—बात क्या होती है 'कैसे हैं ? ठीक हूँ', 'कैसे हो ? अच्छा हूँ'—बस। अमित तो हिंदी में और अंग्रेज़ी में भी बहुत अच्छे ख़त लिखते थे, मैं तो उनके पत्र को 'पीस आफ लिटरेचर', साहित्यिक लेखन का नमूना ही कहता था, अब वे भी पत्र नहीं लिखते, जब फ़ुरसत मिली, दो मिनट का फ़ोन कर लेते हैं। कुशल-मंगल का समाचार मिल जाता है, मेरा उनको, उनको मेरा। मैं अमित से कहता हूँ, जब भी समय मिला करे, पत्र लिखा करो, उससे लिखने का अभ्यास बना रहेगा; पत्र-लेखन अच्छे लेखन का अभ्यास भी है। एक जीवंत माध्यम से आप रू-ब-रू होते हैं। अगर मैं कहूँ कि मैंने जो यत्किंचित पठनीय गद्य लिखना सीखा है वह पत्र लिख-लिखकर तो वह अतिशयोक्ति न होगी।

घर न मैंने कभी चलाया था, न मुझे घर चलाना आता था। जब कभी विवशता से घर चलाना ही पड़ा था तो बेशऊरी का उदाहरण ही पेश किया था 'गंउवां के लोगा कहैं बड़ी फुहरी'। एक बार, याद है, पंत जी के साथ रहकर उनका घर चलाने को मज़बूर हुआ था, और उनसे बेशऊरी का ही प्रमाण-पत्र पाया था—उन्हें काफी बड़ी आर्थिक हानि पहुँचाकर। 'हलाहल' के प्रथम संस्करण के 'कृति-परिचय' में इस फूहड़-कांड का पूरा ब्यौरा दिया है। मनोरंजक है, कभी पढ़ें।

अमिताभ का घर एक तरह से बेबी आपा चलाती थीं। बेबी आपा हास्य अभिनेता महमूद की तीन बहनों में सबसे छोटी थीं। जब अमिताभ महमूद के छोटे भाई अनवर अली उर्फ़ अन्नू के साथ रहते थे तभी बेबी आपा से उनका परिचय हो गया था। अनवर के मित्र के नाते बेबी आपा ने अमिताभ को अपना धरम का भाई बना लिया था। उनकी उमर पचीस के आस-पास होगी, बदन से भारी—स्थूलता का वरदान 'महाकाय' ने महमूद परिवार को खुलकर दिया है—गेहुँए रंग की, गोल मुँह की, बड़ी-बोलती आँखों की, और स्वभाव से खुशमिज़ाज, हालाँकि वे विधवा थीं, या उनके मियाँ ने उन्हें तलाक़ दे दिया था; उनके एक लड़का था जो अमिताभ को मामू जान कहता था।

बेबी आपा दूसरे-तीसरे दिन आतीं और मोहन सिंह से घर की ज़रूरियात पूछ, जुहू या इरला बाज़ार से ख़रीदकर पैन्ट्री और फ्रिजिडेयर में रखा जातीं—आटा, दाल, चावल, घी, मिर्च-मसाला, मक्खन, डबलरोटी, अंडे, सब्जी-फल आदि-आदि। इतवार-इतवार आकर वे धोबी को धोने के कपड़े देतीं, धुले कपड़े

लेतीं और हिसाब रखतीं। अमिताभ इन सब कामों के लिए उनके पास कुछ रुपये जमा कर देते होंगे। नए घर में सब कुछ शुभ हो और किसी तरह का अशुभ उसपर न उतरे इस दृष्टि से, अपनी अक़ीदत के मुताबिक़ उन्होंने क़ुरान पाक की एक बड़ी प्रति एक रेशमी बस्ते में डाल अमिताभ के कमरे में रख दी थी जिसे अमिताभ ने अपने नित्यपाठ की पोथियों, रामायण और जनगीता के साथ रख ली थी। बेबी आपा जब आतीं क़ुरान खोलकर कुछ पढ़तीं, कहतीं, हमारे यहाँ कहा जाता है क़ुरान को बंद नहीं रहना चाहिए, उसे वक़्त-वक़्त पर खोलकर उसकी तिलावत की जानी चाहिए। आयतों के अर्थ वे न बता सकतीं, कहतीं, बग़ैर अर्थ जाने भी हमारे मुल्ला-मौलवी कहते है कि क़ुरान शरीफ़ पढ़ने का पुन्न होता है। मुझे याद आता है रमण महर्षि ने भी यही बात वेद-मंत्रों के विषय में कही थी—वेद-ध्वनि मात्र से वातावरण शुद्ध हो जाता है। विभिन्न धर्मों की बाहरी, ऊपरी और सतही बातों को नज़रअंदाज़ कर दें तो उनमें बड़ी आंतरिक एकता पाई जाएगी। इसे समझने के लिए विवेक और अंतर्दृष्टि चाहिए—विवेक, ग़ैरज़रूरी को पहचानने को और अंतर्दृष्टि ज़रूरी को आत्मसात करने को, पर दुर्भाग्य है कि जनसाधारण में इन दोनों का अभाव होता है; वे ही धर्मों के अनावश्यक को महत्त्व देकर धार्मिक विरोध-वमनस्य-घृणा को बढ़ावा देते रहते हैं।

फिल्मों की दुनिया विचित्र है। वहाँ कितने तरह की अफ़वाहें उड़ती हैं जिनका सिर न पैर; पर जो जितनी अविश्वसनीय होती हैं, उनका उतना ही विश्वास किया जाता है। उन्हें बड़े शौक से सुना जाता है और उससे भी ज़्यादा शौक से उन्हें दूसरों से कहा जाता है। मुँह से कान और कान से फिर मुँह तक पहुँचती अपना रूप बदलती, क्या से क्या होकर वे कहाँ से कहाँ पहुँचती हैं, आप कोई अंदाज़ा नहीं लगा सकते। और फिर सिने-पत्र-पत्रिकाओं का संसार उन्हें ले उड़ता है। उन्हें सनसनीखेज़ अफ़वाहों को छापने से मतलब, सच्चाई चाहे उनमें राई बराबर न हो। राई हो तो उसे पहाड़ कर देना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल है। कोई पूछनेवाला नहीं कि जो ख़बर आप छाप रहे हैं उसका स्रोत क्या है। बस लिख दिया, 'ऐसा कहा जाता है', या ऐसा 'सुनने में आया है।' और फिर एक बार अख़बार से दूसरे अख़बार और एक पत्रिका से दूसरी पत्रिका में वही बात कुछ अदल-बदल नमक-मिर्च लगा, कुछ गरममसाला मिला प्रकाशित होती रहती है। लगता है ऐसी पत्रिकाओं के पाठक इस प्रकार की बातों को पढ़ने में रस लेते होंगे, तभी तो उनकी कमज़ोरी का लाभ उठा उनके प्रकाशक अपने पत्रों की बिक्री बढ़ाते, अपने मनचले-भोले पाठकों के पैसों का शोषण करते और उनकी रुचि को विकृत से विकृततर करते रहते हैं। इस देश में फ़िल्मी पत्रिकाएँ जितनी निकलतीं, छपतीं, बिकती और पढ़ी जाती हैं उतनी अन्य किसी प्रकार की पत्रिकाएँ नहीं, और सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि उनमें फिल्म-कला की दृष्टि से कोई तात्विक बात नहीं कही जाती।

यह सच है कि बंबई में तीन बरस से रहते और लगभग आधे दर्जन फिल्मों में काम करते अमिताभ ने अपने समवयस्क मित्रों की एक छोटी-मोटी टोली अपने इर्द-गिर्द इकट्ठी कर ली थी जिसमें कुछ नववय लड़कियाँ भी थीं, जो कभी उनके घर आतीं या वे उनके घर जाते या उनके साथ कार में आते-जाते या

किसी होटेल-रेस्ट्रों में देखे जाते। बस, फ़िल्मी दुनिया में उनके बारे में कहानियाँ गढ़ने के प्लाट मिल जाते, चर्चाएँ चल पड़तीं और उनकी प्रतिध्वनियाँ फ़िल्मी अखबारों और पत्रिकाओं में गूँजने लगतीं। आज अमिताभ का प्रेम फलाँ लड़की से चल रहा है, तो कल वे फ़लाँ अभिनेत्री से इश्क फ़रमा रहे हैं, तो परसों वे फलाँ प्रेमिका के साथ फ़लाँ जगह देखे गए, वग़ैरह-वग़ैरह। शुरू-शुरू में फ़िल्मी माहौल से अपरिचित ऐसी बातें सुन-पढ़कर मैं और अमिताभ दोनों बहुत उद्विग्न होते। बाद को पता चला फ़िल्मी हस्तियाँ ऐसी बातों से नाखुश नहीं होतीं, एक तरह से उनका स्वागत करती हैं; कुछ तो, ऐसा भी सुना, ऐसी ख़बरें ख़ुद उड़-वाते हैं, उनके लिए पैसे तक खर्च करते हैं कि उनकी चर्चा चलती रहे, किसी रूप में, 'बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा', और फ़िल्मी दुनिया में नाम के लिए बड़ी होड़ा-होड़ी है। पत्रकारों को पार्टियाँ दी जाती हैं, शराब पिलाई जाती है या और तरह से उनकी ख़ुशामदें की जाती हैं। कुछ तो बाक़ायदा तन-ख्वाहें देकर अपने पी० ओ० (पबलिसिटी आफ़िसर) रखते हैं जिन्हें फ़िल्मी मुहावरों में एक्टरों का चमचा कहा जाता है। आप भुलाए न जाएँ, आपका नाम, आपका चित्र अखबारों में छपता रहे, अच्छे-बुरे किसी भी संदर्भ में।

अमिताभ कला-साहित्य के जिस सुरुचि-संस्कारी वातावरण में पला-बढ़ा था उससे उसके लिए ऐसी ओछी बातों पर उतरना असंभव था। उसे ऐसे सस्ते विज्ञापन-प्रचार और ऐसी अफ़वाही, सनसनीखेज़ी पत्र-पत्रिकाओं से शुरू से घृणा थी, अब भी है और इसके कारण वह सदा से उनके कालमों में निंदा, लांछन और दुर्वाद का विषय बना रहा है—पर वह अपनी कला, अपने चरित्र, अपने व्यवहार, अपनी ईमानदारी से इन सबका निराकरण निष्प्रयास करता रहा है।

तभी किसी पत्रिका ने यह देखकर कि बेबी आपा अमिताभ के घर, जिसमें वह अकेला रहता है, अक्सर आती-जाती हैं, यह खबर छाप दी कि अमिताभ का बेबी आपा से प्रेम हो गया है और वह जल्दी उससे शादी करनेवाला है या गुप्त रूप से शादी कर ली है। अमिताभ यह पढ़कर बहुत क्षुब्ध, बहुत क्रुद्ध हुआ। बेबी आपा भी बहुत दुखी हुई। अमिताभ को महमूद और अनवर के सामने जाते भी संकोच होता—क्या सोचेंगे, क्या कहेंगे वे लोग कि जिसे भाई बनाकर घर मे रखा उसने इस तरह की बदतमीज़ी, बदतहज़ीबी की, बदसलीकगी दिखलाई। पर फ़िल्मी रिसालों के तौर-तरीक़ों से चिरकाल-परिचित उन लोगों ने कुछ नहीं कहा। अमिताभ ने ही किसी साक्षात्कार में ऐसी झूठी-बेबुनियाद, मनगढ़ंत खबरों को छापने के लिए फ़िल्मी पत्रिकाओं की बड़ी भर्त्सना की, पर नहीं याद कि किसी ने भी क्षमायाचना के रूप में एक पंक्ति भी छापी। उनका मक़सद ही यह था कि ऐसी झूठी खबरें छापें कि वे अमिताभ को प्रत्युत्तर देने को उकसा सकें और इस प्रकार उन्हें फिर एक बार अमिताभ के नाम को अपने प्रचार-साधन का माध्यम बनाने का मौक़ा मिले। अमिताभ को अखबारों की यह गहरी चाल समझने में कुछ समय लगा। फिर तो वह उनकी ओर बिलकुल उपेक्षा का भाव रखने लगा—कहें जो उनका जी चाहे—शायद उनकी स्मृति में कहीं मेरी ये पंक्तियाँ गूँजी होंगी जो मैंने किसी समय अपने आलोचकों के लिए लिखी थीं—

करे कोई निंदा दिन-रात, सुयश का पीटे कोई ढाल,
किये अपने कानों को बंद रही बुलबुल डालों पर बोल,
सुरा पी, मद पी, कर मधुपान।
('मधुबाला' से)

अप्रैल के प्रथम सप्ताह में राज्यसभा सचिवालय से एक संक्षिप्त पत्र मिला—'आपकी राज्यसभा-सदस्यता की अवधि समाप्त होती है, पूरी और आख़िरी अदायगी के रूप में आपके वेतन-भत्ते का चेक भेजा जा रहा है, कृपया अपना 'आइडेन्टिटी कार्ड' जितनी जल्दी हो सके लौटा दें।' यह भी यज्ञ समाप्त हुआ।

अप्रैल के अंत में 'मंगल' में ऊपर के दो कमरे बनकर तैयार हो गए और बेबी आपा ने अपनी सुरुचि से उन्हें फ़रनिश कराया। ऊपर के कमरों के साथ फ़ायदा यह था कि उनके सामने खुली हुई काफ़ी लंबी-चौड़ी छत भी थी। मैंने तो पहले से निश्चय कर लिया था कि मैं नीचे के अपने पुराने कमरे में ही रहूँगा। अमिताभ को भी अपना सरो-सामान ऊपर के कमरे में ले जाना-लगाना बखेड़े का काम मालूम हुआ। उन्होंने भी यही तय किया कि वे अपने नीचे वाले कमरे में ही रहेंगे। ऐसा सोचा गया कि माँ आएँगीं तो ऊपर के एक कमरे में वे रहेंगीं और दूसरे कमरे में अजिताभ जब वे जर्मनी से अपना शिपिंग का प्रशिक्षण समाप्त कर लौटेंगे। उनकी ओर से ऐसी सूचना दी जा चुकी थी कि वे मई के दूसरे सप्ताह में बंबई पहुँचेंगे।

तेजी को मैं जब भी फ़ोन करता मेरी एक ही रट रहती—जल्दी-से-जल्दी बंबई चली आओ। अब तो मेरी राज्यसभा की सदस्यता भी समाप्त हो गई थी और मुझे आशंका थी कि जल्दी ही मुझे 13, विलिंगडन क्रिसेंट का बँगला खाली कर देने की नोटिस मिल जाएगी। इधर ऊपर के कमरे भी तैयार हो गए थे कि जब वे आएँगीं उन्हें रहने की किसी प्रकार की असुविधा न रहेगी, अजिताभ भी शीघ्र आनेवाले थे, हम तीनों की देखरेख के लिए भी उनका बंबई में आकर रहना ज़रूरी था। और अंत में मैं यह सोचता था कि तेजी के आ जाने से बेबी आपा के सिर से अमिताभ का घर चलाने का भार उतर जाएगा, उनका यहाँ आना-जाना कम हो जाएगा, और फिर एक वयस्क स्त्री के घर में रहने से बेबी आपा या अन्य लड़कियों को लेकर जो अफ़वाहें आए दिन फैला करती हैं वे समाप्त हो जाएँगीं। दिल्ली का घर छोड़ने के संबंध में तेजी के लिए जो हिचक और जो कठिनाई थी उसे भी मैं समझता था। हम उस घर में चौदह बरस रह चुके थे। इतने लंबे अरसे में उस घर में इतना सामान इकट्ठा हो गया था कि न उसे वहाँ से निकाल देना आसान था और न उसे यहाँ साथ लाना। मैं बार-बार यहाँ जगह की तंगी के विषय में उन्हें आगाह करता रहा था—उनकी साँप-छछूँदर की गति वाली मनःस्थिति की कल्पना कर मैं खुद घबराता था। फिर भी मेरे मन में यह स्पष्ट था कि किसी तरह भी हो हमें दिल्ली का घर छोड़ना पड़ेगा। सरकारी मकान छोड़ने पर हम दिल्ली में कोई दूसरा मकान लेकर भी नहीं रह सकते। अमिताभ की फ़िल्में अच्छी नहीं जा रही थीं और फ़िल्मी संसार में उनकी क़ीमत घट रही थी। बंबई का घर चलाने का खर्च कम नहीं था। ऐसी हालत में बंबई के घर के अलावा दिल्ली के घर के भी चलाने का भार अमिताभ

के कंधों पर डालना उनके प्रति अन्याय होता। तेजी शायद मुझसे अधिक यह बात समझती थीं, पर वे जल्दी हार नहीं मानतीं, दिल्ली का घर न छोड़ना पड़े, इसके लिए वे कुछ दूसरे उपाय भी सोचती थीं, जिसके लिए अमिताभ को पाई भी न खरचनी पड़े। आपरेशन के बाद की कमज़ोरी अभी मेरी कम न हुई थी और ये सब चिंताएँ मुझे मानसिक रूप से भी कमज़ोर कर रही थीं। कुछ राहत मिलती तो इस ख्याल से कि अजिताभ विदेश से लौटें तो शायद काई राह निकालें।

जैसा प्रत्याशित था, मई के दूसरे सप्ताह में अजिताभ हवाई जहाज से सांता-क्रुज में उतरा; गया था वह मद्रास से पानी के जहाज़ से। मैं और अमिताभ लेने गए थे, उसे स्वस्थ-प्रसन्न देखकर हम बहुत आनंदित हुए। हम लोगों के मिलन के उस क्षण की परिपूर्णता में एक ही कमी खली थी कि माँ वहाँ नहीं थीं।

चार-छह दिन बाद अजिताभ की वर्षगाँठ पड़ने वाली थी—पचीसवीं वर्ष-गाँठ—रजतजयंती वर्षगाँठ। अजिताभ ने सबसे पहले, फिर अमिताभ ने, फिर मैंने माँ को फ़ोन किया कि अजिताभ की यह महत्वपूर्ण वर्षगाँठ मनाने के लिए हम सबको साथ होना चाहिए, आप ज़रूर-ज़रूर आएँ। तेजी तैयार हो गईं। अजिताभ के लिए दिल्ली से सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों-कार्डों का उपहार लेकर आईं, अमिताभ के लिए भी, मेरे लिए भी। हमने अपने यहाँ ऐसी प्रथा डाली है कि किसी का जन्मदिन हो, घर का बड़ा परिवार के सब सदस्यों को कोई न कोई उपहार दे—तेजी ही देती हैं—मैं नहीं देता, मैं बधाई-शुभकामना-प्यार के रूप में दो-चार पंक्तियाँ लिखकर देता हूं। मैं कहता हूँ मेरे पास सबसे मूल्यवान वस्तुएँ तो शब्द ही हैं। अजिताभ की रजतजयंती वर्षगाँठ पर जो कविता मैंने लिखकर दी थी वह मुझे अब तक याद है। सुनना चाहेंगे? यह तो शायद आप जानते हों कि हम अजिताभ को प्यार के नाम 'बंटी' से पुकारते हैं—

रजत जयंती
पर लो, बंटी,
शुभ आशीष हमारी;
तुम-सा बेटा
पाकर तेजी—
मैं—दोनों बलिहारी।
स्वस्थ रहो,
सानंद रहो तुम
लक्ष्मण-से ही प्यारे।
राम सरीखे
अपने भाई
के बन सदा सहारे!

हमने सदा अनुभव किया है कि अजिताभ के कंधे बहुत मज़बूत हैं और अमिताभ बड़ा होकर भी बहुत सुकुमार है और उसे कोई अपने निकट चाहिए जिसपर वह 'लीन' कर सके, जिसका वह सहारा ले सके। तभी वह अपने अंदर से सर्वश्रेष्ठ

निकालकर दुनिया को दे सकता है।

अजिताभ भी विदेश से माँ के लिए, भाई के लिए, मेरे लिए छोटे-मोटे उपहार लाया था। मेरे लिए जर्मनी का एक फाउंटेनपेन लाया था, जो मेरे पास अब भी है। क़लमों का मैं बड़ा गुदिया हूँ 'गुदिया' अवधी में शौकीन के लिए प्रयुक्त होता है) और कलमों की मुझे अच्छी परख भी है। हर क़लम का अपना व्यक्तित्व होता है। किसी क़लम से कविता अच्छी लिखी जा सकती है, किसी क़लम से गद्य। कोई क़लम कामकाजी पत्र लिखने के लिए अच्छा होता है, कोई प्रेमपत्र; कोई अंग्रेज़ी लिखने के लिए, कोई हिंदी लिखने के लिए; कोई नीली स्याही के उपयुक्त, कोई काली के, कोई लाल स्याही के, कोई ज़्यादा लिखने के लिए, कोई कम—पत्रों पर पता आदि, कोई सिर्फ़ हस्ताक्षर करने के लिए। क़लमों को कागज़ों की भी पहचान होती है। कोई मोटे कागज़ पर अच्छा लिखता है, कोई पतले कागज़ पर, कोई चिकने कागज़ पर। मेरे पास ऐसी निबों के क़लम हैं जो मोटे-से-मोटा भी लिख सकें और पतले-से-पतला भी। एक क़लम ऐसा है कि उससे मोटा-पतला दोनों लिख सकते हैं, निब पर लगी एक पत्ती को थोड़ा ऊपर-नीचे खिसकाकर। एक क़लम तिपहले निब का है। इससे हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी तीनों खुशखत में लिख सकते हैं—इसे ज़रा-सा दाएँ-बाएँ झुका या सीधा करके। मेरे पास एक ऐसा क़लम है जिसमें छोटा-सा बल्ब लगा है, लिखते-लिखते बिजली चली जाए तो आप स्विच दबाइए, बल्ब जल उठेगा और उसके उजाले में आप लिखते जाइए। मेरी टेबिल पर 10-12 तरह के कलम रहते हैं। मैं समय-समय पर क़लमों की सफ़ाई भी करता हूँ, उनकी डाक्टरी भी, यानी अगर उनमें कोई ख़राबी आ जाए तो उन्हें ठीक कर सकता हूँ। कोई अच्छा क़लम देखकर उसे किसी-न-किसी तरह हथियाने की मेरे मन में ललक उठती है; मोल, माँगे से न मिल सके तो चुराने में भी मैं संकोच न करूँगा। आपके पास अच्छा क़लम हो और आप मुझसे मिलने आएँ तो ज़रा होशियार रहें; आप शायद ही अपना क़लम वापस लेकर घर लौटें; डा० जीवनप्रकाश जोशी भुक्तभोगी हैं। जोशी जी मेरे जन्म दिन पर मुझे बधाई देने आए। मुझसे किसी किताब पर आटोग्राफ़ कराने को उन्होंने अपना क़लम निकाला। दस्तखत करते ही मुझे लगा कि इनका क़लम बहुत अच्छा लिखता है। मैंने उसकी तारीफ़ कर दी। शिष्टाचारी औपचारिकता में उन्होंने कहा, 'आप की नज़्र है।' और मैंने उन्हें शुक्रिया कहकर क़लम अपने जेब में रख लिया। तेजी और पास बैठे लोगों ने समझा मैंने मज़ाक किया। पर मैं गम्भीर था। जोशी जी जाने लगे तो तेजी ने आग्रह किया, जोशी जी का क़लम तो लौटाओ। मैंने कहा, 'वह जोशी जी ने मुझे भेंट कर दिया है, भेंट की हुई चीज़ लौटाना जोशी जी का अपमान होगा।' जोशी जी क़लम गँवाकर अंदर-अंदर क्या सोच रहे होंगे, पर ऊपर से उन्होंने ऐसा ही दिखाया कि जैसे मेरे भेंट स्वीकार कर लेने से वे बड़े खुश हैं। बाद को मैंने शिफ़र का एक नया क़लम उन्हें भेंट कर उनसे कलम-बदल दोस्ती पक्की की जैसे पुराने जमाने में लोग पगड़ी बदलकर दोस्ती करते थे।—अस्पृश्य-चुनाव संबंधी पूना-समझौते के बाद डा० अम्बेडकर और राजाजी ने शायद पहली क़लम-बदल दोस्ती की थी। मुझे क़लम उड़ाने के कुछ और तरीक़े भी मालूम हैं। मेरे बेटे अब ज़्यादा ही विदेश जाते हैं, मुझसे पूछते हैं, आप के लिए क्या लाऊँ, मैं कहता हूँ कोई नए

तरह का क़लम निकला हो तो लाना—और वे लाते हैं। मेरे पास क़लमों का अच्छा भंडार है—और मैं उसे कंजूस के धन की तरह सेता हूं।

तेजी बंबई आईं तो दिल्ली से मेरे लिए एक नई खिचड़ी पकाकर लाईं, पर मैं खाने को तैयार न हुआ। जब भी वे दिल्ली का घर छोड़ने की बात सोचती थीं तो कोई जैसे अंदर से कहता था कि यह उनके लिए हितकर न होगा। मेरा अनुमान है कि ढाई महीने जब वे अकेले दिल्ली में रहीं किसी समय इंदिरा जी से मिलकर अवश्य उन्होंने कहा होगा कि यदि वे करा सकें तो मुझे राज्यसभा की सदस्यता के लिए दुबारा नामांकित करा दें, मैं कुछ अपनी साहित्यिक योजनाएँ पूरी कर लूंगा, बेटे हमारे व्यवस्थित होने के क्रम में हैं, छह वर्ष में हो ही जाएँगे, अभी हम उनपर अपना भी भार न डालना चाहेंगे। न करा सकने की स्थिति में तेजी ने यह भी उन्हें स्पष्ट करा दिया होगा कि दिनकर जी को हटाकर खाली कराई गई केन्द्रीय समिति के सचिव की जगह भी मैं स्वीकार न कर सकूंगा, और उसका औचित्य भी संभवतः इंदिरा जी ने देख लिया होगा, गो व्यावहारिक नीति में ऐसी भावुकता को प्रश्रय देना उनके बहुत मनोनुकूल न था। मैं मानूंगा और इसके लिए उनके प्रति मैं बहुत आभारी हूँ कि वे दिल से चाहती थीं कि मेरे योग्य सरकार में कोई ऐसा काम निकाला जा सके जिससे मुझे दिल्ली से न हटना पड़े। उनके संकेत पर ही शायद शिक्षा मंत्रालय से एक दूसरे पद के लिए मुझे टटोला गया। उन दिनों श्री नूरुल हसन शिक्षा मंत्री थे। उन्हें एक हिंदी सलाहकार की आवश्यकता थी। सलाहकार को औपचारिक वेतन मात्र 1 रुपया दिया जाएगा। पर उसे रहने को बँगला दिया जाएगा, कार एलाउंस दिया जाएगा, उसे एक स्टेनो, एक चपरासी दिया जाएगा, उसे प्रतिदिन मंत्रालय आना ज़रूरी न होगा, वह अपना काम चलाऊ दफ़्तर अपने बँगले के किसी कमरे में रख सकेगा, फ़ोन उसके पास होगा, यदा-कदा मंत्रालय के काम से बाहर जाने पर उसे यात्रा-खर्च और समुचित भत्ता मिलेगा। उसका काम होगा—निश्चय ही पूछे जाने पर—हिंदी संबंधी मामलों में (हिंदी से नितांत अनभिज्ञ) शिक्षा मंत्री को सलाह देना। तेजी यही प्रस्ताव साथ लेकर बंबई आई थीं और चाहती थीं कि मैं इस पद को स्वीकार कर लूं—काम अधिक नहीं होगा, जो होगा मेरे मन के अनुकूल होगा और फ़िलहाल दिल्ली से उखड़कर बंबई में बसने की परेशानियों से हम बच जाएँगे। बेटे हमें कुछ भेजने की स्थिति में न भी हुए तो रायल्टी से हम दो प्राणियों का गुज़ारा हो जाएगा। उनके मन में कहीं यह भी होगा कि बंबई की नम आबोहवा उनके दमे के लिए प्रतिकूल सिद्ध होगी और उन्हें अंततोगत्वा दिल्ली लौटना पड़ेगा।

नारी बहुत दूर तक देखती है, पुरुष चार क़दम के आगे नहीं देख पाता।

तेजी का प्रस्ताव मेरे सिर के ऊपर से निकल गया। ऑपरेशन के बाद की कमज़ोरी ने मेरे दिमाग़ को भी बहुत कमज़ोर कर दिया था। अपने कमज़ोर दिमाग़ से मैंने कुछ इस प्रकार सोचा—नूरुल हसन हिंदी के हित में कुछ खास नहीं करेंगे, और उनका हिंदी सलाहकार होने के नाते हिंदी संसार इसके लिए सारी तोहमत मेरे सिर मढ़ेगा। कहा तो यही जा रहा है कि कुछ ज़्यादा काम नहीं होगा, पर मैं दस बरस सरकारी दफ़्तर में काम कर चुका हूँ, मैं जानता हूँ

कि खानापुरी के लिए बहुत-सा ऐसा काम करना पड़ता है जिसका महत्व कुछ नहीं होता, पर जिसके पीछे सिर-खपाई काफ़ी करनी होती है। अपनी कमज़ोर हालत में ऐसी मर-मशक्कत मुझसे न होगी। मुझे इस समय कुछ आराम चाहिए। फिर मैं चाहूँगा कि बेटे जब बंबई में हैं तो उनकी देखरेख के लिए तेजी बंबई रहें—खासकर जब अमित गंदी अफ़वाहों के शिकार हो रहे हैं और अपने नए क्षेत्र में हारती-सी लड़ाई लड़ रहे हैं; और अजित विदेश से लौटने के बाद इस दुविधा में हैं कि फ़र्म की सीमित-वेतन की नौकरी करते जाएँ या अपना कोई स्वतन्त्र उद्योग शुरू करें। विदेश प्रशिक्षण काल को कार्यकाल ही समझा गया था, इसलिए उन्हें शा वैलेस से एक मास की छुट्टी दी गई थी। इस बीच दोनों भाइयों की सलाह से यह निश्चय हुआ था कि अजित अपनी नौकरी छोड़ दें और स्वयं अपनी स्वतंत्र शिपिंग कंपनी आरम्भ करें। अजिताभ के सामने उन दिनों शिपिंग उद्योग सम्राट ओनासिस का उदाहरण था जिसने इस उद्योग से अरबों कमाया था और हाल ही में जैकलीन (केनेडी की विधवा) से शादी की थी। पर अपनी शिपिंग कंपनी आरंभ करने के लिए पूँजी के नाम पर अजिताभ के पास भूँजी-भाँग न थी। तेजी का अगर बेटों के पास रहना ज़रूरी होगा, तो क्या मुझसे यह प्रत्याशा की जाएगी कि मैं किसी नौकर के भरोसे अकेले दिल्ली रहूँ। मुझसे यह नहीं निभेगा। फिर मैंने समुद्र से आशनाई कर ली थी, दिल्ली में यह आक्षितिज लहरों का उच्छल विलास देखने को कहाँ मिलेगा, और सबके ऊपर बहुत-बहुत दिनों के बाद ऐसा अवसर आया था कि मैं बेटों के पास रह सकूँ—उन्हें अपनी आँखों के सामने देखने का—भले ही वे अपने संघर्ष में लगे हों—एक अभूतपूर्व संतोष था, सुख था। मैं सोचता, अब कितने दिन मुझे और जीना-रहना है, जो थोड़े से बचे हुए दिन मेरे पास हैं वे बेटों के सान्निध्य में बीतें। घर के एक कोने में पड़ा रहूँगा, जो कुछ नमक-रोटी मिलेगी खा लूँगा, उनके उतारे कपड़े पहन लूँगा—बेटों के उतारे कपड़े पहनना कोई छोटे सुख-सौभाग्य की बात नहीं है। मेरा खर्च भी क्या है, जीवन में मैंने कोई खर्चीली आदतें नहीं डालीं, न तेजी ने ही; तेजी की और अपनी निजी आवश्यकता के लिए मेरी किताबों की रायल्टी पर्याप्त होगी, और जबतक बेटों की आर्थिक आय सुनिश्चित नहीं होती तबतक शायद मैं ही अपनी रायल्टी में से घर चलाने के लिए यत्किंचित सहयोग दे सकूँ, गो, मैं स्पष्ट कर दूं कि जब तक भी मैं बंबई रहा, कभी भी बेटों ने मेरे बैंक एकाउंट या मेरी रायल्टी से एक पाई की भी माँग मुझसे नहीं की—बल्कि पूछ-पूछकर मेरे जेबखर्च के लिए मुझे ही कुछ देते रहे—तेजी को भी घर चलाने के खर्च के ऊपर कुछ देते होंगे। हमें कभी उनसे कुछ माँगने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

हम चारों की कई-कई, बड़ी-बड़ी देर की बैठकें-बहसें हुईं। अमित का काम जिस गिरावट पर था, अजित जिस असमंजस की हालत में थे और मैं जिस शारीरिक और मानसिक दुर्बलता में अपनी उम्र खींच रहा था उसमें सबकी राय यही हुई कि इस सँकरे वर्तमान और संदिग्ध भविष्य की स्थिति में हम सब साथ रहें। जब हम सब बंबई में रहें तब दिल्ली का घर रखने की क्या तुक। उसपर थोड़ा भी खर्च क्यों उठाया जाए। दिल्ली से अगर ज़्यादा सामान लाना ही पड़े—कहाँ तक बरसों की जोड़ी गिरिस्ती फेकेंगे—जो इस घर में न समा सके तो कोई गोदाम या गराज़ किराए पर लेकर वहाँ रखा जाए—शायद कभी हमारे

दिन फिरें, शायद हम कभी बड़े मकान में रहने की स्थिति में पहुँच सकें, शायद हम किसी दिन बंबई और दिल्ली दोनों जगह मकान रखने का खर्च उठा सकें।

उसी समय मेरे मित्र रामनिवास ढँढारिया बंबई पधारे; अपने किसी उद्योगपति मित्र के साथ ठहरे। उनका भी काम-धंधा उन दिनों मंदा चल रहा था और वे काफ़ी चिंतित थे। इसी चिंता में कुछ उनका स्वास्थ्य भी खराब हो गया था। ऐसी हालत में शायद अपने उद्योगपति मित्र की सलाह पर उन्होंने गणेशपुरी के बाबा मुक्तानंद की शरण में जाकर उनसे आशीर्वाद लेने की योजना बनाई। उद्योगपति मित्र की मान्यता थी कि उनके व्यापार में जो कुछ उन्नति-प्रगति हुई थी वह बाबा मुक्तानंद की शुभकामना-आशीष से। उन्होंने अनुरोध किया कि मैं भी उनके साथ चलूँ—शायद बाबा की कृपा से मेरे परिवार का भी मंगल हो। ऐसा कोई विश्वास लेकर नहीं, पर कौतूहलवश मैं रामनिवास के साथ गणेशपुरी जाने को तैयार हो गया।

बाबा मुक्तानंद के नाम-रूप से मैं अपरिचित न था। सबसे पहले शायद बंबई के मेरे मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन ने मुझे उनके बारे में लिखा था। बाबा कुछ वर्षों से दिल्ली का चक्कर लगाने लगे थे और लोदी रोड पर अपने किसी भक्त के यहाँ ठहरते थे। वीरेन्द्र जी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी, वे अपने भक्तों पर शक्तिपात करते हैं और उनकी कुंडलिनी जगा देते हैं जिससे आप किसी क्षेत्र में काम करते हों आपकी प्रतिभा जाग्रत और अद्भुत रूप से सक्रिय हो जाती है। अपने सृजनशील लेखन में स्वयं उन्हें ऐसी अनुभूति हुई थी। मैं एक बार लोदी एस्टेट में उनके दर्शनार्थ गया था। दस-बारह लोग उनके पास बैठे थे। भगवा वस्त्र में थे—शरीर मझोला, गहरे साँवले रँग का, चेहरे पर खसखसी खिचड़ी दाढ़ी, आँखों पर काला चश्मा, उम्र लगभग मेरी-सी। उनसे मेरी कोई खास बात-चीत न हुई थी और उनसे मैं विशेष प्रभावित भी न हुआ था। पर क्रम-क्रम से हर बार उनके दिल्ली आने पर भीड़ उनके चारों ओर बढ़ने लगी, शामियाने लगने लगे, उनके प्रवचन-कीर्तन होने लगे, भंडारे आयोजित किए जाने लगे, बाबा-लिखित पुस्तकें, आश्रम-पत्रिकाएँ, बाबा के छोटे-बड़े चित्र बाहर बिकने लगे।

दिनकर की कुछ मानसिक समस्याएँ-चिंताएँ थीं और वे साधु-संतों से उनके शमन-समाधान की प्रत्याशा किया करते थे। वे महर्षि रमण के पास भी गए थे, अरविंद आश्रम की 'मदर' के भी दर्शन किए थे और गणेशपुरी में बाबा मुक्तानंद के आश्रम में भी कुछ दिन रह आए थे। बाबा ने उनपर शक्तिपात तो न किया था, पर दिनकर आश्रम की कार्यप्रणाली से बहुत प्रभावित होकर लौटे थे। विशेष प्रभावित वे इस बात से हुए थे कि आश्रम में कुछ योरोपियन नवयुवक-नवयुवतियाँ सब प्रकार की सेवाएँ नितांत विनम्र भाव से किया करते थे। उन्होंने मुझसे भी कहा था कि कभी मैं गणेशपुरी जाकर बाबा का चमत्कारी प्रभाव देख आऊँ। रामनिवास का साथ पाकर मैं जाने को तैयार हो गया। कार से हम लोग गए थे और रात को आश्रम में पहुँचे थे। वहाँ बहुतेरी कारें खड़ी थीं। विचित्र है इन बाबाओं के दरबार में धनी-मानी लोग ही जुड़ते हैं—'जनु धनिकन कर जुरा समाजा'। उन दिनों बाबा का जन्मदिन निकट था और आश्रम में अखंड कीर्तन चल रहा था—'हरे रामा, हरे रामा, राम रामा हरे हरे'—'हरे कृष्णा, हरे

कृष्णा, कृष्ण-कृष्ण हरे हरे'। आश्रम निवासियों की दस-दस बारह-बारह की टोलियाँ बनती थीं और वे चार-चार घंटे पर ड्यूटी बदलकर कीर्तन को अखंड चौबीसों घंटे चलाए रखती थीं। उन दिनों बाबा के एक पट्ट शिष्य प्रो० जैन आश्रम के सर्वेसर्वा थे। उन्होंने रात रहने के लिए हमें एक कमरा दिला दिया। आश्रम के नियम बहुत कड़े थे। सुबह तीन बजे जगाने का घंटा घनघनाता था और चार बजे नहा-धोकर सब आश्रमवासियों को बड़े हाल में पहुँच जाना होता था जहाँ तीन घंटे प्रार्थना-कीर्तन-ध्यान आदि होते थे, मुक्तानंद के गुरु स्वर्गीय सद्गुरुनाथ महाराज स्वामी नित्यानंद की बैठी काया-मापी मूर्ति के समक्ष। सात से आठ तक स्वामी मुक्तानंद जी महाराज अपने विशेष कक्ष के बाहर निकल एक ऊँचे चबूतरे पर बैठते थे और आश्रमवासी लाइन लगाकर उनका दर्शन करते थे और नीचे फ़र्श पर बैठ जाते थे। उस समय किसी को कुछ पूछना होता था तो पूछता था और स्वामी जी अपनी बंबइया-अटपटी हिंदी में उत्तर देते थे—कुछ शब्दों से, कुछ अपने अप्रासंगिक हास्य से। 8 बजे काफ़ी और चुरमरे का नाश्ता सबको मिलता था और फिर आश्रम के नियमित कामकाज शुरू हो जाते थे—रामनिवास ने दर्शन-वेला में अपनी कुछ चिंताएँ उनके सामने रखी थीं, जिसका उत्तर उन्होंने दिया था 'साब ठीक हो जायँगा।' मुझसे उन्होंने कहा था, 'तुम हमारा आश्रम में थोड़ा काल वास करो, तुम्हारा जीवन में कुछ अद्भुत होयँगा।' फिर उन्होंने कुछ साहित्यकारों के नाम गिनाए थे जो आश्रम में ठहरे थे—वीरेन्द्र कुमार का, दिनकर का, यशपाल जैन का और कुछ औरों का, और सबको बहुत लाभ हुआ था। जैसे संतों को जवाब दिया जाता है, मैंने कहा था, कभी आपकी कृपा होगी तो आऊँगा। आश्रम की शिस्त, सफ़ाई, समय की पाबंदी आदि प्रभावकारी थीं।

बाद को बाबा के विदेशों के दौरे शुरू हुए, विशेषकर अमरीका के और विदेशी शिष्यों से बाबा को आश्रम के लिए अपार धनराशि प्राप्त हुई। विदेशों में और भारत में भी नगर-नगर में उनके आश्रम की शाखाएँ खुलीं। कुछ दिन हुए बाबा ने देहोत्सर्ग किया। आश्रमों की गद्दी का अधिकारी दो तैलंग भाई-बहन को बना गए हैं, वे स्वयं भी तैलंग थे। सुना है एक करोड़ की लागत से तो दिल्ली में ही मुक्तानंद आश्रम खड़ा किया गया है, पूरे का पूरा वातानुकूलित और सब तरह के आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित—'बहु दाम सवांरहिं धाम जती, तपसी धनवंत दरिद्र गृही'—(तुलसीदास की शाब्दिक भितरमार का कोई जवाब नहीं; 'दाम' के अर्थ 'जाल' और 'फंदा' भी होते हैं! 'तपसी धन' में 'तपसी सीधन' की ध्वनि का भी मुलाहज़ा करें)। पता नहीं आश्रमवासियों की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ क्या होती हैं और समाज को किस रूप में प्रभावित करती हैं। कुछ दिन पहले किसी पत्रिका में एक लेख छपा था कि गणेशपुरी का आश्रम संचालक कोई अमेरिकी है जिसके विरुद्ध हत्या-तस्करी, जालसाज़ी के कई मुकदमे चल रहे हैं। आश्रम ही ऐसे पतितों को पावन करने का काम न करेंगे तो कौन करेगा—'मैं हरि पतित पावन सुने!'—'हरि मैं सब पतितन कौ टीकौ'—'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—सूर-तुलसी की वाणी को ऐसे ही पतित, कुटिल, खल तो आज़ सार्थक कर रहे हैं! पर उस समय स्वामी मुक्तानंद के इस आश्वासन पर कि कुछ समय आश्रम में रहने से मेरे जीवन में कुछ अद्भुत होगा, मेरे मन में उठा

था कि क्यों न कुछ दिन यहाँ रहकर इसकी परीक्षा की जाए; बंबई में रहते हुए यह मुश्किल तो न होना चाहिए; पर फिर कभी वहाँ जाने का मौक़ा न आया।

जब पूरे परिवार की यह सलाह हो चुकी थी कि हमें सब सरो-सामान के साथ दिल्ली छोड़ बंबई आ जाना है तो मेरा एक बार दिल्ली जाना ज़रूरी था। मैं तो जल्दी-जल्दी में बंबई चला आया था, महीनों से न मैंने अपने कागद-पत्रों को क़ायदे से रखा था, न अपनी किताबों को विषय क्रम से लगाया था। कितनी किताबें तो टेबिल पर ही पड़ी थीं, अब तो ज़रूरी-ग़ैरज़रूरी खानों में उन्हें अलगाना था, बहुतेरी तो निकालनी थीं, दे देनी थीं या बेच देनी थीं—किन-किन को, इसका निर्णय मुझे ही करना था। सामान में तीन-चौथाई बोझ तो किताबों का होना था और उनकी मुझे निर्ममता से छँटनी करनी थी। मैं एक बार किताबों का निबटान कर आऊँ तब तेजी जाएँ और बाक़ी सामान लेकर बंबई चली आएँ।

मेरे दिल्ली जाने के प्रस्ताव का किसी ने विरोध नहीं किया। मेरे लिए खाना बनाने और घर की देख-रेख के लिए सुलेखा का परिवार वहाँ था ही। सुलेखा हमारी नौकरानी थी जिसके भरोसे तेजी दिल्ली का घर छोड़ बंबई आ गई थीं। वह अपनी से कुछ ज़्यादा उम्र के जमादार पति और दो 15-16 की आयु की लड़कियों के साथ हमारे सर्वेंट क्वार्टर में रहती थी। सुलेखा बोलचाल, रहन सहन और पारस्परिक व्यवहार में इतनी शिष्ट, सलीक़ेदार थी कि तेजी का अनुमान था कि वह किसी भले संपन्न घर की स्त्री थी और '47 के विभाजन की गड़बड़ी में अपने परिवार से अलग हो, किसी मुसलमान के शिकंजे से छूट इस जमादार की शरण में आ गई थी। उसकी दोनों लड़कियाँ भी कुछ पढ़ी लिखी, सुरुचि संपन्न और घर-गिरिस्ती के काम को तरीक़े से करना जानती थीं। जब मैं बंबई चला गया तो यह सोचकर कि घर में अकेली स्त्री के साथ किसी मर्द नौकर का रहना ठीक नहीं, उन्होंने प्रेम सिंह को छुट्टी दे दी थी और खाना बनाने का काम भी सुलेखा या उसकी लड़कियों से करा लेती थीं, वे ही घर की झाड़-पोंछ, सफ़ाई भी करती थीं। उनकी ईमानदारी पर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता था।

मैं हवाई जहाज से जुलाई के प्रथम सप्ताह में दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में मानसूनी वर्षा शुरू हो गई थी, गर्मी की ताप का बल टूट चुका था, पेड़-पौधे पहली वर्षा में ही नहा-धुल कर ताज़े, कुछ अधिक हरे दिखाई देते थे, खुली-खाली ज़मीन पर जगह-जगह घास उगने-उगने को थी। उस दिन भी बादल छाए थे और धीमे-धीमे बूँदा-बाँदी हो रही थी।

घर में किताबें हर जगह फैली थीं—मेरी स्टडी में, ड्राइंगरूम में, खाने के कमरे में, पीछे की ओर बाहरी बरामदे में, यहाँ तक कि बाथरूम में भी—तेजी की अपनी किताबें उनके कमरे में अलग थीं, अमिताभ-अजिताभ की किताबें उनके कमरों में अलग, जो वे कलकत्ता-मद्रास से लाकर यहाँ छोड़ गए थे। तेजी-अमित-अजित की किताबों को तो मुझे नहीं छूना था, अधिक से अधिक उन सबको बड़े-बड़े बक्सों में बंद करा देना था। पर अपनी बहुत-सी किताबें मुझे निकालनी थीं।

मैं नहा-धोकर काम शुरू करता—किताबों को छाँटने का। करीब आधी

किताबें तो मैंने भागवत झा आज़ाद को दे दीं। कभी पहले उनसे बात हुई थी, मुझे अपनी बहुत-सी पुस्तकें निकालनी हैं—उन्होंने कहा था, मुझे दे दीजिए, मैं अपने चुनाव-क्षेत्र के स्कूलों-पुस्तकालयों में दे दूंगा। दिन में कई बार उनकी मोटर आती और सुलेखा की लड़कियाँ छँटीं किताबें उठा-उठा मोटर की सीटों पर रखतीं।

मेरा सारा दिन घर में ही बीतता। कभी बाहर निकलता तो बाक्स, फ़ाइलें आदि खरीदकर लाने के लिए—पुस्तकों, चिट्ठियों, कतरनों, ज़रूरी कागज़ों को अलगा-अलगा कर रखने को।

अपने कागद-पत्रों को—और लेखकों के पास वे कितने-कितने तरह के होते हैं—निरख-परखकर सुरक्षित रखने या नष्ट करने के अलावा जो मुख्य काम मुझे करना था वह था ऐसी पुस्तकों के चुनाव का, जिन्हें मैं रखना चाहूँगा, जिन्हें मैं पढ़ना या फिर-फिर पढ़ना चाहूँगा। रखने के लिए सीमित स्थान और पढ़ने के लिए सीमित समय—65 के बाद मैं कितना और जिऊँगा—आँखों में कितनी शक्ति रहेगी पढ़ने की—के ध्यान ने मुझे अपने परिवार की और अपनी संग्रही, संजोई, सुरक्षित पुस्तकों के साथ समुचित न्याय नहीं करने दिया। मेरे पास पाँच हज़ार से कम पुस्तकें न होंगी; बंबई ले जाने के लिए मैंने केवल 500 पुस्तकें चुनीं।

अपने परबाबा के किताब के शौक के बारे में मैंने कभी नहीं सुना। उन्हें शौक था घोड़े और बाज़ पालने का। उनकी निशानी के रूप में परिवार में सँजोई चीज़ें थीं—लोहे के बाज़ के अड्डे, लगाम की मुखरियाँ (जबड़-जकड़) और ज़ीन की रकाबें। उन्हें मैंने अपने बचपन में देखा था; ये कब घर से निकल या निकाल दी गईं मुझे पता नहीं।

अपने बाबा के खारुए के बस्ते के बारे में मैंने राधा से सुना था। खारुएँ का बस्ता तो कभी का सड़-गल गया होगा। अपने लड़कपन में मैंने अपने बाबा की हाथ-बने कागज़ की हस्तलिखित किताबें, कुछ बेजिल्दी, कुछ चमड़े की जिल्दबंद—सबकी सब अरबी लिपि में—एक बड़े-से लकड़ी के बक्से में देखी थीं। हर साल दीवाली पर जब कोठरियों की पुताई होती वह बक्सा निकालकर आँगन में रखा जाता, किताबें निकालकर झाड़-पोंछ कर फिर उसमें रख दी जातीं। हर साल कुछ किताबें दीमक लगी मिलतीं। बहुत दीमक लगी किताबें फेंक दी जातीं। और इस तरह एक साल बाबा का वह बक्सा खाली हो गया। उन दिनों ऐसा विश्वास था कि अगर साँप की केंचुल किताब के अंदर रख दी जाए तो दीमक उन्हें नहीं खाती। कई किताबों के अन्दर साँप की केचुलें मिलतीं—पर उस घर की दीमकें बड़ी चालाक हो गई थीं—केंचुल वाले पन्ने को छोड़ वे किताबों को ऊपर-नीचे से खाती रहतीं। मेरे बाबा की कोई किताब अब मेरे पास नहीं है।

मेरी माता जी को पढ़ने में रुचि थी, पर घर-गिरिस्ती के कामों से उन्हें कहाँ फ़ुरसत मिलती थी कि किताबें पढ़ें। घर में उनकी अपनी चार-पाँच किताबें थीं—रामायण, सूरसागर, सुखसागर, प्रेमसागर और राधेश्याम कथावाचक की रामायण के कुछ खंड—उनका अब कोई पता नहीं, शायद मेरी बहनें अपनी ससुराल ले गईं। माँ को दूसरों से सुने गीत-भजनों को लिख लेने का शौक था।

उनकी वह जिल्दबंधी कापी मेरे पास है—उनकी एकमात्र निशानी। मेरी बड़ी बहन आर्यकन्या पाठशाला की पढ़ी थीं। उन्होंने कुछ आर्यसमाजी साहित्य घर में इकट्ठा किया था, पर पिता जी ने किसी तरकीब से उसे घर से निकाल दिया।

मेरे पिता को किताबें पढ़ने और इकट्ठा करने का शौक था। उनके दो ही शौक थे, पढ़ने का और घूमने का—घर पर हैं तो कोई किताब पढ़ रहे हैं, घर पर नहीं हैं तो छड़ी-छाता ले कहीं घूमने निकल गए हैं—बड़ी छुट्टियाँ हैं तो तीर्थ-यात्रा पर; उनकी तीर्थ-यात्राएँ उत्तर प्रदेश के तीर्थों तक ही सीमित थीं—काशी, विंध्याचल, चित्रकूट, मथुरा, वृंदावन, गढ़ मुक्तेश्वर, हरिद्वार, नैमिषारण्य, अयोध्या आदि—बद्री-केदार की ओर वे नहीं बढ़े। हाँ, तो बातें हो रही थीं उनकी किताबों की। रामायण के वे बड़े प्रेमी थे। जिसके घर रामायण न होती उसके घर का पानी न पीते थे। रामायण के जितने भी संस्करण निकलते छोटे-बड़े वे ज़रूर खरीद लाते। घर में सबके लिए अलग-अलग रामायण की प्रतियाँ थीं, दो-चार ऊपर। वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से निकलने वाली संतवानी पुस्तकमाला की सभी पुस्तकें उनके पास थीं। स्वामी रामतीर्थ के वे भक्त थे—उनका सारा साहित्य भी उनके पास था, जो उन दिनों अंग्रेजी और अरबी लिपि में निकलता था। उर्दू शायरों के अजिल्दी दीवान भी कई उनके पास थे—नज़ीर अकबराबादी और मीर उनके प्रिय शायर थे। फ़ारसी शायरों के कई काव्य-संग्रह उनकी पुस्तकों में थे। फ़ारसी में उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का एक संग्रह उन्होंने शमशेर बहादुर सिंह को भेंट किया था। वे जानते थे उनके बेटों ने फ़ारसी नहीं पढ़ी, इस कारण अपनी बड़ी उम्र में वे अपनी फ़ारसी की किताबें, फ़ारसी जाननेवालों में बाँटने लगे थे। अंग्रेज़ी की उनके पास दो-तीन सौ किताबें होंगी। चालीस बरस उन्होंने पायोनियर प्रेस में काम किया था। 'पायोनियर' में आलोचना के लिए उस समय के देसी और विलायती अंग्रेज़ी प्रकाशन दो-दो प्रतियों में बराबर आते रहते। किपलिंग ऐसे लोग उसके संपादक रह चुके थे। ज़्यादा किताबें इकट्ठी हो जाने पर प्रेस उन किताबों को निकालता होगा। पिता जी अपनी रुचि की किताबें मुफ़्त या नाममात्र दाम देकर घर ले आते थे। ग़दर पर कुछ किताबें थीं, मुझे याद है, जिनमें सिपाहियों की लड़ाइयों की कुछ तस्वीरें अब भी मेरी आँखों में बसी हैं। राजा राममोहन राय के संपूर्ण-लेखन का एक संग्रह था। एक चिंतामणि द्वारा संपादित सर फीरोज़शाह मेहता के भाषणों का—काफ़ी मोटा—लाल कपड़े की जिल्द का। गोखले के भाषणों के एक संग्रह की भी याद है। सामयिक राष्ट्रीय आंदोलन में पिता जी की रुचि होगी। गांधी जी के पत्र 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' की फ़ाइलें तो वे जिल्द बँधाकर रखते थे। ओंकार प्रेस, इलाहाबाद से निकलने वाली चारु-चरितावली की भी कई किताबें उनके पास थीं जिनमें से कुछ मैंने पढ़ी भी थीं।

पिता जी की मृत्यु के पश्चात मेरे पास आने पर माँ ने बहुत-सी उनकी किताबें मुट्ठीगंज के कमरे की आलमारियों में रख दी होंगी। उनमें कीड़ों और दीमकों ने अपने वर्षों के भोजन की सामग्री पाई होगी। जब मैं इलाहाबाद से दिल्ली के लिए प्रस्थान करने लगा था तब अपने पिता की पुस्तकों की एक पूरी आलमारी अपने भाँजे राम के पास छोड़ आया था। मुझे पता नहीं उन किताबों का हश्र क्या हुआ। हिंदुस्तानी आबोहवा में दीमक, कीड़े, एक तरह की मछलियाँ

किताबों में खूब लगती हैं। पहले लोग न जानते थे कि उनको कैसे नष्ट किया जाए। किताबों की कीटमुक्त होने की नियति को उन्होंने स्वीकार कर लिया था—मेरी ही एक पंक्ति है 'हमारी तुकबंदी के हेतु बहुत होंगे लघु-लघु कृमिकीट' (हलाहल)। अब कुछ पाउडर वगैरह निकले हैं जिनको समय-समय पर छिड़कने से इन कीड़ों से किताबों को बचाया जा सकता है। मेरे पास इस समय पिताजी की केवल चार पुस्तकें हैं—एक उनके नित्यपाठ का रामचरितमानस जो हमारे परिवार में एक तरह की पूजा की वस्तु-सा माना जाता है—यह तेजी जी अपने हनुमान-मंदिर में ही रखती हैं। दूसरी है 'मीराबाई की शब्दावली' (वेलवेडियर प्रेस प्रकाशन)। तीसरी है मैथिलीशरण गुप्त की 'भारतभारती' (तृतीयावृत्ति—संवत 1973 यानी सन् 1916 की—जब मैं 9 वर्ष का रहा हूँगा—प्रथमावृति सन् 1912 में हुई थी जिस वर्ष रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला था)। उसके एक पृष्ठ पर मेरी उस समय की राइटिंग में हिंदी में एक पंक्ति लिखी है—

'भारत हमारा देश है हम कुछ-न-कुछ कर जायँगे'

'भगवान ! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' के वज़न पर।

मैंने जब कभी 'भारत-भारती' की यह प्रति अपने पुस्तकालय से उठाई है मैंने अपने पिता की स्मृति को नमन किया है। 9-10 वर्ष के 'बच्चन' की लिखी यह पंक्ति पढ़ी है—

'भारत हमारा देश है हम कुछ-न-कुछ कर जायँगे'

और अपने से पूछा है कि 'बेटा, तूने जो वादा किया था उसको कितना पूरा किया ?' तो अपने जीवन भर के किए को 'कुछ-न-कुछ' की श्रेणी में भी रखते एक तरह के असंतोष का अनुभव करता हूँ।

और कभी इस असंतोष से अपने को मुक्त करने के लिए ऐसा भी अपने से कहा है कि वादा मैंने 'मैं' के नाम से नहीं किया था, 'हम' के नाम से किया था। और हमारी पीढ़ी ने ऐसा तो नहीं, कि कुछ नहीं किया। कुछ-न-कुछ तो किया है जिसे शायद इतिहास नगण्य न मानेगा। बहुत विनम्र भी न बनना चाहिए। प्रदर्शन लगता है। मुझे अपनी एक छोटी सी कविता याद आ गई है। उसी को देकर यह प्रसंग समाप्त करना चाहूँगा, 'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' की है— 'पैमाना' शीर्षक से :

जिसने बहुत किया
उसने कहा, मैंने कुछ नहीं किया।
जिसने कम किया
उसने कहा, मैंने बहुत किया।
जिसने कुछ नहीं किया
उसने कहा, मैंने सब कुछ किया।
काम ने अपना पैमाना छिपाया,
आदमी ने बता दिया।

शायद काम को आदमी के पैमाने से नापना काम की सच्ची माप करना है।

पिता जी की चौथी किताब---छोटी-सी---वेदांत दर्शन पर है---'आनंदामृत-वर्षिणी' स्वामी आनंदगिरि कृत (संवत् 1992, शाके 1857)। दर्शन भी पिता जी की रुचि का एक क्षेत्र था।

अपने परिवार में पुस्तकों की सबसे अधिक संख्या बढ़ाई मैंने। मेरे बाद तेजी ने; पढ़ने का शौक उन्हें भी बहुत है। लाहौर से जब मैं उन्हें लाया था तो उनकी किताबों के बक्सों को देखकर मैंने कहा था---मेरे दहेज़ का सबसे बड़ा और सबसे मूल्यवान हिस्सा ये किताबें हैं।

अमिताभ और अजिताभ ने भी अपने रुचि-रस की किताबें ला-लाकर परिवार के पुस्तकालय का आकार बढ़ाया है।

अपने चारों ओर किताबों को देखकर यह निर्णय लेने में मुझे घबराहट होती थी कि किस आधार पर पुस्तकों को निकालूँ, किस आधार पर रखूँ।

कुछ किताबों को देखते ही कह सकता था, उन्हें मैं अब नहीं पढ़ूँगा। पहली छंटनी में सब ऐसी किताबें मैंने 'आज़ाद' के नाम कर दीं।

फिर कुछ किताबें मौलिक साहित्य की थीं, कुछ उनपर आलोचनात्मक। जीवन भर मौलिक साहित्य पढ़ने के बाद अब मैं उनपर राय क़ायम करने के लिए दूसरों की आलोचनाएँ नहीं देखूँगा। दूसरी छँटनी में सब आलोचनात्मक पुस्तकें निकाल दीं। मुझे याद है आलमारी की आलमारी ऐसी किताबों की मैंने कबाड़ी के हाथों बेच दी---और निश्चय कौड़ी के मोल। 'ले दही' और 'ला दही' का अंतर कबाड़ी पहचानता है। मैं किताबें निकालने की जल्दी में था---मूल्य का महत्त्व नहीं था। बेचने के अलावा, उस समय जो भी मिलने आया और जिसने यह संकेत दिया कि वह कुछ किताबों के भार से मुझे मुक्त करने में रुचि रखता है उसे मैंने चार-छह किताबें दे दीं---मुझे याद है हिंदी आलोचनात्मक पुस्तकों की एक पूरी आलमारी मैंने मुनीश पांडे को दे दी थी---मुनीश किसी कालेज में अध्यापक थे, कुछ उपयोग किया होगा उन्होंने मेरी पुस्तकों का। तीन-चार वर्ष हुए किसी कारण उन्होंने आत्महत्या कर ली। मैंने उनपर एक कविता लिखी थी। पता नहीं मेरी किताबें अब कहाँ हैं।

अंत से कुछ किताबें रह गईं जिन्हें क्लासिक्स कहते हैं---वे मेरी जानी सभी भाषाओं की थीं---अंग्रेज़ी की, संस्कृत की, हिंदी की, उर्दू की---प्रायः नागरी लिपि में।

कुछ किताबें उनसे संबद्ध विशिष्ट प्रसंगों के कारण रखनी पड़ीं।

रखनेवाली किताबों की संख्या भी, जैसा पहले कह चुका हूँ, लगभग 500 थी---उनमें 450 बक्सों में बंद कर दीं---सिर्फ़ 50 किताबें साथ बंबई ले जाने को अलग रख लीं।

सोचा, शायद इतनी किताबों को रखने के लिए 'मंगल' के अपने कमरे में जगह बनानी मुश्किल न होगी। इनमें में दस-बारह किताबें तो वही थीं जिनके बारे में कभी लिखा कि अगर दुर्भाग्यवश मेरे पुस्तकालय में आग लग जाय तो इन्हीं को लेकर भागना चाहूँगा। इनके अलावा मैंने 'महाभारत', 'वाल्मीकि-रामायण', 'श्रीमद्भागवत', 'ईशादि नौ उपनिषद', 'हिंदी नवरत्न' कवियों की ग्रंथावलियाँ (चंदबरदायी को छोड़), 'पद्मावत', 'मीरा-माधुरी', 'विद्यापति की पदावली', वार्ड संपादित 'इंगलिश पोयेट्स', क्रेक संपादित 'इंगलिश प्रोज़', अंग्रेज़ी-हिंदी-

संस्कृत-उर्दू कोश, ब्लेकनी संपादित 'क्लासिकल डिक्शनरी', डाउसन संपादित 'हिंदू क्लासिकल डिक्शनरी' चुनीं। अपनी किताबों में मैंने 'अभिनव सोपान' और 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' तथा 'नीड़ का निर्माण फिर' को लिया। पांडुलिपियों में से चार फ़ाइलें रखीं—अप्रकाशित कविताओं की, अप्रकाशित वार्ता-निबंधों की, 'किंग लियर' और 'एन्टोनी और क्लियोपाट्रा' के अपूर्ण अनुवादों की।

इस प्रकार अपने कागद-पत्रों और किताबों के संबंध में जो काम करने मैं आया था वह पूरा हुआ; एक मास लगा।

होमर ने अपने महाकाव्य में कहीं लिखा है--जब जहाज़ बनाने के लिए जंगल में शाह बलूत के दरख़्त गिराये गए तो आसमान बड़ा हो गया!—अंधे कवि की यह कितनी सुस्पष्ट और चित्रात्मक कल्पना है! उसके एक छोटे से रूप का आभास मुझे अपने घर में भी हुआ। जब किताबें और कई आलमारियाँ हटा दी गईं तो कमरे बड़े हो गए। पहले कमरे में बोलने पर किताबें जैसे आवाज़ को जज़्ब कर लेती थीं, अब कमरे आवाज़ें प्रतिध्वनित करने लगे। किताबों को आलमारियों से उतारते, निरखते, परखते, अलगाते, कभी यहाँ से उठाते, कभी वहाँ पर धरते वर्ड्सवर्थ की एक पंक्ति बार-बार दिमाग में गूँजा करती थी—

''बुक्स! 'टिज़ ए डल एंड ऐंडलेस स्ट्राइफ़।'
(किताबें कितनी बे-रस और बेअंत बखेड़े की चीज़ हैं।)

प्रकृति की रसमयता और रहस्यमयी प्रेरणाओं के समक्ष वर्ड्सवर्थ को किताबें नीरस और निरर्थक लगी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मानव जीवन की क्रियमाण उत्फुल्लता को देखकर अंग्रेज़ी निबंधकार स्टीवेन्सन ने भी कहा था—

''बुक्स आर द ब्लडलेस सब्स्टीट्यूट्स आफ़ लाइफ़।''
(किताबें जीवन की रक्तहीन स्थानापन्न भर कही जा सकती हैं।) और अपने यहाँ के कबीर के कथन से तो सभी परिचित हैं—

> पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय,
> ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै तो पंडित होय।

यानी प्रेम के ढाई अक्षरों से जितना सीखा जा सकता है उतना मोटी-मोटी किताबों (पोथी शब्द की ध्वनि में ही शायद मोटी किताब का संकेत है) से नहीं सीखा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रकृति, मानवीय-जीवंतता और प्रेम की तुलना में जड़ पृष्ठों पर लिखी या छपी पुस्तक का कोई मूल्य नहीं। मैंने ही कभी लिखा था—

> न पढ़ पाया मैं वेद-पुराण,
> न पढ़ पाया इंजील-कुरान,
> और ही कुछ पढ़ने की ओर
> गया गलती से मेरा ध्यान;
> नियति के हाथों से जो लेख
> लिखा लाया मानव का भाल,
> खपाकर अपना तन, मन, प्राण
> रहा हूँ उसका अर्थ निकाल।

पर हमें क्या यह पूछने का अधिकार नहीं कि क्या पुस्तकें केवल कागज़-स्याही के खेलवाड़ हैं ? ख़ैर, आज जब कागज़-स्याही सहज सुलभ हैं और लिखने छपाने की हरएक को स्वतंत्रता है, तब बहुत-सी किताबें केवल कागज़-स्याही के खेलवाड़ से अधिक नहीं कही जा सकतीं। पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि कागज़ और स्याही के माध्यम से प्रेम और जीवन और प्रकृति के गंभीरतम रहस्य भी खोले गए हैं। मनुष्य ने बहुत कठिन साधना और बहुत बड़ा मूल्य चुकाकर यह कला सीखी होगी कि अक्षरों में, शब्दों में कैसे अपनी अनुभूतियों को, उपलब्धियों को, अपने को ही अवतरित कर दे। जब यह संभव हुआ है—और बहुत बार संभव हुआ है—तब किताब जड़, शुष्क अथवा निर्जीव नहीं रह गई है, वह जीवित ही नहीं, अमर, देवता-देवी-सी साबित हुई है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि जीवंत से जीवंत पुस्तक से लाभान्वित हो लेना, जितना वह दे सकती है उतना उससे ले लेना, हर एक के वश की बात नहीं है। अधिकारी लेखक चाहिए तो अधिकारी पाठक भी चाहिए। अंग्रेज़ी में एक कहावत है, 'ए मिल्टन इज़ रिक्वायर्ड टु अंडरस्टैंड ए मिल्टन'। क्षमा करेंगे, अगर आप अधिकारी नहीं हैं तो अच्छी से अच्छी, बड़ी से बड़ी पुस्तक को पढ़कर आप महज़ बेवकूफ़ बने रहे सकते हैं। किताबों से अधिक बेवकूफ़ बनानेवाली चीज़ शायद दुनिया में कोई दूसरी नहीं। बहुत-से लोग किताबें पढ़-पढ़कर सिर्फ़ बेवकूफ़ बन गए हैं, क्योंकि जब वे पढ़ते हैं तो सोचता उनके लिए कोई दूसरा है। वे तो बस उसके विचारों-भावनाओं-कल्पनाओं की लीक पकड़े हुए चलते चले जाते हैं। ऐसा पढ़ना सबसे बड़ा पलायन हो सकता है। इसीलिए नीत्शे ने लिखा है कि जो सिर्फ़ वक़्त काटने के लिए पढ़ते हैं उनसे मुझे घृणा है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अधिकारी पाठक बनना उतना ही मुश्किल काम है जितना अधिकारी लेखक बनना। बड़े लोगों ने भी पुस्तकों और पाठकों के विषय में जल्दबाज़ी में निर्णय दे दिया है। अगर मुझसे कोई पूछे कि तुम्हारे बौद्धिक जीवन की सारी साधना क्या रही है तो एक वाक्य में मैं इतना ही कहना चाहूँगा—अधिकारी लेखकों का अधिकारी पाठक बनना और अधिकारी पाठकों के लिए अधिकारी लेखक बनना। जब मुझे बार-बार वर्ड्सवर्थ की 'बुक्स···एन एंडलेस स्ट्राइफ़' याद आती थी, तब मैं किताबों के गुण-मूल्य की बात नहीं सोच रहा था। सोच रहा था कि किताबों को लेकर अपनी इस उम्र में मुझे कितना बखेड़ा उठाना पड़ रहा है।

ख़ैर, जब किताबें बक्सों में बंद हो गईं, घर बड़ा हो गया, आवाज़ें अपने को प्रतिध्वनित करने लगीं तो यह कोई सुखद अनुभव न था। दिमाग़ी और जिस्मानी तनाव-मशक्कत से राहत मिली थी, पर एक गहरी उदासी के साथ। आपने कोई जगह देखी है जहाँ मेला लगा हो, और फिर एक-दो दिन बाद वहाँ गए हों जब मेला उठ गया हो ? आप संवेदनशील व्यक्ति हैं तो उस जगह को देखकर एक बार उदास ज़रूर हो गए होंगे। मैं भी उदास हो गया था। एक मेला उठ गया था। और यह मेला उस जगह पर 14 वर्ष लगा हुआ था। उस जगह से कुछ मोह होना ही था, उससे बिछुड़ने की पीड़ा अनुभव करनी ही थी। अपनी ही बरसों पहले लिखी पंक्ति मस्तिष्क में गूँजती थी—

चल बजारे,
तुझे निमंत्रित करती धरती नयी
नया ही आसमान,
चल बंजारे।

नई धरती, नए आसमान का किसी उम्र में आकर्षण होता है, पर 65 वर्ष की उम्र पर तो जी यही चाहता है कि जहाँ रह रहे हैं वहीं रहते जाएँ, हालाँकि उस नई धरती के ऊपर और उस नए आसमान के नीचे मुझे खींचनेवाली कई चीज़ें थीं—

नई धरती के ऊपर अमिताभ-अजिताभ होंगे।
अमिताभ-अजिताभ का दिनानुदिन निखरता भविष्य होगा।
नए आसमान के नीचे लहराता समुद्र होगा।
मेरी 'द बेस्ट इज़ यट टु बी' की प्रतीक्षा होगी।

दिल्ली छोड़ने के पहले विदा-मिलन के लिए मैं सिर्फ़ दो व्यक्तियों के पास गया। श्रीमती गांधी के यहाँ—उन्हें मुझे धन्यवाद देना था, उनसे क्षमा माँगनी थी—किसके लिए, आप समझ गए होंगे—उनसे मुझे विदा लेनी थी, अपने लिए उनकी शुभकामना भी, और उनके और उनके परिवार के प्रति अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करनी थीं। उन्होंने अपने परिवार के सब सदस्यों को बुलाकर मुझसे मिलवाया—संजय, राजीव से, राजीव की पत्नी सोनिया से। चलने लगा तो उन्होंने कहा, 'आप बंबई जा रहे हैं, पर इसे मैं दिल्ली से आपकी अंतिम विदाई नहीं मानती।' उन्होने एक तरह से भविष्यवाणी ही की थी। सत्येन्द्र शरत् के यहाँ—इतवार-इतवार को आकर मेरे कागद-पत्रों को विषयानुसार अलग कर फ़ाइल करने में उन्होंने मेरी बड़ी सहायता की थी; मास के अंत में उनकी लड़की के एपेन्डिक्स का आपरेशन हुआ था, मैं उसे देखने अस्पताल भी गया था, अब वह घर लौट आई थी। चलते-चलते सत्येन्द्र ने मुझसे कहा था, कुछ ऐसी ख़बर है कि जल्द ही मेरा स्थानांतरण बंबई होनेवाला है। सुनकर मैंने कहा था, मालूम होता है हम सबका ग्रह एक-सा ही पड़ा है जो हम सबको बंबई की ओर खदेड़ रहा है। सत्येन्द्र ने कहा था कि अगर उनका स्थानांतरण हो ही गया तो वे अकेले ही आएँगे। उषा और दोनों बच्चे यहीं रहेंगे। उषा की स्कूल की पक्की नौकरी है, बच्चे पढ़ रहे हैं। पहले भी उनका स्थानांतरण बंबई हुआ था तो वे अकेले ही गए थे। मैंने उन्हें आमंत्रित किया था कि अगर अकेले आ रहे हैं तो मेरे साथ, मेरे कमरे में ही ठहरें। सत्येन्द्र की निकटता मुझे प्रियकर थी और तेजी भी उन्हें पुत्रवत् मानती थीं—तेजी की सिनेमाई और मेरी साहित्यिक रुचि दोनों के साथ उन्होंने साम्य बना रखा था।

12 अगस्त को तेजी का जन्मदिन पड़ता था। मैं तीन-चार रोज़ पहले पहुँच गया था—ट्रेन से, क्योंकि मेरे साथ तीन भारी बक्से थे—किताबों के, कुछ पढ़ने-लिखने के सामान के, कुछ ज़रूरी कपड़ों के। मैंने अपना सामान अपने नीचे के कमरे में लगा लिया। तेजी के जन्मदिन पर हमने कुछ खास न किया था। पर हम चारों साथ थे, यही क्या खास खुशी न थी! वे दिन हमारे लिए बड़ी मानसिक

चिंता और भारीपन के थे। 'आनंद' में अमित ने अपने अभिनय की विशिष्टता का जो संकेत दिया था उससे आकर्षित हो कई प्रोड्यूसरों ने उसे अपनी फ़िल्मों में 'हीरो' का रोल दे दिया था। अमित ने अपनी अनुभवहीनता में और शायद आर्थिक आवश्यकता की विवशता में कई ऐसी फ़िल्में साइन कर ली थीं जिनके 'हिट' होने की कोई संभावना न थी, शायद अल्पकालिक लोकप्रियता की भी नहीं। नतीजा यह हुआ कि 'बाम्बे टु गोवा' की आंशिक सफलता के पश्चात एक के बाद एक उसकी फ़िल्में 'फ़्लाप' होती गईं—'प्यार की कहानी', 'संजोग', 'परवाना', 'गहरी चाल', 'बंसी बिरजू', 'एक नज़र', 'बँधे हाथ', 'रास्ते का पत्थर'। इतनी फ़िल्मों का लगातार 'फ़्लाप' होना नए-नए अभिनेता की तो बात छोड़िए किसी जमे हुए 'हीरो' को भी फ़िल्म क्षेत्र से उखाड़ फेंकने के लिए पर्याप्त है। पर अमित जमा रहा, वह श्रम-संघर्ष में लगा रहा, उसका अपनी कला-क्षमता में विश्वास बना रहा, वह अपने दिन फिरने की प्रतीक्षा करता रहा। अजिताभ अपनी नौकरी छोड़ चुके थे, पर अपने नए उद्योग की अभी रूप-रेखाएँ ही खींच रहे थे, नक्शे ही बना रहे थे। मैं एक तरह से बेकार बैठा था—महीनों से अर्जन-समर्थ लिखने के लिए क़लम तक न उठाई थी। पिछले आपरेशन के बाद की कमज़ोरी, किताबों, काग़द-पत्रों, पांडुलिपियों की हफ्तों की उठा-धर, दे-बेच-फेंक, दिल्ली-सेवन की सोलह वर्षी अभ्यस्तता के बाद उससे अलग होने की पीड़ा, नई धरती, नए आकाश, नए परिवेश, नए वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने का आयास-प्रयास—इन सबने अब मुझे सिर्फ़ इस योग्य रख छोड़ा था कि अपने कमरे में चुपचाप बैठकर घड़ी को घूरूँ। गर्मी के दिनों में नीलोच्छल सागर का जो आकर्षण मैंने अनुभव किया था उससे भी मैं बंबई की अँखधारा बरखा में वंचित हो गया था। पानी रुकने पर कभी समुद्र तट पर जाता तो वह भी गँदला, मटमैला, तरंगोद्धत और भयंकर लगता!

ऐसे समय में तेजी का हमारे साथ होना बहुत बड़ा वरदान था। अमित जब हताश-निराश दिनभर का थका-माँदा घर आता तो वे उसे अपने पास बिठातीं, उसके माथे पर अपना आशीर्वादी हाथ फेरतीं, उसे ढाढ़स देतीं, धैर्य बँधातीं और अपनी करुण-मधुर पर निःसंशय वाणी से एक दिन उसकी सुनिश्चित सफलता और यशोज्ज्वल भविष्य का उसमें विश्वास जगातीं। अजिताभ को वे अपने प्रयत्नों में अधिक योजनाबद्ध, अधिक व्यावहारिक, अधिक सक्रिय होने के लिए प्रोत्साहित करतीं और मुझे कुछ लिखने-पढ़ने के लिए प्रेरित करतीं—अपने तीस बरस के वैवाहिक जीवन के अनुभव से उन्होंने यह जाना था कि मैं तभी सामान्य, स्वस्थ, सानंद रहता हूँ जब मैं पठन-लेखन में व्यस्त रहता हूँ। उनका स्वास्थ्य स्वयं बहुत अच्छा न था। बंबई की बरसात और नमी ने, जिसकी उनसे यह पहली टक्कर थी, उनके दमे को दस गुना बढ़ा दिया था। पर अपने कष्ट को दबा रखने की तेज़ी में अद्‌भुत क्षमता है। उन दिनों शायद ही कभी मैंने सुना हो उनको कहते या संकेतित करते कि उन्हें कोई तकलीफ़ है। उन्हें जब दमे के दौरे आते वे अपने कमरे में चली जातीं, दरवाज़ा बंद कर लेतीं। उन्हें कुछ पेटेंट दवाएँ मालूम थीं, जिन्हें वे हमेशा अपने पास रखतीं और उन्हें ले, कुछ राहत पा, प्रसन्नमुख बाहर आ जातीं और अगर हम तीनों से कुछ बात न करनी होती तो घर के काम-काज-प्रबंध में लग जातीं। उनकी शक्ति,

उनके सामर्थ्य का मूल था उनकी अटूट आस्था में, उनकी सुदृढ़ श्रद्धा में जो वे अपने इष्ट, अपने हनुमान जी में रखती थीं—'मंगलमूरति मारुत नंदन, सकल अमंगल मूल निकंदन' निश्चय हमारा मंगल करेंगे।

अमित-अजित अपनी चिंताएँ कभी मेरे सामने न रखते। कोशिश करते कि उसकी भनक भी मेरे कानों में न पड़े। वे जानते थे कि उनके पिता का जीवन सघन संघर्ष का रहा है, उनकी अब निश्चिंत, निर्द्वंद्व काल-यापन की अवस्था है। पर एक दिन मैंने सुन लिया—अपनी माँ से कह रहे थे—" 'हीरो' शायद मैं नहीं बन सकूँगा"—मनुष्य को क्या दोष दें, पुरुष का भाग्य देवता भी नहीं जानते—"अब मैं 'कैरेक्टर रोल' पर उतर आना चाहता हूँ"—'कैरेक्टर रोल' फिल्मी भाषा में उन अभिनेताओं का कहा जाता है जो 'हीरो' के साथी-सहायक के रूप में काम करते हैं। यह उन दिनों की बात है जब सत्येन्द्र शरत् भी बंबई आ गए थे और मेरे साथ, मेरे ही कमरे में रहते थे। मैंने अमित की यह निराशा सत्येन्द्र से बताई थी। सत्येन्द्र वर्षों बंबई में रह चुके थे, फ़िल्मी संसार और वहाँ की रीति-नीति से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने मुझसे कहा था, अमित ऐसा करेंगे तो अपने फ़िल्मी जीवन की सबसे बड़ी ग़लती करेंगे। 'कैरेक्टर रोल' करके फिर 'हीरो' के रोल में उठनेवाले फ़िल्मी दुनिया में शायद ही मिलें। अमित में 'हीरो' बनने की पूरी क्षमता है, पर समय उनका साथ नहीं दे रहा है, उन्हें धैर्य और साहस के साथ 'हीरो' के रूप में ही अपनी फ़नकारी सिद्ध करने की कोशिश करनी चाहिए। शायद सत्येन्द्र ने किसी संध्या अमित पर अपनी राय प्रकट भी कर दी थी।

चित्रपट-संसार का मुझे कोई अनुभव न था। फ़िल्में मैंने बहुत कम देखी थीं, जब कभी किसी के आग्रह पर जाता तो देखना मुझे अच्छा लगता था, पर मुझपर लिखने-पढ़ने का इतना काम रहता था कि फ़िल्मों के लिए समय निकालना मेरे लिए मुश्किल था। अंग्रेज़ी फ़िल्मों की तो बात ही छोड़िए, मुझे हिंदी फ़िल्मों के नामी-गिरामी फ़नकारों के नाम-रूप से भी रग़बत न थी। बंबई में कुछ अधिक फ़िल्मों के संपर्क में आते अगर मैं चित्रपट पर देख किसी अभिनेता को पहचान लेता या उसका नाम ठीक बता देता तो तेजी और सत्येन्द्र मुझपर व्यंग्य करते—फ़िल्मी दुनिया का आपका ज्ञान तो ख़ूब बढ़ गया है! कभी मैं ग़लती करता, किसी बड़े अभिनेता का नाम किसी दूसरे का बता देता तो मेरी ख़ूब हँसी भी होती। एक बार, याद है, मैंने दिलीप कुमार को राजेन्द्र कुमार बता दिया और एक बार अरुणा ईरानी को जया!

फ़िल्मी दुनिया की अनुभवहीनता के कारण अमित जिस स्थिति में थे, उसमें उनकी मैं कुछ भी सहायता न कर सकता था। साहित्यिक दुनिया के नियम यहाँ न लागू होते थे; और अनुभव मुझे थोड़ा-बहुत साहित्यिक-संसार का ही था। वहाँ तो छोटी-मोटी चीज़ें लिखते-लिखते आदमी किसी दिन बड़ी और सरस चीज़ भी दे सकता था। पर यहाँ का दस्तूर यह सुना कि अगर शुरू ही बड़ी चीज़ से न करोगे तो फिर कभी बड़ी चीज़ न दे सकोगे। छोटी से शुरू करोगे तो हमेशा छोटी-मोटी चीज़ ही देते रहोगे। अपनी अक़्ल में यह बात कुछ जमती नहीं थी। पर सच शायद यही थी। फ़िल्म से संबद्ध किसी बात पर अपनी राय देते मुझे संकोच होने लगा था। जहाँ तक मुझे मालूम था, बड़े रोल में असफल होने पर प्रोड्यूसर अभी अमित को छोटा रोल देने के लिए भी तैयार न थे। मैंने ऐसा भी

सुना था कि अमिताभ को फ़िल्म में नायक के रूप में लेकर, कुछ शूटिंग कर लेने के बाद भी, एकाध फ़िल्म-निर्माताओं ने, इस आशंका से कि उसके साथ उनकी फ़िल्म डूब जाएगी, उसे हटा, उसकी जगह पर किसी दूसरे को ले लिया था। इतना ही नहीं, एकाध फ़िल्मों के लिए दी अग्रिम राशि भी शायद उसे लौटाने के लिए मजबूर होना पड़ा था। मैं इन बातों के विषय में अधिकारपूर्वक नहीं लिख सकता। मुझे आशा है किसी दिन अमिताभ अपनी आत्मकथा लिखेंगे तो निश्चय उनपर अधिक प्रामाणिक प्रकाश पड़ सकेगा। अमित अपनी बात को अपनी तरह से कहने की कला जानते हैं—उनका अंग्रेजी, और हिंदी पर भी समान अधिकार है। उनके लेखन-सामर्थ्य के विषय में मैं इतना आश्वस्त हूँ कि अपनी आत्मकथा का पहला भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की प्रति उन्हें भेंट करते हुए मैंने उसपर लिखा था, 'प्यारे बेटे अमित को, जो मुझे विश्वास है, जब अपनी आत्मकथा लिखेगा तो लोग मेरी आत्मकथा भूल जाएँगे।' अमित का जीवन अभी भी इतना रोचक, वैविध्यपूर्ण, बहुआयामी और अनुभव-समृद्ध है—आगे और होने की पूरी संभावना लिए—कि अगर उन्होंने कभी लेखनी उठाई तो शायद मेरी भविष्य-वाणी मृषा न सिद्ध हो।

अपनी पुस्तकों, काग़ज-पत्रों, पांडुलिपियों को बक्स-बंद एवं फ़ाइल-निबद्ध करने के लिए दिल्ली जाने से पहले ही मैंने अपने कमरे के पीछे, बगल के और मकान के सामने वाले लान को एक शक्ल दे दी थी। ऊपर के दो कमरे बनवाने में नीचे गिरा बहुत-सा ईंट-पत्थर-मलवा इधर-उधर पड़ा था। मकान-मालिक ने उसकी सफ़ाई न कराई थी। मैंने एक मजदूर की सहायता से उन सब ईंट-पत्थरों को जोड़-बटोर कर तीन राकरी (क्रीड़ा-शैल) बनाईं—एक ठीक अपने कमरे के नीचे पीछे की ओर, एक बगल में, एक सामने; योजना थी जब दिल्ली के मंदिर से मूर्तियाँ आ जाएँगी तो एक पर एक छोटा-सा हनुमान मंदिर बनाऊँगा, एक पर शिव मंदिर और एक पर गणेश मंदिर—यह नया होने को था क्योंकि बंबई के इष्टदेव तो गणेश जी हैं—गणपति बप्पा। मकान के चौथी तरफ़ जगह होती तो एक और राकरी बनाता—दो छोटे-छोटे मंदिरों के लिए—पार्वती के और कार्तिकेय के। हमारे उत्तर भारत में कहा जाता है—

पूरब में पारबती,
पच्छिम में जय गनेस।
दक्खिन में खडानना,
उत्तर में जय महेस।

शिव के परिवार ने जैसे देश की चारों दिशाओं की रक्षा का भार उठा लिया है—बंगाल (पूर्व) की इष्ट देवी दुर्गा—पार्वती रूप ही, महाराष्ट्र (पश्चिम) के इष्टदेव गणपति—कभी बंबई का गणेशोत्सव देखें—दक्षिण में मुरुगेश के रूप में षडानन—कार्तिकेय की पूजा बहुत प्रचलित है, उत्तर में अमरनाथ, पशुपतिनाथ, केदारनाथ, विश्वनाथ—सब महेश के रूप ही। राकरी-क्रीड़ाशैल पर छोटे-छोटे मंदिर मैं उतनी धार्मिक भावना से नहीं बनाता जितनी सौंदर्य भावना से। क्रीड़ा पर्वत के शिखर पर मंदिर बहुत कलापूर्ण, शोभन लगता है। सुबह मंदिर की जल-सेवा कर रंग-बिरंगे फूल चढ़ा दिए, संध्या को दीप जलाकर अगरबत्ती लगा

दी। रस-रंग, ज्योति, अगरु सुगंध—इनसे कहीं मेरी सौंदर्य-सुरुचि को परितृप्ति मिलती है। उसके ऊपर कुछ और धार्मिक, आध्यात्मिक, रहस्यात्मक उपलब्धि की प्रत्याशा, प्रतीक्षा मैं नहीं करता। हिंदुओं का प्रतीकात्मक कवित्वपूर्ण धर्म मेरी आत्मा को—आंतरिक चेतना को—मानवीय उदात्त से संबद्ध कर सतत सौख्य, संतोष, सामंजस्य और शांति की अनुभूति कराता है। धर्म के बाद मुझे ऐसी अनुभूति कविता—सत् कविता—कराती है।

वर्षा आई तो मैंने राकेरी के ऊपर तरह-तरह की लताएँ लगा दीं जो जल्द ही छछड़ने लगीं। अभी उनपर बने छोटे-छोटे मंदिर खाली ही पड़े थे। मूर्तियाँ अभी दिल्ली से न आई थीं। हाँ, गणपति की एक नई मूर्ति लेकर मैंने आगे बनी राकेरी पर बिठा दी। सुबह मैं मंदिर को धो—फूलों से सजा देता, आप उसे पूजा कहना चाहें तो मुझे कोई आपत्ति न होगी—पूजा सुन्दर न हो तो मुझे उसे पूजा कहते संकोच होगा। मेरी दृष्टि में सौंदर्य को निरूपित करना, निखारना सबसे बड़ी पूजा है। एक बात मैं और करता। रात को एक कटोरी में एक मुट्ठी बाजरा भिगो देता। सुबह 'पूजा' के बाद बाजरा मुंडेर पर छीट देता और खाली कटोरी को चम्मच से घंटी की तरह बजाता! थोड़े दिनों में चिड़ियाँ परच गईं, जब घंटी बजती है उनको खाने के लिए बाजरा फैला मिलता है। कटोरी बजाते ही झुंड की झुंड चिड़ियाँ इधर-उधर से उड़कर मुंडेर पर आ बैठतीं और बाजरा चुगने लगतीं और यह मुझे बहुत अच्छा लगता। उसे पुण्य कार्य समझना मुझे ओछापन लगेगा। संध्या को वर्षा न होती रहती तो दो मोमबत्तियाँ मंदिर के इधर-उधर जला देता। परवाने आकर उनकी परिक्रमा करते। इधर-उधर एक-एक अगरबत्ती भी जलाकर लगा देता और उस गंध-ज्योति से कहीं अंतर भी सुवासित, सुप्रकाशित हो जाता।

बंबई की बरसात शुरू होती है तो फिर दिनों, हफ़्तों, महीनों चलती है, कुछ निश्चित नहीं होता कि किस वक़्त पानी बरसने लगेगा और किस वक़्त रुकेगा। शारीरिक दुर्बलता से मुझे अभी भी मुक्ति नहीं मिली थी, भीगने का ख़तरा मैं नहीं उठा सकता था, इससे हर समय घर में ही रहना होता, अपने कमरे से निकलो तो नीचे या ऊपर के कमरे में चले जाओ—अधिक से अधिक ड्राइंग रूम में आकर बैठो। मैंने कुछ पढ़ने-लिखने का कार्यक्रम बनाया। 'किंग लियर' के अनुवाद की अपूर्ण पांडुलिपि निकाली, शेक्सपियर के संपूर्ण नाटक निकाले। कई घंटे शेक्सपियर के नाटक पढ़ता, तेजी को फुरसत होती तो उनके साथ नाट्य-पाठ के रूप में; जरूरी नहीं कि 'लियर' ही; पिछले तीन नाटकों 'मैकबेथ', 'ओथेलो' और 'हैमलेट' का अनुवाद करते समय भी इन तीनों को तो मूल में पढ़ता ही, और नाटकों को पढ़ना भी उनके अनुवाद में सहायक होता। शेक्सपियर नाट्य संसार के अन्यान्य पात्रों की समझ से अनुवादगत नाट्य पात्रों को समझना आसान होता है। मैंने अनुवाद की सफलता का भेद इसी में पाया था कि पहले पात्रों को समझ लो—उनका स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, फिर उनकी अभिव्यक्ति को समझना कठिन न होगा—और न उसको अपनी भाषा में रखना। शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद बड़ा रोचक अनुभव हो सकता है—आप एक सजीव संसार में घूमते-फिरते, लोगों से मिलते-जुलते, उनसे रू-ब-रू बातें करने की अनुभूति करते हैं।

'किंग लियर' के अधिकांश का अनुवाद पहले ही हो चुका था, शेष मैंने जल्दी ही पूरा कर लिया। हिंदी टाइपिंग की सुविधा बंबई में न थी। प्रेस कापी मैंने हाथ से ही धीरे-धीरे लिखकर तैयार की। अंतिम रूप देने के पहले 10-12 पेज तेजी को पढ़कर सुनाता। अभिनय की दृष्टि से कथोपकथन में परिवर्तन-संशोधन के उनके सुझाव बहुत उपयोगी होते; इसका अनुभव मुझे 'मैकबेथ' अनुवाद के समय से ही था। प्रेस जाने के पहले नाटक के कुछ अंश सत्येन्द्र ने भी सुने थे। अधिक के लिए उनके पास समय नहीं था। वे सुबह ही घर से चले जाते और शाम देर से आते; मेरा काम प्रायः दिन को होता। 'किंग लियर' मैंने सत्येन्द्र को समर्पित किया, इन शब्दों के साथ, 'सत्येन्द्र शरत् को इस आशा से कि उनके निर्देशन में कभी यह रंगमंच अथवा चित्रपट पर प्रस्तुत हो।'—फिल्मों की दुनिया में आने पर अब मैं अपने शेक्सपियर के अनुवादों को रंगमंच पर ही नहीं, चित्रपट पर भी देखने का अभिलाषी था। शेक्सपियर के कई नाटक चित्रपट पर भी आ चुके हैं और बहुत सफल हुए हैं। कुछ बहुत उच्च कोटि के सिने-कलाकारों ने उनमें काम करके अपने को गौरवान्वित समझा है। शेक्सपियर के अनुवाद भी चित्रपट पर आए हैं। उनके नाटकों के अनुवाद प्रायः सभी योरोपियन भाषाओं में हुए हैं। वे रंगमंच पर भी खेले जाते हैं। मुझे कभी उन्हें देखने का मौक़ा नहीं मिला। सिर्फ़ रूसी में अनूदित 'ओथेलो' और 'हैमलेट' मैंने चित्रपट पर देखे हैं। योरोपीय नाट्य-समालोचकों की राय है कि शेक्सपियर के सब से अच्छे अभिनेता रूस ने ही दिये हैं। जो दो नाटक मैंने चित्रपट पर देखे हैं मेरी दृष्टि में उनकी बहुत कलापूर्ण, कल्पनात्मक प्रस्तुति की गई है। मेरा सपना है शेक्सपियर के नाटक हिंदी रंगमच पर आएँ, हिंदी चित्रपट पर आएँ—आवश्यक नहीं मेरे ही अनुवाद में। कुछ दिन पहले रघुवीर सहाय ने शेक्सपियर के 'मैकबेथ' का गद्यात्मक अनुवाद 'बरनम वन' के नाम से प्रकाशित कराया था। वह मैंने पढ़ा था। मुझे अनुवाद पसंद नहीं आया था। अपने अनुवाद के प्रति मेरा पक्षपात भी हो सकता है। सुना वह नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा द्वारा दिल्ली में अभिनीत भी हुआ था, वह मैंने नहीं देखा था, उसकी विशेष चर्चा मैंने नहीं सुनी-पढ़ी थी। वास्तविकता शायद यह है कि शेक्सपियर या योरोपीय या विदेशी नाटकों के लिए अभी हमारे देश में, कम-से-कम हिंदी में, अभिरुचि नहीं जगी। मेरी ऐसी धारणा है, जब तक मौलिक नाटक हिंदी रंगमंच पर प्रस्थापित-प्रतिष्ठित नहीं होगा तब तक विदेशी नाटकों में हमारी दिलचस्पी न हो सकेगी। और यह तथ्य है कि हिंदी नाटक अब भी रंगमंच पर आकर इस भूमि की प्राकृतिक-स्वाभाविक उपज नहीं मालूम होता है—लगता है कहीं से लाकर उसे आरोपित किया गया है। कारण शायद यह है कि हम अपने रंगमंच पर बहुत कुछ योरोपीय अनुकरणात्मक अथवा प्रयोगात्मक रीति से ला रहे हैं, जिसकी जड़ें यहाँ नहीं हैं। अगर हम अपनी प्रायः मृत-विस्मृत नाट्य-परंपरा को पुनर्जीवित करें और साथ ही उसे लोक-नाट्य से जोड़ें जो किसी न किसी रूप में—भोंडे गँवारू ही सही—हमारी ग्रामीण जनता से संपर्क बनाए हुए है, तो शायद हम अपने आधुनिक नाटकों की जड़ जमाने में कुछ सफल हों। एक बार वह हमारी निजी साहित्य-कला-संस्कृति की, जीवन की, भूमि से रस खींचने लगे तो उसपर विदेशी क़लमें लगाना हमारे लिए कठिन न होगा। अभी तो हम मूल-हीन शाखाएँ ज़मीन में खोंसकर उसपर नई-नई क़लमें

लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं और उसके परिणाम से स्वाभाविक ही निराश-हताश हो रहे हैं। अपनी निजी भूमि पर उगे, अंकुरित, पल्लवित, विवर्धित नाट्य-वृक्ष के फल के रूप में ही हम विश्व के महान नाटकों को अपने रंगमंच पर जीवंत रूप से प्रस्तुत कर सकेंगे, और चित्रपट पर भी। हमारी पहली ज़रूरत है कि हमारी शुरुआत सही हो।

11 अक्टूबर, 1972 को अमित की 30वीं वर्षगाँठ थी। अपनी चित्रपटी असफलताओं के बीच अमित अपनी वर्षगाँठ को कोई महत्त्व न देना चाहते थे। पर तेजी के और मेरे लिए तो यह विशिष्ट दिन था—हमारे अमित ने अपने जीवन के तीस वर्ष पूरे कर लिए थे। हमारे मन में उसके इस साहस के लिए कम सम्मान नहीं था कि उसने छह वर्ष एक क्षेत्र में सफलतापूर्वक काम करने के बाद भी अपनी नवांकुरित प्रतिभा की पुकार पर एक नए क्षेत्र में अपनी साख जमाने के लिए अपने क़दम उठाए थे। जीवन समर में अपने बल-बुद्धि से एवं भाग्य की अनुकूलता से जो विजयी हुए हैं उनको मैं सराहना चाहूँगा। पर जो अपने पूरे तन-मन-सामर्थ्य को बाज़ी पर लगा, नियति की प्रतिकूलता से पराजित होकर भी रणभूमि में डटे हुए हों उनको मैं अधिक बड़ा सूरमा कहूँगा। तेजी और मैं अपने बेटे को इसी रूप में देखते थे और निश्चय ही अजित भी अपने बड़े भाई को इसी रूप में। हम इस शुभ दिन की स्मृति में अमित को एक सुंदर-सा उपहार देना चाहते थे। उपहार तो हम दो-चार दिन पहले ही लाए थे, पर उसे छिपाकर रखा था। मैंने अमित के लिए कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं—

प्रिय अमित, हुए तुम तीस,
हमारा प्यार,
बधाई तुमको !

देने आईं आशीष
राधिका बनी
कन्हाई तुमको !

वरमाल पिन्हाए शीघ्र
तुम्हारी कीर्ति—
लुगाई तुमको !

अमिताभ उपहार स्वीकारकर, हम सबकी बधाई ले, प्रसन्न मन काम पर चले गए थे। काम के प्रति उनकी यह तत्परता हमें अच्छी लगी थी। पता नहीं, आपने नोटिस किया है या नहीं कि अमित की तीसवीं वर्षगाँठ से मेरी बधाई-कविता की एक अनुरूपता है। अभी आगे न पढ़ें, देखूं आप अनुरूपता का कुछ अनुमान लगा पाते हैं कि नहीं। तीस में तीन ही प्रधान है, शेष तो शून्य है। कविता में तीन पद हैं, प्रत्येक पद में तीन पंक्तियाँ हैं और आप चाहें तो गिन कर देखें, प्रत्येक पद में 30 मात्राएँ हैं। 30 मात्राओं का यह छंद 'चवपैया' छंद कहलाता है। इस छंद से एक और अनुरूप मंगल प्रसंग जुड़ा है। तुलसी ने यह छंद राम-जन्म वर्णन करने के लिए प्रयोग किया है—मैंने जन्मदिन—

बधाई के लिए—

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्‌भुत रूप विचारी।

यति में मैंने कुछ स्वतंत्रता ली है, पर तीनों पदों में उनकी एकरूपता है—13+8+9=30। आप क्रमानुसार पंक्तियों की मात्राएँ गिन लें। शायद आप यह भी जानना चाहें कि आशीष देने के लिए मैंने 'राधिका बनी कन्हाई' को क्यों बुलाया है। हम अमित को देने के लिए जो उपहार लाए थे वह एक कला-कृति है—एक मूर्ति—संगमूसा की जिसमें राधा ने कृष्ण रूप धारण किया है। सूर के कई पदों में राधा के कृष्ण रूप और कृष्ण के राधा रूप धारण करने का मनोरंजक वर्णन है। यह शैव अर्द्धनारीश्वर की ही वैष्णवी कल्पना है। मेरी दृष्टि में वैष्णवी कल्पना अधिक कलापूर्ण, कवित्वपूर्ण, साथ ही तत्त्वात्मक और सम्यक है। अर्द्धनारीश्वर में आधी नारी और आधे ईश्वर होकर एक सत्ता बने हैं। वे अलगाए नहीं जा सकते। अलगाने पर शायद दोनों अपने-अपने विकृत रूप में दिखाई देंगे। वैष्णवी कल्पना में नारी भी परिपूर्ण है और ईश्वर भी परिपूर्ण है। यहाँ दो पूर्ण मिलकर एक पूर्ण बने हैं। पूर्ण में से पूर्ण को निकालकर आप पूर्ण को ही बचा हुआ पाएँगे,

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'

कृष्ण में से राधा को निकाल लें—कृष्ण परिपूर्ण खड़े हैं।
राधा में से कृष्ण को निकाल लें—राधा परिपूर्ण खड़ी हैं।
और यह कल्पना सैद्धान्तिक बनकर आचार्यों के ज्ञान तक सीमित नहीं है, यह लोक स्तर पर उतर आई है। मुझे बुंदेलखंड के लोककवि ईसुरी के एक फ़ाग की दो पंक्तियाँ याद हैं। अपनी बात के समर्थन में उन्हें उद्धृत करना चाहूँगा—

'को कय अलख-खलक की बातें, लखी न जाएँ नज़र में
ईसुर गिरिधर रयं राधे में, राधे रयं गिरिधर में।'

स्वयं कृष्ण ने राधा को अपने में माना था। सूरदास का साक्षी हूँ? ब्रज में बिछुड़ने के बहुत वर्षों बाद श्रीकृष्ण राधा को कुरुक्षेत्र के मेले में मिले थे। रुक्मिणी अपनी उदारता में राधा को साथ-साथ रहने के लिए द्वारिका लाई थीं—

'निज मंदिर लै गई रुकमिनी, पहुनाई विधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥'

पर श्रीकृष्ण को राधा को साथ रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई; निश्चय ही साथ रखने की असंगति ही उन्होंने देखी होगी—

'माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रई।
विहंसि कह्यो हम तुम नहिं अंतर, यह कहि कै उन ब्रज पठई॥'

मेरी वैष्णवी अथवा कलात्मक भावना में वह मूर्ति मुझे पूर्णता की मूर्ति लगी

और पूर्णता की आशीष अमित को दिलाने को मैं उसे ले आया। कविता के अंतिम पद में रूपात्मक भाषा में मैं कहना चाहता हूँ कि अमित को जल्दी कीर्ति-कुमारी वरे—कलाकार के रूप में उन्हें यश मिले। पर व्यंजना यह भी है कि उनका जल्दी विवाह हो—कीर्ति रूप लुगाई या कीर्ति और लुगाई। अपने तीस के पुत्र को विवाहित देखने का अरमान माता-पिता में सहज समझा जा सकता है।

वह मूर्ति मुझे इतनी अच्छी लगी कि कुछ दिनों के बाद अमिताभ से माँग कर उसे मैंने अपने कमरे में रख लिया। बंबई से दिल्ली आया। दिल्ली से बंबई गया। बंबई से फिर दिल्ली आया, मूर्ति-मोह मुझसे न छूटा—उसे भी मैंने ये सारी यात्राएँ कराईं। उसपर एक पद आपको सुनाना चाहता हूँ—

> राधा स्याम रूप धरि आई।
> पीत कछनियाँ कृस कटि कांछी, उर-छवि चीर छिपाई।।
> मोरपखी पगिया सिर बांधी, मुरली अधर सजाई।
> पहिरि घंघरिया, ओढ़ि चुनरिया आए कुंवर कन्हाई।।
> दधि-मटुकी सिर धरि ठुमकत चलि पग-पैंजनि झनकाई।
> सांवरि राधा गौर स्याम लखि 'सूर' रहे मुसुकाई।।

सूरसागर आपने पढ़ा होगा तो आपको यह पद याद आ गया होगा। कहाँ है ? है न ? आप धोखा खा गए। यह पद सूर का नहीं है। यह पद बच्चन-रचित है। खैर, बच्चन तो ईमानदार है, उसने अपनी घृष्टता स्वीकार कर ली, पर कितने ही लोग हैं जिन्होंने सूर के नाम से स्वयं पद लिख सूरसागर में जोड़ दिये। नंददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित सूरसागर में परिशिष्ट (1) में 203 पद हैं 'जिनके सूरदास जी द्वारा रचित होने में संपादक को संदेह है'; परिशिष्ट (2) में 67 पद हैं 'जो संपादक की दृष्टि में निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं'।

जवाहर लाल चतुर्वेदी द्वारा संपादित सूरसागर के प्रथम खंड में दिए गए 494 पदों में ही परिशिष्ट में दिये 61 पद ऐसे हैं जिनके 'असल-नकल का हिसाब-किताब' संपादक निश्चयपूर्वक नहीं दे सकते।

चतुर्वेदी जी के सूरसागर की चर्चा चल पड़ी है तो उसके एक पद के संबंध में अपना एक विचित्र अनुभव आपको बता दूं। एक रात उक्त सूरसागर के 350 पृष्ठ पर एक पद पढ़ते-पढ़ते मुझे नींद आ गई। पद था—

> आज हरि देखे नंगमनंगा।
> जल-सुत भूखन्ह अंग विराजत, वसनहीन छवि उठत तरंगा।।
> कहा कहों अंग-अंग की सोभा, निरखत लाजत कोटि अनंगा।
> कछु दध हाथ, कछु मुख लपटानों, 'सूर' हंस ब्रज-जुबतिन्ह-संगा।।

सपना देखता हूँ—
कोई मेरे कमरे के बाहर जैसे छड़ी से 'टक-टक' रास्ता टटोलता चल रहा है। फिर मेरा दरवाज़ा खटखटाता है। मैं उठकर दरवाज़ा खोलता हूँ। अरे, ये तो साक्षात सूरदास हैं! चरण छूता हूँ, वे अंदर आकर कमरे में फ़र्श पर बैठ जाते हैं, उजाला हो जाता है। कहते हैं, 'जो पद तुम पढ़ रहे थे, उसे मैंने ऐसे

नहीं गाया था। सुननेवाले ने ठीक सुना नहीं, लिखनेवाले ने ठीक लिखा नहीं, पढ़ने वाले ने ठीक पढ़ा नहीं। अब मैं तुम्हें अपना पद ठीक गाकर सुनाता हूँ—उनकी लकुटी उनके हाथ में एकतारा बन जाती है, जिसपर वे विभोर होकर गाते हैं—

आजु हरि देखे नंगमनंगा।
सुख-सुखमा लहराति स्याम तन जैसे जमुन तरंगा।
चरन-कमल, कर-कमल, कमल-मुख, नयन-कमल दल संगा।
रोम-रोम पर होत निछावर कोटिन-कोटि अनंगा।
'सूर' जसोमति दुहुँ कर फेरति पुलकि-पुलकि हरि अंगा॥
आजु हरि देखे नंगमनंगा।

पद समाप्त हुआ तो सूरदास अंतर्धान हो गए। कमरा पद की कड़ी-कड़ी प्रतिध्वनित कर रहा था। मैंने कागज़-पेंसिल उठाई और पद लिख लिया।

'नकल-असल का हिसाब-किताब' सूर जानें कि सूर के हरि। मैंने अपना यह अनुभव अपने मित्र अनंत कुमार 'पाषाण' को लिखा तो उन्होंने इस गीत के संबंध में एक उद्धरण भेजा—

'सूरदास जी की वार्ता'
लेखक—गोस्वामी हरिराय जी
प्रसंग—6
गोसाईं बालकों द्वारा सूरदास के ज्ञान चक्षुओं की परीक्षा।
"जैसो सिंगार श्री नवनीतप्रिय जी को होत है, तैसे ही वस्त्र आभूषन वरनन करत हैं तासों जैसो तुम सिंगार करोगे सो वैसो ही पद सूरदास जी वरनन करिके गावेंगे। ...सो श्री नवनीत जी को कछु वस्त्र नहीं धराए। सो मोतीन की दोय लर मस्तक पर, मोती के बाजू पौहोंची, कटि किंकिनी, नूपुर हार सब मोतीन के, तिलक, नकबेसर, करनफूल और कछु नाहीं। सो सूरदास जी जगमोहन में बैठे हते तो उनके हृदय में अनुभव भयौ। तब सूरदास जी अपने मन में विचारे—जो आजु तौ श्री नवनीतप्रिय जी को अद्‌भुत सिंगार कियो है। ऐसौ सिंगार तो मैंने कबहूँ देख्यो नाहीं, और सुन्यो हू नाहीं। जो केवल मोती धराए हैं और वस्त्र कछु धराए हैं नाहीं। तासों आज मोकों कीर्तन ही अद्‌भुत गायौ चाहियै..."

यह पद जो ऐतिहासिक है और जो सूरदास जी की दिव्य दृष्टि का प्रमाण है, आश्चर्य है, नंद दुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित सूरसागर में है ही नहीं!

कभी सोचता हूँ सूर के नाम से लोगों ने अपने रचित पद क्यों दिए होंगे। अपने नाम-यश की कामना तो उन्हें होगी नहीं। वास्तव में ये सूर के प्रति श्रद्धांजलियाँ हैं। लोगों को गंगाजी में खड़े हो, अंजलि में गंगाजल उठा, गंगा को ही अर्पित करते आपने कभी देखा है! बस, ये पद वैसे ही अंजिल-दान हैं सूर के सागर से सागर के सूर को। कम से कम मैं अपने दो पदों को सूरदास के प्रति ऐसी ही श्रद्धांजलियाँ समझता हूँ—अपने चेतन और अवचेतन की।

तेजी को मेरे बंबई वापस आ जाने के बाद ही दिल्ली जाना था और वहाँ का ज़रूरी-ज़रूरी सामान पैक करा ट्रक से बंबई भेज देना था—शेष दे-दिला देना था या बेच देना था। खुद ट्रेन या प्लेन से आ जाना था। पर बरसात शुरू हो गई थी, आँधी-पानी में तेजी कहाँ जाएँगी, ऐसे मौसम में पैक कराने की बीसों मुश्किलें खड़ी होंगी, ट्रक से आनेवाला सामान भीगेगा भी। यही तै हुआ कि बरसात ख़त्म हो जाय तब वे दिल्ली जाएँ। मकान छोड़ने के लिए सरकार की ओर से कोई आग्रह नहीं किया जा रहा था। अमित का जन्मदिन (11 अक्टूबर) मनाने के बाद वे गईं और मेरे जन्मदिन (27 नवम्बर) के पहले आ गईं। जाते समय वे बहुत भारी मन से गईं और उससे भी अधिक भारी मन से लौटीं। एक घर से सारा सामान बाँध-बूँध दूसरे घर ले जाना और दूसरे घर में उसे खोल-खाल फिर लगाना—इसका योग तेजी के भाग्य में कितना लिखा है! लाहौर से अपने घर का सारा सामान वे इलाहाबाद लाईं, शादी के घर से महीने बाद सारा सामान दूसरे घर ले जाना पड़ा, गर्मी की छुट्टियों में फिर सारा सामान मुट्ठीगंज के घर में रखना पड़ा, छुट्टियाँ ख़त्म होने पर सारा सामान बैंक रोड लाना पड़ा, दो-तीन साल बाद मकान बदला गया और सारा सामान स्ट्रैची रोड गया, फिर एडल्फ़ी आया, फिर क्लाइव रोड गया, वहाँ से दिल्ली आया, वहाँ भी साल दो साल पर एक मकान से दूसरे मकान, दूसरे मकान से तीसरे मकान में जाना पड़ा—अंतिम मकान में अवश्य हम लगातार 14 वर्ष रहे। और अब दिल्ली से सारा सामान लाद-लूद बंबई लाना था। पर यह अंतिम लदान न थी। अभी यह सारा सामान फिर बंबई से दिल्ली जाना था, दिल्ली में दो वर्ष बाद ग्रेटर कैलाश से विलिंगडन क्रिसेंट, वहाँ से दो वर्ष बाद फिर बंबई 'प्रतीक्षा' को, वहाँ से चार वर्ष बाद फिर दिल्ली 'सोपान' को। आशा है 'सोपान' से उठना हुआ तो अब सामान ले जाने का बखेड़ा न उठाना पड़ेगा। बंबई से जाते समय दिल्ली में उठाने वाली परेशानियाँ तेजी के चेहरे पर लिखी थीं। पर परिवार का निर्णय हो चुका था और नियति का संकेत कि हमें अभी तो दिल्ली छोड़ बंबई आना है।

दिल्ली में इलाहाबाद से लाए और सत्रह वर्षों में वहाँ जुटाए सामान से निपटने में तेजी को क्या-क्या मुसीबतें उठानी पड़ी होंगी उसकी मैं कल्पना ही कर सकता था। मैं तो बंबई में बैठा था। बाद को जो थोड़ी-बहुत उन्होंने बताईं वे मुझे काफ़ी उदास करने वाली थीं। घर में निजी और अच्छे किस्म का बहुत-सा फर्नीचर था, बेचने पर उनकी क़ीमत भी क्या मिलती; पर उनके साथ जो यादें जुड़ी थीं, जो प्रसंग संबद्ध थे वे बहुत बेशकीमती थे। उदाहरण के लिए मेरी स्टडी के मेज़-कुर्सी जिसपर बैठकर पिछले पंद्रह वर्षों में मैंने कितनी किताबें लिखी थीं, कितनी किताबें पढ़ी थीं, कितना कुछ चिंतन-मनन किया था। उसे किसी अजनबी के हाथों बेच देने का विचार उन्हें भीतर से कंपा देता था; खाना खाने की मेज़, जिसपर बैठकर कितने किस्से-कहानियाँ, कितनी हलकी-फ़ुलकी और गम्भीर बातें भी हमने आपस में या बेटों से की थीं, ड्राइंग रूम के सोफ़ा-सेट्स जिनपर कितने बड़े-बड़े कवि-कलाकार, लेखक, राजनेता आकर बैठे थे—उन्हें अलग करने का ख़्याल ऐसा लगता जैसे अपने जीवन-इतिहास के पन्ने फ़ाड़कर फेंकना!—मैं अपने को अधिक भावुक समझता था, तेजी को

कम। पर नारी की भावुकता की शक्ति और सुकुमारता भी अलग ही क़िस्म की होती है। फ़र्नीचर उनसे नहीं बेचा गया; उन्होंने तार देकर जगदीश राजन को दिल्ली बुलाया और सारा कुछ ट्रक से लदा बाँदा भेज दिया। मैंने सामने के बरामदे में, लान की राकरी पर, बबूल के पेड़ के नीचे शिव और हनुमान के मंदिर के चारों ओर बहुत से विचित्र रंग-रूप-आकार के पत्थर जमा कर रखे थे। उन्हें मैंने कैसे-कैसे इकट्ठा किया था, उसके विषय में पहले विस्तार से लिख चुका हूँ। उन्हें भी यों ही छोड़ देना कि जो चाहे हमारे वहाँ से हटने के बाद उठा ले जाए, तेजी के मन को मंजूर नहीं हुआ। उन्होंने अपने एक संबंधी पुलिस आफ़िसर को बुलाकर वे सब पत्थर सौंप दिये, देख चुकी थीं कि उनके बरामदे और सामने के लान में उनको रुचि से लगा देने को काफ़ी जगह थी। हमारे पास बँगले के सामने और पीछे रखने को अच्छे फूल-पत्तों के दर्जनों ग़मले भी थे। वे सब भी उन्होंने उन्हीं आफिसर को दे दिये; वे आश्वस्त होना चाहती थीं कि जहाँ भी ये ग़मले जाएँ उनकी देख-रेख करने में कोई दिलचस्पी ले—जैसे उन पाले पोसों को यों ही छोड़ देना उनके प्रति कोई अन्याय होगा। अंदर और सर्वेन्ट क्वार्टर के कई कमरों में रखा सामान क्रेटों, पेटियों, बक्सों में बंद कराना था, बिजली-फ़ोन कनेक्शन कटाना था, और सब कुछ करने के बाद एक दो मित्रों-सहेलियों से विदा-मिलन के लिए जाना था। घर से विदा होते समय, तेजी ने अपने शब्दों में बताया था, "मैं भी बहुत रोई—घर भी बहुत रोया!" मैंने उस दृश्य की कल्पना की तो मैं भी अपने को रोने से न रोक सका।

फ़ोन पर उन्होंने बता दिया कि सामान कुछ अधिक ही वे ला रही हैं, बहुत कोशिश करके भी वे बहुत-सी चीजों को न छोड़ सकी थीं। हमने बांद्रा में एक गराज किराए पर ले लिया था। सामान आया तो बहुत थोड़ा-सा सामान ही 'मंगल' में खोला गया। शेष गराज में गाँज दिया गया। ख़ैर, हर हानि का परिहार होता है—घर छूटा, दिल्ली छूटी, दिल्ली के मित्र छूटे तो हम चार—माँ-बाप, दो बेटे फिर साथ थे, अपना दुख-सुख साथ जीने-भोगने को, और एक-दूसरे की सफलता-विफलता में साथ-सहारा होने को।

मई में जब से तेजी आई थीं बेबी आपा का घर आना कम होते-होते प्रायः समाप्त हो गया था। अब वे यदा-कदा ही आतीं। अब एक दूसरी ही लड़की हमारे यहाँ आने लगी थी और धीरे-धीरे कुछ ज़्यादा ही आने लगी थी—उसका नाम था जया भादुड़ी। मुझे नहीं मालूम अमित जया को पहले-पहल कहाँ मिले थे और एक दूसरे के प्रति क्या प्रतिक्रिया हुई थी। ऊपरी तौर से उसके घर आने का कारण यह भी हो सकता था कि वे एकाधिक फ़िल्मों में (बंसी-बिरजू, एक नज़र में) साथ काम कर चुके, और एकाधिक फ़िल्मों में (जंज़ीर, अभिमान में) साथ काम कर रहे थे। हिंदी फ़िल्म संसार में जया की प्रसिद्धि 'गुड्डी' के साथ हुई थी जो शायद उसकी पहली ही फ़िल्म थी और जो हिट हो गई थी। कुछ और बाद को आने वाली फ़िल्मों में भी उसके काम की प्रशंसा हुई थी। जया क़द में नाटी, शरीर से न पतली, न मोटी, रंग से गेहुँआँ; उसकी गणना सुंदरियों में तो न की जा सकती थी, पर उसमें अपना एक आकर्षण था, विशेषकर उसके दीर्घ-दीप्त नेत्रों का, और उसके सुस्पष्ट मधुर कंठ का। एक अभाव भी उसमें

साफ़ था—समान अवस्था की लड़कियों की सहज सुलभ लज्जा का, पर फ़िल्म में काम करने वाली लड़की से उसकी प्रत्याशा भी न की जा सकती थी। वह अमित को 'लम्बू जी' कहती और अमित उसे 'गिटकी' कहते। कोई भी उन्हें देखकर कह सकता था कि उनका एक-दूसरे के प्रति लगाव केवल एक क्षेत्र में साथ काम करने का नहीं था; उससे कुछ अलग या कुछ ऊपर था; और वह दिनानुदिन अधिक घनिष्ट हो रहा था। वह निकट ही जुहू में बीच हाउस के एक फ़्लैट में रहती थी अपनी माँ और दो छोटी बहनों के साथ जो परिवार में भाई के अभाव में अपनी बड़ी बहन को 'दीदी भाई' कहती थीं—अपनी अर्जन-क्षमता से वह इस मर्द-पद की अधिकारिणी थीं ही। हाँ, साथ में एक और नवयुवक रहते थे, जिन्हें पुराने ज़माने की शब्दावली में 'चचा बरखुरदार' कहा जाता था, यानी चचा होकर भी उससे उमर में छोटे थे।

अजिताभ शिपिंग उद्योग आरंभ करने की कल्पना से मुक्त हो चुके थे; उसके लिए जितनी पूंजी की आवश्यकता थी वह हमारे पास न थी। उन्होंने अपने एक मित्र की साझेदारी में 'ऋपू एंटरप्राइजेज़' के नाम से टिन-बाक्स बनाने का एक उद्योग शुरू कर दिया था। किसी प्रसिद्ध इंडस्ट्रियल एरिया में उन्होंने कुछ जगह प्राप्त कर ली थी और काम शुरू हो गया था। कुछ मशीनें मँगाई गई थीं जिन्हें उपयुक्त स्थानों पर लगाया जा रहा था। घर का एक नौकर उन दिनों कारखाने में भी काम करने जाता और आकर बताता कि भारी-भारी मशीनों को मजदूरों के साथ उठाने में अजिताभ साहब भी काँधा लगाते, मशीनों के लगने पर पहले खुद चलाकर उनका परीक्षण करते—यह सब सुनकर हमको खुशी होती—काम करने और कराने का यही तरीका है। इससे हम आश्वस्त होते कि अजिताभ अवश्य अपनी योजना में एक दिन सफल-मनोरथ होंगे। वे सुबह ही नाश्ता लेकर चले जाते, कारखाने में कहीं से मँगाकर लंच लेते, और शाम को देर से थके-मांदे लौटते। अमिताभ भी सुबह ही अपनी शूटिंग पर जाते और शाम को लौटते। मुझे शर्म आती लड़के दिन भर मरते-खपते हैं और मैं दिन भर आरामतलबी करता हूँ। 'किंग लियर' की प्रेस-कापी बनाकर मैंने प्रेस भेज दी थी; अब मैंने अपनी अप्रकाशित कविताओं का एक संग्रह तैयार करने की बात सोची। जो पांडुलिपियाँ मैं दिल्ली से लाया था उसमें एक फ़ाइल ऐसी कविताओं की थी। संख्या में कविताएँ अधिक न थीं। संग्रह छोटा ही बन सकता था। प्रकाशनार्थ और कविताएँ लिखने के मूड में मैं नहीं था। सोचा जितनी हैं उन्हें छपा दूँ और उसी के साथ कविता से विदा भी ले लूँ। कभी किसी विवशता में कुछ लिखा भी तो प्रकाशित नहीं करूँगा। इस विचार के पीछे कई कारण थे। पिछले आपरेशन के बाद आई मानसिक दुर्बलता को मैं पहला कारण न मानूंगा। बल्कि उससे पहले भी मुझे कविता से वितृष्णा हो चली थी—पहली बार उसके लक्षण अपने मनस में मैंने उस समय देखे जब 'पंत के दो सौ पत्र' प्रकाशित करने पर पंत जी ने मुझ पर मुक़दमा चला दिया था। व्यक्ति और कवि दोनों के रूप में मैंने पंत जी को बहुत प्यार और सत्कार दिया था। मुक़दमा चलाने के कारण जो उन्होंने दिए थे उन पर तो मैं स्तब्ध ही रह गया था। कविता को मैंने आत्मनिर्माण का एक साधन भी माना था (मेरे कवित तो मोहि बनावत)। पंत के दिए कारणों से मुझे लगा यदि सारे जीवन

कविता लिखकर मनुष्य का—उनका भी और मेरा भी—यही रूप बनता है तो कविता से मैंने ग़लत आशाएँ लगाई थीं। यह अनुभूति तो बाद को हुई कि जो लिखाया गया था वह उनकी ओर से नहीं बल्कि वकील की ओर से, पर उसके प्रति सहमति प्रकट करना भी पंत ऐसे व्यक्ति के लिए मैं असंभव समझता था। इस प्रसंग ने और इसके भी पहले मेरी आत्मकथा के प्रथम खंड को लेकर जो विवाद चला था उसने मुझे भीतर से कटु बना दिया था और कटुता को लेकर कविता लिखना मेरी सारी कवि-धारणा के विपरीत था। मन कहता था अभिव्यक्ति के इस माध्यम से अब छुट्टी लो।

अपनी कविताओं के अंतिम संकलन को नाम मैंने 'जाल समेटा' दे दिया। नाम सोचने में कोई दिक़्क़त नहीं हुई। 10-12 वर्ष पहले मेरा एक काव्य-संग्रह निकला था—त्रिभंगिमा। उसमें एक कविता की—'ज़ाल समेटा' शीर्षक—पहली पंक्ति थी :

> जाल समेटा करने में भी
> समय लगा करता है, माँझी,
> मोह मछलियों का अब छोड़।

कहने का मतलब, कि दस-बारह साल पहले भी मेरे मन में आया था कि अब मुझे अपना काव्य-जाल समेट लेना चाहिए। उम्र मेरी होगी उस समय 55 की, जब पुराने ज़माने में लोग सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करते थे। अपनी किसी बीमारी या किसी स्वजन की मृत्यु से भी ऐसा विचार मन में उठा होगा। अब कुछ विशेष याद नहीं। इस कविता को मैंने 65 की उम्र में अपनी मनःस्थिति के अधिक अनुकूल पाया। भूमिका में, जो मैं 'अपने पाठकों से' शीर्षक से देता हूं, मैंने यह पूरी कविता उद्धृत कर दी थी। मेरे पहले काव्य संकलन का नाम था 'तेरा हार' (1932)। अब प्रायः चालीस वर्ष बाद मेरे अंतिम सकलन का नाम होने जा रहा था 'जाल समेटा' (1973) 'हार' से 'जाल'—दोनों प्रतीक—मोह के, और मोहभंग के। जीवन के अनुरूप कविता भी मोह से शुरू हुई थी और मोहभंग पर समाप्त हो रही है। संग्रह की एक पंक्ति है—

> 'मोह भंग करना ही तो है काम वक़्त का'

और क्या मैं काफ़ी वक़्त नहीं देख चुका था। मेरे कई साथी तो 65 पूरा करने के बहुत पहले दुनिया से जा चुके थे। मैं ही अपनी उम्र ढो रहा था, ढोना ही पड़ रहा था तो क्या यह उचित न होगा कि मोह-मुक्त होकर उसे भोगा जाए—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'। अब जीवन 'हार' समझकर गले में डालने की चीज़ न थी, 'जाल' समझकर उसे तटस्थ भाव से भोगना था। मोह-भंग की इस स्थिति में ढकेलने वालों में वे लोग थे जिन्होंने 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के कुछ प्रसंगों पर एक सरासर झूठा विवाद खड़ा किया था। वे बाहरी तौर पर मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सके, यह दूसरी बात है; पर उन्होंने मेरे मन को बिगाड़ दिया था। 'जाल समेटा' की भूमिका में मैंने इसका संकेत देने से इनकार कर दिया था कि किस या किन कविताओं में उनकी ओर इशारा है, पर अब मैं बातों को छिपाने के मूड में नहीं हूँ—'अब तो बात फैल गई जानै सब कोई'—

'कड़ुआ पाठ' में आत्मकथा का पारदर्शी द्वार खोल देने पर मेरे मन में असमर्थ ग्लानि थी—

'मेरे शब्दों के सिवा कोई नहीं है मेरा गवाह।—
मैंने महसूस कर ली है अपनी भूल,
सीख लिया है कड़ुआ पाठ,
पारदर्शी द्वार नहीं खोला जा सकता है।
सत्य कविता में ही बोला जा सकता है।'

मुझे यह अनुभूति होनी बाकी थी कि 'कटु सत्य कविता में भी नहीं बोला जा सकता, पर इस प्रसंग से संबद्ध दूसरी कविता में—'उन्होंने कहा था' में—मैं आक्रामक और क्रूर-कटु भी हो गया था। कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं—

सच्चाई टूटती, मनुष्य उसे सह लेता;
सपने जब टूटते, टूट वह खुद जाता है—
गोकि टूटना सदा बुरा नहीं—
टूटने से भी कोई-कोई कुछ बन जाया करते।
टूटोगे तो, वत्स, बड़े दयनीय लगोगे—
पातक इससे बड़ा नहीं दुनिया के अंदर।

लेकिन तुमसे
कहीं बड़ी दयनीय लगेगी परी,
प्रतिष्ठित हृदय-कुंज में,
जा धन-यश की लादी लादे
आज यहाँ कल वहाँ फिरेगी।
पर सबसे दयनीय, वत्स, पाषाण लगेगा,
जो मंदिर के एक उपेक्षित कोने में
लुढ़का-पुड़का रिरियाता होगा,
मैं ही हूँ भगवान, भक्तगण,
भोग लगाओ मुझको,
मुझ पर द्रव्य चढ़ाओ!

'जाल समेटा' में पूरी कविता पढ़ेंगे तो 'परी' (प्रकाशो) और 'पाषाण' (श्रीकृष्ण) अधिक स्पष्ट होंगे। खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि 'पाषाण' जा चुका है, 'परी' मौजूद है, जाना उसे भी है, जैसे मुझे भी, पर हम सब सापेक्ष सत्य हैं (रिलेटिव ट्रुथ)। लेकिन साहित्य और कला का सत्य तो ऋत होता है (एब्सोल्यूट ट्रुथ), वह सदा रहेगा। मैं स्वीकार करूँगा कि मेरे बिगड़े मन की कटुता यहां स्पष्ट है, और जब यह आई मेरे लिए आगाही बनकर आई। अब कविता के लिए तुम्हें लेखनी रख देनी चाहिए—कटुता से कविता लिखना ओछा काम है।

ऐसी ही कटुता उस कविता में भी स्पष्ट है जो मैंने पंत जी के मुझ पर मुक़दमा दायर करने पर लिखी थी—वह है 'अक्लमंदाना इशारा'। पंत जी भी

जा चुके हैं। 'जाल समेटा' प्रकाशित हुई थी तो मैंने एक प्रति उनको भेज दी थी। 'इशारा' उन्होंने समझा होगा तो शायद क्रुद्ध-क्षुब्ध हुए होंगे, शायद दुखी भी। पर किसी को क्रुद्ध या दुखी करना कविता का काम नहीं है। कटुता से दो-तीन कविता लिखकर मुझे लगा कि मैं ग़लत रास्ते पर जा रहा हूँ। उसकी तीव्र प्रतिक्रिया में चलना ही बंद करने का निर्णय लिया था। पर कविता के बारे में शायद कोई निर्णय नहीं ले सकता। वह आती रही, मुझे प्रेरित करती रही, मुझे अभिव्यक्ति देने को विवश करती रही, गो कि मुझे प्रकाशन का मोह अब नहीं रह गया था—कालांतर में तो न प्रकाशित करने का निर्णय भी मैं न निभा सका; ऐसी सब कविताएँ 'बच्चन रचनावली' में दे दी गईं। बाद को तो कुछ कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में भी आईं, पर तब तक कटुता मन से निकल चुकी थी। फिर भी उस समय के मेरे मौन ने मुझपर उपकार ही किया, बहुत कुछ ऐसा लिखने से मुझे रोक लिया जिसपर बाद को शायद मुझे अफ़सोस ही होता। 'जाल समेटा' की जिन कविताओं की ओर मैंने संकेत किया है, आज भी उन्हें देखकर मुझे आत्मग्लानि होती है, पर एक संतोष भी होता है कि मैंने अपनी विकृतियों को अपने पाठकों से छिपाया नहीं। अपने विकारहीन होने का दावा मैंने कब किया है? मेरे विकारों ने शायद मेरी यत्किंचित निर्विकारता को अधिक उभार में देखने का अवसर दिया है।

एक अंतिम बात। कविता से संन्यास लेने का एक और कारण, और विशेष कारण, कलागत था—मेरे भाव-संसार में परिवर्तन; परिवर्तन नहीं, मिलावट। बेटों से दूर रहते हुए चाहे कलकत्ता से, चाहे मद्रास-बंबई से मैं अपने भाव-समुद्र में जब चाहता था अविभक्त, विशुद्ध, पूर्णरूपेण डूब सकता था और वहीं से तदनुरूप भाषा के अतल से मोतियाँ चुनकर ऊपर आ जाता था—ये मेरी कविताएँ थीं। जब तक बेटों के संसार ने कोई विशिष्टता न पा ली थी—विचारोत्तेजक, चिंताजनक या उत्फुल्लताप्रदायक, तबतक उनका निकट रहना भी मेरे भाव-संसार में कोई व्याघात न उत्पन्न करता था। पर अब तो मैं बंबई आ गया था, जहाँ अमित की भी और अजित की भी दुनिया एक अपनी अलग शक्ल ले रही थी और जिसके प्रति मैं केवल तटस्थ दर्शक बनकर न रह सकता था। यह जानते हुए भी कि वे जो दुनिया बना रहे हैं उसके रूपांकन में मेरा कोई योग या सहयोग मुश्किल से ही हो सकता था, तो भी उसे देखकर, उसका अनुमान करके या उसका आभास पाकर भाव-विह्वल, भाव-संतुष्ट अथवा भाव-विक्षुब्ध होने से—और तीनों की ही स्थितियाँ आती-जाती रहती थीं—अपने को न रोक सकता था। आखिरकार वे मेरे रक्त-मांस थे, मेरे 'मनसो-जातः' थे, 'आत्मा वै जायते पुत्र' थे। इतना सब होकर भी वे मेरे सृजन-संसार की कुछ उथल-पुथल थे, मेरी सृजन-वीणा के कुछ विसंवादी स्वर थे। इतना ही कहूँगा तो शायद मैं झूठ बोलूँगा। कभी-कभी तो मैं उनकी उथल-पुथल और उनके विसंवादी स्वर को अपने सृजन-जगत पर पूरी तरह छा जाने देता था। ऐसे में पहले तो सृजन होता नहीं था, और अगर होता था तो वह मुझे पूर्णतया संतुष्ट न करता था। '72 से '82 तक लंबे-लबे अरसों तक मैं अपने बेटों से दूर भी रहा और पास भी। इस अवधि में मैंने बहुत-सी कविताएँ भी लिखीं, पर 10 में से 9 कविताएँ मैंने तब लिखीं जब मैं उनसे दूर था—और उनकी दुनिया की, सिने-जगत की या उद्योग-

संसार की, रोबदाबी छाया मेरी लेखनी पर या मेरे काग़द-पत्रों पर हावी न हो सकती थी। मैं यह मानूंगा कि मेरे बेटे मेरी क़लम-स्याही की अविज्ञापित, मूक साधनालीन स्थली को पूजा की कोठरी से कम मान न देते थे। पर मैं अपने मन को क्या करता जो मोहासक्त या कौतूहलवश ध्यानभ्रष्ट उनकी कोठी के विभिन्न भागों में चहलक़दमी करने को निकल पड़ता था। भावों की झेल तो एकांत माँगती है, शब्दों की उद्वेल कम एकांत नहीं माँगती—वाह्य और आंतरिक दोनों। शब्द बड़ी भाव-प्रवण चीज़ें हैं। ईट्स उनकी तुलना 'केमिलियन' से करते थे—गिदगिदान या गिरगिट से—जो अपने चतुर्दिक परिवेश के अनुरूप रंग बदलता रहता है। ईट्स का अनुभव था कि पहाड़ी पर लिखी कविता, झील-झरनों के पास लिखी कविता, घने जंगलों में लिखी कविता, गाँव या महानगर में लिखी कविता चतुर्दिक रूप-रंग-रस-ध्वनि-गंध की अपनी इकाई, शब्द-शब्द में प्रतिलक्षित, अलग रखती है, पर उसे परखने को बड़ी सूक्ष्म बुद्धि चाहिए।

'73 की फ़रवरी के प्रथम सप्ताह में मेरे मित्र पं० प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त' की बेटी का विवाह था। रहते वे थे पटना में, पर लड़के वाले दिल्ली के थे और उनका आग्रह था कि आप बेटी को लेकर दिल्ली आएँ और वहीं से व्याह करें। बेटे वालों की ज़िद चलती है, 'मुक्त' को सहमत होना पड़ा। 'मुक्त' की इच्छा थी कि मैं उनकी बेटी की शादी में अवश्य शामिल हूँ। कई पत्र उनके आ चुके थे, पर मैंने वादा न किया था। सोचा था कि अगर जाने की सुविधा हुई तो ठीक विवाह के दिन पहुँच जाऊँगा। मेरे स्वागत-सत्कार की उन्हें क्या तैयारी करनी थी; ठहर जाऊँगा मैं अपने मित्र रामनिवास ढंढारिया के साथ जो उन दिनों जयदयाल जी डालमिया द्वारा खाली किए गए मकान—2, तिलक मार्ग पर रहते थे। अपनी बेटी के विवाह में मुझे सम्मिलित होने के लिए बाध्य करने का 'मुक्त' का एक विशेष कारण था। जब से वह बेटी जन्मी थी 'मुक्त' की यह धारणा थी कि वह पूर्व जन्म की श्यामा है। श्यामा के पिता पुकारने के लिए अपनी बेटी को 'बिट्टी' कहते थे, वैसे 'स्यामा'। 'मुक्त' जी भी अपनी बेटी को 'बिट्टी' कहकर पुकारते, और मुख्य नाम 'स्यामा' से मिलता-जुलता उन्होंने 'सीमा' रख दिया था।

उनका कहना था कि गुण-स्वभाव और रूप-रंग में भी वह बिलकुल श्यामा जैसी है। उन्होंने एक बार यह प्रस्ताव भी मेरे सामने रखा था कि उसका कन्यादान मैं ही करूँ, शायद इस कारण कि उसके ब्याह-व्यय का आधा भार उठाने का दायित्व मैंने ले लिया था—मामाजी द्वारा छोड़े दान-पुण्यार्थ धन के बल पर—जिसे गोपनीय रखना था। मैंने इनकार कर दिया, लिख दिया, शायद ही यह प्रस्ताव लड़के वालों को स्वीकार्य हो। और वे मान गए, पर इसके लिए आग्रहशील थे कि मैं सीमा के विवाह के अवसर पर अवश्य उपस्थित रहूँ। विवाह की तिथि निकट पहुंचने पर मेरे मन में भी कहीं पूर्वजन्म की श्यामा से मिलने का कौतूहल जगा, मैंने निश्चय कर लिया मैं दिल्ली जाऊँगा।

शरीर-मुक्त आत्मा की सत्ता अथवा पुनर्जन्म का विश्वास मुझे हिंदू संस्कार से मिले हैं। उनके प्रति संदेह मुझे सदा से रहा है, अब भी है। राधा बाबा से मैंने सीधा सवाल पूछा था, क्या मनुष्य का पुनर्जन्म होता है? उन्होंने कहा था,

होता है; पर सबूत में इतना ही कहा था, 'पुनर्जन्म तो इसी जन्म में मनुष्य का कई बार होता है'। और इससे किसको इनकार हो सकता है। पर यहाँ 'पुनर्जन्म' का अर्थ प्रवृत्ति या स्वभाव परिवर्तन है जो प्राय: होता ही है। क्रोधी शांत हो जाता है, या भोगी, त्यागी; या अच्छा-भला, बुरा। पर साधु-संत से कठ-हुज्जती करना मैंने ठीक न समझा था, उनके उत्तर पर मैं चुप हो गया था। मौन स्वीकृति का ही नहीं अस्वीकृति का लक्षण भी हो सकता है। पर मैं इस स्थिति में भी कभी नहीं रहा कि पुनर्जन्म को बिलकुल नकार दूं—शायद होता ही हो, अपने मरने के बाद अपना पुनर्जन्म हो और पूर्वजन्म की स्मृति बनी रहे तभी कुछ पक्का सबूत मिले। विश्वासों के संबंध में एक यह भी बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम बहुत-सी बातों में इसलिए विश्वास करते हैं कि हम उनमें विश्वास करना चाहते है। हमारा अपने प्रति और अपनों के प्रति इतना मोह होता है कि हम चाहते हैं कि हम विलुप्त न हों, हम जिन्हें चाहते हैं, जो हमारे प्रिय हैं, हम चाहते हैं वे भौतिक शरीर छोड़ देने के बाद कहीं हों, कहीं होते हुए हमें, हमारी दुनिया को भूले न हों। शायद यह मोह ही आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म के विश्वास के मूल में हो। पर 'मोह' क्या कोई छोटी, नगण्य या उपेक्षणीय चीज़ है? वह न हो तो हम साधारण मनुष्यों के जीवन का अर्थ ही क्या रह जाएगा। जब तक मोह है, क्या मोहजनित विश्वासों से छुटकारा पाया जा सकता है?

सीमा क़द, रंग-रूप, नाक़-नक़्श में श्यामा से बहुत मिलती-जुलती थी; हाँ, श्यामा शरीर से कुछ भारी थी, सीमा दुबली। गुण-स्वभाव परखने का अवसर कहाँ था। पाँव-पुजाई की रस्म में मैंने सीमा के पाँव पूजे, अगर यह पूर्वजन्म की श्यामा ही है तो मेरी पूजा की अधिकारिणी है ही। रस्म अदा करते समय कुछ अजीब से भाव मेरे मन में थे। पता नहीं वहाँ बैठे लोगों ने नोटिस किया कि नहीं कि मैंने पाँव सिर्फ़ कन्या के छुए थे, वर के नहीं। 'मुक्त' जी भावुक आदमी हैं। भाभी के रूप में जिसे स्नेह-सत्कार दिया था, बेटी के रूप में उसे प्यार-दुलार दिया।

> त्रिभिर्वर्षैः, त्रिभिर्मासैः, त्रिभिर्पक्षैः, त्रिभिर्दिनैः
> अत्युत्कटैः पुण्यपापैश्च इहैरैव फलमश्नुते।

अर्थ सरल है—

> अति उत्कट पुण्य-पाप का फल मनुष्य तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिन के अंदर यहीं अर्थात् इसी लोक में पा लेता है।

मुझे पता नहीं यह श्लोक किसका लिखा है अथवा किस ग्रंथ में है, पर लगता है किसी बड़े अनुभवी का लिखा है। लड़कपन में कहीं पढ़ा था, अभी तक याद है और अपने ही जीवन में कितने अवसरों पर इसकी सच्चाई देख चुका हूँ। प्राय: मनुष्य को अपने सुख-दुख का कारण अज्ञात ही रहता है, कोई अपने पूर्व जन्म के कर्म को श्रेय-दोष देकर संतोष कर लेता है, कोई 'इंशा अल्ला' कहकर — रामजी की मर्ज़ी—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई' (तुलसी), 'राजा राम करैं सो होय' (कबीर); पूर्वजन्म और रामजी, दोनों को न माननेवाले भाग्य अथवा अंध नियति की मन-मौज को—

किसी की लौह लेखनी भाल—
शिला पर लिख जाती कुछ लेख,
न फिर फिरती पीछे की ओर
लिखा क्या इतना तो ले देख;
न कम कर देगी आधी पंक्ति
देख सब तेरी भक्ति, विवेक,
न तेरे आँसू की ही धार
सकेगी धो लघु अक्षर एक।

(खैयाम की मधुशाला)

भाग्य और नियति को कभी विधि भी कहा गया है—'विधि का लिखा को मेटन हारा'। पर विधि-ब्रह्मा को अंध या मनमौजी नहीं माना गया। वे किसी आधार पर ही लिखते होंगे, और मनुष्य के कर्म के अलावा और क्या आधार हो सकता है, अधिक से अधिक मनःकर्म—पुण्य या पाप भी हो सकता है—जो आप करते नहीं, पर करने की सोचते हैं। इसी से मिलता-जुलता विश्वास है भाग्य जन्म-समय के ग्रह-नक्षत्र निश्चित करते हैं और इसका बहुत गुह्य-गहन शास्त्र है जिसके मर्मज्ञ महापंडित भी मिलते हैं और जिसमें चंचु-प्रवेशी भी। एक और विश्वास है कि भाग्य हाथ की रेखाओं में अंकित रहता है और इसका 'विज्ञान' भी कम विकसित नहीं है—अमरीकी कीरो से लेकर हिन्दुस्तानी फ़कीरों तक इसके जानकार मिलेंगे। इन सबके नगड़दादा नारद मुनि थे, जिन्होंने पार्वती का भाग्य बताया था—'परी हस्त असि रेख'। इस विद्या और इसे साधने वालों को सामुद्रिक भी कहते हैं, पता नहीं किस आधार पर। साहित्यकारों में इस विद्या के गुप्तज्ञानी पं० सुमित्रानंदन पंत थे। मेरा हाथ देखकर दो बार उन्होंने जो भविष्यवाणी की थी अक्षरशः सत्य निकली। तीसरी बार तो उन्होंने कमाल ही कर दिया—बालक अमित का हाथ देखकर उन्होंने कहा था कि बड़े होने पर इस लड़के को तुम से हज़ार-गुनी अधिक लोकप्रियता और कीर्ति मिलेगी। तब हमारे कीर्ति के मानदंड या तो राजनीति के क्षेत्र में थे या धर्म के। पर नक्षत्र और हस्तरेखायें शायद भाग्य बनाते नहीं, भाग्य बताते हैं; बनाना किसी और अविज्ञात आधार पर होता होगा। आप मेरा विश्वास जानना चाहें तो मैं कहूँगा कि अपने जीवन में समय-समय पर मैंने इनमें से हर-एक पर विश्वास किया है और हर-एक पर संदेह भी और दोनों के कारण मेरे सामने रहे हैं। पंडित नेहरू का लिखा या कहा, समाचार-पत्र-प्रकाशित, कहीं मैंने पढ़ा था कि मुझे पूर्वजन्म या पश्चात जन्म में संदेह है, पर मैं एक वैज्ञानिक के समान इसमें विश्वास करता हूँ कि अच्छे कामों का परिणाम निश्चित रूप से अच्छा होता है।—मैं इस विश्वास को अपना भी कहना चाहूँगा, सिर्फ़ इतना उसमें जोड़कर कि ज़रूरी नहीं कि अच्छे कामों का अच्छा फल उसके कर्ता को ही मिले।

सीमा के विवाह व्यय का अर्द्ध-भार उठाकर—स्वयं फिर भी कहाँ?—मैंने ऐसा तो न समझा था कि मैंने कोई अति 'उत्कट पुण्य' किया है, पर जो फल सामने आए उस से लगता है कि कहीं बैठी लेखा-जोखा करने वाली शक्तियों ने उनको इसी श्रेणी में रखा। फ़रवरी-मार्च में अमित की दो फ़िल्में 'नमक हराम' और 'सौदागर'—उनके 'हिट' के मद में न गिने जाने के बावजूद काफ़ी लोकप्रिय

हुईं और उनके अभिनय की दर्शकों और पारखियों ने प्रशंसा की। मई आते-आते मेरी 'मधुशाला' की बीस रुबाइयों का रेकार्ड एच० एम० वी० द्वारा निकाला गया—जयदेव के संगीत निर्देशन में, मन्ना डे के स्वर में, पहली रुबाई मेरी आवाज़ में; और निकलते ही लोकप्रिय हो गया। मई के तीसरे सप्ताह तक अमिताभ की फ़िल्म 'जंज़ीर' के पहली बार 'हिट' होने की उद्‌घोषणा हुई। और चौथे सप्ताह में अमित ने हमें यह ख़ुशखबरी दी कि उन्होंने और जया ने यथाशीघ्र परिणय की जंजीर में आबद्ध होने का निर्णय ले लिया है—संकेत हमें महीनों से मिल रहे थे—और विवाह के लिए 3 जून की तारीख़ निश्चित कर ली है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है—'मिस्फोर्च्यून्स नेवर कम सिंगली' यानी दुर्भाग्य कभी अकेला नहीं आता, वह अपने साथ अपने सगोतियों को भी लेकर आता है। हम तर-पर आते अपने सौभाग्य को देखकर सोचने लगे, यह कहावत भी होनी चाहिए थी 'गुड लक नेवर कम्स सिंगली' अर्थात् सौभाग्य कभी अकेला नहीं आता।

परिवार ने साथ बैठकर मंत्रणा की—विवाह यथासंभव गुप्त रीति से किया जाय। साल के शुरू से ही अमिताभ की बढ़ती लोकप्रियता के साथ घर घेरने वाली भीड़ दिनानुदिन बढ़ रही थी। विवाह की तिथि अगर पत्रों में घोषित कर दी गई तो इतनी भीड़ जमा हो जायगी कि उसपर अंकुश लगाना मुश्किल हो जायगा। कुछ मास पूर्व एक प्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेता के विवाह के समय जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी—तोबा-तोबा !—उसके परिणाम हम देख चुके थे। तै हुआ हमारी ओर से विवाह में सम्मिलित होने को केवल राजन-परिवार और गांधी-परिवार को आमंत्रित किया जाय। जया के परिवार वालों ने यह निश्चय किया कि भीड़-भाड़ से बचने के लिए वे विवाह 'बीच-हाउस' से नहीं करेंगे, जहाँ वे रहते थे, बल्कि अपने एक मित्र के यहाँ से करेंगे जिनका निवास मलाबार हिल्स की एक ऊँची बिल्डिंग, 'स्काईलार्क' के टाप फ़्लोर पर था। वहाँ से विवाह होने की संभावना पर शायद ही किसी का ध्यान जाता। हमने जगदीश राजन को तार दिया 'परिवार के साथ फ़ौरन चले आओ'। तार में और कोई सूचना न थी कि किस कारण हम उन्हें बुला रहे हैं। तेजी ने श्रीमती गांधी को फोन से निमंत्रित किया। जैसी कि प्रत्याशा थी, उन्होंने बधाई दी, पर स्वयं आने में असमर्थता प्रकट की—वास्तव में हम चाहते भी नहीं थे कि वे आएँ क्योंकि उनके आने से गोपनीयता की बात तो ख़त्म हो जाती—साथ ही विश्वास दिलाया कि गांधी परिवार की ओर से विवाह में शिरक़त करने को संजय जायेंगे।

जया के माता-पिता की इच्छा थी कि विवाह बंगाली रीति से हो। हमने कोई आपत्ति न की। पहली रस्म वर-पूजा की थी, जिसमें जया के पिता ने 'मंगल' आकर कुछ उपहार के साथ दधि-दूर्वा-गोरोचन-अक्षत से वर की पूजा की। बदले की रस्म कन्या-पूजा के लिए मैं बीच हाउस गया और कुछ उपहार के साथ मैंने भी दूब-दही-रोली-अक्षत से कन्या की पूजा की।

बीच हाउस में एक अप्रत्याशित बात दिखी। जया को छोड़ परिवार में किसी के चेहरे पर प्रसन्नता की रेखा न थी।

अब तीन जून की संध्या को हमें बारात लेकर 'स्काईलार्क' पहुँचना था। वर के अतिरिक्त तीन हम अपने परिवार के थे, तीन पुत्र, पति-पत्नी—पाँच

राजन परिवार के थे, सगुन के लिए मैंने सोचा पाँच बराती भी रहें—संजय गाँधी थे ही, मैंने श्री भगवतीचरण वर्मा को, जो उन दिनों बंबई में ही थे, श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव तथा डॉ० धर्मवीर भारती को आमंत्रित कर लिया था।

उस संध्या को तेजी और इंदिरा—जगदीश राजन की पत्नी—ने हल्दी का उबटन कर अमित को स्नान कराया। ऐसे समय तो बड़ा गाना-बजाना होता है और उल्लास को अभिव्यक्ति मिलती है, पर यहाँ तो सब चुप-चुप करना था—अवरुद्ध उल्लास कभी रोमांच कर देता, कभी आँखों में छलछला उठता, विशेषकर तेजी के अंगों में या उनके नेत्रों में। वर के वस्त्र धारण करने पर बहनें काजल लगाती हैं; घर में बहनों का अभाव खटका। यह रस्म शंकराबाई की लड़कियों ने अदा की। अमित बहुत ही सुंदर लग रहे थे—माँ ने दुआ माँगी, हनुमान जी, मेरे लाल को बद-नज़रों से बचाना। अजिताभ द्वारा सेहरा—बेले की कलियों का—वर के माथे पर बाँधे जाने के पहले मैंने पुलकित स्वर में घोषणा की, वर का चेहरा जिसे देखना हो भर आँख देख ले, अब सेहरा बँधने जा रहा है। उसके बाद हम बाहर खड़ी तीन मोटरों में जा बैठे। आगे की मोटर में पाँच बाराती बैठे, बीच की मोटर में राजन परिवार के पाँच सदस्य—पीछे की मोटर में वर समेत हम परिवार के चार व्यक्ति!—'मंगल' के बाहर रात को रोशनी के लिए बल्बों की लाइन की लाइन लगाई गई थी—पड़ोसियों ने पूछताछ की कि ये सब क्यों, तो उनसे कह दिया गया था कि अमिताभ की किसी फ़िल्म की शूटिंग यहाँ आधी रात को होगी। और वे मान गए थे; किसी को कानों-कान पता न लगने दिया गया था कि अमित का विवाह हो रहा है—बारात की तीन मोटरें 'मंगल' से बाहर निकलीं तब भी लोगों ने यही समझा कि रात की शूटिंग के लिए कुछ रिहर्सल किया जा रहा है। हमने बड़ी सफलतापूर्वक अमित के विवाह को गोपनीय रखा था।

'स्काईलार्क' की इमारत के सामने बिना बाजे-गाजे की बारात का स्वागत किया गया। आसपास के कुछ लोग देखने को आ खड़े हुए, पर भीड़-भाड़ नहीं थी—फिर तो लिफ्ट से हम सब टाप फ्लोर पर पहुँच गए जहाँ विवाह होना था।

जया का कुछ शृंगार किया गया था, और पहली बार मैंने उसके चेहरे पर लज्जा का भी भाव देखा, जिसके अभाव का ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। लज्जा सौंदर्य का कितना विशिष्ट अंग है इसकी पहली बार अनुभूति हुई। कुशल अभिनेत्री होने के कारण वह लज्जा का अभिनय भी कर सकती थी, पर उस समय की उसकी लज्जा मुझे बहुत सच्ची और स्वाभाविक लगी।

एक बंगाली पंडित ने विवाह कराया, जिसकी रस्में देर रात तक चलती रहीं। एक फ़ोटोग्राफ़र सारे समय फ़्लैश दे-दे विवाह के चित्र लेता रहा। बारातियों को पिला-खिला विदा कर दिया गया। सिर्फ़ घर के लोग रह गए। विवाह समाप्त होने पर वर-वधू के साथ दोनों के घरों के सदस्यों ने भोजन-पान किया। इसके बाद विदाई होनी थी।

तेजी और मैंने सोचा हम दोनों कुछ पहले घर पहुँचकर वहाँ दूल्हा-दूल्हन के स्वागत की तैयारी करें।

विदा लेने से पूर्व मैंने अपने समधी को गले लगाकर बधाई दी—'अमित

जैसा जामाता पाने पर आपको मेरी बहुत-बहुत बधाई !'

मेरी प्रत्याशा थी कि उत्तर में वे कहेंगे, 'जया जैसी पुत्रवधू पाने पर आपको मेरी बहुत-बहुत बधाई !'

पर उन्होंने कहा, 'मेरा तो घर ही उजड़ गया।'

हिंदुओं में रस्म-रिवाज़ों की विविधता का कोई अंत नहीं। शास्त्रीय वर्ण तो चार ही माने गए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पर इनकी जातियाँ-उपजातियाँ सैकड़ों नहीं, हज़ारों हैं; और हर एक में जन्म से लेकर मरण तक के अवसरों को मनाने के तौर-तरीक़े अलग-अलग हैं। जाति-उपजातियों में भी परिवार हैं, परिवारों के घर हैं, और हर परिवार, हर घर में जीवन-अवसरों को मनाने के अपने कुछ विशिष्ट विधि-विधान हैं। उदाहरण के लिए लड़के के विवाह के बाद वधू के घर में आने के अवसर को ही लीजिए। ऐसे कई घरों के अवसर मैंने देखे हैं। बहुप्रचलित तरीक़ा यह है कि वर-वधू घर के दरवाज़े पर आकर खड़े होते हैं, वधू आगे खड़ी होती है, वर पीछे। घर की बड़ी, प्रायः सास, सास न हुई तो वर की चाची-मौसी या बुआ सूप में जल की झारी, आटे की कटोरी में घी का दिया, सिंदूर की डिबिया, फूल-अक्षत लेकर द्वार खोलती है। जल की झारी वधू के सिर से वारकर पानी एक ओर गिराती है, यह एक प्रकार से प्राचीन काल का अर्घ्य देना ही हुआ। फिर घी के दीवे से वधू की आरती करती है, उसकी माँग में सिंदूर लगाती है, फिर फूल-अक्षत उसके सिर पर डालती है और फिर फूल-अक्षत धरती पर बिखेरती घर के अंदर तक चली जाती है, पीछे-पीछे वधू-वर उन्हीं फूल-अक्षतों पर पाँव रखते घर में प्रवेश करते हैं।

एक घर में मैंने देखा उपर्युक्त सब कुछ करने के बाद सास या घर की बड़ी, आटे की बेली हुई रोटियाँ—अभी कच्ची—रास्ते में गिराती है और वधू उन पर पाँव रखती हुई चलती है, पीछे से वर उन रोटियों को एक हाथ से उठाकर दूसरे हाथ पर रखता जाता है, बाद को वे तवे पर सेंकी जाती हैं और घर के लोग भोजन करते समय सबसे पहले एक-एक रोटी या उसका एक-एक कौर खाते हैं। यह भी एक प्रकार से नव-वधू का सम्मान ही है।

एक घर में मैंने देखा कि वधू के आने पर घर के मुख्य द्वार के दोनों ओर तेल गिराया जाता है और तब वधू घर में पाँव रखती है।

कश्मीरी पंडितों के एक परिवार में मैंने देखा कि नव-वधू के आने पर सास उसके पाँव दूध से धोती है।

एक गाँव के परिवार में मैंने एक विचित्र प्रथा देखी। वर-नववधू के दरवाज़े पर आकर खड़े होते ही सास घर से निकलती है और पास के कुएँ में पाँव लटका कर बैठ जाती है—जसे आशंका प्रकट करती है कि नई बहू उसका आदर-सत्कार नहीं करेगी, उसकी उपेक्षा, उसका अपमान करेगी, इसके पहले ही वह कुएँ में कूदकर अपने प्राण दे देगी। नव-वधू सास को मनाती है, उसे विश्वास दिलाती है, ऐसा नहीं होगा, वह उसका मान-सम्मान करेगी, वह कुएँ से पाँव निकाले और घर चले। ऐसा वह तीन बार कहती है तब सास पाँव निकालती है। बहू सास के पाँव पूजती है और सास को आगे-आगे कर घर में प्रवेश करती है। शायद सासों ने यह प्रथा निकाली होगी कि बहू के घर में पाँव रखने से पहले

उससे तीन-तिरवाचा करा लें कि नई बहू उनकी बेइज़्ज़ती नहीं करेगी।

मेरे परिवार में यह प्रथा थी कि नववधू के द्वार पर आने पर सास उसका हिंदू रीति से औपचारिक सत्कार कर उसके पाँव छुएगी—पहली और अंतिम बार, फिर जीवन में सास बहू के पाँव कभी नहीं छुएगी, बहू ही सास के पाँव छुआ करेगी—और उससे कहेगी—

गृह लक्ष्मी
कुल लक्ष्मी
भाग्य लक्ष्मी
बनकर घर में पाँव रखो।

उत्तर में नववधू कहेगी—

मैं
गृह लक्ष्मी
कुल लक्ष्मी
भाग्य लक्ष्मी
बनकर इस घर में पाँव रखती हूँ।

डोली चढ़कर इस घर में आई हूँ,
टिकठी चढ़कर इस घर से जाऊँगी।

तात्पर्य शायद यह था कि सुख-दुख, मान-अपमान किसी हालत में बहू को घर नहीं छोड़ना था—विवाह आजीवन या आमरण संबंध था। अपने पहले विवाह पर श्यामा के साथ जब मैं घर आया था तब की इस तरह की रस्म-अदाई मुझे याद थी। श्यामा ने तो अपना वादा शब्दशः पूरा किया! तेजी जब आईं तब भी माँ ने इसी प्रकार उनका स्वागत किया था। मैंने तेजी से नववधू वाला वचन नहीं कहलाया था।

तेजी और मैंने घर आकर तय किया कि जया नववधू के रूप में आएगी तो हम दोनों औपचारिक सत्कार के बाद साथ उसके पाँव छुएँगे और कहेंगे :

गृह लक्ष्मी
भाग्य लक्ष्मी
कुल लक्ष्मी
बनकर इस घर में पाँव रखो।

नववधू वाला भाग हम उससे न कहलवाएँगे, जैसा कि तेजी ने भी नहीं कहा था।

आधी रात के बाद जब अमित जया को लेकर आए तो इसी भाँति 'मंगल' में उसका स्वागत हुआ।

मैंने तेजी से कहा, 'लरिका श्रमित उनींदवश सयन करावहु जाइ'।

विवाह जिस तरह संपन्न होने को था, उसमें किसी संबंधी या मित्र को निमंत्रित करने का प्रश्न ही नहीं उठता था; पर अपनी तरफ़ से उन्हें इस शुभ

कार्य की सूचना तो देनी थी, गो कई पत्रों में अमित-जया के विवाह का समाचार छप गया था। मैंने एक मौलिक 'निमंत्रण-पत्र' छपाने की योजना बनाई। ऊपर बड़े अक्षरों में दे दिया—'अमिताभ-जया-परिणय'; नीचे 'मानस' की एक अर्द्धाली दे दी—'जब तें राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए।' अंदर सूचना की तरह लिखा, 'आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि 3 जून 1973 को अमित-जया परिणय-सूत्र में आबद्ध हो गए। उनके सुखमय वैवाहिक जीवन के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजकर हमें अनुगृहीत करें।' ऐसा निमंत्रण-पत्र छपाकर हमने मित्र-संबंधियों को भेज दिया। प्रायः सबों ने अपनी शुभकामनाएँ भेजीं, बहुतों ने छोटे-मोटे उपहार भी भेज दिए।

चार रोज़ बाद अमित-जया अपना हनीमून मनाने को एक महीने के लिए इंग्लैंड जानेवाले थे। पर उसके पहले एक दिन जया की किसी फ़िल्म की शूटिंग थी; वह काम पर जाने लगी तो मैंने कहा, 'घर में तीन-तीन मर्द कमानेवाले बठ हैं और घर नई-नई ब्याही आई बहू काम करने जाए, मुझे अच्छा नहीं लगता'। खैर, शूटिंग के इस कार्यक्रम के लिए जया पहले से प्रतिबद्ध थी, कैसे रुकती।

अमित-जया के अपने हनीमून पर जाने के बाद राजन परिवार के लोग बाँदा लौट गए। अजिताभ सुबह त्रपु एंटरप्राइज़ कारख़ाने चले जाते और शाम को आते। मौसम साफ़ रहता तो सुबह-शाम मैं थोड़ी देर को जुहू-बीच तक घूम आता, दिन को कुछ देर पढ़ता, कुछ देर सोता। जून में बंबई में वर्षा आरम्भ हो जाती है, नमी बहुत ज़्यादा हो जाती है, उसी के साथ तेजी का दमा बढ़ गया था, वे अपनी पेटेंट दवाइयाँ लेतीं और कमरा बंदकर भीतर पड़ी रहतीं। रात को जब हम खाने की मेज़ पर बैठते, अजिताभ अपने कारख़ाने की प्रगति के बारे में बताते। आठवें-दसवें दिन अमित-जया के तस्वीरी कार्ड या पत्र आते, वे इंगलैंड में घूम-घाम रहे थे और खुश थे। जाते समय मैंने उनसे कहा था कि केम्ब्रिज भी जाना और वहाँ मेरे शोध-गुरु डा० हेन के भी दर्शन करना और उनका आशीर्वाद लेना, वे तुम लोगों को देखकर बहुत खुश होंगे, उनके एकमात्र लड़के की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी, उन पर फ़ालिज गिरा था। वे बैसाखी पर चलते थे। अमित-जया केम्ब्रिज पहुँचकर उनके घर गए थे और उनसे मिलने का बड़ा रोचक वर्णन लिखा था, पर उन्होंने क्या लिखा था जो हेन ने लिखा था। विभोर हो गए थे अमित-जया को देखकर, लिखा था, तुम कितने भाग्यवान हो कि तुमको इतना क़द्दावर, सुंदर, सुशील पुत्र मिला है और उसकी इतनी उसके अनुरूप पत्नी—इसमें कुछ व्यंग्य भी था कि इतने लम्बे नवयुवक की इतनी ठिगनी पत्नी! अंत में लिखा था कि यह सुख भारतीय माता-पिता के ही भाग्य में होता है कि अपने पुत्र-पुत्रवधू को अपनी वृद्धावस्था में अपने समीप देखें। योरोप में तो विवाह के बाद पुत्र अपनी पत्नी को लेकर अलग घर बसाता है और यदा-कदा ही अपने माता-पिता को मिलने आता है या उन्हें अपने पास बुलाता है। मेरा पुत्र, अगर वह ज़िंदा भी होता, तो शायद ही मेरे पास आकर रहता या मुझे अपने पास रहने को बुलाता। हेन के शब्दों के बीच-बीच से उनके पुत्र की दर्दीली स्मृति झाँक रही थी!—

जुलाई के प्रथम सप्ताह में अमित-जया अपनी हनीमून-यात्रा से वापस

आए। 12 जुलाई से दिल्ली में नेशनल फ़िल्म्स अवार्ड कमेटी की मीटिंगें थीं जिसकी तेजी सदस्या थीं; मीटिंगें तीन सप्ताह तक चलनेवाली थीं। तेजी ने एक मास के लिए दिल्ली जाने का कार्यक्रम बनाया, मैंने एक महीने के लिए बाँदा जाने का। जगदीश राजन अमित-जया के विवाह के अवसर पर जब आए थे तब बड़े आग्रहपूर्वक हमसे कह गए थे, अब घर देखने को बहू आ गई है, भाभी और आप थोड़े दिनों के लिए बाँदा आकर हमारे पास रहें। तेजी दिल्ली में मोहम्मद यूनुस के साथ ठहरी थीं जो हमारे मित्र और 8-10 महीने पहले हमारे पड़ोसी थे; वे 12 और हम 13 विलिंगडन क्रिसेंट में थे।

बांदा मैं कई वर्षों बाद गया था। राजन के घर को तो पहचानना ही मुश्किल था। उन्होंने अपने पुराने कच्चे-पक्के घर को गिरवाकर नया मकान बनवाना शुरू किया था। नीचे, आगे के कुछ कमरे तैयार हो गए थे, दफ़्तर, ड्राइंग-रूम, डाइनिंग-रूम, किचेन और दो बेड रूम; पीछे का हिस्सा अभी पुराना ही था; ऊपर के कमरे अभी बन रहे थे, काम लगा हुआ था। राजन-इंदिरा और हर्षित, उनके सबसे छोटे लड़के, सिर्फ़ बांदा रहते थे; दोनों बड़े लड़के अभिजित और शोभित इलाहाबाद में अपने नाना-नानी के साथ रहते थे, ब्वायज़ हाई स्कूल में पढ़ते थे। दो बेड-रूमों में एक छोटा था, एक बड़ा; उन्होंने बड़ा वाला बेड-रूम मुझे दिया, उसका एक दरवाज़ा बाहर के बरामदे में खुलता था, एक बगल के गलियारे में, एक छोटे बेड-रूम से जोड़ता था। उस कमरे में रहते हुए मैं घर के भीतर भी था, और बाहर भी—बाथ-रूम साथ लगा था। राजन ने मेरे कमरे में विलिंगडन क्रिसेंट वाली मेज़-कुर्सी, आलमारियाँ लगवा दीं; आलमारियों में कुछ मेरी ही किताबें; वहीं का बेड। उस कमरे में रहते हुए मैं अनुभव करता था कि जैसे 13, विलिंगडन क्रिसेंट का एक टुकड़ा ही यहाँ आ गया है। पुराने फ़र्नीचरों के बीच बैठता तो कितनी-कितनी पुरानी यादें जागतीं। मन पीछे की ओर, बीते की ओर, जाने को कितना उत्सुक रहता है, जाना कितना आसान होता है; पिछला सब कुछ परिचित, पहचाना, जाना, तन-मन सबसे अभ्यस्त।

बहुत सुबह उठने की मेरी पुरानी आदत है। मैं साढ़े-तीन चार के बीच उठ जाता। साढ़े चार तक तैयार हो जाता। बाहर के बरामदे के दरवाज़े से निकल, उसपर ताला लगा केन नदी की तरफ़ चल पड़ता। राजन के घर से नदी दो-ढाई मील पर होगी। रास्ता सीधा है। अभी सुनसान रहता। सुनसान सड़क पर एकाकी चलना मुझे अच्छा लगता है। जब तक तट पर पहुँचता कुछ-कुछ उजाला हो जाता। चट्टानों के बीच बहती, गर्मी के कारण कृश, नील-निर्मल-जला केन मुझे लुभाती, आमंत्रित करती। समुद्र न सही, नदी ही सही; मैं कपड़े उतार नदी में स्नान करता। बड़ा सुख मिलता। प्रयाग में गंगा-जमुना स्नान करने के दिन याद आते। स्नान करके निकलते ही चंदन घिसते पंडे माथे पर चंदन का खौर लगाते। एक-दो पैसा हाथ में ले, कुशा की पाँती हाथ में लेनी होती, पंडा कहता, 'स्नान, ध्यान, पूजा-पाठ सर्वविधे' और कुशा के साथ पैसा अपने हाथ में ले पास रखे पानी के लोटे में डाल लेता। यहाँ कुछ भी नहीं। सब सूना-सूना। मालूम होता है बाँदा के लोगों को नदी-स्नान का शौक नहीं। शायद यह शौक हिंदुओं को ही नहीं। गंगा-यमुना या अन्य पवित्र नदियों के स्नानार्थी, निन्यानबे प्रतिशत, 'पुण्याय, पाप प्रक्षालनार्थाय' डुबकी लगाते मिलेंगे। केन

के साथ पवित्रता की भावना नहीं जुड़ सकी। जोड़ने का एक बड़ा संभाव्य कारण खोजा जा सकता था। ऐसा प्रसिद्ध करते कि केनोपनिषद केन नदी के किनारे लिखा गया था। मेरी कल्पना अब भी है कि केनोपनिषद केन नदी के किनारे लिखा गया होगा। मेरा प्रिय उपनिषद है। जैसे केन सुस्थिर, अडिग, चट्टानी तटों के बीच सुनिश्चित पथ से प्रवाहित होती है, वैसे ही केनोपनिषद की विचार-धारा भी चलती है। उसके सूत्रों के दो अर्थ नहीं लगाए जा सकते। मेरी ऐसी धारणा है कि ब्रह्म सत्य और ब्रह्म ज्ञान को मानवी संचेतना की सीमा में जितना समाहित किया जा सकता है उतना और उतना ही कहकर केनोपनिषद चुप हो जाता है। मैं दो-एक उदाहरण देना चाहता हूँ—पहले खंड का पहला ही सूत्र है—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत

(न मैं ब्रह्म को अस्वीकार करूँ, न ब्रह्म मुझे अस्वीकार करे)

इस निषेधात्मक इच्छा पर ध्यान दें। ब्रह्म शोध के यात्री का इससे सही पहला क़दम नहीं हो सकता। ब्रह्म को ब्रह्म जाने। पर मानवी संचेतना निःसंशय, पूरी ईमानदारी से इतना तो कर ही सकती है। स्वीकारने को तो अतिमानवी अथवा दिव्य संचेतना ही आवश्यक हो, निश्चय ही स्वीकार किये जाने को भी; वहाँ तक अपनी गति नहीं।

दूसरे खंड का दूसरा सूत्र है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च

(न मैं यही मानता हूँ कि मैं उसे जानता हूँ, न मैं यही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता।)

मानवी संचेतना की अपनी सीमा की कितनी सुस्पष्ट स्वीकृति है! वैदिक ऋषियों की गर्वोक्ति—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात।

(तम से परे, ज्योतिस्वरूप उस महान पुरुष को मैं जानता हूँ)—

से औपनिषदिक ऋषियों की विनम्रोक्ति तक आने में हमने कितनी दूरी तै कर ली है। शायद मानसिक दूरी से भौतिक दूरी तक—व्यास तट से केन किनारे तक। व्यास-तट के विश्वासी का स्वर दोहराने का साहस मैं न कर सकूँगा। पर केन-किनारे के संदेहवादी (Agnostic) की वाणी प्रतिध्वनित कर मुझे संतोष होगा। और अंत में यह सार है:

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।

(जो कहता है मैं जानता हूँ वह नहीं जानता है, जो कहता है मैं नहीं जानता। वह जानता है)

मैं तो साफ़ कहता हूँ कि मैं नहीं जानता। उपनिषद कहे, तो मैं जानता हूँ; पर मैं नहीं जानता तो मैं नहीं जानता। अपने प्रति ईमानदार हूँ, यह छोटे से

जीवन की कोई छोटी उपलब्धि नहीं है।

स्नान करके सुनसान किनारे पर बैठा कुछ देर यही सब सोचता रहता, फिर घर वापस आ जाता, प्रायः सूर्योदय के साथ।

नाश्ता मौसमी फल और दूध का करता। कुछ देर अखबार पढ़ता—साथ राजन-इंदिरा से कुछ गप-शप। आठ-साढ़े आठ बजे अपनी मेज़-कुर्सी पर जा बैठता। सोचता, सुबह से उठे हुए चार-पाँच घंटे हो गए हैं और अभी तक लिखने-पढ़ने का कोई सार्थक काम नहीं किया! कभी सोचकर संतोष कर लेता बहुत कुछ आलतू-फालतू करते हुए मन में भीतर-भीतर चिंतन-मनन तो चलता रहा है। वही तो लेखन-पठन की पृष्ठभूमि बनेगा। लेखन के साथ तो चिंतन चलता ही है, पठन के साथ भी चिंतन न चले तो पढ़ना सिर्फ़ वक़्त काटना है।

बंबई से चलते समय अपने अपूर्ण-अप्रकाशित विविध गद्य लेखों की फ़ाइल साथ रख ली थी। उसमें कुछ निबंध थे, कुछ वार्ताएँ, भाषण, पत्र-परिचर्चाएँ, साक्षात्कार और कुछ संस्मरण। सोचा था, सबको एकत्र कर एक गद्य-विविधा प्रस्तुत कर दूँगा और उसी के साथ गद्य से भी विदा ले लूँगा। एक बजे तक उनपर काम करता। फिर खाना खाता। खाना मेरा बिलकुल फीका होता। उन दिनों मैंने नमक-मीठा दोनों छोड़ दिया था—

'लवण बिना सब व्यंजन फीके',
'खाँड़ बिना सब राँड़ रसोई।'

पर फीके से मुझे कोई तकलीफ़ न होती। फिर दो घंटे को सो जाता। शाम को या तो श्री केदारनाथ अग्रवाल—बाँदा निवासी, हिंदी के जाने-माने प्रगतिशील कवि, हमारे यहाँ आ जाते या मैं उनके यहाँ चला जाता और घंटे-दो-घंटे साहित्यिक, ग़ैर-साहित्यिक विषयों पर हमारी बातचीत चलती। रात को खाना खाकर जल्दी सोने चला जाता, सुबह जल्दी उठने को—केन तक जाने-आने और केन-किनारे कुछ देर बैठने का समय सबसे अच्छा बीता समय लगता। केन किनारे छोटे-छोटे चिकने विविध रंग-आकार के पत्थर बहुतायत से मिलते हैं; चार-छह जो मुट्ठी में आते चुन लाता। न्यूटन की याद आती। अपनी उपलब्धियों के लिए उसने कहा था, ज्ञान का पारावार सामने ठाठें मार रहा था, मैंने तो तट के कुछ रंगीन पत्थर भर चुने! मैं तो एक क्षुद्र नदी के तट की कंकड़ियाँ ही बीन रहा हूँ। इस अनुपात में भी यदि न्यूटन के सामने बच्चन रहे तो वह अपने को नगण्य न समझेगा। केन अपने शजरी पत्थरों के लिए प्रसिद्ध है। पानी के भीतर पड़े पत्थरों पर किनारे के वृक्षों की छायाएँ अंकित हो जाती हैं। कुछ कारीगर इन पत्थरों को खोजते, काटते और पेपरवेट वग़ैरह बनाते हैं, जो बड़े शहरों में अच्छे दामों पर बिकते हैं। एक कारीगर के यहाँ मैंने केन में मिला एक शिवलिंग देखा—एक फुट लंबा—सप्त रंगों में, कोई ऐसा न था जो उस पर न हो। उसे देखते ही जी में आया इसे तो ले चलूँ और कहीं 'बहुरंगी महादेव' के नाम से इसे स्थापित करूँ। पर 'चढ़ावा'—देवमूर्तियों के 'दाम' को कारीगर 'चढ़ावा' कहते हैं—सुनकर विचार हवा हो गया!

बाँदा में काम करना बहुत मुश्किल था। गर्मी के दिन। बिजली तो थी, पर उसके आने-जाने के विषय में यही कहा जा सकता था—'रहवे को आचरज है,

जाय तो अचरज कौन'। गद्य लेखों पर कुछ काम बंबई में भी हो चुका था, फिर लगभग एक मास में मैंने उनकी स्वच्छ प्रतिलिपि तैयार की, उनका क्रम लगाया, उनको प्रेस कापी का रूप दिया। नाम उस गद्य-कृति का मैंने रख दिया—'टूटी-छूटी कड़ियाँ'। उसे मैंने जया को समर्पित किया—इन शब्दों के साथ :

'मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।
रूप रासि गुन सील सुहाई॥'

'अपनी पुत्रवधू जया को
जिसके योग्य ये 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' तो न थीं,
पर जिन्हें जोड़ना-मिलाना उसके लिए कुछ
विनोद हो सकता है—'

प्रेस कापी तैयार हो गई तो मैं उसे लेकर दिल्ली गया, राजपाल को उसे प्रकाशित करने के लिए देने को। तेजी तब दिल्ली में ही थीं, सोचा था, लौटते समय उन्हें साथ लेकर बाँदा आ जाऊँगा और वहीं राजन-परिवार की इच्छानुसार हम सब उनका जन्मदिन मनाएँगे (12 अगस्त को) और वहीं कुछ दिन रहेंगे—बंबई की बरसाती नमी से बचने को जो तेजी के दमे को उभार देती थी। दिल्ली से आनेवाली गाड़ी के देर से पहुँचने के कारण कानपुर से बाँदा जानेवाली गाड़ी का कनेक्शन नहीं मिला। हमने तेजी का जन्मदिन कानपुर के एक मित्र के यहाँ मनाया। कानपुर में 'ज़ंजीर' लगी थी, हमने सोचा, चलो आज के दिन अपने बेटे-बहू को हम पर्दे पर ही मिल लें, अजिताभ को भी अमिताभ में देख लें। मित्र के परिवार के साथ हमने शाम को 'ज़ंजीर' देखी और रात की गाड़ी से चलकर बाँदा पहुँचे।

राजन-इंदिरा हमारी हर सुविधा का ध्यान रखते, हमें हर प्रकार प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते, वे हमें बहुत अपना समझते, वैसे ही हम भी उन्हें।

अगस्त के तीसरे सप्ताह में अमित का फ़ोन आया। तेजी ने ही सुना... नाचते हुए मेरे पास आईं···'हम लोग दादा-दादी बननेवाले हैं!' सुनकर मैंने कहा, 'हम लोग बड़भागी हैं। हमारे परिवार में तीन पीढ़ियों के बाद ऐसा अवसर आया है। मिट्ठू लाल की जब मृत्यु हुई उनके पुत्र भोलानाथ का विवाह तो हो गया था पर उनके तब तक कोई संतान न थी। भोलानाथ की जब मृत्यु हुई तब उनके पुत्र प्रताप नारायण का विवाह भी नहीं हुआ था। प्रताप नारायण ने अपने छोटे बेटे की बेटी का मुँह देखा था कि उसे उसकी माँ के साथ कफ़न में लपेटना पड़ा। सब कुछ कुशल से निबटे तो हम लोग पोते या पोती का मुँह देखने वाले चौथी पीढ़ी के लोग होंगे।' तेजी जैसे मेरी बात को कुछ महत्त्व न देकर कहे जा रही थीं—'मुन्ना ने कहा है, फ़ौरन बंबई आ जाइए...जाना ही चाहिए... तीसरा महीना है...यही महीने तो गर्भवती के लिए नाज़ुक होते हैं...ऊँचे-नीचे पाँव नहीं पड़ना चाहिए...ऊपर के कमरे में रहती हैं, सीढ़ी से बहुत चढ़ना-उतरना ठीक नहीं...मैं ऊपर वाले कमरे में चली जाऊँगी, बहू को नीचे भेज दूँगी... ऐसे समय कोई सयानी स्त्री पास होनी चाहिए, कब चलोगे?'

तेजी राजन-इंदिरा को बुलाकर खुशखबरी देती हैं। पूछती हैं, 'यहाँ कोई

नज़दीक हनुमान-मंदिर है ? मुझे इसी समय जाना है।' लौटकर सबको प्रसाद बाँटती हैं।

महीने गिनती हैं। मार्च में बच्चा होगा। मौसम कैसा रहेगा ? मुझसे पूछती हैं, 'अच्छा बताओ, लड़का होगा कि लड़की ? मैं दोनों के कपड़े बनवाऊँगी...मैं तो चाहती हूँ लड़की हो...मेरे लड़की नहीं हुई...तुम क्या चाहते हो ?'

'मैं तो चाहता हूँ लड़का हो। हिंदू परिवार में खासकर कायस्थों के यहाँ लड़की बड़ी भारी चिंता बनकर आती है। ब्याह-दहेज की फ़िकर में लड़की के बाप की कमर टूट जाती है...और लड़की के लिए सब कुछ करके भी लड़की के भाई-बाप लड़के वालों के सामने सिर नहीं उठा पाते।'

मैं तेजी को श्रीकृष्ण के द्वारा अपनी बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ करने की कथा सुनाता हूँ। मर्यादा निभाने के लिए श्रीकृष्ण को भी अपने बहनोई अर्जुन को बहुत कुछ 'धन-धान्य' देकर भी 'रंक की नाईं' विनम्र होना पड़ा। अर्जुन तो यह देखकर घबरा ही गया कि लड़की वालों को इतना झुकना पड़ता है !

इतना सुनत पांडुनंदन कह्यौ, यहै वचन प्रभु दीजै।
सूरज दीनबंधु अब इहिं कुल, कन्या जन्म न कीजै।।

अगर मुझे विश्वास होता कि प्रभु मेरी विनती सुन ही लेंगे तो मैं भी यही माँगता 'इहिं कुल कन्या जन्म न कीजै' ! मुझे क्या मालूम था कि 'इहिं कुल'—बच्चन परिवार—में यके बाद दीगरे दबादब चार कन्याएँ आ धमकेंगी—श्वेता, नीलिमा, नम्रता, नयना ! लगता है प्रभुजी पुरुषों की इच्छा के ऊपर स्त्रियों की इच्छा को तरजीह देते हैं। तेजी लड़की चाहती थीं न, प्रभु की उदारता पर निहाल हो गई होंगी !

हम लोग बंबई जाने का कार्यक्रम बनाएँ कि मुझे मास्को से चौथी एफ्रो-एशियायी कान्फ्रेंस के लिए निमंत्रण मिल गया जो सितंबर के दूसरे सप्ताह में अलामाटा (सोवियत यूनियन) में होनेवाली थी। दिल्ली से चलकर दिल्ली लौटने तक का सारा ख़र्च कान्फ्रेंस देने को थी। मैं कान्फ्रेंस में भाग लेना चाहता था। बंबई में मेरी ख़ास ज़रूरत तो थी नहीं। तेजी ने भी आपत्ति न की। बाँदा से तेजी बंबई चली गईं और मैं दिल्ली—दिल्ली में बहुत सी दफ़्तरी औपचारिकताएँ निभानी थीं—विदेश मंत्रालय से रूस जाने के लिए अनुमति लेनी थी, उसकी सिफ़ारिश पर रिज़र्व बैंक से यात्रा-व्यय के लिए कुछ डालर लेने थे, कुछ इंजेक्शन-टीके लगवाकर दिल्ली नगर निगम से स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र लेना था, सोवियत दूतावास से वीज़ा-टिकट लेने थे, वग़ैरह-वग़ैरह। पहले हम लोगों को दिल्ली से मास्को जाना था। भारत से कान्फ्रेंस में जानेवालों में और लोग थे—श्री सज्जाद ज़हीर, श्री सुभाष मुखोपाध्याय, श्री भीष्म साहनी और श्री सुर्वे, दलित पैंथर कवि। मास्को में हमें रशा होटल में ठहराया गया और वहाँ से दूसरे दिन रात के हवाई जहाज से हम लोग अलामाटा ले जाए गए।

अलामाटा कहाँ है ? नक़्शे में मैंने देखा, दिल्ली से अगर एक बिलकुल सीधी रेखा उत्तर की तरफ़ खींची जाए तो हिमालय के पार अलामाटा है। हिमालय

की श्रेणियाँ अलामाटा के दक्षिण में हैं। प्रांत के हिसाब से शायद वह कज़ाकिस्तान में है, उसकी राजधानी है। कज़्ज़ाक के अर्थ हैं, लुटेरा, डाकू, दस्यु—नज़ीर अकबराबादी की पंक्ति है—'कज़्ज़ाक अजल का लूटे है दिन-रात बजाकर नक्कारा'—हो सकता है किसी समय में इस प्रदेश के लोग लूट-मार करने के लिए घरों से निकलते हों। यहाँ के मूल निवासी कज़्ज़ाकी और तातारी अब भी कद्दावर और हृष्ट-पुष्ट दिखते हैं. मुमकिन है उनके पूर्वज खूँख्वार भी हों। प्रसंगवश बता दूँ कि 'अलामाटा' के शाब्दिक अर्थ होते हैं 'बढ़िया सेब'। सेब यहाँ बहुतायत से होते हों आश्चर्य नहीं। ठंडी हवा अनुकूल है ही। इस प्रदेश का एक प्रसिद्ध पुराना दार्शनिक अफ़ंदी माना जाता है। कहते हैं, जब अफंदी से पूछा गया कि सेब का सबसे अच्छा हिस्सा क्या होता है तो उसने कहा 'बीज'। सारगर्भित उत्तर था। सितंबर में भी वहाँ काफ़ी सर्दी थी। आर्कटिक से जो ठंडी हवाएँ चलती हैं उन्हें हिमालय की श्रेणियाँ ही रोकती हैं। हिमालय हमारे लिए कितना बड़ा वरदान है। हिमालय न होता तो आर्कटिक की सर्द हवाएँ उत्तरी हिंदुस्तान तक चली आतीं। साथ ही हिंद महासागर से उठे मानसून को हिमालय न रोकता तो उत्तरी हिंदुस्तान में वर्षा न होती। वहाँ के कुछ बूढ़ों ने बताया कि अपने लड़कपन में वे हिमालय पार कर—उनको हिमालय कितना कम ऊँचा और पार करना कितना आसान लगता होगा—हिंदुस्तान पहुँचने का सपना देखते थे, और कभी-कभी टोली बना चल पड़ते थे, और उनके वालदैन उन्हें ढूँढ़ने को निकलते थे। उनकी बातें सुनकर शेली की 'Ode to the West Wind' की ये पंक्तियाँ याद आती थीं—

> O uncontrollable! if even
> I were as in my boyhood, and could be
> The Comrade of thy wanderings over heaven
> As then, when to outstrip thy skies speed scarce
> seemed a vision,—

जैसे शेली अपने लड़कपन में समझता था कि वह दौड़ में तूफानों को पछाड़ देगा, वैसे ही ये कज़्ज़ाकी लड़के समझते थे कि वे हिमालय खेल-खेल में पार कर लगे। हिमालय की उत्तरी तराई में बसे इन लोगों में अति-साहसिकता की प्रवृत्ति देखी जा सकती थी, जिसके सबूत में उन्होंने आधी सदी के अंदर एक मध्ययुगीन कस्बे को आधुनिकतम नगर का रूप दे दिया था।

कान्फ्रेंस में हिंदी, उर्दू, मराठी और बँगला में प्रगतिशील साहित्य की गतिविधि का ब्यौरा साहनी, सज्जाद ज़हीर, सुर्वे और सुभाष ने दिया था। पहले दिन के बाद साहित्य से संबद्ध विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए कान्फ्रेंस कई दलों में विभक्त हो गई थी। मेरा नाम उस दल में डाल दिया गया था जिसे प्रगतिशील लेखक को परिभाषित करना था। जहाँ एक अति पर यह संकीर्ण दृष्टि थी कि प्रगतिशील लेखक वह है जो साम्यवाद का समर्थक है—निहितार्थ में जो सोवियत नीति का पोषक है—तर्क यह कि सोवियत नीति प्रगतिशील नीति है या प्रगतिशीलता की मापदंड है, वहाँ दूसरी अति पर यह दृष्टि थी कि प्रगतिशीलता सामाजिक चेतना की एक उदार मुद्रा है जो लोकहित को ध्यान में रखकर चलती

है। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया था—साहित्य को राजनीति अथवा समाज नीति के परिप्रेक्ष्य में देखना उसके साथ पूर्ण न्याय करना नहीं है। जीवन का कुछ सत्य, कुछ क्यों बहुत-सा सत्य, राज-समाज-नीति निरपेक्ष भी हो सकता है। उसकी अभिव्यक्ति स्थूल अर्थों में लोकहित की सीमाएँ न छुए पर व्यक्ति को निर्भार, व्यक्ति का निस्तार और व्यक्ति की तुष्टि करती है, उसे सुख देती है और सूक्ष्म अर्थों में लोक के अंश का हित भी करती है। हम न भूलें कि साहित्य का सामाजिक संपर्क व्यक्ति के माध्यम से होता है, उसके एकांत-शांत क्षणों में होता है, और व्यक्ति हर समय अपने को राजनैतिक अथवा सामाजिक प्राणी के रूप में नहीं देखता; न मुक्त और व्यापक-दृष्टि लेखक ही जीवन-सत्यों को सर्वदा राजनीति या समाज नीति का चश्मा लगाकर। जीवन में मेरी अपनी खोज हित की भी है और सुख की भी है, औपनिषदिक शब्दावली में श्रेय की भी और प्रेय की भी, जिन्हें अलग करके तो देखा जा सकता है पर एक दूसरे के पूरक के रूप में, विरोधी के रूप में नहीं। मैं समझता हूँ मैं यह परिणाम निकालने में भूल नहीं कर रहा हूँ कि जो साहित्य व्यक्ति के अनुकूल पड़ेगा वह अंततोगत्वा समाज के भी अनुकूल पड़ेगा। जीवन गतिशील है तो साहित्य भी गतिशील है। इस अर्थ में मैं अपने को गतिशील लेखक तो मानूँगा, पर प्रगतिशील नहीं, क्योंकि उसे रूढ़ अर्थों में विजड़ित करने का प्रयत्न किया जाता है। मैं अपने देश में प्रगतिशील आंदोलन से नहीं जुड़ा हूँ। मैं जानता हूँ आप लोग प्रगतिशीलता के पोषक हैं। आपने मुझे लोटस अवार्ड दिया है, मुझमें प्रगतिशीलता का क्या लक्षण देखकर, मैं नहीं जानता। आप जानें।

एक रूसी विद्वान ने एक विचित्र बात कही थी जो इस देश में शायद ही मानी जाए। आप अपनी भाषा के सब से लोकप्रिय कवि हैं, हम जनभाषा की पकड़ को जनमानस पकड़ने का सबसे पहला साधन मानते हैं। प्रगतिशीलता की सीमाएँ जनमानस की सीमाओं को छोड़कर नहीं छुई जा सकतीं। सफल प्रगतिशील लेखक आपकी तरह जनभाषा को पकड़कर ही चल सकता है। हम इस देश में आपकी इस देन को प्रगतिशीलता के लिए एक बड़ी देन समझते हैं—शायद लोटस अवार्ड निश्चय करनेवालों में यह बात आपके पक्ष में गई।

कान्फ्रेंस का अंतिम कार्यक्रम था काव्य-पाठ का, जिसमें मैंने अपनी कई कविताएँ सुनाई थीं, जिनके अनुवाद रूसी भाषा में प्रस्तुत किए गए थे। याद है, 'रूस की गुड़िया' का अनुवाद प्रसिद्ध रूसी कवि येवतेशेंको ने सुनाया था।

अलामाटा में एक दुखद घटना हो गई। सज्जाद ज़हीर पर, जिन्हें हम बन्ने भाई कहते थे, दिल का गंभीर दौरा पड़ गया, और उन्हें वहाँ के अस्पताल में दाखिल कर दिया गया। भेंट-मुलाक़ात उनसे मना कर दी गई। कान्फ्रेंस के बाद भारत, पाकिस्तान, बाँगला देश से आए शिष्टमंडल को ताशकंद, समरकंद और बुख़ारा दिखाने का कार्यक्रम बना था। कहा गया, बन्ने भाई की बीमारी की वजह से हमारा कार्यक्रम रद्द न होगा, वे अच्छे डाक्टरों के हाथों में हैं और हम उनके लिए कुछ न कर सकेंगे।

सबसे पहले हम लोग ताशकंद गए। ताशकंद हम भारतवासियों के मन में भारत-पाकिस्तान युद्ध के बाद उस समझौते से जुड़ा है जो रूसियों की मध्यस्थता पर ताशकंद में हुआ था और जिसे संपन्न कराने के लिए वहाँ जाकर हमारे

तत्कालीन प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री फिर अपने देश न लौट सके थे, वहीं दिवंगत हो गए थे। 'ताशकंद' (शास्त्री जी की स्मृति में) पर मेरी एक कविता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ आप सुनना चाहेंगे ?

ताशकंद से
एक खबर आई थी
जिसने भारत-भू को हिला दिया था।

यहाँ भूमि का चप्पा-चप्पा
याद तुम्हारी जगा रहा है—
खड़े हुए होंगे इस जगह,
यहाँ से होकर गुज़रे होंगे,
अंतिम बार इन्हीं दृश्यों पर
दृष्टि विवश-एकाकी अपनी डाली होगी,
और यहीं से
अपने कल तक के दुश्मन के काँधे चढ़कर...

पर जो दुनिया छोड़ गया है
उसका कोई शत्रु नहीं है,
मित्र नहीं है...
इस धरती का जैसे तुम पर कोई ऋण था
और यहाँ पर आकर तुमने चुका दिया था।

शास्त्री जी की 'दृष्टि विवश-एकाकी' का संदर्भ शायद आपने न समझा होगा। पाकिस्तान के साथ युद्ध में भारत ने बहुत से सैनिकों का बलिदान कर हाजीपीर पर अधिकार किया था; भारत से जाते समय वे यह वादा करके गए थे कि वे भारत द्वारा जीते भागों को नहीं लौटाएँगे, परन्तु उन्हें ताशकंद में हाजीपीर लौटाने को 'विवश' किया गया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसी सदमे में उनपर दिल का दौरा पड़ गया था और यही उनकी मृत्यु का कारण बना। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा था कि यह अच्छा हुआ कि शास्त्री जी ज़िंदा नहीं लौटे; हाजीपीर शत्रु को समर्पित कर देश आने पर शायद ही भारत की जनता उन्हें क्षमा करती। यह सदा के लिए एक रहस्य बना रहेगा कि किन परिस्थितियों में उन्हें यह अपमानजनक शर्त मानने को विवश होना पड़ा। 'दुश्मन के काँधे चढ़कर' मे 'दुश्मन' से संकेत है पाकिस्तान के फ़ौजी डिक्टेटर अय्यूब खाँ की ओर, जो एक तस्वीर में शास्त्री जी की शव-पेटी को काँधा देते दिखाई दिए थे।

रूसियों ने शास्त्री जी की स्मृति में एक प्रतिमा खड़ी की है एक नगर मार्ग पर। बड़ी सूक्ष्म काल्पनिक सूझ है कि उन्होंने उनकी प्रतिमा किसी ऊँचे चबूतरे पर नहीं खड़ी की। प्रायः समतल भूमि पर उनके छोटे कद के अनुरूप उनकी प्रतिमा है कि सड़क पर चलनेवाला आदमी उनके काँधे से काँधा मिलाता नज़र आए। वे भारत की साधारण गरीब जनता से उठे-उभरे हुए प्रधान मंत्री थे—शत-प्रतिशत जनता के आदमी। प्रतिमा इसका बोध सड़क पर चलनेवाले प्रत्येक

राही को सहज ही कराती है।

ताशकंद के मूल निवासी दिखे क़द में लंबे, काठी में हृष्ट-पुष्ट, रंग में गेहुँआ जो पीलेपन की भी एक झाईं लिए हो। नवयुवक क्लीन-शेव्ड रहते हैं, पर वयस्क-बुज़ुर्ग प्रायः छोटी दाढ़ी-मूँछ रखते हैं; पोशाक योरोपियन पहनते हैं, पर टोपी गोल काले कपड़े की, जिसपर सफ़ेद कपड़े की पट्टियों से काम भी किया रहता है। ये टोपियाँ वे अपने यहाँ आनेवाले मेहमानों को भेंट करते हैं। एक मुझे भी मिली थी और मेरे कपड़ों में कहीं रखी है।

सांस्कृतिक धरातल पर लगता है ताशकंदवालों को नृत्य-संगीत से पर्याप्त प्रेम है। एकाधिक कार्यक्रमों में स्त्रियों के नृत्य देखने और पुरुषों के वाद्य-संगीत सुनने का मौक़ा मिला था। स्त्रियाँ नाचने के लिए चटक-रंगीन-चमकीली पोशाकें पहनती हैं। उनका नृत्य गति-मुद्रा में, कश्मीरी स्त्रियों के नृत्य से मिलता-जुलता, जो शायद आपने कभी देखा हो। ताशकंदवालों का अपना खास बाजा है एक किस्म का बड़ा संतूर जो खड़े होकर दो कमाचियों से बजाया जाता है। संभव है बैठकर बजाया जानेवाला कश्मीर का छोटा संतूर वहीं से आया हो या कश्मीरी संतूर वहाँ जाकर बड़ा और खड़ा हो गया हो। आधुनिक समय में कश्मीरी संतूर के सर्वश्रेष्ठ वादक शिव कुमार शर्मा हैं जिनके कई रेकार्ड एच०एम०वी० से बने हैं। मुझे शिव कुमार शर्मा के सामने बैठकर उनका संतूर-वादन सुनने का मौक़ा मिला है। उनके हाथों में कमाचियाँ बस जादू की छड़ियाँ हो जाती हैं, जिनसे वे तारों को छू-छू कितनी मर्मस्पर्शी और भाव-व्यंजक राग-रागिनियाँ निकालते हैं। संतूर के साथ का उपयुक्त बाजा—ताल देने का—घड़ा होता है। सँकरे मुँह का खाली घड़ा इंसान की हथेली और उँगलियों का स्पर्श पाकर कितनी तालों में बोलता है यह सुनकर ही जाना जा सकता है। घड़े ऐसी काम-काजी वस्तु को वाद्य-यंत्र की संज्ञा दे देना मनुष्य के अदम्य संगीत-मोह का एक सबूत है। ताशकंदी संतूर के साथ दोयरा बजता है—एक प्रकार का डफ़। मेरी फ़रमाइश पर रूसी भाइयों ने मुझे एक 'दोयरा' भेंट किया था, जिसे मैं अपने कतिपय लोक धुनों पर आधारित गीतों के साथ बजाता था। अब यह अमिताभ के पास है। उन्होंने शास्त्रीय शिक्षा किसी बाजे की नहीं ली, पर वे अपनी स्वभावगत संगीतप्रियता से हर बाजे से कोई न कोई ताल-धुन निकाल लेते हैं।

ताशकंद में एक छोटे से समारोह में मुझे मेरी कुछ चुनी हुई परवर्ती कविताओं के रूसी अनुवाद का नवप्रकाशित संकलन भेंट किया गया—उसका नाम बताया गया 'कोलेस्नीत्सा सोन्त्सा' अर्थात् सूर्य का रथ। अनुवादक थे श्री एस० सेवेरत्सेव और भूमिका लेखक डॉ० चेलीशेव। लगता है सूर्य के रथ के साथ रूसियों ने भारत की सत्ता, इयत्ता का कोई आधारभूत संबंध जोड़ रखा है। आपको स्मरण होगा कि अभी थोड़े दिन पहले जो संयुक्त भारत-सोवियत अंतरिक्ष मिशन भेजा गया था, उसका एम्ब्लेम—प्रतीक—सूर्य का रथ था। उसका चित्र पत्रों में छपा था—त्रिनेत्री—त्रिकालदर्शी—सूर्य छत्राच्छादित एक-चक्र रथ पर बैठा है जिसे एक घोड़ा बादलों के ऊपर आकाश में लिए उड़ा जा रहा है। यह ऋग्वैदिक कल्पना है कि सूर्य के रथ में एक ही पहिया है और उसे एक ही अश्व खींच रहा है जिसका नाम 'एतशः' है।

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ।।
(ऋग्वेद 7-63-2)

'एत' के अर्थ हैं बहुरंगी अथवा चमकीला। सूर्य के रथ के घोड़े का यह नाम उपयुक्त ही है। सूर्य की सतरंगी किरणों को कौन नहीं जानता। मुझे नहीं पता कि सेवेरत्सेव को मेरी कविताओं में ऐसा क्या मिला कि उन्होंने संकलन को नाम 'कोलेस्नीत्सा सोन्त्सा' दिया—शायद मेरी कविताएँ उन्हें विविध-रंगी लगीं—'शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक'। शायद उन्होंने मेरी कविता में आशा की कोई उदीयमान ज्योति भी देखी हो। अपने देश में तो मुझे निराशा-तमिस्रा का कवि घोषित कर दिया गया है!

ताशकंद नगर का कुछ भाग तो बिलकुल नया लगा और कुछ बहुत पुराना। हमें बताया गया कि सात साल पहले ताशकंद में भीषण भूचाल आया था जिसमें तीन लाख लोग बेघर हो गए, बड़ी-बड़ी पुरानी इमारतें गिर गईं, उनकी जगह पर नई इमारतें खड़ी हो गई हैं; छोटी और नीची इमारतें नहीं गिरी थीं। नागरिकों में यह भाव भी दिखा, काश वे भी गिर गई होतीं तो उन्हें भी नया रूप दिया गया होता। पुनर्निर्माण के सुख से वे अनभिज्ञ न थे। मुझे ईट्स की पंक्तियाँ याद आईं—

All things fall and are built again
And those that build them again are gay.
(Lapiz Lazuli)

और अपनी भी—

नाश के दुख से कभी दबता नहीं निर्माण का सुख,
प्रलय की निस्तब्धता से सृष्टि का नवगान फिर-फिर।
नीड़ का निर्माण फिर-फिर।
(सतरंगिनी)

प्रसंगवश बता हूँ कि मेरी यह कविता 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को बहुत प्रिय है। उन्होंने मेरी हस्तलिपि में यह कविता मुझसे मँगाई और उसका ब्लाक बनवाकर उसकी सैकड़ों प्रतियाँ छपवाईं और अपने परिचितों, प्रेमियों, मित्रों में वितरित कीं। यह कविता किस मुहूर्त और किस परिस्थिति में लिखी गई उसका ब्यौरा भी उन्होंने मुझसे मँगाया और अपने पत्र के साथ उसे 'हिन्दी आजकल' में प्रकाशित कराया। यह पत्र-व्यवहार 'सतरंगिनी' के परिशिष्ट-1 में दिया गया है। रुचि हो तो कभी देखें।

शिष्टमंडल को बस से नगर से दूर ग्रामों में ले जाकर बड़े-बड़े फ़ार्म्स दिखाए गए जिनमें वैज्ञानिक ढंग से खेती और सिंचाई होती है, फलों के बाग़ भी दिखाए गए। एक फलों के उद्यान में ही हमारा लंच रखा गया, और हमारे सामने सामान्य ग्रामीणों के भोज्य पदार्थ परोसे गए। हमें मानना चाहिए कि वे चीज़ें पौष्टिक भी थीं और स्वादिष्ट भी, प्रदर्शन गो उनमें अधिक नहीं था। हमें बताया

गया कि जो चीज़ें हमारे सामने हैं वे स्थानीय उत्पादन हैं। काश, हमारे सामान्य ग्रामीणों का भोजन भी ऐसा हो सकता !

ताशकंद में हमें कशीदाकारी सिखानेवाला लड़कियों का एक स्कूल दिखाया गया था। यह उधर की पुरानी और खास कला है। देखकर आश्चर्य होता है कि सिर्फ़ सुई और सफ़ेद अथवा रंगीन धागों से कपड़ों पर कैसे-कैसे बेल-बूटे काढ़े जा सकते हैं। हमारे यहाँ इस तरह का काम कश्मीर में होता है, मुमकिन है कि यह कला उसी तरफ़ से आई हो। चिकन या मलमल पर सफ़ेद धागों की कशीदाकारी का काम अपने यहाँ लखनऊ का प्रसिद्ध है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि कशीदाकारी का काम करनेवाले प्रायः मुसलमान लोग हैं। कुछ लोग बताएँगे कि उनके खान्दान में पुश्तों से यह काम होता आया है। स्कूल में काम सीखनेवाली कई लड़कियों ने हमसे रूमाल माँगे और जब तक में हम स्कूल देखें-देखें तब तक में उन्होंने हमारे रूमालों पर कोई फूल या कोई जानवर या किसी चिड़िया की शक्ल काढ़ दी। मेरे रूमाल पर मदिरा की सुराही और प्याला काढ़ दिया गया था। शायद मेरे दुभाषिया ने चुपचाप संकेत कर दिया होगा कि मैं 'मधुशाला' का कवि हूँ।

एक अपराह्न को ताशकंद लेनिन स्टेट युनिवर्सिटी में हमारे शिष्टमंडल का स्वागत किया गया था। शिष्टमंडल के कवियों ने अपनी-अपनी कविताएँ सुनाई थीं, दुभाषिये कविताओं का सारांश रूसी में बता देते थे। मैंने 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ सुनाईं। दुभाषिया रूसी में रूपांतर करने लगा। श्रोताओं में कई विद्यार्थी खड़े हो गए, उन्होंने कुछ कहा, जिसका मतलब था, हम मूल समझते हैं, हमें अनुवाद की ज़रूरत नहीं। तबीयत खुश हो गई। बहुत-से लड़के-लड़कियों ने हमारे आटोग्राफ़ लिए।

हमें बताया गया था कि ताशकंद की आबादी लगभग 15 लाख है, जिनमें आधे लोग तो उज़बेकी हैं और आधे रूसी और अन्य एशियाई। नगर की भीड़-भाड़ में भी एशियाई और योरोपीय चेहरों को अलग पहचाना जा सकता है। बड़ा मुश्किल है कहना योरोपीय चेहरे में क्या खास बात है जो उसे एशियाई चेहरे से अलग करती है। मेरा ख्याल है कि सदियों की उन्नतिशील ईसाई संस्कृति और आधुनिक विज्ञान ने योरोपीय जन को आत्म-महत्त्व-सचेत और भविष्योन्मुखी बनाया है। यह उसकी आँखों में, उसके चेहरे में, उसकी चाल-ढाल में झलकता है। इसके विपरीत एशियाई इनसे वंचित, अधोमुखी इस्लामी संस्कृति और निष्क्रिय दार्शनिक विचारों पर पला हीन-भाव-ग्रस्त और अतीतोन्मुखी हो गया है; और आधुनिक बौद्धिकता और विज्ञान का यत्किंचित संपर्क भी उसे बहुत नहीं बदल सका। एक और बात; यह ऐतिहासिक सत्य है कि रूसी ज़ारों ने उज़बेकियों को परास्त करके उनके प्रदेश पर अधिकार किया था। साम्यवादी व्यवस्था ने विजयी और विजित भाव का निराकरण करने का पूरा प्रयत्न किया है। फिर भी विजेता की एक झलक रूसियों के चेहरे पर और पराजित की एक झाईं उज़बेकियों के चेहरे पर देख लेना कठिन नहीं है।

ताशकंद से हम लोग हवाई-जहाज़ से समरकंद आए। ताशकंद से समरकंद कोई डेढ़ सौ मील दक्षिण-पश्चिम है। हवाई-जहाज़ से आधे घंटे भी न लगे होंगे। आबोहवा में कोई परिवर्तन नहीं महसूस हुआ। न हवा में ठंड थी और न धूप

ही बर्दाश्त से बाहर। समरकंद की कल्पना मेरे मन में एक स्वप्निल नगर की थी—हाफ़िज के इस शेर से जुड़ी—

> अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्तारद दिले मारा,
> बखाले हिंदुअश बख़्शम समरकंदो बुख़ारारा।

जिसके अर्थ हैं, अगर वह शीराज़ का तुर्क यानी माशूक मेरा दिल अपने हाथ में ले ले, यानी अगर वह मेरा प्रेम स्वीकार कर ले तो उसके गाल पर जो काला तिल है उसपर मैं समरकंद और बुख़ारा को निछावर कर दूँ। शायर की नज़रों में वह काला तिल इतना ख़ूबसूरत था कि उसके सामने समरकंद और बुख़ारा की ख़ूबसूरती हेच थी। मेरी कल्पना का समरकंद सुंदर नगर था, गो मैं यह जानता था कि हाफ़िज (1325-1390) के समय का सुंदर नगर मैं न देख सकूंगा। समरकंद साफ़ दो हिस्सों में विभाजित है जिन्हें पुराना शहर और नया नगर कह सकते हैं। पुराने शहर में 14वीं सदी की कुछ इमारतें अब भी मौजूद हैं—छह सौ बरस पहले वे निश्चय बहुत ख़ूबसूरत होंगी—मध्य एशियाई मध्य युगीन स्थापत्य के सर्वश्रेष्ठ नमूने—'खंडहर बता रहे हैं इमारत बुलंद थी'। मुसलमान चार तरह की इमारतें बनाते थे—मकान, मस्जिदें, मदरसे और मक़बरे—चारों 'म' से। 14वीं सदी की इमारतों में सर्वश्रेष्ठ हैं शाहेज़िंदाँ और रूहाबाद के मक़बरे; वे सुंदर भी हैं और मज़बूत भी, मज़बूत तो इस ख़्याल से बनाए जाते होंगे कि उनमें ताक़यामत रहना है। मकान तो छोटी-सी ज़िंदगी के लिए बनाए जाते थे जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिरते-उठते रहते थे। 15वीं सदी में बनी इमारतों में बीबी खानुम (तैमूरलंग की बीबी) की मस्जिद बहुत ख़ूबसूरत है; कहते हैं उसमें जो संगमरमर लगा है वह हिंदुस्तान से लाया गया था। किसी इतिहासकार के अनुसार जब (1398) तैमूरलंग ने हिंदुस्तान पर आक्रमण किया था तब लौटते समय लूट के बहुत से सामान के साथ, 90 हाथियों पर लादकर किसी प्रसिद्ध खान के संगमरमर भी ले गया था! दूसरी दर्शनीय इमारत खुद तैमूरलंग का मक़बरा है जिसे ग़ोरे-अमीर कहते हैं, यानी अमीर तैमूर की क़ब्र; फारसी में 'ग़ोर' के अर्थ हैं क़ब्र। ग़ोरे-अमीर देखने के संबंध में एक मनो-रंजक बात याद आ गई। हमारे साथ जो पाकिस्तानी शिष्टमंडल था, उसके एक सदस्य ने ख़्वाहिश ज़ाहिर की, 'मैं यहाँ फ़ातिहा पढ़ना चाहता हूँ।' मैंने कहा, 'क्या गज़ब करते हो, तैमूर निहायत बेरहम, ज़ालिम और जल्लाद क़िस्म का इंसान नहीं, हैवान था। कहते हैं उसने हिंदुस्तान में एक लाख नरमुंडों की मीनार खड़ी करा दी थी और उन नरमुंडों में कितने ही मुसलमानों के सिर होंगे; आखिर जब उसने दिल्ली पर क़यामत बरपा की तब दिल्ली के तख़्त पर कौन था?—एक मुसलमान सुल्तान—महमूद तुग़लक!' ख़ैर, मेरे कहने का क्या असर होना था। रूसी अधिकारियों ने कहा, 'आप यहाँ फ़ातिहा नहीं पढ़ सकते, पढ़ना चाहें तो अपने कमरे में पढ़ें; वहाँ से ग़ोरे-अमीर दिखाई देती है।'

पुराने समरकंद में 15वीं से लेकर 17वीं सदी तक बने कई नमाज़गाह, मदरसे, खानकाहें और मक़बरे हमें दिखाये गए। इनमें मज़बूती का ख़्याल कम और ख़ूबसूरती का ज़्यादा रखा गया है। क्या यही प्रवृत्ति तत्सामयिक भारतीय इमारतों में भी नहीं देखी जाती? नया समरकंद किसी आधुनिक नगर जैसा है

जिसका निर्माण 19वीं और 20वीं शताब्दी में रूसियों द्वारा किया गया है।

समरकंद एशिया के प्राचीनतम नगरों में है। और शायद नगर सदा से समृद्ध रहा है जिसके कारण उसपर बराबर आक्रमण होते रहे। यह जिस भूभाग के केन्द्र में है वहाँ फल, मेवे, रूई, धान की पैदावार कसरत से होती है। प्राचीन समय से वहाँ अंगूरों से शराब बनाई जाती थी; रेशम के कीड़े जिन पेड़-पत्तों पर पलते हैं उनके जंगल थे, और उमदा किस्म का रेशम भी खूब तैयार किया जाता था। फिर समरकंद को अपनी स्थिति का भी लाभ मिला था। चीन और भारत से व्यापार मार्ग आकर यहाँ मिलते थे और आगे पश्चिम एशिया और योरोप को चले जाते थे। इस प्रकार समरकंद को अपना माल निर्यात करते और उससे धन कमाने का उपयुक्त साधन मिला था। कहते हैं अपने विश्व-विजय अभियान में सिकंदर ने समरकंद पर भी हमला किया था—गो तब यह बस्ती किसी और नाम से जानी जाती थी। मंगोल चंगेज़ खाँ ने भी उसे लूटा था। उसपर तुर्क, अरबों, उज़बेकियों और फ़ारसियों के हमले भी बराबर होते रहे और लंबे-लंबे अरसे तक उनकी हुकूमतें उसपर रहीं। तैमूरलंग—तुर्क—ने इस भूभाग को लूटकर पहली बार समरकंद को अपनी राजधानी बनाया था। पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—जहाँ तक भी उसकी सेनाएँ जा सकती थीं वहाँ से धन-संपत्ति लूटकर उसने समरकंद का भंडार भर दिया, मगर वह अपने सैनिक अभियानों में अपने जीवन भर इतना व्यस्त रहा कि उसे अपने साधनों से समर-कंद को बनाने-सजाने का समय ही न मिला। यह काम उसके बेटों और पोतों ने किया। विचित्र है कि तैमूर जितना बड़ा संहारक था, उसके बेटे-पोते उतने ही निर्माता थे। उन्होंने अपने बाप-दादा के द्वारा उजाड़े नगरों को बसाया, मदरसे-पुस्तकालय खोले, वैज्ञानिक शोध को प्रोत्साहन दिया। जिन दिनों हम लोग वहाँ थे, ज़मीन की खोदाई में कुछ उसी प्रकार के 'यंत्र' मिले थे जिस प्रकार जयपुर और दिल्ली के 'जंतर-मंतर' में हैं। समरकंद पर अंतिम आक्रमण रूसी ज़ार ने किया और रूसी राज्य में मिला लिया। ज़ारों की राजनीति थी, जितना भी बढ़ सको पूरब की ओर बढ़ो। भारत में प्रस्थापित होते अंग्रेज़ी राज्य ने यह खतरा पहचाना था; और पूर्व में अपनी मौजूदगी सिद्ध करने के लिए अफ़गान युद्ध भी छेड़ा था जिसमें वे बुरी तरह पिटे थे। नए समरकंद ने विशेष उन्नति रूस में साम्यवादी व्यवस्था आने के बाद की।

नामों के मूल तक जाने में मेरी रुचि है। कभी आपने सोचा कि 'ताशकंद' या 'समरकंद' नाम उन बस्तियों को क्यों दिया गया होगा। 'ताश' के माने हैं 'साझेदारी'। ताश-पत्ते का मूल भी संभवतः यही हो। कंद कहते हैं बस्ती या गाँव को। लगता है शुरू-शुरू में ताशकंद की मिल्कियत कई कबीलों या अमीरों-खानों की साझेदारी होगी। फ़ारसी में 'समर' के अर्थ हैं 'फल'। आपको मालूम होगा कि आमों की एक क़िस्म को मुग़ल बादशाहों ने 'समर बहिश्त' का नाम दिया था, यानी 'स्वर्ग का फल'। देसी नाम चौंसा है, जो शायद आमों में सबसे स्वादिष्ट और मीठा होता है—अपना विशेष स्वाद-सुगंध लिए हुए; और फसल के अंत में आता है। आरंभ में समरकंद को यह नाम अपने फलों के कारण दिया गया हो तो आश्चर्य नहीं।

हम लोग अभी समरकंद में ही थे कि हमें अलामाटा में सज्जाद ज़हीर की

मृत्यु का दुखद समाचार मिला। सज्जाद ज़हीर मुझसे दो बरस बड़े थे; सर हसन ज़हीर के सुपुत्र, जो लखनऊ के चीफ़ कोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा लखनऊ और आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में हुई थी। अच्छा उर्दू-गद्य लिखते थे। उनके एकाधिक कहानी-संग्रह, उपन्यास, नाटक प्रकाशित हुए थे। विचारों से वे साम्यवादी थे और शायद पार्टी-मेम्बर भी थे। आश्चर्य की बात है कि भारत में साम्यवाद के प्रथम समर्थक धनी-मानी, सुशिक्षित आभिजात्य वर्ग से आए। ऐसे ही लोग साहित्य में प्रगतिशीलता के भी अलमबरदार बने। एक समय ज़हीर की कोटि के दर्ज़नों लोग थे जिन्होंने साम्यवाद को एक नए फ़ैशन की तरह ओढ़ लिया था। ज़हीर निश्चय अधिक गंभीर थे और पूरी तरह समझते थे कि साम्यवादी होने के निहितार्थ क्या हैं, और जीवन, व्यवहार और दृष्टिकोण में किस प्रकार का परिवर्तन माँगते हैं। उनकी गंभीरता का इससे बड़ा सबूत क्या होगा कि जब पाकिस्तान बना तो वे बहैसियत एक 'पक्के' मुसलमान के पाकिस्तन में जा बसे जबकि उनका भरा-पूरा परिवार भारत में ही बना रहा। पाकिस्तान बनने को वे इतिहास की भयंकर भूल समझते थे। वे इस भूल पर दुखी भी थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि अब अगर कभी पाकिस्तान और भारत एक हो सकेंगे तो साम्यवादी निज़ाम में। वास्तव में पाकिस्तान वे बहैसियत 'पक्के' मुसलमान के नहीं, उसके छद्म वेश में गए थे। वे गए थे पाकिस्तान में साम्यवाद का प्रचार करने की दृष्टि से, वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी को मज़बूत करने के लिए; वहाँ फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' के नेतृत्व में एक कम्युनिस्ट पार्टी काम कर ही रही थी। ज़हीर का सपना पूरा नहीं हुआ। पाकिस्तान पर सैनिक अधिनायकवाद का शिकंजा इतना मज़बूत होता गया कि साम्यवाद को अपने पाँव टिकाने की कोई जगह वहाँ न दिखाई दी। 'फ़ैज़' और ज़हीर दोनों जेलों में बंद कर दिये गए। ज़हीर के पाकिस्तानी निष्क्रमण की एकमात्र उपलब्धि थी 'नक़ूशे-ज़िंदा'—वे ख़त, जो उन्होंने जेल से लिखे थे और जो बाद को प्रकाशित हुए। ज़हीर भारत लौटने के लिए छटपटाने लगे; और जहाँ तक मुझे मालूम है, बड़ी उच्चस्तरीय कोशिशों के बाद वे भारत लाए जा सके।

जिस शाम को ज़हीर की मृत्यु का समाचार आया हमने अपने होटल में ही एक शोक सभा की और बन्ने भाई को बड़े आदर और प्रेम के साथ याद किया और एक शोक प्रस्ताव उनकी पत्नी रज़िया सज्जाद ज़हीर के नाम भेजा। शव-पेटी के साथ भारत जाने को भीष्म साहनी को नियुक्त किया गया।

नए समरकंद में तो एशियाइयों और योरोपियों यानी रूसियों की मिली-जुली आबादी है। सभी प्रायः योरोपीय पोशाक में दिखाई देंगे। पर पुराने समरकंद में तुर्क, उज़बेगियों और फ़ारसियों की बहुतायत है। जिन राह-गलियों से होकर हम पुरानी इमारतों तक पहुँचते हैं उनमें अक्सर बड़ी उम्र के ऐसे लोग मिलते हैं जो सिर पर पग्गड़ बाँधते हैं, बदन पर लंबा चोग़ा पहनते हैं, सलवार-नुमा ढीले पाजामे के साथ—शरीर से हृष्ट-पुष्ट, क़द्दावर, भरी दाढ़ी-मूछों से प्रभावी; उनको देखकर ऐसा लगता है कि उनके पूर्वज अवश्य गज़नी, गोरी, तैमूर, नादिरशाह, बाबर, दुर्रानी, अब्दाली की फ़ौजों में भरती हो हिंदुस्तान पर हमला करने गए होंगे। अहमदशाह अब्दाली के हमलों और लूट के बारे में पंजाब में एक कहावत प्रचलित थी—'खादा-पीदा लाहे दा, बाक़ी अहमदशाहे

दा'। ऐसे ही बूढ़े-बुज़ुर्ग लोग पुरानी मस्जिदों में देखे जाते हैं। किसी नवयुवक को मस्जिद में नमाज़ पढ़ते या मस्जिद की तरफ़ जाते भी हमने नहीं देखा। रूसी साम्यवाद ने मुसलमानों को ख़ूब साधा है। नई पीढ़ी के लोग धर्म के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसके पारलौकिक महत्त्व को बिलकुल नहीं मानते।

समरकंद से हम लोग बुख़ारा आए--केवल दिन भर के लिए। हाफ़िज़ के समय में 'बुख़ारा' सौंदर्य में समरकंद से होड़ लेता होगा तभी तो हाफिज़ ने अपने शेर में बुखारा को समरकंद के साथ जोड़ा था। बुख़ारा और उसके आसपास का प्रदेश हमने दिन भर बस से घूमकर देखा। बस में एक लड़की हमें बुखारा के इतिहास, उसकी पैदावार, उसके उद्योगधंधे, उसके आधुनिक विकास और महत्त्व के विषय में बताती जाती थी।

इस प्रदेश पर अधिकार करने के लिए भी मध्य एशियाई कबीले सदियों तक संघर्ष करते रहे थे। प्रागैतिहासिक काल में यह प्रदेश शक और हूणों के कब्जे में भी रह चुका था और जब उनसे सबल जातियों ने उन्हें वहाँ से निष्कासित किया तब शक और हूणों ने भारत में प्रवेश किया। विक्रमादित्य, जिनके नाम से विक्रम संवत चलता है, इन शकों का विरोध करने के कारण 'शकारि' कहलाए। फिर भी शकों ने कई सदियों तक पश्चिम भारत को अपने कब्जे में रखा। उनका चलाया शक संवत भी प्रचलित है। हूण, इतिहासकारों का कहना है, भारत के पश्चिमा मरुस्थलों में जा बसे। ये हूण ही राजस्थान के वर्तमान राजपूतों के पूर्वज थे।

मध्य युग में तुर्क, अरबी, उज़बेगी और फ़ारसी इस प्रदेश के लिए लड़ते-झगड़ते रहे। इसकी विशेष उन्नति उस समय से आरंभ हुई जब फ़ारसियों ने बारहवीं सदी में उस पर अधिकार कर लिया। उस समय के बने पुस्तकालय, मदरसे, मीनार अब तक मौजूद हैं। 10वीं, 11वीं सदी में ही बुख़ारा वालों ने नीले रंग की सिरेमिक ईंटों का बनाना सीख लिया था। इन ईंटों की बनी इमारतें—नीले रंग की—अब भी भव्य हैं। सबसे पहले हम लोगों को रेगिस्तानी स्क्वायर दिखाया गया। यहाँ सबसे पहले ध्यान आर्कषित करती है नीले सिरेमिक ईंटों की बनी 152 फ़ीट ऊँची कलयान मीनार। कहते हैं यह मीनार तीन कामों के लिए इस्तेमाल होती थी—नमाज़ के वक़्त अजान देने के लिए, हमलावर दुश्मनों की फ़ौजों पर निगाह रखने के लिए और अपराधियों को मृत्युदंड देने के लिए, सबसे ऊपरी मंज़िल से गिराकर। मीनार के भीतर गोल सीढ़ी है ऊपर तक पहुँचने के लिए। मीनार के पास ही प्रसिद्ध फ़ारसी दार्शनिक अबू सीना के नाम पर बना पुस्तक भवन है। अब तो भवन ही खड़ा है, पुस्तकें पता नहीं कहाँ गईं। दूसरी ओर मदरसा है, बीच में खुला लंबा-चौड़ा पक्का आँगन। उसके चारों ओर दुमंज़िली इमारत, जिसमें लाइन की लाइन कमरे हैं जिनमें कम से कम पाँच सौ विद्यार्थी तो रह सकते होंगे। मदरसा और पुस्तकालय भी नीली सिरेमिक ईंटों के बने हैं और खुले नीले आसमान के नीचे खुली धूप में दिव्य लगते हैं। किसी समय बुख़ारा विद्या का केन्द्र माना जाता था। अब न अध्यापक हैं न विद्यार्थी, सिर्फ़ इमारतें खड़ी हैं, पर उनके बीच खड़े होकर कल्पना करने को जी चाहता है उस समय की, जब ये मदरसे विद्यार्थियों और अध्यापकों के क्रिया-कलाप से सजग सजीव थे। नवयुग की आवश्यकताओं के अनुसार नए स्कूल, कालेज, पुस्तकालय

भी होंगे, पर हमारे पास समय नहीं था कि उन्हें देखें।

लंबे समय तक फ़ारसी अमल में रहने के बाद भी बुखारा कई बार अरबी, तुर्की और उज़बेगी अमीरों और खानों के हाथ आया-गया। चंगेज़ खाँ ने भी बुखारा पर हमला करके उसे लूटा था। ऐतिहासिक सच्चाई तो यह है कि रूसियों के अधिकार के पहले शायद ही कभी इस नगर ने सौ-डेढ़ सौ वर्षों की शांतिपूर्ण व्यवस्था जानी हो।

मध्ययुगीन इमारतों में हमें एक अमीर का रंगमहल भी दिखाया गया। शृंगार का प्रदर्शन उसमें बहुत था, पर सुरुचि का प्रभाव बहुत कम।

हमें एक पुराना किला भी दिखाया गया। उसका भयंकर भाग था वह प्रकोष्ठ जहाँ राजद्रोहियों को दंड दिया जाता था। वहाँ कई तस्वीरें लगी हैं यह दिखाने के लिए कि मध्ययुग में किस क्रूरता से अपराधी को दंडित किया जाता था—कोड़े लगाकर खाल खींची जाती थी। सड़सी से पकड़कर ज़बान खींची जाती थी। मोटे-नोकीले सूजे घुसेड़कर आँख फोड़ी जाती थीं या छुरे से काटकर आँख के कोए निकाले जाते थे। बड़ी-बड़ी छुरियों से गला आगे से काटा जाता था और लंबी तलवारों से पीछे से। कुछ सजाएँ तो बड़ी ही घिनौनी थीं—जैसे मल-मूत्र के तोबड़े मुँह पर बाँधना! सज़ाओं के इन तरीकों को देखकर लगता है कि गोली से उड़ा देना तो अपराधी के प्रति बड़ा दयालु बर्ताव है।

हम ऐसा सोचते हैं कि मध्य युग में इंसान अधिक क्रूर था। बीसवीं सदी में भी इंसान कम क्रूर नहीं है। शायद उसने अपनी बुद्धि से आधुनिक समय में अधिक पीड़ादायक उपायों का आविष्कार कर लिया है। बड़े-बड़े सभ्य कहलाने वाले देशों के जेलखानों में भी बंदियों से, विशेषकर राजबंदियों से सच्चाई उगलवाने के लिए जो सज़ाएँ दी जाती हैं वे कभी-कभी प्रकाश में आती हैं। रोंगटे खड़े हो जाते हैं उनको सुनकर। आश्चर्य होता है यह देखकर कि इंसान में बड़ी ज़बरदस्त सहन शक्ति है। कैसे वह ऐसी-ऐसी सज़ाएँ भुगतकर ज़िंदा बच जाता है। सोल्जेनिटसिन ने 'गुलाग आर्किपलागो' में रूसी जेलों के बारे में और मोहन भास्कर ने 'मैं पाकिस्तान में भारत का जासूस था' में पाकिस्तान के जेलों के बारे में जो लिखा है उसको पढ़कर दंग रह जाना पड़ता है कि मनुष्य मनुष्य के प्रति कितना निर्दय-क्रूर हो सकता है। पर शायद और सरकारें भी अपने राज-बंदियों के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने ऐसे अत्याचारों का पता लगाने के लिए एक एमनेस्टी कमीशन नियुक्त किया है जो देश-देश में जाकर इस संबंध में खोज कर रहा है। जब उसकी रिपोर्ट छपेगी तब सरकारों और मानवता के इस पक्ष पर भी अद्भुत प्रकाश पड़ेगा।

हमें बताया गया कि बुखारा किसी समय बड़े अच्छे किस्म की रूई पैदा करता था और उसके निर्यात से बड़ा धन कमाता था। रूई को 'व्हाइट गोल्ड' कहते थे। अब तो बुखारा के समीप सोने की एक बड़ी खान मिली है, जो रूस की सबसे बड़ी सोने की खानों में गिनी जाती है और जिससे बहुत बड़ी तौल में सोना निकाला जाता है। पर इससे भी बड़ी देन आज के बुखारा की है उसका प्राकृतिक गैस का भंडार। यह गैस पाइप के द्वारा यूराल पार मध्य योरोपीय रूस तक भेजी जाती है।

बस से जब हमारी टूर खत्म हुई तब हमें अंगूरों के एक बाग़ में लंच दिया

गया। इस बाग़ में भी अंगूर की जो लताएँ लगी थीं उनमें छोटे अंगूर होते हैं जिनसे किशमिश बनती है। हमने इन छोटे-छोटे अंगूरों को तोड़-तोड़कर खाया। इनकी मिठास का क्या कहना !

शाम के हवाई-जहाज़ से हम वापस ताशकंद आए और फिर वहाँ से मास्को। मास्को में राइटर्स यूनियन भवन में एक जलसा हुआ जिसमें कान्फ्रेंस में आए सारे शिष्टमंडलों के सदस्य उपस्थित थे। यह एक तरह से विदा समारोह था। कान्फ्रेंस के स्वागताध्यक्ष ने कान्फ्रेंस की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला और मेह-मानों के प्रति आभार प्रकट कर उन्हें अलविदा कहा।

विदेश में कोई बीमार न पड़े, खासकर ऐसे विदेश में जहाँ उसकी भाषा न समझी जाय, या वह वहां की भाषा न समझे। इस दुर्भाग्य का शिकार भी मुझे होना था।

रूस जाने के पहले प्रायः दो महीने से मैं फीकी खूराक पर था; यानी मैंने नमक-चीनी दोनों छोड़ दी थी। अलसर का पुराना मरीज़ हूँ। नमक छोड़ देने से ऐसी बहुत-सी चीज़ों से परहेज़ हो जाता है जो अलसर के लिए हानिकर हैं। शुद्ध चीनी तो फांकी नहीं जाती। प्रायः चीनी पड़ती है घी से बनी चीजों में। चीनी छोड़ने से घी की बनी चीजें भी छूट जाती हैं जो अलसर वाले के लिए अनुकूल नहीं पड़तीं। कहने का मतलब कि नमक-चीनी छोड़ने से मुझे लाभ ही था। स्वाद के लिए लालायित मैं कभी नहीं रहा। मीठे की इच्छा ही कभी हो तो शहद ले लेता था। पर विदेश में मेरा यह परहेज़ नहीं निभ सकता था। शाकाहारी होने के कारण ही मेरा आहार सीमित रहता था; अब नमक-मीठा छोड़ देता तो शायद मुझे फल-दूध पर निबाह करना होता और जहाँ ये न मिलते वहाँ भूखे ही रहना होता। भारत छोड़ने के पहले मैंने तै कर लिया था कि शाकाहारी जो भी नमकीन-मीठा मिलेगा खाऊँगा। पन्द्रह-बीस दिन के खूराक-परिवर्तन का नतीजा यह हुआ कि जब कान्फ्रेंस का कार्यक्रम समाप्त हुआ, मैं बीमार पड़ गया, अलसर उभर आया, एसिडिटी बढ़ गई। कुछ भी खाता, थोड़ी देर बाद उलटी हो जाती, कभी कत्थई और कभी काली क़ै होती, शायद अलसर से रक्त-प्रवाह शुरू हो गया था, जो जमकर कभी क़त्थई, कभी काला तक हो जाता। हमारे दुभाषिये ने राइटर्स यूनि-यन तक खबर पहुँचाई तो एक डाक्टर ने आकर मेरी परीक्षा की। दो-तीन दिन तक होटल में ही रखकर मेरे रक्त-थूक आदि की परीक्षा हुई, बेरियम मील देकर मेरा एक्स-रे लिया गया और डाक्टरों की राय पर विधिवत इलाज के लिए मुझे चार सप्ताह के लिए मास्को के गैस्ट्रो एन्ट्राइटिस हास्पिटल में दाखिल करा दिया गया। और यहीं से मेरी मुसीबतें शुरू हुईं। मेरे और साथी भारत लौट गए। मैंने तेजी को अपनी बीमारी की सूचना तार से दिला दी। अक्टूबर का आरम्भ था। दुभाषिया अब मेरे साथ रह न सकता था और उस अस्पताल में डाक्टर से लेकर नर्सों तक न कोई अंग्रेजी-हिंदी बोलता था न समझता था। मेरे दुभाषिये ने जाने से पहले अक्लमंदी का एक काम किया था—उसने मेरी संभावित आव-श्यकता के कुछ वाक्य एक कागज़ पर रूसी में लिख दिए थे, उनके समानार्थ अंग्रेज़ी में, जैसे, मेरे पेट में दर्द है, मेरा जी मिचलाता है, मेरा सिर भारी है, मुझे नींद नहीं आती, मेरे लिए डाक्टर को बुलवा दीजिए, आदि-आदि। पिछले दो-

तीन दिन में उसने देखा होगा कि प्रायः यही सब मुझे कहना होता है; जब जैसी मुझे शिकायत या ज़रूरत हो, मैं संबद्ध वाक्य रूसी में नर्स को दिखा दूँ कि वह उसके संबंध में उचित कार्यवाही करे। उसने मुझे राइटर्स यूनियन और भारतीय दूतावास के फ़ोन नंबर भी लिखा दिए कि यथा-आवश्यकता मैं चाहूँ तो उनसे संपर्क कर सकूँ। मास्को में मेरे एकमात्र परिचित-मित्र 'मधु' जी का फ़ोन नंबर मेरे पास ही था। मास्को में या कहना चाहिए रूस भर में फ़ोन तो सब जगह है, परन्तु डाइरेक्टरी नहीं छपती। आप अपनी ज़रूरत के दो-चार नंबर अपने पास रखें, दुनिया भर के और फ़ोन नम्बरों से आपको क्या मतलब। आपको यह स्वतन्त्रता नहीं है कि आप डाइरेक्टरी खोलें और जिसको चाहें फ़ोन कर दें। फ़ोन को दुरुपयोग से बचाने के लिए रूसियों ने अच्छी तरक़ीब निकाली है। बिना डाइरेक्टरी के उनका काम बख़ूबी चलता है।

अस्पताल की इमारत तीन-चार मंज़िली थी। मैं पहली मंज़िल पर गया था यानी फ़र्शी मंज़िल के ऊपर वाली में। फ़र्शी मंज़िल के नीचे एक भूमिगत मंज़िल भी थी। नीचे की मंज़िलों पर तो मेरा आना-जाना हुआ, पर ऊपर मैं कभी नहीं गया। ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं, लिफ़्ट नहीं। मेरी वाली मंज़िल पर कमरों की एक लंबी पंक्ति थी; हर कमरे में छह-छह मरीजों के बिस्तर थे। एक सिरे के कुछ कमरे स्त्री-मरीजों के लिए सुरक्षित थे। कमरों के सामने एक लंबा कारीडोर था और दूसरी ओर ट्वायलेट, बाथ रूम, स्टोर रूम, ट्रीटमेंट रूम, डाक्टर और नर्सों के कमरे, टेलीविज़न रूम, किचेन, डाइनिंग रूम। स्त्री-पुरुषों को मिलाकर मेरी मंज़िल पर कोई सौ मरीज़ होंगे, सब गैस्ट्रो एन्ट्राइटिस के, अलसर के, एसिडिटी के।

अस्पताल पहुँचते ही नीचे के एक कमरे में ले जाकर मेरे सारे कपड़े उतरवा लिए गए और मुझे अस्पताल के कपड़े दे दिए; अपनी चीज़ों में अपने पास टूथ ब्रश, शेविंग सेट, कंघी, घड़ी, लिखने-पढ़ने के थोड़े से सामान के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं रखने दिया गया। बाहर से जो मैं मेडिकल रिपोर्ट लाया था उसी के अनुसार मेरा उपचार शुरू हुआ। और कुछ न मुझसे पूछा गया, न मैंने बताया। कौन पूछता? किससे बताता? न डाक्टरों की भाषा मैं समझता था, न मेरी भाषा डाक्टर समझते थे। पहले ही दिन मुझे यह कटु आभास हुआ कि रोग और उपचार के बीच कहीं मानवी संबंध नहीं है। और ऐसा मेरे ही साथ नहीं था, और मरीज़ भी मुझे लगता था, ऐसा ही अनुभव करते हैं, क्योंकि डाक्टरों से उनकी कोई बातचीत नहीं होती थी। प्राथमिक परीक्षणों पर जो उनकी मेडिकल रिपोर्ट बनती थी वही उपचार का मुख्य आधार होता था, दिनानुदिन नर्सें मरीज़ का जो टेम्परेचर, ब्लडप्रेशर वग़ैरह लेकर रिपोर्ट तैयार करती थीं वह उसमें जोड़ दिया जाता था। डाक्टर जो राउंड पर आता था, लिखित रिपोर्ट ही देखता था, मरीजों से कुछ नहीं पूछता था, बस सलाम-दुआ होती थी। उपचार मेरे लिए सिर्फ़ यह था कि मुझे एक तरह की सफ़ेद टिकिया हर खाने के बाद लेनी पड़ती थी और हर शाम को एक इन्जेक्शन।

सुबह के नाश्ते, दिन के लंच, शाम की चाय और रात के डिनर के लिए मरीज़ों को डाइनिंग रूम में जाना पड़ता था। चूँकि सब एक ही तरह के मरीज़ थे इसलिए सबका एक ही प्रकार का भोजन-पान। नाश्ते में आधा-उबला अंडा,

टोस्ट और चाय मिलती थी। मैं केवल एक टोस्ट और एक प्याला दूध लेता। लंच में होती चावल की खीर, जिसमें चीनी नहीं पड़ती थी, उसके ऊपर एक टुकड़ा मक्खन का रख दिया जाता था। खीर के साथ मक्खन मुझे कुछ विचित्र लगता था। मैं चीनी के दो-तीन क्यूब ले लेता था, पर खीर के साथ उनको पिघलाना मुश्किल होता था। मीठे के लिए सेब का स्टू यानी उबला सेब मिलता था। शाम को दो बिस्कुटों के साथ चाय—मैं चाय की जगह एक प्याली दूध ले लेता—और रात को पत्ता गोभी का सूप—यह सबको पीना पड़ता था—कहते हैं यह अलसर की एक तरह से दवा है—मांसाहारियों के लिए उबला गोश्त या मछली होती जो प्राय: सभी लेते थे। शाकाहारी तो मैं अकेला था, मैं उबले आलू ले लेता। साथ टोस्ट-मक्खन भी मिलता। मीठे के लिए कभी-कभी छेने से बनी बर्फ़ी होती जिसे 'तबरुक' कहते; शायद फ़ारसी का एक शब्द 'तबर्रुक' है जिसके अर्थ हैं 'जिससे बरकत हो', प्रसाद, जो हम लोगों के यहाँ कथा-पूजा-पाठ के बाद बाँटा जाता है। हो सकता है यह शब्द फ़ारसी से आया हो—उज़बेगियों के माध्यम से रूसियों का फ़ारसी से संपर्क कम नहीं रहा है।

अस्पतालों में शांति वांछित है। कभी अस्पताल में रहा हूँ और इधर-उधर शोरगुल हुआ है तो बहुत झल्लाया हूँ। हमारे अस्पताल में शांति अति पर थी। डाक्टर या नर्स मरीज़ों से नहीं बोलते थे; मरीज़ भी आपस में नहीं बोलते थे। मेरे किसी से बोलने का सवाल ही नहीं उठता था। मरीज़ चुपचाप विस्तरों में पड़े रहते या कोई किताब पढ़ते। अख़बार वहाँ नहीं आता था, और न किसी में अख़बार देखने की उत्सुकता ही दिखाई देती थी। शाम को कुछ घंटों के लिए टेलीविज़न रूम खुलता था, जो लोग चाहते थे वहाँ जाकर बैठ जाते थे और ख़बरें सुनते या चालू प्रोग्राम देखते थे। भाषा न समझने के कारण मेरे लिए टेलीविज़न का भी कोई आकर्षण न था। हाँ, जब नाच-गाने का प्रोग्राम होता तब कुछ रस आता था। वक़्त काटने के लिए मैं भी केवल किताबें ही पढ़ सकता था, और किताबें मेरे पास थी नहीं। एक दिन मैंने भारतीय दूतावास में फ़ोन किया कि मेरे लिए कुछ हिंदी, अंग्रेज़ी की किताबें भेज दें। मेरा ख़्याल था कि दूतावास में कोई छोटा-मोटा पुस्तकालय होगा जिसमें हिंदी की न भी हुई तो कुछ अंग्रेज़ी की किताबें ज़रूर होंगी। मुझे जानकर बड़ी निराशा और बड़ा आश्चर्य हुआ कि दूतावास में कोई पुस्तकालय नहीं; हिंदी तो दरकिनार, अंग्रेज़ी पुस्तकों का भी नहीं। मेरे पढ़ने के लिए कुछ अंग्रेज़ी की किताबें और पत्रिकाएँ मास्को की राइटर्स यूनियन ने भेजीं, कुछ हिंदी की किताबें मैंने 'मधु' जी से मंगाईं। 'मधु' जी ही दूसरे-तीसरे मुझसे मिलने आ जाते थे। मुलाकात का समय केवल शाम को एक घंटे का होता। मिलनेवाले नीचे के एक हाल में आकर बैठते थे और मरीज़ वहीं जाकर उनसे मिल सकते थे; किसी को मरीज़ों के कमरों तक आने की इजाज़त नहीं थी। पढ़ने का आनंद तभी है जब अपनी रुचि की किताबें पढ़ने को मिलें। यहाँ तो जो किताबें उपलब्ध थीं उन्हीं को पढ़ना था; नया कुछ न मिलने पर पढ़ी हुई किताबों को ही फिर पढ़ता। क्लासिक्स हों तो पढ़े हुए को फिर पढ़ने में भी आनंद आता है, पर मेरे पास जो किताबें थीं वे सब सामयिक। पढ़ना कितनी बड़ी सज़ा हो सकती है यह मैंने अस्पताल में रहते हुए जाना। पर लेटे-लेटे ऊबने से कुछ सज़ा भुगतना ही बेहतर लगता।

घर के समाचार की भी चिंता रहती। रूस में चिट्ठी मास्को राइटर्स यूनियन के पते पर मँगाता था। जबसे भारत से आया था केवल एक पत्र टूर से लौटने के बाद रशा होटल में मिला था। मेरा ख्याल है रूस में बहुत जबरदस्त सेंसर है, जाने-आने वाली सभी चिट्ठियाँ, खासकर विदेशियों की, खोलकर देखी जाती हैं। मैं तीसरे-चौथे दिन तस्वीरी कार्डों पर संक्षिप्त समाचार देता रहता, कुछ नहीं कह सकता था कि वे पहुँचे कि नहीं। मेरी बीमारी और मेरे अस्पताल में दाखिल होने का तार मिला तो तेजी और बेटों को चिंतित होना ही था। तीसरे दिन अस्पताल में ही तेजी का फ़ोन आया, अमित-अजित ने भी बात की। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मेरी दशा में सुधार है और अक्टूबर के अंत में मैं लौट सकूंगा। फ़ोन से आवाज़ साफ़ नहीं आ रही थी, शायद मेरी भी आवाज़ वे लोग साफ़ नहीं सुन रहे थे, पर बातचीत होने से दोनों ओर तसल्ली हो गई कि सब कुछ सामान्य है। बाद को मुझे पता लगा कि तेजी तो मास्को आने को तैयार थीं, उन्होंने श्रीमती गांधी से भी संपर्क कर लिया था, पर उन्होंने कहा, 'भेजवा तो मैं तुम्हें आज सकती हूँ, पर वहाँ जाकर भी तुम बच्चन जी से केवल मुलाक़ात के समय मिल सकोगी, मरीज़ के पास रहने का वहाँ कोई प्रबंध नहीं होता।' तेजी ने आने का इरादा छोड़ दिया, पर इंदु जी ने दूतावास में कहला दिया कि मुझसे संपर्क किया जाए और मुझे जो कुछ सुविधा सहायता दी जा सके दी जाए। उस दिन से प्रायः हर रोज़ दूतावास से कोई-न-कोई मुझसे मिल जाता। बैग से आनेवाले एकाध भारत के समाचारपत्र दे जाता। मेरी चिट्ठियाँ बैग से भारत भेज दी जातीं। इसके अतिरिक्त मेरे लिए अस्पताल में और कुछ किया भी नहीं जा सकता था।

मुझे कुछ लाभ हो रहा था, दवा-इंजेक्शन से शायद उतना नहीं जितना खुराक से, जो अलसर के मरीज़ के लिए आदर्श थी। पर कोई पन्द्रह दिन बाद मुझे एक नई तकलीफ़ शुरू हुई—यह थी लंबेगो की, दर्द के लिए मैंने एक शब्द सीख लिया था 'बालीत', मैं डाक्टर को पीठ के नीचे की जगह दिखाता और 'बालीत-बालीत' कहता, ज्यादा दर्द के लिए ज़ोर से 'बालीत' कहता और कैसे बताता। उसके लिए मेरे कई एक्स-रे लिए गए, मुझे लंबी-लंबी सुइयों के इंजेक्शन दिये गए, पीठ पर प्लास्टर लगाए गए, पाउडर से मालिश कराई गई, बिजली की सेंक की गई, पर मुझे लाभ नहीं हुआ। अक्टूबर का तीसरा सप्ताह आ पहुँचा और मैं भारत लौटने के लिए व्यग्र होने लगा। मुझसे पहले किसी ने गंभीरतापूर्वक या मज़ाक-मज़ाक में कहा था कि रूसी अधिकारी अस्पताल में दाखिल होने पर मरीज़ को या तो अच्छे होने पर बाहर जाने देते हैं, या फिर उसकी लाश को। वे नहीं चाहते कि मरीज़ बाहर जाकर कहे कि उसका मर्ज़ रूसी डाक्टरों से अच्छा नहीं किया जा सका—इसमें वे रूसी चिकित्सा-पद्धति का अपमान समझते हैं। अगर इलाज कराते-कराते मरीज़ मर ही गया तो बाहर जाकर कहेगा क्या!—मैंने सोचा तकलीफ़ तो मेरी कम होने को नहीं आ रही है और जब तक मैं तकलीफ़ की शिकायत करता रहूँगा यहाँ के डाक्टर कोई-न-कोई इलाज करते ही जाएँगे, न ये मर्ज़ को छोड़ेंगे न मरीज़ को। कब तक मैं यहाँ पड़ा रहूँगा। पता नहीं मैं अपनी ठीक तकलीफ़ इनसे बता भी पा रहा हूँ या नहीं, और यह भी पता नहीं मेरा क्या इलाज ये कर रहे हैं, या आगे करते जाएँगे।

अब तो यहाँ से निकलने की तरकीब यही है कि मैं कहूँ और दिखाऊँ भी कि मैं अच्छा हो गया हूँ। मैंने 'बालीत' 'बालीत' कहना बन्द कर दिया। डाक्टरों ने समझा होगा कि मेरा लंबेगो उनके इलाज से ठीक हो गया। अलसर मेरा नियंत्रित हो ही गया था। मैंने मास्को राइटर्स यूनियन को लिख कर भेजा, मैं अब बिलकुल ठीक हो गया हूँ, मेरे भारत लौटने का इंतज़ाम कर दिया जाए। यूनियन को मैंने बहुत-बहुत धन्यवाद दिया कि उन्होंने मुझे कान्फ्रेंस में बुलाया, मुझे रूस के कई प्रसिद्ध नगरों का भ्रमण कराया और अंत में मुझे एक महीना अपने यहाँ के अस्पताल में रखकर मेरा इलाज कराया। मेरी तरकीब चल गई। यूनियन ने मेरा विश्वास कर लिया और मेरे जाने का सारा प्रबंध करा दिया। अस्पताल से विदा होते समय मैंने डाक्टरों-नर्सों के प्रति बहुत आभार प्रकट किया। मैं सचमुच आभारी था; उन्होंने अपनी तरफ़ से मुझे अच्छा करने को जो कुछ कर सकते थे किया ही था, अगर मैं नहीं अच्छा हुआ तो मेरी बदक़िस्मती। मेरे विदेश में पड़े रहने की एक सीमा थी ही—आखिर मैं कब तक वहाँ पड़ा रहता और जिस प्रकार का जीवन वहाँ जी रहा था उससे एक ऊब, एक मानसिक तनाव होना ही था जो मेरे अलसर के लिए हानिकारक भी हो सकता था। फिर अक्टूबर आते-आते रूसी जाड़े की ऋतु अपना प्रकोप तीव्र से तीव्रतर करती जा रही थी, हमारे कमरे तो सेन्ट्रली हीटेड थे, पर खिड़की के शीशों से जो बाहर देखता था उससे पता चलता था कि बाहर कितनी ठंड बढ़ गई होगी। पहले बाहर की तेज़ हवा में पेड़ों के पत्ते गिरते, उड़ते दिखाई दिए, फिर पेड़ों की डालें एकदम नंगी हो गईं, आसमान धुंधला हो गया, फिर सुबह-शाम बरफ भी पड़ने लगी; सबेरे उठकर देखता पेड़ की कंकाल-वत् डालों पर सफ़ेद बरफ़ जमी होती। अपने देश का अक्टूबर याद आता। कैसा सुहाना मौसम होता है। बरसात खत्म हो गई होती है। लोग अपने घरों की सफ़ाई-पुताई कराते हैं। फिर दीवाली आती है—लोग दीप-मालिका सजाते हैं, पटाखों से दिशाएँ गूँजती हैं, सरग-बान से आकाश में प्रकाश की रेखाएँ खिंचती हैं। यहाँ तो सब ठंडा-ठंडा, सूना, चुप-चुप! हिसाब लगा कर मैंने देखा था, अगर एक सप्ताह में मेरे जाने का प्रबंध करा दिया जाए तो दीपावली के दिन मैं अपने घर पर हूँगा, अपनी नई पुत्रवधू, पुत्रों, पत्नी के साथ—नई बहू के साथ घर की पहली दीवाली होगी। इस अवसर पर मैं न हुआ तो मेरा अभाव सबको कितना अखरेगा, और उनका अभाव तो मैं हर समय भोग ही रहा हूँ। दुर्भाग्यवश मुझे दीवाली के पहले मास्को से विदा न किया जा सका, दीवाली कब आई, कब चली गई मैंने जाना भी नहीं। मैं दीवाली के दो-तीन दिन बाद दिल्ली पहुँचा। बंबई जाने की कोई जल्दी अब न थी, सोचा दिल्ली में ही एक सप्ताह रुक कर डा० करौली का इलाज करा लूँ, पहले भी मेरे लंबेगो को वे तीन दिन में ठीक कर चुके थे। भारत पहुँचने की सूचना फ़ोन से बंबई दे दी और ठीक तीन दिन में डा० करौली ने मेरा लंबेगो का दर्द पचास प्रतिशत अच्छा कर दिया। एक सप्ताह आराम करने का आदेश किया। बंबई पहुँचकर मैंने कहा,

जान बची लाखों पाए
घर के बुद्धू घर को आए।

हम सब परिवार के सदस्य लंबे प्रवास से घर लौटकर यही कहते हैं।

अमित-अजित स्वस्थ-प्रसन्न दिखे। 'जंज़ीर' की सफलता के बाद अमित की क़द्र सिने संसार में बढ़ गई थी। अजित अपने त्रपु एंटरप्राइज की प्रगति से संतुष्ट थे। उनके चेहरे की प्रसन्नता उद्योग-तुष्टि से कुछ ऊपर की थी। जया कुछ खिंची-खिंची सी लगी—उसका पाँचवाँ महीना चल रहा था, अभी एक महीने पहले तक वह अपनी साइन की एक-दो फ़िल्मों की शूटिंग पूरी करने में लगी थी—शायद थकी होगी। तेजी भी अस्वस्थ लगीं, कुछ अन्यमनस्क भी। अस्वस्थता बरसाती दमे-दौरों के बाद अप्रत्याशित नहीं थी।

दो-तीन दिन बाद एक शाम परिवार के सब सदस्यों के सामने अजिताभ ने यह सूचना दी कि उन्होंने रमोला चुगानी के साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया है—अब तिथि परिवार के लोग आपस में सलाह करके निश्चित करें। एक ख़ुशी की लहर सबके चेहरे पर दौड़ गई। तेजी की राय थी कि विवाह जल्दी से जल्दी कर दिया जाए—संभव हो तो महीने के अंदर। वे अपने स्वास्थ्य के प्रति इतनी निराश थीं कि साथ ही कह गईं, अगर इस बीच मुझे कुछ हो भी जाए तो विवाह न रोका जाए। 'कुछ' को हम लोग उनकी बीमारी की गंभीरता से आगे नहीं ले जा सकते थे। रमोला की माता से सलाह करनी थी। तेजी ने जिस तरह विवाह की तिथि की बात की थी उससे वातावरण में कुछ भारीपन आ गया था। मैंने उसे हलका करने के लिए कहा, परिवार में एक पंजाबिन थी, एक बंगालिन आई, चलो अब एक सिन्धिन आ रही है। बच्चन परिवार ऐसे ही प्रगति करता गया तो हमारी तीसरी पीढ़ी तक मराठिन, गुजरातिन, तेलगुई, कन्नड़ी, तामिली, केरली भी आ जाएंगी और तब हमारा परिवार सच्चे मानों में भारतीय परिवार कहलाएगा। मैं कहता गया, अगर मुझे हिंदुस्तान का डिक्टेटर बना दिया जाए तो पहला हुक्मनामा मैं यह जारी करूँ कि भारत के किसी भी प्रांत का लड़का या लड़की अपने ही प्रांत की लड़की या लड़के से शादी न करे। इससे हमारे देश की एकता और संगठनता (गठ-बंधनता) का लक्ष्य भी जल्दी पूरा कर लिया जाएगा। ख़ैर, तेजी की बात रखने के लिए रमोला की माँ ईशू चुगानी से संपर्क करके विवाह की तिथि तै कर दी गई—27 दिसंबर। उन्हें भी बेटी के विवाह की तैयारी करने के लिए कम-से-कम एक महीने का समय तो चाहिए था और हमें भी, अजिताभ की शादी अमिताभ की शादी की तरह चुपके-चुपके तो करनी नहीं थी। यह भी तै हुआ कि ईशू जी बेटी को लेकर बंबई आएँगी और यहीं से विवाह कराएँगी।

रमोला से अजिताभ का परिचय तब हुआ होगा जब वे बी० ए० करने के बाद शा वैलेस में काम करने के लिए कलकत्ता गए थे और अमिताभ के साथ रहते थे। रमोला के पिता राम चुगानी रहनेवाले तो सिंध के थे, पर काम की तलाश में कलकत्ता पहुँच गए थे, पहले वे बिरला फ़र्म्स से संबद्ध थे, पर बाद को उन्होंने कुछ अपना स्वतंत्र उद्योग शुरू कर दिया था और पर्याप्त धन अर्जित किया था। राम चुगानी पचास से भी कम उम्र में अपनी विधवा पत्नी, चार पुत्रियाँ और दो पुत्र छोड़कर स्वर्ग सिधारे थे। रमोला उनकी सबसे बड़ी लड़की थी। मुझे नहीं मालूम कब, कैसे, कहाँ रमोला की पहली मुलाकात अमिताभ-अजिताभ से हुई। हिंदुस्तानी लड़की तो बहन बनकर ही लड़कों से परिचय

आरंभ करती है। रमोला ने भी अमिताभ और अजिताभ के हाथों पर राखी बाँधकर अपना संबंध शुरू किया था। मेरे लड़के भी सगी बहनों के अभाव में धर्म की बहनों को अपनाने के लिए उत्सुक रहा करते थे। विवाह के बाद रमोला ने अजिताभ के हाथ पर राखी बाँधना तो बंद कर दिया है, पर अमिताभ के हाथ पर अब भी बाँधती है—उन्हें जेठ-भाई मान कर। इसी प्रकार जया अजिताभ के हाथ पर राखी बाँधती है उन्हें देवर-भाई बनाकर, यह तो आपको पता होगा कि जया के कोई भाई नहीं।

मैंने रमोला को कई वर्ष पहले 13 विलिंगडन क्रिसेंट दिल्ली में पहली बार देखा था। अमित-अजित किसी छुट्टी में कलकत्ता से घर आए थे और पीछे रमोला भी आ गई थी—दिल्ली में उसकी कोई मौसी रहती थीं। रमोला दुबली-पतली, गोरी-चिट्टी, नीली पुतलियों की मुझे सुंदर लगी थी, खटाखट अंग्रेज़ी बोलती थी अंग्रेजों के उच्चारण में। राम चुगानी ईसाइयत और अंग्रेजियत परस्त थे; गो पारिवारिक धर्म राधास्वामी (व्यास) संप्रदाय का था, घर में क्रिसमस, न्यू इयर और ईस्टर उत्साह-उल्लास से मनाए जाते थे। रमोला की प्रारंभिक शिक्षा कान्वेंट में हुई थी और बाद को सात वर्ष लंदन में रहकर उसने अपनी पढ़ाई पूरी की थी। दूसरी भाषा के रूप में उसने जर्मन सीखी थी। लौटने पर वह बिलकुल योरोपियन रंग में रँग गई थी, गो जब मेरे यहाँ आई थी तब साड़ी पहनकर—हरे रंग की, जो उसके गोरे बदन पर खूब फ़बती थी। हिंदी वह बिलकुल नहीं बोल सकती थी, 'ड़' का उच्चारण उससे नहीं होता था, वह 'ड़' को 'र' कहती; और अमित-अजित इसके लिए अपनी 'धर्म बहन' का मज़ाक उड़ाया करते थे। उससे कहते कहो, 'घोड़ा सड़क पर गिर पड़ा' और वह कहती 'घोरा सरक पर गिर परा', और दोनों भाई खूब हँसते। रमोला शर्माकर रह जाती।

एक बार रमोला की माँ भी दिल्ली आई थीं और हमसे मिली थीं। मेरा ऐसा ख्याल है कि अजिताभ को देखकर उनके मन में अवश्य आया होगा कि रमोला की शादी इस लड़के से हो जाए तो कितना अच्छा हो। 'वर' देख लिया था, 'घर' देखने के लिए वे दिल्ली आई थीं। हमें अनानुकूल न पाया होगा। पर उस समय रिश्ते की कोई भी बात हमारे बीच न उठी थी। बाद को सुना रमोला को ब्रिटिश एयरवेज़ में एयर होस्टेस की नौकरी मिल गई। अजिताभ भी कलकत्ता से बंबई-मद्रास स्थानांतरित हो, शिपिंग में प्रशिक्षण के लिए साल भर को जर्मनी चले गए। उनके लौटने के डेढ़ वर्ष बाद, शायद दोनों फिर मिले, 'प्रीति पुरातन' जागी और अब उन्होंने रक्षा-सूत्र को प्रणय-सूत्र में बदलने का निर्णय किया।

महीना बीतते देर न लगी। ईशू जी रमोला और अपने परिवार के सदस्यों को लेकर बंबई आ गईं और अपने एक संबंधी के यहाँ ठहरीं। मास के मध्य में उन्होंने 'तिलक' भेजा; दूसरे दिन हमारे यहाँ से 'चढ़ावा' गया। बाहर से आने के लिए, सगुन की तरह, पाँच परिवारों को निमंत्रित किया गया—गाँधी-राजन परिवार को, मेरे भाई के बेटे, मेरी बहन के बेटे और सत्येन्द्र-शैलेन्द्र को। गाँधी परिवार से कोई न आ सका—राजीव किसी पाइलट कोर्स पर थे, संजय मारुति-संस्थान स्थापित करने में व्यस्त, केवल श्रीमती गाँधी की बधाइयाँ-शुभकामनाएँ

आईं। शेष सपरिवार आए। अमिताभ ने बड़े हौसले और उछाह के साथ छोटे भाई की शादी की। घर बाहर-भीतर सजाया गया, घर के आगे-पीछे शामियाने लगे। बारात की संध्या के पहले की रात्रि को नृत्य-संगीत का कार्यक्रम रखा गया, घर के सब लोग नाचे, अमिताभ के फ़िल्म क्षेत्र के कई सहकर्मियों ने भी नृत्य-गान किया। प्रायः यह कार्यक्रम वर-पक्ष वालों का होता है, पर हमने कन्या-पक्ष वालों को भी आमंत्रित कर लिया था—वे आए, दल-बल से आए और अप्रत्याशित बात यह हुई कि ईशू जी के साथ रमोला भी आ गई। अंत में अजिताभ और रमोला भी नाचे और सिंधियों ने अपना प्रिय कोरस गाया 'हे जमालो, हे जमालो'। कभी मुझे पता लगाना है, ये जमालो कौन थीं ? हमारे यहाँ एक कहावत प्रचलित है—'आग लगाकर जमालो दूर खड़ी हुईं।' पर सिंधी जिस 'जमालो' का गुणगान करते हैं वह आग लगाने वाली नहीं, फूल बरसाने वाली जमालो मालूम होती है।

दूसरे दिन शाम को बारात जानेवाली थी। अपराह्न में दूल्हे को हरद-स्नान कराया गया, वस्त्र पहनाए गए, आँखों में काजल आँजा गया, सेहराबंदी हुई, बारातियों को लाल पगड़ियाँ बाँधी गईं। बारात में चलने के लिए अमिताभ ने अपने कुछ फिल्म क्षेत्र के सहयोगियों को, अजिताभ ने 'त्रपु' के सहकर्मियों को, मैंने अपने बंबई निवासी मित्रों और पड़ोसियों को आमंत्रित कर लिया था। दूल्हे जी सजे-सजाए घोड़े पर बैठे, पीछे लाल मखमल का कामदानी छत्र ताना गया और बाजे-गाजे, फुलवारी, आतिशबाज़ी, गैस के हंडों के साथ बारात चली—अमिताभ अपने मित्रों के साथ रास्ते भर घोड़े के आगे-आगे नाचते हुए पास के होटेल होराइज़न तक गए, जहाँ से ईशू जी ने विवाह करने का प्रबन्ध किया था। हज़ारों लोग रास्ते में बारात देखने को खड़े हुए।

विवाह वैदिक रीति से हुआ। विवाह के बाद 'होटेल' के लान में ही 'एट होम' का प्रबंध था। रात को पारिवारिक रीति से नववधू का स्वागत हुआ और वर-वधू सुहाग-कक्ष में गए।

यह भी यज्ञ समाप्त हुआ। मेहमान विदा हुए। चहल-पहल, धूम-धाम के बाद एक सूनापन-खालीपन बाहर-भीतर घिरता है, फिर जीवन धीरे-धीरे सामान्य हो जाता है। 'दिन को होली रात दिवाली रोज़...' कवि-कल्पना है : हो भी तो साधारण मनुष्य शायद ही उसके तकान को बर्दाश्त कर सके। दिनानुदिन का जीवन-क्रम क्या कम आकर्षक है ? वही शुरू हो गया। 'मंगल' का घर छोटा पड़ रहा था, पहले उसमें सिर्फ़ अमिताभ रहते थे, फिर मैं आ गया, फिर अजिताभ आ गए, फिर तेजी आ गईं, फिर जया आ गई, अब रमोला आ गई, तीन महीने बाद नवजात आने को था, अमिताभ के काम-नाम बढ़ने के साथ उनके सेक्रेटरी को बैठने और दफ़्तरी कार्यवाइयाँ पूरी करने के लिए एक अलग कमरे की ज़रूरत महसूस होने लगी था।

पास ही एक छोटा एकमंज़िला मकान खाली था। उसमें तीन कमरे बाथ-रूम के साथ थे, एक डाइनिंग-कम-ड्राइंग रूम और किचेन; बाहर गराज, तीन तरफ़ खुली जगह बाग़-बगीचे के लिए, ऊपर खुली छत। वह मकान किराए पर ले लिया गया। तै हुआ, अजिताभ-रमोला नए मकान में चले जायेंगे; मुझे भी वहीं भेज दिया जायगा, एक कमरे में रहने के लिए कि अजिताभ के घर से बाहर

रहने पर छोटी बहू को एक सयाने की आड़ रहे। इस प्रकार 'मंगल' के दो कमरे खाली हो जायेंगे—एक नवजात के लिए, एक सेक्रेटरी के लिए। रमोला अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार अपने घर को व्यवस्थित करने में लग गई और जल्दी ही उसने अपनी गृहस्थी को एक कामचलाऊ रूप दे दिया। रमोला को मैंने पाया अपने घर पर एकाधिकार के प्रति सचेत; गृह-प्रबंध में किसी के हस्तक्षेप के प्रति असहिष्णु। अपने कमरे के लिए 'मंगल' से मैं केवल अपना बेड लाया था। उसमें अजिताभ ने कपड़े रखने की एक आलमारी लगवा दी, उसी में मैंने अपनी थोड़ी-बहुत किताबें रख दीं। बाद को उसमें एक तरफ़ की दीवार के साथ किताबें रखने की तीन आदमक़द आलमारियाँ, एक मेज़-कुर्सी लगवा दी गई। एक कोने में एक डिस्क-प्लेयर और स्पीकर भी रखा दिए गए। एक तरह से मेरा कमरा बेडरूम-कम-स्टडी था, हालाँकि मेरे सामने लिखने-पढ़ने की कोई योजना नहीं थी—'जाल समेटा' से मैं कविता से विदा ले चुका था, 'टूटी-छूटी कयिड़ाँ' से एक तरह से गद्य से। 'ऐनटनी एंड क्लियोपाट्रा' के अनुवाद की फ़ाइल ज़रूर मेरे पास थी, पर उसपर मैंने शायद ही किसी दिन काम किया। हाँ, अपनी आत्मकथा का तीसरा खंड लिखने की मेरी इच्छा ज़रूर थी, पर यदा-कदा उसके कुछ नोट भर बनाकर रह जाता।

उन दिनों मेरा कार्यक्रम कुछ इस प्रकार होता। सुबह उठकर मैं समुद्र तट पर घूमने निकल जाता और समुद्र स्नान कर लौटता। हल्का नाश्ता कर मैं दो-तीन घंटे मकान के बाहर खुली ज़मीन पर बाग़ लगाने का काम करता। एक माली रख लिया गया था, उसकी सहायता से मैंने वहाँ भी एक राकरी बनाई—राकरी पर एक शिव मंदिर बनाया। सुबह घंटी बजाकर चिड़ियों को दाना देने का रुटीन मैंने यहाँ भी शुरू की। बाग़ में काम ख़त्म कर मैं फिर स्नान करता—समुद्र स्नान के बाद ताज़े पानी से नहाना ज़रूरी होता—और रमोला के साथ लंच लेता। अजिताभ नाश्ता करने के बाद अपना लंच टिफ़िन कैरियर में लेकर कारखाने चले जाते और शाम को लौटते। दिन को मैं दो घंटे सोता। शाम को रमोला को साथ लेकर फिर समुद्र तट पर घूमने जाता—रमू को घूमने, दौड़ने, क़सरत से अपने शरीर को चुस्त रखने का शौक है—घूमते हुए रमू से मैं हिन्दी में बात करता और उसे भी हिन्दी में बात करने को प्रोत्साहित करता—इस प्रकार उसे मैं हिन्दी सिखाता—लौटते समय 'मंगल' होता आता। कुछ देर तेजी के पास बैठकर, कुछ देर जया के पास। जब तक हम लोग लौटते अजिताभ कारखाने से लौट आए होते। हम साथ खाना खाते और अजिताभ भाई, भाभी, और माँ से मिलने को 'मंगल' चले जाते। रात को जब तक मुझे नींद न आती मैं कुछ पढ़ता रहता। इतवार-इतवार को सारे परिवार का खाना--दोनों समय—साथ होता।

इस तरह तीन महीने बीत गए। जया के प्रसव का समय निकट आया और उसे ब्रीच कैंडी में भरती करा दिया गया। 14 मार्च को उसने कन्या रत्न को जन्म दिया। बच्चन परिवार की तीसरी पीढ़ी शुरू हुई। मैं तो चाहता था कि नई पीढ़ी का सत्प्रारंभ पुत्र-रत्न से हो। खैर, अपने मन का हो तो अच्छा, अपने मन का न हो तो ज्यादा अच्छा। मैं नवजाता को मोटर से लेकर घर आया। याद आ गया था आज से इकतीस वर्ष पहले इस कन्या के पिता को गोद में लेकर

ताँगे से नरसिंग होम से घर लाया था !

सात दिन बाद पारिवारिक प्रथा के अनुसार सत्यनारायण के साक्ष्य में कन्या का नामकरण किया गया—मैंने उसका नाम श्वेताम्बरा रखा, बाद को यह नाम बहुत लम्बा समझा गया और उसे श्वेता कहा जाने लगा और यही उसका असली नाम माना गया। 'मंगल' में अमिताभ-जया ऊपर के कमरे में रहते थे, बगल वाले में अजिताभ। अब अजिताभ का कमरा श्वेता का कमरा बना—उसके लालन-पालन के लिए अब एक नर्स रख ली गई, जो उसी कमरे में रहती-सोती थी।

मैं नवंबर में रूस से लौटा था। तभी से मैंने तेजी को अस्वस्थ देखा था; और तब से निरंतर उनका स्वास्थ्य गिरता ही जा रहा था। मुझे लगा कि तेजी की बीमारी का कारण शारीरिक ही नहीं कुछ मानसिक भी है जिसे वे भीतर ही भीतर पी गई हैं। 1954 में मैं ग्वालियर पोटेरीज़ का कारखाना देखने गया था। वहाँ के इंजीनियर ने मुझसे कहा कि आप अपनी कविता की कोई पंक्ति एक कच्चे टाइल पर लिख दें, हम उसे 'बेक' करके पक्का बना देंगे। मैंने लिख दिया था—

> वह किसे दोषी बताए
> और किसको दुख सुनाए
> जबकि मिट्टी साथ मिट्टी के करे अन्याय।
> —बच्चन
> 6-10-'54

बाद को पक्का टाइल उन्होंने मुझे भेज दिया था जो मेरे किसी बक्से में रखा था। तेजी ने उसे निकालकर अपने बिस्तर के साथ वाली टेबिल पर रख लिया था।

डाक्टरों के इलाज से फ़ायदा न हुआ तो वैद्य की दवा शुरू की गई। पंडित शिव शर्मा बंबई के, बंबई के क्या, भारत के सर्वश्रेष्ठ वैद्यों में गिने जाते थे। विभाजन-पूर्व वे लाहौर में रहते थे। '38 -'39 में लाहौर जाने पर मेरा उनसे परिचय हुआ था और वे मेरी कविता के अनन्य प्रेमी हो गए थे। उनकी चर्चा मैं अपनी आत्मकथा में पहले भी कर चुका हूँ। तेजी के लिए मैंने उन्हें बुलाया तो बड़ी ख़ुशी से आए; हर हफ़्ते आते, अच्छी से अच्छी दवा देते, न विज़िट की फ़ीस स्वीकार करते, न दवा का दाम लेते। पर उनके उपचार से भी तेजी को कोई लाभ न हुआ। एक दिन उन्होंने हार कर कह दिया, 'क्या करूँ, बंबई की आबोहवा माफ़िक नहीं आ रही है। अब तो इनका एक ही इलाज है कि इन्हें यहाँ की नम हवा से हटाकर किसी खुश्क जगह ले जाया जाय।'

मैंने अमित-बंटी से बात की, '...माँ की हालत जैसी है तुम देख ही रहे हो। उनका स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता जाता है। डाक्टर-वैद्य की दवा लग नहीं रही है। शिव शर्मा जी की राय है कि माँ का एक ही इलाज है कि उन्हें किसी खुश्क जगह ले जाया जाय। सबसे अधिक बंबई की आबोहवा उन्हें हानि पहुँचा रही है। मैं सोचता हूँ कि माँ को लेकर मैं दिल्ली लौट जाऊँ; दिल्ली अपेक्षया खुश्क

जगह है; डा० करौली पुराने परिचित हैं माँ के स्वास्थ्य से भी, रोग से भी; उनकी दवा माँ को लगती रही है, दमा का आक्रमण तो वहाँ भी होता रहा है पर थोड़ी-बहुत दवा से काबू में आ जाता था। यहाँ तो बढ़ता ही जाता है।... तुम दोनों अब अर्थ-समर्थ हो। हमारे रहने का इंतज़ाम दिल्ली में कर दो और इंतज़ाम भी क्या करना है, एक सामान्य सुविधा का मकान किराये पर ले दो। अगर मकान ग्रेटर कैलाश में सत्येन्द्र के घर के पास कहीं मिल सके तो ज़्यादा अच्छा; वक़्त-ज़रूरत कोई हमारे पास होगा। सामान जो हम दिल्ली से लाए थे वह प्रायः सभी ज्यों का त्यों बक्सों-पेटियों में बंद पड़ा है, वह सब वैसे ही ट्रक से भेज दिया जा सकता है। हमारी दिनानुदिन की सुविधा के लिए जो कुछ और ज़रूरी हुआ वह माँ अच्छी होने पर जुटा लेंगी।

कभी-कभी नियति या कहें जीवन की परिस्थितियाँ हमें ऐसी जगह लाकर खड़ा कर देती हैं कि वहाँ से आगे बढ़ने का एक ही रास्ता हमारे सामने खुला होता है और दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हम बड़े अरमानों के साथ बेटों के साथ रहने के लिए आए थे और हमें देखकर खुशी होती थी कि हमारी आँखों के सामने वे फल-फूल रहे थे—अमित के पैर सिने क्षेत्र में जम गए थे, बंटी का कारखाना चल निकला था, दोनों के विवाह हुए, अमित पिता बने, बंटी भी कुछ मास में बनने वाले थे, पर हमारे लिए अब समय आ गया था कि हम अपने परिवार से अलग दूर जाकर एकाकी जीवन बिताएँ। तेजी की दिनोंदिन गंभीर होती हालत ने हमारे लिए कोई विकल्प न छोड़ा था।

अमित-बंटी को मेरे प्रस्ताव से सहमत होना पड़ा। कुछ ऐसा सोच लिया गया, दिल्ली के मकान में फ़ोन लगवा लिया जायगा, समाचार दिया-लिया जाता रहेगा; हवाई-जहाज़ ने फ़ासले मिटा दिये हैं, ज़रूरत पड़ने पर डेढ़ घंटे में दिल्ली से बंबई या बंबई से दिल्ली आया-जाया जा सकेगा।

अमित ने बंटी को दिल्ली भेजा और उन्होंने ग्रेटर कैलाश में हमारे लिए एक किराये का मकान तय कर दिया जो सत्येन्द्र के घर से दूर न था जिससे हमने बड़ी राहत की साँस ली।

हमारी उस अवस्था में सारा सामान लदा-फंदाकर बंबई से दिल्ली ले जाना और वहाँ एक नई जगह पर नए सिरे से गिरिस्ती जमाना, जबकि तेजी लंबी बीमारी से दुर्बल-जर्जर हो रही हैं!—इसको सोचते ही हाथ-पाँव सन्न होने लगते, दिल कच्चा पड़ने लगता। पर ऐसे ही समय कहीं से मेरा इच्छा-बल जागता है और मेरी 'हिम्मते दुश्वारपसंद' मुश्किल से मुश्किल काम को भी उठा लेने को तैयार हो जाती है।

मैंने तेजी को भी तैयार किया।

वे कहतीं, 'ये सारा बखेड़ा सिर्फ़ मेरे जीने को!'

मैं कहता, 'अगर तुम्हारा जीना दूसरों के लिए भी कुछ मानी रखता हो तो सिर्फ़ जीना भी कोई छोटा काम नहीं।'

मैं पहले आकर अपने मित्र रामनिवास ढंढारिया के साथ ठहरा, 2 तिलक मार्ग पर। तेजी वहाँ से ट्रक से सामान रवाना कर चार-पाँच रोज़ बाद आईं। तेजी के आने पर हमारा इरादा अपने एक उद्योगपति मित्र के दिल्ली केन्द्र में

ठहरने का था जो ग्रेटर कैलाश के नज़दीक था। मैं तेजी को लेने के लिए एरोड्रोम गया। वे तो एकदम गिरी हालत में हवाई-जहाज़ से उतरीं। केन्द्र पर नीचे दफ़्तर था। ऊपर रिहायशी कमरा। दफ़्तर के समय तो वहाँ तीन-चार लोग रहते, बाद को केवल एक नौकर ऊपर की देखरेख, चाय-पानी देने के लिए। वहाँ पहुँचते ही तेजी पर दमे का दौरा पड़ा। मैं घबराया, अगर यहाँ तेजी की हालत ज्यादा खराब हुई तो यहाँ न कोई आगे, न कोई पीछे। मैंने तै किया ढंढारिया के यहाँ चलूं, वहाँ परिवार के चार लोग तो होंगे और उनकी हालत नाज़ुक होने पर मैं अपने को किंकर्त्तव्यविमूढ़ न पाऊंगा। उसी वक़्त टैक्सी बुला मैं तेजी को ले, तिलक मार्ग आ गया। किसी तरह उन्हें उतार बिस्तर पर लेटाया, ढंढारिया की पत्नी, बेटियाँ उनकी सेवा में लग गईं। मैंने डा० करौली को फ़ोन किया, वे फ़ौरन आए। तेजी की हालत गंभीर बताई, दवा बता गए। दूसरे दिन वे दो और डाक्टरों को लेकर आए। वे उनकी राय भी लेना चाहते थे। दवा-दरमत से गंभी-रतावाली स्थिति पर ही काबू पाया जा सका। तेजी कई दिन बिस्तर पर पड़ी रहीं।

ग्रेटर कैलाश का मकान—191-बी—नया-नया बना था; उसके हम पहले किरायेदार होने वाले थे। मकान-मालिक ने वादा किया था कि वह हमें तैयार मकान 1 जून को दे देगा, पर 7 जून के पहले वह न दे सका। यह एक तरह से अच्छा ही हुआ। तेजी की तबीयत कुछ सँभलने के लिए समय मिल गया। रामनिवास ने हम दोनों के लिए एक अलग कमरा दे दिया था। मेरी अपनी तबीयत भी बहुत अच्छी न थी, तेजी को देखकर तो मेरी तबीयत और गिर गई। मैं ज्यादातर उनके बिस्तर के पास बैठा या लेटा रहता। तेजी की देखरेख रामनिवास की दोनों बेटियाँ करतीं। बड़ी सेवा की उन्होंने।

तीन जून को अमिताभ-जया की पहली विवाह-जयंती थी। तेजी ने साल पहले के उस दिन को—उसके एक-एक क्षण को याद किया—फ़ोन से अमित-जया को उस शुभ दिन की बधाई दी, आशीर्वाद दिया।

बंबई से ट्रक आया तो सामान उतरवाकर ग्रेटर कैलाश के मकान के गराज में रखा दिया गया। ट्रक के साथ ही बेटों ने फियेट कार के साथ एक ड्राइवर और रसोइया भी भेज दिया था।

ग्रेटर कैलाश का मकान अर्चना सिनेमा के पास था—सिनेमा भवन के उस ओर सत्येन्द्र का मकान, इस ओर हमारा। छोटे रास्ते से तीन मिनट में हमारे घर से उनके घर या उनके घर से हमारे घर आया-जाया जा सकता था।

मकान एकमंज़िला था। उसमें थे बाथरूम के साथ तीन बेडरूम; एक बड़ा कमरा था अलग जिसे स्टडी बना सकते थे; किचेन, डाइनिंग रूम, ड्राइंग रूम, एक संकरा बरामदा और एक छोटा आँगन। बगल में गराज था, गराज के ऊपर सर्वेंट क्वार्टर; सामने एक छोटा लान था। हमारे पास दो एअर-कंडिशनर थे; एक हमने तेजी के बेडरूम में लगवाया, दूसरा स्टडी में। पहले पर्दे वग़ैरह लगाकर तेजी के लिए एक कमरा ठीक किया गया। नए मकान में व्यवस्थित होने में सबसे अधिक हमारी सहायता सत्येन्द्र की पत्नी उषा ने की। उसी की देखरेख में नए घर में किचन चालू हुआ। उषा किसी स्कूल में पढ़ाती थी; सुबह का स्कूल कर वह हमारे घर आ जाती और दिनभर तेजी के साथ रहती—उनकी परिचर्या

के अतिरिक्त गृहस्थी के सौ तरह के काम देखती।

तेजी की हालत जल्दी न सुधरी। इस बार लगा, डा० करौली की दवा भी नहीं लग रही है। घर में फ़ोन लग गया था। बेटे दिन-प्रतिदिन तेजी का हाल लेते रहते। यह देखकर कि वायुपरिवर्तन और एलोपैथी के इलाज से फ़ायदा नहीं हो रहा है, अमित बंबई के सबसे बड़े होमियोपैथ डा० शंकरन को लेकर दिल्ली आए। दमे के आक्रमण के अलावा तेजी की सबसे बड़ी तकलीफ़ थी कि उनको नींद नहीं आती थी; और सौ बीमारी की एक बीमारी तो वही थी; वह तो उनके लिए क्रानिक हो गई है जिससे वे आज तक पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकी हैं। डाक्टर ने पूरे दिन उनकी परीक्षा की, सैंकड़ों सवाल पूछे और शाम को कहा, जैसे उन्होंने कोई अनबूझ पहेली बूझी हो या कोई बड़ा रहस्य उद्घाटित किया हो, कि उन्हें जबरदस्त मेन्टल टेनशन और डिप्रेशन है। ज़ाहिर था कि बीमारी जो थी वह तो थी ही, उसके कारण घर-परिवार से बिछुड़ने का अफ़सोस कम न था, और ऊपर से ऐसी हालत में एक जगह से उखड़कर दूसरी जगह व्यवस्थित होने की चिंता, जबकि अठारह महीने पहले भी उन्हें ऐसी ही चिंता से जूझना पड़ा था।

ख़ैर, डा० शंकरन दवा परहेज़ बताकर चले गए। होमियोपैथी का इलाज तेजी को कभी माफ़िक नहीं आया; पर अमित का आग्रह था तो उसे एक और मौक़ा देने में क्या हर्ज था। इलाज उसी डाक्टर का ठीक होता है जो नज़दीक हो, जिसे जब ज़रूरत हो बुला सकें, मरीज़ की हालत बता सकें। अब मरीज के बारे में कुछ कहना हो तो बंबई फ़ोन कीजिए; फ़ोन कभी मिलता, कभी न मिलता; जो दवा है वही देते जाइये। इन असुविधाओं के बीच डा० शंकरन का इलाज छोड़ ही देना पड़ा, कुछ खास फ़ायदा भी नहीं दिख रहा था। फिर हम डा० करौली के इलाज पर आ गए।

दवा तो हो ही रही थी।

दवा से ज़्यादा भरोसा तेजी अपने हनुमान जी का कर रही थीं और वे थे कि उनकी सारी प्रार्थना अनसुनी किए बैठे थे। बीमारी की कमजोरी से तेजी का दिमाग़ चिड़चिड़ा हो गया था। बात-बात पर क्रोध करना उनके लिए मामूली बात हो गई थी। अब तो वे अपने हनुमान जी पर भी क्रोध करने लगीं। पूजा घर, छोटा-सा मंदिर उनके कमरे के कोने में ही था। एक दिन अपनी बीमारी से निराश, अपने इष्टदेव की उदासीनता से रुष्ट उन्होंने एक अप्रत्याशित काम कर डाला—उन्होंने हनुमान जी की मूर्ति उठाकर पटक दी...

'जीवन-भर तेरी पूजा-आराधना का यही फल है कि आज मैं न जीने में हूँ न मरने में...'

हनुमान जी की टाँग टूट गई थी।

एक अति की प्रतिक्रिया प्रायः दूसरी अति पर फेंक देती है।

जितना उत्कट आक्रोश था, उतना ही उत्कट था अब उसपर पश्चाताप।

और तेजी मूर्ति पर गिरकर फूट-फूटकर रो रही थीं—हाय, मैंने क्या कर डाला! ...और फिर वे बेहोश हो गईं।

मैंने उन्हें उठाकर बिस्तर पर लेटाया। उनका माथा तवे की तरह जल रहा था। मैंने बरफ़ के पानी की पट्टी की। आधे घंटे बाद उन्हें होश आया। उन्होंने

आँखें खोलीं और पूछा, 'मेरे हनुमान जी का क्या हाल है ? किसी ने उनकी मरहम पट्टी की ?...मैंने हनुमान जी की चीख सुनी थी...ओफ़...बहना...तूने मेरी टाँग तोड़ दी...मैं तो तेरा मंगल ही करता रहता हूँ...पर बहुत-सा मंगल अमंगल की राहों से आता है...' कहते-कहते तेजी फिर बेहोश हो गईं। इसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी देर बाद उन्हें होश आता और कुछ देर ऐसे ही बातें कर वे चुप हो जातीं...आँखें मूंद लेतीं।

तीन घंटे बाद वे सामान्य हुईं।

मैंने एरलडाइट से हनुमान जी की टाग जोड़ी और फिर से उन्हें उनकी मूर्ति-पीठिका पर खड़ा कर दिया।

तेजी उठकर मूर्ति के सामने बैठ गईं।

उनकी आँखों से आँसू की धार बराबर निकल रही थी। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुझसे कहा, 'तुम अपने कमरे में जाओ, मैं अब ठीक हूँ...मैंने हनुमान जी की आवाज़ सुन ली...उन्होंने मुझे आश्वस्त कर दिया है...मैं अब बहुत जल्द अच्छी हो जाऊँगी...मैंने उनसे क्षमा माँग ली...वे मुझे क्षमा करेंगे...बच्चन, यह मूर्ति सजीव है...लोग कहते हैं खंडित मूति नहीं पूजनी चाहिए...मैं तो अपनी खंडित मूर्ति ही पूजूंगी...यह मूर्ति है भी कहाँ...हनुमान जी की टाँग की हड्डी जुड़ जाएगी...वे फिर चलेंगे आगे-आगे—मुझे मंगल की राह दिखाते—मंगल-मूर्ति के साथ अमंगल की राहें भी मंगलमयी हैं...तुम अपने कमरे में जाओ...मुझे कुछ देर अकेला रहने दो हनुमान जी के साथ...'

मुझे लगा तेजी को कुछ अद्भुत अनुभव हो रहा है। इस वेला उन्हें अकेला ही रहना चाहिए।

आप इसको चमत्कार ही समझिए, उस दिन से तेजी अच्छी होने लगीं।

'कार्टेहिं पइ कदली फरें'—क्या यह देवताओं के लिए भी ठीक है ?...

तेजी जब कुछ अच्छी भी हुईं तो अपने बिस्तर पर निस्पंद, निश्चेष्ट, निर्निमेष पड़ी रहतीं...

एक शाम मैंने उन्हें कुछ स्वस्थ देखा।

मेरे मन में आया इन्हें अपनी कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनाऊँ। मैंने तेजी से कहा, मुझे अपनी कुछ पंक्तियाँ दूरागत प्रतिध्वनियों के समान सुनाई पड़ रही हैं, तुम उन्हें सुनना चाहोगी। उन्होंने सिर आगे को हिलाया। मैं बोलने लगा—

> है यह पतझड़ की शाम सखे।
> नीलम से पल्लव टूट गए,
> मरकत-से साथी छूट गए,
> अटके फिर भी दो पीत पात जीवन-डाली को थाम सखे !
> है यह पतझड़ की शाम सखे।

ये दो पीत पात कौन हैं ? तेजी ने अपनी उंगली से मेरी छाती छुई, फिर अपनी।

मैं समझ गया, इस समय वे कविता के लिए ग्रहणशील मनःस्थिति में हैं—

वायु बहती शीत निष्ठुर।
थी न सब दिन त्रासदाता
वायु ऐसी, यह बताता,
एक जोड़ा पेड़की का डाल पर बैठा सिकुड़-जुड़।

मैंने पूछा, पेड़की का वह जोड़ा कहाँ है ?
उन्होंने कहा, इस समय ग्रेटर कैलाश में।
मैं आश्वस्त हुआ कविता अंदर उतर रही है। कविता अपनी सार्थकता सिद्ध करती है जब वह समझ ली जाए और अपनी चरितार्थता जब वह भोग ली जाए। मैं सुनाता गया—

कितना अकेला आज मैं
संघर्ष में टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं।
कितना अकेला आज मैं ।

तेजी बोल पड़ीं, 'गनीमत है हम अकेले नहीं हैं।'
मुझे लगा, यह अनुभूति गिरावट और उदासी से ऊपर की है। अकेलेपन की धुंध को चुनौती मिल चुकी थी। अब अँधेरे में दिया जला देना चाहिए।

है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?
कल्पना के हाथ से कमनीय जो मंदिर बना था,
भावना के हाथ ने जिसमें वितानों को तना था,
स्वप्न ने अपने करों से था जिसे रुचि से संवारा,
स्वर्ग के दुष्प्राप्य रंगों से, रसों से जो सना था,
ढह गया वह तो जुटाकर ईंट, पत्थर, कंकड़ों को
एक अपनी शांति की कुटिया बनाना कब मना है ?
है अँधेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?

तेजी ने कहा, 'खैरियत है कि हमें ईंट-पत्थर, कंकड़ बटोरते नहीं भटकना पड़ेगा; हमें ईंट-पत्थरों की बनी-बनाई कुटिया मिल गई है।'
'तो फिर चलो, उसमें बैठकर हम अपनी शांति के लिए कुछ करें।'
'अब मुझमें न कुछ करने की ताक़त है, न हौसला है, न इच्छा है।'
और इसपर मैं अपनी कविता की कितनी ही पंक्तियाँ सुनाता चला गया—

मानी, देख न कर नादानी !
मातम का तम छाया माना,
अंतिम सत्य इसे यदि जाना,
तो तूने जीवन की अब तक आधी सुनी कहानी।
मानी, देख न कर नादानी !

सुन, यदि तूने आशा छोड़ी,
तो अपनी परिभाषा छोड़ी,
तुझे मिली थी यह अमरों की केवल एक निशानी।
मानी, देख न कर नादानी!
ध्वंसों में यदि सिर न उठाया,
सिरजन का यदि गीत न गाया,
स्वर्गलोक की आशाओं पर फिर जायेगा पानी।
मानी, देख न कर नादानी!

× × ×

प्रलय का सब समाँ बाँधे
प्रलय की रात है छाई,
विनाशक शक्तियों की इस
तिमिर के बीच बन आई,
मगर निर्माण में आशा
दृढ़ाए कौन बैठा है?
अँधेरी रात में दीपक
जलाए कौन बैठा है

× × ×

नीड़ का निर्माण फिर-फिर,
नेह का आह्वान फिर-फिर।

× × ×

सोच न कर सूखे नंदन का
देता जा बगिया में पानी।

× × ×

अतीत याद है तुझे,
कठिन विषाद है तुझे,
मगर भविष्य से रुका
न अंखमुदौल खेलना
अजेय तू अभी बना!

× × ×

तू तिमिर में धँस चुका है,
तू तिमिर में बस चुका है,
इसलिए तेरे नयन को
ज्योति का जादू समझने का मिला अधिकार

× × ×

दुनिया गई जलाई तेरी,
दुनिया गई मिटाई तेरी,

सोने का संसार जहाँ था,
वहाँ लगी मिट्टी की ढेरी;
क्योंकि हृदय के अंदर तेरे
थी वह शक्ति कि जिसके द्वारा
महानाश की छाती पर तू कर सकता है नव निर्माण !

और अंत में मैंने टेनिसन की 'युलिसीज़' से वे पक्तियाँ सुनाईं जो मुझे बहुत प्रिय थीं—

...You and I are old,
Old age hath yet his honour and his toil;
Death closes all : but something ere the end,
Some work of noble note, may yet be done...
...and tho'
We are not now that strength which in old days
Moved earth and heaven; that which we are, we are;
One equal temper of heroic hearts
Made weak by time and fate, but strong in will
To strive, to seek, to find and not to yield.

मैंने इन पंक्तियों का हिंदी अनुवाद किया है, आप सुनना चाहेंगे ?

...हम-तुम दोनों वृद्ध हो गए;
वृद्धावस्था की भी अपनी गरिमा होती,
अपनी ही श्रम-शक्ति; मृत्यु में सब लय होता :
किंतु अंत के पूर्व किया कुछ तो जा सकता,
जिसे नगण्य न समझा जाए...
माना, हम में
अब पहले का-सा बल-बूता नहीं रह गया
जिससे हमने गए ज़माने ज़मीं-आसमाँ हिला दिया था,
फिर भी हम जो हैं सो हैं ही, अपने सीने
में सम दम-खम रखने वाले, गो कि समय ने
और भाग्य ने हमको जर्जर कर डाला है,
लेकिन हममें इच्छा-बल की कमी नहीं है—
हम दृढ़-व्रत संघर्ष करेंगे,
सतत यत्न-संलग्न रहेंगे,
लक्ष्य प्राप्त कर ही ठहरेंगे,
और कभी हम हार नहीं स्वीकार करेंगे ।

कविता पढ़ने को आप सफ़े-पर-सफ़े पढ़ जाइए, पर जब उसे पंक्ति-पंक्ति जिया जाए, भोगा जाए, उनमें व्यक्त अनुभूतियों में होकर गुज़रा जाए, तब कविता बहुत भारी पड़ती है । दिमाग़ की नसें फटने लगती हैं ।

मैंने जो पंक्तियाँ तेजी को सुनाई थीं बड़ी ताक़त, हिम्मत और लगन की

माँग करती थीं—कल्पना में भी उन्हें जीने के लिए; और तेजी शरीर और मन से बहुत दुर्बल-कातर थीं। कमज़ोर मरीज़ को ज़्यादा ताक़त की दवा नहीं देनी चाहिए। शायद मैंने दे दी थी। कुछ ऐन्टीडोट—प्रतिकारक दवा—देनी चाहिए—कुछ हल्की-फुल्की बात करके। बोला, 'तुम कहती हो तुम में ताक़त नहीं, हौसला नहीं, कुछ करने की इच्छा नहीं तो तुम्हारा लँगड़ा भाई किस दिन काम आएगा ?'

'मेरा लँगड़ा भाई !'

'हाँ, वही लँगड़े हनुमान।...तुमने कहा था न कि जब तुमने उन्हें उठाकर दे मारा था, तब उन्होंने हाय-पुकार की थी, बहना तूने मेरी टाँग तोड़ दी !... हनुमान के कोई बहन नहीं थी, उन्होंने तुममें अपनी बहन पा ली...तुम्हारे कोई भाई नहीं था, तुमने हनुमान में अपना भाई पा लिया। मगर भाई भी पाया तो उसे लँगड़ा करके...'

'तुम हनुमान जी को लँगड़ा कहते हो !...'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन जासु कृपा सो दयाल'...देवता से दिल्लगी अच्छी नहीं।'

'दिल्लगी का तो मेरा-उनका रिश्ता है।'

'हनुमान जी से ?'

'हाँ, वे तुम्हारे भाई हुए तो मेरे साले हुए, और साले-बहनोई में मज़ाक तो चलता ही है।'

'देवताओं के बारे में ऐसे हलकेपन से बात नहीं करते।'

'मैं गंभीरतापूर्वक उनको अपना साला मानता हूँ। साले का महत्त्व क्या है मेरे मन में, जानती हो—'सारी खुदाई एक तरफ़ जोरू का भाई एक तरफ़'— मैं सारी खुदाई उनमें देखता हूँ और तुम कहती हो मैं उनसे मज़ाक करता हूँ...'

'मज़ाक की एक हद होती है।'

'तो यह हद मैंने नहीं छुई, मुझसे पहले कबीर छू गए हैं और कबीर तो संत हैं न ?...क्या कहा है कबीर ने ?

> मैं बहनोई
> राम मोरा सारा !'

'भूल गए राधा बाबा ने जो इसका अर्थ बताया था; कबीर कहते हैं, मैं बहने-वाला हूँ, राम मेरे 'सारा'—'सहारा' हैं।'

'कविता का एक ही अर्थ थोड़ा होता है। अर्थ संघानां। हो सकता है कबीर की बीवी लोई भी राम की उपासना भाई के रूप में करती हो। 'ये यथामां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। जो भगवान को भाई मानता है, भगवान उसको बहन मानते हैं; जो भगवान को साला मानता है, भगवान उसको बहनोई मानते हैं।'

'कब तुम श्रद्धा से बोलते हो, कब मज़ाक में, मैं तो समझ नहीं पाती।'

'यह तुमसे किसने कहा कि श्रद्धा के साथ मज़ाक नहीं चल सकता ? गोपियाँ भगवान कृष्ण के प्रति कितनी श्रद्धा रखती थीं और उनकी कितनी हँसी उड़ाती थीं, उनपर कितना व्यंग्य करती थीं। तुम समझती हो भगवान इससे नाराज़ होते थे, भीतर-भीतर खुश होते थे। भगवान तो अपने मुंड मुड़ाए, शीश झुकाए,

मुंह लटकाए भक्तों से ऊब उठे होंगे। जानती हो, एक तरह के संन्यासी अपने को 'उदासी' कहते हैं, जाओ, भाई, उदास-उदास, भारी-भारी भगवान के सामने। मुझे भगवान के पास जाना हो तो मैं तो हलका-हलका, हँसता-हँसता जाऊँ, प्रार्थना-व्रार्थना मुझे उनसे नहीं करनी, उन्हें जो देना है उन्होंने दे रखा है, मांगने से कुछ देते भी नहीं—मैं तो उनसे कुछ हँसी-ठिठोली करूँ, कुछ मज़ाक। उन्होंने हमारे साथ कम मज़ाक कर रखा है, यह दुनिया उनका किया अच्छा-ख़ासा मज़ाक है। हिंदुओं ने सम्मानजनक नाम 'लीला' दे रखा है इसे।'

'धन्य है तुम्हारी सूझ।'

'अब तुम धन्य समझो चाहे जघन्य। यह सब तो मैंने तुम्हारा जी हलका करने के लिए कह दिया। हनुमान जी में मुझे तुमसे कम श्रद्धा नहीं। चलो, अब लंगड़दीन, साढ़े तीन के सामने बैठकर अपना इच्छा-बल, अपना साहस, अपनी शक्ति जगाएँ कुछ सार्थक करने के लिए...'

'फिर तुमने हनुमान जी को लंगड़दीन-साढ़े तीन कहा—'

'लंगड़ा तो तुमने उन्हें किया है, मैंने तो उनकी मरहमपट्टी की। पर यह अच्छा है कि तुम उनके लंगड़ेपन को न भूलो। उनके लंगड़ेपन की घड़ी तुम्हारी इष्टसिद्धि की वेला थी। हनुमान जी उस दिन तुमसे बोले थे, तुम्हें आश्वस्त किया था—या तुम्हें इसका विश्वास हुआ था—विश्वासोफलदायकः। 'साढ़े तीन' मैं किसी मतलब से कहता हूँ। भगवान जब मुरली लेकर खड़े होते हैं तो उनकी मुद्रा त्रिभंगी कहलाती है यानी तीन जगह से मुड़ी। हनुमान तो उनके सेवक हुए, सेवक को स्वामी से बड़ा होना ही चाहिए।

स्वामी से सेवक बड़ा चारौ जुग परमान
सेतु बाँध रघुवर गए, फाँद गए हनुमान।

और तुलसीदास जी तो कह गए हैं—'राम ते अधिक राम कर दासा'। भगवान तीन जगह से मुड़कर खड़े होते हैं तो हनुमान को उनसे कुछ ज़्यादा ही मुड़ा दिखना चाहिए। देखती नहीं हो, वे अपना एक पाँव मोड़कर टीले पर रखे दिखाई देते हैं—यानी वे साढ़े तीन मोड़ की मुद्रा में खड़े होते हैं—भगवान से आधे ज़्यादा।'यह एक तरह से हनुमान का भगवान की त्रिभंगी मुद्रा पर विनोदी-व्यंग्य है—तुम तीन तो हम साढ़े तीन! हनुमान अपने भगवान से कम मज़ाक नहीं करते।'

एन्टीडोट कारगर साबित हुई।

ताक़त की दवा ने यथोचित लाभ पहुँचाया।

तेजी फिर नीड़ के निर्माण में लगीं और मुझे भी लगाया।

निर्माण किसी तरह का हो सुखकर होता है; सुखकर न भी हो तो अपने में लीन तो कर ही लेता है। और यह भी हमारे लिए राहत थी कि हमारे सामने कुछ करने को था, एक गृहस्थी, फिर से सुचारु रूप से खड़ी करनी थी।

फर्नीचर जो हम ंबई से लाए थे वह मेरी स्टडी के लिए पर्याप्त था—तीन आलमारियाँ, मेज़-कुर्सी। तेजी ने सबसे बड़ा कमरा मेरी स्टडी के लिए दिया, उसके साथवाला छोटा कमरा मेरे बेड रूम के लिए। सबसे पहले उन्होंने किताबों

की पेटियाँ खुलवाईं और किताबें आलमारियों में लगवा दीं, लिखने-पढ़ने का सामान मेज़ पर लगवा दिया, दरवाज़े, खिड़कियों पर सुरुचिपूर्ण पर्दे लगवा दिए और मुझसे बोलीं, 'तुम अब अपनी कुर्सी पर बैठो, कुछ पढ़ो, कुछ लिखो, कुछ रचो तो घर में सृजन का एक वातावरण बने; उसमें मैं इस नई गिरिस्ती को सजा-संवार लूंगी।'

तेजी जब से मेरे जीवन में आईं, बच्चों के बाद, उन्होंने सबसे पहला ध्यान मेरी सृजन-सुविधा की ओर दिया है। जिस नए मकान में गईं, पहले यह देखा कि मेरी स्टडी कहाँ बनेगी। वहाँ के लिए जिस चीज़ की भी ज़रूरत हो वह सबसे पहले पूरी की गई। 'सोपान' में भी आकर उन्होंने मेरे लिए एक छोटी स्टडी की व्यवस्था मेरे नीचे के बेडरूम में की और एक बड़ी स्टडी ऊपर बनवाई। यह संस्मरण लिखना मैंने नीचे की छोटी स्टडी में शुरू किया था, अब उन्होंने मुझे ऊपर भेज दिया है, जहाँ घर-गिरिस्ती के दिनानुदिन झगड़े-झंझटों से मेरे काम में कोई व्याघात न पहुँचे। उनके सहयोग के बिना मेरी यह स्मृति यात्रा शायद ही इतनी सहज शांति से की जा सकती।

मुझे याद नहीं कि ग्रेटर कैलाश के मकान में रहते हुए मैंने कुछ विशेष मौलिक लिखा—सिवा कुछ शेरों के। शेरों की संख्या भी शायद अधिक न होगी—यही पचीस-तीस। उन्हें मैंने कभी प्रकाशित नहीं किया; रचनावली में भी नहीं; उन दिनों जो मित्रों को पत्र लिखे उनमें एकाध शेर लिख दिया करता था। कुछ पत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनमें ऐसे शेर देखे जा सकते हैं। उनको विधिवत मैंने कहीं सँजोकर रखा भी नहीं, पर मेरे कागद-पत्रों की फाइलों में कहीं पड़े हों तो पड़े हों। अगर सुविधा से मिल गए तो 'परिशिष्ट' के रूप में इस संस्मरण के अंत में देना चाहूँगा। इस विधा के बीज भी मुझमें थे, पर मैंने उसे विकसित नहीं किया। हिंदी के मिज़ाज को ग़ज़लों में ढालने की संभावनाएँ मैं कम ही देखता हूँ। अभी तक तो ग़ज़ल में सफल होनेवाले उर्दू के मिज़ाज में खिंच जाते हैं। पर हिंदी का कवि उर्दू में ग़ज़ल लिखे, इसकी संभावना तो है ही—भारतेंदु इसके पहले उदाहरण हैं।

हम लोग ग्रेटर कैलाश में जून के महीने में आए थे, जब दिल्ली में गर्मी अपने चरम बिंदु पर होती है। तेजी जिस हालत में बंबई से आई थीं, उसमें तो यही लगता था कि अगर वे अच्छी भी हो गईं तो महीनों उन्हें आराम की ज़रूरत होगी, पर एक बार वे अच्छी हुईं तो फिर उन्होंने आराम न जाना। न उन्होंने धूप देखी, न छाया, न बरसात, न रात न दिन। वे घर को ठीक करने में लग गईं—घर में खिड़की-दरवाज़ों पर परदे लगे, बेड-रूम में बेड, ड्राइंग रूम में सोफा सेट, कुर्सियाँ, नीची टेबिलें जमा दी गईं; खाने के कमरे में डाइनिंग टेबिल-कुर्सियाँ आ गईं; किचन के लिए ज़रूरी सामान भी एक-एक करके ले लिए गए। और एक तरह से घर जीने-रहने की सामान्य सुविधाओं से संपन्न हो गया।

अकबर का एक व्यंग्यात्मक शेर है—

'ग़म है लीडर को पर आराम के साथ'

हम अपने लिए कह सकते थे—

'आराम है लीडर को पर ग़म के साथ'

शारीरिक आराम की चीज़ें तो हमारे पास थीं, पर अपने परिवार से दूर होने का ग़म तो हमारे दिलों में था ही।

घूमने के लिए मैं सुबह बहुत तड़के उठता—सूर्योदय से कम से कम एक घंटा पहले। ग्रेटर कैलाश से निकल कुतुब की ओर जानेवाली सड़क पकड़ लेता; कभी-कभी तो कुतुब तक जाता, जाने-आने में तीन घंटे लगते। तेजी चिंतित भी होतीं; कहाँ निकल गए। कभी लौटता तो उन्हें फाटक पर टहलती पाता—झिड़की खाने को मिलती। घर पर भी बैठा-बैठा क्या करता। शाम को घूमने के लिए मंदिर की ओर जाता। ग्रेटर कैलाश में पहाड़ी टीले पर एक मंदिर है जिसे शायद पश्चिमी पाकिस्तान से आए पंजाबी संपन्न शरणार्थियों ने बनवाया है जो इधर काफी संख्या में बसे हैं। सीढ़ियों के पास से एक चढ़ाई का रास्ता है जो मंदिर के चारों ओर जाकर सीढ़ियों पर लौट आता है; शायद इस दृष्टि से बना है कि अगर कोई मंदिर की परिक्रमा करना चाहे तो सीढ़ियों की तरफ़ से जा, देव दर्शन कर, मंदिर को दाहिने करता ढलान रास्ते से उतर आए। मैं मंदिर की तीन-चार परिक्रमाएँ करता, पर उलटी। यानी चढ़ान की तरफ़ से जाता और सीढ़ियों की तरफ़ से आता। परिक्रमा करने का लक्ष्य भी नहीं था, लोगों को क्यों धोखा देता; कुछ परिक्रमार्थी भी रास्ते पर मिलते। यहाँ तो 'जहं डोलौं तहं करौं परिक्रमा' की टेक नहीं तो परिक्रमा व्यर्थ। पेट-पूजा का समय होता तो घर लौटता—'खाउं-पिअउं सोई पूजा'। अपनी पूजा इतनी ही।

बंबई से अपने साथ मैं एक टेपरेकार्डर लाया था। दिन में जब मेरा मूड आता तो मैं अपनी स्टडी के सब दरवाज़े-खिड़कियाँ बंद कर लेता और कुछ अपनी कविताएँ रेकार्ड करता। 67 वर्ष की अवस्था में आकर कविताएँ सुनाना मेरे लिए असंभव हो गया था, पर भावनापूर्ण ढंग से पढ़ने के लिए अभी मेरी आवाज़ बची थी। 90-90 मिनटों के सात-आठ कैसेटों में मैंने अपनी कुछ प्रिय कविताएँ भरीं। ग्रेटर कैलाश निवास की यही एक स्थायी स्मृति मेरे पास है। कभी-कभी मैं इन कैसेटों को बजाता हूँ और सोचता हूँ कि तीन-कम सत्तर पर भी मेरी आवाज़ बुरी नहीं थी। अब तो अपनी कविताओं को पढ़कर सुनाने में भी मेरी सांस फूल उठती है।

अगस्त में तेजी का जन्मदिन पड़ा। मनाने का कोई उत्साह उनमें न था, पर जया श्वेता और उसकी आया को लेकर आ गईं, अजिताभ-रमू के संदेश के साथ। श्वेता को देखकर तेजी दो-तीन दिन बहुत खुश रहीं।

अक्टूबर में अमिताभ की फ़िल्म 'कभी-कभी' की शूटिंग कश्मीर में होने वाली थी। उनकी इच्छा थी कि शूटिंग के दौरान पूरा बच्चन-परिवार कश्मीर में साथ रहे। बच्ची श्वेता के साथ जया आने ही वाली थी, उन्होंने अजिताभ और रमोला को भी आने के लिए तैयार किया। भीषण बीमारी, परिवार से दूर होने के मानसिक दंश, और नए घर को व्यवस्थित करने के श्रम-संघर्ष के बाद तेजी को भी कुछ परिवर्तन की आवश्यकता थी। फिर अक्टूबर में ही अमिताभ

का जन्मदिन पड़नेवाला था और सबसे बड़ा आकर्षण था छह महीने की हो गई बच्ची श्वेता को देखने-खेलाने का। तेजी और मैं दोनों ही जाने को तैयार हो गए। घर हमने सत्येन्द्र और उषा के ऊपर छोड़ दिया।

कश्मीर में हम लोग ओबेराय पैलेस होटल में ठहरे। कश्मीर हम लोगों के लिए नई जगह नहीं थी, हम कई बार वहाँ हो आए थे। पर इस भव्य होटल में पहली बार ठहर रहे थे। वस्तुतः होटल के लिए यह इमारत बनाई ही नहीं गई थी। यह कश्मीर के भूतपूर्व महाराजा हरी सिंह का राजभवन था जिसे ओबेराय-संस्थान ने किराए पर ले होटल में परिवर्तित कर लिया था। प्रसंगवश बता दूँ कि जिस कमरे में फ़िल्म के प्रोड्यूसर-डायरेक्टर ठहरे थे वह कभी महाराजा का निजी कक्ष हुआ करता था, और जिस कक्ष में कभी भारत के वाइसराय महाराजा के मेहमान बनने पर ठहरते थे उसमें अमिताभ को ठहराया गया था। पिछली मरतबा जब वाइसराय महोदय वहाँ आकर ठहरे होंगे तब उन्होंने शायद ही इसकी कल्पना की होगी कि इसी कमरे में आज से पच्चीस वर्ष बाद मध्यवित्त परिवार में जन्मा एक 'छोरा गंगा किनारेवाला' आकर टांग पसार कर सोएगा ! समय की गति कितनी अनग्रकथनीय होती है। कालोहि दुरतिक्रमः।

राजभवन की स्थिति बड़ी ही मनोज्ञ है। काफी ऊँचाई पर खड़ी है यह प्रभावकारी इमारत। पृष्ठभूमि में ऊँची पर्वतमाला है। सामने लंबा-चौड़ा, हरा-भरा लान है, उससे कुछ नीची सतह पर इतना ही बड़ा दूसरा लान है जिसके दोनों ओर फ़ौआरे चलते हैं। उसके आगे सड़क है। सड़क के पार चेरी और सेव के बाग़ हैं, बाग़ के आगे गाल्फ़ खेलने का खुला-बड़ा मैदान; उसके आगे आम रास्ता और रास्ते के उस पार नील-जल-भरी डल झील जो ऊपर के लान अथवा कमरों से भी दिखाई देती है, दूर सामने ही झील में एक टापू है जो 'चार चिनार' के नाम से जाना जाता है क्योंकि उसपर चिनार के चार बहुत पुराने घने वृक्ष हैं। दाहनी ओर कुछ नीची पर्वतमालाएँ और बाईं ओर निकट की पर्वत शृंखला पर शंकराचार्य का शिव मंदिर है और कुछ और बाएँ दूर पर हरि पर्वत पर खड़ा किला, जो कहा जाता है मुग़ल बादशाहों ने बनवाया था। सुबह-शाम लान में कुरसी डालकर बैठना और सामने दूर तक फैले इस शांत-स्निग्ध-मनोरम दृश्य को देखना-देखते रहना एक ऐसा अनुभव है जिसे जब भी याद किया जाए सुखकर लगता है।

कश्मीर के इस प्रवास को जब मैं याद करता हूँ तो सबसे पहले मेरे ध्यान में अमिताभ का जन्मदिन आता है।

हमने उसके लिए दिल्ली में ही नटराज की एक पीतल की बड़ी मूर्ति खरीदी थी, पर उसे साथ न ले गए थे; सोचा, इस भारी चीज़ को कहाँ पहले कश्मीर ले जाएँ, फिर उसे दिल्ली वापस लाएँ, अंत में तो उसे बंबई जाना था। कभी अमित आए तो यहीं से साथ ले जाएँगे या कोई इधर से बंबई जाता हुआ तो उसके साथ भेज देंगे।

परिवार में जन्मदिन मनाने का हमारा यह तरीका है कि हम सुबह नाश्ते के पहले किसी कमरे में, जो खास तरह से सजाया जाता है, इकट्ठे होते हैं—उपहारादि लेकर। जिसका जन्मदिन हुआ उसे बधाई-शुभकामनाएँ देते हैं, उपहार देते हैं, फिर साथ बैठकर नाश्ता करते हैं। इस कार्यक्रम में परिवार के

बाहर के किसी व्यक्ति को हम सम्मिलित नहीं करते। उस वर्ष यह कार्यक्रम अमिताभ के 'सूट' में आयोजित किया गया था—पहले का वाइसरीगल सूट, अबका प्रेसीडेंशल सूट।

अमिताभ के उस जन्मदिन के लिए मैंने एक कविता लिखी थी, एक खास कविता। आप सुनना चाहेंगे ?

ख़ास मैं उसे इसलिए कहता हूँ कि वह एक ऐसे छंद में है जिसमें न कोई कविता मैंने पहले लिखी थी, न बाद को। यह 37 मात्राओं के 'दंडक' छंद में है। इसे पढ़ने के लिए ज़रा लम्बी और दमदार साँस चाहिए। शायद 'भानु' के 'छंद प्रभाकर' में मैंने यह पढ़ा था कि इस छंद को 'दंडक' अर्थात् दंडकर्ता इसलिए कहते हैं कि इसको पढ़ने में दंड लगाने का-सा श्वास-श्रम उठाना पड़ता है! तुलसीदास ने हनुमान जी की कतिपय स्तुतियों में इस छंद का उपयोग किया है—उपयुक्त ही लगता है हनुमान-स्तुति के लिए यह बलिष्ठ छंद। कविता नीचे दे रहा हूँ। कभी आप सस्वर पढ़कर आज़माएँ कि यह आपकी कितनी श्वास-शक्ति माँगता है। अंतिम पंक्ति के पहले की पंक्ति में मैंने कुछ स्वतंत्रता भी ली है, मात्रा-धिक्य करके, पर छंद की लय बरकरार रखी है।

'धन्य भाग जगती-तल तासू।
पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥'
—तुलसी

जयति तेजी सुवन,
जयति श्री जयापति,
जयति श्वेता-पिता स्नेह-जेता!

जयति अमिताभ-भ्राता-सहोदर
रमू-ज्येष्ठ
अमिताभ श्रेष्ठाभिनेता!

जयति मेरे शुभाशीष साकार
सौभाग्य-शृंगार
कल्याणकारी।

देश-जग कीर्ति विस्तार
रक्षक तुम्हारे रहें
मंगलालय मुरारी।

जयति शुभ जन्मदिन
बीच कश्मीर डल झील के तीर
गिरिमाल छाये।

पूर्ण परिवार यह वार
सुखसार हर साल
इसी भाँति मिलकर मनाए!

भेंट हम आज
नटराज की मूर्ति करते तुम्हें
गो उसे हम यहाँ पर न लाए।

कामना—जो कला-काल के देवता
वे तुम्हारे रहें
नित्य दाएं।

11-10-74
ओबेराय पैलेस होटल
श्रीनगर।

बहुत दिनों से मैं अपने परिवार के सदस्यों के जन्मदिन पर कोई कविता या कुछ पंक्तियाँ लिख कर देता रहा हूँ। मैं और कोई उपहार नहीं देता। मज़ाक में मैं कहता हूँ कि देखो, मेरा उपहार सबसे कीमती है। कम से कम जो मेरे पास सर्वश्रेष्ठ है वह मैं तुम्हें देता हूँ। और मेरे पास सर्वश्रेष्ठ मेरे शब्द हैं। अगर तेजी, मेरे बेटों, बहुओं और मेरे पोते-पोतियों ने ये पंक्तियाँ सुरक्षित रखी होंगी तो यह काफ़ी बड़ा शब्द-भंडार होगा जिसे परिवार के बाहर नहीं देखा गया। मेरी स्मृति अब भी बुरी नहीं और बहुत कुछ मुझे याद है, पर सब तो नहीं। ऐसी कुछ कविताएँ यथा-प्रसंग मैं आपको सुनाता रहा हूँ। संभव हुआ तो आगे भी सुनाऊँगा। आपकी रुचि तो है न मेरी ऐसी हलकी-फुलकी तुकबन्दियों को सुनने म ?

'कभी-कभी' के कुछ दृश्यों की शूटिंग होटल की इमारत में ही हुई थी। शूटिंग देखने का कौतूहल बहुत लोगों को होता है। शुरू-शुरू में हम लोगों को भी था, और अमिताभ ने कभी-कभी हमें ऐसा अवसर दिया था। शूटिंग के समय अमिताभ को देखना एक विचित्र अनुभव होता था। वह अपनी भूमिका में, अपने दृश्य में, उसकी परिस्थिति में—मानसिक और बाह्य—इतनी गहराई, इतनी तन्मयता से उतर जाता था, डूब जाता था कि हम जो उसके माता-पिता थे, लगता था, उन्हें वह पहचानता ही नहीं। अभी हमसे बात कर रहा है और अभी मेकअप-रूम में होकर दृश्य पर आया है और हम उसके लिए अजनबी हो गए हैं। अभिनय कला के प्रति अमिताभ की यह निष्ठा, यह समर्पण, अपने कार्य-क्षेत्र में उसका यह कौशल, उसकी यह उपलब्धि हमें विभोर कर देती थी। हमारा जी चाहता था हम उसकी प्रशंसा करें, बहुतों से करें, पर अपने पर संयम रखते थे। माता-पिता के मुँह से बेटे की तारीफ़ अच्छी न समझी जाएगी। हमने इन्तज़ार किया कि दूसरे उसकी प्रशंसा करें और हम सुनें; और यह सुख, यह सौभाग्य हमें अमिताभ ने बहुत-बहुत दिया। अभी जो कविता मैंने आपको सुनाई थी उसमें पहले मैंने तुलसीदास की दो पंक्तियाँ उद्धृत की थीं—

'धन्य भाग जगती तल तासू
पितहिं प्रमोद सुयश सुन जासू।'

इसमें कहा गया है कि वह पुत्र धन्यभागी है जिसका सुयश उसके पिता को सुनने को मिले। मैं कहना चाहता था कि वह पिता भी धन्यभागी है जिसको अपने पुत्र

का सुयश सुनने को मिले। एक अर्द्धाली मुंह से निकल गई—

धन्य भाग पितु सो जग जाना।
कान सुना जो पूत बखाना ।।

जब-जब अमिताभ की कला का बखान मैं सुनता हूँ यह अर्द्धाली मेरे दिमाग़ में गूँजती है। तेजी को शिकायत है 'माता के धन्यभागी होने की बात न तुलसीदास ने कही, न तुमने कही।' उनको प्रसन्न करने के लिए मैंने एक दूसरी अर्द्धाली गढ़ दी है।

धन्य भाग जननी जग सोई
जगत-प्रसिद्ध जासु सुत होई।

मैं उनको चिढ़ाने के लिए कहता हूँ कि देखो, दोनों अर्द्धालियों में एक अन्तर है। पिता उदार है; पुत्र का सुयश सुना नहीं कि वह अपने को धन्यभागी समझने लगता है। माता अपने को तब तक धन्यभागी नहीं समझती जब तक कि उसके पुत्र का सुयश जगत-व्यापी न हो जाए। अपने को धन्यभागी समझने की माता की कसौटी बड़ी कड़ी है। पिता कोमल-हृदय होता है, माताएँ कड़े दिल की होती हैं। राम के वियोग में दशरथ मर गए थे, कौशल्या तो नहीं मरीं !

हाँ, एक बात बताना तो भूला ही जा रहा था। 'कभी-कभी' की शूटिंग के दौरान अपने 'राम' ने अपने 'दशरथ-कौशल्या' को एक विवाह के दृश्य में कन्या के माता-पिता के रूप में खड़ा कर दिया। जब फ़िल्म दिखाई गई तो हमारे बहुत से परिचितों-मित्रों ने हमें पहचाना और हमें लिखा, 'अच्छा, तो अब आप फ़िल्मों में भी काम करने लगे हैं।' फ़िल्मों में काम करने लगे तो कोई चोरी तो नहीं करने लगे।

पर कश्मीर की सबसे सुखद स्मृति है बच्ची श्वेता के साथ समय बिताने की, उसके साथ खेलने की, उसे खेलाने की। अक्टूबर में भी कश्मीर में थोड़ी-थोड़ी सर्दी पड़ने लगती है। हम लोग धूप निकलने पर श्वेता को लेकर लान में चले जाते, एक दरी बिछा देते। वह पेट के बल चलने की कोशिश करने लगी थी। हम कोई रंगीन खिलौना उससे थोड़ी दूर पर रख देते और वह आगेखिसकती, उसे जाकर पकड़ती—कभी-कभी बीच में थक जाती तो सिर ज़मीन पर टिका कर रुकी रहती, थोड़ी देर बाद फिर उठती। होटल में सुबह-सुबह एक तरह की चिड़ियाँ आतीं, हमारी तरफ़ उन्हें किलहंटा कहते हैं, वे बहुत 'कायं-कायं' करती हैं। हम श्वेता की दरी के आगे रोटी के टुकड़े या आलू के चिप्स फैला देते और किलहंटों के झुंड के झुंड उन्हें खाने के लिए आते और श्वेता उन्हें देखकर बहुत खुश होती और उन्हें पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती। मैंने श्वेता के लिए एक लोरी बनाई—

चिड़िया ओ चिड़िया, कहाँ है तेरा घर ?—
उड़-उड़ आती है जहाँ से फर फर !
उड़-उड़ जाती है जहाँ को फर-फर !

वन में खड़ा है जो बड़ा-सा तरुवर ।
उसी पे बना है खर-पातों वाला घर ।
उड़-उड़ आती हूँ वहीं से फर-फर ।
उड़-उड़ जाती हूँ वहीं को फर-फर ।

यह पहली लोरी है जो श्वेता के कानों में पड़ी । तब से मैंने बच्चों के लिए कविता लिखना शुरू किया । पर यह पहली शुरुआत न थी । अमित-अजित के छुटपन में भी उनके लिए मैंने कुछ बाल-कविताएँ लिखी थीं, कुछ उन्हें याद कराई थीं, बाद को वे भूल-भाल गए, कविताएँ कहीं खो खा गईं । श्वेता के लिए जो कविताएँ लिखीं उन्हें मैंने एक पुस्तिका में एकत्र किया और 'जन्मदिन की भेंट' के नाम से प्रकाशित कराईं, जिसे मैंने श्वेता के एक जन्मदिन पर उसे भेंट किया । अब तक तीन ऐसी पुस्तकें अपने तीन पोते-पोतियों को समर्पित कर चुका हूँ । तीन को और ऐसी भेंट मुझे देनी है, वर्ना उन्हें शिकायत रहेगी कि दादा जी ने उनकी उपेक्षा की । इधर मैं कुछ और-और कार्यों में इतना व्यस्त हो गया हूँ कि बाल-कविताएँ लिखने को फ़ुरसत ही नहीं मिली । यह स्मृति-यात्रा पूरी हो तो सोचता हूँ कि फिर कुछ बाल कविताएँ लिखकर अपने बाकी तीन पोते-पोतियों को खुश करूँ ।

शूटिंग की अवधि समाप्त हुई तो अमित-अजित सपरिवार बंबई चले गए, हम दोनों दिल्ली चले आए ।

अजिताभ को शुरू से अपने शरीर को सुगठित रखने का शौक था । शायद शुरू जवानी में ही कसरत अधिक करने के कारण लंबान तो उसकी रुक गई थी, पर बदन उसका दृढ़ मांसपेशियों से युक्त था । जैसे-जैसे उनकी पत्नी का प्रसव-काल समीप आने लगा वह कल्पना करने लगा कि वह बेटे का बाप बनने जा रहा है—बेटा जिसका नाम वह भीम रखेगा । भीम के आगमन के विषय में वह इतना सुनिश्चित था कि हम सब परिवार के लोग भीम की प्रतीक्षा करने लगे ।

8 दिसंबर को अजिताभ का फ़ोन आया—रमोला के बिटिया हुई है; माँ-बेटी सकुशल; आप लोग दूसरे हवाई जहाज़ से आएँ । अजिताभ की आवाज़ दबी-दबी थी, स्वाभाविक था, वह चाह रहा था बेटा और आ गई थी बेटी; पर इन बातों में कोई अपना वश तो होता नहीं, जो आ गया है उसका स्वागत करना चाहिए । मैंने तेजी को आवाज़ देकर कहा, दूसरी पोती मुबारक; भगवान तुम्हारी इच्छा ख़ूब पूरी कर रहे हैं; अमित के लिए तुम बेटी चाह रही थीं, उन्होंने अजित के लिए भी बेटी दे दी । भीतर से कहीं निराश वे भी थीं, घर में एक लड़की के बाद वे दूसरा लड़का चाहती थीं; पर बाहर से उन्होंने प्रसन्नता ही दिखाई, स्त्रियाँ अभिनय करने में पटु होती हैं । दूसरे दिन हम लोग बंबई पहुँच गए । सत्येन्द्र-उषा की वजह से हमें घर उनके भरोसे छोड़ निकल जाना बहुत आसान लगता था ।

बच्ची ब्रीच कैंडी अस्पताल में हुई थी, जहाँ श्वेता भी हुई थी । ज़च्चा-बच्चा सकुशल थे । नए बच्चे को देखकर पहले-पहले अक्सर लोग यह सवाल उठाते हैं, किस पर गया है, या गई है । किसी ने कहा अजिताभ पर, किसी ने कहा रमोला पर । मैंने बच्ची को ज़रा ग़ौर से देखकर कहा, 'न यह रमोला पर गई

है, न अजिताभ पर, यह साफ़ अपनी दादी पर गई है।' दादी खुश हो गईं ! मैंने कहा, 'अब लड्डू बाँटो।'

पाँच-सात रोज़ बाद हम ज़च्चा-बच्चा को घर लाए। मैं ही बच्ची को गोद में रखकर लाया। '47 में उसके बाप को लाया था ऐसे ही, '74 में उसे ला रहा हूँ—सन् की संख्याओं ने अपना स्थान भर बदल लिया है—और कितने वर्ष बीच में बीत गए हैं !

दो-तीन दिन बाद उसका नामकरण संस्कार हुआ। सत्यनारायण के साक्ष्य में मैंने बच्ची को नीलाम्बरा नाम दिया, जिसे अब संक्षिप्त करके 'नीलिमा' कर लिया गया है। श्वेता जब कुछ बड़ी हुई तो उसने अपनी छोटी बहन के नाम को और भी छोटा किया यानी 'निम्मो'; और अब यही नीलिमा का पुकारने का नाम हो गया है। मैंने अपनी बाल-कविताओं का दूसरा संग्रह 'नीली चिड़िया' नीलिमा को उसके एक जन्मदिन पर समर्पित किया।

अजिताभ के पुत्र के रूप में 'भीम' के आने की आशा जैसे सबको थी वैसे ही मुझे भी थी—मुझे शायद सबसे ज़्यादा। भीम के न आने से जानते हैं, कौन सबसे ज़्यादा निराश हुआ ? न अजिताभ, न रमोला, न तेजी; न और कोई; सबसे ज़्यादा मैं !

मेरी एसिडिटी बढ़ने लगी और तीन-चार रोज़ में बहुत बढ़ गई। पहले फीकी क़ै होती, फिर कत्थई, फिर काली; मेरे अल्सर से रक्तस्राव होने लगा था। डाक्टर ने आकर पूछा—कोई टेन्शन ? जाहिरा तो कोई टेन्शन न था, पर मेरे अवचेतन ने यह तनाव ज़रूर अनुभव किया होगा कि वंश तो आगे चलना था नर-बच्चों से और आ गई हैं बच्चियाँ ! मेरी जैसी अवस्था थी—68वाँ शुरू हो गया था—उसमें शायद मेरा अवचेतन मस्तिष्क सोचता होगा कि पता नहीं अपने जीवन काल में मैं इस वंश के आगे बढ़ने के संकेत भी पाऊँगा कि नहीं...यह कम तनाव का कारण तो न होगा।

बहरहाल मेरी हालत काफ़ी गंभीर हो गई। खाना-पीना एकदम छूट गया और केवल नस से ग्लूकोज़ दे मुझे ताक़त पहुँचाई जाने लगी। कमज़ोरी में मेरी और कई तकलीफें उभरीं और एक समय डाक्टरों ने मेरे लिए एक छोड़ दो आपरेशनों की आवश्यकता बताई। मैं परिवार भर की चिंता का विषय बन गया। मेरी अवस्था और कमज़ोरी को देखते हुए आपरेशन के लिए घर में कोई तैयार न हुआ। सबसे अधिक मैं नहीं तैयार हुआ। मेरे मन में कहीं उठा कि अगर यह मानसिक बीमारी है तो उसे मन से ही अनुशासित करना चाहिए। पता नहीं भीतर-ही-भीतर मन ने कैसे अपने आप से ही तर्क-वितर्क किया और मेरी हालत सुधरने लगी। मैं दो महीने बाद दिल्ली लौटा।

बंबई की इस यात्रा में परिवार की यह सलाह हुई कि हम दोनों चाहे रहें दिल्ली में ही, पर होली-दिवाली, परिवार के सदस्यों के जन्मदिन सब मिलकर मनाएँ एक जगह एकत्र होकर—कभी हम लोग बंबई जाकर, कभी अमिताभ-अजिताभ सपरिवार दिल्ली आकर। व्यावहारिक रूप में यही हुआ कि हम दोनों का बंबई जाना ही अधिक सुविधाजनक समझा गया, हालांकि एकाध बार बेटे भी बीवी-बच्चों के साथ दिल्ली आए।

फ़रवरी में हम बंबई से आए थे कि मार्च में हम फिर बंबई गए श्वेता की

पहली वर्षगाँठ मनाने के लिए।

अप्रैल बीता नहीं कि मई में फिर पूरे परिवार के कश्मीर जाने का कार्यक्रम बन गया। अमिताभ को 'ग्रेट गेम्बलर' की शूटिंग के सिलसिले में योरोप जाना था, पर उन्होंने शेष परिवार का गर्मियों में कश्मीर में रहने का प्रबंध करा दिया था। अजिताभ हमारे साथ श्रीनगर आए और हमें ओबेराय पैलेस होटल में व्यवस्थित कर एक सप्ताह बाद वापस चले गए। उनको अपने कारखाने के संबंध में बंबई में उपस्थित रहना ज़रूरी था। मुझपर बड़ी जवाबदेही आ गई थी। सात देवियाँ थीं—जया, श्वेता, उसकी आया; रमू, नीलिमा, उसकी आया और तेजी—जिनकी देखरेख का भार था मुझ एकमात्र वृद्ध देवता पर। खैर, कुशल से समय बीत गया। तेजी के और मेरे मनोरंजन की खास चीज़ थी पंद्रह महीने की श्वेता और पाँच महीने की नीलिमा। बीच-बीच में अमिताभ के योरोप से और अजिताभ के बंबई से फ़ोन आते रहे। और हम परस्पर कुशल-समाचार देते-लेते रहते। छोटी-छोटी बच्चियों के साथ श्रीनगर से दूर जाना तो संभव न था, पर कभी-कभी हम लोगों ने शालीमार, निशात, चश्माशाही और ढाची गाँव की सैर की—अक्सर सुबह या शाम शिकारों पर डल झील पर घूमे।

अभी हम कश्मीर में ही थे कि पत्रों में ऐसा समाचार आया जिसने सारे देश को झकझोर दिया और हम श्रीमती गांधी और उनके परिवार के साथ अपने निजी और नज़दीकी संबंधों के कारण विशेष विचलित हुए। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने यह फैसला दे दिया था कि 1971 में रायबरेली से श्रीमती गांधी का चुनाव अनियमित और अवैध था। उनको बीस दिनों की मोहलत दे दी गई थी कि अगर वे चाहें तो सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकती हैं। मैं कानून की बारीकियाँ नहीं समझता। सवाल यह था कि क्या बीस दिनों तक प्रधानमंत्री के पद पर रहते हुए वे सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकती थीं या हाईकोर्ट के फ़ैसले के बाद उन्हें तुरंत अपने पद से हट जाना था और एक सामान्य नागरिक के समान सुप्रीम कोर्ट से अपील करनी थी। एक पूरक प्रश्न और भी उठता था कि अगर अपने प्रधानमंत्री के पद पर रहते हुए वे सुप्रीम कोर्ट से अपील कर सकती थीं तो क्या वे सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले तक प्रधानमंत्री के पद पर बनी रह सकती थीं। न्यायिक परंपरा के अनुसार शायद श्रीमती गांधी को इलाहाबाद के फ़ैसले के बाद अवि-लम्ब अपने पद से हट जाना था और एक सामान्य नागरिक के समान सुप्रीम कोर्ट से अपील करनी थी। संसद में बहुमत वाली कांग्रेस पार्टी को अधिकार था कि वह श्रीमती गांधी के स्थान पर दूसरा नेता चुन ले। उस समय पार्टी के जो दो सदस्य श्री चह्वाण और श्री जगजीवनराम पार्टी के नेता के रूप में चुने जा सकते थे, उन्होंने नेतृत्व सँभालने में अपना-अपना संकोच श्रीमती गांधी के सामने प्रकट कर दिया था। वे अपनी पार्टी के सामने उपस्थित इन न्यायिक और राज-नैतिक गुत्थियों को सुलझाने में लगी ही थीं कि विरोधी दलों ने न्यायिक परंपरा का आश्रय लेकर श्रीमती गांधी को अपने पद से तुरन्त हटने के लिए जन-आंदोलन छेड़ दिया। शासक दल के विरुद्ध एक प्रकार का जन-आंदोलन कई रूपों में पहले से चल रहा था—श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में कांग्रेस (ओ) के जनता फ्रंट का, जिसमें वे कुछ सफल भी हुए थे, गुजरात विधान परिषद के चुनाव में; श्री

जयप्रकाश के नेतृत्व मे जनता 'सरकार' की संपूर्ण क्रांति का, जिसका कार्यक्रम अभी केवल नकारात्मक और ध्वंसात्मक था; और श्री अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में जनसंघ का, जिसे बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रिवी पर्स आदि के उन्मूलन से असंतुष्ट और पूंजीपतियों के हितों की पक्षधर स्वतंत्र पार्टी और महारानी गायत्री देवी का सहयोग प्राप्त था। अब इनमें इलाहाबाद हाई कोर्ट के मुक़दमे के विजेता श्री राजनारायण अपनी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को लाकर मिल गए, और सबका एकमात्र ध्येय हो गया श्रीमती गांधी को हटाना और इस प्रकार कांग्रेस पार्टी को उखाड़ फेंकना।

यह थी देश की स्थिति जब हम लोग कश्मीर से लौटे। हम दोनों दिल्ली में रुक गए; शेष परिवार बंबई चला गया।

इलाहाबाद हाई कोर्ट का फ़ैसला हम लोगों ने 13 जून को अखबारों में पढ़ा था।

19 या 20 को हम लोग कश्मीर से लौटे होंगे।

26 तारीख को रेडियो से हमें पता चला कि राष्ट्रपति ने पूरे देश में आंतरिक आपात्कालीन स्थिति की घोषणा कर दी थी—उस दिन अखबार नहीं आए थे—रात को ही बिजली काट दी गई थी। रातों रात सब विरोधी नेता गिरफ़्तार कर लिये गए थे। बाह्य आपात्कालीन स्थिति तो बांग्ला देश युद्ध के समय से ही लगी थी, जो किसी कारण हटाई नहीं गई थी।

अपनी इस स्मृति-यात्रा को मैं अपने और अधिक से अधिक अपने परिवार तक ही सीमित रखना चाहता हूँ और यथासंभव सामयिक राजनीति से अपने को अलग रखना चाहता हूँ। आपात स्थिति की चर्चा मुझे इसलिए करनी पड़ी कि एक सामान्य रूप में मैं उसके साथ संबद्ध हुआ; और अमिताभ पर उससे संबद्ध होने का आरोप लगाया गया। और हम दोनों को ही उसके परिणाम भुगतने पड़े।

शासक दल ने आपात स्थिति को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए जिन प्रचार-साधनों का उपयोग किया उनमें एक यह था कि उसे अपने इस क़दम में लेखकों और बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त है। एक दिन किसी ने मुझे प्रधान मंत्री निवास से फ़ोन किया, शायद संजय ने, कि क्या मेरा नाम आपात्कालीन स्थिति के समर्थकों में दिया जा सकता है? और अगर मैं सच कहूँ तो केवल गांधी-परिवार से अपनी मैत्री और निकटता के कारण मैंने फ़ोन पर ही हामी भर दी। बाद को कई दिनों तक रेडियो और टेलीविज़न के माध्यम से कई और लेखकों के साथ मेरा नाम भी इमर्जेंसी के समर्थकों में प्रसारित किया गया। जहाँ तक मुझे याद है, उनमें दो प्रमुख नाम थे गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर' के और सरदार जाफ़री के। दो-चार दिनों के बाद मुझसे रेडियो के लिए एक साक्षात्कार लिया गया। बात 9 बरस पुरानी हो चुकी है। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने कहा था कि हमारा देश इतना पुराना है कि इतिहास की शायद ही कोई परिस्थिति हो जिससे यह न गुज़र चुका हो। और हर परिस्थिति से निपटने का इस देश ने कोई न कोई उपाय निकाला है। पुरा काल से इस देश में धर्म का पालन—और 'धर्म' हिंदू परंपरा में बड़ा व्यापक अर्थ रखता है—निष्ठा और आग्रह के साथ किया गया है, फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ आई हैं जिनमें धर्म को छोड़ना

पड़ा है और आपद्धर्म अपनाना पड़ा है। ध्यान देने की बात है कि आपात्कालिक व्यवहार को भी 'धर्म' ही माना गया है। मैंने इमर्जेंसी को आपद्धर्म के रूप में स्वीकार किया है और मैं समझता हूँ कि वर्तमान असामान्य परिस्थितियों में इसी को मानने में देश की भलाई है। बाद को विनोबा भावे ने इसे अधिक विधायक रूप देकर 'अनुशासन पर्व' कहा। जवाहरलाल नेहरू ने कभी कहा था, '...Among the definitions of democracy, the one which appealed to me most was that it was a system of self-discipline...the more the self-discipline the less is the imposed discipline.'
(प्रजातंत्र की परिभाषाओं में जो मुझे सबसे ज्यादा पसंद है वह है कि प्रजातंत्र आत्म-अनुशासन की एक व्यवस्था है; आत्म-अनुशासन जितना अधिक होगा, आरोपित अनुशासन उतना ही कम होगा।)

मेरे कई मित्रों को इमर्जेंसी को मेरा समर्थन देना पसंद नहीं आया। सबके अपने-अपने तर्क थे। बाद को एकाधिक साक्षात्कारों में मुझसे इसपर प्रश्न किये गए और मेरे उत्तर पत्र-पत्रिकाओं में छपे। संक्षेप में मेरा स्टैंड यह था कि मुझे श्रीमती गांधी के नेतृत्व में विश्वास था कि देश की असाधारण परिस्थिति को देखते हुए—और इसका जितना ज्ञान उन्हें था उतना शायद ही और किसी को हो—जो क़दम उन्होंने उठाया है वह देश के हित में है। जहाँ तक इमर्जेंसी का संबंध लेखन पर नियंत्रण से था, मेरा विश्वास था कि सृजनशील लेखन पर इसका कोई असर नहीं पड़ सकता। इतना ही नहीं, मेरा विश्वास यह भी था कि नियंत्रणों के कारण सृजनशील लेखन और अच्छा हो सकेगा। कुशल नाविक विपरीत हवाओं को भी अपने अनुकूल कर सकते हैं। प्रतिभा प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने को अधिक प्रभावकारी, सशक्त और कलापूर्ण रूप में व्यक्त करती है। प्रतिभाहीन अनुकूल परिस्थितियों में भी क्या कर दिखलाते हैं; हाँ, प्रतिकूल परिस्थितियों पर शोर बहुत मचाते हैं। ऐसों के लिए किसी मित्र को एक पत्र में मैंने लिखा था—

हमने यह माना कि अब लिखने की आज़ादी नही,
जब थी आज़ादी तभी क्या तीर मारे आपने ?

वास्तविक प्रतिभा तो कभी-कभी आज़ादी की अतिशयता से घबराती है और चाहती है कि उसपर किसी तरह का नियंत्रण रहे। शायद ऐसी ही घबराहट में वर्ड्सवर्थ ने लिखा था—

'Me this unchartered freedom tires.'
(अनियंत्रित आज़ादी से मैं ऊब गया हूँ।)

जहाँ तक इमर्जेंसी से मेरे अपने लेखन के प्रभावित होने की बात हो सकती थी, सवाल ही नहीं उठता था : क्योंकि उसके बहुत पहले से लेखन से—पद्य-गद्य दोनों से—मैंने एक तरह से विदा ले ली थी। अगर मैं लिखता होता तो संभव है मेरी लेखनी से कुछ ऐसा निकलता जिसमें सामयिक परिस्थितियों की आलोचना होती क्योंकि अपनी आन्तरिक-वैयक्तिक समस्याओं के समाधान के पश्चात काव्य में मेरी दृष्टि बाह्य हो गई थी और मेरी परवर्ती कविताओं में बहुत कुछ ऐसा है

जिसमें मैंने अपने चारों ओर की दुनिया और उसके कारनामों-करतूतों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया कहीं प्रच्छन्न, कहीं संयत और कहीं कुछ खुले रूप में भी अभिव्यक्त की है।

बहरहाल, उस समय, यदा-कदा निजी पत्रों में कुछ जवाब-तलबियों और कतिपय साक्षात्कारों में कुछ सफ़ाइयाँ माँगने के अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार से छुआ-छेड़ा नहीं गया। पर इमर्जेंसी के दौरान सिने-पत्रिकाओं पर जो सेन्सरशिप लगी उसके लिए अमिताभ को ज़िम्मेदार ठहराकर उनके विरुद्ध बहुत कुछ किया गया।

हमारे देश में जैसे-जैसे सिनेमा की लोकप्रियता बढ़ी है, वैसे-वैसे सिने-पत्रिकाओं की भी बाढ़ आई है। इनमें कुछ अंग्रेज़ी के मासिक हैं, कुछ अर्द्ध-मासिक, और कुछ हिंदी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के मासिक अथवा अर्द्धमासिक, यहाँ तक कि साप्ताहिक भी। होना यह चाहिए था कि इन पत्र-पत्रिकाओं में फ़िल्मों की समीक्षाएँ निकलतीं—कला की दृष्टि से अथवा उनके सामाजिक महत्त्व अथवा प्रभावों की दृष्टि से, अभिनेताओं के अभिनय की आलोचना होती, उनकी ख़ूबियां अथवा खराबियां बताई जातीं; अच्छे अभिनेताओं की परस्पर तुलना की जाती, उनके अंतर को स्पष्ट किया जाता और इस प्रकार जनरुचि को प्रशिक्षित-परिष्कृत किया जाता। इसके स्थान पर इन पत्रिकाओं में प्रायः अभिनेता-अभिनेत्रियों के निजी जीवन की झूठी-सच्ची ख़बर छपती हैं, अफ़वाहों पर आधारित, सनसनीखेज बनाकर—जो अभिनेता जितना ही प्रसिद्ध होता है उतना ही वह इन अफ़वाहों और सनसनीखेज़ खबरों का विषय बनाया जाता है। यही अमिताभ के साथ भी हो रहा था। इतने में इमर्जेंसी के अंतर्गत इन फ़िल्मी पत्रिकाओं पर भी सेंसर लग गया कि अभिनेता-अभिनेत्रियों के विषय में इस प्रकार की निराधार खबरें छापना जुर्म समझा जाएगा। सिने-पत्रिकाओं को संदेह हुआ और फिर विश्वास ही हो गया कि हो न हो अमिताभ बच्चन ने ही, गांधी-परिवार से अपने संबंध के कारण—संजय उनके विवाह में आए ही थे—अपने बचाव के लिए सिने-पत्रिकाओं पर यह प्रतिबंध लगवाया है। सिने-पत्रिकाओं ने अमिताभ से बदला लेने के लिए क्या-क्या नहीं किया। उनकी तस्वीरें छापनी बंद कर दीं, उनका नाम भी किसी फ़िल्म के प्रसंग या संदर्भ में न छापा जाता; उनके अभिनय के विषय में अच्छा-बुरा कुछ भी न कहा जाता; यानी पत्रिकाओं ने उनका संपूर्ण बाइकाट कर दिया। सिने-संसार में कुछ प्रचार की भी आवश्यकता होती है। पर प्रचार का एक सीमित महत्त्व है। केवल प्रचार किसी अभिनेता को प्रस्थापित नहीं कर सकता। और विरुद्ध प्रचार या अप्रचार से किसी अभिनेता को अपदस्थ भी नहीं किया जा सकता। अमिताभ का जवाब था, मैं अपना नाम कागज़ पर छपा देखना नहीं चाहता, मैं अपना काम पर्दे पर अंकित दिखाना चाहता हूं। और उसने अपना काम पर्दे पर अंकित करके दिखा दिया। जिन दिनों सारा सिने-प्रेस अमिताभ के विरुद्ध था, उन्हीं दिनों अमिताभ की फ़िल्में एक के बाद दूसरी हिट होती गईं और सिने-पत्रिकाएँ अपना-सा मुँह लेकर रह गईं। मुझे याद है, बहुत बाद को अपने एक साक्षात्कार में अमिताभ ने कहा था कि सिने-प्रेस मुझपर यह आरोप लगाता है कि पत्रिकाओं पर सेंसरशिप मैंने लगवाई है। अगर दिल्ली के शासन-तन्त्र पर मेरा इतना अधिकार है तो मैं बंबई में क्या करता हूँ,

मुझे दिल्ली जाकर हुक़ूमत संभालनी चाहिए। कभी अमिताभ ही अपने और प्रेस के इस संघर्ष के बारे में विस्तार से लिखेगा।

तीन महीने बाद अमिताभ अपनी फिल्म 'दो अनजाने' की शूटिंग कलकत्ता में कर रहे थे। इसी बीच उनका जन्मदिन भी पड़ने को था। फिर उन्होंने सारे परिवार का आमंत्रित किया कि उनके साथ हफ्ता-दस दिन के लिए ओबेराय ग्रैंड होटल में ठहरें। अब अमिताभ की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई थी। शूटिंग के लिए होटल से निकलने के घंटों पहले फाटक पर सैंकड़ों लोग जमा होते और 'गुरू-गुरू' के नारे लगाते। बंगाल में जब किसी को बहुत बड़ा सम्मान दिया जाता है तब उसे लोग 'गुरू' कहकर पुकारते हैं। लोकेशन पर तो हज़ारों की भीड़ होती और कभी-कभी तो भीड़ के कारण शूटिंग बरखास्त करनी पड़ती। उन्हीं दिनों कलकत्ता में दुर्गा पूजा का महोत्सव मनाया जा रहा था। कितनी जगह पर और कितने वैविध्यपूर्ण साज-सिंगार के साथ दुर्गा-स्थापना होती है, कहना असंभव है। दर्शनों के लिए जाने में सड़कों पर कंधे छिलते हैं। अमिताभ के लिए कहीं जाना असंभव था। बर्ड और ब्लैकर्स में छह वर्ष काम करते हुए उन्होंने जो दुर्गा-पूजाएँ देखी होंगी, देख ली होंगी; जब वे आज़ादी से बसों और ट्रामों में सफ़र कर सकते थे और किसी को गुमान भी नहीं होता था कि एक दिन यही चेहरा इतना आकर्षक हो जाएगा कि लोग टिड्डी दल की तरह भागे आएँगे उसकी एक झलक पाने के लिए।

कलकत्ता-प्रवास में अमिताभ जी का एक व्यवहार मुझे बहुत पसंद आया। एक शाम को उन्होंने याद कर-करके बर्ड और ब्लैकर्स के अपने पूर्व सहयोगियों को चाय पर आमंत्रित किया और एक-एक से ऐसे मिले जैसे अब भी उनके बीच ही काम कर रहे हों। वे लोग भी अमिताभ की इस भंगिमा से बहुत प्रसन्न हुए। कई तो अपने बच्चों को साथ लाए जो अमिताभ के फैन हो गए थे और जिनकी आँखें यह विश्वास न कर पाती थीं कि यही व्यक्ति उनके पापा या डैडी के साथ बरसों काम कर चुका है। कभी उनके दफ्तर के पुराने चपरासी आदि भी आते तो वे उनको बुला लेते, खुशी से मिलते; और वे तो अपना भाग्य सराहते विदा लेते। अमिताभ की इस मानवीयता ने उनके कलाकार को कितना उठाया है शायद स्वयं उन्हें भी अभी इसका अंदाज़ा नहीं है।

कलकत्ता से लौटने के बाद मैं प्रायः बंबई में ही रहा। मेरी एसिडिटी की शिकायत पुरानी थी और खान-पान में संयम बरतकर मैं उसे वश में रखता था। अब मुझे दो नए रोग शुरू हुए आर्थराइटिस और स्पोंडुलाइटिस के। चलने में घुटने के नीचे पाँवों में बहुत दर्द होता और उठते-बैठते या लेटा हूँ तो करवट लेते मुझे चक्कर आते और दिमाग़ थोड़ी देर के लिए सुन्न हो जाता। कुछ दिन मेरा इलाज घर पर ही कराया गया। बाद को डाक्टरों की राय पर मुझे जसलोक अस्पताल में दाखिल करा दिया गया। तेजी दिल्ली से बुला ली गईं। वहाँ बड़े विस्तार से तरह-तरह के परीक्षण हुए, बहुत से एक्स-रे वग़ैरह लिए गए, इंजेक्शन आदि लगे; आर्थराइटिस में कुछ लाभ हुआ और स्पोंडुलाइटिस के लिए गले में पट्टा पहनने की तजवीज़ कर दी गई जिससे गर्दन उठी रहे; बड़ी असुविधा होती पट्टा पहनने पर। किसी ने यह भी कहा कि बहुत दिन पट्टा पहनने से आदमी ऐसा आदी हो जाता है कि बिना पट्टा पहने उसे बराबर चक्कर आते हैं। कुछ लाभ हो

गया था, मैंने पट्टा पहनना बंद कर दिया। स्पोंडुलाइटिस जड़ से नहीं गई थी, जब भी ज़्यादा चक्कर आते, मैं दो-चार दिन को पट्टा पहन लेता। अब भी मैं इस रोग से पूर्णतया मुक्त नहीं हूँ, पट्टा रखा है, जब भी तकलीफ बढ़ी मैंने पट्टा लगाया और कुछ आराम हो जाता है, पर मैं आदी उसका नहीं बना।

तीन-चार महीने बीत गए। जनवरी के अंतिम सप्ताह में—ठीक तारीख क्यों न दे दूँ—26 जनवरी के अखबार में मैंने देखा कि गणतंत्र दिवस पर राष्ट्रपति ने जिन लोगों को पद्मभूषण से सम्मानित किया था उनमें मेरा नाम भी था। सरकारी तरीका यह है कि जिन लोगों को उपाधि दी जाने को होती है उनसे पहले पूछ लिया जाता है कि आपका नाम फलाँ उपाधि के लिए प्रस्तावित किया जा रहा है; यदि उपाधि दी गई तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे। उद्देश्य यह है कि उपाधि देने के बाद उसे कोई अस्वीकार न करे; इससे सरकार की तौहीन होती है। जब मैं विदेश मंत्रालय में काम कर रहा था उस समय मुझे 'पद्मश्री' देने का प्रस्ताव किया गया था, पर मैंने लेने से इनकार कर दिया था। जिन्हें मेरा समकक्ष माना जाता है उन्हें पद्मभूषण दिया जा चुका था, मैंने पद्मश्री से अपनी अवमानना समझी। कई वर्षों तक सरकार चुप रही। जब मैं राज्यसभा का सदस्य था, उस समय मुझे 'पद्मभूषण' देने का प्रस्ताव किया गया, पर मैंने माफी चाही। कहीं मेरे मन में था कि राज्यसभा के लिए मनोनीत किया जाना अपने आप में बहुत बड़ा सम्मान है, अब मैं उसके नीचे का सम्मान क्या स्वीकार करूँ। इस बार मुझसे बगैर पूछे यह सम्मान मुझे दिया गया तो मैंने स्वीकार कर लिया और राष्ट्रपति और गृहमंत्री को धन्यवाद के पत्र लिखे, क्योंकि गृह मंत्रालय ही उपाधियों के लिए नामों की सिफारिश राष्ट्रपति से करता है। प्रसन्नता इस सम्मान से मुझे क्या होनी थी, कुछ खुशी हुई तो इसपर कि मेरे कुछ आत्मीयों को संतोष हुआ कि एक बार फिर सरकार ने मेरी क़द्र की, गो मेरे कुछ आलोचक यह कहने से नहीं चूके कि मुझे यह सम्मान इमर्जेंसी-समर्थन के पुरस्कार के रूप में दिया गया।

पर यह खुशी केवल भूमिका थी उस बड़ी खुशी की जो घर में 10 दिन बाद आनेवाली थी। जया के पाँव भारी थे और उसने 5 फ़रवरी यानी वसंत के दिन ब्रीच कैंडी अस्पताल में पुत्र-रत्न को जन्म दिया—बच्चन परिवार की तीसरी पीढ़ी का पहला पुत्र। इसकी खुशी सब को हुई, पर सबसे ज़्यादा शायद मुझे। मेरी पिछली ईमारी-बीमारी की सारी कमजोरी जैसे जादू से दूर हो गई और नव-बाल को गोद में लेकर मैंने मन में एक अभिनव स्फूर्ति का अनुभव किया। मैंने कहा, मुझे अलंकृत करनेवाला, असली पद्मभूषण तो अब आया है—

फुल्ल कमल,
गोद नवल,
मोद नवल,
गेह में विनोद नवल।

बाल नवल,
लाल नवल,
दीपक में ज्वाल नवल।
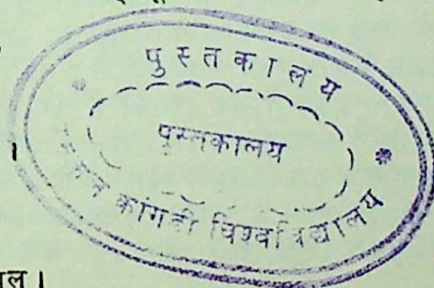
दूध नवल,
पूत नवल,
बंश में विभूति नवल ।

नवल दृश्य,
नवल दृष्टि,
जीवन का नव भविष्य,
जीवन की नवल दृष्टि ।

चौंतीस वर्ष पहले मैंने यह कविता अमिताभ के जन्म पर लिखी थी। अब उसके पुत्र के जन्म पर वही कविता अक्षर-अक्षर प्रासंगिक सिद्ध हो रही थी। ब्रीच कैंडी से घर लाने पर मैंने सत्यनारायण के साक्ष्य में बच्चे का नाम अभिषेक रखा। वसंत पर जन्मने के कारण—दो नाम मुझे और सूझे थे—ऋतुराज और रसराज, पर सब लोगों ने अभिषेक को ही तरजीह दी—'जग अभिराम राम अभिषेका'।

अलंकरण समारोह के संबंध में एक मनोरंजक घटना घटी। समारोह अप्रैल में होने वाला था। मुझसे कुछ अपना जीवन-परिचय भेजने के लिए कहा गया था, वह मैंने भेज दिया था। समारोह देखने के लिए मैं अपने परिवार के केवल दो सदस्यों को साथ ला सकता था। दरबार हाल में स्थान सीमित होने के कारण यह नियंत्रण लगाया जाता है। तेजी आने के लिए उत्सुक थीं, पर जब अमिताभ-अजिताभ दोनों आने के लिए तैयार हुए तो उन्होंने अपनी इच्छा दबा दी। ऐसे अवसरों पर औपचारिकता निभाने का अमिताभ बड़ा ध्यान रखते हैं। मेरे लिए उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं बंद कालर का काला कोट-पेंट पहनकर जाऊं। फिर उन्होंने अपने और अजिताभ के लिए भी वही पोशाक उचित समझी। दर्जी बुलाकर तीनों के लिए काले सूट का आर्डर दे दिया गया और समय से सूट सिलकर आ गए। हमें जिस दिन बंबई से आना था, रमू की तबियत अचानक खराब हो गई, उसको बच्चा होने वाला था, अजिताभ ने बंबई में ही रुकना ठीक समझा। तेजी अब आ सकती थां, पर एक तो उन्होंने कोई तैयारी न की थी, दूसरे रमू के पास इस समय उनका रहना ज़्यादा ज़रूरी था।

समारोह में जाने का समय निकट आने लगा तो हम लोग कपड़े-वपड़े पहनने लगे। मैं तो अपना सूट पहनकर शीशे के सामने खड़ा हुआ। सब कुछ ठीक था। अमिताभ ने अपना सूट पहनना शुरू किया तो वह छोटा पड़ा। आश्चर्यचकित ! बात क्या हुई थी। हमारी पैकिंग जया ने की थी—जया थोड़ी लापरवाह है। सूट सब काले, एक तरह के थे, उसने मेरा सूट तो ठीक रखा था, पर अमिताभ के सूट की जगह पर उसने अजिताभ का सूट रख दिया था। अब क्या किया जाए। अमिताभ के पास दूसरे कपड़े नहीं। वे केवल शर्ट-पेंट में बंबई से आ गए थे। जया पर बहुत बिगड़े, पर बिगड़ने से इस समय क्या हासिल होना था, सोचना यह था कि वे क्या पहन कर समारोह में जाएँ या जाने का इरादा ही छोड़ दें। उन्हें एक बात सूझी, उन्होंने फ़ोन करके राजीव गांधी से उनका एक चूड़ीदार पाजामा, कुर्ता और शाल मंगाई। शायद पहली बार उन्होंने यह पोशाक पहनी। वह भी उन पर खूब फबी, और उसी में वे समारोह में गए। अब तो वे अवसर

यही पोशाक पहनना पसंद करते हैं।

अलंकरण काफ़ी प्रदर्शनपूर्ण होता है। एक दिन पहले उसका रिहर्सल कराया जाता है। अपनी जगह से राष्ट्रपति के सिंहासन तक जाना, पदक-प्रमाणपत्र लेना और लौटना बग़ैर राष्ट्रपति की तरफ़ पीठ किए, पेचीली कसरती प्रक्रिया होती है, और बजुज़ रिहर्सल के कई लोग ग़लतियाँ करते हैं।

अलंकरण समारोह के बाद अशोका हाल में स्वागत-समारोह था। उसमें राजीव भी आए थे, अमिताभ को बार-बार छेड़ते रहे—कह दूं ?—यानी कह दूं कि शाल मेरी है! शाल का किस्सा तो आप जानते हैं न ? नहीं जानते ?

एक सज्जन के लड़के की शादी थी। चाहते थे कि स्वागत-समारोह में दूल्हा कामदानी शाल ओढ़कर बैठ। घर में शाल थी नहीं तो उन्होंने अपने एक धनी वणिक मित्र से शाल मँगनी माँग ली। जब समारोह में सब लोग बैठ गए तो वणिक ने परिचय दिया—ये दूल्हे के बाप, ये दुल्हे मियाँ, मगर शाल जो उन्होंने ओढ़ी है मेरी है। सज्जन बहुत कटे, वणिक से कहा, आप को यह नहीं कहना था कि शाल मेरी है।

सज्जन के दूसरे लड़के की शादी हुई। फिर उन्होंने वणिक मित्र से शाल मँगनी माँगी। इस बार परिचय देते हुए वणिक ने कहा—ये दूल्हे के बाप, ये दुल्हे मियाँ, मगर शाल जो उन्होंने ओढ़ी है मेरी नहीं। फिर सज्जन बहुत शर्मिंदा हुए, वणिक मित्र से कहा, आपको यह भी नहीं कहना था कि शाल मेरी नहीं है।

सज्जन के तीसरे लड़के की शादी हुई। फिर उन्होंने वणिक मित्र से शाल मँगनी माँगी। इस बार परिचय देते हुए वणिक ने कहा—ये दूल्हे के बाप, ये दुल्हे मियाँ, मगर शाल जो उन्होंने ओढ़ी है मुझे नहीं मालूम किसकी है।

बहरहाल चतुर वणिक ने हर बार यह भेद खोल दिया कि दुल्हे की शाल मंगनी की थी। अब आप 'कह दूं' का रहस्य समझ गए होंगे।

अमिताभ के साथ कहीं जाइए तो इसके लिए तैयार होकर कि आप उपेक्षित होंगे। 'पद्मभूषण' तो मिला था मुझे और लोग घेरे हुए थे अमिताभ को; पर यह उपेक्षित होना मुझे सुखकर लग रहा था। क्या मालूम था कि आठ वर्ष बाद अमिताभ स्वयं अलंकृत होकर इसी हाल में आएँगे और तब भी लोग उन्हें घेरेंगे, पर निश्चय राष्ट्रपति द्वारा अलंकृत किए जाने के कारण उतना नहीं, जितना जनता जनार्दन द्वारा स्नेहार्चित, सम्मानित और प्रशंसित होने के कारण।

हमारे दिल्ली से लौटने पर 17 अप्रैल को रमोला ने अपनी दूसरी कन्या को जन्म दिया—भीम फिर हमें जुल दे गया। कन्या को नाम मैंने 'नम्रता' दिया—गर्वीले भीम की प्रतिकूलगुणा उसे मानकर। नम्रता जन्म से ही दुबली-पतली थी—अब भी सब बच्चों में सबसे क्षीणकाय है।

दो वर्ष पहले अमिताभ ने 'मंगल' के निकट एक पुराना बड़ा मकान खरीदा था। 'मंगल' उत्तर-दक्षिण रास्ता नं० 7 पर था और यह रास्ता नं० 10 पर। मुश्किल से वहाँ तक पैदल जाने में पाँच मिनट का समय लगता था। पुराना होकर भी मकान अच्छी-खासी हालत में था, फिर भी अमिताभ का इरादा था उसे अंशतः तोड़-फोड़कर अपनी रुचि और अपनी आवश्यकता के अनुसार बनवाना। मकान में रद्दोबदल कर उसे इच्छित रूपाकार देने का काम एक प्रसिद्ध आर्कीटेक्ट को सौंपा गया। उसने बड़ी नाप-जोख की, कई तरह के नक़्शे खींचे

अमिताभ-अजिताभ की राय से उसमें परिवर्तन किए गए और अंत में उसने एक माडल तैयार किया। छोटा सा लकड़ी का घरौंधा सामने आया तो बहुत अच्छा लगा। मकान दो हिस्सों में होने को था, एक छोटा—एक कमरे, एक बाथरूम का, जिसमें आफ़िस रखने का इरादा था; एक बड़ा, तीन तलों का होने को था; पहले तले पर बाथरूम के साथ एक कमरा, बाथरूम के साथ ड्राइंग-डाइनिंग रूम और किचेन और एक छोटा खुला बरामदा बनने को था; दूसरे तले पर बंद बारजे, बाथरूम के साथ एक छोटा कमरा; खुले लंबे बारजे, बाथरूम के साथ एक दूसरा बड़ा कमरा; और बाथरूम, ड्रेसिंग रूम के साथ एक तीसरा और बड़ा कमरा; तीसरे तले पर बाथरूम के साथ एक काफ़ी बड़ा कमरा बनने को था, गो थोड़ा नीचा—इसे अमिताभ अपना म्यूज़िक रूम बनाना चाहते थे। मकान के दोनों हिस्सों को जोड़नेवाली एक लंबी-चौड़ी छत पड़नेवाली थी, जिसका आधा ढलान एक ओर को होने को था और आधा दूसरी ओर को। छोटे हिस्से की ओर एक छोटा लान और बड़े हिस्से की ओर एक बड़ा लान रखा जाने को था, बड़े लान की तरफ़ का एक भाग पक्का रखा जाने को था, लान की सतह से थोड़ा उठा हुआ। मकान के दोनों भागों के बीच फाटक से मोटर-मार्ग पीछे बने गराज तक जाने को था। मकान के तीन तरफ़ काफ़ी ऊँची पत्थर की बनी चहारदीवारी खड़ी की जाने को थी; एक ओर एक गुजराती सज्जन का मकान था। जब मकान बनकर तैयार हुआ तब अपनी सीमेंट-फिनिश दीवालों के साथ जुहू भर में अपनी तरह का एकमात्र मकान था—मौलिक, सुरुचिपूर्ण, सुन्दर।

अमिताभ ने मुझसे मकान का नामकरण करने को कहा तो मुझे तेजी का एक लेख याद आया जो उन्होंने पंत जी की साठवीं वर्षगांठ पर 1960 में लिखा था और जिसका अंत उन्होंने इस तरह किया था—

'बच्चन जी कहते हैं कि मैं नौकरी से रिटायर होकर पंत जी के पास रहना चाहता हूँ। उधर पंत जी हमेशा कहते हैं कि बच्चन, जब तुम घर बनवाना तो उसमें मेरे लिए भी एक कमरा भजन-शयन का बनवाना। और मैं कल्पना करती हूँ कि किसी एकांत-शांत जगह पर हमारा एक छोटा-सा सुन्दर-सा घर है, चारों ओर खूब खुली जगह है जिसमें हमने बड़ा सुहाना बाग़ लगाया है, और ये दोनों कवि साथ रहते हैं, साथ-साथ बाग़ में टहलते हैं, ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करते हैं, और मैं दोनों की सुख-सुविधा का ध्यान रखती हुई दोनों की सेवा करती हूँ। बच्चन जी ने तो कल्पना के उस घर का नामकरण भी कर डाला है। कहते हैं उस घर का नाम होगा 'प्रतीक्षा'। और मैं कभी-कभी सोचती हूँ, प्रतीक्षा किसकी ? शायद उसकी कि जिसके लिए पंतजी ने लिखा है :

> कबसे विलोकती तुमको ऊषा आ वातायन से ?
> संध्या उदास फिर जाती सूने गृह के आंगन से।
>
> तुम आओगी, आशा में अपलक हैं निशि के उड्गण।
> आओगी, अभिलाषा से चंचल, चिर-नव, जीवन-क्षण।

जीवन की वास्तविकताएँ मनुष्य की कल्पनाओं पर कितना व्यंग्य करती हैं ! नौकरी से रिटायर हो गया हूँ, वजीफ़ाख्वारी से भी—राज्यसभा की सदस्यता क्या थी इसके सिवा, घर मैं नहीं बनवा सका, बेटे ने बनवाया है; घर न एकांत

जगह पर है न,शांत वातावरण में; चौरास्ते पर है और बसें दिन-रात अगल-बगल की सड़कों पर 'घरड़-घरड़' करती आती-जाती रहती हैं; घर के आगे-पीछे ख़ूब खुली जगह तो नहीं, फिर भी काफी खुली जगह है, लेकिन बाग़ लगाने-वाली को, बुलाए जाने पर भी, शायद यहाँ आने में भय होगा। पंत जी ने मित्रता तोड़ दी है। पत्र-व्यवहार बंद कर दिया है। पता नहीं जिसके साथ उन्हें रहना पड़ रहा है उसके सान्निध्य में प्रसन्न हैं कि नहीं। फिर भी घर का नाम मैं 'प्रतीक्षा' ही रखना चाहता हूँ, और अब मैं सोचता हूँ 'प्रतीक्षा' किसकी ? मैं तो इस घर में बैठकर एक ही की प्रतीक्षा कर सकता हूँ, और उस पर पंत जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ कितनी सटीक बैठती हैं। घर को मैंने 'प्रतीक्षा' नाम दिया तो अमिताभ को बहुत पसंद आया। मैंने उनसे पूछा, तुमने क्यों 'प्रतीक्षा' नाम पसन्द किया ? तुम्हें किसकी प्रतीक्षा है ?

बोले, 'माँ की।'

बाप-बेटे के हृदय के तार मिले हुए थे। अमिताभ ने दूसरे तले पर बंद बारजे का छोटा कमरा माँ के लिए ही बनवाया था, पहले तले पर उसके नीचे का कमरा मेरे लिए, क्योंकि मुझे सीढ़ियाँ चढ़ने में तकलीफ़ होने लगी थी। तेजी के और मेरे नाम से प्रतीक्षा का लैटरपैड भी छपवाया था, इस आशा से कि हम दोनों आकर यहाँ रहेंगे और यहाँ के पत्राचार इन्हीं लैटर-पेपरों पर करेंगे।

गृह-प्रवेश का समय निकट आया तो अमिताभ ने माँ को फ़ोन किया—'प्रतीक्षा' तुम्हारी प्रतीक्षा में है। आओ सबसे पहले तुम इसमें अपने चरण रखो।

तेजी ने कहा, रहने को तो मैं वहाँ न आऊँगी। बंबई की आबोहवा मुझे माफ़िक न पड़ेगी। पर तुम्हारा घर बनकर तैयार हुआ है तो उसे आशीर्वाद देने को मैं ज़रूर आऊँगी—उसमें तुम्हारा, तुम्हारी पत्नी, तुम्हारे बच्चों का हर दिन, हर क्षण मंगलमय हो।

अमित ने मुझसे पूछा, 'गृह-प्रवेश के लिए क्या करना है ?' पिताजी ने जब कटघर में नया मकान बनवाया था तो उसमें रामचरितमानस का अखंड पाठ कराया था और मेरी माँ ने सबसे पहले उसमें एक घड़ा पानी लेकर प्रवेश किया था।

> रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून
> पानी गए न ऊबरै मोती, मानुष, चून।

घर में भी पानी रखना चाहिए और घर का भी पानी। पानी यानी पत, इज़्ज़त, आबरू (विचित्र है कि 'आबरू' भी आब से बना है, जिसके अर्थ हैं पानी)। प्रवेश-द्वार पर पिता जी ने गणपति की मूर्ति लगवाई थी। पहले माँ ने थोड़ा जल गणपति मूर्ति पर छिड़का, फिर अंदर जाकर वही जल घर भर में।

इसी विधि से 'प्रतीक्षा' में गृह-प्रवेश किया गया। 'मंगल' से लाई हनुमान जी की मूर्ति के समक्ष रामायण का अखंड पाठ हुआ। तेजी ने दिल्ली से आकर पहले प्रवेश द्वार पर श्रीगणेशाय नमः कहकर नारियल फोड़ा और फिर जल-मंगल-कलश लेकर 'प्रतीक्षा' में चरण रखे। जया ने शायद किसी से साइत पूछ ली थी। वह दिन अक्षय-तृतीया का था, अंग्रेज़ी कैलेंडर के अनुसार 2 मई 1976 का। उसी दिन वहाँ पहली बार रसोई लगी और परिवार के सब लोगों ने फ़र्श

पर बैठकर भोजन किया।

18 मई को अजिताभ का जन्मदिन मनाकर तेजी दिल्ली लौट गईं, मुझे रोक लिया गया 'प्रतीक्षा' में राकेरी और मंदिर बनाने के लिए, जिस काम में अब मुझे एक्सपर्ट समझा जाने लगा था।

मैंने आफ़िस के पीछे छोटे लान के कोने में मंदिर की जगह चुनी। अब मैंने राकेरी पर नहीं, दो तल के पक्के चबूतरे पर छोटा-सा मंदिर बनवाया। मंदिर में सात दरियाँ हैं (दरी—संस्कृत के अर्थ में), निचले तले पर दो दरियाँ हैं जिनमें दुर्गा और भैरव की मूर्तियाँ स्थापित हैं—भैरव देवताओं के कोतवाल समझे जाते हैं। ऊपर के तले की पाँच दरियों में राम-सीता, कृष्ण-राधा, गणपति, शिव और हनुमान की मूर्तियाँ हैं—गणपति की वही मूर्ति मँगाकर मैंने स्थापित की जो कटघर (इलाहाबाद) के मकान के प्रवेश-द्वार पर लगी थी और मेरे पिता-माता द्वारा पूजित थी। गणपति के दाएँ-बाएँ मैंने सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियाँ भी रखा दी हैं। तुलसीदास ने 'वंदे वाणी विनायकौ' कहा है। 'शुभ-लाभ' के रूप में गणेश-लक्ष्मी पूजित हैं ही। शिवलिंग वही है जो पहले 13 विलिंगडन क्रिसेंट में और बाद को 'मंगल' की राकेरी पर स्थापित था। इसमें एक विशेषता देखकर मैं उठा लाया था; पड़ा था यह दिल्ली में रिज पर। इसमें शूकर का मुख चित्रित है जो जल चढ़ाने, विशेषकर घृत या चंदन लेपन करने से अधिक स्पष्ट हो जाता है। शाश पर उल्टा बाल-शशि भी चिह्नित है। इनको मैंने शूकरेश्वर महादेव की संज्ञा दी है—

> वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
> शशिनि कलंक कलेव निमग्ना।
> केशव धृत शूकर रूप जय जगदीश हरे।
> (गीत गोविंद)

(हे शूकररूप धारिन केशव, आपके दाँतों के अग्रभाग से संलग्न पृथ्वी, चंद्र कलंक की शोभा स्वरूप दिखलाई देती है, अतः हे जगदीश, आप की जय हो।)

अपने लिए तो जैसे केशव वैसे ही शिव—एको देव: केशवो वा शिवो वा। हनुमान की मूर्ति भा वही है जो विलिंगडन क्रिसेंट—'मंगल' में राकेरी—स्थापित थी। मंदिर के पीछे लताएँ लगाई गई हैं जो मंदिर के ऊपर छाई उस पर छाया किए रहती हैं। उनमें नीले फूल बहुतायत से लगते हैं—'नील नीरद सुंदरम्'—'नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगं'—'नील कलेवर पीत वसन वनमाली'। मंदिर के पीछे मैंने पीपल का वृक्ष लगाया है—'अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणां'। अमिताभ ने बड़े लान में गुलमोहर का पेड़ लगाया है। मंदिर में सुबह जल-सेवा के पश्चात फूल-शृंगार किया जाता है, संध्या समय दीप-दान के पश्चात अगरुबत्ती जलाई जाती है। जया सोमवार-सोमवार शिव जी को दुग्ध-स्नान कराती हैं। किसी ने उसे बताया है यह पुत्र के लिए मंगलकारी होता है। परिवार के लोग प्रातः-सायं मंदिर में नमन करते हैं। कहीं जाना हुआ तो मंदिर होकर बाहर निकलते हैं, कहीं से आने पर मंदिर होकर घर में पांव रखते हैं। मंदिर इस प्रकार घर में भी है, और घर से बाहर भी—'हरि मंदिर तहं भिन्न बनावा'।

मंदिर का काम समाप्त हुआ तो मैं दिल्ली चला आया। ग्रेटर कैलाश का

मकान हमने जून '74 में लिया था, केवल दो वर्ष के लिए। दो वर्ष पूरे हो गए थे और मकान मालिक मकान छोड़ देने के लिए हम पर ज़ोर डाल रहा था। अगर हमें दिल्ली में ही रहना था तो हमें कोई दूसरा मकान खोजना था।

मेरे दिमाग़ में सहसा यह बात उठी कि अगर हमें 13 विलिंगडन क्रिसेंट फिर से मिल जाए तो कैसा रहे। हमारे छोड़ने के बाद वह बंगला उड़ीसा सरकार को किराए पर उठा दिया गया था जिसने उसे अपना गेस्ट हाउस बना लिया था। चार वर्षों में उड़ीसा सरकार का अपना 'उड़ीसा भवन' बनकर तैयार हो गया था और उसे 'गेस्ट हाउस' की ज़रूरत न थी; पर दिल्ली में सरकारी मकान पाकर कोई उसे जल्दी छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। उड़ीसा सरकार भी मकान पर कब्ज़ा किए बैठी थी, गो उस कब्ज़े का लाभ नीचे का कोई कर्मचारी उठा रहा था—दिल्ली में खाली मकान से लाभ उठाने के बहुत से तरीके अपनाए जा सकते हैं।

मैं श्रीमती गांधी से मिला, और उन्हें अपनी मुसीबत और ज़रूरत बताई, पूछा, क्या वे मुझे 13, विलिंगडन क्रिसेंट फिर से दिला सकती हैं ? उन्होंने कहा, अगर उड़ीसा सरकार बंगला छोड़ दे तो उसे मुझे दिलाने में उन्हें कोई मुश्किल न होगी, पर वे उड़ीसा सरकार पर बँगला छोड़ने के लिए ज़ोर न डाल सकेंगी।

उन दिनों श्रीमती नंदिनी सत्पथी उड़ीसा की मुख्य मंत्री थीं। अपनी राज्य-सभा की सदस्यता की अवधि में, जब सत्पथी जी केन्द्र में सूचना एवं प्रसारण मंत्री के पद पर थीं, मैंने उनसे कुछ निकटता प्राप्त कर ली थी। मैंने उन्हें पत्र लिखा कि अगर वे 13 विलिंगडन क्रिसेंट छोड़ दें, जिसकी अब उन्हें ज़रूरत नहीं है, तो मेरे साथ बड़ा उपकार करेंगी, क्योंकि यह बंगला मैं अपने नाम एलाट करा सकूँगा और इस तरह दिल्ली में अपने लिए मकान ढूँढ़ने की परेशनी से बच जाऊँगा।

सत्पथी जी ने लिख दिया कि 13 विलिंगडन क्रिसेंट को और आगे अपने पास रखने में उड़ीसा सरकार की रुचि नहीं है। फलस्वरूप वह बंगला मुझे एलाट कर दिया गया।

तेजी को और मुझे इस बात से बहुत खुशी हुई।

हमने कहा—नंदिनी सत्पथी की जय।

इंदिरा गांधी की जय।

और ग्रेटर कैलाश से उठकर हम विलिंगडन क्रिसेंट के बंगले में आ गए जिसमें हम पहले '59 से '72 तक रह चुके थे—पूरे 14 वर्ष। ग्रेटर कैलाश के चारों ओर से घिरे-घिरे, बंद-बंद घर से खूब खुले-खुले, खिड़की-दरवाज़ों, रोशनदानों से रोशनी-हवादार, कुशादह पूर्वपरिचित कमरों के बँगले में आना हमारे लिए बड़ा रोमांचक अनुभव था। चौदह वर्षों की न जाने कितनी स्मृतियाँ—प्रायः सुखकर ही—ताज़ी हवा के झोंकों-सी तन-मन प्रफुल्लित कर गईं। पर उस बंगले को देखकर कुछ दुख भी हुआ। चार बरस में उड़ीसा सरकार के कर्मचारियों ने उस सुंदर बंगले का कबाड़ा कर दिया था। कुरुचि कितने रूपों में भद्दापन, गंद-गलाज़त फैला सकती है उसका वह बँगला नमूना बना था। बाहर लानों में जगह-ब-जगह गड्ढे—ऊबड़-खाबड़, जंगली घास उनपर उगी; झाड़ी-वाड़ियां सालों से बेंकटी-छंटी; पीछे का किचेन-गार्डेन एक बड़ा कूड़ाखाना

बना दिया गया था। कुरुचि ने यदि स्वर्ग को नरक बना दिया था, तो सुरुचि अब नरक को स्वर्ग बनाने में लगी।

तेजी ने एक महीने सारे सारे दिन खड़े होकर अपने सामने बंगले की सफाई-पोताई कराई, दरवाज़े-खिड़कियों पर नई पालिश चढ़वाई। सरकारी माली जो दिए गए उनके अलावा चार-छह मालियों को लगाकर उन्होंने झाड़ियाँ करीने से कटाईं, लान बराबर कराए, दूब लगवाई, किचेन गार्डेन का कूड़ा हटवाया, ज़मीन बराबर कराई, खाद डलाई, क्यारियाँ बनवाईं कि आगामी जाड़ों में उनमें कुछ साग-सब्ज़ी उगाई जा सके। मैंने बंगले के एक ओर बबूल के पेड़ के नीचे जहाँ पहले राकेरी और शिव-हनुमान मंदिर थे, वहाँ तीन दरों का छोटा मंदिर बनवाया। बीच में शिवलिंग और नंदी रखा गया, एक ओर हनुमान की मूर्ति, दूसरी ओर गणेश की मूर्ति रखी गई—गणेश की मूर्ति मैंने अपनी कल्पना से नए तरह की बनवाई—वे लड्डू-गणेश की जगह महाभारत के लिपिक के रूप में थे—एक हाथ में क़लम, एक में कागज़ लिए हुए—चूहे की जगह मैंने काली स्याही की दावात रखा दी—लड्डू नहीं तो चूहे के लिए क्या आकर्षण! उनकी संगिनियों के रूप में मैंने सरस्वती, लक्ष्मी के साथ, दुर्गा की मूर्ति भी रखा दी—simple, ornate and grotesque—सरल, शोभन और कराल के प्रतीक के रूप में!

ग्रेटर कैलाश से जब सामान लाया जाकर कमरों में लगाया गया तब घर घर लगा—पुरानी साज-सज्जा का कुछ आभास देता हुआ। सबसे विचित्र बात हुई कि जब मैं अपनी स्टडी में बैठा—उसी स्टडी में जिसमें मैंने कम-से-कम दो दर्जन किताब तो लिखी-संपादित की होंगी—तो मुझे कुछ लिखने की ज़बरदस्त प्रेरणा हुई। मैंने अपने मन से बहुत कहा, तूने कविता से संन्यास ले लिया है, गद्य से भी विदा ले ली है, अब क़लम मत उठा। पढ़ने को बहुत है, पढ़-चिंतन कर, लिख मत। पर मन नहीं माना तो नहीं ही माना। मैंने पहले कुछ कविताएँ लिखीं। उनके लिए एक विशिष्ट कारण था, जिसका संकेत तो मैं पहले भी कर चुका हूँ; आगे कुछ विस्तार से उसे बताऊँगा।

विशेष योजना बनाई मैंने गद्य लिखने की—अपनी आत्मकथा का तीसरा भाग पूरा करने की। उस पर कुछ काम '71-72 में किया गया था, बीच में कई बार कई जगहों पर मैंने उसमें हाथ लगाया पर कुछ ऐसे व्याघात पड़ते गए कि कोई खास प्रगति न हुई। मेरा स्वास्थ्य सुधर गया था। मौसम अच्छा था, बरसात खत्म हो गई थी, जाड़े आनेवाले थे, वातावरण अनुकूल था। मैं 8-9 महीने नियमित रूप से काम कर सका। आत्मकथा का तीसरा भाग पूरा हुआ—उसे मैंने 'बसेरे से दूर' का नाम दिया। सत्येन्द्र शरत् ने, पहले दोनों भागों की तरह, तीसरा भाग भी पूरा पढ़ा, कुछ टिप्पणियाँ कीं, कुछ सुधार सुझाए, जिनके प्रकाश में मैंने पांडुलिपि को अंतिम रूप दिया। जिस दिन यह काम समाप्त हुआ 7 जुलाई थी—अंत में मैंने तिथि दी—7.7.77—सात के अकों का साथ चार बार आना संयोग ही था, पर मुझे अच्छा लगा।

प्रेस कापी बनवाने के लिए पांडुलिपि को टाइप कराना ज़रूरी समझा। जो अभ्यस्त नहीं हैं उन्हें मेरा हस्तलेख पढ़ने में दिक़्क़त होती है। कम्पोजीटरों से हस्तलेख ठीक पढ़ने की प्रत्याशा न की जानी चाहिए। टाइपिस्ट घर पर ही आता

था, जहाँ नहीं समझता था, मुझसे पूछ लेता था, फिर भी उसने काफ़ी ग़ल्तियाँ की थीं। डा० जीवनप्रकाश जोशी और अजित कुमार ने मेरी हस्तलिखित प्रति से टाइप कापी का मिलान किया और पुस्तक छपने को दे दी गई।

मैंने अपनी बड़ी पुत्रवधू जया को अपनी एक कृति समर्पित की थी—'टूटी-छूटी कड़ियाँ'। छोटी रमोला को भी मैं एक कृति समर्पित करना चाहता था। 'बसेरे से दूर' मैंने रमोला को समर्पित की, समर्पण लिखते समय मुझे लगा रमोला चाहेगी कि उसके नाम के साथ अजिताभ का भी नाम रहे, अतः पुस्तक दोनों को समर्पित की गई। समर्पण करने का अवसर मैंने चुना रमोला का जन्मदिन जो 9 अक्टूबर को पड़ता है। उसके दो दिन बाद अमिताभ का जन्मदिन, 11 अक्टूबर को।

राजपाल—प्रकाशक—से मैंने वादा करा लिया था कि वे 'बसेरे से दूर' को पहली अक्टूबर तक निश्चित रूप से तैयार करा देंगे। किताब छप ही रही थी कि सितंबर के दूसरे सप्ताह में बंबई से बुलावा आ गया। रमोला को बच्चा होने वाला था। उन्होंने 15 सितंबर को अपनी तीसरी कन्या को जन्म दिया। भीम फिर भी सपना ही रहा। नीलिमा, नम्रता का नाम 'न' से था, तो इसका नाम भी मैं 'न' से रखना चाहता था—मैंने दो नाम सुझाए : नवेली और नयना। नवेली मुझे ज्यादा पसंद था, पर घर के लोगों ने नयना पसंद किया। वही नाम कन्या का रख दिया गया। रमोला के तरपर तीन कन्याओं के जन्म पर मेरी प्रतिक्रिया ? उन दिनों 'नवनीत' के दीवाली विशेषांक के लिए कुछ लोगों से पूछा गया था कि दीप लक्ष्मी यदि आपकी एक इच्छा पूरी करना चाहें तो आप क्या वरदान मागेंगे। मैंने लिखा था कि मेरी छोटी बहूरानी ने एक के बाद एक तीन कन्याओं को जन्म देकर परिवार में नर-नारी का संतुलन बिगाड़ दिया है। लक्ष्मी जी से मैं माँगूंगा कि वे छोटी बहू को अब तीन पुत्रों का वरदान दें कि हमारे घर पुरुष-स्त्री संतुलन फिर से बने ! परिवार नियोजन आयोजकों ने पढ़कर अवश्य मुझे कोसा होगा।

हम दोनों रमू और अमित के जन्मदिन तक के लिए बंबई में रुक गए। शुभ दिन पर तेजी के हाथों मैंने 'बसेरे से दूर' की पहली प्रति रमोला और अजिताभ को समर्पित कराई, दूसरी प्रति जया और अमिताभ को, तीसरी प्रति मैंने अपनी ओर से तेजी को समर्पित की।

'बसेरे से दूर' लेखन-काल में देश की पृष्ठभूमि भी शायद आप जानना चाहें, कम-से-कम मुझे याद हो आई है। हम लोग '76 के अंतिम महीनों में 13, विलिंगडन क्रिसेंट में आए थे। घर निश्चय हमें श्रीमती गांधी की कृपा से मिला था। कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए हम उन्हें किसी दिन खाने पर बुलाना चाहते थे। नवंबरांत में मेरा जन्मदिन पड़ता था। उस दिन लंच के लिए हमने उन्हें और गांधी-परिवार को आमंत्रित किया और उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इस घर से उनके विशिष्ट संबंध थे। राजीव की मंगेतर के रूप में सोनिया इटली से आकर इसी घर में, हमारे साथ ठहरी थी, और उसके विवाह की कई रस्में इसी के लान में संपन्न हुई थीं।

इमर्जेंसी के दिन थे। शायद ठीक कहना यह होगा कि इमर्जेंसी पक चुकी थी। शुरू-शुरू में उसका जो कुछ भी विरोध किया गया हो, कालांतर में लोगों ने

उसे स्वीकार कर लिया था—चाहे भय से ही—हालांकि खामियों के साथ इमर्जेंसी की कुछ खूबियाँ भी थीं जिससे साधारण नागरिक अचेत न था। देश अराजकता में लुढ़कने से बच गया था; जनता आश्वस्त हो गई थी कि मुल्क में ऐसी सुदृढ़ सरकार है जो विधि-व्यवस्था लागू कराने में समर्थ है—कहावत है जाया और रिआया दबंग मर्द और दबंग हाकिम हुक्काम चाहती हैं—उपभोक्ता सामग्रियाँ सहज सुलभ हो गई थीं और समुचित-नियंत्रित मूल्यों पर; हत्या, लूट, चोरी, ठगी, दंगे-फसाद की घटनाएँ बहुत कम हो गई थीं, गाड़ियाँ ठीक वक़्त पर चलती थीं, कर्मचारी ठीक वक़्त पर दफ़्तरों में आते थे, अनियमितताएँ बरतते लोग डरते थे, गैरज़िम्मेदाराना बातें, अफ़वाहें नहीं सुनाई देती थीं। परिवार नियोजन की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी अगर ज़ाहिरा विरोध किसी चीज़ का था तो ज़बरिया नसबंदी का। संजय के चार और श्रीमती गांधी के बीससूत्री कार्यक्रम में कुछ भी ऐसा न था जिसे जनता के लिए अलाभकर अथवा हानिकर कहा जाता।

इस आशा और विश्वास से कि सामान्य जनता इमर्जेंसी से सुलभ सुविधाओं के प्रति सचेत, और लागू करने वाली सरकार के प्रति उपकृत है, और यदि चुनाव हुआ तो उसी को वोट देगी, श्रीमती गांधी ने जनवरी '77 में चुनाव की घोषणा कर दी।

आशा के आधार दृढ़ नहीं थे, विश्वास भ्रम साबित हुआ। मार्च '77 में जो चुनाव हुआ उसमें श्रीमती गांधी और शासक कांग्रेस पार्टी बुरी तरह पराजित हुई। पराजय के बहुत-से कारण थे, पर मेरी समझ में जिस एक खास मुद्दे पर साधारण जनता को श्रीमती गांधी और संजय और उनकी पार्टी के विरुद्ध भड़काया गया, वह था नसबंदी का। विपक्षी दल द्वारा भोली जनता में यह प्रचार किया गया कि नसबंदी से आदमी नपुंसक हो जाता है। काँग्रेस का चुनाव-चिह्न था 'गाय-बछड़ा'। यह भी दु:संयोग ही था कि श्रीमती गांधी और संजय—माँ-बेटे—अमेठी और रायबरेली—मिले-मिले चुनावक्षेत्र से खड़े हुए थे। एक नारा जो उन दिनों सबसे अधिक सुना गया वह था—

गाय के साथ खड़ा है बछड़ा,
देइहौ वोट तो करिहै हिंजड़ा।

जहाँ की जनता अशिक्षित, निरक्षर और भोली-भाली हो वहाँ एक नारे के बल पर चुनाव जीता या हारा जा सकता है। मुझे दिनकर जी ने एक किस्सा सुनाया था। बिहार में हिंदू बहुमत चुनावक्षेत्र से कोई डालमिया खड़े हुए। विपक्षी दल ने प्रचार किया कि हिंदू होकर तुम लोग 'मियाँ'—यानी मुसलमान को वोट दोगे! डालमिया ने बड़े-बड़े पोस्टरों पर लिखाकर सब जगह लगवा दिया, 'डालमिया रघुबर के दासा'—डालमिया चुनाव जीत गए।

श्रीमती गाँधी को 1, सफदरजंग का प्रधान मंत्री निवास छोड़ना पड़ा और उन्हें रहने के लिए 12, विलिंगडन क्रिसेंट दिया गया—13 विलिंगडन क्रिसेंट से मिला हुआ बँगला।

विपक्षी दल उन्हें पराजित करके ही शांत नहीं हुआ।

उसने उन्हें निंदित, लांछित, अपमानित, दंडित करने के लिए जो कुछ किया

वह काल की डायरी में अंकित है ।

कुछ समय के लिए तन की थकावट, मन की गिरावट और सब कुछ के प्रति एक तरह की विरक्ति के भाव से अभिभूत होना उनके लिए स्वाभाविक था। अगर उन्हें छुआ-छेड़ा न जाता, अपने पर छोड़ दिया जाता तो शायद उनका जीवन-क्रम कुछ और होता।

पर जब उन्हें उकसाया गया, चुनौतियाँ दी गईं, चोट पहुँचाई गईं, उन्हें नेस्तनाबूद करने के गोरखधंधे रचे गए तब वे उठीं, जागीं, चौकन्नी हुईं और उस अनथक, अनवरत श्रम-संघर्ष में धंसीं जिसने उन्हें फिर उसी प्रतिष्ठित पीठ पर लाकर आसीन कर दिया जो उनके पाँवों के नीचे से खिसक गया था।

मुझे याद है अप्रैल '77 में वे कितनी गिरी-टूटी हालत में अपने नए बसेरे पर आई थीं।

और मैं भी उन दिनों वैसी ही गिरी-टूटी मानसिक स्थिति में जी रहा था। आपको इस कथन पर आश्चर्य हुआ होगा। कुछ व्याख्या देनी होगी। यह तो मैं आपको बता चुका हूँ कि उस समय मैं 'बसेरे से दूर' लिखने में लगा हुआ था। 'बसेरे से दूर' आपने पढ़ा है तो अप्रैल में मैं उस स्थल पर था जहाँ इग्लैंड-प्रवास से लौटने पर मैंने पाया था कि मेरे घर-परिवार का बाहरी चर्बा तो खड़ा हुआ है, पर भीतर-भीतर दीमक सब कुछ चाटकर खोखला कर गई है—मेरी पास-बुक से आखिरी पैसा निकाला जा चुका था, मेरी पत्नी के शरीर पर आखिरी जेवर बेचा जा चुका था, मेरे भंडारघर का आखिरी दाना पकाया जा चुका था और मेरी पत्नी और बच्चे इस तिनके के सहारे डूबने से बचे हुए थे कि मैं कुछ धन-राशि लेकर लौटा तो उससे अगले दिन का राशन मंगाया जा सकेगा। उस दिन अगर मेरे पाँवों के नीचे से धरती नहीं खिसक गई, मेरे बाल अचानक सफेद नहीं हो गए तो यह चमत्कार ही हुआ। आप कहेंगे वह सब बीते तो लगभग पचीस बरस हो गए थे। बस, यहीं आपको लेखक-सृजक की मुश्किल, मुसीबत, साधना, तपश्चर्या की पीड़ा समझने की ज़रूरत है। जीवन में जिये हुए भावों को सृजन में, कला में जीने में उनकी सौगुनी तीव्रता-तीक्ष्णता झेलनी पड़ती है। भोगा हुआ उल्लास कवि बहुत-बहुत गुना कर जब शब्द में भोगता है तब उसमें वह चमत्कारी शक्ति आती है कि काल-देश में दूरातिदूर भावक, प्रमाता, पाठकों को उल्लसित कर दें; इसी प्रकार झेला हुआ अवसाद भी। कर्कल और चंपा के साथ जो उल्लास-अवसाद मैंने जिया था उसको सौ गुना करके जिया तब मैंने 'मधुशाला' लिखी। श्यामा के देहावसान पर जो दुख मैंने झेला उससे सौ गुना अधिक झेला तब मैंने 'निशा-निमंत्रण' रचा। अब शायद आप समझ सकें कि 'बसेरे से दूर' में तेईस वर्ष पहले की मर्मांतक स्थिति लेखन में, सृजन में जीने में मैं किस टूटे-गिरेपन की हालत से गुज़र रहा था। और उससे सँभलने के लिए मैंने जिसका सहारा लिया था, मैंने समझा, और बिलकुल ठीक समझा, उसका सहारा उस समय श्रीमती गांधी को भी सँभाल सकेगा—मेरा संकेत किपलिंग की 'If' शीर्षक कविता की ओर है। इसकी मैंने एक प्रति टाइप कराई और उन्हें भेज दी। उन्होंने मुझे धन्यवाद का पत्र भेजा, उसकी उपयोगिता समझी और निश्चय उससे बल संचय किया। 'बसेरे से दूर' में मैंने इस कविता का हिंदी अनुवाद दिया है, पर यहाँ मैं उसका अँग्रेज़ी रूप देना चाहता हूँ। बहुत-से लोगों

ने अनुवाद पढ़कर मूल पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी, उनके हाथों यह कृति लगी तो उनकी जिज्ञासा शांत होगी।

If

If you can keep your head when all about you
Are losing theirs and blaming it on you,
If you can trust yourself when all men doubt you,
But make allowance for their doubting too;

If you can wait and not be tired by waiting,
Or being lied about, don't deal in lies,
Or being hated, don't give way to hating,
And yet don't look too good, nor talk too wise:

If you can dream—and not make dreams your master;
If you can think—and not make thoughts your aim;
If you can meet with Triumph and Disaster
And treat those two impostors just the same;
If you can bear to hear the truth you've spoken
Twisted by knaves to make a trap for fools,
Or watch the things you gave your life to, broken,
And stoop and build 'em up with worn-out tools:

If you can make one heap of all your winnings
And risk it on one turn of pitch-and-toss,
And lose, and start again at your beginnings
And never breathe a word about your loss;
If you can force your heart and nerve and sinew
To serve your turn long after they are gone,
And so hold on when there is nothing in you
Except the will which says to them: 'Hold on!'

If you can talk with crowds and keep your virtue,
Or walk with kings—nor lose the common touch,
If neither foes nor loving friends can hurt you,
If all men count with you, but none too much;
If you can fill the unforgiving minute
With sixty seconds' worth of distance run,
Yours is the Earth and everything that's in it,
And—which is more—you'll be a Man, my son!

आप देखेंगे कि प्रतिकूल परिस्थितियों के शिकार हुए मुझसे कहीं अधिक

यह कविता श्रीमती गांधी और उनके विरुद्ध खड़ी परिस्थितियों पर लागू होती थी और शायद उन्हीं शर्तों को पूरी करके वे उनपर विजयिनी हुईं जो कवि ने रखी थीं। अगर उन्हें देश-दुनिया की नज़रों में अपराधी सिद्ध करने, और सज़ा का हक़दार करार देने की साज़िश न की जाती तो, उस समय उन्हें देखकर मुझे लगा था, वे कुछ काल के लिए शांत-विश्रामपूर्ण जीवन बिताना चाहतीं। शायद कुछ लिखतीं। उन्होंने एकाधिक बार यह विचार प्रकट किया था कि अगर वे राजनीति के क्षेत्र में न चली जातीं तो लेखक बनना चाहतीं। ऐसा ही विचार पंडित जी ने भी प्रकट किया था। ख़ैर, उन्होंने तो राजनीति में आपादमस्तक डूबे हुए भी कितना लिखा ! Glimpses of World History, Discovery of India, An Autobiography उनकी कालजयी कृतियाँ हैं। मैंने इंदिरा जी को लिखा था, अगर आपको कुछ काल के लिए राजनीति से अलग रहना पड़े—इलाहाबाद हाईकोर्ट के फ़ैसले के अनुसार वे छह वर्ष किसी चुनाव में भाग न ले सकती थीं—तो आप अपनी आत्मकथा लिखें। अंग्रेज़ी में ही वे अपने को समुचित रीति से अभिव्यक्त कर सकती थीं—मैंने यह भी लिखा था, आपकी आत्मकथा को हिंदी में अनूदित करने में मुझे प्रसन्नता होगी। उनके विरोधियों ने उन्हें शांति से जीने, लिखने का अवसर नहीं दिया। और उनका पड़ोसी रहते हुए उन सारी मुहिमों का मैं साक्षी रहा जिनपर वे औरत होकर भी एक मर्द की तरह तैनात रहीं। मैं उन्हें कोई नया विशेषण नहीं दे रहा। पुरानी कांग्रेस वर्किंग कमेटी के वयोवृद्ध, अनुभवसिद्ध, मुड्ढ मुड्ढ सदस्यों के बीच उन्हें देखकर किसी पत्रकार ने लिखा था, 'She was the only man in a group of old women' इसी को ध्यान में रखकर किपलिंग की कविता उन्हें भेजते हुए मुझे संकोच नहीं हुआ, जिसकी अंतिम पंक्ति उनके लिए मौज़ूं न थी :

'And—which is more—you'll be a Man!'

उनके manly गुणों का आभास निश्चय पंडित जी को बहुत पहले मिल गया था। कम लोगों को अब यह याद है कि वे इंदिरा जी को 'भैया' कहते थे।

मिले-मिले बँगलों के कारण दोनों परिवारों के बीच आना-जाना कुछ अधिक हो गया था, जिसपर हम जानते थे गुप्तचरों की नज़र रहा करती थी। सोनिया ने तो बंगले के पीछे से ही एक रास्ता बना लिया था जिससे कि बाहर निकले बग़ैर वह जब चाहे हमारे यहाँ आ सके या तेजी उसके वहाँ जा सकें। इस प्रकार का आना-जाना भी सी० आई० डी० की नज़रों से बच न सका था। अमिताभ-अजिताभ जब भी बंबई से आते, अपनी इंदु आंटी और अपने मित्रों राजीव-संजय से मिलने जाते। हमारे इस सम्बन्ध को तत्सामयिक जनता सरकार द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा गया था, और हमारे बारे में, हमें मालूम हुआ था, बाला-बाला तफ्तीश और छानबीन की गई थी, पर कुछ भी ऐसा न मिला था कि हमारे ऊपर कानून की दृष्टि से कोई आरोप लगाया जा सके। सीधी-सच्ची बात यह है कि गांधी-परिवार से हमारी मैत्री वैयक्तिक आधार पर थी और उससे कभी किसी प्रकार का राजनीतिक अथवा आर्थिक लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया गया था। फिर भी हमारा संबंध, हमारी निकटता, हमारा पड़ोसीपन सरकार की आँखों में खटक रहा था और उसने एक दिन गुल खिला ही दिया। उसकी चर्चा कभी आगे।

मैंने आपसे कहा था कि विलिंगडन क्रिसेंट में आकर मुझे लिखने की जो अनिवार्य प्रेरणा हुई थी उसमें मैंने कुछ कविताएँ भी लिखी थीं। वास्तव में इसका प्रारम्भ मेरे पिछले बंबई के लम्बे प्रवास में हो गया था। एक लड़की ने मुझसे पत्राचार शुरू कर दिया था। वह अच्छे धनी परिवार की थी, उच्च शिक्षा प्राप्त थी। कविता लिखने में उसकी रुचि थी; उसने अपनी एक-दो कविताएँ मेरे पास भेजी थीं; मुझे लगा था कि उसमें प्रतिभा है, कल्पना है, पर शब्द-चेतना इतनी अधिक है कि उसके भावों पर हावी हो जाती है और इस कारण भावों का अपना जो सहज, स्वाभाविक सौंदर्य है वह छिप जाता है, ढक जाता है। उसके संबंध में मैंने उसे सचेत किया था। उसको पत्रोत्तर देते हुए मैंने एक छोटी-सी कविता ही लिख डाली थी और उसे भेज भी दी थी। कविता थी—अब रचनावली के तीसरे खंड में संकलित—'शब्द-नि:शब्द' :

ओ
मेरे शब्दो,
मेरी क्वारी भावना को
इतने मोटे-मोटे वस्त्रों में लपेटकर
उनके सामने मत ले जाओ,
वे मुझे नहीं देख सकेंगे।

ओ
मेरे शब्दो,
क्षीण हो,
सूक्ष्म हो,
पारदर्शी बनो,
कि वे मेरी भावना को देख सकें,
निरावरण,
नग्न,
अकलुष,
दिव्य,
समर्पिता, माँगती शरण।

इसके बाद नियमित पत्राचार होने लगा था। मेरी आदत है कि जो भी पत्र मेरे पास आता है उसका उत्तर दिए बग़ैर मुझसे नहीं रहा जाता। अच्छी आदत शायद नहीं है। इसके कारण मेरा बड़ा समय बर्बाद हुआ है। कुछ मुसीबतों में भी पड़ा हूँ। पर आदत तो आदत। अब छूटती भी नहीं। बहुत से पत्र आते हैं। पत्रोत्तर के लिए कम-से-कम समय उनपर लगाने के लिए मैंने एक तार-शैली का आविष्कार किया है—पत्र में न पता—न तारीख—एक या दो वाक्यों मे सार-सार बात कहने का प्रयत्न करता हूँ। मैं जब अपनी बहुत-सी अच्छी-बुरी आदतों का स्रोत जानने का प्रयत्न करता हूँ तो अक़्सर वह कर्कल पर जाकर ठहरती है। यह पत्र लिखने की आदत भी उसी ने डलवाई। रहता था एक मकान के फ़ासले पर और पत्र लिखकर खिड़की से मेरे क़मरे में डाल जाता था—बहुत कुछ ज़ो

वह कहने में संकोच करता था, पत्र में लिख डालता था और मुझसे उत्तर की प्रत्याशा करता था और मैं पूरी करता था। युनिवर्सिटी में पहुँचा तो झा साहब से संपर्क हुआ। पत्रोत्तर देने में वे एक ही थे, आज उन्हें आप पत्र लिखिए तीसरे दिन उनका उत्तर आ जाता था। पंडित नेहरू का भी लिखा मैंने कहीं देखा था, 'Every letter should be acknowledged.' उन्हें स्वयं मैंने जब भी लिखा, घोर व्यस्त होते हुए भी उन्होंने उत्तर मुझे अविलंब दिया। घर से बाहर रहने पर मेरे माता-पिता, श्यामा, फिर तेजी—हरएक यह चाहता था कि मैं अपने दिनानुदिन का समाचार, चाहे कार्ड से ही, भेजता रहूँ। अब हालत यह है कि अगर आए पत्रों का मैं उत्तर न दूं तो मुझे खाना हज़म नहीं होता। कवि-लड़की प्रायः हर सप्ताह पत्र लिखने लगी, फिर दूसरे-तीसरे दिन तदनुसार मेरा उत्तर जाने लगा। एक दिन मेरे पत्र के उत्तर में वह स्वयं आ गई। लड़की थी औसत क़द-क़ाठी की, साँवली, सुडौल, आँखें ज़रूर बड़ी भावभरी, अभिव्यंजक; उमर बीस-इक्कीस से अधिक न होगी, क्वांरी; आकर्षक उसमें कुछ भी नहीं सिवा यौवन के। वह आई, सामने आँख नीची करके बैठी, कुछ क्षणों के बाद उसने एक नज़र मुझे देखा, उसकी आँखें डबडबाईं, उसके होंठ कुछ हिले और वह उठकर खड़ी हो गई।

'आप से कुछ कहना चाहती थी...इस समय कह नहीं पा रही हूँ, फिर आऊँगी...'

और वह चली गई।

इस तरह के अनुभव असामान्य होते हैं और उनकी स्मृति को दिमाग़ से जल्दी निकाल पाना आसान नहीं होता।

'क्या कहना चाहती होगी वह लड़की ?'...

'क्यों सहसा आ टपकी थी ?'...

ऐसी प्रश्न-कल्पनाएँ प्रायः कविता की प्रेरणाएँ बन जाती हैं। किसी समय टेबिल पर बैठा और क़लम उठाई तो अनायास एक कविता लिख गई—

भावनाएँ
किसी विवशता में
अभिव्यक्ति की शरण जाती हैं।

अभिव्यक्तियाँ
किसी विवशता में
ध्वनियों में गूंज उठती हैं।

ध्वनियाँ
किसी विवशता में
शब्दों का रूप लेती हैं।

उस दिन किसी विवशता में
मैंने तुम्हें पत्र लिख तो दिया था
पर तुम उसका उत्तर दोगे
इसकी आशा कभी नहीं लगायी थी।

पर जब मेरे पत्र के उत्तर में उस दिन
तुम मेरे सामने साक्षात आकर
खड़े हो गए
तो मैंने अपने से पूछा,
क्या मैं उस दिन अपने शब्दों से
तुम्हें पुकार सका था ?
क्या मैं उस दिन अपने शब्दों में
अपने को उतार सका था ?
क्या मेरे शब्दों में तुमने मुझे पाया था ?
क्या मेरे शब्द तुम्हारे पास नहीं गये थे,
मैं खुद आया था ?

यह कविता 'रूपांतरित शब्द' शीर्षक से 'रचनावली' में दी गई है।

कुछ तथ्यगत-बाह्य-घटित की झाँकी देते हुए भी कविता में जो कहा गया है वह यह है कि कवि जब अपनी अभिव्यक्ति में सफल होता है तो अपने शब्दों में सजीव-साक्षात स्वयं होता है। क्या हम प्रायः यह कहने के बजाय कि हम शेक्सपियर की कविता पढ़ रहे हैं, यह नहीं कहते कि हम शेक्सपियर पढ़ रहे हैं। यह केवल संक्षिप्तीकरण नहीं है। हमारे कहने में यह निहित है कि कविता शेक्सपियर की शब्दावतार है—स्वयं शेक्सपियर है। शायद उसी का कवित्वमय बोध कराने को मैंने यह कविता कवि-लड़की को भेज दी थी। पता नहीं उसने उसका क्या अर्थ समझा।

वह यदा-कदा मुझे फ़ोन भी करने लगी थी।

पहले मैं यह समझा शायद लड़की मुझे माध्यम बना रही है अंततोगत्वा अमिताभ से संपर्क करने के लिए। कई लड़के-लड़कियाँ ऐसा कर चुके थे। पर मैं अनुमान की ग़लत पगडंडी पर था।

एक दिन एक स्वर मुझे फ़ोन पर सुनाई दिया 'हलो सफ़रिंग! ...'

'क्या भूलूं क्या याद करूँ' में पहली बार मैंने यह भेद खोला था कि श्यामा अकेले में मुझे 'सफ़रिंग' पुकारती थी और मैं उसे 'ज्वाय'। और इस बात को हम दोनों के अलावा कोई तीसरा नहीं जानता था। श्यामा के देहावसान के बाद इस नाम से मुझे किसी ने नहीं पुकारा या संबोधित किया था, उन आधी दर्जन लड़कियों ने भी नहीं, जिन्होंने मुझे लिखा था कि वे पूर्वजन्म की श्यामा हैं। कई तो उनमें विवाहिता थीं, एक-दो बच्चों की माँ थीं।

चालीस बरसों के दीर्घ अंतराल के बाद कुछ दबे-से स्वर में जब 'हलो सफ़रिंग' मेरे कानों में पड़ा तो एक अजीब-सी प्रतिक्रिया मेरे मन में हुई, जैसे एक बिजली का शाक लगा हो और मैं चालीस बरस का सब कुछ भूल गया हूँ और किसी दूरातिदूर दूसरे लोक से ही श्यामा की कुछ संकोचभरी पुकार सुन रहा हूँ, 'हलो सफ़रिंग'—इस संदेह की 'रिंग' समाहित किए कि इतनी देर बाद इतनी दूर से पहचानी भी जाऊँगी कि नहीं? और एक मशीनी-सी प्रक्रिया से मेरे मुँह से निकल पड़ा, 'हलो ज्वाय!'...

स्वर कवि-लड़की का था।

दूसरे-तीसरे दिन उसका लंबा-सा पत्र आ गया था। आशय उसका यही—

मैं पूर्वजन्म की श्यामा हूँ। सबूत कई दिये गए थे, हालांकि वे सब 'क्या भूलूं क्या याद करूं' पर आधारित थे। पर जिस चीज़ ने मुझे बहुत उद्विग्न किया था, वह था पत्र का अंतिम भाग...और मुझे खुशी है कि तुमने भी मुझे पहचान लिया है कि मैं तुम्हारी ज्वाय हूँ...

ज्वाय मेरे मुँह से निकल भर गया था, यह बिलकुल नहीं कि मैंने उसमें श्यामा को पहचाना था, उसे श्यामा माना था, पूर्वजन्म की या इस जन्म की।

और मैंने कई पत्रों में सफ़ाई देनी चाही, पुनर्जन्म के प्रति अपना संदेह व्यक्त किया, तरह-तरह से समझाया कि वह यह भ्रम अपने अंदर से निकाल दे, वह सिर्फ़ प्रभावशील अवस्था में श्यामा के चरित्र से प्रभावित है, उसमें कवि-प्रतिभा है, कवि स्वभाव के कारण वह अतिशय भावुक है, मैं उसके कवि के विकास में योग दूंगा, वह मुझे अपना सयाना मित्र समझे, मेरी सद्भावना उसके साथ रहेगी, उसकी सद्भावना की मैं क़द्र करूंगा, पर मेरे बहुत लिखने, बहुत समझाने के बाद भी वह अपने 'सफ़रिंग' के लिए अपनी 'ज्वाय' से कम दर्जे पर उतरने के लिए तैयार नहीं हुई। मैंने 'ज्वाय' क्या पुकारा मानों उससे शब्द-ब्याह कर लिया—मानों मैंने उसकी माँग में शब्द-सिंदूर भर दिया।

उसने 'निशा निमंत्रण' की एक प्रति मेरे हस्ताक्षरों के साथ माँगी—"वह तो मुझे ही समर्पित है...उसपर लिखकर भेजना...पूर्वजन्म की 'ज्वाय' को।" हस्ताक्षरित पुस्तक मैंने भेज दी, गो मैंने उसपर नहीं लिखा जो वह चाहती थी। कई पत्रों में उसने उसकी शिकवा-शिकायत की, उसपर रोई-धोई। उसने मेरे पास एक कोरा केसेट भेजा 'निशा-निमंत्रण' के कुछ गीतों को रेकार्ड कर भेजने को। मैंने उसकी यह इच्छा भी पूरी की। मेरी फ़ोटो माँगी; वह भी मैंने भेज दी—कोई खास नहीं, वही जो मैं माँगने पर अपने प्रेमी पाठकों को भेजा करता था। करवा चौथ पड़ी तो उसने व्रत रखा, शाम को मुझसे मिलने आई। कुछ मेवे-मिठाई लाई, बोली, 'इसमें से कुछ मेरी हथेली पर रख दो, मैं उसी से व्रत तोड़ूँगी।' उसके साथ मुझे सहानुभूति थी, उसपर मुझे दया आती थी, मैं तो असमंजस में था, मैं उसके लिए क्या कर सकता था। इस ऊहापोह में मैंने एक कविता लिखी थी—

> रानी,
> तुम तो किसी जादुई सरोवर में
> नहाकर,
> नयी होकर
> नवयौवना होकर
> फिर आ गयी हो,
> और मैं तुम्हें देख
> चकित-विभ्रमित
> सोच नहीं पाता हूँ
> कि तुम्हें कहाँ ठहराऊँ,
> तुम्हें कहाँ बिठाऊँ,
> कहाँ तुम्हारी सेज सजाऊँ,

कहाँ तुम्हारा स्वागत-सत्कार करूँ,
कहाँ तुम्हें प्यार करूँ ।
क्योंकि तुम्हारा पुराना रनिवास
जगह-जगह से टूटा-गिरा,
दरका, धरा-धसका,
खंडहर हो गया है,
अशोभन, दुर्दर्शन, डरावना,
और मैं कोई ऐसा शिल्पी नहीं जानता
जो अपनी जादुई शक्ति से
इन बिखरे ईंट-पत्थरों को
जुटा सके,
इनमें जीवन डाले,
इन्हें जोड़ कर खड़ा करे
और इन्हें
एक ऐसे रंगमहल का रूप दे
जो तुम्हारी सुखनिंदिया के लिए
लोरी
गा सके ।

यह कविता 'असमंजस' शीर्षक से रचनावली के तीसरे खंड में है। उसे मैंने कवि-लड़की को भेजा नहीं था । शायद यह सोचकर कि यह उसके इस विश्वास को एक तरह से थपकी देगी कि मैंने उसे पूर्वजन्म की श्यामा मान ही लिया है ।

वह मुझे तरह-तरह के उपहार देती—कुछ क़ीमती भी । मैं उसे बारहा मना करता, इन चीज़ों की मुझे ज़रूरत नहीं है । वह न मानती । मैं लेने से इनकार करता तो वह दुखी होती, रोती, लाचार मुझे लेना पड़ता उसका मन रखने को । सुबह-शाम मैं घूमने के लिए निकलता तो घर से कुछ दूर पर मुझे मिलती । मेरे पीछे-पीछे चलती जैसे साथ भी है और नहीं भी । जब मैं आर्थराइटिस और स्पोंडुलाइटिस में बिजली-सेंक और उपचार के लिए पास के आरोग्यनिधि अस्पताल में जाता, वह वहाँ बैठी मिलती । उसके स्नेह, संवेदन, समादर में मुझे संदेह नहीं था, प्रतिकार में मैं उसे कृतज्ञता का पत्र लिख देता, या एकाध कविता भेज देता । इतने से वह खुश रहती । इस प्रकार का संबंध कहीं मुझे तुष्टि देता था तो कहीं मुझे उद्विग्न भी करता था । इसको मैं बढ़ावा देना नहीं चाहता था । कहीं मुझे विश्वास था यह उस लड़की का अवस्थागत अस्थायी क्रेज़ है जो धीरे-धीरे खत्म हो जाएगा, निश्चय उसके जीवन में किसी समवयस्क मित्र या प्रेमी के आने पर । साथ ही मुझे यह भी आशंका थी कहीं मैं भी न इस लड़की के प्रति मोहाविष्ट हो जाऊँ । गेटे और ईट्स लगभग सत्तर की अवस्था में मेरियेन और डोरोथी वेल्जली के प्रेम में पड़ गए थे, जो उम्र में उनसे प्राय: पचास वर्ष छोटी होंगी—जीवन में जो हो चुका है फिर होने की संभावना तो लिए ही हुए है । कुछ इसी तरह की मनोवृत्ति से एक कविता लिखी थी—

तब मेरे घाव ताज़े थे,
मेरी वेदना असह्य थी,
मेरी बेचैनी दयनीय थी;
पर तब जिन्हें मुझे संवेदना देनी थी
वे मेरी उपेक्षा करते रहे,
जिन्हें मेरी पीर बटानी थी
वे मेरा उपहास करते रहे,
जिन्हें मेरे ज़ख्मों पर मरहम लगाना था
वे उनपर नमक छिड़कते रहे।
हाँ, कोई मेहरबान था मुझपर तो एक—समय;
उसने धीरे-धीरे मेरे खुले घावों पर टाँके लगाए,
उनपर मरहम लगाया,
और उन्हें पूर दिया,
छोड़ गया पीछे तो कुछ बे-दर्द निशान।

और अब इन बे-दर्द निशानों से भी
विदा लेने की वेला में तुम आये हो—
इनको अपनी उँगलियों से सहलाते,
इनपर आँसू बहाते,
इनपर फूल चढ़ाते।

और विधि की इस विडम्बना पर,
मैं समझ नहीं पाता कि हँसूँ या रोऊँ !
पर आशंकित ज़रूर हो गया हूँ—
क्या यह भी मेरे भाग्य में बदा था ?—
मुझे इतनी सहानुभूति न दो,
मुझपर इतनी करुणा न बरसाओ,
मुझपर इतना प्यार न सरसाओ,
मैं अपने घावों को जानता हूँ,
ये कवि की छाती के घाव हैं
इनके पुराने टाँके प्यार के आँसुओं में घुल सकते हैं
ये घाव फिर से खुल सकते हैं।

यह कविता 'दुर्विलंब' शीर्षक से 'रचनावली' में दी गई है।

दिमाग़ में, ऐसा लगता है, कविता की कोई कोषिका है—cell—जब उसका इस्तेमाल न करो, तब वह 'सेल' सूख जाती है, इस्तेमाल शुरू करो तो उससे काव्य-स्राव फिर होने लगता है और जल्दी बन्द नहीं होता। जो काव्य-स्राव बंबई में शुरू हुआ था, उसका सिलसिला दिल्ली तक चला आया। अगर मैं उसे गद्य की ओर न मोड़ता, 'बसेरे से दूर' लिखने में न लग जाता तो शायद कविता ही लिखता जाता।

मेरे दिल्ली चले आने के बाद कवि-लड़की मुझे कुछ ज्यादा ही पत्र लिखने

लगी। कभी-कभी तो दिन में आधे-आधे दर्जन पत्र लिखती। उसके सारे पत्रों का उत्तर देना मेरे लिए असंभव हो गया। पत्रोत्तर में विलंब होता तो उसका फ़ोन आ जाता। मैंने अभी तक उस लड़की की बात तेजी को न बताई थी, पर एक-सी स्टेशनरी के पत्रों की गड्डियों और फ़ोन की घंटियों से तेजी का माथा ज़रूर ठनका होगा। वे विलिंगडन क्रिसेंट के बँगले को ठीक कराने, चीज़ों को यथास्थान रखने-रखाने, सजाने-सँवारने और वहाँ के रहन-सहन को व्यवस्थित करने में इतनी उलझी रहीं कि उन्होंने मुझसे कुछ न पूछा। शायद न भी पूछतीं, पर उस पगली ने तेजी को भी एक पत्र लिख दिया। तब तो उस लड़की को लेकर हमारी विस्तृत बातचीत हुई। तेजी की राय थी कि लड़की किसी विचित्र मनो-विकृति की शिकार है, मुझे तुरन्त उससे पत्र-व्यवहार बंद कर देना चाहिए। मेरा विश्वास था कि मैं उसे थोड़ी संवेदना, थोड़ी समझबूझ देते हुए उसे सामान्य कर सकने में सफल हो सकूंगा—मेरे प्रति उसका आकर्षण कविता में sublimate (संयमनिष्ठ) होने की संभावना लिए है। अन्त में हमारा समझौता इस बात पर हुआ कि मैं अपने पत्र को कविता-संशोधन या काव्य-संबंधी प्रश्नों के उत्तर तक सीमित रखूं। ऐसा भी कुछ दिन चला। पर तेजी ही शायद ठीक थीं; विकृत मस्तिष्क से कविता नहीं लिखी जा सकती, कविता के लिए तो सामान्य से अधिक सुलझा, परिष्कृत मस्तिष्क चाहिए।

मैं इस प्रसंग को एक साथ, एक स्थान पर समेटने, समाप्त करने के लिए समय की एक-दो लंबी कूदें ले रहा हूँ। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आईं कि साल बाद मैं दिल्ली छोड़ स्थायी रूप से रहने को बंबई चला गया। कवि-लड़की ने लिखा, 'मेरा प्रेम तुम्हें दिल्ली से खींचकर बंबई लाया है।' उसके व्यवहार में रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं हुआ था। घूमने जाता तो साथ चलने के लिए मैंने उसे मना कर दिया था। वह एक जगह खड़ी रहती, मैं सामने से निकलता तो मेरे पाँव छूती, बात कुछ न करती, चली जाती। यदा-कदा पत्र लिखती, प्रायः अपने सपने बतलाती—वह क्या सपने देखती, इसे आपकी कल्पना के ऊपर छोड़ना चाहूँगा। आप ग़लत नहीं होंगे। कविता लिखना उसका बिलकुल छूट गया था। क्या आप विश्वास करेंगे कि यह क्रम तीन वर्ष तक चला। मैं लंबी-लंबी अवधि के लिए बंबई से बाहर जाता, उसे कोई सूचना न देता, लौटकर आता, घूमने के लिए निकलता। वह लड़की उसी जगह पर खड़ी मिलती, मुझे लगता मेरी अनु-पस्थिति में भी वह प्रतिदिन आती होगी, वहीं खड़ी होती होगी और निराश चली जाती होगी—मैं समझ न पाता—यह निष्ठा है, कि हठधर्मी है, कि पागलपन है, कि क्या है।

1981 में अमिताभ की एक फ़िल्म 'सिलसिला' काश्मीर में शूट हो रही थी। वे सारे परिवार को साथ ले गए थे। हम लोग ओबेराय पैलेस होटल में ठहरे थे। कवि-लड़की को न जाने कैसे इसका पता लग गया था; वह भी अकेली काश्मीर चली आई थी और पैलेस होटल में ही ठहरी थी। जितने दिन हम लोग वहाँ ठहरे थे वह भी ठहरी रही। मैं उसे डाइनिंग हाल में, सुबह-शाम लान में कुर्सी पर बैठी या घूमती पाता। वह दूर से मुझे देखती, मेरी नज़र भी उसपर पड़ जाती। एक शाम मुझे अकेला पाकर वह मेरे पास आकर बोली, 'मैं अपनी सुहागरात मनाने आई हूँ।'

'किसके साथ ?'
'तुम्हारे साथ।'
'मैं तो साथ नहीं रहूँगा।'
'बने ध्यान ही करते-करते जब साथी साकार सखे !'
(मधुशाला की पंक्ति है)

'तुम्हारी सुहागरात सुखमय हो।'
'सुहागरात दुखमय भी होती है।'

और उसका यह वाक्य अतीत से—पूर्वजन्म से आई प्रतिध्वनि के समान मेरे कानों पर पड़ा—याद आ गई वह रात जब गौने के बाद श्यामा बुखार में पड़ी आई थी और मैं उसकी खाट-से-खाट लगाकर लेट रहा था। क्या वह रात श्यामा के लिए और मेरे लिए दुखदायी नहीं थी। कवि-लड़की की ऐसी बातें कभी-कभी मुझे संदेह में डाल देतीं, क्या सचमुच वह पूर्वजन्म की श्यामा है, जिसमें पिछले जीवन की जी-भोगी स्मृतियाँ थोड़ा-बहुत परिवर्तित होकर अब भी शेष हैं। ऐसे अवसरों पर उसके प्रति मुझे प्यार भी आता, दया भी आती, कुछ उसकी, कुछ अपनी सीमाओं पर, असमर्थताओं पर गुस्सा भी आता। पूर्वजन्म अगर है, और अगर उसकी कुछ यादें भी बची रहें तो कितनी कष्टदायी हो सकती हैं।

जब वह अपने कमरे की ओर जाने लगी एक करुणा-मिश्रित मुस्कान मेरे अधरों पर आ गई।

काश्मीर से लौटने के बाद मुझे कवि-लड़की का एक पत्र मिला, किसी अस्पताल से लिखा गया था, नाम नहीं बताया गया था, 'माई ज्वाय, मैंने तुम्हें एक पत्र लिखा था, पोस्ट करने जा ही रही थी कि मेरे पिता ने मुझे देख लिया, पूछा, पत्र किसको लिखा है, मैंने नहीं बताना चाहा तो पत्र मेरे हाथ से छीन लिया, पढ़ा और मुझे बहुत मारा-पीटा...योर्स सफ़रिंग'।

अब वह मुझे 'ज्वाय' बना खुद 'सफरिंग' हो गई थी—कुछ तथ्यानुभूति और कल्पनात्मक व्यंग्य तो था ही उसके पीछे।

दूसरे दिन उसके पिता का पत्र आया, समय दें, आपसे मिलना चाहता हूँ।

मैंने समय दे दिया। अंतराल में सोचता ही रहा वे क्या पूछेंगे, मैं क्या कहूँगा। निश्चित तिथि-समय पर वे नहीं आए। मुझे फ़ोन किया—'आप मेरी लड़की से पत्राचार करते रहे हैं। मैं आपको आगाह करना चाहता हूँ कि मेरी लड़की ऐबनार्मल है, साइकिक केस है, आधी पागल है। आप उसके पत्रों का उत्तर न दें, वह पत्र भेजे भी तो आप उसे मेरे पास भेज दें। उससे मिलें भी नहीं।'

मैंने कहा, 'बहुत अच्छा।' साथ यह भी जोड़ दिया, 'लड़की को समझें, सहानुभूति से समझाएँ...आप समर्थ हैं, देश में या विदेश भेजकर किसी मनसविद से उसका उपचार कराएँ।'

दस-पंद्रह रोज़ बाद एक सुबह वह लड़की 'प्रतीक्षा' के फाटक पर आई। नाम की चिट भेजी। मैं बाहर निकला। उसने कुछ चीजों से भरा एक प्लास्टिक का थैला मेरे हाथों में दिया—'मेरी अमानत'। और चली गई। उसमें झाँक कर मैंने देखा—उसमें थीं उसको लिखी मेरी चिट्ठियाँ, मेरी दी पुस्तकें, मेरी आवाज़

में भरा मेरी कविताओं का कैसेट—यानी सब कुछ जो मेरी निशानी के रूप में उसके पास था।

'81 के अंत में उसका एक पत्र मुझे मिला था जिसका आशय था, मैं अपने माता-पिता से अलग हो गई हूँ...फलाँ शिक्षा-संस्थान में पढ़ाती हूँ...फलाँ होस्टल में रहती हूँ।

उसके बाद से मुझे कुछ पता नहीं वह कहाँ है, क्या करती है। कल्पना करना चाहता हूँ कि उसके जीवन में कोई स्वस्थ, सुन्दर, योग्य नवयुवक आ गया होगा, जिससे उसका विवाह हो गया होगा। शायद अब तक वह एक दो बच्चों की माँ भी हो चुकी होगी—पिछले वर्षों को कभी याद भी करती होगी तो एक धुँधले दुःस्वप्न के समान जो शायद आते ही उसके बच्चे या बच्ची की वात्सल्यजनक खिलखिलाहट या ममत्वजनक रुदन में विलीन हो जाता होगा !

हम हिन्दू पूर्वजन्म और पश्चात-जन्म को संस्कारतः स्वीकार कर लेते हैं। सबूत कभी-कभार हम पाते हैं तो किसी-किसी की पूर्वजन्मों की स्मृतियों में जो शत-प्रतिशत सत्य नहीं होतीं और शत-प्रतिशत सिद्ध भी नहीं होतीं। पर चूंकि हम पूर्वजन्म को अपने धर्म और अपनी संस्कृति से अनिवार्य रूप से जोड़े हुए हैं, हम आधे-तीहे सत्य और आधे-तीहे सबूत पर भी संतोष कर लेते हैं। जब कई लड़कों और कई लड़कियों ने पूर्व जन्म में अपने कर्कल और श्यामा-चंपा होने की बात मुझसे कही तब कुछ संस्कारतः, कुछ इस मोह से कि मैं उनकी सत्ता के पूर्णतया विलय होने को सहज सहन नहीं कर सकता था, और कुछ इस कारण कि उन्होंने कुछ ऐसे संकेत दिए जो कर्कल और श्यामा-चंपा के पूर्व जीवन रूप की प्रकृति-प्रवृत्ति और घटनाओं से मिलते-जुलते-से थे, मैंने अर्द्धसंदेह और अर्द्धविश्वास से उन्हें मान लिया। साथ ही, मुझे यह आभास भी था कि मेरी आत्मकथा,'क्या भूलूं क्या याद करूँ' को अतिशय सहानुभूति से पढ़ने के कारण भी समवय नवयुवक-नवयुवतियों को कर्कल या चंपा या श्यामा से अपनी एकात्मता (आइडेंटिटी) अनुभव करने की कामना जाग सकती है। पर मैं स्वीकार करना चाहूँगा कि संपूर्ण दृढ़ता से मैं उनकी इस कामना, इस आत्म-सम्मोहन को नकार नहीं सका। इसके कारण जो मानसिक उथल-पुथल, उद्वेलन, ऊहापोह, उद्विग्नता मैंने सही-भोगी उसकी एक संक्षिप्त व्यथा-कथा आपके सामने प्रस्तुत कर दी है।

अब कुछ तटस्थ दृष्टि से मैं उसपर विचार करना चाहता हूँ—मेरी दृष्टि न तो रूढ़िग्रस्त धार्मिक है, न तर्कसम्मत दार्शनिक। मनोवैज्ञानिक कतिपय तथ्यों को कुछ स्वाध्याय से, अधिक स्वानुभूति से जानने-समझने का दावा मैं करना चाहता हूँ। और कुछ अपनी कवि-कल्पना का बल भी मुझे है, ऐसा मैं मान लेता हूँ।

पूर्वजन्म के अस्तित्व का कोई भी विश्वसनीय प्रमाण न पाने पर भी जब मेरे सामने पूर्वजन्म का दावा किया गया तो मैंने उसे क्यों नहीं नकारा ?

पूर्व या पश्चात-जन्म के विश्वास के साथ अपनी आत्मा या अपनत्व की चेतना का महामोह जुड़ा है, जिसका इस जन्म में स्वाद पाकर हम चाहते हैं यह कभी मिटे नहीं, नष्ट न हो, शून्य-विलीन न हो, यानी हम इसे अमर मानना चाहते हैं, जो सदा से थी, अब है और सदा रहेगी। कुछ लोग इसके लिए भी तैयार हो सकते हैं, हैं भी, जो उसकी जन्मपूर्व सत्ता न मानते हुए भी उसकी

जन्म-पश्चात सदा सत्ता का मोह बनाए रहें। दूसरे कि पूर्व जन्म के दावे को नकारने का अर्थ होता अपनी आत्मा, अपने अपनत्व की चेतना को नकारना, जिसका साहस तब मैं न जुटा सका था।

अब उसे नकारने के लिए मैं थोड़े मनोवैज्ञानिक सत्य का आधार लेना चाहता हूँ!

पूर्व और पश्चात-जन्म को जोड़ने वाली यदि कोई कड़ी हो सकती है तो स्मृति; शेष मनुष्य की सारी प्रकृति, प्रवृत्ति, विशेषताएँ इसी जन्म की भौतिक परिस्थितियों, पृष्ठभूमियों, संस्कारों, प्रभावों से व्याख्यायित की जा सकती हैं।

प्रश्न उठता है क्या स्मृति भौतिक, स्थूल उपकरणों के बग़ैर अपनी सत्ता बनाए रख सकती है। मनोवैज्ञानिक सत्य है—स्मृति के निर्माण, उसके स्थायित्व के लिए स्वस्थ मस्तिष्क का उपकरण चाहिए। उसकी त्रुटियाँ स्मृति को त्रुटिपूर्ण करती हैं। वृद्धावस्था में उसकी दुर्बलता विस्मृति तक पहुँचा देती है।

शरीर के साथ मास्तिष्किक उपकरण भी नष्ट होता है—'भस्मांतऽ शरीरं'। मस्तिष्क शरीर का अंग है।

पूर्वजन्म की स्मृति निराधार होने के कारण नहीं रह सकती।

अब प्रश्न रह जाता है आत्मा का।

वह स्थूल तो नहीं ही है—वह सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में भी होती तो अब तक विज्ञान की पकड़ से वह दूर नहीं रह सकती थी। शायद वह सिर्फ़ एक Concept है—परिकल्पना।

क्या जिसे हम आत्मा कहते हैं वह आत्मचेतना ही तो नहीं है जो मनुष्य में धीरे-धीरे विकसित हुई है। वह हर मनुष्य में धीरे-धीरे विकसित होती है और उसे मैं नहीं नकार सकता। पर जीवन से पूर्व और मृत्यु के पश्चात उसकी सत्ता में विश्वास भी नहीं रख सकता।

इस आत्म-चेतना और अहं-मोह को लेकर धर्म, दर्शन, नैतिकता, कर्मकांडों का बहुत विस्तृत-बहुविधि तंत्र रचा गया है। अपनी इस विचार-प्रक्रिया से मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ उसे मैंने हंस-प्रतीक से लिखी एक कविता में बाँधा है। मैंने आपसे कहा था न, कि कुछ मनोविज्ञान, कुछ कविता के सहारे मैं इस विषय पर कुछ कहूँगा। मनोविज्ञान की बात कह दी, अब कविता पर आएँ। यह कविता पिछले वर्ष 'धर्मयुग' में छप चुकी है 'अहंमोह' शीर्षक से। किसी संग्रह में अब तक नहीं आई—

'हंसा,
तुम्हारे भोले-भाले पूर्वजों ने
अहं को, अस्मित्व को, आतमत्व को
इतना सेया, संजोया, ढोया
कि मृत्यु में—अनिवार्य—वे
उसकी परिसमाप्ति स्वीकार न कर सके;
इनकार के सौ विकार झेले,
खड़े किये अपने लिए
सौ झंझट, सौ झमेले।

हंसा,
क्या तुम अपने पूर्वजों-से ही भोले-भाले हो ?
अहं, अस्मित्व, आत्मत्व का उतना ही मोह पाले हो ?'

'नहीं, बिलकुल नहीं।
अज्ञात, कल्पना के हज़ार द्वार खोलता है,
पर ज्ञात-स्वरों में ही बोलता है।

वे भोले-भाले
मृत्यु पर जीवन का ही आरोप करते रहे;
अज्ञात के फलक पर
ज्ञात का ही रंग भरते रहे।

वे
मृतकों की समाधि में
भोजन और वस्त्र धरते रहे;

वे—
कुछ ऐसे भी चालाक थे—
उनके भोलेपन का लाभ उठाते रहे;
मृतकों के लिए
भोजन, वस्त्र, छत्र, शैया का दान कराते रहे;
खुद खाते रहे, खुद आराम फ़रमाते रहे।

वे
अनेकानेक योनियों में
उन्हें फिर-फिर जन्माते रहे,
वे
मौत में केवल उन्हें लंबी नींद में सुलाते रहे,
और फिर अनंत काल के लिए जगाकर
शराब से नहलाते रहे,
आग में झुलसाते रहे;
यानी हर हालत में अपने अहं को सहलाते रहे।
और इन्हीं आधारों पर
धर्म, शास्त्र, नीति, रीति के ढाँचे खड़े करते रहे,
जिनमें वे घिरे-घिरे,
फँसे-फँसे,
कसे-कसे
जीते रहे, मरते रहे।

मैं तो अहं-मोह को
एकदम हटाता हूँ,

होने से न-होने में
सहज सरक जाता हूँ;
जीते जी अपने लिए मुक्त गगन पाता हूँ,
मरने पर बिंदु-सा सिंधु में समाता हूँ।'

आत्मा की व्यक्तिगत सत्ता और अमरता पर इतना साहित्य है कि 'एक लख ऊँट सवा लख गाड़ी' पर भी लादा जाय तो शायद ही समाए। जो भाषाएँ मैं जानता हूँ उनमें भी इतना साहित्य है कि एक दर्जन जन्म—life piled on life—में भी पढ़ सकना असंभव होगा। फिर भी मूल-मूल पढ़ने-समझने का मैंने प्रयत्न किया है। यह नहीं कि पोथियाँ पढ़ने की सीमाएँ मैं नहीं जानता, यह भी नहीं कि तथाकथित पाए-पहुँचे हुओं की संगत मैंने कम की है, और यह भी नहीं कि चिंतन-मनन में मैंने कम समय दिया है। इतना मैं ज़रूर कहना चाहूँगा कि शास्त्र-प्रतीति अथवा विद्वत्-प्रतीति को मैं आत्म-प्रतीति पर तरजीह नहीं दे पाता। और आत्म-प्रतीति मेरी यही है कि आत्म-चेतना से ऊपर आत्मा की सत्ता-अमरता मेरे दिमाग़ के ढाँचे में नहीं बैठती। जिसे आत्म-तत्व या अमरत्व कहा जाता है उसे मैं इस आत्म-चेतना, कामना, कांक्षा, महत्वाकांक्षा का अंतिम रूप समझता हूँ। मैंने अपने से बार-बार पूछा है, अपनी व्यक्तिगत सत्ता की चेतना से क्या यह अनुभूति अधिक शक्तिप्रद, संतोषप्रद, शांतिप्रद नहीं कि हम उस ब्रह्मांडीय ऊर्जा के अंश हैं जो आदि-अंतहीन काल में कभी-कभी संयोवशात रूपाकार ले अपने प्रति सचेत हो जाता है। हमारे इस रूपाकार की चेतना अपनी पीठिका, पृष्ठभूमि, परिवार, समाज, प्रदेश, देश, पृथ्वी—अब शायद अंतरिक्ष—के लिए भी प्रासंगिक, सार्थक, महत्वपूर्ण हो सकती है, पर उसके बाहर, उसके पार केवल मृत-विस्मृत नास्ति, ब्रह्मांडीय ऊर्जा—लुप्त-गुप्त—सुप्त, अथवा जाग्रत भी तो अपने स्वल्प देश-कालगत चेतना से अनवगत।

मैं मानता हूँ आत्मचेतना की कामना सत्ता के लिए, सदा-सत्ता के लिए इतनी प्रबल है कि स्मृतिहीन आदि-काल से आज तक मनीषियों ने सबूत के लिए उमरें खपाई हैं और कोई-कोई—और उनमें बड़े-बड़े प्रतिभावान लोग हैं—बड़े उपहासास्पद प्रमाणों को पकड़कर बैठ गए हैं। मुझे याद आता है ईट्स ने एक जगह कहा है—'Individual immortality is now proved beyond doubt. There is sufficient evidence to prove it over and over again in any court of law.'
(वैयक्तिक अमरता अब सिद्ध हो चुकी है और वह संदेह से परे है। पर्याप्त प्रमाण हैं कि उसकी सच्चाई किसी भी कानून की कचहरी में एक बार नहीं, कई बार साबित की जा सके।) जबकि एक दूसरे प्रतिभावान ने, शायद शा ने, कहीं कहा है, कि दुनिया का कोई ऐसा झूठ नहीं जो कानून की कचहरी में सच न साबित किया जा सके।

ख़ैर छोड़िए प्रतिभावानों को, साधारण मनुष्यों पर आइए जिनमें आप हैं, मैं हूँ। आत्मा की अमरता संदिग्ध हो पर आत्मचेतना तो असंदिग्ध है; उसकी प्रासंगिकता भी मान्य है—जीवन के लिए, समाज के लिए, साहित्य के लिए, लेखन के लिए, विचारों-अनुभूतियों के आदान-प्रदान के लिए, ऐसी स्मृति-यात्रा

के लिए जिसपर हम और आप निकले हैं। तो आइए उसके दूसरे पड़ाव पर—याद होगा आप को, मैं एक लंबी कूद लगाकर बहुत आगे चला गया था; फलाँग कर उतना ही पीछे आना होगा।

मध्य-सितंबर में नयना के जन्म पर मैं बंबई गया था, वहाँ रमोला-अजिताभ को 'बसेरे से दूर' समर्पित कर, अमिताभ को जन्म-दिन पर आशीर्वाद-बधाई दे, परिवार के साथ दिवाली मना, मध्य अक्टूबर में दिल्ली लौटा; और नवंबरांत में अपना जन्म-दिन मना पूना चला गया। वहाँ दिसंबर में अमिताभ की फ़िल्म 'काला-पत्थर' की शूटिंग होनेवाली थी और उन्होंने सारे परिवार को उस अवधि में अपने साथ रहने को आमंत्रित किया था। हम लोग 'ब्लू डायमंड होटल' में ठहरे थे।

वहाँ का मेरा दैनिक कार्यक्रम। सुबह उठ तैयार हो मैं श्रीरजनीश का प्रवचन सुनने चला जाता, लौट कर नाश्ता करता, शूटिंग यूनिट के साथ सपरिवार राजकपूर-फार्म पहुँचता—शहर से कोई 12-15 मील के फ़ासले पर। उसी जगह 'काला पत्थर' की शूटिंग हो रही थी, वहीं लंच का प्रबंध होता—मैं लंच के बाद रेस्ट हाउस में घंटे-डेढ़ घंटे सो लेता, शाम तक शूटिंग देखता और यूनिट के साथ होटल लौटता। रात को खाना हम सब लोग साथ अमित के कमरे में खाते। कभी-कभी खाने के बाद हमारी ताश की चौकड़ी जमती और फिर सोने को सब अपने-अपने कमरों में चले जाते।

पूना मैं पहले-पहल 1946 में गया था—तेजी-अमित के साथ, तेजी के धर्म-बंधु रमेश पंडित के निमंत्रण पर जो उन दिनों निकटस्थ खड्गवासला मिलिटरी एकेडमी में ट्रेनिंग ले रहे थे। अमित उस समय 4 वर्ष के थे।

संसद-सदस्यता के आरंभिक वर्षों में एक बार हिंदी दिवस पर मुझे पूना आमंत्रित किया गया था। विशेष आकर्षण वहाँ मेरे जाने का था कि उन दिनों मेहर बाबा नाम के एक पारसी संत वहाँ रहते थे। दिल्ली में उनके कुछ भक्तों ने उनका कुछ साहित्य अंग्रेज़ी में मुझे दिया था और मैंने उसे थोड़ा-बहुत देखा भी था। एक बार, याद है, कांस्टीट्यूशन हाउस में उनका जन्म-दिन भी धूम-धाम से मनाया गया था। बाबा मौन रहते थे, दर्शन देते थे, उँगलियों और मुख-मुद्राओं से कुछ संकेत करते थे, उनके एक पट्ट शिष्य उनका अर्थ बताते थे, बाबा इशारे से कहते थे अर्थ ठीक बताया जा रहा है। संदेश कोई नया नहीं—संसार को प्रेम करने से आदमी संसार से विरक्त हो जाता है और 'सार' को प्रेम करने लगता है जो परब्रह्म है, परमात्मा है। उनका दावा था कि अपनी मौन साधना के अंत में वे एक शब्द बोलेंगे और उससे संसार में क्रांति हो जाएगी। कई साल बाद अखबार में पढ़ा, बाबा समाधि में या सोते में—बिना वह शब्द बोले—'त्यक्त्वा देहं दिवंगतः'।

'जंज़ीर' के बाद 'ज़मीर' की शूटिंग के समय भी एक सप्ताह के लिए हम अमिताभ के साथ पूना आए थे; 'ब्लू डायमंड' में ही ठहरे थे। शूटिंग महेन्द्रा ऐंड महेन्द्रा के स्टड फ़ार्म में हुई थी। उस शूटिंग की एक घटना मुझे याद है। फ़ार्म पर एक बहुत ही बिगड़ैल घोड़ा था। अमिताभ को उसपर सवारी करनी थी। महेन्द्रा ने आगाह किया कि वे ऐसा दुःसाहस न करें, घोड़ा उन्हें निश्चय

गिरा देगा और उन्हें गहरी चोट लग सकती है। अमिताभ नहीं डरे थे और घोड़े की बहुत-उछल-कूद के बावजूद उसपर सवारी गाँठ ली थी—'अश्व' को भी पता लग गया होगा कि उसपर 'पुरुष विशेष' सवार है। महेन्द्रा आश्चर्य-स्तब्ध रह गए थे

> अश्वः वीणा वाणी नरश्च नारी च,
> पुरुष विशेषं प्राप्ता भवंति योग्या अयोग्याश्च।

इस बार आया तो पूना में एक अभूतपूर्व दृश्य देखा। होटल में, होटल के आसपास, सड़कों पर, बाज़ारों में रजनीशी संन्यासी, संन्यासिनियाँ, संन्यासी बच्चे (रजनीश बच्चों को भी संन्यास देते हैं)—अधिकांश विदेशी—जोगिया रंग के कपड़ों में, लंबे बाल बिखेरे, गले में रजनीश-चित्री-लाकेट की माला डाले इधर-उधर घूमते लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं। होटल के पीछे कोई दो फ़र्लांग के फ़ासले पर 17, कोरेगाँव पार्क था, जहाँ श्री रजनीश आश्रम स्थित था। आश्रम के विषय में बहुत-कुछ पढ़-सुन चुका था। एक दिन कौतूहलवश देखने पहुँच गया—लवे सड़क ऊँची चहारदीवारी के बीच एक बड़ा फाटक; दाएँ, बाएँ, पीछे भी ऐसी ही ऊँची दीवार से आश्रम घिरा होगा। फाटक पर गौरांग संन्यासी पहरेदार थे, पर उन्होंने मुझे रोका नहीं। बाईं ओर एक बड़ा कमरा, जिसमें रजनीश के तरह-तरह की पोशाकों में चित्र टँगे, उनका साहित्य प्रदर्शन के लिए रखा, बिक्री के लिए भी; दाहिनी ओर एक और कमरा—दफ़्तर की तरह, कई टेबिलों पर कहीं संन्यासी, कहीं संन्यासिनें कुछ लिखा-पढ़ी, कुछ टाइपिंग का काम करती हुईं। और आगे बढ़ा तो दाहिनी तरफ़ एक बड़ा योरोपियन रंग-ढंग का केफ़िटेरिया दिखा; बाईं तरफ़ एक वर्कशाप जिसमें कुछ संन्यासी बढ़ई का काम करते हुए, कुछ मालाएँ बनाते हुए; उसके पीछे एक लंबा-चौड़ा चबूतरा, जिसपर शामियाना तना। सामने और दाएँ झाड़ी-बाड़ी से घिरी कुछ ऊँची-ऊँची इमारतें, पर उनमें प्रवेश वर्जित था; किसी ने बताया उसी में प्रवचन-हाल है, जिसके पीछे श्री रजनीश रहते हैं। सुबह हाल में उनका प्रवचन होता है और संध्या को वहीं वे लोगों से मिलते हैं, जिसके लिए उनकी सेक्रेटरी माँ योगालक्ष्मी से समय-तिथि निश्चित करानी पड़ती है।

आचार्य रजनीश के नाम से मेरा परिचय 1969 में हुआ था। उनके कुछ लेख या व्याख्यान औरों द्वारा प्रस्तुत 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुए थे। उनके विचारों में मौलिकता थी, अभिव्यक्ति में तर्कों का पैनापन था और लहज़ा था किसी निर्भीक क्रांतिकारी का।

उनकी प्रारंभिक प्रकाशित कृतियों से मेरा परिचय कराया था श्री शिव-प्रताप सिंह 'शिव' ने। 'शिव' ने 1965 से मेरी कविताओं के प्रेमी के रूप में मुझसे पत्राचार आरंभ किया था और मुझसे यत्किंचित सद्भावना पाकर मुझे अपना 'सखा, साथी, प्रेमी एवं शुभचिंतक' मान लिया था। कविता लिखने में उनकी रुचि थी और उनकी कई कविताएँ स्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। रहनेवाले वे परताबगढ़ के थे, जबलपुर में रेलवे के किसी विभाग में काम करते थे। साल-दो साल बाद किसी साहित्यिक कार्यक्रम में जबलपुर जाने पर मैं उनसे और उनके परिवार से मिला था। 1968 में श्री अजितकुमार और ओंकारनाथ

श्रीवास्तव के संपादकत्व में 'बच्चन निकट से' नाम से जो पुस्तक मुझपर निकली थी उसमें 'शिव' का भी एक संस्मरण था—'अपने कवि से बहुत बड़े मनुष्य'। इसके कुछ पूर्व आचार्य रजनीश सागर विश्वविद्यालय में दस वर्ष दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर रहने के बाद वहाँ से इस्तीफा दे जबलपुर में आकर वहीं व्यवस्थित हो गए थे। देश में अभिनव धर्मचक्र उनकी प्रवर्तन की योजना थी, जिसकी प्रारंभिक तैयारी में वे भारत के प्रसिद्ध नगरों में घूम-घूमकर व्याख्यान-प्रवचन देने लगे थे। शायद कुछ साधना शिविरों का भी आयोजन किया था। एक ही नगर में रहते हुए 'शिव' किसी संयोग से रजनीश जी के संपर्क में आए और उनके आचार-विचार-व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। यथा-सुविधा उनके साथ उनके दौरों पर भी जाने लगे। इस बीच रजनीश रचित कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हो गई थीं और उनके संदेश के प्रचारार्थ दो पत्रिकाएँ भी निकलने लगी थीं। '69 में 'शिव' ने उनका कुछ साहित्य मेरे पास भेजा, नमूने के तौर पर पत्रिकाओं के कुछ अंकों के साथ। 'इष्टं धर्मेण योजयेत'। पुस्तकें मैंने पढ़ीं, पत्रिकाओं का नियमित ग्राहक बन गया। रजनीश के विचार और उनकी शैली मेरे लिए कम आकर्षक नहीं थी। उनसे मिलने की आकांक्षा मुझमें जगी।

उसी साल किसी समय आचार्य जी दिल्ली पधारे, मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ जवाहरनगर में ठहरे। 'शिव' साथ आए थे, फ़ोन कर उन्होंने मुझे उनसे मिलने को बुलाया।

रजनीश औसत क़द, भरी काठी के थे; सिर शरीर के अनुपात से कुछ बड़ा; आँखें सिर के अनुपात से कुछ बड़ी, चमकदार, पैनी, गहराई लिए; रंग साँवला, काली दाढ़ी-मूँछ मंडित चेहरा, मध्य मुंड गंजा, अगल-बगल पीछे से लंबी घुंघराली काकली कंधों पर लहराती; उम्र 35-40 के बीच होगी। लुंगी बाँधे, नंगे बदन बैठे थे, कंधे पर एक छोटा तौलिया डाले जिससे वे बार-बार अपना मुँह पोंछते रहते।

उन्हें देखते ही किसी असामान्य व्यक्तित्व का आभास हुआ। उनका थोड़ा-बहुत साहित्य मैं पढ़ चुका था। बातचीत में वे मुझे खुले, अमलिन दर्पण के समान लगे। मुझे लगा, सही या ग़लत, कि वे मेरे मधु-काव्य से परिचित ही नहीं, उसमें गहरे डूबे हैं; अगर उनके हृदय के दर्पण में मैंने अपना प्रतिबिंब देखा तो अपने हृदय के दर्पण में मैंने उनका प्रतिबिंब पाया—

जिसमें मैं बिंबित-प्रतिबिंबित
प्रतिपल वह मेरा प्याला।

मधुकाव्य लिखने के पूर्व मुक्त-मस्त-भंजक-सृजक मानव के जिस रूप में मैंने अपने को ढाला था, या अधिक ठीक होगा कहना कि मैं ढल चुका था, रजनीश उसकी साक्षात प्रतिमा थे। अंतर केवल यह था कि रजनीश का अगर दिमाग बोल रहा था तो बच्चन का रक्त बोला था। बहु अधीत दार्शनिक, समाज-सुधारक, धर्म-प्रचारक, पूर्व-प्राध्यापक और कवि में यह अंतर होना ही था। फिर भी उनके अपने विचार-साम्य से मैं अभिभूत हुआ। अपने स्वीकार किए जाने का संकट मैं भोग चुका था और रजनीश के स्वीकार किए जाने की कठिनता की कल्पना से मैं काँप उठा। मैं तो कवि था, अभिव्यक्ति पर मेरा काम समाप्त हो गया था, पर यह

दार्शनिक क्रांतिकारी तो अपने स्वीकार किए जाने के लिए आग्रहशील होगा और यह इस रूढ़िबद्ध देश में उसके लिए जान का खतरा भी साबित हो सकता है। अपनी यह आशंका रजनीश पर व्यक्त करते-करते मैं इतना भावुक हो गया कि अपने आँसू न रोक सका। उस समय की मेरी भावातिशयता का एक विशेष कारण यह था कि मैं उन दिनों 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की स्थितियों को सृजन की सघनता-तीव्रता में जी-भोग रहा था।

रजनीश की बातों मे मोहिनी थी—पकड़ थी। मुझे याद आया, एलसीबायडीज़ सुकरात का साथ छोड़कर भागा कि अगर उसने ऐसा न किया तो सारे जीवन वह सुकरात को सुनने के अलावा और कुछ न कर सकेगा। और यह बात रजनीश के कानों में डाल मैंने उनसे विदा ली। वे दूसरे दिन भी रुकनेवाले थे। दूसरे दिन फिर उनसे मिलकर मैंने उन्हें 'मधुशाला' की एक प्रति भेंट की, उन्होंने भी अपनी एक कृति मुझे; कहा, कभी आप जबलपुर आएं और कुछ समय के लिए मेरे पास ठहरें; आप अपना समय व्यर्थ गया न पाएँगे। उसी समय वे गाड़ी पकड़ने के लिए स्टेशन जा रहे थे। मैं भी उन्हें पहुँचाने चला गया। बाहर निकलने पर वे तहमत के ऊपर अंडी की चादर ओढ़ लेते थे, पाँव में चप्पल। उनका सामान मामूली था—एक होल्डाल, एक बक्स—साथ 'बुलवर्कर' जिसके अभ्यास की राय उन्होंने मुझे भी दी थी। जबलपुर पहुँचने के कुछ समय बाद उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा :

'मेरे प्रिय,

प्रेम।
ऐसा कहाँ होता है कि दो व्यक्तियों में मिलन हो पाए ?[1]
इस पृथ्वी पर तो नहीं ही होता है न ?
संवाद असंभव ही प्रतीत होता है।
लेकिन कभी-कभी असंभव भी घटता है।
उस दिन ऐसा ही हुआ।
आपसे मिलकर लगा कि मिलन भी हो सकता है।
और संवाद भी। और शब्दों के बिना भी।
और आपके आँसुओं से मिला उत्तर।
उन आँसुओं के प्रति मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।
ऐसी प्रतिध्वनि तो कभी-कभी ही होती है।
मधुशाला देख गया हूँ। फिर-फिर देख गया हूँ।
गीत गा सकता तो जो मैं गाता वही उसमें गाया है।
संसार को भी आनंद से स्वीकार कर सके ऐसे संन्यास को ही मैं संन्यास कहता हूँ।

क्या सच ही संसार और मोक्ष एक ही नहीं है ?
अज्ञात में द्वैत है। ज्ञान में तो बस एक ही है।
आह ! प्रेम और आनंद के जो गीत गा नाच न सके वह भी क्या धर्म है ?

रजनीश के प्रणाम—8-8-69

[1] 'पर जगत में दो हृदय की मिलन की आशा विफल है'—'एकांत संगीत'

पुनश्च : शिव कहता है कि आप यहाँ आने को हैं ? आवें—जल्दी ही। समय का क्या भरोसा है, देखें सुबह हो गई है और सूरज जन्म गया है ? अब उसके अस्त हो जाने में देर ही कितनी है ?

'69-'71 के बीच आचार्य जी कई बार दिल्ली आए, शायद ही कोई अवसर चूका हूँ मैं उनसे मिलने का। हर बार हमने अपनी-अपनी कृतियों का आदान-प्रदान किया। रजनीश जी अपने हस्ताक्षर में 'आचार्य श्री रजनीश' लिखते थे, पर कुछ ऐसी विचित्र तरह कि पढ़ा न जाए। बातें तो वे बहुत करते थे। दो बातें खास याद हैं। एक तो उन्होंने कहा था कभी मैं आपकी 'मधुशाला' पर भी बोल सकता हूँ—पत्र में उसे अपना गीत मान ही लिया था—और कभी मुझे इंदिरा जी से मिलवाएँ। इंदिरा जी से मैंने प्रस्ताव किया भी था। उन्होंने यह कहकर टाल दिया था—उनके विचार अव्यावहारिक रूप से क्रांतिकारी हैं। दो बार मैंने उनके व्याख्यान भी सुने—एक बार दिल्ली युनिवर्सिटी में, दूसरी बार नगर में कहीं। वक्तृता भी एक कला है। हिंदी के अच्छे वक्ताओं में, जिन्हें मुझे सुनने का अवसर मिला, मैं पंडित मदनमोहन मालवीय, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पंडित माखन लाल चतुर्वेदी और अमरशहीद गणेशशंकर विद्यार्थी को स्मरण करना चाहूँगा। रजनीश जी को किसी से उन्नीस समझना उनके प्रति अन्याय होगा। उनके उच्चारण की कुछ त्रुटियाँ अवश्य अखरती थीं। 'श' को वे 'स' कहते थे, 'ज्ञ' को 'ज' और कई शब्दों को सानुनासिक करके बोलते थे, 'साथ' को 'सांथ', 'बाक़ी' को 'बांकी'। एक बार तेजी को भी ले जाकर मैंने उनसे मिलाया था। वे उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुई थीं, पर उनके विचारों से वे पूर्णतया सहमत न हो सकती थीं, फिर भी उनके साथ उन्होंने कोई वाद-विवाद नहीं उठाया; वे साधु-संतों के साथ बहस-मुबाहिसों में नहीं पड़तीं; वे कहती हैं, जो वे कहते हैं सुन लो; मानने, न मानने को तुम स्वतंत्र हो और अच्छे संत मानने को बाध्य करते भी नहीं।

'71 के अंत में जबलपुर से उठकर आचार्य जी बंबई में व्यवस्थित हो गए थे—पेडर रोड पर 'वुडलैंड' बिल्डिग में। '72 के प्रारम्भ में अमिताभ के साथ रहने को मैं भी बंबई चला गया था। एक शाम आचार्य जी से मिलने के लिए 'वुडलैंड' का पता लगाता वहाँ पहुँचा—'सुदामा मंदिर देखि डर्यौ'—भव्य, कई मंज़िली इमारत ! लगा आचार्य जी ने कोई मोटा चेला मूंड लिया है। किताबों की रायल्टी के बल पर इस शानदार बिल्डिग में रहना असंभव। दूसरी मंज़िल पर उनका फ़्लैट था। दो ही कमरे देखे, संभव है और हों, एक बड़ा हाल-सा जिसकी दीवारें किताबों से भरी, क़द्दे-आदम आलमारियों से ढकी, वहीं बीच में एक डायस-सा जिस पर बैठ रजनीश जी प्रवचन करते होंगे; दूसरा उनका रिहा-यशी कमरा, एक ओर उनका बिस्तर लगा था, एक ओर आरामकुर्सी पर वे बैठे थे, उसी तरफ़ दो-चार कुर्सियाँ आगंतुकों के लिए लगीं। पोशाक उनकी बदल गई थी। अब वे बढ़िया सफ़ेद कपड़े का बांहदार एड़ी तक लंबा चोग़ा पहने बैठे थे। बग़ल की टेबिल पर फ़ोन, 5-7 नई अंग्रेज़ी की किताबें रखीं—एक पर मेरी नज़र गई, जो शायद जे० कृष्णमूर्ति की थी। बाह्य बहुत कुछ नवीन के बावजूद, वे पूर्व स्नेह से ही मिले। चलने लगा तो अपना निमंत्रण फिर दुहराया—'वुडलैंड' आपकी प्रतीक्षा में है, कभी आकर यहीं ठहरें।

दूसरी बार 'वुडलैंड' में एक शाम मैं रजनीश जी से सत्येन्द्र शरत के साथ मिला। सत्येन्द्र उन दिनों मेरे साथ ही रहते थे। चालीस-पचास लोगों के समक्ष अपने नव-संन्यास के संबंध में किसी विदेशी महिला के प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। मुझे याद नहीं कि उसके पूर्व उन्होंने अपनी भगवत्ता घोषित कर दी थी कि नहीं —शायद कर दी थी। प्रश्नोत्तर समाप्त हुआ तो उन्होंने मुझसे कहा, बच्चन जी, अब आप अपनी कोई कविता सुनाएँ। इससे पहले एक बार और उन्होंने मुझसे कविता सुनाने को कहा था और तब मैंने सुनाया था अपना गीत—

इसीलिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो।

कविता खत्म हुई तो उनकी टिप्पणी थी, 'खड़े रहने में ही ग़लती हो गई, प्रेमी को प्रेमास्पद के द्वार पर पहुँचकर दस्तक देनी थी।' शायद उनकी यह बात कुछ समय बाद एक कविता के लिए प्रेरणा बनी, आपको सुनाऊँ ?—

ओ
मेरे शब्दो,
बड़े मुखर हो,
ध्वनिमय,
कोलाहलपूर्ण,
शोरगुल-भरे;
यों दल-बल सजा,
नारे लगाते,
मत जाओ उन तक,
जैसे बनकर आक्रामक !

उनके पास जाना ही है
तो समिधा बनो—
अगरु चन्दन—
मन्द-मौन जलो,
और किसी दिन
पवन की लहरों पर बहते-उतराते,
यज्ञ-धूम के समान,
स्नेह-गन्ध,
पहुँच जाओ उन तक,
जैसे कोई संकोची प्रेमी
आधी रात दबे पाँवों चलकर
अपनी प्रेमिका के द्वार पर
हाथों से नहीं,
साँसों से दे दस्तक।

दस्तक साँसों की कमज़ोर नहीं,
सच्चाई तो यह है
साँसों की दस्तक से
कोई दस्तक पुरज़ोर नहीं ।

आपका ध्यान शायद न जाए, इसमें रजनीश जी के 'डायनेमिक मेडीटेशन' की ओर भी संकेत है जिसमें दस मिनट तक ज़ोर-ज़ोर से साँस लेना पड़ता है ।

हाँ, तो उस शाम की कविता की बात तो रह ही गई। जैसे ही रजनीश जी के मुँह से निकला, 'बच्चन...सुनाएँ'—मैंने भावपूर्ण स्वर में अपनी कविता सुनाई—

अब मत मेरा निर्माण करो।

कुछ भी न अभी तक बन पाया,
युग-युग बीते, मैं घबराया;
भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !

इस चक्की पर खाते चक्कर
मेरा तन-मन-जीवन जर्जर;
हे कुंभकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो !

कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !

रजनीश जी नव-संन्यास द्वारा नव-मानव के निर्माण की बात कर रहे थे। श्रोताओं के मन में न जाने क्यों मेरी कविता उनको प्रत्युत्तर या उनको चुनौती की तरह प्रतीत हुई और उन्होंने उस पर जो अपनी आह्लादपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की, वह मुझे लगा, रजनीश जी को सुखद नहीं लगी। फिर भी उन्होंने चलते समय कहा, फिर आइएगा, मिलते रहिएगा।

कुछ दिनों बाद एक शाम मैं वुडलैंड पहुँचा। एक देवी जी मुझसे मिलीं—नाटी, कृश काठी की, बाल छोटे कटे, चेहरा चौकोर, आँखें पतली, नाक छोटी, कुछ फैली, रंग गेहुँएँ से कुछ साफ़। उमर पचीस-तीस के बीच होगी। उन्होंने जोगिया रंग की लुंगी और कुर्ता पहन रखा था। स्वभाव से शुष्क लगीं। बोलीं,

'मैं योगलक्ष्मी हूँ, भगवान रजनीश की प्राइवेट सेक्रेटरी, कहिए ?'

'मैं उनसे मिलने आया हूँ ।'

'भगवान आज नहीं मिल सकेंगे।'

'आप मेरा नाम उन तक पहुँचा देंगी ?'

'नहीं, भगवान नहीं मिल सकेंगे, मैंने कह दिया न ?'

रजनीश जी से न मिल सकने से अधिक मैं उस स्त्री के व्यवहार से आहत हुआ। मैंने कहा, 'भगवान ही हैं तो जैसे वुडलैंड में वैसे जुहू में।' भगवान जोड़-

कर रजनीश का नाम पहली बार मेरे कान में पड़ा था। तब से मैं उनसे मिलने कभी न गया। उनके साहित्य के प्रति अवश्य मेरा आकर्षण बना रहा। यदा-कदा उनके प्रवचनों के स्पूल या कैसेट मिले तो उन्हें भी सुनता रहा।

पूना आया तो रजनीश-आश्रम को होटल के इतने निकट पाकर मेरी इच्छा हुई कि उनके प्रवचन सुनूँ, संभव हो तो उनसे मिलने का प्रयत्न करूँ। मालूम हुआ श्री रजनीश 8 से साढ़े 9 तक प्रवचन करते हैं। प्रवचन सुनने के लिए 10 रु० का टिकट लेना होता है। पूना हम लोग दो सप्ताह रहे; मैंने दस-बारह दिन तो उनके प्रवचन सुने होंगे। साढ़े 7 से श्रोताओं का क्यू लगता। प्रवचन हाल में ऊनी कपड़े पहनकर या सुगंध लगाकर आना मना था। बताया गया भगवान को दमे की शिकायत है, उन्हें इन दो चीज़ों से एलर्जी है। प्रवेश द्वार पर दो लंबी औरतें—गौरांगी—सिर सूँघतीं। जिसके सिर से सुगंध आती होती उसे अंदर न जाने देतीं, इसी प्रकार ऊनी कपड़े भी उतरवा लिए जाते। बाहर ही एक बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—Leave your shoes and mind behind. ख़ैर जूते तो उतार देता, पर दिमाग़, कम से कम मैं, बाहर न छोड़ सकता था। पता नहीं कितने छोड़कर अंदर जाते होंगे। कोई दो-ढाई सौ श्रोता आते होंगे। 90 प्रतिशत गौरांग, प्रायः रजनीशी संन्यासी फ़र्श पर बैठते। प्रवचन रेकार्ड होता, उसके कैसेट बनते-बिकते, वही पुस्तक रूप में छपता। एक दिन प्रवचन होता, एक दिन प्रश्नों के उत्तर दिए जाते। प्रश्न पहले से भेजने पड़ते थे, उत्तर के लिए प्रश्नों का चुनाव रजनीश जी स्वयं करते थे। प्रति-प्रश्न की आज्ञा न थी। लग-भग 15 दिनों की एक प्रवचन माला अंग्रेज़ी में होती, दूसरी हिंदी में। जिन दिनों मैं पूना में था, हिंदी में प्रवचन माला चल रही थी। गौरांग वहाँ मौजूद हिंदी कितनी समझते होंगे, पर सब चुपचाप बैठे सुनते रहते। शायद उनके लिए उनका उतनी देर दर्शन, उनकी ध्वनि-तरंग पर झूमना पर्याप्त होता। रजनीश ठीक आठ बजे अपने दरवाजे से निकलते—लंबे चोगे में—प्रणाम करते, ऊँची कुर्सी पर बैठकर प्रवचन शुरू कर देते, और ठीक साढ़े 9 बजे 'आज के लिए इतना ही' कह-कर उठते, प्रणाम करते और अपने कमरे में चले जाते।

आश्रम में कुछ कार्यक्रम तो ऐसे होते थे जिन्हें आगंतुक देख सकते थे और कुछ बंद कमरों में होते थे जहाँ दर्शक नहीं जाने पाते थे। बाहर के कार्यक्रमों में मैंने केवल दो देखे। एक था सूफ़ी डांस, जिसमें क्रम से छोटे से बड़े चक्र में खड़े संन्यासी, एक दूसरे से विपरीत दिशा में घूमते थे किसी वाद्ययंत्र पर एक लय में गाते हुए—

ला इलाह इल्लिल्लाह
'भगवान' रसूलल्लाह !

धीरे-धीरे स्वर और गति में तेज़ी आती जाती। फिर इतनी तेज़ी आ जाती कि गाना-घूमना असंभव हो जाता और लोग चक्कर खाकर गिर पड़ते—उसी स्थिति में, कहा जाता, अहं विस्मृति होती है।

दूसरा कार्यक्रम था 'डाइनेमिक मेडीटेशन' का। उसमें नव-संन्यासी गोल चक्कर में खड़े होकर पहले 10 मिनट ज़ोर-ज़ोर से साँस लेते। फिर दस मिनट उछलते-कूदते-नाचते; फिर दस मिनट आँख मूंद बैठे या खड़े रहते, फिर दस

मिनट के लिए चित लेट जाते। इस स्थिति में, कहा जाता, समाधि लग जाती है।

मुझे बताया गया, रजनीश जी प्रवचन और संध्या-भेंट के अतिरिक्त किसी कार्यक्रम में उपस्थित नहीं होते; कार्यक्रम उनके सहायकों द्वारा चलाए जाते हैं; रिपोर्ट उनके पास पहुँचती है और उस पर जो कुछ सुझाव देना होता है वे अपने सहायकों को दे देते हैं।

कुछ देशी और विदेशी नव-संन्यासियों से भी मैं मिला और उनसे बातें भी कीं। कई हिंदी भाषी थे और मेरे कवि रूप से अपरिचित न थे। एक ने मुझसे कहा कि 'मधुशाला' पढ़ने के बाद उसका जो मूड बना था उसी में उसने नव-संन्यास लिया। एक ने कहा, 'मधुशाला' की यह रुबाई तो आश्रम के फाटक पर लिख देनी चाहिए—

> धर्मग्रंथ सब जला चुकी है जिसके अंतर की ज्वाला,
> मंदिर-मस्जिद गिरजे सबको तोड़ चुका जो मतवाला,
> पंडित, मोमिन, पादरियों के फंदों को जो काट चुका,
> कर सकती है आज उसी का स्वागत मेरी मधुशाला!

भगवान श्री स्वयं कहते हैं कि 'मैं पियक्कड़ हूँ, यह आश्रम मेरी 'मधुशाला' है। आश्रम तो ऊपरी-बाहरी दिखावा भर है। मैं यहाँ ध्यान की मदिरा पीता-पिलाता हूँ,' आदि।

प्रवचन में, श्रोताओं में वे मुझे देखते होंगे, पर उन्होंने कोई ऐसी मुद्रा न दी कि वे मुझे पहचान रहे हैं; दो-ढाई सौ श्रोताओं में मैं इसकी प्रत्याशा भी नहीं करता था, फिर बैठाने में ऐसा नियम था कि संन्यासियों को आगे जगह दी जाती थी, रजनीश जी की कुर्सी के निकट, अ-संन्यासियों को पीछे। मेरी इच्छा उनसे मिलने की थी, तेजी की भी। मिलने का समय माँगने के लिए माँ योगलक्ष्मी को लिखित प्रार्थनापत्र देना होता था। मैंने दोनों की तरफ़ से दे दिया। समय-तिथि निश्चित हो गई, कुछ छपित हिदायतें आ गईं—मिलने के समय से पन्द्रह मिनट पहले आएँ, ऊनी कपड़े न पहने हों, सुगंध न लगाए हों, मिलने पर भगवान श्री से उनके स्वास्थ्य के संबंध में कोई प्रश्न न करें, और दो-एक कुछ और ऐसी बातें जो मुझे याद नहीं। लगभग 25 लोगों को एक साथ मिलने का समय दिया गया था। कुछ उनमें से उसी शाम संन्यास लेनेवाले थे। पूना में उपलब्ध कुछ अपनी नई पुस्तकें मैं रजनीश जी को भेंट करने के लिए ले गया था। प्रवचन हाल में जाने के पहले काफ़ी क़वायद कराई गई। कपड़ों की परीक्षा हुई, बाल सूँघे गए, तेजी के बालों से सुगंध आती थी, उन्हें नहीं जाने दिया गया। जी तो चाहा विरोध में मैं भी न जाऊँ, पर फिर यह सोचकर कि जब समय माँगा है तो न जाना अशिष्टता होगी, मैं चला गया। पुस्तकों का उपहार बाहर ही रखा लिया गया, कहा गया वे रजनीश जी को पहुँचा दी जाएँगी। प्रवचन-हाल में ही सब लोग फ़र्श पर बैठे। रजनीश जी समय से आए और सबको प्रणाम कर कुर्सी पर बैठ गए। पहले कुछ लोगों को उन्होंने संन्यास दिया। माँ योगलक्ष्मी नाम पुकारतीं, संन्यासार्थी कुर्सी के सामने जाकर बैठ जाता। रजनीश जी उसे अपने लाकेट की माला पहनाते और संन्यासी-नाम देते; संक्षेप में, विशेषकर गौरांगों को, नाम का

अर्थ बताते; वह प्रणाम कर पीछे जा बैठता। कुछ संन्यासी आश्रम से विदा हो रहे थे। किसी-किसी को उन्होंने एक काठ की डिबिया दी—जब कोई शंका-संदेह मन में उठे और कोई समाधान न सूझे तो इस डिबिया को सिर पर रखना और तुम्हें प्रकाश मिलेगा। विश्वासो फलदायकः। रजनीश भी इसका उपयोग कर रहे थे। फिर बारी-बारी से मिलनार्थियों के नाम पुकारते जाते; संबद्ध व्यक्ति कुर्सी के पास जाकर बैठता। रजनीश जी पूछते, कैसे आए? व्यक्ति कोई प्रश्न करता, रजनीश जी संक्षेप में उत्तर देते या किसी का नाम बताते—फलां से मिलिए, वे आपको सब बताएँगे, आदि। प्रश्न-उत्तर सब रेकार्ड होता रहता। मेरी बारी आई तो मैं भी उठकर सामने गया, प्रणाम किया। रजनीश ने अपनी मुद्रा से ऐसा कुछ नहीं दिखाया कि मुझे कभी पहले मिल चुके हैं। मैंने कहा अपनी कुछ किताबें लाया था, आपके पास लाने की आज्ञा नहीं थी, बाहर छोड़ आया हूँ, शायद आपको मिल जाएँगी। मैंने पूछा, क्या संभव होगा कि मुझसे अलग मिलने को कुछ समय दें। उन्होंने कहा संभव तो होगा; आपको सूचित किया जाएगा। मुझे सूचित नहीं किया गया।

मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि रजनीश जी की दिलचस्पी केवल उन लोगों में है जो संन्यास लेने के लिए आते हैं, और वे छोटे-बड़े सबसे प्रत्याशा करते हैं कि जो यहाँ आए संन्यास ले। उन्होंने अपने पिता-माता को भी संन्यास दे रखा था, अपने पूर्व जन्म की माता को भी, जिसे उन्होंने खोज-पहचान लिया था, ऐसा मुझे बताया गया। शायद उन्हें आभास हो गया होगा कि मैं उनमें से नहीं हूँ जो संन्यास के लिए किसी तरह का झुकाव दिखाएँ बजुज़ इसके कि मैं उनके प्रवचन में नियमित रूप से जा रहा था, उनका साहित्य खरीद रहा था, यदा-कदा आश्रम जाकर उसके क्रिया-कलाप देख रहा था।

दो सप्ताह आश्रम में आते-जाते मैं कई देशी-विदेशी संन्यासियों से परिचित हो गया था। मैं स्वीकार करना चाहूँगा कि कइयों में मुझे मानव का वह मुक्त, मस्त, भंजक, सृजक रूप मिला जो मधु-काव्य काल में मेरी कल्पना में आदर्श मानव का था।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि हर दल, पंथ, पार्टी, समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो उसमें सम्मिलित होकर चाहते हैं कि सारी दुनिया उसमें शामिल हो जाए। रजनीशी संन्यासियों में भी कुछ ऐसे लोग थे। आश्रम में और बाहर भी कई बार नव-संन्यासियों ने मुझसे कहा, 'बच्चन जी, आप भी संन्यास ले लें,' 'बच्चन जी, आप कब संन्यास ले रहे हैं?' 'बच्चन जी, आपको संन्यास ले लेना चाहिए', 'बच्चन जी, आप भी संन्यास लेने आए हैं? देरी क्यों कर रहे हैं, ले ही लें,' आदि। मुझे लगा कहीं 'मौनं स्वीकृति लक्षणं' न समझा जाए। एक दिन तीन-चार संन्यासियों को एक साथ पाकर मैंने कहा, 'भाइयो, मुझे तो लगता है कि इस आश्रम और संन्यास की सारी कल्पना मेरे मधु काव्य से आई है, जो रजनीश जी के जन्म से लगभग 25 वर्ष पूर्व लिखा गया था। यहाँ ध्यान कराया जाता है, ध्यान की मदिरा पिलाने की बात कही जाती है, देखें मेरी 'मधुशाला' में—

ध्यान किए जा मन में सुमधुर
सुखकर, सुंदर साक़ी का,
और चलाचल, पथिक, न तुझको
दूर लगेगी मधुशाला !

बने ध्यान ही करते-करते
जब साक़ी साकार, सखे,
रहे न हाला, प्याला, साक़ी,
तुझे मिलेगी मधुशाला।

गाज गिरी पर ध्यान-सुरा में
मग्न रहा पीने वाला,
अभी युगों तक सिखलाएगी
ध्याना लगाना मधुशाला !

'ध्यान की शराब', 'ध्यान सुरा' यहाँ, इस आश्रम, इस मधुशाला में पिलाने की बात रजनीश जी स्वयं अपने प्रवचनों में कह चुके हैं। ज़रा अपने आश्रम को देखें, और देखें कि 'मधुशाला', 'मधुबाला' में उसकी कैसी सटीक तस्वीर मौजूद है—

सभी जाति के लोग यहाँ पर
साथ बैठ कर पीते हैं।

सब आर्य प्रवर आ सकते हैं,
सब आर्येतर आ सकते हैं,
इस मानवता के मंदिर में
सब नारी-नर आ सकते हैं।

विभाजित करती मानव जाति
धरा पर देशों की दीवार,
ज़रा ऊपर तो उठकर देख
वही जीवन है इस-उस पार;
घृणा का देते हैं उपदेश
यहाँ धर्मों के ठेकेदार,
खुला है सबके हित सब काल
हमारी मधुशाला का द्वार।
करें, आओ, विस्मृत वे भेद
रहे जो जीवन में विष घोल,
क्रांति की जिह्वा बनकर आज
रही बुलबुल डालों पर डोल।

इस आश्रम में आर्य हैं, आर्येतर हैं, नर हैं, नारी हैं। सभी देशों के—गोरे और काले भी—सभी धर्मों के लोग हैं। 'मधुबाला' में 'हाला' जो कहती है, वही तो यहाँ मूर्तिमान हुआ है—

उद्दाम तरंगों से अपनी
मस्जिद, गिरजाघर, देवालय,
मैं तोड़ गिरा दूँगी पल में
मानव के बंदीघर निश्चय;
जो कूल, किनारे, तट करते
संकुचित मनुज के जीवन को,
मैं काट सबों को डालूँगी,
किसका डर मुझ को, मैं निर्भय;
मैं ढहा-बहा दूँगी क्षण में
पाखंडों के गुरु गढ़ दुर्जय!

फिर मैं नभ-गुंबद के नीचे
नवल-निर्मल द्वीप बनाऊँगी
जिस पर हिल-मिल कर बसने को
संपूर्ण जगत को लाऊँगी;
उन्मुक्त वायुमंडल में अब
आदर्श बनेगी मधुशाला,
प्रिय प्रकृति परी के हाथों से
ऐसा मधुपान कराऊँगी,
चिर जरा-जीर्ण मानव फिर से
पाएगा नूतन यौवन वय!

और मेरी आदर्श मधुशाला की कल्पना क्या थी ?

मैं यहाँ हूँ और वह
आदर्श मधुशाला कहाँ है
विस्मरण दे जागरण के साथ
मधुबाला कहाँ है।

रजनीश जी के प्रवचनों का मूल मंत्र है विस्मरण के साथ जागरण—तुम सिगरेट पिओ, शराब पिओ, काम में प्रवृत्त हो, पर होश के साथ, जागरण के साथ, awareness के साथ, और किसी दिन तुम उनसे मुक्त हो जाओगे।' अंत में मैंने जोड़ दिया—'और तुम्हारे आश्रम में नाचने पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। इसकी भी कल्पना 'मधुशाला' में है—

पागल बनकर नाचे वह जो
आए मेरी मधुशाला!

एक नवयुवक संन्यासी ने, शायद वह कानपुर का था, मेरी बात काटकर कहा, 'अगर यह आश्रम और संन्यास आपकी कल्पना का प्रतिरूप है तो आपको तो सबसे पहले यहाँ रम जाना था।'

मेरा उत्तर था, 'सपना जब साकार किया जाता है तो सपने से बहुत दूर चला जाता है। यहाँ बहुत कुछ ऐसा हो रहा है जिसे मैं अपने सपनों के अनुकूल पाता हूं तो कुछ ऐसा भी हो रहा है जो उसके प्रतिकूल है, जो रूढ़ियाँ बना रहा है,

जो प्रदर्शन मात्र है। अब इस जोगिया वस्त्र को ही लीजिए। कम से कम पाँच सौ बरस पहले कबीर ऐसे प्रदर्शन का विरोध कर गए—'मन न रँगाए रँगाए जोगी कपड़ा'। इसे मैं बहुत अशिष्ट समझता हूँ कि कोई ऐसा कपड़ा पहने, वेश-भूषा बनाए जो दूसरों का ध्यान आकृष्ट करे, दूसरों की दृष्टि में अजनबी लगे। मेरी दृष्टि में सामान्य बनकर रहना ही शिष्टता है। फिर यह अपने चित्र की माला गले में पहनाना। आप मेरे विचार से सहमत हैं तो मेरा चित्र माथे पर चिपकाइए, गले में लटकाए फिरिए। अपने को विश्वास दिलाने के लिए कि आप मेरे अनुयायी हैं? या दूसरों को बताने के लिए?—अपने लिए अनावश्यक और दूसरों के लिए अनुपयोगी। रजनीश जी के लिए अगर यह आत्म-प्रचार का ओछा और सस्ता साधन मालूम होता है तो अनुयायियों को हीन-ग्रंथि पीड़ित चिड़ी का गुलाम साबित करता है। ठीक है, रजनीश जी बहुत बड़े विद्वान हैं, धीमान हैं, चरित्रवान हैं, बहुत पढ़ा है उन्होंने, बहुत चिंतन-मनन किया है, बहुत बड़े वक्ता हैं, उनके विचार ऊँचे हैं, उदार हैं; देश, समाज, शायद संसार के लिए भी उपयोगी हैं, फिर भी ज़रूरी नहीं कि मैं उनकी हर बात से सहमत हूँ कि उनसे अलग या उनके विपरीत भी मैं कुछ सोच न सकूँ। बात यह है कि इस तथाकथित आश्रम में दो ऊँचे-नीचे स्थान हैं, ऊँचा गुरु का, नीचा शिष्य का। गुरु के स्थान पर भगवान श्री विराजमान हैं। अब जो यहाँ आए शिष्य बनकर। तीसरे के लिए यहाँ स्थान नहीं है। वास्तव में मेरी कल्पना का न तो यह आश्रम है, न 'मधुशाला'। यह रजनीश जी की गुरुडम है, जैसे किंग की किंगडम। मेरी कल्पना की मधुशाला में न कोई गुरु था, न कोई शिष्य; 'दीवानों' के दल में कौन गुरु, कौन शिष्य!

> सबका समान सम्मान यहाँ
> सबको समान वरदान यहाँ।
>
> 'प्रभु तरुवर कपि डार पर ते किये आप समान'

इसके बाद किसी रजनीशी संन्यासी ने मुझसे संन्यास लेने के लिए नहीं कहा। हाँ, लौटकर आने पर फिर एक संन्यासी ने जरूर मुझे लिखा कि आपसे प्रत्याशा है कि आप भगवान श्री के संदेश का प्रचार करेंगे। मैंने उत्तर में लिखा, मैं तो भगवान श्री के संदेश का प्रचार उस समय से कर रहा हूँ जब वे चंदन के पालने में लेटे अपने पाँव का अँगूठा चूस रहे थे! रजनीश अपने प्रवचनों में 'मधुशाला' और मेरी अन्य कविताओं की सैकड़ों—मुहावरे में नहीं, अक्षरशः—पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। फिर भी मैं स्वीकार करना चाहूँगा कि रजनीश के अंग्रेज़ी और हिंदी साहित्य में मेरी रुचि है। वह विचारोत्तेजक है और उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। शायद आपको पता होगा कि रजनीश के अमरीकी शिष्य अब उन्हें पूना से आरेगान (अमरीका) ले गए हैं, जहाँ उन्होंने रजनीश-पुरम नाम का नगर बसाया है; प्रवचन देना बंद कर दिया है, मौन ग्रहण कर लिया है; केवल दर्शन देते हैं।[1]

1. इधर ख़बर आई है कि प्रायः डेढ़ हज़ार दिनों तक मौन रहने के पश्चात उन्होंने फिर अंग्रेज़ी में प्रवचन देना आरंभ कर दिया है।

कहावत आपने सुनी होगी—चोर चोरी से गया, हेरा-फेरी से तो नहीं गया। इस कहावत का स्रोत आपको मालूम है ? साधुओं का एक दल तीर्थ-यात्रा पर था। रात के पड़ाव पर जब साधू सोकर उठते तो पाते कि एक का कमंडल या खड़ाऊँ किसी दूसरे के पास, दूसरे का तीसरे के पास, किसी और का अपने पास। एक बूढ़ा साधू एक रात परधी लगा। उसने देखा एक नवयुवक साधू सबके सो जाने पर चुपचाप उठकर इस प्रकार की हेराफेरी करता है। बूढ़े साधू ने उसे पकड़ा। उसने हाथ जोड़कर कहा, महाराज, मैं चोर था, साधू हो गया हूँ, पुरानी आदत नहीं जाती, चोरी तो नहीं करता, हेराफेरी करके संतोष कर लेता हूँ। अब मेरी कुछ लेखकीय हेराफेरी की बात सुनें।

लिख-लिखकर प्रकाशित करते रहनेवाले लेखक की बड़ी मुसीबत है। वह लिखना छोड़ना भी चाहे तो छोड़ नहीं सकता। प्रकाशक छोड़ने नहीं देते। उसने कुछ अपना नाम-स्थान बनाया है जो बिकता है। उसका उपयोग प्रकाशक सहज ही नहीं छोड़ सकता। '73 में मैंने कविता से विदा ले ली थी, '77 में गद्य से। '78 के प्रारंभ में सरस्वती विहार और हिंद पाकेट बुक्स प्रकाशन संस्थान के स्वामी श्री दीनानाथ मल्होत्रा मेरे पास आए एक आग्रह लेकर—आप मेरे लिए '76-'77 की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताओं का संकलन तैयार कर दें। वर्षों के पुराने संबंध थे, मैं इनकार न कर सका। चोरी छोड़ी भी, मन हेराफ़ेरी करने को चुलबुला उठा। साल का अधिकतर समय अवधि के प्रकाशित संकलनों को एकत्र करने, पढ़ने, चुनाव करने में लगा। काम मुझे विशेष रूप से रोचक लगा। आपको याद होगा '76-'77 का काल आपात स्थिति की घोषणा के बाद लेखन पर किसी हद तक नियंत्रण का रहा है। जैसी कि मुझे प्रत्याशा थी, हिंदी के समर्थ कवियों ने इस नियंत्रक स्थिति में आत्माभिव्यक्ति के रास्ते ही नहीं निकाले थे, सुन्दर रास्ते भी निकाले थे, काव्य कला के नये आयाम खोजे थे। काव्य-समालोचना के प्रति जागरूक रहनेवाले लोग जानते होंगे कि साठोत्तरी कविता को कुछ नई शक्तिमत्ता, गतिशीलता से अभिहित करने का प्रयत्न कई सालों से चल रहा था। उस अवधि में प्रकाशित संकलनों को ध्यानपूर्वक अवलोकन करने पर मेरी धारणा बनी कि संभवतः साठोत्तरी कविता का सबसे लम्बा क़दम '76-'77 में उठाया गया था। कवियों का झुकाव राजनैतिक समस्याओं की ओर होना स्वाभाविक था। पर व्यापक जीवन की विविध समस्याओं की उपेक्षा उन्होंने न की थी। चुनाव में मैंने इस बात का विशेष ध्यान रखा था कि राजनैतिक दबाव के कारण संकलन एकांगी न हो। संकलन '78 के अन्तिम दिनों में मेरी संक्षिप्त भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ—पेपरबैक में भी, हार्डकवर में भी।

लिखने-पढ़ने का किसी तरह का काम शुरू करो तो दिमाग़ में नई योजनाएँ अंकुरित होने लगती हैं। 'बसेरे से दूर' से मैंने आत्मकथा लेखन से ही नहीं, लेखन से ही विदा लेने की बात सोची थी। पर मेरे पाठकों ने मुझे विदा नहीं दी थी। बीसों पत्र आए थे कि आत्मकथा से अभी विदा न लें, चौथा खंड भी दें, इलाहाबाद से दिल्ली आने के बाद भी आपके जीवन में बहुत कुछ हुआ है जिसमें हमारी रुचि है आदि, आदि। एक देवी जी के आवेशपूर्ण पत्र की याद मुझे हो आई है—'विदा, मेरी ठेंग, मैंने 'बसेरे से दूर' के आखिरी पन्ने को फाड़ दिया है और

आत्मकथा के चौथे खंड की प्रतीक्षा में रहूँगी...

कुछ ऐसे आग्रह, अनुरोधपूर्ण पत्रों के कारण और कुछ उपर्युक्त संकलन तैयार करने के दौरान कोई नई चीज़ लिखने की सुगबुगाहट की वजह से भी एक बार जी में आया था कि चौथा खंड लिख ही डालूं और उसकी कुछ तैयारी भी शुरू कर दी थी कि एस्टेट आफ़िस से हमें नोटिस मिली कि 13 विलिंगडन क्रिसेंट आपको कम किराए पर दिया गया था; 'रिट्रासपेक्टिव इफ़ेक्ट' से, यानी जब से आपने इसे किराए पर लिया तब से अब तक का बढ़ा हुआ किराया अदा करें, जो करीब पहले का ड्योढ़ा कर दिया गया था। मकान दिए जाने की शर्तों में ऐसी व्यवस्था थी कि अगर सरकार चाहे तो किसी मकान का किराया 'रिट्रासपेक्टिव इफ़ेक्ट' से बढ़ा दे और किरायेदार उसे चुकाने को बाध्य होगा। साधारण नागरिक भी ऐसी शर्त रखना शायद अनैतिक और अतार्किक समझे पर सरकारें तर्क और नैतिकता के बल पर नहीं चलाई जातीं; डंडे के ज़ोर पर चलाई जाती हैं। ख़ैर, मकान हमारे लिए सुविधाजनक था; नया मकान ढूँढ़ने, सारा सामान यहाँ से फिर लाद-फाँद कर दूसरी जगह ले जाने और वहाँ लगाने की झंझट से बचने के लिए हमने पिछला बढ़ा हुआ किराया अदा कर दिया। सबके ऊपर शायद दिमाग में यह बात थी कि आत्मकथा के चौथे खंड के लेखन की तैयारी शुरू कर दी है; इस समय यदि मकान छोड़ने का व्याघात खड़ा हुआ तो वह योजना ठप्प हो जाएगी। सृजन-लेखन के संबंध-संस्कार इस मकान और उसके वातावरण से इतने दीर्घ-काल से जुड़े थे कि लगा कि अगर यहीं साल-दो साल रहता गया तो आत्मकथा का चौथा खंड भी पूरा हो जाएगा। पर जब पिछले बढ़े किराए की रक़म अदा कर दी गई और आगे बढ़ा किराया देने की स्वीकृति दे दी गई तो एस्टेट आफ़िस से हमें दूसरी नोटिस मिली कि मकान 15 दिन के अन्दर खाली कर दें। अब मुझे स्पष्ट हो गया था कि इस प्रकार जनता सरकार मुझे इमर्जेंसी का समर्थन करने की सज़ा दे रही है, और मुझसे गांधी-परिवार का मित्र होने और अब पड़ोसी होने की क़ीमत वसूल कर रही है, गो श्रीमती गांधी को मेरे पड़ोस में लाकर बिठाने का काम खुद जनता सरकार का था। दोनों परिवारों में आना-जाना होता ही था, जो सरकार की नजरों से छिपा न था। पता नहीं किस आधार पर मुझ निरीह लेखक का श्रीमती गांधी के इतने निकट होना ख़तरे से खाली नहीं समझा गया और मुझे वहाँ से हटने का हुक्म दे दिया गया।

उन्हीं दिनों अमिताभ को जांडिस (पीलिया) की बीमारी लग गई थी और बंबई के उपचार से लाभ न होते देखकर हम उन्हें दिल्ली बुलाकर यहाँ के अपने पूर्व परिचित डाक्टरों से उनका इलाज कराना चाहते थे। वस्तुतः हमने उन्हें बुला लिया था और डा० करौली और डा० मुकर्जी ने उनका इलाज शुरू कर दिया था। उनकी राय थी कि इलाज कुछ लंबा चलेगा, और यहाँ सिर पर तलवार लटक रही थी कि बंगला पन्द्रह दिन के अंदर खाली कर देना है। आत्मकथा लेखन की बात गौण थी, अब हमें अमिताभ का इलाज कराने के लिए इस बँगले में बने रहने की आवश्यकता थी। उस समय आवास मंत्री मियाँ सिकंदरबख़्त थे। समय लेकर तेजी के साथ मैं उनसे मिलने गया। उनसे प्रार्थना की कि दो साल नहीं तो कम से कम एक साल हमें इस बंगले में रहने दें। वे इसके लिए नहीं तैयार हुए, बोले, अधिक से अधिक एक महीने का समय आपको दिया जा सकता है, 15

दिसबर तक बंगला खाली कर दें।

छह वर्ष पूर्व इसी घर से चौदह वर्ष की जमी-जमाई गिरिस्ती उखाड़ने, समेटने की झंझट हम झेल चुके थे। अब वही मुसीबत फिर हमारे सामने खड़ी थी। इस आशा और विश्वास से कि सामान्य परिस्थितियों में अब हमें यहाँ से न हटना पड़ेगा, हमने अपनी गिरिस्ती कुछ और फैला ली थी कि अगर परिवार के लोग बंबई से यहाँ कुछ दिनों के लिए आएँ तो उन्हें कोई असुविधा न हो। पिछले दो जाड़ों में जया और रमोला अपने बच्चों के साथ यहाँ आकर कुछ समय ठहरी ही थीं और दिल्ली के जाड़े-धूप का आनंद लिया था। फिर हमारी उम्र का भी सवाल था। मैं सत्तर पार कर चुका था, तेजी साठ के निकट थीं। छह वर्ष पहले भी जो ताक़त हममें थी, वह बढ़ी तो न थी, घटी ही थी। और सारे का सारा सामान समेटने, पैक कराने, दूसरी जगह भेजने का बखेड़ा हमीं को उठाना था, मुझसे कहीं ज़्यादा तेजी को, जबकि उनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था और भविष्य की अनिश्चितियाँ भी उन्हें कम व्यग्र नहीं कर रही थीं।

एक जगह छोड़ने का सवाल उठे तो दूसरी जगह जा बैठने का सवाल फौरन उठता है। हम 13 विलिंगडन क्रिसेंट छोड़ें तो कहाँ जाएँ? अमित उन दिनों हमारे साथ ही थे। जब से 'प्रतीक्षा' का घर उनका बनकर तैयार हुआ था उनकी बड़ी इच्छा थी कि माँ और मैं वहीं जाकर रहें। वे नहीं चाहते थे कि दिल्ली में कोई दूसरा मकान हम किराए पर लें। खर्च का विचार ही नहीं था, देश में विधि-व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति के साथ हम दो एकाकी वृद्धों की सुरक्षा का प्रश्न भी था। पिछले दिनों विलिंगडन क्रिसेंट में ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटी थीं कि सुरक्षा का समुचित प्रबंध वहाँ कराना पड़ा था। अब तो अमित की ज़िद थी कि हम सीधे बंबई चलें और वहीं स्थायी रूप से रहें। हमें उनकी ज़िद रखनी पड़ी। छोटे-छोटे पोते-पोतियों का आकर्षण भी कम न था। चाहे थोड़े दिनों के लिए ही, जब वे यहाँ आकर रह जाते थे, एक अपूर्व जीवनोल्लास-रस बरसा जाते थे--तन-मन तृप्तिकर।

अब जब यह निश्चित हो गया था कि महीने के अंदर हमें यह मकान छोड़ देना है तो हमें जल्दी से जल्दी अपना सामान समेटने में लग जाना था। तभी सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय को सूझी कि मेरे दिनानुदिन के जीवन रहन-सहन पर टेलीविज़न के लिए एक फ़ीचर फ़िल्म तैयार कराई जाए। टेलीविज़न के कर्मचारियों ने आकर हमसे आग्रह किया कि जब तक फ़ीचर तैयार न कर लें तब तक हम घर को ज्यों का त्यों रहने दें। भीतर से विभाजित जनता सरकार का यह छोटा-सा नमूना था। मियाँ सिकंदरबख़्त मुझे इतना नाचीज़ समझ रहे थे कि अविलंब मुझे दिल्ली से निकाल बाहर करें, और लालकृष्ण आडवाणी—सूचना एवं प्रसारण मंत्री—मुझे इतना महत्त्व दे रहे थे कि मुझपर एक छोटी-सी फ़ीचर फ़िल्म बनवाना चाहते थे। कई दिनों तक टेलीविज़न के कर्मचारी कैमरा और लैम्प और लंबे-लंबे तार लगाकर उस घर की और हमारी तस्वीरें खींचते रहे—डा० महीप सिंह ने मुझसे और तेजी से साक्षात्कार किया। संपादित कर अंतिम रूप देने में कोई 45 मिनट की फ़ीचर फ़िल्म बनी जो बाद को दिल्ली और कई टेलीविज़न केन्द्रों से दिखाई गई।

27 नवंबर को मेरी 71वीं वर्षगाँठ मनाकर अमिताभ बंबई चले गए।

किताबों को समेटने का काम मेरा था, बाक़ी घर के सामान को, तेजी का। तेजी ने मुझसे कहा, ज़रूरी-ज़रूरी पढ़ने-लिखने का सामान और किताबें एक बक्से में बंदकर साथ ले तुम बंबई चले जाओ। बाक़ी किताबें, सामान पेटीबंद करा, ट्रक से भेज मैं 15 दिसंबर से पहले बंबई आ जाऊँगी। हम दोनों एक-दूसरे की आँखों में देख रहे थे और जान रहे थे कि एक-दूसरे के मन किन भावों से भरे हैं। मैं किताबों की ओर देखता तो देखता ही रह जाता। 'प्रतीक्षा' के मेरे कमरे में एक बेड था, एक मेज़-कुर्सी, एक कपड़े रखने की आलमारी। किताबें रखने की वहाँ कोई जगह न थी। किताबें इस बार पेटियों में बंद हुईं तो जाने कब खुलेंगी। बंबई में तो शायद जीवन को ऐसा बनाना पड़ेगा जिसका पढ़ने-लिखने से ज़्यादा संबंध न हो। तेजी भी अपने सामान को ऐसे ही देखतीं—'प्रतीक्षा' में उनका कमरा भी छोटा ही था—एक बेड, एक सिंगारमेज़, कपड़े की दो आलमारियों का; आगे के बारजे में वे अपना पूजास्थान बना सकती थीं। वे भी सोचा करती थीं कि बंबई जाकर उन्हें भी अपने को बहुत सिमटी-सिकुड़ी होकर रहना पड़ेगा। पुरानी कहावत है, आबदाना जहाँ का होता है वहीं आदमी को खींचे ले जाता है। और आबदाना अब हमारा बंबई का था। मन में गिरावट भरनेवाले इन विचारों के बीच यदि कोई चीज़ उत्कर्षित करती थी तो यह कल्पना कि हमारे कमरे प्रायः प्रतिदिन श्वेता, नीलिमा, अभिषेक, नम्रता, नयना के क्रीड़ा-हास से गुंजरित होंगे और हम उनको दिन-दिन बढ़ते-बौरते देखेंगे। मैं जान रहा था कि तेजी मुझे सब तरह की झंझटों से दूर रखने के लिए पहले बंबई भेज देना चाहती हैं। साथ ही, मैं यहाँ रहा तो उनकी आधी चिंता तो मेरे ही लिए रहेगी; मैं चला गया तो वे अपने प्रति बेफ़िक्र हो बाक़ी सब कुछ से निपट लेंगी। फिर भी बंबई पहुँचकर मैंने राजू को उनकी सहायता के लिए भेज दिया।

दिल्ली छोड़ने के पूर्व मैं श्रीमती गांधी से मिलना चाहता था, पर वे दिल्ली से बाहर थीं; एक पत्र उनके नाम लिखकर छोड़ गया था—सार था—आपके बहुत कुछ किए को जनता सरकार अनकिया कर रही है, उनमें से एक यह भी है, आपने जिस मकान में मुझे बसाया था, जनता सरकार मुझे उससे निकाल रही है, फिर भी, मैं कहीं रहूँ, इस बात को सोचकर मैं गर्व और गौरव का अनुभव करूँगा कि—

'I was thy neighbour once thou rugged pile'

नीचे हस्ताक्षर कर दिये 'Another rugged pile'.

एक जगह से जब हज़ार मील पर जाकर बसना हो तो सोचना पड़ता है क्या ले जाएँ क्या छोड़ें। यह भी ख्याल रखना पड़ता है कि जहाँ जा रहे हैं वहाँ कितनी जगह होगी अपना असमान-सामान रखने की। तेजी ने रज्जन को बुला लिया, कुछ ग़ैरज़रूरी सामान, पर उपयोग में आने लायक उन्होंने बाँदा भेजा, कुछ फ़रनीचर अपनी सहेलियों को दे दिए, कुछ किसी मित्र के यहाँ रखा दिया—क्या इस उम्मीद में कि शायद फिर कभी दिल्ली लौटना हो? फिर भी एक भरा ट्रक बंबई आया और ज़रूरी-ज़रूरी सामान 'प्रतीक्षा' में उतरवा कर शेष अमिताभ ने अपने एक प्रोड्यूसर के गराज में रखा दिया जो मलाड में कहीं था। अमिताभ जानते थे कि मुझे और तेजी को भी किताबों से शौक है और जब तक किताबें

हमारे चारों ओर या समीप न हों हम अपने को अनुकूल परिस्थितियों में नहीं पाते। उन्होंने अच्छे फ़र्नीचर बनानेवाले हमारे चार्ज में रख दिये कि हम जैसी चाहें वैसी आलमारियाँ, टेबिल, कुर्सी अपने कमरों के लिए बनवा लें।

नीड़ का निर्माण फिर-फिर !

मैंने अपने कमरे में चारों तरफ़ दीवार से लगी आलमारियाँ बनवाईं कि मेरी सारी किताबें उनमें आ सकें। कमरे के योग्य नई मेज़-कुर्सी भी। एक तरफ़ की दीवार के साथ किताबों की आलमारी के नीचे अकाई कासमिक सेट की जगह रखी, जो अमिताभ ने मुझे भेंट किया था कि जब मैं चाहूँ डिस्क या केसेट चला कर संगीत सुन सकूँ या अगर कोई कविता आदि रेकार्ड करना चाहूँ तो कर सकूँ। उसके साथ ही एक आरामकुर्सी भी रखा दी—यानी मेरी ज़रूरत, सुविधा की सब चीज़ें उस कमरे में लग गईं। तेजी के कमरे में भी एक तरफ़ की दीवार के साथ मैंने किताबों के लिए एक आलमारी लगवा दी। बारजे पर एक छोटी-सी आलमारी लगवाई कि उसमें कुछ किताबें और स्टेशनरी आदि रखी जा सके, और उसे बंद करने के लिए ऐसा पटरा लगवाया कि जब उसे गिरा दिया जाय उससे छोटी टेबिल का काम लिया जा सके। कम जगह का अधिक से अधिक इस्तेमाल करने में मैं समझता हूँ मैं सफल रहा। मलाड से पेटियाँ मँगाकर खुलवाई गईं और किताबें आदि अपनी-अपनी जगह पर लग गईं। इन सब कामों में मुझे चार महीने लग गए। इस बीच तेजी लखनऊ में एक संबंधी के विवाह में शिरकत कर दो महीने बाँदा-चित्रकूट भी रह आईं।

'79 तो मेरे लिए यात्राओं का वर्ष था। मई में अमिताभ जी की एक फ़िल्म की शूटिंग दार्जिलिंग में होनेवाली थी—'बरसात की रात' की। वे तो सपरिवार जा ही रहे थे—यानी जया-श्वेता-अभिषेक के साथ, हम दोनों को भी उन्होंने साथ ले जाना चाहा। मई में बंबई में गर्मी काफ़ी पड़ती है। दार्जिलिंग हमने कभी देखा भी न था, सुन रखा था कि बहुत सुन्दर हिल स्टेशन है। हम दोनों जाने को तैयार हो गए। हवाई-जहाज़ से पहले बंबई से कलकत्ता पहुँचे; जहाँ से दूसरा जहाज़ ले बागडोगरा गए। विचित्र नाम। डोगरा तो रहनेवाले हुए जम्मू के। कहाँ धुर पश्चिम बंगाल में जाकर उन्होंने ऐसा बाग लगाया कि एक नगर के रूप में ही परिवर्तित-प्रसिद्ध हो गया। बागडोगरा से कार से चढ़ाई के पहाड़ी रास्ते की ढाई घंटे की यात्रा करके हम लोग दार्जिलिंग पहुँचे। हम बंबई से 11 बजे दिन को रवाना हुए थे और शाम सूरज डूबते दार्जिलिंग पहुँच गए; ओबेराय होटल में ठहरे। कमरों में व्यवस्थित होते-होते रात हो गई थी; दिन भर के थके जल्दी खाना खाकर सब सोने चले गए। सुबह जो खिड़की खोला तो जो दृश्य दिखा इस जीवन में शायद ही कभी भूल सकूँ। पूरब से पश्चिम तक नीलम-नील आकाश के नीचे और पन्ना-हरित धरित्री के ऊपर स्वर्ण-मेखला के समान हिम गिरिमाला फैली हुई थी, अपने सर्वोच्च शिखर कंचनजंघा के साथ जो गौरीशंकर (एवरेस्ट, सगरमाथा या सरगमाथा) के बाद संसार का सबसे ऊँचा पर्वत माना जाता है। किसी समय, कहीं से ऐसे ही दृश्य को देखकर या साकार कल्पित कर कालिदास के मुँह से निकल पड़ा होगा—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।[1] (कुमारसंभव)

साथ ही पंत जी की ये पंक्तियाँ कानों में गूँज उठीं, निश्चय कालिदास के उपर्युक्त मंत्र-श्लोक से प्रेरित—

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण !
कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुंदरता के भूमृत ! (स्वर्णकिरण)

फिर 'दिनकर' की पंक्तियाँ याद आईं :

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल,
मेरी जननी के हिम-किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल ।

कैसी अखंड यह चिर-समाधि,
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान,
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ।

कोई पंद्रह वर्ष पहले, चीनी आक्रमण के समय, महादेवी वर्मा ने 'हिमालय' नाम का एक संकलन संपादित किया था जिसमें वेदों से लेकर आधुनिक समय के कवियों तक के उद्गार हिमालय के विषय में एकत्र किए थे । हिमालय को देखते हुए बस मुझे केवल इन्हीं तीन कवियों की पंक्तियाँ याद आईं । इक़बाल का एक शेर भी—

ए हिमाला ! ए फ़सीले-किश्वरे-हिंदोस्तां !
चूमता है तेरी पेशानी को झुककर आसमां !

1. पूर्व और पश्चिम सागर तक
भू के मानदंड-सा विस्तृत,
उत्तर दिशि में दिव्य हिमालय
गिरियों का अधिपति है शोभित । —अनु० महादेवी वर्मा

यह दृश्य तो इस समय भी देखा जा सकता था। आकाशी शुभ्रता जैसे झुककर पर्वतीय सौंदर्य का मस्तक चूम रही है।

मधुकाव्य लिखते समय मेरी कल्पना केवल यह देख सकी थी—

हिम श्रेणी अंगूरलता-सी फैली हिम जल है हाला,
चंचल नदियां साक़ी बनकर, भरकर लहरों का प्याला,
कोमल कूल-करों में अपने छलकाती निशि दिन चलतीं,
पीकर खेत खड़े लहराते, भारत पावन मधुशाला!

खेद है कि यह दृश्य ज़्यादा देर नहीं ठहरा! पर्वत पर मौसम बदलते देर नहीं लगती। उगते सूरज के प्रकाश में कंचनजंघा की द्युति मंद पड़ने लगी थी और कुछ बादल भी उठकर उसपर पर्दा डालने लगे थे। प्रकृति जैसे कह रही हो, इस सौंदर्य को बहुत आँख गड़ाकर नहीं देखना चाहिए, उसे नज़र लग सकती है।

हमें बताया गया था कि टाइगर हिल से सूर्योदय बहुत भव्य दिखाई देता है और कंचनजंघा पर्वतशिखर भी, पर दुर्भाग्यवश उस दिन इतने बादल घिरे थे कि वहां से हम निराश ही लौटे।

दार्जिलिंग पश्चिमी बंगाल का सबसे उत्तरी-पश्चिमी जिला है जिसके उत्तर में सिक्किम है, पश्चिम में नेपाल और पूरब में भूटान। औसत ऊँचाई उसकी सात हज़ार फ़ीट होगी। मई में भी हम लोगों के लिए मौसम ठंडा था, और बारिश होने पर ठंड बढ़ जाती थी। टूरिस्ट सीज़न था। इसलिए बाज़ारों में बंगाली बहुतायत से दिखाई देते थे, पर पहाड़ी, नेपाली, सिक्कमी, भूटानी और तिब्बती भी कम नहीं थे। हमने सुना था कि दलाई लामा के ल्हासा से निष्क्रमण के बाद हज़ारों की संख्या में तिब्बती शरणार्थी आए थे जो दार्जिलिंग में अनुकूल जलवायु पाकर बस गए थे। बाज़ार में रंग-बिरंगे ऊन के बुने कपड़ों को बेचते तिब्बतियों की दूकानें अक्सर दिखाई पड़ती थीं। हमने तिब्बतियों का एक बड़ा शरणार्थी शिविर देखा था जहाँ तिब्बती कला-कौशल की चीज़ें बनाई और बेची जाती थीं। तस्करी का माल दार्जिलिंग के बाज़ारों में खूब बिकता है। नेपाल, सिक्किम, भूटान की सीमाओं पर पुलिस चौकियाँ हैं, पर तस्कर न जाने कितने गुप्त पहाड़ी रास्तों से माल अंदर लाते रहते हैं। बाजारों में हिंदी सब जगह बोली और समझी जाती है।

बर्च हिल पर हमने इंस्टीट्यूट आफ़ माउन्टेनियरिंग देखा जहाँ नवयुवक-नवयुवतियों को ऊँचे-बर्फीले पहाड़ों पर चढ़ने की शिक्षा दी जाती है। अब तो उसके अच्छे परिणाम देखने को मिल रहे हैं।

आपने पत्रों में पढ़ा होगा कि इस वर्ष एक भारतीय बिना आक्सीजन के एवरेस्ट पर पहुँचा और पहली बार एक भारतीय नारी भी वहाँ पहुँची। वहीं हम शेरपा तेनसिंह से मिले जो हिलेरी के साथ एवरेस्ट पर पहुँचनेवाले प्रथम भारतीय थे। वे एक दिन अमिताभ को देखने के लिए होटल आए थे।

दार्जिलिंग शहर से कुछ दूर पर संरक्षित पशु-विहार है जहाँ हमने केवल भालू और पंडे घूमते देखे। श्वेता-अभिषेक के लिए वे कुतूहल की चीज़ें थीं। बोटैनिकल गार्डेन से हम विशेष प्रभावित नहीं हुए। शायद पर्वत प्रदेश में यह फूलों की ऋतु नहीं थी। सुना था जब पद्मजा नायडू बंगाल की गवर्नर थीं तब

उन्होंने इस गार्डेन में विशेष रुचि ली थी और उसे खूब विकसित किया था, वे प्रति वर्ष गर्मियों में कुछ समय दार्जिलिंग में बिताती थीं। राजभवन हमने दूर से ही देखा।

घूम—जगह का नाम है—के एक बौद्ध मठ को भी देखने हम गए। कहते हैं सदियों पुराना है। वहाँ आगामी बुद्ध अवलोकितेश्वर की बहुत बड़ी प्रतिमा स्थापित है और लामा लोग उसके सामने विधिवत पूजापाठ करते रहते हैं। मूर्ति के सामने कड़ू तेल के दियों की कतारें लगी रहती हैं। एक रुपया देने पर दस दिये आपके नाम से जला दिए जाते हैं। हमने सौ दिये जलवा दिये। पता नहीं उससे अवलोकितेश्वर कितने प्रसन्न हुए होंगे, पर मठ में कुछ अधिक उजाला हो गया था। वहाँ एक बड़ी प्रार्थना चक्की (Prayer Wheel) गड़ी है—ताँबे की—जिस पर कई बार 'नमो मणि पद्मे हुम्' खुदा है—उसे घुमाने के लिए भी कुछ दक्षिणा देनी पड़ती है। जितनी बार चक्की घूम गई, माना जाता है, उतनी बार उपर्युक्त मंत्र जपने का पुण्य आपको मिल गया। पुण्य कमाने की यह तरकीब कुछ अपनी समझ में नहीं आई। फिर भी मैंने प्रार्थना चक्की दो-चार बार घुमा दी। मठ बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है। घूम दार्जिलिंग हिमालयन रेलवे का एक स्टेशन भी है जो, कहा जाता है, दुनिया का सबसे ऊँचा रेलवे स्टेशन है। नीले रंग के छोटे-छोटे डिब्बों की यह पहाड़ी रेल पतली-सी रेलवे लाइन पर धीमी चाल से छुक-छुक करती चलती बड़ी मनोरंजक लगती है, कहीं-कहीं तो उसकी लाइन मोटर रोड के किनारे-किनारे चली जाती है। केवल नवीन अनुभव के लिए हम उस रेल से एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक गए। मोटर उस पर मँगवा ली थी, जो रेल से बहुत पहले वहाँ पहुँच गई थी।

दार्जिलिंग का सेंट पाल कान्वेंट स्कूल बहुत प्रसिद्ध है। हमें वहाँ से निमंत्रण मिला, और एक शाम हमने स्कूल के विद्यार्थियों, अध्यापकों के बीच बिताई। वहाँ मैंने कविता पाठ भी किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित स्कूल है, प्रिंसिपल हमेशा ईसाई हुआ करते थे, पर परम्परा को तोड़ पश्चिमी बंगाल सरकार ने वहाँ पहली बार एक हिंदू को प्रिंसिपल नियुक्त किया था। त्रिभाषा फार्मूला वहाँ सफलतापूर्वक लागू है। विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी के साथ हिंदी और बंगला लेनी पड़ती है। स्कूल काफ़ी ऊँची पहाड़ी पर है और वहाँ से कंचनजंघा पर्वतमाला बहुत साफ़ दिखाई देती है अगर बादल न घिरे हों। सुबह-शाम मुख्यत: स्वर्णिम और दिन को रजतवर्णी गिरिश्रृंखला वस्तुत: दिन भर में कई रंग बदलती है। आपने शेर की यह पंक्ति सुनी होगी, 'बदलता है रंग आसमां कैसे-कैसे'। अगर आप दिन भर कंचनजंघा पर्वतमाला को देख सकें तो आप पाएँगे कि उपर्युक्त पंक्ति उसपर अधिक लागू होती है। चाँदनी रात हो और आसमान साफ हो तो चाँदी-से चाँद और चाँदी-सी चमकती पर्वतमाला में एक अजीब निकटता का संबंध मालूम होता है! दार्जिलिंग में रहते, कहीं भी आते-जाते आप कंचनजंघा को नहीं भुला सकते। शायद हम प्रवासियों को ही ऐसा लगता हो। दार्जिलिंगवासियों को तो शायद अति परिचय के कारण यह अवज्ञा की वस्तु हो गया हो।

एक शाम हमें नगर के एक हिंदी पुस्तकालय का निमंत्रण मिला। बताया गया कि यह पुस्तकालय प्रो० व्रजराज द्वारा स्थापित किया गया था जो कायस्थ

पाठशाला कालेज, इलाहाबाद में अंग्रेज़ी के शिक्षक थे। हाई स्कूल में स्वयं मैंने उनसे अंग्रेज़ी पढ़ी थी। किसी समय हिंदी प्रचार के लिए कितना उत्साह था लोगों में! इलाहाबाद का अंग्रेज़ी का प्रोफेसर दार्जिलिंग जाकर हिन्दी का पुस्तकालय स्थापित करता है! वहाँ स्थानीय प्रथा के अनुसार हमारा स्वागत हुआ। हाथों पर अंगौछे की तरह का एक सफेद झीना वस्त्र रखते हैं। शायद ही किसी काम में यह वस्त्र लाया जा सकता हो। आदर-सत्कार के आदान-प्रदान में वह एक हाथ से दूसरे हाथ आता-जाता रहता होगा। वहाँ भी मैंने कविता पाठ किया। पुस्तकालय में मेरे प्रारंभिक प्रकाशनों के पहले संस्करण मौजूद थे। वहीं मेरी भेंट स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन की पत्नी कमला जी से हुई, जो स्थानीय किसी कालेज में हिंदी की अध्यापिका थीं। राहुल जी ने स्थायी रूप से रहने को दार्जिलिंग को ही चुना था। वहीं एक अच्छा, बड़ा घर खरीद लिया था जिसमें कमला जी अब भी रहती थीं। एक दिन मैं राहुल जी का घर देखने भी गया था। राहुल जी की पुस्तकें, उनके पढ़ने-लिखने से संबद्ध बहुत-सी चीज़ें कमला जी ने सँजोकर रखी थीं। उनकी योजना एक राहुल शोध संस्थान स्थापित करने की थी, जिससे वे चाहती थीं राहुल जी की समस्त कृतियाँ प्रकाशित हों और उनपर शोध कार्य किया जाए। पता नहीं उन्हें कहाँ तक सफलता मिली या उनकी योजना ने कितनी प्रगति की। राहुल साहित्य हिंदी पुस्तक विक्रेताओं के यहाँ शायद ही कहीं देखा जाता हो। राहुल जी ने बहुत लिखा, बहुत उपयोगी लिखा, महत्त्वपूर्ण लिखा, प्रामाणिक लिखा। हम हिंदी वाले अपने पूर्वज, अग्रज विद्वानों-मनीषियों, प्रतिभावानों को भुलाने में बड़े पटु हैं। ग्रन्थावलियों की प्रथा हिंदी में चल गई है। क्यों न कोई प्रकाशक सम्पूर्ण राहुल ग्रन्थावली प्रकाशित करे। हिंदीभाषी प्रांतीय सरकारें इस साहित्यिक यज्ञ में आहुति स्वरूप कुछ आर्थिक अनुदान देकर बड़ा पुण्य कमाएँगी। राहुल साहित्य निःसंदेह रक्षणीय है और आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उससे निश्चिय प्रेरित, लाभान्वित होंगी। आवश्यक है कोई लगन के साथ इस काम को उठाए। मुझे विश्वास है इसके लिए सहायता, सहयोग की कमी नहीं रहेगी।

'बरसात की रात' की शूटिंग कूच बिहार हाउस और उसके आसपास की ज़मीन पर हुई थी। कूचबिहार हाउस किसी समय अच्छा-खासा रियासती महल होगा। अब वह प्रायः उपेक्षित-सा पड़ा था। बिहार कूच करते-करते कैसे पश्चिमी बंगाल पहुँच गया, इसके पीछे कोई कहानी होगी। नामों में बड़ा रहस्य छिपा रहता है। काश कोई बूढ़-पुरनिया बता सकता। 'बरसात की रात' हिंदी, बंगला दोनों में 'डब' की गई थी और बहुत लोकप्रिय हुई थी। शूटिंग देखने का लोगों को बहुत चाव होता है। मर्द-औरतों-बच्चों की भीड़ की भीड़ विचित्र रंगीन कपड़ों में जहाँ कहीं से भी शूटिंग दिखाई दे, जाकर जमा हो जाती थी। पहाड़ की भीड़ में अनुशासन बहुत दिखा। वे न कभी शोर मचाते थे, न इतने नज़दीक आते थे कि शूटिंग में किसी तरह का व्याघात उपस्थित हो। इधर-उधर घूम-घाम कर जगहों को देखने का लाभ तो केवल हम लोग उठाते थे, अमिताभ या जया के लिए बाहर निकलना असम्भव होता। पहचानते ही उन्हें भीड़ घेर लेती। शूटिंग के लिए निकलने और शूटिंग से लौटने के समय ही होटल के सामने कितनी भीड़ होती।

दार्जिलिंग में बिजली खुलकर आँखमिचौनी खेलती। दिन में आई-गई का यह खेल हमें न अखरता। हम ज़्यादातर बाहर रहते। रात को बिजली चली जाती तो बड़ी तकलीफ होती। तेजी को देर से सोने की आदत है। लेटे-लेटे वे कई घंटे पढ़तीं। रात को कभी नींद न आती तो भी पढ़ती रहतीं। बिजली न रहने की वजह से उन्हें बहुत असुविधा होती। होटल की ओर से हर कमरे में मोमबत्तियाँ रखी रहतीं। तेजी के लिए दो-एक मोमबत्ती की रोशनी पढ़ने के लिए काफ़ी न होती। वे सात-आठ बत्तियाँ जलातीं। होटल से जो मोमबत्तियाँ मिलतीं, उनके अलावा वे बाज़ार से अलग अपने लिए बत्तियों के बंडल खरीद लातीं, तब उनका काम चलता। तेजी जब सफ़र पर चलती हैं तो काफ़ी किताबें अपने साथ रखती हैं। कुछ नई अपनी रुचि की किताबें उन्होंने दार्जिलिंग में भी खरीदीं। माल रोड पर अंग्रेज़ी किताबों की बड़ी-बड़ी दूकानें हैं, हिंदी, बंगला की किताबों की एक भी दूकान मैंने वहाँ नहीं देखी, शहर में भीतर गलियों में कहीं हों तो मैं नहीं जानता।

दार्जिलिंग की खास पैदावार चाय और चावल है। होटल की खिड़कियों से भी हम चाय के बागान देख सकते थे, कभी-कभी चाय की पत्तियाँ तोड़ती पहाड़ी लड़कियों को भी। पीठ पर वे एक लम्बी टोकरी बाँधे रहती हैं और पत्ती तोड़-तोड़कर उसमें डालती जाती हैं। दार्जिलिंग की अपनी विशेष कला शायद चित्र-कला है। लकड़ी के फलक पर चटक तैल रंगों के चित्र बहुत जगह बिकते देखे। चित्र प्रायः दार्जिलिंग के प्राकृतिक दृश्य अथवा जन-जीवन के होते हैं। रेशम अथवा सूत के तारों से कपड़े पर चित्र बनाने की कला वहाँ पर्याप्त विकसित है। कुछ चित्र तो बड़ी बारीकी से बनाए जाते हैं और बड़े ऊँचे दामों पर बिकते हैं।

अमिताभ ने दार्जिलिंग में होनेवाली शूटिंग समाप्त की और हमारे लिए कंचनजंघा से विदा लेने का समय आ गया और मन उदास हो गया। क्या लगता है कंचनजंघा हमारा कि उससे अलग होते बुरा लग रहा है, क्या दिया है उसने जो कल से हमें न मिल सकेगा और उसका अभाव हमें कचोटेगा। लगता है आभामय से, ऊर्ध्व से, सुन्दर से, सौम्य से, स्निग्ध-शांत से मानव की आंतरिक प्रवृत्ति का कोई अटूट नाता है। वह हमें जहाँ भी दिखाई देता है, मिलता है, हम उसकी ओर खिंच जाते हैं। उससे जुड़ जाते हैं। तीन सप्ताह कहीं अंदर से हम कंचनजंघा से जुड़े रहते हैं और अब उससे अलग हो रहे हैं, पर उसका एक चित्र, उसकी एक याद तो स्मृति-पटल पर उकेरकर ले जा रहे हैं जो जीवन में शायद ही कभी मिटे, शायद ही कभी मद्धिम पड़े। क्या स्मृति में बसी विभूतियाँ हमारे व्यक्तित्व की अंग नहीं बन जातीं? क्या वे हमारे चरित्र को, हमारे व्यवहार को नहीं प्रभावित करतीं? नगाधिराज पृथ्वी का मानदंड बने या न बने, पर वह सौन्दर्य का, श्रेष्ठ का, महत्ता-महानता का मानदंड बनकर हमारे हृदयों में स्थापित है ही। आदि कवि ने राम के लिए कहा—

'समुद्र इव गम्भीर्ये, धैर्येण हिमवानिव'

शायद वाल्मीकि ने धैर्य को महानता का पर्याय माना।

अगले तीन सप्ताह अमिताभ की दो और फ़िल्मों 'सुहाग' और 'दो और

दो पाँच' की शूटिंग ऊटकामंड या ऊटी में थी। हम लोग दार्जिलिंग से बाग-डोगरा-कलकत्ता होते बंबई पहुँचे और वहाँ एक दिन रुककर दूसरे दिन सुबह मद्रास के लिए रवाना हो गए। मद्रास से कोयम्बटोर आए और कोयम्बटोर से कार से दो घंटे की यात्रा करके ऊटी।

कार से जितना दिखा उससे कह सकता था कि ऊटी दार्जिलिंग से कम सुन्दर नहीं है। ऊँचाई दोनों की बराबर, लगभग 7000 फ़ीट, आबोहवा में विशेष अंतर नहीं—वैसी ही ठंड। अंग्रेज़ लोग तो ऊटी को 'Queen of hill stations' कहते थे। मुझे उसे यह विशेषण देते संकोच होगा। दार्जिलिंग के सिर पर जो कंचनजंघा का ताज है वह ऊटी के सिर पर कहाँ! हाँ, ऊटी को बेताज की रानी कहा जाय तो मैं मान लूँगा। वहाँ हम लोग ऊटकामंड होटल में ठहरे। होटल के लिए वह इमारत बनी नहीं थी। वह किसी देसी राजा का ग्रीष्मावास था। थोड़े ही समय पहले उसे होटल में परिवर्तित किया गया था, प्रबंध भी वहाँ का संतोषजनक न था। पर आठ रोज़ के पहले हम दूसरे होटल में न जा सके।

17 मई को अजिताभ भी अपनी पत्नी और तीन बेटियों को लेकर ऊटी आ गए। मुझे विशेष सुख-संतोष मिला नीलिमा को गले लगाकर। जिस दिन हम लोग 'प्रतीक्षा' से दार्जिलिंग के लिए रवाना हो रहे थे, वह दरवाज़े पर खड़ी थी; श्वेता, उससे केवल 9 महीने बड़ी, उसकी खेल-कूद की सबसे निकट सहेली दार्जिलिंग जा रही है पर उसे छोड़कर, उसे साथ नहीं ले जा रही है; उसकी नादान निराशा, भोली असमर्थता और करुण कसक, सिसकी बनते-बनते रुकी, जो मैंने नीलिमा की आँखों में देखी थी वह दार्जिलिंग-प्रवास में हर समय जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं, मुझे 'हांट' करती रही थी—आँखों-आँखों नाच रही थी। 18 मई को हमने अजिताभ की 32वीं वर्षगाँठ मनाई। रात को अमिताभ ने एक बड़ा भोज दिया था जिसमें 'सुहाग' फ़िल्म में भाग लेने वाले कई अभिनेता, अभिनेत्रियाँ भी सम्मिलित हुई थीं।

ऊटकामंड होटल से हम लोग बहुत असंतुष्ट थे। पास ही के 'सेवाय' होटल की हमने बहुत तारीफ सुनी थी, वहीं सब लोग चले गए। वहाँ हम दो सप्ताह रहे। अमिताभ तो अपनी शूटिंग में व्यस्त हो गए और हमने ऊटी देखने का कार्यक्रम बनाया।

ऊटी सुन्दर तो है ही, स्वच्छ भी है। मुझे दक्षिणी रहन-सहन देखने, दक्षिण में कुछ समय रहने का अवसर मिला है। मेरा अनुभव यह है कि दाक्षिणात्य स्वच्छता का ध्यान स्वभावतया अधिक रखते हैं। सादगी और सफ़ाई उनमें व्यापक है।

इसमें संदेह नहीं कि आज के प्रख्यात 'हिल स्टेशन्स' को खोजने और उन्हें विकसित करने का काम अंग्रेज़ों ने किया। हिंदुस्तान के मैदान की गर्मी से परेशान वे ऐसी जगहों की तलाश करते रहते थे जहाँ की आबोहवा ठंडी हो। ऊटकामंड की बस्ती तो शायद पुरानी होगी, निकटस्थ कस्बों, नगरों से पगडंडी से जुड़ी। अंग्रेज़ों ने उन्हें पक्के रास्तों, रेलवे लाइनों से जोड़ा। ऊटी भी छोटी लाइन से कोयम्बटोर से जुड़ी है। इसकी तुलना में दार्जिलिंग की लाइन को नन्हीं लाइन कहेंगे।

पक्की पत्थरों की बड़ी इमारतें बहुत नहीं हैं, पर जो हैं वे भव्य और एक अपनी शैलीगत विशिष्टता लिए। इनमें सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं सेंट थामस और सेंट स्टीफेन के गिरजाघर; हिंदुओं का कोई मंदिर या मुसलमानों की मस्जिद इनकी तुलना की नहीं है। फिर आते हैं गवर्नमेंट हाउस, जिसे आज का राजभवन कह सकते हैं और 'स्टोन हाउस' जिसमें पहली गरमी के दिनों में मद्रास सरकार का सचिवालय शिफ्ट कर दिया जाता था। अब मद्रास सरकार गर्मियों में ऊटी नहीं जाती। 'स्टोन हाउस' में किसी सैन्यशाखा का प्रशिक्षण केन्द्र बना दिया गया है। मद्रास के राज्यपाल जब ऊटी आते होंगे तब राजभवन में ठहरते होंगे। ऊटी से तीन-चार मील दक्षिण 'लवडेल' स्टेशन के निकट लारेंस मेमोरियल स्कूल है—कान्वेंट स्कूल। शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है, तमिल दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। 'दो और दो पाँच' की कुछ शूटिंग इस स्कूल की बिल्डिंग और उसके खेलने के मैदान में हुई थी।

यहाँ देखने की एक खास चीज ईसाइयों का एक चर्च है जो ऊटी से कुछ दूर पर एक पहाड़ी की पृष्ठभूमि में बनाया गया है। हिंदू मंदिरों की शैली पर ईसा मसीह के जीवन की घटनाएँ मूर्तियों में प्रदर्शित की गई हैं। कुछ मूर्तियाँ पहाड़ की गुफाओं में स्थापित हैं। ईसा के जीवन की इन झाँकियों को कलापूर्ण तो नहीं कह सकते पर ग्रामीणों को ये आकर्षित करती होंगी और उनपर प्रभाव भी डालती होंगी। चर्चों में बैठने के लिए बेंचें या कुर्सियाँ होती हैं। इस चर्च में फर्श पर बैठने का प्रबंध है। वस्तुतः यह चर्च पैंटधारी नागरिकों के लिए नहीं लुंगी-धारी ग्रामीणों के लिए बना है। बाहर से आइए, जूते उतारिए और फर्श पर बैठ जाइए। पादरी जो वहाँ दिखे नंगे पैर थे। दक्षिण में जूते पहनने का रिवाज कम है। पहले तो बिलकुल नहीं था। बीसवीं सदी की प्रथम चौथाई तक नगरों में भी आप ऐसे लोगों को देख सकते थे स्कूल-कालेज के अध्यापकों में, कचहरी के वकीलों में, दफ़्तर के अफ़सरों में जो लुंगी पर कमीज़, कोट, टाई पहने हैं, सिर पर मद्रासी सफ़ेद पाग भी बाँधे हैं, पर पाँव नंगे हैं। नगरों में अब जूते पहनने की प्रथा बढ़ी है, ग्रामों में ऊँचे तबके के लोग भी अब तक नंगे पाँव रहते हैं। शायद इसलिए भी आवश्यक हो गया होगा कि वे अपनी पगडंडियों, वीथियों, पथों, मार्गों को, वस्तुतः सभी जगहों को जहाँ आदमी के पाँव पड़ते हों सम-स्वच्छ रखें। दाक्षिणात्यों की स्वच्छता-प्रियता का रहस्य क्या उनके नंगे पाँवों में तो नहीं छिपा है? चर्च और गुफाओं के इस ग्राम को किसी स्थानीय गाइडबुक में 'पूर्व का जेरुसलम' कहा गया था। मैंने जेरुसलम नहीं देखा, इससे नहीं कह सकता कि कहाँ तक इस जगह को ऐसा कहना ठीक है, पर निश्चय इसमें अतिशयोक्ति है। जेरुसलम में, जैसा पढ़ने में आया है, बहुत कुछ है जिसका पासंग भी शायद इस चर्च के आसपास न हो। यहाँ एक छोटा प्राकृतिक झरना है जिसके निकट ईसा के पट्ट शिष्य सेंट पीटर की आदमक़द मूर्ति खड़ी की गई है—और भी संतों की मूर्तियाँ हैं। सबसे बड़ी और सबसे ऊँची मूर्ति ईसा का है क्रास पर टंगी।

बोटेनिकल गार्डेन भी यहाँ का कई सतहों पर लगाया गया बहुत सुंदर है। बीच में एक वृक्ष का तना-सा गड़ा है, जो लाखों बरस पुराना है—जो जमीन में गड़ा-गड़ा 'फासिल' यानी पत्थर-सा हो गया है। पता नहीं यहीं मिला था, या

कहीं और से लाकर यहाँ लगाया गया है। मैं चाहता कि उसपर कोई छोटे फूल, पत्तियों वाली एक सुकुमार सी लता चढ़ा दी जाती !

पहाड़ पर झील का बड़ा सौंदर्य व आकर्षण होता है। उत्तर प्रदेश में नैनीताल में एक छोटी-सी झील है। ऊटी में भी एक झील है—कोई दो-ढाई मील लंबी। गर्मी के दिनों में बड़ा मेला लगता है उसपर। मोटर-बोटों से उसपर घूमा जा सकता है। इसमें तैरते-नहाते मैंने लोगों को नहीं देखा। पता नहीं कितनी गहरी है। ऐसा लगता है प्राकृतिक छोटी झील को कृत्रिम उपायों से बड़ा किया गया है। इतनी नीचाई पर है कि चारों ओर का बरसाती पानी बहकर उसमें आता होगा और उसको सदानीरा रखता होगा। मुझे पता नहीं इस झील को कोई नाम भी दिया गया है या नहीं। अमिताभ की फिल्म का एक दृश्य इस झील के अंदर भी शूट किया गया था। सिने प्रोड्यूसर अभिनेताओं से क्या-क्या सरकसी काम कराते हैं !

हमने ऊटी का गवर्नमेंट आर्ट्स कालेज भी देखा। वहाँ चित्रकला और मूर्तिकला की विशेष शिक्षा दी जाती है, पाँच बरस का कोर्स होता है। इसकी स्थापना स्वतंत्र भारत में की गई थी। अधिक विद्यार्थी नहीं आते। विद्यार्थी के सामने हमेशा प्रश्न बना रहता है प्रशिक्षण प्राप्त करके रोजी-रोटी कमाने के क्या क्षेत्र खुलेंगे। चित्रकला प्रशिक्षित फिर भी छपाई के क्षेत्र में कमर्शल आर्टिस्ट की जगह बना लेते हैं, पर मूर्तिकारों की माँग बहुत कम होती है। फिर भी जिनका झुकाव इन कलाओं की ओर होता है वे यहाँ आते हैं। पुरा काल से चित्रकला और मूर्तिकला हमारी संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं और दोनों क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियाँ विशिष्ट और उच्च कोटि की रही हैं। अजंता के भित्ति चित्रों को छोड़ दें, जो निश्चय धार्मिक भावना से बनाए गए थे, तो चित्रकला को संरक्षण और प्रोत्साहन मध्ययुगीन राजदरबारों में मिला। उस समय संपन्न और संभ्रांत लोग भी चित्रों में रुचि रखते होंगे। घर के एक हिस्से को 'चित्र-सारी' कहा जाता था, जो निश्चय 'चित्रशाला' का बिगड़ा हुआ रूप है, आज का ड्राइंग रूम, पर इस अंतर के साथ कि चित्रशाला प्रायः शयनकक्ष होता था, ड्राइंग रूम बैठने और अतिथि-आगंतुकों के स्वागत-सम्मान का स्थान माना जाता है। मूर्तिकला इस देश की निःसंदेह प्रतीकात्मक धार्मिक आस्था के कारण विक-सित हुई। मेरी ऐसी धारणा है कि जितनी मूर्तियाँ इस देश में गढ़ा-ढाली गईं—ढाली विशेषकर दक्षिण में—वे रोम और ग्रीस की मिलकर गढ़ी-ढाली मूर्तियों से अधिक होंगी। मूर्तिभंजक मुसलमानों के आक्रमण के बाद इस देश की मूर्तिकला को भारी धक्का लगा होगा जिससे वह शायद अब तक नहीं उबर सकी है। मूर्तिकला के ह्रास का एक दूसरा कारण आधुनिक युग में प्रतीकात्मक धर्म के प्रति आस्था की क्षीणता भी है। कोणार्क के अश्वारोही सूर्य की प्रतिभा के जोड़ की कितनी प्रतिमाएं हमने गढ़ीं, या नटराज के जोड़ की ढालीं ? धर्मनिरपेक्ष या सेकुलर मूर्तिकला के विकास के लिए अभी हमें बहुत कम समय मिला है। आगे भी चित्रकला के विकास की संभावनाएं मूर्तिकला के विकास की संभावनाओं से अधिक हैं। संपन्नता बढ़ने के साथ चित्रकला विशिष्ट जनता तक पहुँच सकेगी, मूर्तिकला संस्थाओं का मुँह देखेगी।

कला के क्षेत्र का एक अद्भुत सत्य हमें जान लेना चाहिए। सामान्य योग्यता

वाले प्रशिक्षण से लाभान्वित होते हैं। प्रतिभा प्रायः प्रशिक्षण से चमक उठती है। पर विलक्षण प्रतिभा को प्रशिक्षण की आवश्यकता भी नहीं होती। प्रशिक्षण प्रतिभा का स्थानापन्न नहीं हो सकता। ऐसे बीसों उदाहरण हैं जहाँ उच्च कोटि के कलाकारों ने कहीं भी प्रशिक्षण नहीं लिया। दूर क्यों जाएँ? पूना में कुछ समय पहले तक अभिनय प्रशिक्षण का स्कूल था। आज भी इस स्कूल से प्रमाण-पत्र-प्राप्त अभिनेता सिने क्षेत्र में हैं। पूना स्कूल के बंद हो जाने के बाद कई छोटे-मोटे अभिनय-प्रशिक्षण स्कूल खुले हैं। लोग उनमें बाकायदा अभिनय कला सीखते हैं। पर अमिताभ ने—जो अभिनय-कला के अप्रतिम नहीं तो कोई सामान्य नमूने नहीं—कभी, कहीं अभिनय में प्रशिक्षण नहीं लिया। अपनी प्रतिभा को पहचानना और उसे वांछित दिशा में उन्मुख करना भी प्रतिभा का ही काम है।

शूटिंग से एक दिन की छुट्टी में हम लोग अन्नमलाई संरक्षित पशु-वन-विहार देखने के लिए गए। ऊटी से पंद्रह-बीस मील ढलान की सड़क से जाना पड़ा था, किस दिशा में, मुझे पता नहीं। घना जंगल था। हमसे कहा गया था वहाँ अन्य वन्य पशुओं के अलावा शेर-चीते भी घूमते दिखाई देते हैं। हम लोग यूनिट की मिनी बस से गए थे। हमने वहाँ केवल जंगली हाथी, हिरन, काले मुँह और लंबी पूँछ वाले लगूर और लाल मुँह और छोटी पूँछ वाले बंदर देखे। वाल्मीकि द्वारा वर्णित किष्किंधापुरी कहीं निकट रही होगी। जंगल से बाहर निकलकर जब हम लोग वन-विहार के दफ़्तर में पहुँचे तब उसके अहाते में एक पिंजड़े में हमने ज़रूर एक छोटा चीता देखा, और एक हाथी का बच्चा भी। जंगल में पिंजड़े लगाकर जानवरों को पकड़ते हैं और माँग होने पर उन्हें देश-विदेश के चिड़ियाघरों को बेचते हैं। दफ़्तर से थोड़ी दूर पर एक छोटी नदी थी जिसमें हमनें कुछ हाथियों को नहाते भी देखा। हाथी पानी का बड़ा प्रेमी होता है। पानी इतना गहरा न हुआ कि जिसमें वह डुबकी ले सके तो अपनी सूँड़ में पानी भर कर अपनी पीठ पर फ़ौआरे की तरह फेंकता है। साथी हाथियों पर भी वह सूँड़ से उसी तरह पानी की बौछार करता है। वे एक-दूसरे से पीठ भी रगड़ते हैं। हाथियों की जलक्रीड़ा देखना एक अभूतपूर्व अनुभव था। बच्चे हमारी इस यात्रा से बहुत खुश हुए। अमिताभ ने जंगली जानवरों के कुछ चित्र भी लिये।

अमिताभ की ऊटी की शूटिंग खत्म होते-होते हमें एक पारिवारिक शुभ समाचार का संकेत मिला। रमू ने अपनी सास गोसाइँ के कान में कहा कि संभवतः वह गर्भ से है और सास गोसाईं ने चारों ओर के सुखद-सुंदर परिवेश की ओर नज़र घुमा कर आशीर्वाद दिया कि 'इस बार तुम अपने चिर-प्रतीक्षित सुंदर पुत्ररत्न की माँ बनो।' वायु पुत्र होने के नाते पवनकुमार-बंधु 'भीम' का उन्होंने हार्दिक आह्वान कर दिया था। और यथासमय उनका यह आह्वान मूर्तिमान हुआ।

ऊटी से सारा बच्चन परिवार बहुत स्वस्थ सानंद बंबई लौटा।

मेरी मेज़ पर डाक का ढेर लगा था और आते ही मैं उसे निबटाने में व्यस्त हो गया। उसी में एक तार मिला—'छठा एफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन 26 जून से 3 जुलाई तक लुआंडा (अंगोला) में होने जा रहा है। आप उसमें सम्मिलित होने के लिए सादर निमंत्रित हैं। आपका सारा व्यय कान्फ्रेंस वहन करेगी। विस्तार से जानने के लिए सोवियत राजदूतावास के सांस्कृतिक विभाग से संपर्क करें।'

तार देखते ही मेरे जी में आया मैं कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए चला जाऊँ। तेजी, अमिताभ, अजिताभ से भी सलाह की। मेरा जाने का बहुत मन था, उन लोगों ने अनुमति दे दी। मैंने स्वीकृति का तार संबद्ध संस्था को दे दिया। और तीसरे दिन उनका जवाब आ गया—आप पासपोर्ट और स्वास्थ्य-प्रमाणपत्र ले दिल्ली आ जाएँ।

अंगोला मध्य अफ्रीका का सबसे पश्चिमी भाग है। पंद्रहवीं सदी के अंतिम भाग में पुर्तगाली समुद्री व्यापारी उसके पच्छिमी किनारे पर पहुँचे और अपने बारूदी हथियारों और संगठित सैन्य शक्ति के बल पर उन्होंने पूरे प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। धरती के नीचे तेल था, लोहा था, हीरे जवाहर थे, ऊपर बढ़िया लकड़ी के घने जंगल थे, ऐसे पेड़ों के भी, जिनसे रबर निकाला जा सकता था, मिट्टी ऐसी थी जिसपर काफ़ी, रूई, तम्बाकू और मिर्च की खेती की जा सकती थी, समुद्र तट मछलियों से भरे थे। पुर्तगाली शासकों ने पाँच सौ बरसों तक अपनी विकसित तकनीक, वैज्ञानिक विधि और मूल निवासियों के तन-तोड़ श्रम से इस देश की उपज, संपत्ति और जनबल का शोषण किया। उबरा जनबल श्रमिक गुलामों के रूप में दक्षिण अमरीका तथा अन्य गन्ने की खेती करनेवाले द्वीपों में भेजा-बेचा जाता रहा। गुलाम व्यापार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बंद किये जाने के पूर्व ऐसा अनुमान किया जाता है कि अंगोला की औसत पचास लाख की आबादी में से कम से कम दस लाख श्रमिक गुलाम उत्तरी और दक्षिणी अमरीका को निर्यात किए गए। इन श्रमिक गुलामों को किन कठिन परिस्थितियों में काम करना पड़ा और कैसी-कैसी क्रूर ताड़नाएँ सहते हुए उसकी लंबी गाथा है और निश्चय पश्चिमी सभ्यता के इतिहास पर लगा बड़ा लज्जास्पद धब्बा। इससे अधिक शर्मनाक बात तो यह है कि आज बीसवीं सदी के अंतिम चरण में भी पश्चिम इसके लिए पूर्ण प्रायश्चित करने को तैयार नहीं।

पर बीसवीं सदी के प्रभात से अफ्रीका के विभिन्न भागों में जन-जागरण की सुगबुगाहट प्रारंभ हुई, साथ ही विरोधी शक्तियाँ भी सजग-सक्रिय हो गईं। दासता की जंज़ीरों को तोड़ने और स्वामित्व का अधिकार बरकरार रखने का संघर्ष छिड़ गया है; ज़ंजीरें टूट चली हैं। संघर्ष चलेगा, चलता रहेगा जब तक कि संपूर्ण अफ्रीका योरोपीय शक्तियों के शिकंजे से मुक्त नहीं हो जाता।

अंगोला सदी के मध्य में जागा। 1960 से पुर्तगाली शासन से स्वतंत्र होने के लिए नियमित युद्ध आरम्भ हुआ। इस संघर्ष में सबसे आगे था M. P. L. A.—Popular Movement for the Liberation of Angola जो तब से अधिक सक्रिय हुआ जब से आगस्टीनो नेटो ने उसका नेतृत्व अपने हाथ में लिया। पेशे से वे डाक्टर थे; पर देश की पुकार ने उनके कवि को जगाया। उनके शब्दों ने अंगोला में नई उमंग, नया जोश, नया उत्साह भर दिया। उन्होंने एक हाथ में क़लम ली तो दूसरे हाथ में बंदूक भी संभाली। वे मेरे शब्दों में दावा कर सकते थे—

> 'मैं क़लम और बंदूक चलाता हूँ दोनों
> दुनिया में ऐसे बंदे कम पाए जाते हैं।'

नेटो की वाणी के इसी गुण, शक्ति और प्रभाव को देखकर ऐफ्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस ने अपने 1970 के अधिवेशन में उन्हें लोटस पुरस्कार से सम्मानित किया, जो नई दिल्ली में आयोजित किया गया था। वस्तुतः इसी अधिवेशन के बाद मेरी रुचि नेटो के कृतित्व और व्यक्तित्व में जगी और उनका जो कुछ अनुवादों के रूप में मुझे मिला उसे मैंने पढ़ा। मुझे लगा, नेटो के व्यक्तित्व की कोई शिरा कभी मेरे व्यक्तित्व की शिरा में भी झंकृत हुई थी या शायद मेरे व्यक्तित्व की शिरा उनके व्यक्तित्व में—वे मुझसे 15 वर्ष छोटे थे।

विवश जीविकोपार्जन को मैं
हुआ न किस-किस पथ का राही,
पर मेरा वश चलता तो मैं
होता कवि के साथ सिपाही।

ये पंक्तियाँ निश्चय नेटो के कवि-सिपाही रूप में सामने आने के बहुत पहले लिखी गई थीं। पर मेरी विवशता को उन्होंने वशीभूत कर लिया था। अंगोला के स्वातन्त्र्य समर-क्षेत्र में किसी मुहिम पर तैनात आगस्टीनो नेटो पुरस्कार लेने न आ सके थे; पर पुरस्कार-विजेता-परिचय पुस्तिका में उनके जीवन-वृत्त के साथ उनकी जो कविताएँ दी गई थीं उन्हें जिस किसी ने भी पढ़ा था उनसे प्रभावित हुआ था। उनकी एक कविता आप सुनना चाहेंगे ?

छायाओं का जलूस

मैं उन सड़कों को याद करता हूँ जिनपर कोई नहीं चला,
मैं दूर से आती उन आदमियों की आवाज़ें सुनता हूँ
जिन्होंने कभी नहीं गाया,
मैं उन सुखदायी दिनों की याद करता हूँ
जो कभी नहीं जिये गये,
मैं उस जीवन को चित्रित करता हूँ
जो कभी नहीं भोगा गया,
मैं उस जगह पर उजाला देखता हूँ जहाँ केवल अँधेरा है,
मैं काली रात में दिवस की सुस्पष्टता हूँ,
मेरा चेहरा अतीत की ललक है।

अतीत की ललक ! ...
किस अतीत की ? किसके अतीत की ?
मैंने सूरज देखा ही कब है
जिसकी याद मैं जगा रहा हूँ ?

आह !
ऐसी दुनिया, ऐसे लोग
ऐसी व्यवस्था, ऐसा प्रकाश,
ऐसे रास्ते जो कहीं नहीं पहुँचाते,

ऐसी अँधेरी रातों में
ऐसे उजले, चहल-पहल से भरे दिन
केवल कल्पना की उड़ानें हैं...
अस्तित्वहीन अतीत की ललक
सिर्फ पागलपन है।

ओ स्वप्नद्रष्टा,
वास्तविकता की ओर लौटो।

देखो उस आदमी को जो सामने से गुज़र रहा है,
जिसकी आँखें धूप से झुलसी हैं,
जिसके बदन पर फटी हुई कमीज है,
जिसकी पीठ अज्ञान और भय के बोझ से झुकी हुई है,
जो अपनी इच्छाओं के चीत्कार को
इस डर से दबाए हुए है कि कहीं उससे
उस संसार की शांति भंग न हो
जो अपनी झूठी चमक-दमक से
उसे फुसलाए रखना चाहता है।

वही कवि और सिपाही नेटो जब 1975 के अंत में अंगोला स्वतंत्र घोषित किया गया उसका राष्ट्रपति बनाया गया, और वही अब तीन वर्ष बाद एफ्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस को अपने देश में आमंत्रित कर रहा था। उससे मिलने और उसकी उठती हुई क़ौम को देखने का उत्साह ज्वार की तरह मेरे मन में उठा—

सब उठती चीज़ें मन मेरा हर लेती हैं—
दाहक निदाघ के बाद गगन उनये बादल...
उठती क़ौमें...

दिल्ली पहुँचने पर मालूम हुआ कि डा० भीष्म साहनी भी कान्फ्रेंस के लिए आमंत्रित हैं। हम दोनों दिल्ली से मास्को गए। वहाँ पीकिंग होटल में एक दिन, एक रात रहकर दूसरे दिन तड़के अंगोला के लिए रवाना हुए। हमारा जहाज़ बेलग्रेड, डाकार, कोनाकरी—पिछले दोनों हवाई अड्डे अफ्रीका की भूमि पर थे—थोड़ी-थोड़ी देर के लिए रुकता हुआ बारह बजे रात को लुआंडा पहुँचा। मास्को से लुआंडा तक की हवाई यात्रा में बीस घंटे तो लगे होंगे। इतनी लंबी हवाई यात्रा मैंने जीवन में पहली बार की थी। लुआंडा की जमीन पर पांव रखे तो बदन थकान का एक गट्ठर बन गया था—बैठे-बैठे भी आदमी कितना थकता है! हम लोग होटेल ट्रापिकल में ठहराए गए। यहाँ कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए आए हुए अन्य डेलीगेट भी ठहराए गए थे। दूसरा दिन आराम का था।

27 जून को 10 बजे कान्फ्रेंस का उद्घाटन समारोह था।

उद्घाटन भाषण अंगोला के राष्ट्रपति कामरेड आगस्टीनो नेटो ने दिया था। नेटो के चित्र मैं देख चुका था, वे उससे बहुत भिन्न नहीं लगे। क़द जरूर

मैं उनका लंबा समझता था, वे नाटे थे; शरीर से भरे, पर मोटे नहीं, रंग स्लेटी, चेहरा चौकोर, बाल काले-छोटे-घुंघराले, मूल अंगोला निवासियों जैसे, नाक चौड़ी खुली-खुली, होंठ मोटे, आँखों पर काले फ्रेम का मोटा चश्मा, पर आँखें ऐसी लगतीं जैसे चश्मे से दूरबीन का काम ले रही हों। लाल टाई के साथ योरोपियन सूट में थे। अभिवादन के उत्तर में जब उन्होंने अपनी मुट्ठी बँधी भुजा उठाई तो लगा कि उनके हाथ शरीर के अनुपात से बड़े हैं। वे आजानुबाहु थे। उन्होंने अपना भाषण पुर्तगाली में दिया था, पर इयर-फ़ोन के ज़रिए उसका अनुवाद अंग्रेजी, फ्रांसीसी और रूसी में भी सुना जा सकता था।

उपनिवेशवादी अथवा साम्राज्यवादी शक्तियाँ ~~कितनी ही~~ प्रबल क्यों न हों, वे संस्था के बल पर अधीनस्थ देशों पर शासन नहीं कर सकतीं। वे अधीन देश में अपने प्रतिरूप एक वर्ग तैयार करती हैं, जो उनके प्रति वफादार हो और जिसके माध्यम से वे मूल निवासियों की सेवाएँ ले सकें। हिंदुस्तान में अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य क्या था ? मैकाले इसको गुप्त नहीं रख सका था। उद्देश्य था, हिंदुस्तानियों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना जो रंग छोड़ बाकी सब कुछ में अंग्रेज़ हो, काला अंग्रेज, जो अंग्रेजी शासन, शासन पद्धति के प्रति निष्ठावान हो, जो अंग्रेजी रहन-सहन, बात-व्यवहार, संस्कृति, यानी अंग्रेज़ियत का पैरोकार हो। अंगोला में भी पुर्तगालियों ने काले पुर्तगालियों का वर्ग खड़ा किया था। यह इतिहास की बड़ी भारी विडंबना है कि यही वर्ग उपनिवेशवादी अथवा साम्राज्यवादी शासन को उखाड़ने में सबसे सक्रिय भूमिका अदा करता है। और यही वर्ग शासक-शोषक देश से जो भी श्रेष्ठ, श्रेयस्कर, हितकर, लाभकारी, उपयोगी लिया-सीखा जा सकता है उसको लेने-सीखने में सबसे सशक्त माध्यम सिद्ध होता है। और इसके साथ एक दुर्भाग्य यह भी है कि यही वर्ग मुक्त-स्वतंत्र देश में विदेशी शासक की जगह अपने को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सद्यः स्वतंत्रता-प्राप्त देश में इस वर्ग का उपयोग करते हुए भी इससे बहुत सतर्क रहने की ज़रूरत है।

आटस्टीनो नेटो ने अपने भाषण में इसी वर्ग का आह्वान किया था कि अब जब अंगोला स्वतंत्र हो गया है तब इस वर्ग का काम है कि पुर्तगाल के और उसके माध्यम से योरोप के ज्ञान-विज्ञान को लाकर अंगोला की जनता की उन्नति-प्रगति और विकास में नियोजित करे। पुर्तगाली शासन से स्वतंत्र होने के बाद भी पुर्तगाली भाषा को उन्होंने अपने देश की राजभाषा बनाया था, उच्च शिक्षा का माध्यम भी; साथ ही प्राइमरी और सेकेंडरी शिक्षा के लिए उन्होंने माध्यम के रूप में ओविमबिंडू और किमबिंडू को स्वीकार कर लिया था जो अंगोला की दो सर्वाधिक प्रचलित भाषाएँ हैं, पर जिनके विकास के लिए पुर्तगाली शासन ने कुछ भी नहीं किया था। पुर्तगाली भाषा के माध्यम से योरोप से संपर्क बनाए रखने को नेटो ने इतना महत्व दिया था कि स्वतंत्र होने के बाद, हमें बताया गया था, उन्होंने अंगोला के शिक्षा संस्थानों में पढ़ाने के लिए 700 वरिष्ठ अध्यापक पुर्तगाल से बुलाए थे। पता नहीं राष्ट्र को राष्ट्रभाषा से अनिवार्यतः जोड़नेवाले नेटो की नीति को कितना समर्थन देंगे, पर निश्चय व्यावहारिकता इसी में थी। वस्तुतः उनकी भाषा नीति उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण की एक अंग थी जिसे समझना और जिसे किसी रूप में अपनी राष्ट्रीय चेतना में समाहित करना शायद हमारे लिए भी अनुपयोगी न हो।

इसे नेटो की सहिष्णुता कहें, कि उनकी साहसिकता, कि दूरदर्शिता, कि बुद्धिमत्ता कि उन्होंने कहा था कि पुर्तगाली गुलामी और पुर्तगाली संपर्क के पिछले पाँच सौ वर्ष भी अंगोला की परंपरा के अंग हैं। यह प्रवृत्ति प्रायः देखी जाती है, और किसी हद तक समझी जा सकती है कि जातियाँ गुलामी के बंधनों से निकलकर गुलामी की अवधि को भुला देना चाहती हैं, नकार देना चाहती हैं, पर यह कटु और अमिट सत्य है कि ऐतिहासिक घटित को न भुलाया जा सकता है और न नकारा ही, और इतिहास कागज़ पर और किताबों में न भी लिखा जाए तो भी बड़े सुस्पष्ट और सूक्ष्म तरीकों से वह अपना अस्तित्व प्रमाणित करता रहता है। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अपने इतिहास की सहज स्वीकृति, उसकी कालबद्ध परंपरा का स्वाभाविक स्वीकार जहाँ हमें सत्यनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ बनाता है, हमारे संस्कार को व्यवहारिकता से जोड़ता है, हमें विगत के अनुभवों से वर्तमान और भविष्य की सही राहें निकालने के लिए प्रेरित करता है, वहीं इतिहास की अस्वीकृति, उससे बँधी परंपरा की नकार हमें झूठा और मक्कार बनाती है, आरोपित संस्कारों की चादर ओढ़ाती है जो हवा के हलके हलके से झोंके से उड़ जाती है और हमारी आँखों पर विकृतियों का ऐसा चश्मा चढ़ाती है कि हम न अपनी सही शक्ल देख पाते हैं और न दुनिया की। हमारी सैंतीस वर्ष की स्वतंत्रता के पीछे हज़ार वर्ष की मुसलमानों और अंग्रेजों की गुलामी का इतिहास है। हम ज़रा रुककर सोचें कि विधर्मियों और विदेशियों की संपर्क-जनित परंपरा हमने कितनी अपनी मानी है, कितना अपनी परंपरा का अंग माना है, किस रूप में हमने उसे स्वीकार किया है। हमारे देश में नकारने और स्वीकारने दोनों की प्रवृत्तियाँ देखी गई हैं। प्रतीक रूप में, स्वतंत्रता मिलने के बाद कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी सोमनाथ के मंदिर के पुनरुद्धार की बात सोचते हैं जिसे मुहम्मद गोरी ने ध्वस्त किया था, जवाहरलाल नेहरू भाखड़ा-नंगल और भाभा परमाणु संस्थान की नींव डालते हैं। हम सोमनाथ के मंदिर से भविष्य की यात्रा नहीं आरम्भ कर सकते; हमें परमाणु संस्थान से अपना सफ़र शुरू करना होगा। परंपराओं के साथ प्रायः रूढ़ियाँ भी जुड़ी रहती हैं। हमारी स्वतंत्रता, स्वतंत्र चेतना किस दिन काम आएगी अगर हम परपराओं में से स्वस्थ, उपयोगी और प्रगतिशील को अस्वस्थ, अनुपयोगी और प्रतिगामी से अलग न कर सकें। जो थोड़े दिन मैंने अंगोला में बिताए उनमें भी मैंने यह देख लिया था कि आगस्टीनो नेटो और अंगोला निवासी इस बात के प्रति सचेत थे कि उन्हें अपनी पुर्तगाली परंपरा से क्या लेना और क्या छोड़ना है।

नेटो की राष्ट्रीय दृष्टि और व्यापक सार्वभौम दृष्टि के भी सबूत मुझे उनके कथन में मिले। उन्होंने अपने देश के लेखकों को आगाह किया था कि वे मज़दूर-किसान-संस्कृति (prolet cult) के कठमुल्लापन से बचे रहें और अपने को अंगोला की पुरा संस्कृति से भी जोड़ें। रूस की अक्टूबर क्रांति के पश्चात लेनिन ने भी इस खतरे को देखा था और उसका दृढ़ता से विरोध किया था। उनका आग्रह था कि अगर समाजवादी संस्कृति को रूसी जनगण में मान्य कराना है तो उसे रूस के प्राचीन सांस्कृतिक दाय की परिणति के रूप में प्रस्तुत करना होगा। मैं अपनी तरफ से एक प्रश्न उठाना चाहूँगा। क्या यह सदा सहज संभव हुआ था? हम क्यों न मान लें कि समाजवादी संस्कृति में कुछ ऐसा था जो सर्वथा

नवीन था? क्या नवीन हमेशा पुराने की साखी या बैसाखी का मोहताज बना रहेगा?

नेटो की व्यापक दृष्टि का इससे बड़ा सबूत क्या होगा कि उन्होंने देख लिया था कि Life is a succession and sum total of contradictory facts, which, according to their nature, may or may not be resolved... the writer cannot ignore the reality, above all, those dramatic aspects of reality which constitutes its contradiction. (जीवन परस्पर विरोधी तत्वों की शृंखला या सम्मिश्रण है, जो अपनी प्रवृत्ति के अनुसार आपस में मिल भी सकते हैं और नहीं भी; ...लेखक वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकता, विशेषकर वास्तविकता के उन नाटकीय पक्षों की जो एक-दूसरे के खिलाफ डटकर खड़े होते हैं!)

मेरी दृष्टि में लेखन का सबसे बड़ा खतरा है लेखक की पक्षधरता और प्रतिबद्धता जिसके फलस्वरूप वह जीवन को उसकी पूर्णता में नहीं देख पाता। पक्षधर और प्रतिबद्ध लेखक सामान्यतया अपने पक्ष, अपने सिद्धांत के विरोधी तत्वों को दबाता या उनकी उपेक्षा करता है। ऐसा लेखक जीवन-सत्य को विकृत रूप में प्रस्तुत करता है। नेटो जीवन की वास्तविकता को देखने की सिफारिश करते हैं और जोर देते हैं कि वह विशेषकर उसके परस्पर-विरोधी तत्वों को देखे। जीवन सत्य को इससे अधिक स्पष्ट रूप में देखने का शायद कोई दूसरा तरीका नहीं।

ऐसे अधिवेशनों में लेखक को उसका कर्तव्य बताने, समाज के प्रति उसका दायित्व समझाने, लेखन को पाठकों के लिए ग्राह्य बनाने, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, जातिवाद, रंगभेदवाद का विरोध करने, विश्वशांति-प्रयत्नों में योग देने आदि-आदि की बातें इतनी बार दुहराई जाती हैं कि सुनते-सुनते आदमी ऊब उठता है। मैं तो यह मान कर चलता हूँ कि व्यापक अर्थ में जीवन सत्यों पर आधारित लेखन अथवा साहित्य प्रगतिशील और शांतिकामी होने के सिवा दूसरा हो नहीं सकता। प्रचारात्मक लेखन—अगर प्रभावकारी बन सका—समयोपयोगी होकर भी साहित्य की गरिमा नहीं प्राप्त कर पाता।

दिन के सत्र में विभिन्न देशों से आए प्रतिनिधि अपने-अपने देश में प्रगतिशील साहित्य की स्थिति-प्रगति के ब्यौरे देते थे—भारत के, विशेषकर हिंदी के, ऐसे साहित्य का ब्यौरा डा० साहनी ने दिया था। संध्या समय प्रतिनिधियों के मनोरंजनार्थ सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे जाते थे। एकाधिक संध्याओं में अंगोली नृत्य-गान हुए थे। एक संध्या काव्य-पाठ के लिए रखी गई थी। मैंने अपनी कविता 'खून के छापे' सुनाई थी जो 'दो चट्टानें' (1965) से थी। उसका अंग्रेजी अनुवाद डा० साहनी ने किया था, उसका पुर्तगाली अनुवाद किसी अंगोली कवि ने। उसके इस पद पर देर तक हर्ष और करतल-ध्वनि की गई थी।

सुबह-सुबह उठकर क्या देखता हूँ
कि मेरे द्वार पर
खून-रंगे हाथों के कई छापे लगे हैं।
यह मासूम खून किनका है?

क्या उनका
जो अपने श्रम से धूप में, ताप में
धूलि में, धुएँ में सनकर, काले होकर,
अपने सफ़ेद-खून स्वामियों के लिए
साफ़ घर, साफ़ नगर, स्वच्छ पथ
उठाते रहे, बनाते रहे,
पर उन पर पाँव रखने, उनमें बैठने का
मूल्य अपने प्राणों से चुकाते रहे ।
उनके रक्त की छाप अगर लगनी थी तो
किसके द्वार पर ?

एक स्वर से जनता से आवाज़ उठी थी 'पुर्तगाली गवर्नमेंट हाउस के द्वार पर'। प्रसंगवश बता दूँ कि जिस हाल में यह कविता पढ़ी गई थी वह ऐसा ही था जिसमें पुर्तगाली शासन काल मे अंगोला के मूल निवासियों का प्रवेश वर्जित था। कामरेड आगस्टीनो नेटो उस काव्य-संध्या में किसी कारण उपस्थित न हो सके थे, पर उन्होंने अपनी एक कविता भेजी थी जिसका अंग्रेजी अनुवाद वितरित किया गया था—मैं यहाँ उसका हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ—

वह अभागा काला

वह बेच दिया गया,
वह नौकाओं में अज्ञात देशों को भेज दिया गया,
कोड़ों से पीटा गया,
बड़े नगरों में मुक्कों-मार घसीटा गया,
पाई-पाई से महरूम किया गया,
वह बिलकुल मिट्टी में मिला दिया गया,
उसने क्या-क्या नहीं सहा,
वह जहाँ भी रहा पराजित-धराशायी रहा ।

उसे इंसान और भगवान
दोनों का हुक्म बजाने को मजबूर किया गया,
उसे अपने देश, अपनी धरती से दूर किया गया,
वह जहाँ भी रहा खोया-खोया,
अपने आप से भी बिगोया-बिगोया ।

एक फटा-पुराना चिथड़ा ।
जिसका रंग-ढंग अपने-सा न पाकर,
जिसने जहाँ भी उसे देखा
उस पर कसा फ़िकरा ।

काला-कलूटा चिथड़ा,
देश-काल में जिसका कहीं नहीं ठिकाना,

जिसे दीन-हीन-मलीन देख
धीमे से कहता है ज़माना,
(पता नहीं व्यंग्य से
कि दया से)
बेचारा नीग्रा !

और वह है बेज़बान !
जबकि कवि मानते हैं उसे भाई के समान !

उनकी कविता की वाहवाही में मेरी कविता की वाहवाही डूब गई थी।

एक दिन प्रतिनिधियों को अंगोला के मध्य का कोई प्रदेश दिखाया गया था, जहाँ पानी का एक बड़ा झरना था। हम लोग हवाई-जहाज़ से गए थे और फिर बसों से; वहाँ एक विशाल रेस्ट हाउस में हमारे लंच का प्रबंध था। रेस्ट हाउस के बरामदे से झरने को देखना और उसका झर-झर निनाद सुनना बड़ा ही सुखकर अनुभव था। निर्झर मुझे हमेशा काल का प्रतीक लगा है—'लव, निमेष, परमानु, युग, वर्ष, कल्प' महाकाल के निर्झर से अनवरत झरते चले जाते हैं—कोई भी क्षण झरकर फिर न कभी ऊपर चढ़ने के लिए...

प्रदेश के निवासियों ने रेस्ट हाउस के सामने अपने स्थानीय वाद्य-यंत्रों पर नृत्य-गान का कार्यक्रम आयोजित किया था। वाद्य-यंत्रों में एक बाजा था जिसे मैं 'तूंबीतरंग' कहना चाहूँगा, अपने यहाँ के जल-तरंग के जोड़ का। बड़ी-छोटी 17 तूंबियों का मुँह काट कर एक क्रम में बाँधा गया था, तूंबियों के मुँह पर किसी खास लकड़ी के बड़े-छोटे टुकड़े क्रम से बाँधे गए थे। जब दो डंडियों से लकड़ी के टुकड़ों पर चोट की जाती थी तब सरगम के आरोह-अवरोह में तूंबियों से स्वर निकलते थे। आघातों के क्रम को नियंत्रित कर कई तरह के राग-ताल निकाले जाते थे। अंगोली भाषा में उसे 'मारिम्बा' कहते हैं। इसके साथ खड़ा ढोल बजता है जो दोनों हाथों से एक ही तरफ़ बजाया जाता है। यह 'एंगोमा' कहलाता है। इंसान के संगीत प्रेम ने भी कैसी-कैसी चीजों को श्रुति-मधुर ध्वनियों का उपकरण बनाया है। जब उनके सामूहिक नृत्य में हमारे साथ के कुछ प्रतिनिधि भी शामिल हो गए तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होंने उनको ठीक 'स्टेप्स' सिखाए और बीच-बीच में निकाली जाने वाली विचित्र ध्वनियाँ भी बताईं। नाचनेवालों में अंगोली स्त्रियाँ भी थीं। कई तो अपने बच्चों को पीठ पर बाँधे हुए नाच रही थीं। अंगोली स्त्रियाँ काम करने भी जाती हैं तो बच्चे को पीठ पर बाँधकर। पीठ पर बँधे किसी बच्चे को मैंने रोते नहीं देखा। शायद वे उनको सोने की कोई बूटी खिलाती हैं।

सद्यः स्वतंत्र हुई कौमों के प्रारंभिक वर्ष प्रायः उल्लास-उत्सव के होते हैं। अंगोली इस उत्सव-उल्लास में भूल नहीं गए थे कि उन्हें अपने देश का पुनर्निर्माण करना है। मुल्क छोड़कर जाते-भागते पुर्तगालियों ने 'स्काच्र्ड अर्थ' पालिसी अपनाई थी, यानी वे जो कुछ तोड़-फोड़, नष्ट-भ्रष्ट कर सके थे करके गए थे। और अंगोली जनता लग गई थी, उनका फिर से निर्माण करने में।

नाश के दुख से कभी
दबता नहीं निर्माण का सुख;
प्रलय की निःस्तब्धता से
सृष्टि का नवगान फिर-फिर।
नीड़ का निर्माण फिर-फिर।

होटेल ट्रापिकल सिविल लाइन्स में था, जो कभी अंगोलियों के लिए वर्जित क्षेत्र था; मैं अपने कमरे की खिड़की से देखता था झुंड के झुंड मजदूर काम करने के लिए सड़कों से गुजरते थे। लोगों ने 'स्वेच्छया काम करने के दिन' बाँध लिए थे; पहले इन्हीं लोगों के लिए 'ज़बरन काम कराने के दिन' नियत थे। श्रम तो शायद वही था, पर उद्देश्य ने कितना अंतर कर दिया था! पहले वे काम करते थे दूसरों के लिए, अब वे काम कर रहे थे अपने लिए। हमें बताया गया था कि कितने ही उद्योग-संस्थानों, खानों, खेतों, कारखानों में लोग इतवार को भी काम करने आते थे जिसके लिए वे कोई मज़दूरी नहीं लेते थे। नीग्रो लोगों में अपार कष्ट-सहन-श्रम क्षमता है। सही पथप्रदर्शन मिलने पर दुनिया का कोई ऐसा मुश्किल काम नहीं जो वे न कर सकते हों।

सिविल लाइन के होटल में ठहरे हुए कोई अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता था कि लुआंडा का सामान्य नागरिक कैसा जीवन जीता है। एक दिन होटल के एक कर्मचारी को साथ ले, जो थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी समझता था, मैं शहर चला गया जिसे 'शैंटी-टाउन' कहते थे। क्या आपने बंबई का धरावी क्षेत्र देखा है जो एशिया का सब से बड़ा स्लम (झोपड़पट्टी) समझा जाता है? शैंटी टाउन उसी का प्रतिरूप था—बच्चे, काफ़ी उम्र तक के प्रायः नंगे, मर्द-औरतें क्षीणतम वस्त्रों में। उनको देखकर दुखी होना स्वाभाविक था, पर इस बात की खुशी भी थी कि मैंने किसी को बेकार बैठा, सुस्त नहीं देखा। लोग चुप, बगैर शोरगुल-शिकायत के कामों में लगे थे। झोपड़पट्टी के कुछ हिस्सों की सफ़ाई हो गई थी, कुछ की हो रही थी, कहीं-कहीं नई डिज़ाइन के मकान खड़े हो रहे थे, नालियाँ डाली जा रही थीं, गलियाँ, सड़कें साफ़, बराबर की जा रही थीं। मालूम होता था जैसे किसी ने उनके सामने कोई सपना रख दिया है और उन्हें विश्वास दिला दिया है कि वह साकार किया जा सकता है।

अधिवेशन के अंतिम दिन 'पैनोरमा होटल' में रात्रि भोज था, खुले में; कामरेड आगस्टीनो नेटो भी उसमें पधारे थे।

दो दिन विदा की तैयारी के लिए थे।

दूसरे दिन शाम को राष्ट्राध्यक्ष ने भारतीय डेलीगेशन को चाय पर निमंत्रित किया था। उनके निवास से मोटर आई थी और डा० भीष्म साहनी को और मुझे वहाँ ले गई थी। अध्यक्ष-भवन बहुत बड़ा नहीं था, पर चारों ओर टैंकों-सैनिकों से सुरक्षित। वे हम दोनों से अपने पुस्तकालय में मिले थे। कमरे में हम तीनों के अतिरिक्त केवल दुभाषिया था, जो हमारी बात उन्हें पुर्तगाली में और उनकी बात हमें अंग्रेज़ी में बताता था। हम लोगों ने अपना परिचय दिया। उन्हें इस बात की स्मृति थी कि उनके साथ ही मुझे भी 1970 का लोटस पुरस्कार मिला था। मैंने उन्हें 'मधुशाला' का रेकार्ड भेंट किया जो मैं साथ ले

गया था, भीष्म साहनी ने अपनी कुछ पुस्तकें दीं। नेटो साहब ने हम दोनों को अपनी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद का संग्रह भेंट किया। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया कि अंगोला की स्वतंत्रता के बाद भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने दोनों देशों में राजदूतीय संबंध स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, पर इसके पूर्व कि वह कार्यरूप में परिणत हो उनकी सरकार गिर गई और नई सरकार इस विषय में अभी तक चुप है। उस संध्या को नेटो ने अधिक बात न की थी। वे गंभीर और चिन्ताग्रस्त लगे। होगी कोई राजनैतिक समस्या उनके सामने। चाय-समाप्ति पर दुभाषिये ने हमसे कहा, राष्ट्राध्यक्ष का और कार्यक्रम है। यह संकेत था हमें उनसे विदा लेने का। धन्यवाद, अभिवादन, परस्पर शुभ-कामना प्रकाशन के बाद जब हम बाहर निकले तो राष्ट्राध्यक्ष हमें मोटर तक छोड़ने आए। हमें बाद को मालूम हुआ कि अध्यक्ष-निवास में चाय पर बुलाकर समादर-अभिव्यक्ति का यह गौरव भारतीय डेलीगेशन के अतिरिक्त और किसी को नहीं दिया गया था।

अंगोला से लौटे साल नहीं बीता था कि एक दिन अखबारों में मैंने पढ़ा कि आगस्टीनो नेटो की मास्को में मृत्यु हो गई। उन्हें कैंसर हो गया था और उपचार के लिए वे मास्को लाए गए थे। मौत पर किसी का वश नहीं। आशा है नेटो का सपना साकार करने में अंगोला आज भी लगा हुआ है। और नेटो की वाणी बहुत दिनों तक अंगोला निवासियों को ही नहीं अफ्रीका के सभी दलित-दमितों, शोषित-पीड़ितों को उठने, उभरने और अपना भाग्य बदलने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करती रहेगी।

हम एक दूसरे रास्ते से अँगोला से लौटे। लुआंडा से हमारा हवाई-जहाज़ सीधे बेलग्रेड आया और वहाँ से मास्को। कोई चार घंटे की बचत हुई। मास्को से मैं दिल्ली होता बंबई लौटा।

इस बार मैं अपने पोते-पोतियों के लिए लुआंडा, बेलग्रेड, मास्को से बहुत-सी गुड़ियाँ खरीद कर लाया था और लाटरी से मैंने सबों में बाँटीं। और पूरे एक सप्ताह खाने की मेज़ पर मैंने अपनी अंगोला यात्रा के अनुभव सुनाए।

एक सुखद आश्चर्य की बात बताना तो भूल ही गया था। जिस रात मैंने ट्रापिकल होटल में पहुँच अपना पासपोर्ट दिखाया था, काउंटर-क्लार्क ने मुझसे पूछा था, क्या आप अमिताभ बच्चन के पिता हैं? अमिताभ बच्चन की एक फ़िल्म शहर में लगी है। क्लार्क किसी गोवा-निवासी का पुत्र था, जिसका स्थानांतरण पुर्तगाली शासन में गोवा से लुआंडा कर दिया गया था और वह वहीं बस गया था। हिंदी फ़िल्में हिंदी को कहाँ-कहाँ ले गई हैं।

एक दिन मज़ाक-मज़ाक में मैंने कह दिया था कि मैं अपनी डाक्टरेट की रजत जयंती केम्ब्रिज में मनाना चाहता हूँ। कहकर मैं भूल भी गया था, पर अमिताभ ने उसे गाँठ बाँध लिया था और कुछ योजना बना रहे थे कि '79 में किसी समय वे मुझे इंग्लैंड ले जा सकें—मैंने केम्ब्रिज से डाक्टरेट '54 में की थी। उनकी फ़िल्म 'दोस्ताना' के कुछ दृश्य इंग्लैंड में शूट किए जानेवाले थे। उन्होंनें कार्यक्रम अगस्त-सितम्बर '79 के लिए रख लिया और मुझे, तेजी और

अजिताभ को साथ चलने के लिए आमंत्रित कर दिया—हम परिवार के चार ही थे जब मैंने डाक्टरेट की थी। तेजी की तबीयत बहुत अच्छी नहीं थी, पर मेरा और लड़कों का उत्साह देखकर वे तैयार हो गईं। अपने इच्छा-बल से वे बहुत कुछ कर लेती हैं।

हम लोग बबई से चलकर दिल्ली, फैंकफ़र्ट रुकते लंदन पहुँचे थे। 27 बरस पहले जब मैं लंदन गया था, तब भी हवाई-जहाज़ से गया था। जहाज़ में बैठे-बैठे मुझे अपनी वह पहली यात्रा याद आ रही थी। जहाज़ के उठते ही मुझे तेजी और बच्चों की याद सताने लगी थी, अपने इन प्यारों, आँख के तारों को छोड़ कहाँ जा रहा हूँ! और वही प्यारे, आँख के तारे अब मेरे साथ बैठे थे। पर याद आने को दूसरी चीज़ें थीं—दोनों बहुएँ, पाँच पोते-पोतियाँ! तब तो दो साल के लिए गया था, अब तो 10-15 दिन में लौट रहा हूँ।

हम लोग लंकास्टर होटल में ठहरे थे।

अमिताभ दूसरे ही दिन से अपनी शूटिंग के लिए जाने लगे।

हम लोग दिन को लंदन घूमने के लिए निकलते। ओंकारनाथ श्रीवास्तव बी० बी० सी० में काम करते थे। उन्हें हमने सूचित कर दिया था। उन्हें छुट्टी होती तो वे आ जाते, वे न आ सकते तो उनकी पत्नी कीर्ति आ जाती। कभी पति-पत्नी दोनों आ जाते।

पहले-पहल लंदन मैंने मार्जरी बोल्टन के साथ देखा था—मेरी 'मधुशाला' की अनुवादिका। देखने योग्य संस्थान, जगहें, इमारतें क्या बदलनी थीं। हमीं बदल गए थे। बार-बार उन्हें पहली बार देखने की यादें जग जातीं। 45 बरस की आँखों से चीज़ों को देखने का कुछ और अनुभव होता है और 72 बरस की आँखों से देखने का कुछ और। अंतर बताना बहुत कठिन है। सड़कों, बाज़ारों, दूकानों के सामने वह अंतर नगण्य मालूम होता है, पर किसी ऐतिहासिक, किसी कलाकृति के सामने वह बहुत बढ़ जाता है। कहना तो मैं चाहूँगा कि उनमें जीवन का एक स्पंदन होता है, जो कालगति का अनुभव करता है; पर शायद यह कवित्व की भाषा समझी जाए। गद्य की अभिव्यक्ति शायद यह होगी कि इस स्पंदन-इस अनुभव को हम आरोपित करते हैं, पर आरोपित करने की प्रेरणा कलाकृतियों से ही आती है; उनमें कलाकार अपने प्राणों का कोई अंश छोड़-बसा जाता है, जो हमारे प्राणों से कोई संबंध स्थापित करता है, हमें संबोधित करता है, तुमने हमें कई बार देखा हो, पर हमें पूरी तरह नहीं देखा, हममें बहुत कुछ अनदेखा रह गया है। और अगर हम सहृदय हों और उसको सुनें तो हम निश्चय हर बार उसमें कुछ नया पाएँगे—'दिने-दिने यन्नवतामुपैति तदैव रूपम रमणीयतायाम' लंदन में बहुत कुछ ऐसा है जिसे रमणीय की श्रेणी में रखा जा सकता है।

अमिताभ शूटिंग से घर वापस आने पर प्रायः शूटिंग की चर्चा नहीं करते। वहाँ की बात वहीं छोड़ आते हैं, उचित भी यही है। पर हम लोग पूछते तो बताते। कौतूहल तो होता ही था कि ऐसा क्या दिखाना था जिसे शूट करने के लिए यूनिट लंदन आई। यहाँ शूटिंग पर जो वे खतरे उठाते, उन्हें सुनकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते। अमिताभ ने अपनी फ़िल्मों की शूटिंग के दरमियान क्या-क्या खतरे उठाए हैं, उसकी कथा तो कभी वे ही कहेंगे। 'दोस्ताना' में एक दृश्य

था जिसमें उड़ते हेलीकाप्टर से लटकते हुए उन्हें नीची भागती एक ट्रक पर कूदना था। अमिताभ कहते हैं उन्हें जोखिम उठाने में मज़ा आता है, वे एक अद्भुत thrill का अनुभव करते हैं। हम लोग किसी दिन उनकी शूटिंग देखने न गए—वे तो खतरा उठाने का मज़ा लेते और हमारी जान सूखती।

लंदन की सिर्फ़ दो बातें मुझे याद हैं—तेजी के साथ क्लैरिजेज़ में शापिंग की और बी० बी० सी० में कवि सम्मेलन की। क्लैरिजेज़ की कई मंजिलों की इमारत है। विक्रय केन्द्रों की संख्या ही हज़ार के करीब होगी। दुनिया की कोई चीज़ नहीं जो आप वहाँ न खरीद सकते हों।

एक शाम ओंकार ने बी० बी० सी० में मेरा काव्यपाठ रख दिया था। उन दिनों 'सारिका' के संपादक कन्हैयालाल नंदन लंदन में थे और ओंकार के साथ ही ठहरे थे। साथ काव्य-पाठ करने के लिए ओंकार ने उन्हें भी बुला लिया था; लंदन स्थित दो-एक और कवियों को। काव्य-पाठ को अधिक सजग-सजीव बनाने के लिए उन्होंने 40-50 श्रोताओं को भी निमंत्रित कर दिया था। एक प्रकार से यह मिनी कवि सम्मेलन ही था। डेढ़-दो घंटे का रोचक कार्यक्रम हुआ। बाद को ओंकार ने उसका कैसेट मुझे भेज दिया था, जो मेरे पास कहीं रखा है। वहाँ मैंने 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ, 'जीवन की आपाधापी में', 'हंस की विदा'—'चार दिन मेरा तुम्हारा हो चुका है, हेम हंसिनि, और इतना भी यहाँ पर कम नहीं है', गीत—'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो', 'तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाए', और 'रूस की गुड़िया' शीर्षक कविता सुनाई थी।

ओंकार की इच्छा थी उनकी कुछ प्रिय कविताओं को मैं उनके लिए खास अलग रेकार्ड कर दूं। रेकार्डिंग का सारा इन्तज़ाम उन्होंने मेरे होटल के कमरे में कर दिया। जाने कहाँ-कहाँ से उन्होंने मेरे काव्य-संग्रह एकत्र कर अपनी प्रिय कविताओं पर निशान लगाए। दो नए कैसेट लाए थे। अगर पूरी रेकार्डिंग होती तो तीन घंटे की होती। नाश्ते के बाद मैं रेकार्डिंग करने बैठा, मगर आधे घंटे के बाद मेरी आवाज़ चली गई।

'अहह प्रथम बल मम भुज नाहीं'—कहना चाहिए था
'अहह प्रथम बल मम **गर** नाहीं'—'गर' यानी गला।

हम विशेष उत्सुक थे आक्सफर्ड और केम्ब्रिज जाने के लिए। मिस मार्जरी बोल्टन डी० फिल० करने के बाद आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी में लेक्चरर नियुक्त हो गई थीं और वहीं रहने के लिए एक मकान खरीद लिया था। वह आक्सफ़र्ड की स्नातिका थीं और आक्सफ़र्ड उसे बहुत प्रिय था, उसके सुंदर दृश्यों के कारण और अपने जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंगों से संबद्ध होने की वजह से भी। वह बहुत संतुष्ट थी कि अन्त में वह आकर आक्सफ़र्ड में व्यवस्थित हुई। उसने शादी नहीं की थी। मैंने जब उसे फ़ोन पर बताया कि आजकल मैं लंदन आया हूँ, अपनी पत्नी और दोनों बेटों के साथ, और एक दिन के लिए आक्सफ़र्ड आना चाहता हूँ तो वह बहुत खुश हुई। उसने कहा, 'आप सुबह वहाँ से चलें, लंच मेरे यहाँ लें, मैं आप सब लोगों के लिए हिंदुस्तानी खाना अपने हाथ से बनाऊँगी, फिर आपको आक्सफ़र्ड दिखाऊँगी, शाम को आप वापस जा सकते हैं।' मैंने उससे कहा, 'लंच बनाने का बखेड़ा तुम न उठाओ, हम पहुँचें तो हमें एक-एक

प्याली चाय या काफी पिला देना, फिर हमें आक्सफ़र्ड दिखाना, लंच हम किसी होटेल या रेस्ट्रां में कर लेंगे, लंच पर तुम हमारी मेहमान होगी।' वह मान गई।

हम लोग कार से गए थे। साठ मील की यात्रा थी, कोई डेढ़ घंटे की। सीधे मार्जरी के घर गए। वह हमारी प्रतीक्षा में थी। हम एक-दूसरे को पचीस वर्ष बाद देख रहे थे, एक मिनट हम एक-दूसरे को देखते चुप-चाप खड़े रहे, जैसे आंक रहे हों कि इन पचीस वर्षों में काल ने हममें क्या शारीरिक परिवर्तन किया है। फिर मार्जरी ही बोली,

'आप बहुत नहीं बदले हैं।'

मुझे भी कहना था, 'और तुम भी बहुत नहीं बदली हो।'

पर मार्जरी बदल गई थी। बदन से वह भरी पहले भी थी। अब कुछ भारी हो गई थी। आँखों पर उसके चश्मा चढ़ गया था। बाल उसके लाली लिए सुनहले थे, अब लाली का कहीं पता न था, सुनहले बालों पर चाँदी के बालों ने अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया था। चेहरा उसका पहले-सा ही गोरा-चिट्टा-चिकना था, पर उसपर एक अकादमीवी संयत गांभीर्य छा गया था। मैंने तेजी और अमिताभ और अजिताभ का परिचय दिया। अमिताभ को वह कई फ़िल्मों में देख चुकी थी—हिंदी फ़िल्में अब इंग्लैंड में खूब चलती हैं। अमिताभ को ऊपर से नीचे तक देखकर बोली, 'पर्दे पर तुम जैसे दिखते हो, उससे अच्छे तो तुम वास्तविक जीवन में लगते हो!' फिर अजिताभ को देखकर कहा, 'तुम थोड़े से और लम्बे होते तो तुम दोनों को साथ देखकर लोग समझते कि तुम दोनों जुड़वां हो।' वे दोनों एक ही तरह का सूट पहनकर गए थे। तेजी की साड़ी की उसने तारीफ की, उनके एकाध आभूषणों की भी। इसी तरह तेजी ने मार्जरी के कपड़े, गले में पड़ी चेन की तारीफ की। स्त्रियाँ मिलती हैं तो एक दूसरों के परिधान की या गहनों की तारीफ़ करती हैं, उनके रूप की कभी नहीं—

'नारि न मोह नारि के रूपा'

हमने मार्जरी को एक नीली साड़ी भेंट की जो हम उसके लिए ले गए थे। वह अपने भारतीय प्रेमी की याद में कभी-कभी साड़ी पहनती थी। उसके गोरे बदन पर नीली साड़ी खूब फबती थी—उसके दो भारतीय प्रेमियों का मुझे पता है। शादी किसी से भी न हो सकी थी। दोनों की मृत्यु हो चुकी थी। प्रेम के मामले में मार्जरी अभागिन रही है। उसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ।

मार्जरी ने अपना घर हमें दिखाया। घर छोटा था, पर बहुत सुंदर, सुरुचि-सुसज्जित। सारा घर, जैसा कि आक्सफ़र्ड के लेक्चरर का होना चाहिए था, किताबों से भरा! घर दुमंजिला था। नीचे बेडरूम, ड्राइंग-डाइनिंग रूम, किचेन, बाथरूम। ऊपर स्टडी और गेस्ट रूम। मुझसे बोली, 'आप आइए और कुछ दिन मेरे गेस्ट के रूप में यहाँ रहिए।' मैंने कहा, 'इस बार नहीं अगली बार आऊँगा तब।'

और हम आक्सफ़र्ड देखने निकले।

सिर्फ़ वाधम कालेज में मैंने गाइड का काम किया। जब मैं रायल इंडिया सोसाइटी के मेहमान के रूप में पहली बार केम्ब्रिज से आक्सफ़र्ड आया था तब

मुझे बाधम कालेज में ठहराया गया था।

फाटक से प्रवेश कर कोर्टयार्ड में दाहिनी ओर ज़ीना था।

'देखो, इस ज़ीने से चढ़कर जो पहला कमरा आता है वहाँ मैं ठहरा था, कोर्टयार्ड के दाहिनी ओर जो बड़ा कमरा है वहाँ सोसाइटी का सेमिनार होता था।' सामने डाइनिंग हाल है। हम डाइनिंग हाल पार कर दूसरी ओर जाते हैं। ऊँची चहारदीवारी से घिरा बाग़ है। 'यहाँ दाहिनी ओर लान पर मेरा कविता पाठ हुआ था। चित्र उसका घर पर रखा है। यहीं मैं अंग्रेज़ी लेखक डेनिस और उनकी पत्नी पैट्रीशिया से मिला जो मन्मथशायर में रहते थे और मैं एक बार मन्मथशायर जाकर कुछ दिन उनके साथ ठहरा था। कोर्टयार्ड के बाईं ओर जो कमरा है उसमें उस समय के आक्सफ़र्ड के वाइस-चेंसेलर सी० एम० बावरा की स्टडी थी। यहीं मैं उनसे मिला था। उन्होंने साल भर के लिए मुझे आक्सफ़र्ड में प्रवेश दिया था, पर मैं केम्ब्रिज में ऐसा रमा कि आक्सफ़र्ड न आ सका। ...यहीं से, अमित, तुम्हें मैंने आक्सफ़र्ड पर एक सचित्र पुस्तक भेजी थी, कुछ याद है ?'...

शेष आक्सफ़र्ड हमें दिखाने का काम मार्जरी ने किया, विशेष तो तेजी, अमित, अजित को दिखाना था, मेरा तो पहले का भी देखा था, पर देखे को देखने का कुछ और आनंद होता है। देखने योग्य कुछ भी देखने के लिए पुराना नहीं होता। द्रष्टा के बदलने से दृश्य बदल जाता है। कम-से-कम आप दूसरी आँख से देखते हैं।

मार्जरी आक्सफ़र्ड की चलती-फिरती इतिहास थी।

उसने हमें कुछ ऐसी बातें बताईं जो मेरे लिए भी नई थीं। सच तो यह है कि आक्सफ़र्ड की चार दिन की पहली यात्रा के बाद न मैं आक्सफ़र्ड फिर गया था, न मैंने उसमें विशेष रुचि ली थी। केम्ब्रिज में ही मुझे सीमित समय में बहुत करने-धरने को था।

एक इमारत दिखाकर मार्जरी ने बताया कि उसमें आक्सफ़र्ड इंडियन मजलिस और आक्सफ़र्ड पाकिस्तान मजलिस की बैठकें होती हैं। प्रारंभ में आक्सफ़र्ड इंडियन मजलिस का नाम 'नौरतन' था, शायद विक्रमादित्य की सभा के नौ रत्नों की याद में। हो सकता है कि मजलिस के संस्थापक सदस्य केवल नौ रहे हों। बाद को सदस्य संख्या नौ से अधिक बढ़ने पर भी 'नौरतन' ही नाम चला। उसकी बैठकें बंकिम के 'बंदे मातरम' और इक़बाल के 'सारे ज़हाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' के गान से आरंभ होती थीं। अब आक्सफ़र्ड इंडियन मजलिस की बैठकों में शायद ही 'बंदे मातरम' या 'सारे जहाँ से अच्छा' गाया जाता हो। शायद भारत का राष्ट्रगान 'जनगण मन' गाया जाता हो। आक्सफ़र्ड पाकिस्तान मजलिस में पाकिस्तानी राष्ट्रगान गाया जाता होगा। मुझे पाकिस्तान के राष्ट्रगान का पता भी नहीं।

'टाम टावर' देखने की याद भी मुझे न थी। कम से कम यह नहीं मालूम था कि हर रात 9 बजकर 5 मिनट पर यहाँ से 101 घंटे बजाए जाते हैं, उन 101 सदस्यों की याद में जिन्होंने इसकी स्थापना की थी। इस टावर का नक़्शा सर क्रिस्टोफर रेन ने तैयार किया था जो आक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज की कई प्रसिद्ध इमारतों के निर्माता थे।

इंग्लैंड की ऊँची इमारतों पर प्रायः हवा का रूख जानने के लिए weather cock (मौसमी मुर्ग) लगा रहता है। हवा जिधर को बह रही हो उधर ही मुर्ग का मुख हो जाता है। weather cock मुहावरा हो गया है उस आदमी के लिए जिसका अपना कोई सिद्धांत न हो; जो देश-दुनिया की हवा के साथ अपना रुख, अपने विचार बदल देता हो। ऐसों के लिए हिंदी में भी एक कहावत है, 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै'—आधुनिक भारतीय राजनीति का 'आया राम, गया राम'। मार्जरी ने एक ऊँची इमारत दिखाई जिस पर weather cock की जगह पर weather elephant लगा था, यानी जिधर को हवा होती उधर हाथी अपनी सूँड़ कर देता था। किसी ऐसे इंजीनियर की कल्पना होगी जो कभी भारत में कुछ दिन रह गया होगा और गणपति के प्रतीक से प्रभावित उसने मुर्गे की जगह हाथी लगा दिया होगा।

आक्सफ़र्ड के विश्वप्रसिद्ध वोडलियन पुस्तकालय से—जहाँ से कभी कोई किताब बाहर ले जाने के लिए इशू नहीं होती—और ऐशमोलियन अजायबघर से तो जैसे हम बस होकर निकल गए—walked through—आधे-आधे घंटे से अधिक हमने क्या दिया होगा उनको—उनमें कोई हफ्तों गुजारे तो उनके वैभव का कुछ आभास पाए। आक्सफ़र्ड की प्रसिद्ध सड़क 'हाई स्ट्रीट' से गुजरते हुए हमने बस जाना कि इस नगर को जो City of Spirals (गुंबदों का नगर) कहा जाता है वह कितना सटीक है।

अपराह्न हो चला था। हमने एक रेस्ट्रां में लंच लिया। वहाँ कुछ लोगों ने अमिताभ को पहचान लिया था। देखते ही देखते रेस्ट्राँ के सामने भीड़ लग गई। अब पैदल चलकर कुछ देखना असंभव था। मोटर में बैठकर हमने आक्सफ़र्ड की एक परिक्रमा की और मार्जरी को उसके घर पर छोड़कर हम लंदन के लिए रवाना हो गए।

रास्ते में अमित-अजित कहते रहे—काश हम लोगों को पढ़ने के लिए आपने आक्सफ़र्ड भेजा होता! मैंने कहा, मुझमें तो अर्थ-सामर्थ्य नहीं था, तुम अपने बेटे-बेटियों को भेजना!

इसी तरह एक ही दिन में केम्ब्रिज भी देखने का कार्यक्रम बना। अमित तो केम्ब्रिज पहले भी देख चुके थे, फिर उनको शूटिंग से छुट्टी नहीं मिल सकी; अजित को भी कोई ज़रूरी काम आ गया, और आखीर वक़्त पर उन्होंने केम्ब्रिज जाने का इरादा छोड़ दिया। मैं तो चाहता था कि जब मैं अपनी डाक्टरेट की रजत-जयंती मनाने को केम्ब्रिज जा रहा हूँ तो दोनों मेरे साथ होते। ख़ैर, तेजी मेरे साथ थीं। मैंने ओंकार-कीर्ति को साथ चलने को आमंत्रित कर लिया। कार से ही हम लोग गए। 90 मील की दूरी हमने दो-ढाई घंटे में तै की।

सबसे पहले मैं अपने शोध-प्रबंध के निदेशक डा० हेन की पत्नी से मिलना चाहता था। डा० हेन की मृत्यु हो चुकी थी। सीधे हम लोग सेंट केथरीन्स कालेज गए। कालेज वैसे ही अपने पुरातन अकादमीवी गौरव के साथ खड़ा था—मेरे दो बरस की कितनी-कितनी याद जगाता हुआ! पोर्टर से हमने मिसेज़ हेन के निवास का पता लिया। हेन की मृत्यु के बाद उन्होंने हेन का पुस्तकालय कैथरीन्स कालेज को दान कर दिया था, मकान को बेच दिया था और एक

वृद्ध-निवास में रहने चली गईं थीं। उनके एकमात्र लड़के ने हेन के जीवन काल में ही आत्महत्या कर ली थी और उनकी एकमात्र लड़की बैरिस्टर के रूप में लंदन में व्यवस्थित हो गई थी। इंग्लैंड में जवान लड़के-लड़कियाँ अपने वृद्ध माता-पिता को साथ रखना नहीं चाहते।

मिसेज़ हेन को देखकर मुझे बड़ी तकलीफ हुई। वृद्ध-निवास का वातावरण ही उदास-उदास था, जिसमें यह लगभग पचासी बरस की वृद्धा-विधवा, बहुत से वृद्धों के बीच भी अकेली-सी अपने जीवन के दिन काट रही थी। महाभारत में गांधारी कृष्ण से कहती है—

वासुदेव जरा कष्टं, कष्टं जीवन निर्धनं।
पुत्रशोक महाकष्टं कष्टातिकष्टं क्षुधा।।

मिसेज़ हेन को निर्धनता और क्षुधा का कष्ट न था, पर जरा कष्ट और पतिशोक-पुत्रशोक का महाकष्ट तो था ही। मैंने उन्हें अपना, तेजी का, ओंकार-कीर्ति का परिचय दिया। उनकी स्मृति बहुत क्षीण हो चुकी थी। मुझे उन्होंने नहीं पहचाना। खैर, मुझे तो पचीस वर्ष बाद देख रही थीं; तेजी को भी नहीं पहचाना जो उनसे दस वर्ष पहले मिल चुकी थीं। हम उन्हें कई विगत प्रसंगों की याद दिलाते रहे, पर वे अतीत को न पकड़ सकीं। कभी मुझे ओंकार समझतीं और ओंकार को अपने पति का पुराना शोधार्थी-विद्यार्थी; कभी कीर्ति को तेजी समझतीं। उनकी दशा दयनीय थी। हम उनके लिए कुछ रेशमी कपड़ा ले गए थे। भेंट पाकर उन्होंने हमें कई बार धन्यवाद दिया। मैं हेन की समाधि पर चढ़ाने के लिए फूल ले गया था, पर मिसेज़ हेन की यह हालत देखकर मैंने उचित न समझा कि उनसे पूछूँ कि हेन की समाधि कहाँ है। पता नहीं वृद्धा पर क्या प्रतिक्रिया हो।

'बड़ी उम्र अभिशाप सिद्ध होती है सबको'
वैदिक ऋषि सौ वर्ष जीने की कामना करते थे—
'जीवेम शरदः शतम्'

पर वे सौ वर्ष जीना एक विशेष दशा में चाहते थे, जिसे प्रायः लोग भुला देते हैं; वे कहते थे—

'अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात।'

'जियें, मगर अदीन रह कर। ऐसा भी जीना क्या कि आदमी स्मृतिदीन, बुद्धि-दीन या दीनता की अन्य अवस्थाएँ भोगता हुआ जिये। प्राचीन यूनानियों में एक कहावत प्रसिद्ध थी, 'Those whom gods love die young.' जिन्हें देवता प्यार करते हैं उन्हें यौवन में ही उठा लेते हैं। पर जिजीविषा आदमी की चेतना में शायद सबसे प्रबल तत्व है। इसीलिए इस कमज़ोरी पर विजय पाने वाले को संत की पदवी दी जाती है। संत ज्ञानेश्वर ने जीवित-समाधि ली थी। जैन मुनि 'संथारा' करते हैं, अन्न, पानी छोड़ देते हैं, आमृत्यु। विनोबा भावे ने यही किया था। आत्महत्या करनेवाला संत नहीं कहलाता, क्यों? आत्महत्या वास्तव में उद्दाम जिजीविषा का ही दूसरा रूप होती है।

'जीने की उत्कट इच्छा में था मैंने 'आ मौत' पुकारा।
वरना मुझको मिल सकता था मरने का सौ बार बहाना।
प्यार-जवानी-जीवन इनका जादू मैंने सब दिन जाना।'

वहाँ से यह बड़ी अनुभूति लेकर लौटा, यादों को जी लेना कोई छोटा वरदान नहीं।

और अब केम्ब्रिज में उसी वरदान का सुख उठाना चाहता हूँ।

...देखो, यह 7 जासस लेन, केम्ब्रिज आकर पहले-पहल मैं इसी मकान में ठहरा था, ऐटिक में, यानी सबसे ऊपर वाली मंज़िल के कमरे में। एक-एक के पाँवों की आहट पहचानता था—यह ओदेत दबे पाँवों, पंजों के बल ऊपर आ रही है, यह वज़ां और कोभे खिखिलाती खटर-खटर नीचे उतर रही हैं—तीन फ्रेंच लड़कियाँ जो उसी डिग में रहती थीं; उन्होंने मुझे थोड़ी फ्रेंच सिखाई थी। (उनकी आवाज़ों की प्रतिध्वनियाँ सीढ़ियों से अब भी आ रही हैं!)

...यह मॉडलिन ब्रिज...नीचे कैम नदी बह रही है...नहर-सी...इसपर हम कभी-कभी पंटिंग करते थे—नौका विहार—नदी में कोई तैरता-नहाता नहीं। देखो कैसे सुन्दर-सुन्दर हंस इसपर तिर रहे हैं...मेरे हंस गीतों की प्रेरणा।...प्रेरणा उतनी नहीं जितनी रूपक-योजना। प्रेरणाएँ तो भावानुभूतियों में थीं।

...और यह देखो 'कासिल क्रे', वो जो सामने खिड़कियाँ दिखाई देती हैं वे उसी कमरे की हैं जिसमें जाड़ों में रहने को मैं आ गया था, क्योंकि जीसस लेन के मकान में न आतशदान था, न गैस की अंगीठी; और बिजली के हीटर से कमरा गरम नहीं होता था। यहाँ आतशदान था जिसमें कोयले-लकड़ी की आग जलती थी और ठंड में कमरा भी गरम होता था और सामने बैठना बड़ा सुखकर लगता था, मैं तो अंगीठी के सामने बिस्तर लगाकर फ़र्श पर सोता भी था।

'आज गीत मैं अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या'।
भर्तृहरि की 'क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयन' की ध्वनि समेटे। खतरा तो था कि अंगीठी से कोई चिनगारी चिटके और बिस्तर में आग लग जाए, पर ऐसा कभी हुआ नहीं।

...कासिल क्रे के पीछे देखो, एक छोटी-सी पहाड़ी है। इसने मुझे एक गीत लिखने की प्रेरणा दी थी, 'प्रणय पत्रिका' में मैंने वह गीत दिया है—'चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली!' गीत का अंतिम पद था—

वे दयनीय बड़े हैं जिनकी
दर-दीवारें लाज बचातीं,
जिनकी जिह्वा उनके मन को
मुखरित करती भी शरमाती,
और सहमती जिनकी आँखें
अपने ही को देख मुकुर में,
हम निर्भय, अभिमानी, हमको देखे सब संसार, सहेली!
चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।

एक 'निर्भय-अभिमानी' ग्रामीण प्रेमी का गीत मुझे याद आ रहा है—कहारों का गीत है—

'छउबै डिहवा पर मड़ैया गोरिया तोहके लैके ना'

अर्थात्—गोरी, तुझको लेकर अपनी झोपड़ी डीह पर—यानी ऊँचे टीले पर—छाऊँगा—कि सारा गाँव देखे। वहीं अंदाज़ 'मुग़ले आज़म' के गीत का था—जब प्यार किया तो डरना क्या!'

...और यह देखो, मेड्स काज़वे की डिग। कासिल क्रे मुझे इसलिए छोड़ना पड़ा क्योंकि वहाँ के प्रबंधक मुझ अकेले के लिए शाकाहारी भोजन और आगे नहीं दे सकते थे और न वहाँ स्वयं अपना खाना बना लेने की सुविधा थी, यानी वहाँ गैस की अंगीठी न थी। मेड्स काज़वे में बाबा ने मुझे गैस के चूल्हे पर खाना बनाना सिखाया था। पर इस डिग को मैं इसलिए याद करता हूँ कि इसमें मैंने हँस प्रतीक से गीत लिखने शुरू किए थे। अंतिम गीत जो मैंने लिखा था, वह था—'वाणविद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में'। उसका अंतिम पद था—

पंख टूटा है, मगर यह खैरियत है
पाँव जो टूटा नहीं है,
जल तरंगों से चपल संबंध मेरा
तो अभी छूटा नहीं है,
रक्त बहता जाय, कहता जाय जीवन
की पिपासा की कहानी,
जान लो यह, मुक्ति अपनी माँगने
आया नहीं हूँ मैं मरण में।
वाणविद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।

इसी डिग में एक सुन्दर लड़की रहती थी—पोलियो की मरीज़—मार्था—उसे इस गीत का यह पद बहुत पसंद था। वह कहती थी, इसमें मेरे लिए भी एक संदेश है। उसका ज़िक्र मैंने 'प्रवास की डायरी' में किया है।

मेड्स काज़वे में ही, यहाँ से थोड़ा आगे, विश्वनाथ दत्त की डिग थी। किसी-किसी शाम को मैं उनके यहाँ चला जाता था।

यहाँ कमरा कुछ बड़ा था। मेरा लिखने का काम बढ़ गया था। कुर्सी पर बैठे-बैठे पीठ अकड़ जाती थी। यहीं मैंने एक ऊँची मेज़ बनवाई थी, खड़े होकर काम करने के लिए।

यह डिग आस्ट्रेलिया के एक विद्यार्थी की पत्नी चलाती थी। वह पास हो गया तो वहाँ से चला गया। मुझे वह डिग छोड़नी पड़ी।

...और यह देखो चेस्टरटन रोड की डिग! फ़र्शी मंज़िल पर। जब मैं यहाँ रह रहा था तभी क्वीन एलिज़ाबेथ द्वितीय का राज्यारोहण समारोह मनाया गया था। उस संबंध में मेरे पास भी बकिंघम पैलेस से एक शाम ऐट होम का निमंत्रण-पत्र आया था। और डिग का मालिक मुझे बहुत बड़ा आदमी समझने लगा था—celebrity.

...और देखो यह चेस्टरटन रोड पर दूसरी डिग। यहाँ पहले बावा रहता था, तीसरी मंज़िल पर। जब वह ट्रंपिंगटन रोड पर साहनी के साथ रहने को चला गया तो मुझे यहाँ टिका गया। मेरी थीसिस का सबसे बड़ा भाग इसी डिग में लिखा गया था। इसी में पाकिस्तान के हमीद अहमद खान रहते थे जिन्होंने वर्ड्सवर्थ पर एम० लिट्० की डिग्री ली थी। एक बार दिल्ली आए थे, मेरे साथ ठहरे थे। लाहौर युनिवर्सिटी के वाइस-चेंसेलर हो गए थे। जा चुके हैं।

...और यह देखो, ट्रंपिंगटन की डिग। जब साहनी पी० एच-डी० लेकर अमरीका चले गए तो बावा ने मुझे यहाँ रहने को बुला लिया था। हम और बावा सबसे ऊँची मंज़िल पर बराबर के कमरों में रहते थे। वहाँ रहते मैंने अपनी थीसिस को अंतिम रूप दिया था। यहीं से थीसिस सबमिट की थी। यहीं से वाइवा के लिए गया था, यहीं से अपना रिज़ल्ट जानने, यहीं से सेनेट हाल में डिग्री लेने; और यहीं से केम्ब्रिज से विदा हुआ था। रिज़ल्ट आने के पहले और बाद को मैंने दो गीत लिखे थे। केम्ब्रिज में लिखी ये मेरी अंतिम रचनाएँ थीं। वे मेरे किसी संग्रह में नहीं हैं। रिज़ल्ट की प्रतीक्षा में लिखा गीत था—

अब मैं केवल जोग तुम्हारे।
दर्पन हँसकर बोला, 'बाउर जो तुझपर तन वारे!
अंदर पैठा बैठ गया मन लाज-हया के मारे।
साधन करते सब दिन बीते जीते जो सो हारे।
जैसा हूँ वैसा ही मुझ को ऐसा कौन दुलारे!

रिज़ल्ट आने के बाद का गीत था—

तुमने मेरी लाज बचा ली।
जड़ हठ में मैं माँग पड़ा था तुमसे भेंट निराली।
गड़ पथ में ही जाता आता हाथ लिए जो खाली।
रख मन मेरा तुमने रख ली मेरे मुख की लाली।
कौन बिगाड़े उसकी जिसकी तुम करते रखवाली!

...यह देखो युनिवर्सिटी लाइब्रेरी। केम्ब्रिज में मेरा अधिकतम समय इस पुस्तकालय में बीता।...वो देखो जो खिड़कियाँ दिखाई देती हैं ऐंडरसन रूम की हैं। शोधार्थी प्रायः यहीं बैठते हैं। वहाँ एक आलमारी में केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में सबमिट की गई डाक्टरेट की थीसिसें रखी हैं। अब तो उस आलमारी में एक थीसिस मेरी भी रखी होगी। जी चाहता है कुछ देर को अंदर जाऊँ और ऐंड-रसन रूम में बैठूँ।

...यह क्राइस्ट कालेज; यहाँ मैं मि० हफ से कुछ समय के लिए शोध संबंधी निर्देशन लेने आता था। वे मेरे एक परीक्षक भी थे। यहीं मेरा वाइवा हुआ था। वाइवा में पसीने छूट गए थे। वाइवा के बाद कितने शंकास्पद दिन!

...यह रजिस्ट्री, यहीं मैं बावा को लेकर अपना रिज़ल्ट सुनने आया था। और यह जानकर कि मुझे डाक्टरेट दी गई है मारे खुशी के मैं बावा से लिपट-कर रोने लगा था—आँसू किन-किन भावों की भाषा हो सकते हैं।

...यह सेनेट हाल, यहीं मुझे डिग्री मिली थी। हेन-मिसेज-हेन साथ थे।

बावा ने कुछ चित्र यहाँ लिए थे, तुम लोगों ने देखे हैं।

...और अब लौट चलें सेंट कैथ—अपने कालेज। वह दूसरी मंज़िल पर कोने में जो खिड़की दिखाई देती है वह उस कमरे की है जिसमें डा० हेन की स्टडी थी। यहाँ मैं उनसे निर्देशन के लिए आता था, कितनी शामों को तो उनके घर जाता; पर, अब उनके घर मिलिंगटन रोड पर न जाना चाहूँगा। उनका अब है भी कहाँ। देखकर मुझे तकलीफ होगी। पता नहीं कौन वहाँ रहता होगा। 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा है'। यह युनिवर्सिटी भी तो एक रैन बसेरा है। यहाँ सात सौ बरसों से विद्यार्थी आते रहे हैं, पढ़कर चले जाते रहे हैं; अध्यापक आते रहे हैं, पढ़ाकर चले जाते रहे हैं, युनिवर्सिटी खड़ी है—कालेज खड़े हैं—कालेज के गिरजे खड़े हैं।...

कितनी आई और गई भी इस मदिरालय में हाला,
टूट चुकी है कितनी अब तक मादक प्यालों की माला,
कितने साकी अपना-अपना काम खतम कर दूर गए;
कितने पीने वाले आए किंतु वही है मधुशाला।

पचीस बरस पहले कितने चेहरों की परिचित मुस्कानें आते-जाते मुझे मिलती थीं, आज यहाँ बिल्कुल अजनबी हूँ। सोचा था अपनी डाक्टरेट की रजत-जयंती पर यहाँ आकर खुश हूँगा। यहाँ आकर उदास हो गया हूँ। फिर भी यह उदासी कितनी कल्पना-समृद्ध है। कितना कुछ मेरी आँखों के सामने से नहीं गुज़र रहा है। फिर दुहराना चाहूँगा, अपनी यादों को जी लेना, जी सकना, कितना बड़ा वरदान है।

अपराह्न हो चला था। एक रेस्ट्रां में जाकर हमने लंच लिया। खाने की चीज़ों में वही केम्ब्रिज का कुछ पुराना स्वाद लगा, कुछ पुरानी सुगंध लगी। क्राकरी-कटलरी वैसी ही पुरानी लगी, बेयरे वैसे ही पुराने लगे। मैं भी वैसा ही पुराना लगा। लगा मेज पर बावा, साहनी, दत्ता, कमला, हमीद बैठे हैं। उनकी बातें, उनकी कहानियाँ, उनकी खुश-बयानियाँ, उनकी चुहलबाज़ियाँ, उनके हँसी-ठठ्ठे सब पुरानी आवाज़ों में, पुराने अंदाज़ों में सुनाई पड़े। क्या मैं मेसमेराइज़्ड था—स्वप्नाविष्ट ?

जब डिग्री ली थी, इतने पैसे नहीं थे कि पी० एच-डी० का गाउन खरीद सकूँ। अब दिल में अरमान जगा। पी० एच-डी० का गाउन खरीद लूँ और पहनकर ज़रा देखूँ कि कैसा लगता हूँ। जो गाउन पहले बीस पाउंड का था, अब सौ पाउंड का मिलता था। पर तेजी ने मेरी ललक देखी तो खरीद दिया। मैंने गाउन पहना, चेहरे पर संतोष की मुस्कान आ गई, कुछ प्रसन्नता की, कुछ विनोद की...कुछ अरमान पूरे होने के लिए कितना इंतज़ार कराते हैं।

तेजी कह रही हैं, नाम के अनुरूप, बच्चन में कहीं एक बच्चा भी छिपा बैठा है! मैंने सेंट कैथ के सामने खड़े होकर फ़ोटो खिंचाई।

दिन ढल चला है। लौटना चाहिए। एक बार सेंट कैथ के फाटक पर खड़े हो केम्ब्रिज की भव्य इमारतों पर नज़र डालता हूँ और मोटर में बैठ जाता हूँ। विदा सेंट कैथ! विदा केम्ब्रिज़!! एक बार फिर...

केम्ब्रिज हो आने के बाद लंदन में मेरे लिए कोई आकर्षण न था। तेजी की

तबीयत खराब हो रही थी और वे भारत लौटना चाहती थीं। अमित का अपने एक प्रोड्यूसर के साथ अमरीका जाने का प्रोग्राम था, अजित भी उनके साथ जानेवाले थे। उन्होंने हमारे लौटने का इंतज़ाम कर दिया। हम दोनों रोम-दिल्ली होते बंबई वापस हुए। यहाँ पोते-पोतियाँ सब सकुशल थे। कई दिन यात्रा की थकान मिटाने और परिवर्तित समय के साथ सामंजस्य बिठाने में लगे। बंबई-लंदन के बीच साढ़े पाँच घंटे का फ़र्क है। तेजी धीरे-धीरे सामान्य हुईं।

अक्टूबर से जगदीश राजन की चिट्ठी पर चिट्ठी आने लगी थीं—पिताजी द्वारा स्थापित आर्य कन्या पाठशाला, बांदा, की हीरक जयंती नवंबर '79 में पड़ती है, इस अवसर पर हम चाहेंगे सारा बच्चन-परिवार बांदा आए। सब लोग न आ सकें तो आप दोनों तो आएँ ही और अमिताभ ज़रूर-ज़रूर आए। अमिताभ के नाम अलग चिट्ठियाँ आ रही थीं। हम दोनों यानी तेजी और मैं तो कुछ ज़्यादा दिन के लिए जा सकते थे। अमिताभ जाने को तैयार थे पर सिर्फ़ एक दिन के लिए। उनको इससे ज़्यादा की फुरसत कहाँ। हम दोनों अक्टूबर के अंत में ट्रेन से गए थे—बंबई से सीधे मानिकपुर, मानिकपुर से कार से बांदा। अमिताभ नवंबर के पहले सप्ताह में बंबई से दिल्ली, दिल्ली से खजुराहो हवाई-जहाज़ से आए थे, और खजुराहो से बांदा 60 मील मोटर से तय करके। अमिताभ का बांदा पहुँचना हंगामा था। किसी को स्वप्न में भी उम्मीद न थी कि उस कोरदेह में अमिताभ बच्चन ऐसा अभिनेता आ सकेगा। जगदीश राजन का घर अपार भीड़ से घिर गया था। पुलिस का खूब इंतज़ाम था, पर अधिकारियों का कहना था कि जब तक अमिताभ सार्वजनिक रूप से जनता के सामने न आएँगे भीड़ को वश में करना संभव न होगा। परिणामस्वरूप जल्दी-जल्दी एक खुले मैदान में ऊँचा मंच बनाया गया लाउड स्पीकर लगे और अमिताभ ने मंच पर खड़े होकर जनता को संबोधित किया। तीस हज़ार जनता इकट्ठी हो गई थी।

रात के समारोह में प्रवेश निमंत्रण-पत्र से था। पंडाल के चारों ओर पुलिस तैनात थी, फिर भी बाहर अपार जनता इकट्ठी थी। अमिताभ ने एक भाषण दिया था और अपने कुछ गीत प्रस्तुत किए थे। दूसरे दिन खजुराहो होते उन्हें दिल्ली-बंबई वापस भेज दिया गया था।

दूसरी रात को कवि सम्मेलन था। बरसों से मैंने कवि-सम्मेलन में भाग लेना बंद कर दिया था, पर जगदीश राजन के आग्रह को कैसे टाल सकता था। बाहर के कुछ और कवि बुलाए गए थे। मैंने सबके अंत में कविता पढ़ी थी। कुछ कविताएँ सुनने के बाद जनता की माँग 'मधुशाला' की थी। मैंने इस रुबाई से काव्य-पाठ समाप्त किया था—

> यह अंतिम बेहोशी, अंतिम साक़ी, अंतिम प्याला है,
> पथिक प्यार से पीना इसको फिर न मिलेगी मधुशाला।

मेरी टिप्पणी थी, बरसों बाद ऐसे सार्वजनिक कवि सम्मेलन में भाग लेना मेरे लिए अपवादस्वरूप है—पर निश्चय यह मेरा अंतिम कवि सम्मेलन है।

> यह अंतिम बेहोशी, अंतिम साक़ी, अंतिम प्याला है !

जनता ने 'नहीं-नहीं' के तुमुल नाद से इसे मानने से इन्कार कर दिया था, पर उसके बाद आज पाँच बरसों में मैंने किसी सार्वजनिक कवि सम्मेलन में भाग नहीं लिया। हाँ, एक बार इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, दिल्ली में मैंने अकेले ज़रूर अपनी कुछ नई कविताएँ चुने हुए श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत की थीं। हास्य-व्यंग्य-हुड़दंग के तुकबंदों ने सार्वजनिक कवि सम्मेलन का वातावरण इतना बिगाड़ दिया है कि निकट भविष्य में शायद ही कभी वह उच्च कोटि की कविताओं का फ़ोरम बन सके। कविता लिखने-पढ़ने की योग्यता-क्षमता चाहिए तो कविता सुनने-समझने की योग्यता-क्षमता भी चाहिए। मेरी राय में इस आधार पर एक नए प्रकार के अर्हताप्राप्त कवि-श्रोताओं की परंपरा शुरू की जानी चाहिए। कवि-सम्मेलन की जगह कविता सम्मेलन हों; अर्थात् कुछ समय-सिद्ध कविताएँ अच्छे पाठकों द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत की जाएँ। इससे सत्काव्य के लिए सुरुचि जगाने में निश्चय सहायता मिलेगी।

'76-'77 की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ की जन-स्वीकृति से प्रोत्साहित होकर दीनानाथ मल्होत्रा ने '78-'79 की 'प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ' भी प्रकाशित करनी चाही और संपादित करने का काम मुझे सौंपा। उसके चयन और संपादन के लिए मैंने अजित कुमार का सहयोग लिया। जिन दिनों मैं इस काम में व्यस्त था, परिवार में एक बड़ी खुशी का मौका आया।

रमोला रानी ने 23 जनवरी '80 को पुत्ररत्न को जन्म दिया। तीन कन्याओं के बाद घर में पुत्र का शुभागमन हुआ था, हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। नामकरण की बात आई तो सब ने यही सोचा अजिताभ की इच्छा को मान दिया जाय। वे शुरू से सोचते थे कि उनके यहाँ तो उनकी हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ काठी के अनुरूप भीम आएगा। और तीन बार भीम की आशा लगाई जाती रही और आती रही भीमनी। मैंने सत्यनारानण के साक्ष्य में नवजात को 'भीमकर्मा' नाम दिया—गीता का 'भीमकर्मा वृकोदरः' याद करके। भीम स्वस्थ बच्चा है। आशा है वह बल से ही नहीं, बुद्धि और विद्या से भी भीम होगा। मैंने रमोला से मज़ाक किया, तुमने तीन कन्याओं को जन्म देकर परिवार में लड़के-लड़कियों का संतुलन बिगाड़ा है, तुम अभी दो पुत्रों को और जन्म दो तो बात बने—पता नहीं मैं देखने को ज़िंदा रहूँगा कि नहीं, पर अगर तुम्हारे दो पुत्र और हों ही तो उनके नाम विश्वकर्मा और यज्ञकर्मा रखना। 'कर्मा' से पीढ़ियों तक नाम दिये जा सकेंगे—दान कर्मा, दुस्यकर्मा आदि आदि।

प्रायः चार महीने मैं '78-79 की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ' संबंधी काम में व्यस्त रहा। कविताओं का चुनाव तो मुख्यतया उस अवधि में प्रकाशित संग्रहों से करना था। कुछ संग्रह मेरे पास थे, कुछ मित्रों से मिले, कुछ मैंने खरीदे। अजित कुमार के साथ सहयोग का रूप यह था कि जो संग्रह मैं देख रहा हूँ और जो चयन मेरा हो उसकी सूचना मैं उन्हें दे दूँ, इसी तरह जो संग्रह वे देख रहे हों और जो चयन उनका हो उसकी सूचना मुझे दे दें जिससे कि काम में दोहरकम न हो। चुनाव में मेरी और अजित कुमार की रुचि ही मानदंड थी। यह मैंने मान लिया था, और उसके लिए समुचित कारण थे, कि मेरी उनकी रुचि में साम्य है। मार्च के अंतिम सप्ताह में दिल्ली में प्रेमचंद जन्मशती जयंती मनाई जा रही थी जिसके

लिए मैं आमंत्रित था। सोचा 'एक पंथ दो काज' को चरितार्थ करूँ। संकलन के संबंध में जो काम मैं कर चुका था उसे लेकर मैं दिल्ली गया। अजित कुमार ने जो काम किया था उन्होंने मेरे सामने रखा और तीन-चार रोज़ में, हम दोनों ने मिलकर संकलन को अंतिम रूप दिया, एक छोटी-सी भूमिका लिखी, चयन के लिए अपनी रुचि और दृष्टिकोण को थोड़ा स्पष्ट करते हुए; और थोड़ा रचना-काल की पृष्ठभूमि को भी संकेतित करते हुए। उचित था कि यह संकलन हम दोनों के नाम से प्रकाशित होता। प्रकाशक ने किसी असावधानी से अजित कुमार का नाम न दिया। इस का मुझे अफ़सोस रहा। उसी समय दीनानाथ जी ने हम से कहा कि वे संकलनों की शृंखला में 8वें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताओं का संकलन भी प्रकाशित करना चाहते हैं, हम दोनों के सम्मिलित संपादकत्व में। हमने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

प्रेमचंद जन्मशती समारोह का उद्घाटन विज्ञान भवन में हुआ था—उद्-घाटन भाषण हाल के चुनाव में बहुमत प्राप्त कांग्रेस (इ) की नई सरकार में सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री वसंत साठे ने दिया था। मुझे देखकर दुख हुआ कि प्रेमचंद के लिए हिंदी लेखकों में, खासकर राजधानी के हिंदी लेखकों में—और वे बहुत बड़ी संख्या में हैं—जिस उत्साह की प्रत्याशा मैंने की थी उसका कोई चिह्न मुझे समारोह में न दिखाई दिया। हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों में जिनके नाम सबसे पहले जिह्वा पर आते हैं इक्के-दुक्के ही वहाँ दिखे। हिंदी-प्रेम के नाम पर शोर मचानेवाली नगर की जनता भी इतनी कम थी कि विज्ञान भवन का बड़ा हाल जैसे अपने खालीपन से समारोह प्रबंधकों की प्रत्याशा पर व्यंग्य कर रहा हो। दूसरे दिन से समारोह की बैठकें फिक्की आडिटोरियम में की जाने लगीं। बाहर से—मुख्यत: साम्यवादी देशों से—सौ-डेढ़ सौ डेलीगेट ज़रूर आए थे। ज़ाहिर था कि समारोह रूसी दूतावास के सांस्कृतिक विभाग की संरक्षता में आयोजित किया गया था। अगर केवल इसी कारण समारोह के प्रति हिंदी वालों में उदा-सीनता थी तो काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन या स्वयं भारत सरकार के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय को ऐसा समारोह आयोजित करने से किसने रोका था? प्रेमचंद के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की जड़-मूल में क्या है, इस पर गंभीरता और बारीकी से सोचने की आवश्यकता है। अक़्लमंदाना इशारा काफ़ी अस्त।

बंबई से चलने लगा था तो तेजी ने श्रीमती इंदिरा गांधी के लिए एक उप-हार भेजा था—एक चाँदी की कटोरी और चम्मच—'इस शुभकामना के साथ कि इससे आप अपने नवजात पौत्र (संजय के पुत्र) को खीर खिलाएँ'।

'77 का चुनाव हारने पर मोरारजी देसाई ने उन्हें जिस मकान से निकाला था, '80 का चुनाव जीतने पर उसी मकान में फिर से उन्हें व्यवस्थित देखकर खुशी हुई। उपहार पाकर वे प्रसन्न हुईं और धन्यवाद दिया और तेजी के स्वास्थ्य के विषय में बार-बार पूछा, 'बंबई तो उनके दमे के लिए बड़ी खराब जगह है, दिल्ली में वे अच्छी रहती थीं'...शायद उनका संकेत था कि अगर तेजी चाहें तो दिल्ली का बँगला वे उन्हें फिर दिला सकती हैं। वस्तुत: वह बँगला अभी खाली ही पड़ा था। वह 'शादीघर' बना दिया गया था—बारात-स्वागत-भोज के लिए, जिनके घर छोटे पड़ते थे उन्हें आठ-दस दिन के लिए किराए पर दे दिया जाता

था। एक तो मैंने तेजी और बेटों से सलाह न की थी, दूसरे अमित की इच्छा थी कि हम उन्हीं के साथ रहें और उन्होंने हमारे कमरों को हमारी हर सुविधा के अनुरूप फ़रनिश करा दिया था, तीसरे बंबई से फिर सारा सामान पैक कराने और दिल्ली लाकर लगाने की कल्पना से मन में घबराहट पैदा होती थी, और चौथे पोते-पोतियों के मोह ने हमें ऐसा बाँध लिया था कि स्वास्थ्य-स्वार्थ के लिए तेजी या मैं शायद ही उनसे अलग होना चाहते। मैं चुप ही रहा। श्रीमती गांधी ने समझ तो लिया होगा कि अब हमारी रुचि दिल्ली वापस आने में नहीं है। तब मुझे क्या मालूम था कि आज नहीं तो तीन वर्ष बाद हमें दिल्ली ही लौटकर आना पड़ेगा क्योंकि शायद—शायद ?—आप कल्पना कर लें। मेरा कहना मेरे प्रिय-जनों को अच्छा न लगेगा। पर मैं इस बात को कैसे छिपाऊँ कि मेरे कानों में एक ग्राम्य गीत गूँज उठा है—

'न जानौ राम कहाँ लागै माटी हो !'

बाँदा से लौटने के बाद तेजी प्रायः बीमार रहीं और बंबई के डाक्टरों द्वारा उनका इलाज होता रहा।

मैंने 'आठवें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ' पर काम करना शुरू कर दिया था।

संकलन की रूपरेखा मैंने इस प्रकार कल्पित की। 100 कविताएँ चुनी जाएँ, 10 प्रति वर्ष के हिसाब से। काम को मैंने दो भागों में बाँटा—'71 से '75 तक की कविताएँ अजित कुमार चुनें; मैं '76-'77 और '78-'79 के संकलनों से बीस-बीस कविताएँ चुनूँ और दस कविताएँ '80 की लूँ।

कभी हम जिस काम को सरल समझते हैं वही मुश्किल हो जाता है। मैंने सोचा था चार बरस के संकलन मौजूद हैं; सिर्फ़ '80 का मुझे करना पड़ेगा। बाद को अजित कुमार और प्रकाशक की भी राय हुई कि जो कविताएँ पिछले दो संकलनों में जा चुकी हैं, उन्हें न दुहराया जाए, यह खरीदार पाठक के प्रति अन्याय होगा कि जिन कविताओं का दाम वह दे चुका है उनके लिए फिर दाम दे। बात तर्कसंगत थी। अब '76-'79 के संग्रहों को फिर से इस दृष्टि से देखना था कि उनमें से कुछ ऐसी कविताएँ चुनी जाएँ जो श्रेष्ठता और प्रतिनिधित्व की कसौटी पर खरी तो उतरती हों पर पहले न जा चुकी हों। दूसरी मुश्किल यह खड़ी हुई कि कतिपय कृत्रिम व्यावसायिक कारणों से '80 में 100 से अधिक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। उनका प्रतिनिधित्व केवल दस कविताओं से न हो सकता था। संतुलन के लिए '80 की कविताएँ बढ़ाएँ तो पिछले वर्षों की कम करें। पिछले दो संकलनों के समान कविताओं का चुनाव संग्रहों से किया गया; अपवादस्वरूप इनी-गिनी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं से ली गईं। 100 की जगह 118 कविताएँ चुनी गईं। इनमें केवल दस कवियों की दो-दो कविताएँ ली गईं। इस प्रकार आठवें दशक के 108 कवियों को इस संकलन के द्वारा प्रस्तुत किया जा सका। साथ हमने छोटी-सी भूमिका दी जिसमें चुनाव के संबंध में हमने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया और सामान्य रूप से दशक की कविताओं में व्याप्त विशेष प्रवृत्ति का संकेत दिया। आपकी रुचि हो तो संकलन कभी देखें। कवियों की अनुमति मिलने में इतना विलंब हुआ कि नवंबर 1982 के पहले यह संकलन प्रकाशित न हो सका।

हमने प्रेस कापी सितंबर '81 में दे दी थी; इसी संबंध में जब दिल्ली आया था, खबर मिली थी कि भगवती बाबू इंडियन मेडिकल इंस्टीट्यूट में जिह्वा कैंसर का इलाज करा रहे हैं और हम उन्हें देखने गए थे। थोड़े दिन बाद उनका देहावसान हो गया। संकलन हमने वर्ष के चार प्रसिद्ध साहित्यकार दिवंगतों की पुण्य स्मृति में समर्पित किया था—रायकृष्णदास, किशोरीदास वाजपेयी, हंस कुमार तिवारी और भगवतीचरण वर्मा को।

राय साहब और भगवती बाबू की मृत्यु से मैं विशेष दुखी हुआ। दोनों से ही मेरे कुछ निकट-निजी संबंध थे। महाकाल से क्या शिकायत हो सकती थी, दोनों ही एक प्रकार से पूर्णायु भोगकर गए थे। राय साहब नवें दशक में थे, भगवती बाबू आठवें दशक में। कला और साहित्य के क्षेत्र में दोनों को जो देना, दे चुके थे। दोनों का अनायास स्नेह मुझे मिला था और दोनों के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर था। सदी के तीसरे दशक की समाप्ति पर जब मैं अपनी नई-नई कविता के साथ हिंदी संसार पर टूट पड़ा था तब मुझे अपने बड़ों से उपेक्षा और समवस्यकों से ईर्ष्या की ही प्रत्याशा थी। राय साहब की गणना उस समय भी बड़ों में थी और साहित्य और कला-पारखियों में वे अपना विशेष स्थान बना चुके थे। वे पीढ़ियों से मान्यताप्राप्त रईसों के खानदान से थे और उन्हें सुरुचि-सौंदर्यबोध परंपरागत संस्कार के रूप में मिले थे, जिन्हें उन्होंने अपने अनुभव, स्वाध्याय, चिंतन से यथेष्ट परिष्कृत किया था। पर अभिजात्य का दंभ-दिखावा उनमें बिल्कुल न था। उनके ठोस गुणों को इन सतही चीजों से किसी को आतंकित या प्रभावित करने की क्या आवश्यकता थी। शुरू-शुरू में अपने लज्जालु स्वभाव के कारण किसी बड़े प्रसिद्ध से मिलने जाने में मुझे संकोच होता था। याद है, मेरे किसी प्रारंभिक कविता पाठ से प्रभावित हो राय साहब स्वयं मुझसे मिलने को आगे बढ़े थे और साथ में मैथिलीशरण गुप्त को लाए थे जो उनसे कम प्रख्यात नहीं थे। मैं धन्य हो गया था। तब से वे बराबर मेरी प्रगति-विकास पर नज़र रखते थे और प्रायः मेरी हर कृति पर अपनी प्रतिक्रिया देते थे। अंतिम बार उन्होंने मेरी 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' पर अपनी राय दी थी—'...आत्मकथा साहित्य में आपकी कृति क्रांतिकारी है...सर्वोपरि विशेषता यह है कि कृति वस्तुनिष्ठ है, जो आत्मनिष्ठ सूत्र में ऐसी खूबसूरती से पिरोई गई है कि कहीं भी अहं नहीं उभरता—हार्दिक साधुवाद।' एक बार उन्होंने मुझे लिखा था, आपके युग के कवियों में मैंने सबसे अधिक आपको पसंद किया। मैं जानता हूँ कि किसी के लिए किसी कवि का favourite या प्रिय हो जाना केवल काव्य गुणों पर निर्भर नहीं करता। पर ऐसे सम्मान्य, सुरुचि-संपन्न व्यक्ति का favourite बनने पर गौरवान्वित अनुभव करना मेरे लिए स्वाभाविक था। जिन दिनों मैं एडेल्फी में रहता था—सन् '46-'47 में—मैंने उन्हें खाने पर बुलाया था। तेजी ने खीर बनाई थी। थोड़ी-सी चखकर उन्होंने कहा था कि यह पूरा कटोरा तो मेरे ही लिए चाहिए। तीस बरस बाद जब मुझे पद्मभूषण मिलने पर उन्होंने मुझे बधाई का पत्र भेजा था, उस खीर का स्वाद याद किया था। मेरी 'बुद्ध और नाचघर' कविता जब प्रकाशित हुई तो उन्हें इतनी पसंद आई कि तेजी से उसका पहला ड्राफ्ट भारतीय कला भवन के लिए माँग ले गए। उनके कुछ रोचक पत्र सुविधा से मिले तो परिशिष्ट में देना चाहूँगा। अपने

प्रारंभिक कवि-जीवन में उनसे और पं० बनारसी दास चतुर्वेदी से जो प्रशंसा, प्रोत्साहन मुझे मिला वह मैं कभी नहीं भूल सकता।

भगवती बाबू मुझ से तीन वर्ष बड़े थे—एक प्रकार से समवयस्क—उनका मेरा प्रथम काव्य-संग्रह एक ही साल निकला था, सन् '32 में। हम दोनों की काव्यात्मक उद्भावना में समता थी। हम दोनों के बीच स्पर्धा अथवा प्रतिद्वंद्विता बड़ी जल्दी ईर्ष्या-द्वेष को जन्म दे सकती थी—पंत, निराला एक दूसरे को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे—पर भगवती बाबू में गुणग्राहकता का माद्दा बहुत ज़बरदस्त था और अपना हित, अपना स्वार्थ, अपना हीन-बोध भी उसके आड़े नहीं आ सकता था। उन्होंने खुलकर मेरी प्रशंसा की, मुझसे नहीं, औरों से, मुझे कई विश्वसनीय लोगों ने बताया। मैं उनके सशक्त कवि-व्यक्तित्व का हमेशा कायल रहा। अवस्था के कारण भी वे मेरे अग्रज थे और अपने से बड़ों के प्रति मान मेरे संस्कारों में था; और अपने से छोटों का ख़ास खयाल बाबू के चरित्र की विशेषता थी। मेरे संघर्ष के दिनों में उन्होंने कई बार ऐसे संकेत दिए कि अगर उनकी सहायता से कुछ हो सकता हो तो मैं उनसे माँगने या बताने में संकोच न करूँ। जब वे भद्री नरेश के संपर्क में थे तो एक बार उन्होंने मुझे भद्री भी बुलाया था और मैं गया था, पर वे मेरे तेवर से समझ गए थे कि मैं किसी राजा-बाजा की छत्र-छाया में पनपनेवाला पौधा नहीं, और वास्तविकता तो यह है कि वे भी नहीं थे। भद्री उन्हें ज़्यादा दिन नहीं रोक सकी। मेरे प्रति अपनी करुणा में ही कहना चाहिए एक बार ऐसा प्रयत्न गिरिधर शर्मा नवरत्न ने भी किया था, मुझे झालरापाटन नरेश की छत्रछाया में ले जाने का। झालरापाटन नरेश मेरे मधु काव्य से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने उसके अनुकरण पर कुछ कविताएँ भी लिखीं और प्रकाशित की थीं—एक संकलन में—जो उनके मुसाहिबों में ही वितरित होकर रह गया। इस प्रसंग पर मैं 'नए-पुराने झरोखे' में लिख चुका हूँ।

अपने प्रति भगवती बाबू के ममत्व का एक बड़ा उदाहरण मुझे अपने विवाह के बाद मिला। जाति-पाँत तोड़कर विवाह करने के कारण मेरे ही परिजन और संबंधियों ने मेरा बाइकाट कर दिया था। उसकी परवाह तो मुझे नहीं थी, पर उसकी भाँख मुझे थी, विशेषकर तेजी को। भगवती बाबू मेरे विवाह के बाद मेरे घर आए, तेजी को अपनी पुस्तकों का उपहार दिया और डा० प्यारेलाल श्रीवास्तव के यहाँ—वे उनके कोई निकट संबंधी लगते थे—हमारे स्वागत में एक बड़ा भोज दिया जिसमें नगर के सभी उदारवादी और तरक्की पसंद कायस्थों को उन्होंने निमंत्रित किया। तेजी इस बात को कभी नहीं भूलीं और इसके लिए उनके प्रति हमेशा कृतज्ञ रहीं।

अपनी आखिरी बीमारी में, नंदिता जी ने मुझे बताया, जब वे अस्पताल गए और उनसे बताया गया कि उन्हें कैंसर है तो उन्होंने फौरन कहा, बच्चन को ख़बर दो। कुछ आंतरिक तार ऐसे मिले थे कि मैं अपने आप उनके पास पहुँच गया और मुझे देख उन्होंने बड़े संतोष का अनुभव किया। आँखों-आँखों में कह गए—हम कभी-कहीं झुके नहीं; और मुझे लगा मृत्युशैया पर भी पड़े अकड़ के इस आदमी के साथ मैं कांधा-से-कांधा मिलाकर चलने योग्य नहीं, मैं तो इसका पिछलगा ही हो सकता हूँ।

मई-जून '80 में अमिताभ की फ़िल्म 'लावारिस' की शूटिंग कश्मीर में होनेवाली थी। पूरा बच्चन परिवार साथ गया। हम लोग ओबेराय पैलेस होटल में ठहरे। मैं कश्मीर इतनी बार हो आया था और उसके प्राकृतिक दृष्टि से सुंदर स्थलों को इतनी बार देख चुका था कि अब उनमें मेरी रुचि न रह गई थी। मैंने वहाँ कुछ काम करने की योजना बनाई। आठवें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताओं का काम सिर पर था। '76 से '80 तक के प्रायः सौ काव्य संग्रह एक बड़े बक्स में भरकर ले गया था। मई भर मैं उन्हें पढ़ता रहा और हर संग्रह की दो-तीन सर्वश्रेष्ठ कविताओं पर निशान लगाता रहा। जून के प्रथम सप्ताह में अमित और तेजी को छोड़कर सारा बच्चन परिवार बंबई लौट आया। अमिताभ की शूटिंग पूरे जून चलनेवाली थी। साथ के लिए हमने तेजी को वहीं छोड़ दिया। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा न था। सोचा गया बंबई की बरसात से कश्मीर की गर्मी उनके लिए अधिक अनुकूल पड़ेगी। बंबई की बरसात जून से शुरू हो जाती है।

सामान्य मनुष्य के जीवन में

सुबह होती है, शाम होती है
उम्र यों ही तमाम होती है।

जीवन के एकरस-उबाऊ क्रम पर मैंने भी कहीं लिखा था

लो दिन बीता, लो रात गई,
सूरज ढलकर पच्छिम पहुँचा,
डूबा, संध्या आई, छाई
सौ संध्या-सी वह संध्या थी
क्यों उठते-उठते सोचा था
दिन में होगी कुछ बात नई
लो दिन बीता, लो रात गई।

पर जीवन में कभी-कभी ऐसा भी दिन आता है जब कुछ 'बिन बादर बिजली कहाँ चमकी'—कड़की-की तरह सर्वथैव अप्रत्याशित घटित होता है और हमको विस्मय-विमुग्ध, स्तब्ध, अवाक् छोड़ जाता है।

23 जून 1980 का दिन ऐसा ही था।

अजिताभ ने अपने घर से फ़ोन किया था—

'संजय की हवाई दुर्घटना में मृत्यु हो गई। मैं दिल्ली के लिए जहाज़ पकड़ने जा रहा हूँ...'

दुर्घटना के विषय में कुछ और जानने के लिए रेडियो के अतिरिक्त कोई दूसरा माध्यम न था।

अपराह्न को पैलेस होटल, श्रीनगर से भी किसी का फ़ोन आ गया।

'सुबह हवाई दुर्घटना में संजय की मृत्यु हो गई। तेजी जी और अमिताभ दिल्ली के लिए रवाना हो गए।'

दिन मुश्किल से कटा। सारा वक़्त मैं संजय के विषय में सोचता रहा। उसे मैंने छुटपन से देखा था जब वह सुकुमार-शर्मीला, दुबला-पतला लड़का था। कैशोर में—संभवतः परिवार में पुरुष-नियंत्रण-अनुशासन के अभाव में; पिता

और नाना की मृत्यु हो ही चुकी थी; उसके स्वभाव में कुछ उग्रता आ गई थी जिसने कतिपय कुमित्रों के संसर्ग में कुछ अवांछित शरारतों का रूप लिया था, पर उन्हें उभरती यौवन की स्वाभाविक क्रियाशीलता समझा गया था। इंग्लैंड से मोटर मिकेनिज़्म में प्रशिक्षित हो जब वह लौटा था, बहुत बदल गया था, सृजन की कल्पना उसकी आँखों में थी और हाथ श्रम-लगन के साथ उसे रूप देने को उद्यत थे। मुझे याद है मोतियाखान में उसने एक गराज लिया था, जहाँ उसने गर्मी, धूप-धूल में काम करते हुए मारुति का पहला नमूना तैयार किया था। दिन भर काम करके जब वह लौटता उसका बदन, उसके कपड़े उसकी मेहनत की गवाही देते। तेजी जब कभी उसको ऐसी हालत में देखतीं उसकी प्रशंसा करतीं। मारुति का नमूना जब तैयार हुआ था तो पहले-पहल वह उसे चलाकर हमारे घर लाया था—13 विलिंगडन क्रिसेंट में—और हमने पहली बार उस पर सवारी की थी। मैं राज्यसभा का सदस्य था जब उसे मारुति का बड़ा कारखाना बनाने-चलाने की अनुमति मिली थी। राजनीति के क्षेत्र में वह आपातकालीन स्थिति के साथ आया और आया तो धूमकेतु के समान आया। उसके स्वभाव की उग्रता जो उसके व्यावसायिक कार्यकलापों में दब गई थी फिर उभरी और उसने उतावलेपन का रूप लिया। कर्मठता उसकी जाग ही चुकी थी। उसका सिद्धांत हो गया—जो कुछ अच्छा किया जाने को है जल्दी किया जाना चाहिए, किसी भी तरह किया जाना चाहिए, यानी वह साध्य देखता था, साधन नहीं। केवल बातों से उसे वितृष्णा थी, जिसका वह 'बात-इ-बातॉं' कहकर मज़ाक उड़ाता था। युवा शक्ति को संगठित करने की कल्पना शायद उसकी अपनी थी। राजनीति में प्रविष्ट हुआ था वह केवल अपनी माँ के सहायक के रूप में, पर उसने कुछ मौलिक सोचना भी आरंभ किया। और सोचकर बैठनेवाला आदमी वह नहीं था; वह उसे जल्दी से जल्दी कार्यरूप में परिणत करना चाहता था, उसका परिणाम देखना चाहता था। युवा कांग्रेस के माध्यम से उसने जो काम किया वह वस्तुतः लोकहित में था, पर साधन और तरीकों के प्रति लापरवाह होने के कारण वह लोकप्रिय न रह गया। फिर भी चुनाव हारने पर उसके चरित्र का एक नया पहलू देखा गया। कमीशन और कचहरियों के द्वारा जनता सरकार ने उसपर जो दर्जनों मुक़दमे चलाए उनका सामना उसने अपूर्व दृढ़ता, निर्भीकता और कुशलता से किया। सामान्य जनता उनसे अवश्य प्रभावित हुई और '80 के चुनाव में वह बहुमत से लोकसभा के लिए चुना गया। आपातकालीन स्थिति के अनियंत्रित अधिकारों से, ज़ाहिर है, वह असंतुलित हो गया था, पर इसकी बड़ी संभावना थी कि सामान्य संवैधानिक शासन में संतुलित रहकर वह देश-समाज के लिए बहुत कुछ नया, क्रांतिकारी, कल्याणकारी सोचता और जनता को साथ लेकर उसे कार्य रूप मे परिणत करता। पर...अवांछित अघट घटित हो गया था और उसके साथ कोई जवाब-तलबी नहीं की जा सकती थी।

बिजली बहुत परिचित है, पर जब भी वह तड़पती है कंपा देती है। बस यही मृत्यु के संबंध में कहा जा सकता है। शायद जीवन का कोई सत्य इससे अधिक जाना नहीं है कि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः', फिर भी बिरला ही मृत्यु को जीवन की स्वाभाविक परिणति के रूप में स्वीकार करता है, विशेषकर

अकाल मृत्यु को। पका हुआ फल गिरना ही चाहिए पर कच्चा क्यों ? हम व्याख्या चाहते हैं और विधि, भावी, भाग्य, कर्म—'कर्म' को भी हम भाग्य के अर्थ में प्रयोग करने लगे हैं—'करम लिखा जो बाउर नाहू'—या 'पूर्व जन्म कृतं कर्म' में, गो पूर्व जन्म सुनिश्चित तो नहीं—देवताओं के कोप, यहाँ तक कि मनुष्यों की आह, ईर्ष्या-द्वेष में कारण की कल्पना करते हैं। कल्पना शब्द मैंने जान-बूझकर लिखा है क्योंकि प्रमाणित आज तक कोई भी नहीं हो सका है। साफ़ कहूँ तो मुझे इनमें से कोई संतुष्ट नहीं करता। हम जीवन के क्रम में घटना या दुर्घटना को भी स्थान क्यों न दे दें ? कारण के साथ अकारण का अस्तित्व भी क्यों न मान लें ? हमारे पूर्वज कारण की खोज में बहुत दूर तक गए, पर जहाँ कारण की मूल स्थापित करनी थी वहाँ लीला अथवा 'कौतुक' ही देख सके। 'कौतुक निधि कृपाल भगवाना' —लीला, कौतुक, खेल सकारण नहीं होते। जब अकारणता 'भगवान' अथवा समग्रता अथवा cosmos के मूल में है तो अगर वह किसी डार-पात में अपने को अभिव्यक्त करती है तो हम उसे अनहोनी की संज्ञा क्यों दें ? होनी ही क्यों न मान लें ?

मनुष्य से अपेक्षा मैं यह करूँगा कि होनी-अनहोनी जो भी आए उसका सामना वह धैर्य और साहस और शांति से करे।

गांधी-परिवार ने ऐसा ही किया, जैसी कि उससे प्रत्याशा थी।

इस संबंध में सबसे मार्मिक प्रसंग यह था कि जिस हवाई-जहाज़ को संजय चला रहा था उसमें एक को-पाइलट भी था और उसकी भी मृत्यु हो गई थी। उसकी माँ घटनास्थल पर आई थी और अपने बेटे को दुर्घटनाग्रस्त देखकर विकल-विह्वल हो उठी थी और इंदिरा जी उसे सांत्वना दे रही थीं...

तर्क मस्तिष्क को समझा-बुझा लेता है। हृदय को शांत नहीं कर पाता। मैं बहुत दिनों तक उद्विग्न रहा। उद्विग्नता का सबसे बड़ा इलाज है कि किसी काम में लग जाओ। ख़ैरियत थी कि मेरे पास काम था।

'80 के काव्य-संग्रहों का अंत न था। हर मास नए-नए प्रकाशनों का पता लगता, उनको मँगाता, पढ़ता, उनमें एक या दो सर्वश्रेष्ठ कविता पर चिह्न लगाता। दिसंबर तक के प्रकाशनों पर विचार करना था और कितने संग्रह तो निकले 1981 के प्रारंभिक महीनों में, पर प्रकाशन की तिथि 1980 ही उन पर दी जाती रही।

दिसंबर-जनवरी में अमिताभ की फ़िल्म 'सिलसिला' की शूटिंग दिल्ली में होनेवाली थी। गर्मियों में या जाड़ों में जब अमिताभ की शूटिंग बंबई से बाहर होती, वे चाहते कि सारा बच्चन-परिवार साथ रहे, बच्चों की भी उन दिनों छुट्टियाँ होतीं, सबका बंबई से बाहर घूमना-फिरना हो जाता, अमिताभ को भी सारे परिवार के साथ रहने का मौक़ा मिलता। इस बार हम लोग ओबेराय होटल में ठहरे।

दिल्ली हिंदी-प्रकाशनों का एक बड़ा गढ़ हो गया है। यहाँ आकर और भी '80 के काव्य-संग्रहों के प्रकाशन का पता लगा। शूटिंग देखने से जो समय बचता मैं नए-नए काव्य-संग्रहों को देखने में लगाता। दिल्ली में मेरे-तेजी के, अमिताभ-अजिताभ के भी मित्रों-परिचितों की संख्या बहुत बड़ी थी। प्रायः लोग हमसे मिलने होटल आते। बहुत से शूटिंग देखने के लिए लालायित होते।

उन्हीं दिनों राजकमल प्रकाशन की स्वामिनी श्रीमती शीला संधू हमसे मिलने आईं। उनसे हमारी पारिवारिक मैत्री तो थी, पर मेरी कोई किताब उनके यहाँ से प्रकाशित न हुई थी। इस बार उन्होंने प्रकाशन का एक प्रस्ताव भी मेरे सामने रखा। मेरा कोई अच्छा काव्य संकलन बाज़ार में उपलब्ध न था। 'अभिनव सोपान' '64 में निकला था। उसका संस्करण समाप्त हुए कई वर्ष हो गए थे और उसके प्रकाशक ने दूसरा संस्करण न निकाला था। शीला जी कोई ऐसा संकलन निकालना चाहती थीं जो मेरे पिछले पचास वर्ष की कविताओं का प्रतिनिधित्व करे, साथ ही वे संकलन को बहुत बड़ा भी बनाना न चाहती थीं। बड़ा होने से दाम अधिक रखना पड़ता है, जो सामान्य पाठक के क्रय-सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया—मैंने सोचा संकलन का नाम दूँ—'मेरी कविताई की आधी सदी'—'आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई'—वास्तव में कविता समझने के लिए कवि होना ज़रूरी है, कम से कम कवि हृदय। उसमें पचास वर्षों की पचास या इक्यावन कविताएँ दूँ। ऐसी कविताएँ लिखना जो प्रकाशित रूप में आएँ, मैंने 1929 से आरंभ किया था। तब से 1979 तक की कविताएँ देनी थीं। यों तो '73 में मैंने 'जाल समेटा' से कविता का जाल समेटने की घोषणा कर दी थी, पर कभी-कभी कुछ लिखने को विवश होता था, गो उसे प्रकाशित नहीं करता था। इस संकलन में '73-'79 के बीच लिखी कविताओं से भी कुछ देने का इरादा मैंने किया। यह उस संकलन की नवीनता होगी। ऐसी ही कुछ परिकल्पनाओं के बीच मैंने शीला जी से वादा किया कि संकलन की प्रेस कापी मैं महीने बाद दे सकूँगा, वे मान गईं। प्राय: मैं one thing at a time (एक वक़्त पर एक ही काम) में विश्वास करता हूँ। इस काम के लिए मैंने तै किया कि पहले इसे कर डालूँ फिर दशक वाला काम पूरा करूँगा।

दिल्ली की इस यात्रा में एक नए संकलन का अनुबंध हुआ, अच्छा काम हुआ। पर उससे ज्यादा अच्छा एक और काम हुआ। गुलमोहर पार्क की अपनी ज़मीन पर मकान की नींव रखी गई।

गुलमोहर कालोनी कोआपरेटिव सोसाइटी उस समय स्थापित हुई थी जब मैं विदेश मंत्रालय में था। यह मुख्य रूप से लेखक-पत्रकार कालोनी बनाई जाने-वाली थी। मैं स्वयं तो उसका सदस्य न बना था, पर तेजी को बनवा दिया था। मुझे याद है जब खाली ज़मीन पर प्लाट के निशान लगाए गए थे, उनके नंबर दिए गए थे और लाटरी से कोआपरेटिव के सदस्यों के प्लाट एलाट हुए थे, हमारे नाम 8-बी का प्लाट पड़ा था और यह देखकर खुशी हुई थी कि हमारे मकान के दो तरफ़ सड़कें और पीछे बाइलेन पड़ेगी और सिर्फ़ एक तरफ किसी पड़ोसी से घर मिला होगा। हमारे प्लाट के सामने हमें बताया गया था एक पार्क बनेगा। कोलोनी के विकास क्रम में सड़क, सीवरेज, पाइप लाइन, बिजली लाइन के लिए समय-समय पर जो राशि सदस्यों से माँगी जाती रही हम अदा करते रहे। फिर नगर निगम की ओर से एक अवधि बना दी गई जिसके अंदर लोग अपने-अपने मकान बना लें; न बना सकने की हालत में निगम को प्रति वर्ष कुछ जुर्माना वसूल करने का अधिकार होगा। हमारे जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आती गईं कि हम मकान बनवाने की ओर ध्यान न दे सके। और कई वर्षों तक जुर्माने

की राशि भी भरते रहे।

एक समय तो हमने ऐसा भी सोचा, बेटे बंबई में व्यवस्थित हो रहे हैं, हमारा जीवन कितना है जिसके लिए हम मकान बनवाने की झंझट झेलें। कुछ ऐसी ही झंझट की कल्पना कर मैंने एक कविता लिखी थी—'घर बनाने का बखेड़ा' जो **दो चट्टानें** में है। तेजी के मन में कभी अगर मकान बनवाने की सुगबुग होती भी तो मैं अपनी कविता सुनाकर उन्हें शांत कर देता—

'कौन बनाए आज घरौंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़-माटी।'

'नवीन' (हम अनिकेतन)

शत शरद जब मानवों के बीतते हैं,
देवताओं का दिवस तब एक होता;
इस तरह से देवता सौ वर्ष जीते।

शत शरद जब देवताओं के गुज़रते,
दिवस ब्रह्मा का खतम तब एक होता,
और ब्रह्मा इस तरह सौ वर्ष जीते।

और ब्रह्मा के शरद शत बीतते जब,
दिवस लोमश का ख़तम तब एक होता;
और लोमश इस तरह सौ वर्ष जीते।

और लोमश ऋषि रहा करते धरा में खोद गड्ढा!
एक दिन उनसे किसी ने कहा,
'मुनिवर, घर बना लेते कहीं पर!'
क्वचित अन्यमनस्कता से कहा मुनि ने,
'कौन इतने अल्प जीवन के लिए
घर खड़ा करने का बखेड़ा सिर उठाए!'...

हम इस दृष्टि से एक बार नगर निगम अधिकारी तक पहुँचे भी थे कि अगर हम मकान न बनवाना चाहें तो उस हालत में हम ज़मीन का क्या कर सकते हैं—क्या हम स्वतन्त्र रूप से बेच सकते हैं या हमें ज़मीन नगर निगम को लौटानी होगी और अगर लौटानी होगी तो हमें क्या मोआविज़ा मिलेगा। नगर निगम के अधिकारी हमारे हितेच्छु थे। उन्होंने बताया, नियमानुसार, आप ज़मीन को स्वतंत्र रूप से नहीं बेच सकते। आपको उसे नगर निगम को लौटाना होगा और नगर निगम आपको उतनी ही राशि लौटाएगा जितनी आपने उसके लिए जमा की है। पर आप ज़मीन को लौटाएँ क्यों? इसमें आपका नुकसान ही नुकसान है। जिस ज़मीन पर आप लोग पचीस-तीस हज़ार खर्च कर चुके हैं उसकी कीमत आज दो लाख रुपये है। इस क्षेत्र में आप कोई ज़मीन खरीदना चाहें तो आपको इससे कम में न मिलेगी। दूसरे, रुपये की कीमत बहुत घट गई है। आपको जो पचीस हज़ार मिलेंगे उसकी कीमत आठ-दस हज़ार से अधिक की न होगी। आप मकान का एक नक़्शा बनवाएँ। मैं उसे जल्दी पास कराने में आपकी मदद करूँगा। आप केवल एक गराज भर बनवाकर प्लाट को चहारदीवारी से घिरा

दें, फिर आपको न कोई जुर्माना देना होगा, न कोई आप से मकान का विस्तार करने का आग्रह करेगा। आप जब चाहें मकान बनाएँ या आपके पुत्र-पौत्र बनवाएँ। आप ज़मीन लौटाने की गलती न करें, आप बाद को पछताएँगे। आपके ज़मीन छोड़ते ही बीसों आदमी उसे लेने को कूद पड़ेंगे और कोई भारी रिश्वत ले नगर निगम के दिखाऊ दामों पर इस ज़मीन को हस्तांतरण कर देगा।

बात समझ में आई। तेजी ने एक नक़्शा बनवाया और उपर्युक्त अधिकारी ने, आप विश्वास न करेंगे, एक घंटे के अन्दर नक़्शा पास भी करा दिया। जब कोई बात होने की होती है तब उसके सहायक भी मिल जाते हैं।

अमित-अजित को जब यह बताया गया तब उन्होंने भी ज़मीन न लौटाने का औचित्य समझा और प्लाट पर मकान बनवा देने को तैयार हुए। इस बार जब हम दिल्ली आए तो तै हुआ कि अमिताभ के हाथों मकान की नींव डलवा दी जाए।

तेजी ने मुझसे पूछा इस संबंध में क्या-क्या करना होगा। मुझे याद आया, राधा से मैंने सुना था कि उनके बड़े भाई यानी मेरे परदादा ने इलाहाबाद के चक वाले क़िल्ले-से मकान का शिलान्यास किया था तो नींव में एक तलवार और एक क़लम रखी थी। मिट्ठू लाल हमारे परिवार में पहले क्रांतिकारी थे और हर विषय पर लीक से हटकर सोचते थे। उन्होंने मरते समय गोदान नहीं, अश्वदान किया था। इस प्रसंग पर 'क्या भूलूं क्या याद करूँ' में लिख चुका हूँ। चित्रगुप्त के जिस चतुर्भुजी रूप की कल्पना की गई है उसमें उनके एक हाथ में तलवार है, एक में ढाल, एक में क़लम है, एक में दावात। परबाबा ने संभवतः चित्रगुप्तवंशी होने के नाते अपने आदिपुरुष के दोनों हथियार नींव में रखवा दिए थे। शायद उनके प्रभाव से घर में उनके वंशज खड्गवीर और क़लमवीर हों। उनके तलवार चलाने के किस्से तो मैंने सुने थे, पर उनके क़लम चलाने की चर्चा कभी न आई थी, लेकिन कायस्थ होने के नाते क़लम चलाने की क्षमता नहीं तो आकांक्षा तो ज़रूर उनके मन में रही होगी। मेरे बाबा भोला नाथ तलवार और क़लम दोनों चलाते थे। 1857 के गदर में उनके

'सुना फिरंगी फ़ौजें आतीं
ले तलवार जगत पर बैठे'

की बात मैंने 'आरती और अंगारे' की एक कविता में लिखी है। क़लम चलाना उनका खुशखत लिखने तक सीमित था। मालूम होता है, आगे चलकर तलवार के लोहे में जंग लग गई, पर क़लम में अंकुर फूटे। पिता जी के जमाने में केवल नवरात्र में तलवार की पूजा होती थी और घर में शिशु जन्म पर उससे नवजात की नाड़ काटी जाती थी—पिता जी ने जन्म भर क्लर्की की, क़लम तो वे भी घिसते रहे। अपने दफ़्तर के 'बास' पंडित रामचरण शुक्ल के प्रभाव में कुछ पद्य-गद्य लिखने का प्रयास उन्होंने ज़रूर किया था। पिंगल पर एक किताब उनके पुस्तकालय में थी और मुझे याद है मेरी बड़ी बहन की शादी का वर्णन उन्होंने रोचक गद्य में लिखा था। अंकुरित क़लम पलुहाई तीसरी पीढ़ी में। क़लम को पलुहाने में पीढ़ियाँ लगती हैं। पिता जी ने सदी के तीसरे दशक के प्रारंभ में मुट्ठी

गंज के मकान की जब नींव रखी तो केवल क़लम रखी। वातावरण में गांधी की अहिंसा गूँज रही थी, तलवार भुला दी गई। पर शायद मिट्ठू लाल की तलवार का लोहा बंदूक की नली में बदल गया था। मैंने लिखा—

'मैं क़लम और बंदूक चलाता हूँ दोनों'

पर वह बंदूक यू० टी० सी० के ट्रेनिंग कैम्पों ही चल कर बैठ गई, और क़लम चलती रही। मैंने तेजी से कहा, भूमिपूजन पुरोहित जिस रीति से कहे करा दिया जाए, पर अमिताभ के हाथों एक लेखनी भी नींव में रखा देनी है। तदनुसार तेजी ने करा दिया। शायद उसका ही प्रभाव है कि इस मकान में बैठकर मेरी बहुत दिन से शिथिल लेखनी फिर सक्रिय हो उठी है।

अमिताभ ने मकान बनवाने का काम अजिताभ को सौंपा और उन्होंने आर्किटेक्ट और ठेकेदार को बुलाकर काम शुरू करा दिया।

दिल्ली से लौट कर पहले मैंने 'कविताई की आधी सदी' पूरी की; समर्पित की मैंने उसे कविवर अनंत कुमार पाषाण को जिन्होंने मेरी प्रथम कृति से मेरी आजतक की रचना में सहजभावेन रस-रुचि ली है। आजकल सिद्धा कालेज बंबई में अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर हैं। फिर दशक-संकलन पर लगा और अप्रैल तक मैंने अपने चुनाव को अंतिम रूप दे दिया; पर अजित कुमार की अपने भाग के बारे में रिपोर्ट न आई, पत्र लिखने पर भी उनका उत्तर न आया। मैं समझ गया वे अपना काम पूरा नहीं कर सके हैं। अजित कुमार या तो दीर्घसूत्री हैं या बहुधंधी। इसलिए समय पर कोई काम नहीं कर पाते। इधर मई-जून में अमिताभ जी की फ़िल्म 'सत्ते पर सत्ता' और एक दूसरी फ़िल्म के कुछ दृश्यों की शूटिंग कश्मीर में होनेवाली थी। सारा बच्चन परिवार डेढ़ महीने के लिए श्रीनगर चला गया।

इस बार कश्मीर प्रवास मैंने पूरी छुट्टी के रूप में बिताया। पिछले साल भर से मैंने पढ़ने पर बहुत आँखें गड़ाई थीं। मुझे कैटेरेक्ट की शिकायत हो गई थी। डाक्टर ने रात को पढ़ने को तो बिलकुल मना कर दिया था। दिन को भी मैं कम से कम पढ़ता—शायद अख़बारों को देखने के अतिरिक्त कुछ नहीं। कश्मीर ऊबने की जगह नहीं—कभी पिकनिक, कभी डल पर शिकारे की सैर और ज्यादा-तर अपने पोते-पोतियो के साथ खेलने-खेलाने में डेढ़ महीने बात-की-बात में बीत गए। रेडियो कश्मीर के निदेशक श्री नैयर के आग्रह पर मैंने रेडियो के लिए केवल एक प्रोग्राम स्वीकार किया, जिसमें कश्मीर के कुछ साहित्यकारों से मेरी बातचीत रखी गई। उन्होंने मुझसे कुछ प्रश्न किए और मैंने उनके उत्तर दिए। उसी में किसी ने मुझसे पूछा, 'बच्चन साहब, एक वक़्त था, बल्कि अब भी है कि आप 'बच्चन' के नाम से जाने-पहचाने जाते हैं, लेकिन वह वक़्त भी आया कि आपके साहबज़ादे फ़िल्म इंडस्ट्री में आए। तो बाप की हैसियत से यह अच्छा लगेगा कि बच्चे ने इतनी तरक्की की। लेकिन जब वह अपने बच्चे के नाम से पहचाना जाने लगे तो कैसा महसूस होता है, आपको कैसा महसूस होगा कि कोई कहे कि आप अमिताभ बच्चन के बाप हैं।'

मेरा जवाब था, 'साहब, मुझे बहुत खुशी होती है और मैं अपनी सारी कविता अपने बेटे के ऊपर, अपने बेटे की कला के ऊपर निछावर कर सकता हूँ। अगर मुझसे कोई पूछे कि आपने सबसे अच्छी कविता कौन लिखी है तो मैं

कहूँगा मैंने अमिताभ लिखा। आप कहेंगे, बाप बोल रहा है, मगर बाप क्यों न बोले।'

बाद को मैंने सोचा कि मेरी बात शायद मोह-भ्रमित है। पिता के नाते अमिताभ पर गर्व करना एक बात है, और अमिताभ के निर्माता का श्रेय लेना दूसरी बात। शायद मैं अपनी बात से अमिताभ के निर्माता होने का भी श्रेय ले रहा हूँ जो पूरी तरह ठीक नहीं है। क्या अमिताभ केवल मेरी लिखत है, अपनी भी लिखत नहीं ? अपने निर्माण में क्या अमिताभ ने स्वयं एक बड़ी भूमिका नहीं निभाई ? क्या मैं स्वयं पूर्णतया अपने पिता की निर्मिति हूँ, अपनी निर्मित नहीं ? अमिताभ ने मुझसे केवल कुछ संस्कार पाए; जैविक आधार पर उससे अधिक अपनी माँ से---शेष तो वह अपनी साधना, अपने तप का स्वरूप है।

कश्मीर के साहित्यकारों, कवियों से वह बातचीत बहुत रोचक थी और वह पूरी की पूरी रेकार्ड कर ली गई थी। बच्चन रचनावली के नवें खंड में वह दी गई है। उसके प्रति आपकी रुचि हो तो कभी देखें।

सितंबर के पूर्व अजित कुमार जी अपने हिस्से के काम को समाप्त करने की सूचना न दे सके, जब मैंने दिल्ली जाकर उनके-अपने सम्मिलित कामों के आधार पर प्रेस कापी तैयार की और प्रकाशक को दी। लगभग साल उन्होंने प्रकाशित करने में लगाया।

बंबई से चलने लगा था तो अजिताभ ने कहा था, गुलमोहर पार्क जाकर अपना बनता मकान भी देखते आइएगा। मकान का काफ़ी हिस्सा बन चुका था, फिर भी ठेकेदार ने बताया था अभी साल भर का काम है। एशियाड की तैयारी में जो नगर में बहुआयामी निर्माण हो रहा था उसकी वजह से न मज़दूर मिलते थे, न सामग्री। बीच-बीच में लंबे अरसे के लिए काम बंद कर देना पड़ता था। एक बात जो बुरी लगी वह यह थी कि हमारे प्लाट के सामने जो ख़ाली ज़मीन पार्क के लिए थी उसपर पंचमंज़िली इमारतें उठ रही थीं जिनसे हमारे मकान की प्राइवेसी जाती रही थी—साथ ही वहाँ रहते हम बंद-बंद, घिरे-घिरे से अनुभव करते, पर अब कर क्या सकते थे।

अक्टूबर में फिर अमिताभ ने सारे परिवार को कश्मीर ले जाने का प्रोग्राम बनाया। 'सिलसिला' फ़िल्म के कुछ दृश्यों की शूटिंग कश्मीर में होने को थी। इस बार हमने दीपावली वहीं मनाई। इस बार भी रेडियो कश्मीर ने मेरा एक प्रोग्राम रखा—आमंत्रित श्रोताओं के सामने मेरे एक व्याख्यान और प्रश्नोत्तर का—विषय था, 'कैसे-कैसे दिन कैसे-कैसे लोग'—जो बाद को संपादित कर वहीं से प्रसारित किया गया। वह भी पूरे का पूरा रेकार्ड कर लिया गया था और बच्चन रचनावली के नवें खंड में दे दिया गया है।

'77 में 'बसेरे से दूर' समाप्त करने के बाद पिछले चार बरसों से मैं कोई विनियोजित सृजनशील काम नहीं कर सका था—हाँ, यदाकदा कुछ कविताएँ लिखी थीं, पर उन्हें प्रकाशित करने की कोई विशेष इच्छा नहीं थी। चार संकलन ज़रूर संपादित किए थे—जिनकी चर्चा ऊपर कर आया हूँ। पता नहीं क्यों तभी मुझे अपने हंस प्रतीकों से लिखी कविताएँ याद आने लगीं। 'कविताई की आधा सदी' तैयार करते समय उन्हें पढ़ते एक विशेष मार्मिक अनुभूति से गुज़रा था। जी में आया, उनका एक छोटा-सा संकलन अलग निकाला जाए। ऐसी सात

कविताएँ 'प्रणय पत्रिका' में थीं, दो 'आरती और अंगारे' में, एक 'चौंसठ रूसी कविताएँ' में—यह याकोव पोलोन्स्की लिखित 'हंस की मौत' का अनुवाद था। पर उसकी संगति मेरे हंस गीतों से इतनी बैठती थी कि सृजनात्मक अनुवाद के नाते मैंने उसे अपनी मौलिक-सी मान अपने संकलन में ले लिया और इस प्रकार हंस-प्रतीकी दस गीतों का एक संकलन मैंने प्रकाशित करने को दिया 'सोऽहं हंसः' नाम से। अर्थ स्पष्ट है—'वह हंस मैं ही हूँ'—जैसे मैं संकेत करना चाहता हूँ कि इन गीतों का हंस जिन स्थितियों-मनःस्थितियों से गुज़रता दिखाया गया है उनसे मैं भी गुजर चुका हूँ। गीतों का क्रम मैंने ऐसा लगाया कि उनसे एक हंस की क्रमिक जीवन यात्रा का ही आभास मिले—'हंस का प्रयाण', 'हंस का प्रवास', 'हंस को चेतावनी', 'हंस की प्रतीक्षा', 'हंस की मनुहार', 'हंस की विदा', 'हंस का पुनरागमन', 'हंस का मोहभंग', 'हंस का घाव', 'हंस की मौत'। ऐसी किंवदंती है कि मरने के पूर्व हंस एक उड़ान भरता है और एक गीत गाता है—swan song अंग्रेज़ी में अंतिम गीत या सर्वश्रेष्ठ गीत के लिए मुहावरा बन गया है। पोलोन्स्की की 'हंस की मौत' शीर्षक कविता बड़ी सहानुभूति और सूझ से लिखी गई है। वह कहता है हंस मरण निकट जान किसी सरोवर के नरकुल घिरे कोने में जा बैठता है और अपनी अंतिम निद्रा में केवल स्वप्न देखता है कि वह गगनस्पर्शी उड़ानें भर रहा है और उड़ते हुए गा रहा है!

कल्पना की वे उड़ानें बे-उड़ी थीं,
कल्पना का गीत अनगाया हुआ था,
कल्पना की रागिनी ही मंद होकर,
मंदतर होकर, हुई थी शाँत;
पंछी मर गया था!...

सकलन छपकर आया तो भीतर से कोई बोला, 'क्या तेरा भी अब 'हंस गीत' गाने का समय निकट नहीं आ गया है, क्या वही संकेत इधर हंस प्रतीकों से कविताएँ लिखने को मुझे प्रेरित कर रहा है?...जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में आती रही हैं।

बंबई में सुबह-शाम दोनों वक़्त घूमने का नियम मैंने बना लिया था। 'प्रतीक्षा' से निकलकर नरसी मेहता उद्यान तक जाता, एकाध चक्कर वहाँ लगाता और लौट आता। दिसंबर की किसी शाम को घूमने के लिए निकला तो थोड़ी दूर चलने के बाद ऐसा लगा कि मुझे चक्कर-सा आ रहा है और मैं आगे न जा सकूँगा। कुछ देर के लिए खड़ा हो गया और फिर धीरे-धीरे घर की ओर लौटा। फाटक पर पहुँचते-पहुँचते मैं इतना थक गया कि लगा मैं अंदर अपने कमरे तक न जा सकूँगा। फाटक पर वाचमैन के बैठने का स्टूल रखा रहता है, मैं उसी स्टूल पर बैठ गया। कुछ सुस्थिर हुआ तो सोचा तेजी को चलकर अपना हाल बता दूँ। उनका कमरा ऊपर था। किसी तरह सीढ़ियाँ चढ़ गया। तेजी का कमरा अंदर से बंद था। वे किसी काम से व्यस्त थीं, मुझसे अंदर से ही रुकने को कहा। उन्हें मुश्किल से दो-तीन मिनट लगे होंगे दरवाज़ा खोलने में, पर इतने में ही लगा मैं खड़ा न रह सकूँगा और पास पड़ी चौकी पर बैठ गया। मेरी

हालत देखकर तेजी ने डा०'शाह को फ़ोन किया। वे हमारे फेमिली डाक्टर थे—आकर उन्होंने मेरा ब्लड प्रेशर लिया, बहुत बढ़ा हुआ था, हालांकि सामान्यतया मेरा ब्लड प्रेशर मेरी उम्र के हिसाब से कम ही रहता है। उन्होंने कोई इंजेक्शन दिया, कुछ गोलियाँ खाने को दीं और मैं तेजी के बिस्तर पर ही लेट गया। रात ज़्यादा हुई तो थोड़ा दूध लेकर सोने को मैं अपने कमरे में नीचे ही आ गया।

सुबह मैंने एक दूसरी ही तकलीफ महसूस की। मुझे लगा मेरी कमर के नीचे का हिस्सा जैसे बेजान हो गया है और मैं अपने से उठकर चार क़दम भी न चल सकूँगा। तेजी ने मेरी सेवा में रहने को गुलाबचंद को बुला लिया। वह उन दिनों अजिताभ के यहाँ काम कर रहा था। जब हम पहले-पहल बंबई से दिल्ली आए थे वह हमारे साथ आया था और चार वर्ष हमारे साथ दिल्ली में काम कर चुका था। इलाज डा० शाह का ही होता रहा। डाक्टर लोग कभी-कभी बड़ी विचित्र बात कहते हैं। शाह के अतिरिक्त एक दूसरे विशेषज्ञ ने भी आकर मेरी परीक्षा की थी। दोनों का कहना था कि कमर के नीचे का जो मेरा हिस्सा बेकाबू हो गया है उसका कारण मेंटल टेन्शन है—यानी दिमाग़ी तनाव। और अजीब बात यह है कि मेन्टल टेन्शन का कोई कारण मैं नहीं देख रहा था। दिल्ली से आने के बाद तेजी प्रायः बीमार ही रहती थीं, पर उन दिनों वे भी अपेक्षया अच्छी हालत में थीं। अमित अपनी जांडिस से पूर्णतया मुक्त हो चुके थे। पोते-पोतियाँ भी स्वस्थ-सानंद थे। जया भी ठीक थी। अजिताभ और रमू तो स्वास्थ्य के बारे में बहुत सचेत रहते हैं—आसन, व्यायाम, घूम-घाम उनके दैनिक कार्यक्रमों में रहता है। उनके लिए भी किसी प्रकार की चिंता नहीं हो सकती थी। लिखने-पढ़ने का जो काम मैंने कई वर्षों से ले रखा था वह भी पूरा हो गया था। मेरी आँख की परीक्षा बंबई के सबसे बड़े नेत्र विशेषज्ञ डा० श्राफ ने की थी। केटेरेक्ट के आपरेशन की ज़रूरत उन्होंने नहीं बताई थी। सिर्फ़ चश्मा बदलवाने और एक दवा डालने से मेरी आँखों का कष्ट भी कम हो गया था। तब मुझे मेन्टल टेन्शन किस बात का था? मुझे तो अब डर था कि कहीं इस मेन्टल टेन्शन की खोज में मुझे मेन्टल-टेन्शन न हो जाए!

मैं या मेरा दिमाग़ ऐसा पहुँचा-पारसा नहीं कि छह-सात महीने बाद आने वाली आपदा या संकटापन्न स्थिति का आभास पा ले और उसके लिए चिंतित होना शुरू कर दे। पर अपने दिमाग़ को भी आदमी कितना जानता है!...

दस-पन्द्रह रोज़ जैसे तैसे मेरा इलाज होता रहा। कुछ फ़ायदा मैंने महसूस न किया। गुलाबचंद मुझे नहलाता धुलाता रहा। मेरे पाँवों में सुबह-शाम क्रीम की मालिश करता रहा, मुझे पकड़कर 'प्रतीक्षा' के लान में दो-चार चक्कर घुमाता भी रहा। डाक्टरों ने कहा था कि मैं इस बीमारी को लेकर लेट न जाऊँ—उठता, बैठता, चलता-फिरता रहूँ। वह मैं कर रहा था और साथ ही अपने मेन्टल-टेन्शन का कारण खोज न पाने का मेन्टल टेन्शन भी भोग रहा था।

दिसंबर-जनवरी में अमिताभ की फ़िल्म 'महान' की शूटिंग दिल्ली में होने-वाली थी। सारे परिवार को साथ जाना था। सोचा गया मुझे दिल्ली में पूर्व परिचित डाक्टरों को दिखाया जाएगा। आल इंडिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट के डाक्टरों की सलाह ली जाएगी और वहीं विधिवत् इलाज कराया जाएगा। हम लोग अशोका होटल में ठहरे। वहाँ मेरी तरह-तरह की परीक्षा की गई। दर्जनों

एक्सरे लिए गए। लंबे अरसे से मेरे स्वास्थ्य-रोगों से परिचित डा० करोली ने मुझे देखा, फ़िज़ियोथिरेपी के विशेषज्ञ डा० चन्द्रा ने मुझे देखा। कई तरह की गोलियाँ, पाउडर, मिक्सचर दवाओं के रूप में दिए गए। कई तरह के इंजेक्शन लगे। एक डाक्टर आकर मुझे खास तरह की कसरत कराता। पर मेरे कमर के नीचे की ताकत न लौटी। अलसर का मरीज मैं पहले से, एलोपेथिक दवाओं से मेरी एसिडिटी बढ़ती; उसके शमन के लिए कुछ दूसरी दवाएँ दी जातीं। मैं दवाओं से ऊब उठा। होटल का खाना अलग मुझे अनुकूल न पड़ता। एक दिन राजीव मुझे देखने आए तो मैंने उनसे कहा, 'देखो, मरीज़ की जगह होटल नहीं, अस्पताल है। मुझे अमिताभ पर जोर डालकर किसी अस्पताल में भरती करा दो।' एक दिन इंदिरा जी भी मुझे देखने आईं। मैं डाक्टरों से कहता, दवा-परहेज़ मैं सब तरह का कर रहा हूँ, पर मुझे कोई लाभ नहीं हो रहा है। वे कहते अपने को relax करिए और मैं कहता कोई tension हो तब तो मैं relax करूँ। सच तो यह है कि relax करने की कोशिश में मुझे tension होने लगा था। मेरी बीमारी सारे परिवार की चिंता हो गई।

अंत में अपना इलाज बदलने का निर्णय मैंने ही लिया। जनवरी के दूसरे सप्ताह में बच्चों की जाड़े की छुट्टियाँ समाप्त होने को थीं और उनके स्कूल खुलने को थे। सारे परिवार को बंबई लौटना था। अमिताभ की फ़िल्म की शूटिंग जनवरी भर और शायद फरवरी में भी कुछ दिनों को चलनेवाली थी। अमिताभ चाहते थे कि मैं और मेरे साथ तेजी दिल्ली रुकी रहें और मेरा इलाज चलता रहे। मैं दिल्ली के इलाज से निराश हो चुका था और बंबई लौटकर किसी दूसरे तरह का इलाज शुरू करना चाहता था। तेजी के लिए मैं ज़रूर चाहता था कि वे दिल्ली में अमिताभ के साथ रुकी रहें; अमिताभ महीने भर की लगातार धुआँ-धार शूटिंग से काफ़ी थक गए थे, उनके दमे की शिकायत बढ़ गई थी; उनके साथ किसी के रहने की ज़रूरत थी और माँ से अधिक तत्परता से न कोई उनकी देखरेख कर सकता था और न उनके लिए अनुकूल संग-साथ हो सकता था। माँ मनोविभाजन की-सी हालत में थीं—पति के साथ बंबई जाएँ कि पुत्र के साथ दिल्ली रहें। मेरी दृष्टि में उनकी ज़रूरत अमिताभ के निकट अधिक थी। मेरे आग्रह पर वे दिल्ली रुकी रहीं, मैं बंबई लौट गया; मैंने उनको आश्वासन दे दिया था कि अपना हाल-चाल देता रहूँगा, और अगर किसी दर्जे पर मैंने समझा कि उनका मेरे निकट रहना ज़रूरी है तो उन्हें बुला लूँगा।

बंबई पहुँचकर मैंने एलोपैथी की सारी दवाएँ फेंक दीं, नुस्खे फाड़ दिए; डा० भाटिया को बुलवाया। वे पास के ही इरला स्थित होमियोपैथिक मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल थे; बच्चों के इलाज के लिए उन्हें यदा-कदा बुलाया जाता था और बच्चों को उनकी दवा से फायदा होता था। उन्होंने मेरी परीक्षा की और कहा वे होमियोपैथिक दवा से मुझे अच्छा कर सकेंगे। मैंने उनका इलाज शुरू किया। मेरे खाने-पीने में उससे कहीं ज़्यादा परहेज़ था जितना वे मुझ से कराना चाहते थे।

मैंने मालिश के लिए एक दूसरे डाक्टर को याद किया। ये थे डा० शैल कुमार जैन। वे एक अद्भुत प्रतिभा थे। कम उमर में ही शायद चेचक से उनकी आँखें जाती रही थीं, पर उन्होंने अपने अंधेपन को अपने जीवन की प्रगति में बाधा

मानने से इनकार कर दिया। प्रकृति कभी-कभी बड़े विचित्र संतुलन का उदाहरण प्रस्तुत करती है। शैल कुमार की आँख चली गईं पर उनकी यादवाश्त परवान चढ़ी—जो कुछ भी उन्हें पढ़कर सुना दिया जाता वह उनकी स्मृति में सदा के लिए बैठ-पैठ जाता। दूसरों से पढ़वा-पढ़वा कर, सीखसमझ कर, दूसरों को लिखवा-लिखवा कर उन्होंने हाई-स्कूल से लेकर एम० ए० तक की पढ़ाई की, हिंदी लेकर एम० ए० पास किया; इतना ही नहीं उन्होंने भारतेन्दु पर शोध-प्रबन्ध लिखाकर बंबई विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० की डिग्री ली। पर दुर्भाग्य कि उनकी यह उपलब्धि जीविकोपार्जन की साधन न बन सकी। उन्हें कोई शिक्षा संस्था नौकरी देने को तैयार न हुई। क्या शैल कुमार हारे? नहीं। उन्होंने बेंत की बुनाई का काम सीखा—बेंत की कुर्सियाँ, मेज, बक्से, डोलचियाँ आदि वे ऐसी उम्दगी से बना सकते हैं कि आपको देखकर हैरत हो। पर उससे भी सुविधाजनक जीवन जीने योग्य आमदनी नहीं हो सकती थी। वे फिर भी नहीं हारे। उन्होंने डा० जस्सावाला से वैज्ञानिक मालिश की शिक्षा ली जिससे कई तरह के शारीरिक रोग अच्छे किए जा सकते हैं। आज वे ऐसी मालिश के विशेषज्ञ के रूप में बंबई में व्यवस्थित हैं। उनसे मेरा परिचय प्रसिद्ध हिंदी कवि-लेखक श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने कराया था। कई वर्ष पूर्व, मेरे घुटनों में दर्द की तकलीफ हो गई थी और उनकी मालिश से पंद्रह दिन में मैं ठीक हो गया था। उनकी मालिश जोर से घिस्से लगानेवालों की नहीं होती। वे कुछ नसों को पहचानते हैं जिनको वे अपनी उँगलियों से तेज़ी से छूते हैं। जांडिस की बीमारी से उठने पर शारीरिक दुर्बलता को दूर करने के लिए अमिताभ ने भी उनकी मालिश एक महीने ली थी।

उन्होंने मेरे शरीर को टटोल कर कहा वे मुझे तीन महीने में दौड़ा देंगे। अंधा क्या चाहे दो आँखें। उनका इलाज शुरू हुआ। कुछ दिनों तक सुबह-शाम दोनों वक़्त उन्होंने मेरी मालिश की, फिर एक वक़्त; और तीन महीने बाद मैं दौड़ा तो नहीं, पर बिना सहायता के बाथरूम जाने, नहाने-धोने और थोड़ा-बहुत चलने-फिरने लायक हो गया। उतना भी बहुत था। गुलाबचंद मेरे साथ रहता, पर चलने-फिरने में उसका हाथ पकड़ने की ज़रूरत मुझे न होती। मैं तीन-चार फर्लांग सुबह, तीन-चार फर्लांग शाम घूमने लगा और मुझे कोई विशेष थकावट का अनुभव न होता।

अप्रैल-मई में अमिताभ की 'महान' फ़िल्म के कुछ दृश्यों की शूटिंग काठमांडू-नेपाल में होनेवाली थी। उस साल गर्मियों में अजिताभ ने अपने परिवार के साथ योरोप भ्रमण का कार्यक्रम बनाया था। अमिताभ के साथ जया-बच्चे तो जानेवाले थे ही। मेरा मन नेपाल जाने से डरता था; इतनी नाजुक बीमारी से थोड़ा-बहुत राहत पाने के बाद मैं इतनी लंबी यात्रा से घबराता था—पता नहीं वहाँ का जलवायु, भोजन-पान अनुकूल पड़े कि न पड़े। पर तेजी के साथ मैं बंबई रुकता तो दोनों बेटों की अनुपस्थिति में बहुत अकेला पड़ता, फिर बंबई की गर्मी तेजी को सहन न होती। अमिताभ का आग्रह था हम उनके साथ जाएँ। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि अगर ज़रूरत पड़ी तो वे डा० भाटिया या शैल कुमार को भी काठमांडू बुलवा सकेंगे। तेजी ने भी समझाया, वायु परिवर्तन से लाभ भी हो सकता है और अगर मालूम हुआ कि नेपाल स्वास्थ्य के लिए प्रतिकूल पड़

रहा है तो लौट तो किसी वक़्त सकते हैं। अंततोगत्वा अमिताभ के साथ चलने के लिए ही हिम्मत बाँधी।

बंबई से रवाना हो कुछ घंटे दिल्ली में रुकते हम हवाई-जहाज से काठमांडू पहुँचे।

अमिताभ के साथ तो एक हुजूम चलता है। पता नहीं, कैसे लोगों को पता लग जाता है कि कब अमिताभ घर से निकलते हैं, कहाँ जाते हैं, कहाँ रुकते हैं, कहाँ उठते-बैठते हैं और बात की बात में भीड़ की भीड़ उन्हें देखने, उन्हें छूने, उनसे आटोग्राफ़ लेने को उन्हें घेर लेती है। बंबई में यही हाल था, दिल्ली में यही हाल था, काठमांडू में यही हाल था। दिल्ली में तो अधिकारियों ने अमिताभ के साथ हमें भी वी० आई० पी० रूम में बिठाकर बाहर पुलिस खड़ी करा दी। जहाज़ छूटने के पाँच-सात मिनट पहले हमें निकाला गया। कहीं भीतर अमिताभ की इतनी लोकप्रियता पर बड़ी खुशी भी होती है, साथ ही धक्का-मुक्की से परेशानी भी कम नहीं होती।

काठमांडू में हम लोग एवरेस्ट होटल में ठहराए गए। वहाँ भी ख़बर फैल गई थी कि अमिताभ आनेवाले हैं और इसी होटल में ठहरनेवाले हैं। होटल नेपाली भीड़ से घिरा था—मर्द-औरतों-नवयुवक-नवयुवतियों-छोटे-छोटे बच्चों की भीड़। पारंपरिक हिंदू रीति से होटल में हमारा स्वागत किया गया—तिलक, माल्यार्पण, आरती से। जब अपने-अपने कमरों में पहुँचे तब जाकर कुछ शांति मिली।

काठमांडू की यह मेरी चौथी यात्रा थी। पहली बार मैं अगस्त 1954 में स्वतंत्रता दिवस पर आया था, भारतीय दूतावास द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन में भाग लेने के लिए, दूसरी बार मई '55 में तेजी, अमित, अजित के साथ, जब मैंने अपने मित्र महाराजकृष्ण रसगोत्र के मेहमान के रूप में पूरी गर्मी की छुट्टी बिताई थी—रसगोत्र उन दिनों दूतावास में सेक्रेटरी थे, तीसरी बार 1963 में जब मैं विदेश मंत्रालय की ओर से नेपाल के किसी सांस्कृतिक समारोह में भाग लेने के लिए भेजा गया था। याद है, साथ श्री सुनातिकुमार चाटुर्ज्या और उनकी पत्नी थीं। कुछ ऐसा हुआ कि दो बार पटना से काठमांडू जा-जाकर हमारा जहाज़ लौट आया—उतरने में कुछ बाधा खड़ी हो जाती थी। श्रीमती चाटुर्ज्या ने कहा नियति हमें आगाह कर रही है—उतरने में कुछ अनिष्ट होगा, और वे अपने पति को लेकर कलकत्ता लौट गईं। मैंने कहा, मैं तो सरकारी ड्यूटी पर हूँ, जहाज़ जाएगा तो मैं भी जाऊँगा। तीसरी बार हमारा जहाज़ गया तो बजुज़ कुछ खराबी के सही सलामत उतर गया।

अमिताभ दूसरे दिन से ही अपनी फ़िल्म-शूटिंग के काम में व्यस्त हो गए। अब कुछ ऐसा प्रबंध हो गया था कि शूटिंग के दर्मियान अमिताभ अपने फोटोग्राफ़र से अपना वी० डी० ओ० तैयार करा लेते और शाम को जब आते तब हम उसे अपने कमरे में बैठकर टेलीविज़न पर देखते।

तेजी, जया, बच्चे दिन में काठमांडू के दर्शनीय स्थानों को देखने का कार्यक्रम बनाते। पाँवों की कमजोरी के कारण मैं अधिक बाहर न जा सकता। नेपाल मेरा कई बार का देखा था, विशेष उत्सुकता भी नहीं थी बाहर घूमने-फिरने की; हाँ, मोटर से जाकर जहाँ ज़्यादा पैदल न चलना पड़े वहाँ के लिए मैं तैयार भी

रहता। कमरे में अकेले पड़े-पड़े ऊब होती।

बीस बरसों में काठमांडू में बहुत कुछ बदला था और बहुत कुछ बिलकुल नहीं बदला था। हमारा एवरेस्ट होटल उस हाईवे पर था जिसे चीनी सरकार ने बनाया था—यह पक्की-चौड़ी, टार्ड रोड नगर के चारों ओर गई थी—एक दिन हमने कार से उसकी पूरी परिक्रमा की थी। उसपर नई-नई इमारतें खड़ी हो गई थीं, नए-नए बंगले खड़े हो रहे थे। हमें दिखाया गया था एक जगह से यह सड़क तिब्बत की सीमा तक चली गई है, जहाँ यह लासा और लासा से पीकिंग जाने वाली सड़क से जुड़ जाती है। हमें बताया गया कि नेपाल के विभिन्न भागों में लगभग 1000 मील पक्की सड़कें भारत सरकार ने भी बनवा दी हैं। बिजली का उत्पादन भी खूब बढ़ा है। हाईवे पर बिजली के तारों की सहायता से बसें चलती हैं। नगर में कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ बिजली न पहुँच गई हो, पर नगर से मिले गाँवों में शायद अभी नहीं; ऐसे गाँव कहीं-कहीं हाईवे से जुड़े हुए भी देखे जा सकते हैं, जहाँ माटी के दिए जलते हैं। शहर के बाज़ारों की दुकानें जैसी अब विदेशी माल से लदी देखीं वैसी पहले कभी नहीं देखी थीं—शहर की सड़कों पर इम्पोर्टेड कारें दौड़तीं। बताया गया चीन से होकर बड़ा विदेशी माल नेपाल पहुँचता है, वहाँ से स्मगल होकर भारत के बाज़ारों में भी।

पुराना काठमांडू तो मंदिरों की नगरी है। शायद ही आप किसी जगह पर खड़े हों जहाँ से कोई मंदिर न दिखाई देता हो; सड़क, गली, चौराहों, तिराहों, ओने-कोने जहाँ भी जगह मिली है लोगों ने छोटे-बड़े मंदिर खड़े कर लिए हैं, वेदियाँ, चौरियाँ बना दी हैं। यहां पूजा-स्थान बनाने में हिंदू कल्पना खुल खेली है। बौद्ध मंदिर, स्तूप, स्मारक भी कम नहीं हैं। मंदिर क्षेत्रों में कुछ भी नहीं बदला है। इनके चारों ओर वही गाय, गोबर, गंदगी, कोढ़ी, कंगले, भिखारी, तीर्थयात्री, पंडे-पुजारी, भीड़-भड़क्का-धक्का जो सौ बरस पहले था अब भी है और निश्चय सौ बरस बाद भी ऐसा ही रहेगा।

पशुपतिनाथ के मंदिर पर तो 'महान' का एक दृश्य ही शूट किया गया था। उनके प्रोड्यूसरों ने अमिताभ से पशुपतिनाथ की विशेष पूजा कराई थी। वहाँ की भीड़ से बचकर निकल आए—यह पशुपतिनाथ की क्या कम कृपा थी।

गुह्येश्वरी मंदिर पर भी हम लोग गए थे। पौराणिक कथा है—जब दक्ष-यज्ञकुंड में कूदकर सती ने अपने प्राण दे दिए थे तब मोहाविष्ट शिव सती के शव को कांधे पर डालकर जगह-जगह घूमते-फिरते थे। जहाँ-जहाँ सती के अंग टूट-टूटकर गिरे वहाँ-वहाँ देवी-तीर्थ बनाए गए। किंवदंती है, यहाँ सती का गुह्यांग गिरा था। धुर अतीत में किसी जोगी-जती ने दिव्य-दृष्टि से यह स्थान पहचाना होगा। उसके आत्मविश्वास से प्रभावित किसी धनी-धर्मात्मा या राजा ने उस मंदिर बनवा दिया होगा। गहराई में अष्टधातु का योनि-प्रतीक बना है, जिस पर समय-समय पर सोने का पानी फेर दिया जाता होगा। जल-पुष्प-सिंदूर-आरती और द्रव्य से उसकी पूजा होता है। आदि मातृ-योनि पूज्य होनी ही चाहिए—'जगत् मातु पितु शंभु भवानी'।

बूढा नीलकंठ में एक छोटे से जलाशय में संगमूसा की बनी शेषनाग पर लेटी भगवान विष्णु की दीर्घ-दिव्य प्रतिमा है। मेरा ध्यान भगवान से पहले उस मूर्तिकार की ओर जाता है जिसने यह प्रतिमा गढ़ी होगी। किसी युग में किसी बड़े

कलाकार ने इस उजाड़ खंड में कोई बड़ा काला पत्थर देखा होगा। अपनी कल्पना-कला-श्रम से उसने इस काली चट्टान को काट-तराश कर उसके अंदर से शेषनाग पर लेटे विष्णु भगवान को निकाला होगा—फिर उसके चारों ओर एक जलाशय बनाया होगा—क्षीर सागर के प्रतीक के रूप में। निकट के किसी झरने की धार भी लाकर इस तालाब में गिराई होगी। कोई नहीं जानता वह कलाकार कौन था, कैसा था, कहाँ रहता था, कितने वर्ष-मास लगे थे उसको अपनी कल्पना को मूर्तिमान करने में—वह तो बस अपनी कृति में ही जैसे समा गया। मैं उसकी पुण्य स्मृति को पुनः-पुनः नमन करता हूँ और विश्वास करता हूँ ऐसा नमस्कार निश्चय ही 'केशवं प्रतिगच्छति।'

लौटते समय बोधनाथ का वृहत स्तूप देखता हूँ। प्राचीन है, पर बहुत अच्छी हालत में है। समय-समय पर इसकी मरम्मत-पोताई होती रहती है। बीच-बीच में ताक जैसी जगह बनाकर सिद्धासन में बुद्ध मूर्तियाँ रखी हैं। एक जगह बड़ा प्रार्थना-चक्र भी लगा है। जैसे सब प्रार्थना चक्रों पर, इस पर भी अंकित है—'ऊं नमो मणि पद्मे हुं।' चारों ओर भोटियों की बस्तियाँ हैं—तिब्वती लोगों को यहाँ भोटिया कहा जाता है। कई तिब्बती कला-कारीगरी की दूकानें भी हैं। जानना चाहता हूँ बोधनाथ कौन थे। कोई नहीं बता सकता। कोई बुद्धत्व प्राप्त संत होंगे, जिनके अस्थि-अवशेष इस स्तूप में रखे होंगे। संभव है भगवान बुद्ध का ही कोई अस्थि खंड इस में स्थापित हो। एक लामा कहता है—

'ऊं तस्सऽ भगवतो अरहतो सम्मा सवुद्धस्सऽ'

स्वयंभू नाथ भी देखने जाता हूँ। ऊंची पहाड़ी पर बना स्तूप है। स्तूप पर जो चौकोर मीनार-सी बनी है उसके एक पहलू पर दो बड़ी-बड़ी आँखें बनी हैं। नाक की जगह प्रश्नवाचक चिह्न बना है। सीढ़ियाँ चढ़कर स्तूप तक पहुँचा जा सकता है। कभी ऊपर गया था। अब हिम्मत नहीं। ऊपर एक बड़े कक्ष में बुद्ध की बड़ी सी प्रतिमा है, जिसके आगे अखंड घृतदीप जलता है। बगल में एक पंक्ति में बैठे बौद्ध भिक्षु सस्वर कोई पोथी पढ़ते रहते हैं।

इस बार नेपाल की कुमारी देवी (Living Goddess) के दर्शन का भी अवसर मिला। मंदिर क्षेत्र में एक पुराने मकान में उन्हें रखा जाता है। नीचे आँगन में लोग खड़े होते हैं, कुमारी के जी में आता है तो वे पहली मंज़िल के काष्ठ-वातायन से दर्शन दे देती हैं। हम लोग आँगन में खड़े हुए तो उन्होंने वातायन से हमें देखा ही नहीं, हमें ऊपर बुला लिया। शायद अमिताभ से हमारे संबंध की सूचना ऊपर पहुँच गई थी। अवस्था उनकी 6-7 के बीच में होगी, शरीर से भरी, गौर वर्ण, दीर्घ नेत्र, सुंदर, प्रसन्न मुख, चांचल्य रहित मुद्रा। बोली कुछ नहीं। हमने प्रणाम किया तो बताशे का प्रसाद दिया। बताया गया किसी उच्च वर्ण से एक सर्वांग पूर्ण सुन्दर बालिका कुमारी देवी के लिए चुनी जाती है जो नीरोग हो, जिसके शरीर पर कोई दाग़ न हो, जिसके शरीर से किसी चोट के कारण रक्त न निकला हो। उसकी निर्भीक प्रवृत्ति और सात्विक स्वभाव की पहचान के लिए कुछ और परीक्षण भी किए जाते हैं। वांछित रूप-गुण-स्वभाव की कसौटी पर खरी उतरने पर उसे कुमारी देवी का पद दिया जाता है और उसे लाकर इस भवन में रखा जाता है। कुछ वयस्क और कुछ प्रौढ़ स्त्रियाँ देवी की सेविका-संरक्षिका के रूप में रखी जाती हैं। देवी को प्रति प्रभात में नहला-धुला, उनका

शृंगार कर सिंहासन पर बिठाया जाता है और विधिवत उनकी पूजा होती है। इस मकान से उन्हें बाहर नहीं जाने दिया जाता। साल में एक बार उनकी रथ-यात्रा निकलती है जिसे इंद्र यात्रा कहते हैं। तब महाराज नेपाल स्वयं उनकी पूजा करते और उनके चरण छूते हैं। नेपाली सेना की एक टुकड़ी यात्रा के आगे-आगे चलती है। कुमारी देवी का यह पद तब तक रहता है जब तक किं वह रजस्वला न हो जाएँ या उन्हें कोई ऐसी चोट लगे जिससे रक्त प्रवाह हो। पता नहीं उस बालिका को पढ़ाया-लिखाया जाता है या नहीं। अपनी उम्र के बच्चों के साथ खेलने दिया जाता है या नहीं; बाल-विनोद-मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराए जाते हैं या नहीं। शायद नहीं। कितना अप्राकृतिक, कितना कृत्रिम जीवन होता होगा उस बालिका का! सुना, देवी-पद मुक्त लड़कियाँ विवाहित हो सामान्य नारी-जीवन बिताती हैं।

नेपाल महाराज की बहन राजकुमारी शारदा अमिताभ की फ़ैन है। एक दिन उन्होंने हम लोगों को अपने निवास स्थान पर खाने पर बुलाया था, जहाँ राजमाता से भी मिलाया गया। स्व० महाराज महेन्द्र की पत्नी मेरी पिछली नेपाल-यात्रा में मेरा काव्य-पाठ सुन चुकी थीं, जिसकी स्मृति उन्हें थी; स्वर्गीय महाराज स्वयं अच्छे कवि थे और एक गोष्ठी में उनकी कविता सुनने का भी अवसर मुझे मिला था। राजमाता को वह दिन याद था।

हम लोगों के स्वागत-सत्कार में एक भोज भारतीय राजदूतावास में भी दिया गया था—जहाँ के कंपाउंड में—अमिताभ को याद था 27 वर्ष पूर्व वे उस समय के राजदूत श्री भगवान सहाय के लड़के अमरजीत के साथ दिन-भर खेला करते थे। भोज में नेपाल सरकार के कई मंत्री भी आमंत्रित थे। कइयों को तो मेरी कविता की कितनी ही पंक्तियाँ याद थीं—अचरज ही था—जो उन्होंने मुझसे बरसों पहले सुनी थीं।

काठमांडू के बाद अमिताभ की 'शक्ति' फ़िल्म की शूटिंग ऊटी में थी—एक बार फिर हम धुर उत्तर से धुर दक्षिण पहुँचे—एक रात दिल्ली और एक रात बंगलौर रुकते हुए।

ऊटी के बाद अमिताभ की शूटिंग—शायद 'महान' की अवशिष्ट या कोई और बंगलौर में थी। उसके बाद वहीं 'कुली' की शूटिंग होनेवाली थी।

वहीं जया के चाचा हिमांशु भादुड़ी की गंभीर बीमारी का समाचार मिला था और वह उन्हें देखने के लिए लंदन चली गई थी। हिमांशु जी बी० बी० सी० के हिंदी समाचार प्रसारण विभाग में काम करते थे।

श्वेता-अभिषेक के स्कूल खुलने वाले थे, तेजी मैं उन्हें लेकर बंबई चले आए और अमिताभ अकेले बंगलौर में रह गए। इधर रमू-अजिताभ भी अपने बच्चों को लेकर योरोप-यात्रा से बंबई लौटे। जया को लंदन में कुछ ज्यादा ही दिन लग गए। उसके चाचा को कैंसर था। वे बचाए न जा सके। उनकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद जया भी लंदन से सीधे बंबई आई। अमिताभ के फ़ोन नियमित रूप से बंबई आते थे हमारा समाचार पूछने को, अपना हालचाल बताने को। 'कुली' की शूटिंग विधिवत् चल रही थी, अमिताभ अपने काम से संतुष्ट-प्रसन्न थे, स्वास्थ्य भी सामान्य था। बंगलौर की आबोहवा उन्हें अनुकूल पड़ती थी। क्या मालूम था कि बंगलौर ही उनके लिए भीषण रूप से प्रतिकूल पड़नेवाला था।

इतवार के साथ कोई त्यौहार पड़ा था। बच्चों के स्कूल तीन दिन को बंद थे। अमिताभ ने जया और बच्चों को उस अवधि के लिए बंगलौर बुला लिया। तीन दिन बाद श्वेता और अभिषेक को तो उन्होंने किसी के साथ बंबई वापस भेज दिया, और जैसे किसी दैवी संकेत से जया को बंगलौर में ही रोक लिया।

तभी कुली की शूटिंग के दरमियान अमिताभ को वह चोट लगी जिससे सारा देश, सारी दुनिया हिल उठी।

मेरे परिवार ने मेरे कवि को जितना स्नेह-संवेदन-समादर दिया उतना शायद ही किसी अन्य कवि के परिवार ने दिया होगा। मेरे प्रारंभिक कवि जीवन में मेरे माता-पिता, मेरे छोटे भाई, मेरी पत्नी श्यामा मौजूद थीं। मध्य-वित्त सम्मिलित परिवार में परिपक्व युवक का कोई ऐसा काम, कोई ऐसा शुग़ल न पसंद किया जाता है, न उसका स्वागत किया जाता है जो अर्जनसक्षम न हो। मेरी प्रारंभिक तुकबंदियां या कुछ सत्य और कुछ कल्पना के जोड़-तोड़ से लिखी कहानियाँ कौड़ियों के मोल भी मंहगी ही कही जा सकती थीं। मुझे याद है स्वर्गीय पंडित चंद्र शेखर शास्त्री नवयुवक 'मुक्त' के लिए कहा करते थे, मेरा लड़का तो कवि निकल गया—जैसे कोई कहे, मेरा लड़का तो आवारा निकल गया। ऐसा व्यंग्य मैंने अपने माता-पिता से कभी नहीं सुना। भाई मेरे मुझसे छोटे थे, पर पिताजी की पेंशन बंद होने पर घर-खर्च चलाने के लिए नौकरी पहले उन्होंने की। और मुझे कविता-कामिनी का मर्ज़ सेने के लिए छोड़ दिया।

श्यामा ने भी मेरे कवि को कम नहीं दुलराया। मेरी कामचलाऊ आमदनी से संतुष्ट थी। दस वर्ष के वैवाहिक जीवन में कभी कोई माँग मेरे सामने नहीं रखी कि मुझे अर्थ-चिंतित होना पड़े। अपनी रोग-व्याधि भी मुझसे छिपाती रहीं कि कहीं वह मेरे कवि के लिए व्यग्रता के विषय न बनें और मेरे सृजन में बाधक सिद्ध हो।

तेजी के साथ अर्थ-चिन्ता से तो मुक्ति मिल गई थी, पर परिवार में सौ तरह की चिंताएँ होती हैं, समस्याएँ उठती हैं जिन्हें दूर करने के लिए, जिनका समाधान खोजने के लिए ध्यान, समय, श्रम देना होता है। मेरा कवि स्वभाव, मेरी कवि प्रकृति, इससे कितनी उद्विग्न होगी और उससे मेरे कवि कर्म में कितना व्याघात उपस्थित होगा इसको तेजी ने जितना पहचाना उतना किसी और ने नहीं। अपने 42 वर्ष के संसर्ग में उन्होंने मुझे गार्हस्थ जीवन के इस पक्ष से एक तरह से अछूता रखा—मैं कहना चाहूँगा दोष की सीमा तक। उनकी इस प्रवृत्ति में कभी-कभी मुझे दुराव की भी आशंका हुई। अपने बेटों के सामने भी उन्होंने मेरी यह तस्वीर रखी है मैं कवि हूँ, कलाकार हूँ, भावप्रवण हूँ, थोड़ी-सी अप्रिय स्थिति मुझे बहुत परेशान कर देती है—अब तो बहुत दिनों से अलसर का मरीज़ हूँ—किसी भी अशुभ घटित या समाचार से मुझे अनभिज्ञ रखना चाहिए क्योंकि उससे मेरा मानसिक तनाव बढ़ेगा—एसिडिटी बढ़ेगी, मैं बीमार पड़ जाऊँगा। नतीजा उसका यह हुआ है कि तेजी के जीवन में, मेरे बेटों के जीवन में बहुत कुछ कष्टकर-चिन्ताजनक आया है, रहा है और कानों-कान मुझे खबर नहीं दी गई। घर भर अभिनय-कला में दक्ष है, किसी ने अपने चेहरे-मोहरे से, बात से यह संकेत नहीं दिया कि अंदर-अंदर क्या हो रहा है, क्या बीत रही है। कभी-कभी तेजी और अपने बेटों के इस रवैये को मैंने अपनी उपेक्षा समझी है,

अपने प्रति अन्याय समझा है। मैं परिवार का एक अंग हूँ, और कोई छोटा अंग नहीं—मानो तो सबसे बड़ा—तो मुझे परिवार के सुख-दुख-दुरवस्था में साझीदार होना चाहिए—सबका सुख-दुख बँटाना चाहिए। मुझे लगता है कि मेरे प्रति लगाव की अतिशयता में घर के लोगों ने मेरी ग़लत तस्वीर बना रखी है। माना कि मैं कवि हूँ, कलाकार हूँ, भावप्रवण हूँ, पर छुई-मुई नहीं हूँ। बहुत जगह कोमल होकर भी कहीं बहुत कठोर भी हूँ—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि; मुझमें बहुत कुछ सहने, बर्दाश्त करने, झेलने की शक्ति है, शायद घर भर में सबसे ज़्यादा—किसने इस घर में इतना दुख-दारिद्रय, इतनी कष्ट-चिंताकर स्थितियां, इतनी मौत-बीमारियाँ देखी हैं जितनी मैंने। मेरे व्यक्तित्व के इस पक्ष को नहीं देखा-समझा गया तो मुझे ग़लत समझा गया है। इस पर सबसे ज़्यादा झुंझलाहट मुझे उस समय हुई जब अमित को बंगलौर में चोट लगी, पर वह मुझसे छिपा रखी गई।

अमिताभ को पेट में चोट शनिवार को अपराह्ण में लगी थी। शायद उसे गंभीर नहीं समझा गया था।

पर रात भर जिस पीड़ा, जिस कष्ट में वह तड़पता रहा उससे जया को स्पष्ट हो गया था कि चोट सामान्य नहीं है, जिसके कारण कोई बाह्य उपचार कारगर नहीं हो रहा है।

इतवार को अजिताभ को फ़ोन आ गया था कि वह फ़ौरन बंगलौर पहुँचे और साथ फेमिली डाक्टर—डा० शाह को लेकर। चोट की साधारणता का भ्रम तो अब नहीं रह गया था; अजिताभ डाक्टर को साथ लेकर गए—रमू, माँ को बताकर। मुझे कोई भनक तक नहीं दी गई। मैंने समझा इतवार छुट्टी का दिन है; अजिताभ योरोप से लौटकर भाई से नहीं मिला था, मिलने चला गया।

सोमवार को तेजी को फ़ोन आया—अमिताभ को फ़िलोमिना अस्पताल में दाखिल करा दिया गया है, वे ब्रीच कैंडी, बंबई से एक विशेषज्ञ फिजीशियन और एक विशेषज्ञ सर्जन को साथ लेकर बंगलौर पहुँचें। अब खबर मुझसे छिपी नहीं रखी जा सकती थी। तेजी ने फिर भी चोट की गंभीरता से मुझे अनभिज्ञ रखा। यह नहीं बताया कि वे दो डाक्टरों को साथ लेकर जा रही हैं।

मंगल को जब वे बंगलौर पहुँचीं अमिताभ का आपरेशन हो चुका था, घटना-क्रम जो बाद को सुना यों था। अस्पताल में अमिताभ का एक्स-रे लिया गया, पर उसे देखकर न अस्पताल के डाक्टरों को, न अपने फेमिली डाक्टर को यह पता लगा कि आँत कट चुकी है और घाव में पस आना शुरू हो गया है। वे बाहर-बाहर दवा लगाते रहे, पीड़ा-शामक इंजेक्शन देते रहे।

दैववशात मंगल को सबेरे वेलोर के एक ब्रेन-सर्जन डा० भट्ट किसी का ब्रेन का आपरेशन करने के लिए फिलोमिना हास्पिटल पहुँचे थे। सोचा गया, उन्हें भी अमित को दिखा दिया जाए। एक्स-रे देखते ही उन्होंने कहा कि मरीज़ की आँत फट चुकी है, पस हार्ट तक पहुँच चुका है, ब्रेन तक पहुँचने पर मरीज़ के बचने की आशा नहीं रहेगी, आपरेशन फौरन होना चाहिए। हास्पिटल के डाक्टर को अपनी ग़लती महसूस हुई। डा० शाह को अपनी ग़लती पर इतना जबरदस्त धक्का लगा कि वे बेहोश हो गए (या बेहोश होने का अभिनय

किया ?) । ब्रेन के मरीज ने कहा, पहले अमिताभ का आपरेशन किया जाए, उसका दूसरे दिन हो जाएगा। तेजी मंगल को अपराह्न में पहुँची थीं, तब तक आपरेशन हो गया था—कहा गया सफलतापूर्वक।

अब तो अखबारों में खबर छप गई थी। पढ़कर मुझे जो धक्का लगा वह डा० शाह को क्या लगा होगा, पर मैं बेहोश नहीं हुआ। शायद, शुरू से मुझे चोट की गंभीरता से अवगत रखा जाता तो खबर का अचानक आघात इतना दिल-झिंझोड़ न होता।

घर में जया नहीं, तेजी नहीं। मुझे बच्चों के सामने कोई घबराहट नहीं दिखानी थी, यथाशक्ति सामान्य-सा रहना था, कुछ प्रसन्नता का अभिनय भी करना था। उधर रमू अपने बच्चों को बहला रही थी। फिर भी हमें लगा बच्चों को किसी रहस्यमय मानसिक प्रक्रिया से आभास हो रहा है कि परिवार में कुछ गंभीर हो गया है। वे रहते चुप-चुप, सहमे-सहमे, खोए-खोए ! ···

फ़ोन से खबर दी जाती है कि घबराने की बात नहीं है, धीरे-धीरे अमिताभ की दशा सुधरेगी।

अखबारों में आ रहा है कि उपचार के लिए जिन उपकरणों, औषधियों, जिस प्रकार के रक्त की आवश्यकता है वह फिलोमिना अस्पताल में, बंगलौर में उपलब्ध नहीं है, मंगाने के लिए मद्रास, बंबई के अस्पतालों से संपर्क किया जा रहा है। आदमी दौड़ाए जा रहे हैं।

वास्तविक स्थिति यह थी—बाद को तेजी ने बताई—कि अमिताभ की हालत काबू के बाहर हो गई थी, डाक्टर ने उनके बचने की आशा छोड़ दी थी। और यह कह दिया था कि अमिताभ के पिता और बच्चों को बुला लें कि वे अंतिम...तेजी ने न जाने किस निष्ठा से, दृढ़ता से ऐसा करने से इनकार कर दिया था, डाक्टर से कह दिया था, आप अपना दाय-उपाय करते रहें, मैं अपने इष्टदेव की शरण में जाती हूँ।...

उधर बंबई के डाक्टर देख रहे थे कि बंगलौर की परिस्थितियों में अमिताभ को बचाना असंभव है, क्यों न उनको उसी हालत में बंबई ले चलने का खतरा उठाया जाए।

मंगल को आपरेशन हुआ था और शुक्रवार को डाक्टरों ने, परिवार के सदस्यों की सहमति से, यह निर्णय किया कि अमिताभ को रात के हवाई-जहाज से बंबई ले जाया जाए। 9 बजे रात को चलनेवाला जहाज 1 बजे रात को चल सका। रातों-रात यहाँ-वहाँ के अधिकारियों से संपर्क कर उनकी अनुमति से जहाज़ के एक्जीक्यूटिव क्लास की सीटें उखाड़कर इस योग्य बनाया गया कि अमिताभ को स्ट्रेचर पर अस्पताल से लाकर फ़र्श पर रखा जा सके। अस्पताल के आगे भीड़ इकट्ठी हो गई थी, पीछे के दरवाज़े से चुपचाप स्ट्रेचर पर अमिताभ को लाकर एम्बुलेंस में रखा गया और किसी तरह एरोड्रोम पहुँचाया गया। फ़िल्म यूनिट के कुछ सदस्य, डाक्टर, नर्स, परिवार के लोग, आक्सिजन सिलिंडर, ग्लूकोज़ की थैली, रक्त की बाटल संभाले साँस रोक के बैठे...पाइलट ने जहाज़ को इस सतर्कता से उठाया और उतारा कि कम-से-कम धक्का लगे। इधर ब्रीच कैंडी के डाक्टर एम्बुलेंस लेकर बंबई के सांताक्रूज हवाई अड्डे पर मौजूद थे। बंगलौर हवाई अड्डे से किसी ने बंबई के हवाई अड्डे पर फ़ोन कर

दिया था कि अमिताभ गंभीर स्थिति में बंबई जा रहे हैं। हवाई-जहाज के सैकड़ों कर्मचारियों, फ़ोटोग्राफरों, अख़बारनवीसों ने उतरते ही जहाज़ को घेर लिया और जैसे-तैसे उनसे बचा कर अमित को स्ट्रेचर पर डालकर एम्बुलेंस में रखा गया। जुलाई का अंत, बंबई का मानसूनी मौसम, जोरों की वर्षा को भी उसी समय आना था। नियति, प्रकृति और अंध जनभीड़ से मिलकर थके-माँदे, भय-चिंता-आशंकाग्रस्त अमिताभ के साथियों की कितनी क्रूर-कठिन परीक्षा ली थी। पर शाबाश, अमिताभ को किसी भी कष्ट-कीमत पर बचाने के लिए दृढ़ संकल्प उन्होंने किस शौर्य-धैर्य के साथ सामना किया था!' शनिवार को 4 बजे अमित ब्रीचकैंडी के इंटेसिव केयर यूनिट में दाखिल हो गए और डाक्टरों-नर्सों ने उनके लिए यथावश्यक करना शुरू कर दिया।

और बंगलौर और बंबई में होनेवाले इस त्रासद नाटक की कोई सूचना मुझे नहीं दी गई थी।

सुबह अखबार में पढ़ने पर कि बेहोशी की हालत में अमिताभ को बंगलौर से लाकर बंबई के ब्रीचकैंडी में रखा गया है, मुझे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। शोक, आश्चर्य, आक्रोश और उतावले-बावलेपन का ऐसा मिश्रण मैंने अपने स्वभाव में कभी नहीं देखा था।

ब्रीचकैंडी में फ़ोन करने पर पता लगा खबर ठीक है। पहुँचने पर देखा वहाँ भीड़ इकट्ठी है, जो भी डाक्टर-नर्स दिख जाते हैं उन्हें घेरकर लोग अमिताभ के बारे में पूछ रहे हैं। अपना अता-पता देने पर मुझे ऊपर जाने की अनुमति मिल गई।

इंटेसिव केयर यूनिट के सामने लाउंज में तेजी, जया, अजिताभ—उनके चेहरे उड़े हुए, उनकी आँखें पथराईं—उन्हें शब्दों से बताने की ज़रूरत नहीं कि अमिताभ की हालत गंभीर है। क्या सार्थकता रह गई है इसे जानने या पूछने में कि घटनाक्रम से क्यों मुझे बेखबर रखा गया। मुख्य बात थी जहाँ अमिताभ का समुचित उपचार हो सके वहाँ उसे पहुँचाना। मालूम हुआ डाक्टर लोग सुबह किसी को मिलने की इजाज़त न दे सकेंगे। तेजी ने जैसे-तैसे बताया अमिताभ को कैसे यहाँ लाया गया। दूसरे वक़्त दो-दो, चार-चार मिनट के लिए परिवार के लोगों को अमिताभ से मिलने दिया गया गया। उनका पूरा बदन चादर से ढका था, सिर्फ़ चेहरा खुला था, पीला पड़ा, निस्तेज, आँखें सही-झेली पीड़ा-व्यथा को बिंबित करतीं। ...मुझे देख उन्होंने एक सयत्न मुस्कान दी और आँखें मूँद लीं। मैंने उनके सिर पर हाथ रखा और बाहर निकल आया—धीरे-धीरे चलकर—दिल भारी, दिमाग़ खाली महसूस करते। दुखद स्थिति है, दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है, हृदय विदारक स्थिति है। नई तो नहीं है। कोई अपना, प्राणप्रिय, प्राणों का प्राण, आहत, घायल, रोग-पीड़ाग्रस्त सामने पड़ा है और हम उसके लिए कुछ नहीं कर सकते। यह असमर्थता का बोध मृत्यु का पूर्व स्वाद है—कई बार जाना। जब आदमी की मौत आती होगी तब असमर्थता का ऐसा ही बोध होता होगा—हम कुछ नहीं कर सकते—मनुष्य की अंतिम पराजय, उसका अंतिम आत्मसमर्पण। जो प्रार्थना करते हैं, मंत्र जपते-जपाते हैं, मानताएँ मानते हैं वे सच पूछो तो—बड़ा कटु सत्य है—अपनी घबराहट, अपनी परेशानी का इलाज खोजते हैं; कष्ट-भोगते-झेलते प्राणी के कष्ट-निवारण से उसका कोई

संबंध मेरी दृष्टि में नहीं होता। मैं अपनी असमर्थता का बोध कर रहा हूं—दारुण-निदारुण—शायद अपनी वृद्धावस्था के कारण और दयनीय रूप में—जो अमिताभ के लिए किया जा सकता है वह मैं नहीं कर सकता और जो मैं कर सकता हूँ उससे अमिताभ को कुछ लाभ होनेवाला नहीं, कुछ राहत मिलनेवाली नहीं। मैं उस तरह का कुछ करके सिर्फ़ अपने को धोखा दे सकता हूँ। फिर भी ऐसा कुछ करते लोगों ने मुझे देखा होगा, पर वह, शब्द साक्षी रहें, अपने असमर्थता-बोध को पूरी तरह अनुभव करने का मेरा उपक्रम था, तरीका था।

दूसरे दिन अमिताभ की हालत ज़्यादा गिरी हुई थी—कारण तो डाक्टर ही जानते होंगे। निराकरण करने का उपाय भी कर रहे होंगे।

तीसरे दिन सुबह तेजी ने घर आकर बताया, आज अमिताभ का दूसरा आपरेशन होने जा रहा है। डाक्टर की राय है बंगलौर का आपरेशन सफल नहीं हुआ, घाव से पस अब भी जा रहा है। तेजी, जया, अजिताभ रात को भी अस्पताल में ही रहते थे, वहीं एक कमरा ले लिया गया था; तेजी सिर्फ़ कुछ देर को घर आती थीं, नहाने-धोने, पूजा करने। वे जल्दी ही लौट गईं। पीछे-पीछे मैं गया—शूटिंग में पेट पर इतनी भारी चोट कि आँत फट गई—दुःसह पीड़ा-चीत्कार के तीन दिन—गंभीर आपरेशन—तीन ही दिन बाद बदतर हाल में बंगलौर से बंबई की यात्रा—फिर तीन दिन बाद दूसरा आपरेशन!—शरीर कितना सहेगा!!...

मोटर में बैठने लगा तो यंत्रवत् मैंने रामचरितमानस का गुटका उठा लिया—रास्ते भर पढ़ता रहा—अस्पताल पहुँचकर भी—अपराह्ण में एक नज़र देखा, बेहोश अमिताभ को आपरेशन थियेटर से निकालकर स्ट्रेचर पर इंटेसिव केयर यूनिट में ले जाया जा रहा है—फिर मानस पर आँख लगा दी—लौटते समय भी मानस पढ़ता घर आया। इसके बाद जब तक अमिताभ अस्पताल में थे आते-जाते अस्पताल के अपने कमरे में मेरी आँखें गुटके पर ही लगी रहतीं—न मैं किसी से बोलता, न कोई मुझसे बोलता। गुटका बंद करता तब जब अमिताभ से मिलने जाने की अनुमति मिलती। मेरे मानस पाठ से भगवान रामचन्द्र अमिताभ पर कृपा करेंगे, उनका कष्ट काटेंगे, उनको निरोग करेंगे, उनका मंगल करेंगे, ऐसा कुछ भी मेरे मन में नहीं आया। मैं मानस का इतने के लिए ऋणी हूँ कि उन तन-झिंझोड़, प्राण-निचोड़ घड़ियों के अपने असमर्थता बोध को मैंने उसके बल पर सहा-झेला!

आपरेशन के बाद अमिताभ की हालत गिरती ही गई—कई अखबारों की सुर्खी थी—Amitabh is sinking—एकाध हिंदी पत्र ने—समाचार देने की अगुवाई की होड़ में—छाप दिया – 'अमिताभ दिवंगतः'। उनकी घड़ी-घड़ी नाज़ुक होती हालत का समाचार विदेशी पत्रों में छपा। राजीव गांधी जो उन दिनों सपरिवार अमरीका-यात्रा पर थे, ऐसे ही समाचार से घबराकर, अपना कार्यक्रम भंग कर बंबई लौटे और एरोड्रोम से सीधे ब्रीचकैंडी आए और अमिताभ को देखा आधी रात को।

उन्होंने दिल्ली लौटकर अमिताभ के बारे में जो रिपोर्ट इंदिरा जी को दी उस पर वे भी दो दिन बाद अमिताभ को देखने बंबई आईं। उनके आने से जहाँ एक ओर अमिताभ की हालत की गंभीरता रेखांकित हुई; हमने बड़ा मनोबल

भी संचित किया। अमिताभ के लिए अब जो कुछ भी किया जा सकेगा, उठा न रखा जाएगा अगर आयुर्बल शेष है...

दो-दो आपरेशन के बाद भी पस का बनना बंद न हुआ तो दो विश्वविख्यात डाक्टर लंदन से बुलाए गए। वे साथ में अपने विशेष उपकरण लाए और किसी सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रक्रिया से उन्होंने आँतों के घाव को बिजली से जला कर बंद किया। जाते समय मरीज़ के बचने-न-बचने की संभावना 50-50 बता गए। इसके बाद भी अमिताभ प्राय: दो सप्ताह ज़िंदगी और मौत के बीच झूलते रहे। इस बीच एक से अधिक बार उनकी नाड़ी-हृदयगति एकदम रुक गई—दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनटों के लिए, पर किसी डाक्टर की सूझ से, किसी इंजेक्शन, किसी औषधि के प्रयोग से उनमें फिर प्राणों का संचार हुआ—कई बार दस-दस, बारह बारह डाक्टरों की टीम रात-रात भर उनके उपचार में लगी रही...अगस्त के अंत में डाक्टरों ने घोषित किया कि अब वे ख़तरे से बाहर हैं...

अमिताभ की बीमारी से मालूम हुआ कि फ़िल्म का माध्यम कितना लोक-व्यापक है — देश में भी, विदेश में भी। अमिताभ ने जो लोक-स्वीकृति, लोक-प्रियता प्राप्त की है वह केवल फ़िल्म के माध्यम से। उनकी बीमारी ने दूसरी बात यह सिद्ध की कि अमिताभ अपने अभिनेता रूप से जनजीवन के कितने स्तरों को भेदते कितने गहरे जा पैठे हैं। अंदाजा लगाना मुश्किल है कि उनकी बीमारी से देश-दुनिया में कितने लोग चिंतित-व्यग्र हुए। जिन लोगों ने अपने को अभि-व्यक्त किया चिट्ठी से, तार से, उपहार से, गेट-वेल-कार्ड से, गंडे, तावीज़, प्रसाद, भभूत से—उन्हीं की संख्या लाखों में होगी। उनके लिए 'हिंदू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसिक, मुसलमान, क्रिस्तानी'—सभी लोगों ने अपने-अपने धर्म-स्थानों में प्रार्थनाएँ कीं; उनमें नवयुवक, नवयुवतियों के अलावा कितने बूढ़े और कितने-कितने बच्चे रहे होंगे। कितनों ने उनके लिए व्रत किए, रोज़े रखे, मनौ-तियाँ मानीं, तीर्थयात्राएँ कीं। एक विचित्र मनौती थी एक बड़ौदा के मराठी नवयुवक की—उसने प्रतिज्ञा की थी कि अगर अमिताभ अच्छे हो जाएँगे तो वह बड़ौदा से उलटे पैरों चलता हुआ बंबई आकर वहाँ के सिद्धि-विनायक मंदिर में पूजा करेगा। बड़ौदा से बंबई दो सौ मील तो होगी। दो सौ मील उलटा चलता हुआ सिद्धि विनायक मंदिर जाने के पूर्व वह 'प्रतीक्षा' आया। मैं उसकी सद्-भावना से इतना अभिभूत हुआ कि मैंने झुककर उसके पाँव छुए, बिलकुल यह न मानते हुए कि उसके उलटे चलकर सिद्धि विनायक की पूजा करने और अमिताभ के अच्छे होने में कोई दूर का भी संबंध हो सकता है। उलटकर उसने मेरे पाँव छुए, जिसके लिए मैंने यह व्रत ठाना, उसके आप पिता हैं।

ब्रीचकैंडी के सामने अमिताभ का ताज़ातर हाल जानने के लिए भीड़ लगी रहती। अधिकारियों ने सुबह-शाम उनकी हालत का बुलेटिन बाहर बोर्ड पर लगाना शुरू कर दिया था। किसी ऐसे वक़्त मैं वहाँ से नहीं गुज़रा जब बीस-पचीस आदमी बुलेटिन बोर्ड के सामने न खड़े हों। अमिताभ के लिए रक्त देने वालों की लाइन लगी रहती। जिनका ब्लड ग्रुप उससे न मिलता वे निराश होते। समान ब्लड ग्रुप के कई नवयुवक रात-रात अस्पताल में पड़े रहते—किसी समय अमिताभ को ताज़े रक्त की ज़रूरत पड़ सकती है। अमिताभ के लिए उनका प्रेम, उनकी श्रद्धा, उनका त्याग, उनका बलिदान देखता तो उनके प्रति

कृतज्ञता से आँखें भर आतीं। ये जो उनके लिए अपरिचित हैं इतना कुछ कर रहे हैं, और हम जो उनके सगे हैं, निकट के हैं हम क्या कर रहे हैं। हमारी तरफ़ से जो करना था, जो किया जा सकता था उसका दायित्व, उसका भार अजिताभ ने अपने कंधों पर ले लिया था और हममें से हर एक को विश्वास था कि अजिताभ पल-पल सजग-सचेत और सतर्क हैं और शुरू से लेकर आखीर तक अगर अमिताभ के उपचार में जो होना चाहिए था वही किया गया और कहीं भूल-चूक के लिए पश्चाताप की जगह नहीं छोड़ी गई तो उसका श्रेय केवल अजिताभ को दिया जाना चाहिए। अमिताभ के अच्छे होने में अगर उनके इच्छा बल का बहुत बड़ा हाथ है तो कोई छोटा हाथ नहीं है उनके अंदर इस आश्वस्ति का कि उनके लिए जो कुछ अच्छे से अच्छा किया जा सकता है उसे उनका छोटा भाई उठा नहीं रखेगा—उसके लिए कोई भी कष्ट उठाना पड़े, उसके लिए कोई भी कीमत चुकानी पड़े। इस घटना के बाद पड़ने वाले अजिताभ के जन्म दिवस पर मैंने उनके लिए कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं जो मुझे याद आ गई हैं और उन्हें आपको सुनाना चाहूँगा—

हमारे प्राण-प्रिय अजिताभ
बहुत-से संबंध जिनसे किया जा सकता तुम्हें है याद,
लेकिन मैं करूँगा याद तुमको आज कह—
अमिताभ के प्रिय भ्रात, जैसे राम के संग, रहे लक्ष्मण राज,
जिनके वास्ते
वाल्मीकि ने ऐसा कहा था—
'रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो वहिश्चरः'
राम की जो दाहिनी हैं बाँह, उनके प्राण जो बाहर विचरते,
साम्य अंतर से बिठाए, हर समय, हर परिस्थिति में—
दुःख-सुख में,
शांति में, संघर्ष में,
सर्वत्र उनके साथ।
अभी कल ही, जो बवंडर था उठा
उसमें गया था घिर हमारा एक तारा—बड़ा प्यारा—
और हम पल-पल
भयंकर संशयों से थे प्रताड़ित और पीड़ित! ...
तब तुम्हें ही देख
यह विश्वास था हमको संभाले
मानवी संघर्ष, श्रम और सजगता से,
जो असंभव नहीं, सब कर, तुम उबारोगे हमें इस आपदा से—
और तुमने की हमारी आस पूरी।

इस घातक-मारक दुर्घटना से अमिताभ के जीवित-जाग्रत निकल कर आ सकने में ब्रीचकैंडी के डाक्टरों-नर्सों के निष्ठापूर्ण उपचार, सेवा-सुश्रूषा के बाद मैं अमिताभ के दृढ़ इच्छाबल और अजिताभ की लाक्ष्मणी भ्रातृ-परायणता को मुख्य कारण मानता हूँ। मान-मनौतियाँ तो तेजी और जया और शायद रमू ने भी की

होंगी; वे बुरा न मानें, पर सचमुच क्या उनमें अपनी ही घबराहट, परेशानी, चिंता की शामिका खोजने की आतुरता न थी ? इसमें मुझे संदेह है कि इन मान-मनौतियों ने अमिताभ के अच्छे होने में कण भर भी योग दिया होगा। इनका महत्व इतना ही था कि उनके आत्मीयों ने इनके द्वारा अमिताभ के चारों ओर आशा, विश्वास, भविष्य मंगल का एक वातावरण प्रस्तुत किया। चलो, इसका भी महत्व मान लेता हूँ। मैं अगर बीमार पड़ूँ और देखूँ कि मेरे चारों ओर सब लोग घबराए हैं तो वह घबराहट मेरे लिए भी संक्रामक सिद्ध होगी—मुझमें भी दहशत पैदा होगी कि मेरे ऊपर कुछ अनिष्ट होने वाला है और यह आशंका, यह भय अनिष्ट न भी होने वाला हो तो अनिष्ट करके रहेगा।

शायद हमारी ग्रामीण स्त्रियाँ अपनी सहज बुद्धि से इन मान-मनौतियों के उपयोग और उनके सीमित महत्त्व को बखूबी पहचानती हैं।

मैंने अपनी माँ से एक किस्सा सुना था। एक गाँव में एक बहुत गरीब स्त्री रहती थी। उसके एक ही लड़का था। वह गंभीर रूप से बीमार पड़ गया। माँ तरह-तरह की मानताएँ मानने लगी—हे हनुमान जी, मेरा लड़का अच्छा हो जाएगा तो तुम्हें सवा सौ लाल रेशमी लंगोट चढ़ाऊँगी, हे गणेश जी, तुम्हें सवा पाँच मन लड्डू, हे शंकर जी, तुम्हारी पिंडी पर सवा सात मन दूध, हे गंगा माई, तुमको एक-सौ आठ जोड़ी पियरी, हे फलां पीर, हे ढिकां पीर, तुम्हारी तुरबतों पर मखमली कामदानी चादरें, हे माता, हे भवानी, हे कालभैरव, हे डीहबाबा, हे पिपरहा बरम, तुमको इतना-इतना-इतना...। लड़के ने एक दिन अपनी माँ से पूछा, माई, 'तैं एतनी लम्बी-चौड़ी मानताएँ मान रही है, जो मैं अच्छा ही हो गया तो तू कैसे इन सबको पूरी करेगी ?' मां ने उसके कान में कहा, 'हे बेटवा, तुम अच्छे होय जाव, हम सबको ठेंगा देखाय देब !'

इसके माने यह नहीं कि मैं न चाहूँगा कि मानी मानताएँ पूरी न की जाएँ। अंततोगत्वा ये मानताएँ अपने से प्रतिज्ञाएँ हैं, और अपने प्रति मनुष्य को झूठा नहीं होना चाहिए। इसका दूसरे पर न हो, अपने पर ही बुरा असर होगा।

इस देश में प्रचलित अंध-विश्वासों से अपरिचित तो न था, पर अमिताभ की बीमारी में उनके फैनों, स्नेहियों, भक्तों ने उनके अच्छे होने के लिए इतने टोने-टोटके लिख-लिखकर भेजे कि सबको लिखना चाहूँ तो एक अच्छी खासी किताब तैयार हो जाए। कुछ विचित्र तो अब तक याद हैं—एक लखौरी ईंट अमिताभ के बदन पर सात बार फेर कर उनकी चारपाई के पाए के नीचे रख दें तो वह उनका सब रोग-बलाय ले लेगी, जब वे अच्छे हो जाएँ तो उसको तोड़ दें। एक ने लिखा था, अमिताभ के वज़न का भीगा चना बंदरों को खिला दें तो वह तुरत अच्छे हो जाएँगे। एक ने लिखा था कि अमिताभ के पहने कपड़े उनके सिर पर वारकर किसी नदी में सरा दें तो उसके साथ उनका सब रोग-दुख बह जाएगा। एक और ने लिखा था कि अमिताभ के सिरहाने चिराग जले एक मिट्टी के सकोरे में काले उड़द की दाल, कड़ू तेल और पाँच पैसे रख दें और सुबह मुर्गा बोलने से पहले उसे चौराहे पर डाल दें—ऐसा सात रात करने से उनकी सारी ईमारियाँ-बीमारियाँ रफू-चक्कर हो जाएँगी, वगैरह, वगैरह, वगैरह...

और अंत में अमिताभ की बीमारी से एक और कटु अनुभूति हुई—इस देश

में पंडे-पुजारियों, तांत्रिकों, ज्योतिषियों, सामुद्रिकों, संख्याविदों, संहिता-विशेषज्ञों का एक बहुत बड़ा दल है जो आदमी की नाजुक स्थिति में उसका शोषण करने की बहुत-सी तरकीबें जानता है। यह पूजा कराइए, यह पाठ बैठाइए, यह अनुष्ठान साधिए, यह बलि दाजिए, यह ग्रह-शांति कराइए, इसको दान दीजिए, उसको भोजन कराइए। वे डराते भी हैं, आशाएँ भी बँधाते हैं; न पूरी होने पर कौन जाता है उनसे जवाबतलबी करने। इन सारे कर्मकांडों में कुछ निठल्लों, धूर्त, चंट-चालाकों का पेट भरता है या टेंट गरम होती है। इस देश के भोले-भाले कितने उनके शिकार न होते होंगे।

अमिताभ जानते थे कि उनके परिजन, हितू-मित्र, संबंधी उनके लिए दुखी हैं, हजारों उनके लिए प्रार्थनाएँ कर रहे हैं, दुआएँ माँग रहे हैं; लाखों उनके दिनानुदिन का समाचार जानने को उत्सुक हैं, इतने व्यग्र हैं वे उनके दुर्घटना-ग्रस्त होने पर; और अनगिनत लोगों की संवेदनाएँ उनके साथ हैं, फिर भी, फिर भी उनकी पीड़ा-व्यथा का एक लघु अंश भी कोई कम करा सका ? 'कोई नहीं, कोई नहीं'। 29 अगस्त को इंटेंसिव केयर यूनिट के बिस्तर पर लेटे-लेटे उन्होंने अंग्रेजी में एक कविता लिखी थी जिसमें उनके अपने कष्ट के अकेले सहने की वेदना बड़ी मार्मिकता से व्यक्त हुई थी—

Breach Candy Hospital
I. C. U. Room No. 1—Bombay
29th August 1982

Outside—Inside

Outside
Black
Granite ugly rocks,
Turbulent mud-laden sea—
Dark frightening clouds hovering above—
Inside
Whiteness, purity
Clean sheets, soft pillows
Gentle care, soft words
Solitude
And my agony—
Amitabh Bachchan

ब्रीचकंडी अस्पताल समुद्र तट पर है और इंटेंसिव केयर यूनिट के कमरे से समुद्र तटीय दृश्य दिखाई देता था—बरसात का मौसम था ही। इसका अनुवाद मैंने हिंदी में किया था—

बाहर—
ऊपर, मँडराते, डरपाते
अंधियाला छाते-से बादल।

नीचे, काली, कठोर, भद्दी चट्टानों पर
उच्छल, मटमैली जलधि-तरंगों की क्रीड़ा।
भीतर—
सब उज्ज्वल, शुद्ध, साफ़
चादर सफ़ेद, कोमल तकिये,
धीमे-धीमे स्वर से सिंचित
ममतामय सारी देख-रेख
औ' मेरी एकाकी पीड़ा।

दुर्घटना के फलस्वरूप संभावित भयद परिणामों की आशंका, उसका निराकरण करने के लिए डाक्टरों-नर्सों का दुर्दम, अथक, अनवरत संघर्ष, पर कितनी स्वच्छता, कितनी शांति, कितनी स्निग्धता के वातावरण में। और इन सबके बीच पीड़ा को सहनेवाला एक है—अकेला है—उसका कोई संगी-साथी नहीं है जो उस पीड़ा को बंटा सके, जो उस दर्द का साझीदार हो। पीड़ा की सघनता जैसे अंग्रेजी की अंतिम पंक्ति के प्रत्येक शब्द के स्वराघात में बोल रही है, वैसे ही हिन्दी अनुवाद की अन्तिम पंक्ति के प्रत्येक अक्षर में—मात्राओं की दीर्घता से—

औ-मे-री-ए-का-की-पी-ड़ा ! —

मूल की प्रतीकात्मकता, भावनात्मकता और ध्वनि-व्यंजकता को अनुवाद में भी उतारने का मैंने प्रयत्न किया है।

मुझे अपनी एक कविता की कुछ पंक्तियाँ याद हो आई हैं—

क्यों न हम लें मान, हम हैं
चल रहे ऐसी डगर पर,
हर पथिक जिस पर अकेला
दुख नहीं बँटते परस्पर...

फिर भी शायद सहानुभूति, संवेदनाओं का महत्त्व हो, पीड़ित, दुखित को अपनी वांछनीयता का विश्वास जगाने में; और वह विश्वास उसे पीड़ा-व्यथा से ऊपर उठने में किसी हद तक सहायक सिद्ध हो।

जिस दिन अमिताभ अस्पताल से घर आए, उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि 'कुली' की शूटिंग जहाँ तक हुई है उनके सामने स्क्रीन की जाए—कि स्पष्ट हो सके कि चोट कैसे लगी, क्योंकि चोट लगते समय कैमरा तो चल ही रहा था।

दुर्घटना के बाद तरह-तरह की खबरें अखबारों में छपी थीं कि जिसने अमिताभ को पेट में घूँसा मारा था वह कराटे विशेषज्ञ ब्लैक बेल्ट था, कि उसने जानबूझकर घूँसा मारा था, कि कोई षड्यन्त्र था, कि ऐसी चोट से अमिताभ को खत्म करा के फिल्म संसार से हटा दिया जाय—उनसे द्वेष कम को था ? घूँसा मारने वाले की तरफ से यह सफाई दी जा रही थी कि अमिताभ को चोट उसके घूँसे से आई ही नहीं थी, बल्कि टेबिल के कोने से जिससे वे टक्कर

खा गए थे; एक अखबार ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि अमिताभ के पेट में गोली मारी गई थी, जब आपरेशन हुआ तब गोलियाँ निकलीं! हमारी चिन्ता चोट को अच्छा करने में थी; किसने चोट की, क्यों चोट की, कैसे चोट की इसमें नहीं। कैमरे ने साफ बताया था कि चोट पेट में घूँसे के लगने से ही आई थी—शायद इरादतन नहीं थी, आकस्मिक थी, भूल से थी, अनुभवहीनता की थी, लड़नेवाला नौसिखुआ था; जिसे नकली रखना था, उसे उसने असली बना दिया था। प्रोड्यूसर को देखना था कि ऐसे अल्हड़ से ऐसे खतरे का काम न कराए। खैर, 'जो बीत गई सो बीत गई'।

अमिताभ ने दो महीने बंबई में ही आराम किया। रोज़ संध्या समय हज़ार-पाँच सौ आदमी फाटक पर उनके दर्शनों के लिए इकट्ठे होते और वे थोड़ी देर के लिए निकलकर उनकी इच्छा पूरी करते।

बबई की आबोहवा तो बहुत अच्छी नहीं। डाक्टरों ने राय दी कि अमिताभ को कुछ दिन ताज़ी-खुली हवा में रखा जाना चाहिए। अजिताभ ने दिल्ली से बाहर सतबड़ी गांव में एक फार्म पर सारे परिवार के रहने का प्रबंध किया। वहां हम लोग दो मास रहे। वहाँ के निवास से निश्चय अमिताभ को लाभ हुआ। उन दिनों दिल्ली में एशियाड की धूम थी। अमिताभ एकाध दिन एशियाड भी देखने गए। और मध्य जनवरी में जब वे बंबई लौटे तो उसी जगह से शूटिंग शुरू की जहाँ से उन्होंने चोट खाकर बन्द की थी।

फार्म से गुलमोहर पार्क बहुत दूर नहीं था। दिल्ली में रहने का लाभ लेकर अजिताभ ने पार्क में बनते हमारे मकान—सोपान—के काम को जल्दी-जल्दी पूरा कराया और थोड़ा-बहुत फरनिश भी कर दिया कि रहने काबिल हो जाए। तानिया फार्म से जब-तब आकर हम मकान को देखते भी रहे। मकान सुन्दर-सुरुचिपूर्ण, सुविधाजनक था। हमारा इरादा अभी स्थायी रूप से यहाँ आकर रहने का नहीं था, पर कुछ ऐसा संयोग बना कि यहाँ आना पड़ा, और आए तो अब लगता है यहाँ से बम्बई जाना न हो सकेगा। क्यों न बंबई को भी यहीं बुलाया जाए?

तानिया फार्म में एक दिन राजकमल प्रकाशन की स्वामिनी शीला संधू मुझसे मिलने आईं और उन्होंने मेरे सामने मेरी संपूर्ण रचनावली प्रकाशित करने का प्रस्ताव रख दिया। हिंदी में जिनकी रचनावलियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं वे लोग दिवंगत हो चुके हैं—सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, गजानन माधव मुक्तिबोध, रांगेय राघव। मैंने मज़ाक में शीला जी से कहा, मुझे भी दिवंगत होने दीजिए, फिर निकालिएगा। पर वे बोलीं, आपके साथ हम कुछ मौलिक करना चाहते हैं। मैं उनके हठ को न टाल सका। वस्तुत: जब यह रचनावली निकलनी थी तो मुझे सारी सामग्री लेकर दिल्ली आना हा था। मैं अकेले तो 'सोपान' में आकर रह नहीं सकता था। मैंने तेजी को भी यहाँ आने के लिए तैयार किया—'रचनावली के लिए सामग्री संजोने का काम बिना तुम्हारी सहायता के नहीं हो सकता।' रचनावली प्रकाशन को उन्होंने इतना महत्त्व दिया कि एक बार फिर बंबई से मेरा और अपना बहुत कुछ सामान लाद-लूद यहाँ आने का बखेड़ा सिर उठाया। शुरू-शुरू में अपने भरे-पूरे परिवार से दूर आकर यहाँ रहना अच्छा तो नहीं लगा। पहली फरवरी को

हम यहाँ आए थे, मार्च में होली पड़ी, बुंदेलखंड के कवि ईसुरी की फागों के अनुकरण पर मैंने तेजी के विनोदार्थ एक फाग लिखी—

तेजी, दूर हो गए बेटे ।
चले बंबई से हम अपना सब सामान समेटे ।
स्वप्न हो गईं पोते-पोती औ' बहुओं से भेंटें ।
दिल्ली में हम पढ़ते रहते लेटे गालिब-गेटे ।
बैठ 'प्रतीक्षा' में बच्चन जी अब न करेंगे टेंटें ।
तेजी, दूर हो गए बेटे ।

खैर, दिल्ली आकर हमें अभी गालिब-गेटे पढ़ने की फुरसत नहीं थी । वे तो तुक से खिचे हुए आ गए थे, और 'प्रतीक्षा' में बच्चन जी 'टें-टें' करने के अलावा और भी बहुत कुछ करते रहते थे । रचनावली के संबंध में बहुत काम था । उन दिनों की दिनचर्या पर भी एक तुकबंदी लिखी थी—'सोपान'—सुनेंगे ?—

नई दिल्ली
नई दिल्ली में गुलमोहर पार्क
गुलमोहर पार्क में 'सोपान'
घर का नाम,
'सोपान क्या ?'—सीढ़ी—
घर में बसने वालों का मोटो रहे—
ऊपर उठने का अरमान ।

इसमें रहते हैं—बच्चन जी
हिंदी के कवि
अंग्रेजी के विद्वान,
यह है गुज़रे कल की बात
आज की सिनेमा-पीढ़ी के लिए वे हैं
केवल 'अमिताभ के बाप' ।

सुबह घूमने को निकलते हैं रोज़
खेलगांव से सिनेमा 'उपहार'
सिनेमा 'उपहार' से खेलगांव
आते-जाते हैं कई बार
फिर थक कर
लौट आते हैं घर
फिर दिन भर
मिलती नहीं उनकी कोई खबर-खोज ।
घर है कि गढ़-निकुंज,
ऊंची-ऊंची लताओं से घिरा,
जैसे चारों तरफ हो हरा पर्दा पड़ा ।
लोहे का फाटक,

फाटक के सामने खाकी वर्दी में खुखरी धारी
नेपाली दरबान खड़ा।

बच्चन जी के घूमकर आने के बाद
अंदर से आती है आवाज़ -
टन-टन-टन-टन-टना-ना-ना।
चारों तरफ से उड़-उड़ कर आती हैं चिड़ियां
शायद श्रीमती तेजी बच्चन चुगाती हैं उनको दाना।

दोपहर या शाम
मिलने आते हैं कुछ लोग
भेजते हैं अंदर नाम-काम की पर्ची
मिल लेते हैं उनको अगर हुई उनकी मर्जी
कभी बाहर आकर
कभी भीतर बुलाकर।

कोई नहीं जानता
दिन भर
करते हैं क्या काम,
आदमी बैठनेवाला नहीं,
कुछ पढ़ता होगा, कुछ लिखता होगा,
जैसे करता रहा है उमर भर,
जो समय पर होगा उजागर।

संध्या को फिर
अंदर से आती है आवाज़,
टन-टन-टनन टन—
(जय-जय जगन्नाथ !)
बजता है शंख साथ;
शायद लान में कोई है छोटा-सा मंदिर,
जहाँ होती है आरती,
बाहर तक आती है अगरबत्ती की सुगंध,
आते-जाते आस्थावान
झुका देते हैं माथ !

कभी-कभार जब फाटक पर खड़ी होती है
कोई लंबी-सी कार
पास-पड़ोस में फैल जाता है समाचार
कि आ गए अमिताभ।
बात की बात में जुट जाते हैं उनके फैन हज़ार
होने लगती है उनके लिए पुकार;
वे बाहर आते हैं,

बार-बार हाथ हिलाते हैं,
करते हैं नमस्कार, अंदर चले जाते हैं,
पर लोग खड़े रहते हैं घंटों करते
फिर उनके निकलने का इंतज़ार ।

फिर भी जब काम से फुरसत होती तो यहाँ का दुकेला-अकेलापन और परिवार से दूरी बहुत अखरती । ऐसी मन:स्थिति को वाणी देने के लिए एक शाम को एक कविता लिखी :

'उड़ि चलो हंसा और देस हियां नाहीं कोऊ हमाऽऽर...'
अस्त रवि,
लालोंछ-रंजित पच्छिमी नभ;
क्षितिज से ऊपर उठा सिर यत्न करके
एक तारा,
मन्द-आभा,
उदासी जैसे दबाये हुए अन्दर,
आर्द्र नयनों मुस्कराता,
एक सूने पन्थ पर
चुपचाप एकाकी चले जाते
मुसाफिर को कि जैसे कर रहा हो कुछ इशारा ।

ज़िदगी का नाम
यदि तुम दूसरा पूछो,
मुझे
'सम्बन्ध' कहते
कुछ नहीं संकोच होगा ।

किन्तु मैं पूछूं
कि सौ सम्बन्ध रखकर
है कहीं कोई
नहीं जिसने किया महसूस
वह बिल्कुल अकेला है कहीं पर ?—
जिस 'कहीं' में
पूर्णत: सन्निहित है
व्यक्तित्व औ' अस्तित्व उसका ।

और ऐसे कूट एकाकी क्षणों में
क्या हृदय को चीर करके
है नहीं फूटा कभी आह्वान यह अनिवार
"उड़ि चलो हंसा और देस
हियां नाहीं कोऊ हमाऽऽर !"

और क्या

इसकी प्रतिध्वनि
नहीं उसको दी सुनायी
इस तरह के सान्ध्य तारे से कि जो अब
कालिमा में डूबती लालौंछ में
सिर को छिपाये
माँगता सायं बसेरा
पच्छिमी निद्रित क्षितिज से झुक
नितांत एकांत प्रेरा ?

'सोपान' की भूमि पर लिखी यह पहली गंभीर कविता थी। रचनावली संबंधी सामग्री प्रेस भेजी जा चुकी तो मैं अक्सर इस कविता की पहली पंक्ति दुहराया करता—'उड़ि चलो हंसा औरे देस हियां नाहीं कोऊ हमाऽऽर।'

'औरे देस' की खोज-कल्पना में हंसा को सृजन का ही प्रदेश दिखाई दिया जहाँ उसके मन को किसी तरह की शांति मिल सकती थी।

और वह इस स्मृति-यात्रा पर निकल पड़ा जिसमें आप भी उसके साथ चलते रहे हैं।

साथ ही वर्तमान भी अतीत के साथ-साथ चलता रहा है, गो अतीत को शब्द-प्रक्षिप्त करने के प्रयास में वर्तमान ने अपने को आगे नहीं आने दिया; अर्थात् लेखन-काल एवं प्रकाशन-प्रक्रिया के दौरान घटित यहाँ चर्चित नहीं है।

किसी भी सफ़र में साथी का बड़ा महत्व होता है।

वह अपने बात-व्यवहार-उपस्थिति से आपके सफ़र को इतना सुखमय बना सकता है कि आपको पता भी न चले कि कब आपकी यात्रा आरंभ हुई और कब समाप्त हो गई; और इतना दुखमय भी, कि आपको एक-एक क़दम उठाना भार लगे।

पता नहीं आपको यह सफ़र या मेरा संग-साथ कैसा लगा।

कैसा भी लगा हो, मैं तो उस पर चलते-चलते अपनी आयु के 77 वर्ष 7 महीने 7 दिन पर पहुँच गया हूँ, जब महाभारत के अनुसार मनुष्य देव कोटि में चला जाता है।

व्यास जी महाराज की आत्मा मुझे क्षमा करे, मैं तो ऐसे किसी चमत्कारी परिवर्तन का अनुभव नहीं कर रहा हूँ।

सच तो यह है कि अपने अदेवत्व, अपनी मानवता, मानवी अपूर्णता की जितनी अनुभूति मैं आज कर रहा हूँ उतनी मैंने पहले कभी नहीं की।

शायद देवता होना यही है कि मनुष्य अपने दाग, दोष, दूषण, एक शब्द में, अपनी अपूर्णता के प्रति पूर्णतया सचेत हो जाए।

अगर मैं ठीक हूँ, तो जनार्दन के समक्ष जब प्रस्तुत होना होगा तब होगा; मैं नहीं जानता कि होना होगा भी कि नहीं, पर मैं जानता हूँ कि जनता-जनार्दन के सामने मेरी सृजनशील लेखनी ने मेरी संपूर्ण अपूर्णताओं के साथ मुझे प्रस्तुत कर दिया है।

...sent to my account
With all my imperfections on my head.
(Hamlet I : V)

अपनी सारी अपूर्णताएँ सिर पर लादे
उत्तरदायी जिनके लिए मुझे होना है।...
(हैमलेट I : V)

आभार-प्रकाश

अब जब यह स्मृति-यात्रा-यज्ञ पूर्ण हुआ है—कई-कई रूपों में राक्षसों द्वारा बाधा देने पर भी—तो मैं कुछ लोगों के प्रति आभार प्रकट करना चाहूंगा।

सबसे पहले मैं आभारी हूं अपने सुपुत्रों अमिताभ और अजिताभ के प्रति जिन्होंने अपने श्रमार्जित धन और सुरुचि-सुपुष्ट कल्पना से मेरे लिए एक ऐसा सुविधाजनक भवन निर्मित करा दिया जिसमें बैठकर मैं यह यज्ञ संपन्न कर सका।

इसके बाद अमिताभ और अजिताभ की मां के प्रति जो इस यज्ञ की प्रमुख प्रेरणा रही हैं और जो संपूर्ण यज्ञ-काल में मेरे बाएं बैठी भी मेरे दाहिने रही हैं।

इसके बाद श्री शरच्चंद्र चतुर्वेदी के प्रति जिन्होंने मेरी घसीट को ठीक-ठीक पढ़कर उसकी सुस्पष्ट शुद्ध टाइप प्रेस-कापी तैयार की।

इसके बाद श्री सत्येन्द्र शरत् के प्रति जिन्होंने इस पूरी पांडुलिपि को ध्यान से पढ़कर उसके सुधार-संवार के सुझाव दिये जिनके प्रकाश में मैं उसे अंतिम रूप दे सका।

इसके बाद डा० जीवन प्रकाश जोशी के प्रति जिन्होंने पूरी प्रेस-कापी पढ़कर मुझे आश्वस्त किया कि वह पूर्णतया सटीक है।

इसके बाद अपने प्रकाशक श्री विश्वनाथ के प्रति जिन्होंने इसे यथेष्ट रूपाकार दे आपके समक्ष प्रस्तुत किया।

और अंत में, पर कम नहीं, मैं आभारी हूं आप, पाठक, के प्रति जो शब्द-शब्द मेरे ध्यान में रहे हो, और जो यदि यथास्थान-यथावसर अपनी सहानुभूतिपूर्ण कल्पना से सहयोग न दोगे तो मेरी यह स्मृति-यात्रा अधूरी ही रहेगी।

—बच्चन

4 जुलाई, 1985

(मेरी आयु के 77 वर्ष, 7 महीने, 7 दिन पर)

'सोपान',
बी-8, गुलमोहर पार्क,
नई दिल्ली-49

□□

परिशिष्ट-1

स्फुट शेर

किसी ने ग़म में तुझे तो किसी ने शादी में
मैंने घबराके तुझे याद किया।

है उसी बुत का इंतज़ार हमें
जो न आया न आने वाला है।

शराबे इश्क पीकर हम तेरे दर पर कभी बैठे,
हम अपने घर पे अब खूनेजिगर पी करके बैठे हैं।

हम जहाँ हैं, जो हैं, जैसे हैं तेरी मर्ज़ी से हैं,
हो ग़रज़ तेरी तो हो, पर हम तो बेग़रजी से हैं।

सिफ़ारिश तुम्हारी करा देते लेकिन
खुदा तक हमारी रसाई नहीं है।

अपनी तक़लीफ़ किसी से भी नहीं अब कहनी,
नहीं ख़ुदा से भी, क्या खुद उसे मालूम नहीं।

जब से अपने से शिकायत का गुमां मुझको हुआ
किसी से कोई शिकायत नहीं मुझको बाकी।

आख़िरी बूँद भी बाक़ी नहीं मैखाने में
साक़िया जान क्यों अटकी हुई पैमाने में।

लोग पत्थर भी नहीं फेंकते है बे-मतलब
कुछ तो यारों को नज़र आया है दीवाने में।

जिसने जीने की मुसीबत झेल ली,
उसको मरने की मुसीबत कुछ नहीं।

ग़म ग़लत करने को पी तुमने शराब,
और आँसू ग़म के हम पीते रहे।

मैं तो फ़रिश्ता बनने के खतरे में था पड़ा,
कमजोरियों ने कुछ मुझे इंसां बना दिया।

●

जिन्दगी एक चूहेदानी है,
सब फँसों की महज़ कहानी है,

एक जो राह है निकलने की,
उसपे बिल्ली की हुक्मरानी है।

अदाये जिंदगी देखा किया मैं,
अदाये मौत मुझको देखती है।

जिंदगी खुशगवार है, प्यारे,
मौत का इंतज़ार है, प्यारे।

मौत का हो या कि महबूबा का हो,
इंतज़ारी का मज़ा दोनों में है।

मौत ने इस क़दर देर की,
ज़िंदगी बेहया हो गई।

ज़िंदगी तो छोड़ने का नाम ही लेती नहीं,
अब तो मरने की कोई तरकीब सोचा चाहिए।

कुछ न अब ज़िंदगी में करने को,
खूब फुरसत मिली है मरने को।

नहीं जीने की अब कोई तमन्ना
जिलाया जा रहा हूँ जी रहा हूँ।

ज़िंदगी पाई उसको जीते हैं,
मौत आएगी उसको मर लेंगे।

कोशिशें आराम से जीने की करके थक गया,
अब तो मैं आराम से मरने की तैयारी में हूँ।

मौत में भी ज़िंदगी-सा ही दिखूँ,
इक क़फ़न मैला उढ़ा देना मुझे।

ंले बदन पे मैला क़फ़न ओढ़ के हाज़िर
क्या इसको मेरी साफ़दिली तुम न कहोगे।

●

दर्द हमको दबाए बैठा है,
दर्द को हम दबाए बैठे हैं।

कमर में दर्द है, मैं क्या करूँ,
ज़माना सर्द है, मैं क्या करूँ,
हकीमों की चली कोई न हिकमत,
खुदा नाकर्द है, मैं क्या करूँ।

डाक्टर औ' इलाज अपनी जगह,
मर्ज़ अपनी जगह पे क़ायम है।

वक्त मेरे जाने का नज़दीक है,
मौत को भी कुछ बहाना चाहिए।

●

प्रजातंत्र की आड़ आगे बनी है,
मगर पीछे डिक्टेटरी चल रही है।

अब तो अच्छे काम सब सरकार ही करने लगी,
आओ हम-तुम कुछ बुरा काम कर डालें मियाँ।

हमने यह माना कि अब लिखने की आज़ादी नहीं,
जब थी आज़ादी तभी क्या तीर मारे आपने।

परिशिष्ट-2

दो पत्र

राय कृष्णदास

सीता निवास,
का० हि० वि०,
बनारस-5
मार्च 26, 1976

प्रियवर,

सप्रेम मिलन।

आज पूरे साठ दिन पर यह पत्र लिख रहा हूँ, कहते हैं—साठा तब पाठा। साथ ही 'देर आयद दुरुस्त आयद' भी मेरा सम्बल है।

आपसे बादवाली पीढ़ी के साहित्यिकों में मेरे जी ने जितना आपको चाहा उतना अन्य को नहीं। फिर भी, दैवी विचित्रा गतिः। हम बहुत ही कम निकट सम्पर्क में आए। केवल दो मौके याद आते हैं—एक तो एडेल्फ़ी में, जब सौ० तेजी जी ने ऐसी खीर खिलाई थी जैसी फिर कभी न खायी, हम देर तक रमे रहे—ऐसा लगा कि वह नेह का नाता जन्मांतर से चला आ रहा था।

दूसरे, प्रयाग में ही आप और मैं, एक साथ कहीं जा रहे थे...मेरी एक बात पर आप की आँखें भर आयीं और आपने इसका इज़हार किया।

बस, तीसरा सुयोग न आया, मैं तरसता ही रह गया। जब पहलेपहल आपको देखा, इलाहाबाद में ही, तभी से दिल में कशिश पैदा हो गयी—कोई साहित्यिक समारोह था। भाई मैथिलीशरण और मैं साथ ही बैठे थे। आप पन्डाल के बाहर खड़े थे। साहित्य क्षेत्र में आए डेढ़ साल भी न बीता था। जब समारोह हो चुका तो मैथिलीशरण ने मुझसे कहा—'यह एक उदीयमान प्रतिभा है, चलो इनसे मिलें'। वही पहली भेंट थी...मेरी ऐसी धारणा है कि आप सदैव संकोचशील रहे। खैर।

आपके पद्मभूषण होने से मुझे जो प्रहर्ष हुआ उसे व्यक्त करने के लिए अपने शब्द-भंडार में देर तक भरमता रहा, लेकिन उसे जितना बड़ा समझता था उतना ही छोटा पाया। बस इतना ही कह पाता हूँ कि मन का साक्षी मन है—"अपने मन तें जानियो, मेरे मन की बात"।

बधाई कभी बासी नहीं होती, हो जाय तो बधाई नहीं। और, अब तो दुहरी बधाई स्वीकारिए—पद्मभूषण होने की (सरकार तो लंबी नींद में रही) और चि० पद्माभ के दादा होने की। आप लोग उसे चाहे जो पुकारें, मैं तो पद्माभ ही पुकारूँगा—दादा को पद्मविभूषित करता हुआ आया है।

आपका पता ज्ञात न होने के कारण श्री भारती जी को कष्ट दे रहा हूँ कि इसे आप तक पहुँचा दें।

सौ० तेजी जी को मेरा सस्नेह स्मरण दिलाएँ। आप लोग बंबइया हो गए, किंतु इलाहाबाद को भी दिल के एक कोने में जगह दिये रहिए। वहाँ की रंगत और ही है, गो फीकी पड़ रही है। आज एक सुजन आए थे। कल्याणी जी के मेले की चर्चा में कहने लगे कि अब बिलकुल उतार पर है। दुखी हुआ।

वत्सरारंभ की, सब कुटुम्ब के प्रति हार्दिक शुभकामना सहित,

सादर,

स्नेही,
कृष्णदास

श्री डा० हरिवंशराय जी बच्चन, योग्य,
मुंबई।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

बी-7 / 7, कृष्णनगर,
पो० गांधीनगर, दिल्ली
19-2-65

प्रियवर,

जय हो।

आपकी शान्तिरस की मर्मस्पर्शिनी कविता 'यात्रांत' मुझे यथासमय मिल गयी थी। करेक्शन वाला कार्ड न भी आया होता तो भी रचना में जो सार्थक प्रवाह 'नीचे' से होता है वह 'नीच' से नहीं। फिर भी, सावधानी सदा ही सही होती है। इधर मेरी तबीयत कुछ गड़बड़ चल रही है, अतः उत्तर देने में विलंब हुआ, एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

दिनों से मैं आपको यह लिखना चाहता था कि यदि मेरे सौभाग्य में अनायास मरण हो और अवसर रहते आप जान पाएँ, और संभव हो, तो कोशिश यह करेंगे कि मेरी लाश बस्ती से दूर किसी नदी में बहा दी जाय, भले ही हरिजन लोग ही यह काम क्यों न करें। यह बात कही तो कइयों से है मैंने, लेकिन लिख आप ही को रहा हूँ।

आशा है आप स्वस्थ, सुप्रसन्न हैं। बस।

आपका,
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

सेवा में,
कवि श्री बच्चन जी को

बच्चन की रचनाएं

(प्रकाशन क्रम में)

1.	तेरा हार (काव्य)	1932
2.	बच्चन के साथ क्षण भर (चयन)	1934
3.	मधुशाला (काव्य)	1935
4.	खैयाम की मधुशाला (अनुवाद)	1935
6.	मधुबाला (काव्य)	1936
6.	मधुकलश (काव्य)	1937
7.	निशा निमंत्रण (काव्य)	1938
8.	एकांत संगीत (काव्य)	1939
9.	आकुल अंतर (काव्य)	1943
10.	प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग (कविताएँ)	1943
11.	प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग (कविताएँ)	1943
12.	सतरंगिनी (काव्य)	1945
13.	हलाहल (काव्य)	1946
14.	बंगाल का काल (काव्य)	1946
15.	प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग (कहानियाँ)	1946
16.	खादी के फूल (काव्य)	1948
17.	सूत की माला (काव्य)	1948
18.	मिलन यामिनी (काव्य)	1950
19.	सोपान (संकलन)	1953
20.	प्रणय पत्रिका (काव्य)	1955
21.	धार के इधर-उधर (काव्य)	1957
22.	मैकबेथ (अनुवाद)	1957
23.	आरती और अंगारे (काव्य)	1958
24.	बुद्ध और नाचघर (काव्य)	1958
25.	जनगीता (अनुवाद)	1958
26.	ओथेलो (अनुवाद)	1959
27.	उमरखैयाम की रुबाइयाँ (अनुवाद—पाकेटबुक)	1959
28.	कवियों में सौम्य संत (पंत-काव्य समीक्षा)	1960
29.	आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : सुमित्रानंदन पंत (संकलन—बच्चन-संपादित)	1960
30.	आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : बच्चन (संकलन—चं० गु० विद्यालंकार संपादित)	1960
31.	त्रिभंगिमा (काव्य)	1961
32.	आधुनिक कवि (7) (संकलन)	1961

33. नेहरू : राजनैतिक जीवनचरित (अनुवाद) 1961
34. चार खेमे चौंसठ खूंटे (काव्य) 1962
35. नए-पुराने झरोखे (निबंध) 1962
36. अभिनव सोपान (संकलन) 1964
37. चौंसठ रूसी कविताएँ (अनुवाद) 1964
38. दो चट्टानें (काव्य) 1965
39. डब्ल्यू० बी० ईट्स ऐंड अकल्टिज़्म (अंग्रेजी शोध प्रबंध) 1965
40. मरकत द्वीप का स्वर (अनुवाद) 1965
41. नागर गीता (अनुवाद) 1966
42. बहुत दिन बीते (काव्य) 1967
43. बच्चन के लोकप्रिय गीत (संकलन—पाकेटबुक) 1967
44. कटती प्रतिमाओं की आवाज़ (काव्य) 1968
45. क्या भूलूँ क्या याद करूँ (आत्मकथा-1) 1969
46. उभरते प्रतिमानों के रूप (काव्य) 1969
47. हेमलेट (अनुवाद) 1969
48. कवि श्री (संकलन—डा० दुर्गाप्रसाद झाला-संपादित) 1969
49. नीड़ का निर्माण फिर (आत्मकथा-2) 1970
50. भाषा अपनी भाव पराए (अनूदित कविताएँ) 1970
51. बच्चन पत्रों में (सं० डा० जीवन प्रकाश जोशी) 1970
52. पंत के सौ पत्र (बच्चन-संपादित) 1970
53. प्रवास की डायरी 1971
54. पंत के दो सौ पत्र (बच्चन-संपादित) 1971
55. किंग लियर (अनुवाद) 1972
56. बच्चन के पत्र (संपादक : निरंकारदेव सेवक) 1972
57. जाल समेटा (काव्य) 1973
58. टूटी-छूटी कड़ियाँ (निबंध) 1973
59. बसेरे से दूर (आत्मकथा-3) 1977
60. '76-'77 की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ (संपादित) 1978
61. '78-'79 की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ (संपादित) 1981
62. मेरी कविताई की आधी सदी (संकलन) 1981
63. सोऽहं हंस: (संकलन—हंस प्रतीकी कविताओं का) 1981
64. आठवें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ (संकलन) 1982
65. बच्चन रचनावली (9 खंडों में) 1983
66. मेरी श्रेष्ठ कविताएँ (संकलन) 1984
67. बच्चन के विशिष्ट पत्र (संपादक—डा० चंद्रदेव सिंह) 1984
68. पाती फिर आई (संपादक : डा० जीवन प्रकाश जोशी) 1984
69. राजेन्द्र प्रसाद—आत्मकथाकार के रूप में (व्याख्या) 1985
70. मधुशाला (स्वर्ण जयंती संस्करण) 1985
71. 'दशद्वार' से 'सोपान' तक (स्मृति-यात्रा '55 से '83 तक) 1985
72. नई से नई—पुरानी से पुरानी (काव्य) 1985

बच्चन की रचनाओं के अनुवाद

1. 'कालेर कबले बांगला' (भूपेन्द्रनाथ दास द्वारा "बंगाल का काल" का बंगला अनुवाद) 1948
2. "द हाउस आफ वाइन" (मार्जरी बोल्टन और रामस्वरूप व्यास द्वारा 'मधुशाला' का अंग्रेजी अनुवाद) 1950
3. लिरिका (आर० वरान्निकोवा द्वारा संपादित बच्चन की संकलित कविताओं का रूसी अनुवाद) 1965
4. बंगालचा काल (अविनाश जोशी द्वारा 'बंगाल का काल' का मराठी अनुवाद) 1973
5. कोलेत्नीत्सा सोन्त्सा (सूर्य का रथ—चुनी हुई परवर्ती कविताओं का रूसी अनुवाद) अनुवादक—एस० सेवेरत्सेव; भूमिका-लेखक—डा० चेलीशेव— 1973
6. 'मधुशाला' (विनयकुमार चौकसे द्वारा 'मधुशाला' का मराठी अनुवाद) 1979
7. वंगालचा दुष्काल (शं० पां० जोशी द्वारा 'बंगाल का काल' का मराठी अनुवाद) 1979
8. 'मधुशाला' (शं० पां० जोशी द्वारा 'मधुशाला' का मराठी अनुवाद) 1979
9. 'मधुशाला' (तारा भवालकर द्वारा 'मधुशाला' का मराठी अनुवाद) 1979
10. 'मधुशाला' (कन्हैया लाल घोष द्वारा 'मधुशाला' का बगला अनुवाद) 1980
11. 'मधुशाला' (भट्टतिरी द्वारा 'मधुशाला' का मलयालम अनुवाद) 1980

बच्चन रचित बाल-साहित्य

1. जन्म दिन की भेंट 1978
2. नीली चिड़िया 1978
3. बंदरबांट 1980

□□
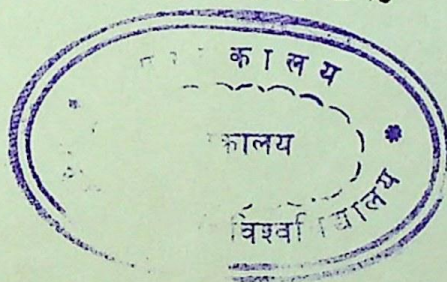
5863

मुद्रक :
कैम्ब्रिज प्रेस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, फोन : 2516996, 2916996
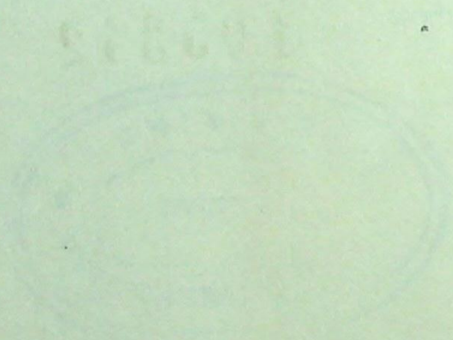
बच्चन की ख्याति 'मधुशाला' के साथ हुई, जो सन् 1953 में प्रकाशित हुई थी।

हरिवंशराय बच्चन का जन्म 27 नवंबर, 1907 को प्रयाग में हुआ था। उनकी शिक्षा म्युनिसिपल स्कूल, कायस्थ पाठशाला, गवर्नमेंट कालेज, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी और काशी विश्वविद्यालय में हुई। 1941 से 1952 तक वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर रहे। 1952 से 1954 तक इंग्लैंड में रहकर उन्होंने केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। विदेश से लौटकर उन्होंने एक वर्ष अपने पूर्व पद पर तथा कुछ मास आकाशवाणी, इलाहाबाद में काम किया। फिर सोलह वर्ष दिल्ली रहे—दस वर्ष विदेश मंत्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ के पद पर और छह वर्ष राज्यसभा के मनोनीत सदस्य के रूप में। इन दिनों वह बंबई में रह रहे हैं।

बच्चनजी को उनकी आत्मकथा के चौथे और अंतिम खंड—**'दशद्वार' से 'सोपान' तक** के लिए भारतीय साहित्य के सर्वोच्च पुरस्कार 'सरस्वती सम्मान' से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार तथा एफ्रो-एशियन राइटर्स कान्फ्रेंस का लोटस पुरस्कार भी मिल चुका है। राष्ट्रपति ने भी उन्हें 'पद्मभूषण' से अलंकृत किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की।

श्री सुमित्रानंदन पंत ने उनके पूरे कवि-व्यक्तित्व को इन पंक्तियों में बांध दिया है :

घुमड़ रहा था ऊपर गरज जगत-संघर्षण,
उमड़ रहा था नीचे जीवन वारिधि-क्रंदन।
अमृत हृदय में, गरल कंठ में, मधु अधरों में—
आए तुम वीणा घर-घर में जन-मन-मादन।

('मधुज्वाल' से)

देश के सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार **'सरस्वती सम्मान'** (1991) से सम्मानित प्रख्यात लोकप्रिय कवि हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा चार खंडों में प्रकाशित है। इसके माध्यम से जो गद्य उन्होंने दिया है, वह अपनी प्रांजलता, प्रौढ़ता और पारदर्शिता के कारण उनकी कविता से कम आकर्षक नहीं रहा है। **'सरस्वती सम्मान'** उनकी आत्मकथा के चौथे और अंतिम खंड **'दशद्वार' से 'सोपान' तक**—को प्राप्त हुआ।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ	(प्रथम खंड)	मूल्य : 75 रुपये
नीड़ का निर्माण फिर	(दूसरा खंड)	मूल्य : 75 रुपये
बसेरे से दूर	(तीसरा खंड)	मूल्य : 75 रुपये
'दशद्वार' से 'सोपान' तक	(चौथा खंड)	मूल्य : 150 रुपये

बच्चन जी की अन्य रचनाएं :

मेरी श्रेष्ठ कविताएँ	मूल्य : 150/-
नयी से नयी पुरानी से पुरानी	मूल्य : 30/-
मधुशाला	मूल्य : 25/-
मधुबाला	मूल्य : 30/-
सतरंगिनी	मूल्य : 20/-
सोऽहं हंसः	मूल्य : 10/-
निशा निमन्त्रण	मूल्य : 20/-
दो चट्टानें (पुरस्कृत)	मूल्य : 25/-
जाल समेटा	मूल्य : 20/-
बंगाल का काल	मूल्य : 20/-
ओथेलो (अनूदित)	मूल्य : 40/-
सुमित्रानंदन पंत (संपादित)	मूल्य : 25/-

पुस्तकों का मूल्य मनिऑर्डर से अग्रिम भेजने पर डाक-खर्च निःशुल्क।

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट, दिल्ली-6